॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
११३

श्रीमन्माधवाचार्यकृतः

सर्वदर्शनसंग्रहः

सपरिशिष्ट 'प्रकाश' हिन्दीभाष्योपेतः

भाष्यकारः—
प्रो० उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'
एम० ए०, साहित्यरत्न
स्नातकोत्तरसंस्कृतविभाग, पटना-विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२१
मूल्य : २५-००

Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

113

THE

SARVA-DARS'ANA-SAṂGRAHA

OF

MĀDHAVĀCĀRYA

Edited with an exhaustive Hindi Commentary, Copious Appendixes and Anglo-Hindi Introductions

BY

Prof. Uma Shankar Sharma 'Rishi'

M. A., Sahityaratna

Post-Graduate Deptt. of Sanskrit, Patna University

PATNA.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Post Box 69, VARANASI-1 (India) Phone : 3076

1964

Also can be had from

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Antiquarian Book-Sellers & Publishers

POST BOX 8. VARANASI-1 (India) PHONE : 3145



श्री उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

समर्पण

पूज्य पितामह

स्वर्गीय पण्डित सर्वदेवप्रसादशर्मा

(सं० १९३३-२००६ वि०)

को

जिनके श्रीचरणों में मेरा शैशव-काल

धर्म, संस्कृति और संस्कृत की

त्रिधारा के प्रवाह में

बहता रहा।

FOREWORD

Dr. Siddheswar Bhattacharya
M. A., Ph. D. (Lond.), D. Litt. (Lille),
Bar-at-Law of Gray's Inn,
Kāvyatīrtha, Nyāya-vaiśeṣikācārya
(Gold-medallist)
Mayurbhanj Professor of Sanskrit
&
Head of the Deptt. of Sanskrit and Pali,
Banaras Hindu University.

The Sarva-darśana-saṁgraha by the great Mādhavāchārya is a unique composition in the realm of Indian philosophical thought. With singular stroke of genius, Mādhavāchārya ransacked all possible sources ranging from the Vedas down to his contemporaries to make his work as representative as possible. It, therefore, embodies what India, in its unabated philosophical speculations for more than 2000 years, has produced. Mādhavāchārya brings into prominence the salient features of as many as 16 streams of philosophical thought. In a language which is both precise and forceful he reorganises the materials and marshalls them into a logical hierarchy to lead ultimately to absolute monism.

To introduce such a masterly work to the scholarly world requires no apology. Unfortunately, it received scanty attention from posterity in the sense that not a single commentary

in Sanskrit was written upon it so far, while the commentators were lavish upon less important compositions. Thanks to the pioneering attempt of Mm. Vāsudeva Shastri Abhyankar, the work has since been endowed with a remarkable commentary besides a very useful introduction and appendixes. Nevertheless, it has remained so far a closed book to the general reader having little or no access to Sanskrit. A Hindi translation of the work published from Bombay was of no serious consequence in its propagation.

Under the circumstances, the edition by Shri Uma Shankar Sharma, Lecturer, Post-Graduate Department of Sanskrit, Patna University, deserves congratulations. Shri Sharma has based his Hindi translation upon the commentary of Mm. Vāsudeva Shasti. He has given a couple of introductions, one in English and the other in Hindi, besides giving as many as five appendixes useful for both the specialist and the common reader. Shri Sharma's occasional notes and the llucidity with which he has given a translation will be a fillip to the philosophical literature in Hindi. Shri Sharma has spent more than 4 years over his venture to make it as useful as possible and he has brought a modern mind to bear upon its execution.

I have no doubt that a work like this will do credit both to Shri Sharma and also to the Chowkhamba Sanskrit Series.

Varanasi,
Dated, the 19th June, 1964.

S. Bhattacharya

काशीस्थाम्नायपीठाधीश्वर जगद्गुरुश्रीशंकराचार्य श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती (कवितार्किकचक्रवर्ती पं० महादेवशास्त्री)

जी के

आशीर्वचन

सर्वदर्शनसंग्रह का प्रस्तुत हिन्दी-रूपान्तर मैंने ध्यानपूर्वक प्रायः आद्योपान्त देखा है। आज जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन है, तब यह बात आवश्यक और सामयिक है कि हिन्दी का साहित्य भी समृद्ध किया जाय। इसकी समृद्धि के लिए कतिपय विद्वान् मौलिक कृतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं और कतिपय उच्चतर भाषाओं में वाग्बद्ध, परिष्कृत एवम् उच्च साहित्य का रूपान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरे ढंग का एक सामयिक प्रयास है।

मौलिक कृतियों में कृतिकार अपनी प्रतिभा और मेधा का मुक्त उल्लास प्रदर्शित करता है, पर रूपान्तरात्मक कृतियों में विद्वान् लेखक दूसरों की प्रतिभा और मेधा का साक्षात्कार करने की क्षमता रखकर ही अपना उत्तरदायित्व निभा सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि मौलिक कृतिकार की भाँति वह उतना मुक्त नहीं रहता। प्रस्तुत रूपान्तरण एक दार्शनिक कृति का रूपान्तरण है, जिसमें विद्वान् रूपान्तरकार ने यह शैली अपनाई है कि पहले मूल-पाठ का तटस्थ ढंग से रूपान्तर प्रस्तुत कर दिया जाय और उस संदर्भ में यदि कतिपय शब्द अतिरिक्त रखा जाना आवश्यक है, तो उसे कोष्ठकान्तर्गत रख दिया जाय। आज ही क्या, सदा से यह ढंग समुचित और सर्वोत्तम समझा जाता है। यही उचित है कि पहले मूल-पाठ का तटस्थ रूपान्तर रख दिया जाय जिससे हिन्दी के माध्यम से मूल को समझने वाला बुद्धिमान् पाठक सीधे मूल रूप को जान ले। इस स्तर पर पल्लवन करने में यह भय रहता है कि कहीं रूपान्तरकार मूल का अनुवाद अपनी दृष्टि से अन्यथा न प्रस्तुत कर दे—और यदि ऐसा हुआ तो वह लेखक और पाठक के बीच के माध्यस्थ्य का उत्तरदायित्व ठीक से निबाह न

सकेगा। मुझे हर्ष है कि रूपान्तरकार ने प्रथम स्तर पर इस वैज्ञानिक अथवा तटस्थ पद्धति का ग्रहण करके इस उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह करना चाहा है।

सर्वदर्शनसंग्रह एक दार्शनिक कृति है, इसलिए रूपान्तरकार–जैसे मध्यस्थ—जो मूल-लेखक और पाठक के बीच है—का कार्य केवल तटस्थतापूर्वक रूपान्तर प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है। भारतीय दार्शनिक अपने विचारों को सहस्राब्द से चली आती हुई व्यवस्थित एवं पारिभाषिक पदावलियों में एक विशेष शैली से प्रस्तुत करते हैं, अतः उनके समस्त विचारों को आधुनिक पाठक के सामने हिन्दी-भाषा में रखते समय अनेक प्रकार की सजगता आवश्यक है। पहली तो यह कि भाषा हिन्दी की प्रकृति की हो, दूसरी पुराने आचार्यों की बातों को जहाँ तक हो सके आधुनिक पाठक के अनुभव में उतार देने का प्रयास हो, तीसरी उसकी पारिभाषिकता का दुर्ग तोड़कर, उसमें प्रयुक्त संदर्भ-शब्दों की व्याख्या करते हुए, शास्त्रीय संकेतों का विस्तार देकर बात को सुलझा रूप दिये जाने का प्रयत्न हो। लेखक ने रूपान्तरण में यह प्रयत्न किया है कि रूपान्तर की भाषा की प्रकृति अधिक से अधिक हिन्दी की हो। शेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही तटस्थ रूपान्तर के अनन्तर 'विशेष'–शीर्षक से शास्त्रीय ग्रन्थियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है। यही नहीं, रूपान्तर के मध्य में भी कहीं-कहीं लम्बे कोष्ठकों के अन्तर्गत आवश्यक स्पष्टीकरण हुआ है। ऐसे प्रयासों में कहीं-कहीं रूपान्तरकार की अनवधानता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ पृष्ठ सं० ११ पर मूल का रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है—"व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की (शंकित और निश्चित) उपाधियों से रहित [पक्ष* और लिङ्ग का] सम्बन्ध।" यहाँ व्याप्ति को कोष्ठकान्तर्गत पक्ष और लिङ्ग का सम्बन्ध कहना सर्वथा विचारणीय है। स्वयं ही रूपान्तरकार ने अनेक स्थलों पर व्याप्य एवं व्यापक के सम्बन्ध को ही परम्परानुसार शास्त्रीय ढंग से व्याप्ति बतलाया है।

---

* 'साध्य' के स्थान पर 'पक्ष' हो गया है। दे० शुद्धिपत्र।

कार्य बहुत ही व्यापक है। विभिन्न प्रकार की दार्शनिक धारायें हैं। सबों का अधिकारपूर्वक रूपान्तरण और स्पष्टीकरण साधारण श्रम का कार्य नहीं ऐसे बीहड़ क्षेत्र में संचरण करता हुआ बौद्धिक यात्री कभी भटक जाय तो यह सहज संभव है। लेकिन इस प्रकार की भी स्थितियाँ क्वाचित्क ही हैं।

आधुनिक ढंग के पाठकों को ध्यान में अधिक रखा गया है जो सामयिक और समुचित भी है। इसीलिए संस्कृत की पारिभाषिक पदावलियों के समानान्तर अँग्रेजी में प्रचलित प्रयोग भी रख दिये गये हैं। उनकी प्रामाणिकता के लिए रूपान्तरकार स्वयम् उत्तरदायी है। आधुनिक पाठकों की रुचि और आधुनिक शैली पर भी ध्यान होने के कारण बीच-बीच में किसी-किसी दर्शन की संक्षिप्त ऐतिहासिक रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी गई है। परन्तु ऐसे प्रसंगों में भी कहीं-कहीं अनवधानता है। उदाहरणार्थ पृ० सं० ३२१ पर शैवागमों के बीच अहिर्बुध्न्य-संहिता को लिया गया है—यह कहाँ तक ठीक है ? अहिर्बुध्न्य-संहिता पाञ्चरात्रागम के अन्तर्गत है।

अन्तिम बात जो पुस्तक की उपादेयता के संबन्ध में कही जाने की है वह यह कि ग्रन्थ के अन्त में दार्शनिक पुस्तकों की एक बृहत् सूची संलग्न की गई है। आधुनिक शोध-छात्रों की दृष्टि से ऐसी सूचियों का बड़ा महत्त्व होता है। सूची एक सामान्य रूप में प्रस्तुत कर दी गई हो, ऐसी बात नहीं है। उसमें पुस्तक और उसके रचयिता का नाम तो है ही, महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें जो पुस्तक जिस दर्शन की है, उस दर्शन का भी सामने उल्लेख है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि आज का शोध-छात्र मूल ग्रन्थकार का प्रामाणिक काल-ज्ञान चाहता है। रूपान्तरकार ने प्रत्येक कृति के सामने उस कृति का रचना-काल भी दिया है। भारतीय मनीषियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा अपना परिचय देने की ओर से निरन्तर तटस्थता दिखाने का भाव उनके इतिवृत्त के ज्ञान में सदा बाधक रहा है। आधुनिक गवेषकों ने नये सिरे से इस पक्ष पर प्रकाश डाला है। परन्तु उन सबों में सभी ग्रन्थकारों को लेकर सर्वत्र मतैक्य नहीं है। रूपान्तरकार ने यदि यह बात ध्यान में रखकर किसी प्रामाणिक इतिहासकार की सहायता कालनिर्धारण में ली है तो तदर्थ वे प्रशंसा के पात्र हैं।

इस कृति में मेरे समक्ष रूपान्तरकार का अपना कोई निजी विचार या मौलिक स्थापना किसी के पक्ष-विपक्ष में नहीं है कि उसके विषय में भी मैं अपनी सम्मति प्रस्तुत करूँ। अतः रूपान्तरण के विषय में जितने पक्षों से उसका मूल्याङ्कन किया जा सकता है, उतना संक्षेप में ऊपर उपस्थापित किया गया है। निश्चय ही इस महान् और सामयिक प्रयास के लिए श्री उमाशंकरशर्मा 'ऋषि' मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

धर्मसंघ, काशी,
ज्ये० शु० ४, २०२१
(१३-६-१९६४)।

—महेश्वरानन्द सरस्वती

INTRODUCTION*

[1. Special features of the **Sarvadarśanasaṃgraha**—*discussion—difficult style—summary in verses—impartial treatment—a clear picture of philosophical literature—ample quotations—Sources traced out. 2. Order of the Systems—***nastika** *and* **āstika**—*rationalists and those dwelling upon* **śruti**. *3. A Synopsis of all the systems. 4. The present edition.]*

I

The *Sarvadarśanasaṃgraha* of Mādhavācārya is the first attempt of its kind ever made in Sanskrit to expose in a lucid but clear, and scholarly but unostentatious manner, all the then extant philosophical systems in India. Haribhadrasūri's *Ṣaḍ-darśana-samuccaya* (9th cent.) had already inaugurated the ceremony of collecting philosophical principles scattered over the different systems of thought—both Vedic (āstika) and non-Vedic (nāstika). It was the liberal attitude of the Jaina doctrine that compelled Haribhadra to write such a review of other systems of philosophy. Still that work could not be welcomed as authority even by the primary works—too small as the treatise was. It contained only a few verses devoted to each system avoiding even the slightest discussion on any debatable issue.

---

* To a considerable number of readers it may appear surprisingly inconsistent that to a Hindi exposition of a Sanskrit philosophical work is prefixed an English Introduction. But the reason is not far off to seek. Some lovers of the Sanskrit language and literature are among the non-Hindi speaking people, and the present work carrying on such a big name and mission attempts at a universal appeal for its perusal far and wide. The great name of the iilustrious Mādhava is esteemed so highly in the realm of Indian philosophical writings that any devotee of the subject becomes eager to grasp any new venture made in this field. It is only to loosen their language barrier—though only to some extent—that this attempt is made herewith.

In absence of any material meant to presuppose the existence of such other works before Mādhava it is rather sufficient to say that his work occupied a very significant place in the philosophical literature. The time had come when such works could be written. The philosophical literature by that time had grown so enormously that for an ordinary man it became quite impossible to grasp even a single system from the beginning till end. Of the three stages in the history of Indian philosophy—the originating stage, the commentary stage and the super-commentary stage, forming different sects or schools[1]—the last was also in a decadent state. The fourteenth century India was witnessing from a very long time an all-round decadence in intellectual sphere. The real philosophical speculation had ceased long before and what remained was that the writers, in their whim for introducing the Naiyāyika style of exposition, had started pedantic dissertations and glosses too brief to be easily intelligible. Consequently, they required other commentaries in the name of which even more difficult style was used with less intelligible phraseology. So was the state of affairs in the field of literature, philosophy and even natural sciences.

The *Sarvadarśanasaṃgraha* contains all that a man is required to know as to the fundamental principles of different systems and a short glimpse of traditional discussion making use of all the logical instruments such as inferential argument, fallacies, *tarka*, *vāda* etc., is also found in it.

It appears to the general reader to be a bit difficult because Mādhava has tried to condense as much material within a short span as possible. Unlike modern works on Indian

1. A start of a system was made in the originating stage, e. g., the Brahma Sūtra, the Nyāya Sūtra, the Sāṃkhya Kārikā, the Pāśupata Sūtra and others. The commentaries to these works were written in the next stage, e. g., the Śāṃkarabhāṣya, the Vātsyāyanabhāṣya etc. In the last stage either more commentaries making a different school were written or commentaries over the previous ones were written. Here a number of schools were formed in a single system. This is what is meant by the three stages.

philosophy in general, this work devotes more to the discussion side than to the description side. This becomes quite obvious especially in dealing with the principles of some more advanced systems as that of the Buddha, Rāmānuja, Gautama or Śaṃkara. In these cases the general reader is more or less perplexed and confused, and very soon likes to get out of the discussions. But the conclusions are also too difficult to be traced out, as the author generally mentions them at the end of the discussion in a sentence closely connected with it. And that too is hardly a simple sentence. There are only few systems as Raseśvara or Mercurial system that are free from such allegation and devote particularly to the description of the categories and other allied things. But whenever the smallest room for debate arises, the author cannot help keeping himself aside and plunges deep into the discussion as if he were quite prepared and longing for it.

Secondly, while refuting some theory either on behalf of the disputant or of the *Siddhāntin* he inexceptionally offers alternatives—varying from two to five in number,[2] and then shows the absurdity of these in such a telegraphic language that unless the reader is well-versed in the technology of Nyāya he is sure to miss the purport of the author. In this way the work becomes more difficult than the original sources from where the author takes the matter freely. It is to be noted that some systems presented herewith had already reached perfection by his time but that perfection was of a decentralised type. It was our author who collected all the different problems with their solutions and arranged them so artistically that nowhere does his elucidation appear to be far from being original. In case of the systems lacking in such a perfection he himself raised the problems and then solved them with his own wonderful erudition. Regarding style he is always thus consistent.

One of the chief difficulties in understanding the post-commentary philosophical literature in general and the *Sarva-darśanasaṃgraha* in particular is this, that though the two

2. See, for example, p. 129—Five alternatives of *Sāvayavatva*.

sides of lengthy opposition and reply are quite clear but sentences used on the either side are not entirely of on side. Suppose the *Pūrvapakṣa* is being established in about forty lines, but within this span the questions from the *uttarpakṣa* are also raised which are known as *avāntarpakṣa* and these, though apparently starting with the catch-words '*nanu*' '*na ca*' and others, are generally confused at least in the question as to where they end ; for the length of the context is so much disappointing that a modern mind loses its patience. Traditionally speaking every line of either the opposition or the reply presupposes some problem, but for which the line would not have been written. This same problem is sometimes implied and sometimes explicitly stated. In the latter case it is called *avataraṇa* or *avāntarapakṣa.* Thus its use is well recognised. The present work witnesses the clearest example of the same. While discussing the problem of *avidyā* in the Śāṃkara-darśana, for example, the arguments of the oppositionst are unusually lengthy which bear, to add to our difficulty, various answers given by the Śaṃkarites at regular intervals. And still it is the *Pūrvapakṣa.* Again, the side of the *Uttarapakṣa* which aims at establishing all mundane existence to be caused by *avidyā* raises various queries, perhaps reminding us of their existence in the opposition previously discussed, and then gives their solution. Various new queries are also answered. In spite of its merits the modern student gets confused in this analytic-synthetic method used in the later philosophical works.[3]

Prof. Weber's comparision of Bāṇa's style with the Indian jungle is true also to the present work. The reader has to make his own way himself. He has to keep in his mind the system he is studying and the context in which the arguments are marshalled. After that the catch-words are to be understood with a very cool mind, nay, the weapons in the form of all the Naiyāyika technical terms are to be carried without which his further movement may be checked by the unprecedented enemies, namely, the unintelligible terms of logic.

---

3. Cf. Rāmānuja's Mahāpūrvapakṣa and uttarapakṣa in the Śrībhāṣya (I. 1. 1.).

But this is not the case everywhere. Generally a monotonous discussion is followed by its summary in śloka verses which are much helpful in understanding the previous discussion itself. Almost all the systems depicted by Mādhava in the present work follow this principle. But there are some less known systems which have little to do with any such presentation. For example, the Raseśvara Darśana is replete with quotations so much so that the author seems to be quite abstaining himself from any discussion. Similar is the case with the first system—the philosophy of the Cārvākas where the author has introduced only one point to be discussed, i. e., the refutation of Perception. This point has made the Cārvāka system a thorough-going tārkika (logical) system. In other respects the system deals with the ethics, religion, ontology and axiology of the materialists.

After a closer examination of the systems dealt with by Mādhava we come to the conclusion that his main aim is to establish the different theories held by different philosophers and it is done at the cost of other philosophical theories held by others. We notice at the beginning of every system that the author finds fault with the chief currents of the system recently discussed. For example, the Buddhists are shown refuting the epistemological theory of the Cārvākas. The Jainas, on the other hand, refute the theory of momentariness championed by the Buddhists. The Jaina doctrine of Anekāntavāda is refuted by the Rāmānujas and so on. It is to be noted that he advances towards betterment in course of his further move. The beginning is with the layman's philosophy and the conclusion is reached in the Śāṃkara philosophy which is rightly called "the crest-jewel of all the systems" by the author himself. It is generally quoted that Indian philosophy is the best critic of its own. We observe this same proverb true to every inch in the present work. It should be borne in mind that a system of philosophy in the *Sarvadarśanasaṃgraha* criticises not only the previous system but also a system which has not yet been attempted. Thus for example the Rāmānujas criticise the Śaṃkarite theory of "universal illusion" or *avidyā* because they have to stand firm on the ground of its refutation.

Sometimes a philosophical question in its entirety is discussed at one place with reference to all the systems dealing with the same. But the place where it occurs is not to be forgotten. Thus when in the Nyāya system the question of *mukti* (emancipation) is discussed it becomes a very good discourse.

Let us now consider the chief merits of the present work vis-a-vis the qualities of the author. In this connection we have to consider the time element as well, for, Mādhava flourished in such an age that was not convenient to write such a work as is possible in the modern age when various indexes and works, dictionaries and libraries are at our disposal. Though the author was brought up in a royal family where various kinds of help might have been available but the quality of being such a writer of erudition assimilating his learning cannot be nurtured in an ordinary man. Thus the first quality to be witnessed in the present writer is his assimilating capacity.

It has been said above that philosophical literature had taken a large shape before the advent of Mādhava who, on his part, did lay no stone unturned in utilising all the material advanced so far. Various scholars speculated in their own way over the different principles and categories of philosophy. It was possible that a blind copy of their thoughts would have resulted into a complete nonsense. It may be seen in modern works of philosophy—especially the histories written by some inferior writers. But Mādhava has shown his intelligence and originality of thoughts throughout this work. His presentation is very synthetic and integrated as is evident from a close perusal of some of the systems, e. g., the Buddhist system and the Śāṃkara system. It is mainly due to his originality of presentation that his style is throughout the work very constant. Be it the Cārvāka system or the Śāṃkara system, or even the Nyāya system, his style is same all over. His originality can be very aptly estimated by an observation of any two works of a system and then studying that system in the present work. How artistically our author has put the same in an integrated way ? In other words, the whole *Sarvadarśanasaṃ-*

graha appears to be dealing with one system as it were so far the style is concerned.

But we should not forget that Mādhava does not intend to impose any idea of his own upon his readers. His main thesis is to explain the system as lucidly and as scholarly as possible—the collection as his motive was. Thus while writing on a system the author becomes a follower of that very system and does not hesitate the least in criticising the others. But in the next system be vehemently criticises the same theory which he established with so much effort. In this regard he may be compared with the celebrated commentator of all the six systems of Indian philosophy, Vācaspati Miśra by name.

The second quality of Mādhava is that he keeps a very keen sense of humour specially when the situation grows tenser. Thus the various nyāyas (popular sayings) and use of alliteration disturbs the gravity of discussion. But such situations are very few and far between. As a general rule the beginning of a system is very interesting.

Quotations in abundance are marked as the third great quality of the work. Sometimes new informations are given by the quotations but very often they are mere reproductions of the things discussed in prose. Here we may infer the motive of Mādhava which was to present a sample of the very important works of the system. It may catch our attention that prose quotations are rare and verses are quoted to a great extent. Here also the Indian tendency to retain everything in the mind must be the reason.

Next, we may consider the sources of Mādhavācārya's *Sarvadarśanasaṃgraha*. Like a good research worker the author consults the oldest available and authentic Sanskrit work for quotations. That is why he quotes from all the sūtra works except that of Kapila. We know that different systems were founded by Śaṃkara, Rāmānuja and Madhva on a single sūtra work, the *Brahmasūtra* of Bādarāyaṇa. Therefore while explaining the first four sūtras (Catuḥsūtrī) of Bādarāyaṇa's work he clarifies the stands held by those three Ācāryas as well in their respective systems. But we must not think on that account

that he was a lover of antiquity alone and not up-to-date like a modern Sanskrit Pandit hovering over the ancient sages alone. On the other hand he made his works up-to-date by quoting even his contemporaries as Vedāntadeśika, Jayatīrtha and others. Though the *Sarvadarśanasaṃgraha* is not a history of philosophy but so far the principles are concerned it accomodates all the thoughts and speculations innovated by scholars upto his age in almost all the systems. But how far these have been represented truthfully is a separate question to be discussed. Thus Mādhava's liberal mind gives us an idea of the whole philosophical literature of his time. For a clear conception of the works and authors quoted by Mādhava an appendix is provided herewith.

II

Before we summarise the contents of the *Sarvadarśanasaṃgraha* we must make at least a passing reference to the systems dealt with by Mādhava. There are altogether sixteen systems of philosophy collected by him in the present work. These are in their serial order as follows :—1. The Cārvāka System, 2. The Buddhist System, 3. The Jaina System, 4. The Rāmānuja System of Qualified Monism, 5. The Mādhva System of Dualism, 6. The Pāśupata System of Nakulīśa, 7. The Śaiva System, 8. The Pratyabhijñā System or Kashmir Śaivism, 9. The Mercurial or Raseśvara System, 10. The Vaiśeṣika System of Kaṇāda, 11. The Nyāya System of Gautama, 12. The Mīmāṃsā System of Jaimini, 13. The Grammatical System of Pāṇini, 14. The Sāṃkhya System, 15. The Yoga System of Patañjali, and lastly, 16. The Śāṃkara System of Absolute Monism.

There is some definite principle upon which the order of these systems is based. As a general rule the less acceptable objects are put in the beginning and the most desirable ones at the end. Hence the nāstika (heterodox or non-Vedic) systems are treated at the outset and then the turn of āstika system comes. The former are of two kinds, *viz.*, those based on perception or holding gross ideas and those based on reasoning. The layman's view is represented by the Cārvākas who

dwell upon the most ordinary and external aspect of the thing. Though they do not possess any philosophy as such to be recorded but their outlook towards life, the world and such objects as soul, God and liberation is noticeable. In doing so Mādhava has recorded the other extreme of Indian philosophy. The nāstika systems based on reasoning are either the Buddhists holding all existence to be momentary or the Jainas propounding it to be conditional. The Buddhists possess a comparatively gross view while maintaining *ākāśa* (the sky) to be a kind of non-existence whereas the Jainas take it to be a positive category. Thus their order of presentation is beyond doubt.

Of the āstika systems the Rāmānuja philosophy of Qualified Monism (Viśiṣṭādvaita) belongs to tārkika class because it is based on inference supported by argument rather than on Scripture (Śruti). The same is the case with the Mādhva system (called Pūrṇaprajña in the present work). But their difference is that while Madhva directly insists on the theory of difference (*bheda*) maintaining Dualism, Rāmānuja, though accepting difference at least in treatment, does not stick to it and explains it in terms of qualification of the Supreme Self or Brahman. This tendency of hiding himself is reproachable and that is why he is placed before Madhva. These two Vaiṣṇava systems, they say, are hidden or indirect rationalists (pracchanna-tārkika).

There are various systems based directly on reasoning which get their treatment next. Their belief in the Vedas is also of varying nature. The Sāṃkhya and Yoga systems believe very little, while the Nyāya-Vaiśeṣikas believe only less. The least belief in the Vedas is exhibited by the Māheśvaras who, therefore, get priority over the others.

Of these Māheśvaras (four in number) the Pāśupatas holding God not to be assisted by the human actions in exercising his powers, are treated first because they reproachfully refute the law of Karman. The Śaivas maintain God to require the actions in order to check the allegations of injustice, unkindness etc. attached to Him. The Pratyabhijñā system accepts the unity of soul and God which is accordingly far

superior to the two mentioned above. But the Raseśvara system which has a special knack for emancipation in this very life (*Jīvanmukti*) by means of medicinal application is far fairer than these.

Now coming to the other *tārkika* systems we notice that the Nyāya-Vaiśeṣikas holding Production of a thing (ārambhavāda or asatkāryavāda) are inferior to the Sāṃkhya-Yoga systems according to which only inference in applied in proving the ultimate cause of the universe. The former take the assistance of *tarka* or argument as well in explaining the ultimate cause which, according to them, is none else than the atoms being congregated together. The Vaiśeṣikas lose superiority over the Naiyāyikas inasmuch as the former do not accept *śruti* or scripture as a separate source of valid knowledge which the latter do.

Other *tārkika* systems, the Mīmāṃsaka, the Pāṇinian, the Sāṃkhya and the Pātañjala, are treated next in this order. The first two of these, though Vedic, believe in Śabda (the eternal word) to be the final cause of the Universe and do not show as much subtlety as the Sāṃkhya system which steps further, i. e., to Prakṛti (the origin of all mundane existence). But they are better placed than the Naiyāyikas because while the latter only proceed upo *ākāśa* (the sky), the former have reached one step further than that, i. e., the attribute of the sky—the eternal word. The Mīmāṃsā system, also called the Vākyaśāstra or philosophy of the sentence as contrasted with the Pāṇinian system or Śabdaśāstra (philosophy of the word), is based on grammar for its treatment of the Vedic sentences (injunctions) which are composed of words and these are further divided into roots and suffixes by the grammarians. It appears[4] that the grammarians postulate the theory of *vivartavāda* in a sense that the universal existence is only an illusory manifestation of the eternal *Śabda* of the form of Brahman. Thus the Mīmāṃsā system being in this respect inferior to that of Pāṇini gets priority in treatment.

4. Some writers criticise the view that grammarians accept *vivarta*. Cf. Vyākaraṇa-darśana-bhūmikā (R. Pandeya).

Of the Sāṃkhya and the Pātañjala (Yoga) systems the former does not believe in God while the latter do. This point is sufficient to determine their mutual position in this work.

As to the problem of the Śāṃkara system there are various opinions. It is a fact that mss. differ in this respect. Some witness the finishing touch of the *Sarvadarśanasaṃgraha* at the end of the Pātañjala system in the following lines :—"After this the Śāṃkara system which is the crest-jewel of all the systems and is recorded elsewhere is left out." Mm. V. S. Abhyankar has specified that Mādhava might have finished the book there because the Śāṃkara system was too famous to be reproduced. But later some contemporaries of his own might have approached him and requested to add to the work the Advaita Vedānta Philosophy of Śaṃkarācārya in all its developed features. Accordingly this system was added later.

There are still some scholars who dispute over the question of authorship and even anthenticity of this system as treated in the *Sarvadarśanasaṃgraha* but no convincing argument is advanced so for. The style of language and the method of treatment are the same in the Śāṃkara system as in others. Therefore there is nothing in the Śāṃkara-darśana which may go against its validity. It was not proper for an author like Mādhavācārya to omit such a reputed system in a work like this.

The author is believed to have attempted a summary as well as some discusion of all the then existing systems of philosophy. But it is a pity that he has discarded the claim of the Śākta Philosophy altogether and some of the divisions of the Vaiṣṇava and the Śaiva sects. In the latter case he cannot be blamed much, for, it was for the first time that Śaivism and Vaiṣṇavism were taken as representing separate systems of philosophy and it is no wonder that at least four Śaiva and two Vaiṣṇava sects are described in this work—it matters very little whether all sections are represented or not. As for the Śākta Philosophy Mādhava offers some vague idea which might be an outcome of some second-hand information or rather some sense of disregard for the Śāktas having a distinct philosophical system of their own.

III

We now propose to analyse the contents of each of these systems in brief. It should be borne in mind that all the systems do not equally possess the well-known three philosophical aspects—Epistemology, Ontology and Ethics. Some lay mach stress upon the one or the other. The Nyāya System, especially in its later development, lays much emphasis on the epistemological aspect while in its *samānatantra*, the Vaiśeṣika System a lion's share is enjoyed by Ontology—the science of existence. The Yoga philosophy dwells more upon the practical and psychological side while its partner is through and through theoretical.

1. The Cārvāka System :—After discussing the very name 'Cārvāka' (Cāru = pleasant, Vāk = Speech) and 'Lokāyatika' (a universal acceptance), the author discusses the metaphysics of the Cārvākas that there are four elements, consciousness being an outcome of these when put together. There is only pleasure, though replete with misery, to be the highest good. The Vedas and sacrifices enjoined there are deceptive—only framed by the frauds for their livelihood. God, Liberation and Soul are but the objects of this very life. The Cārvāka views are summed up two times but having different things to state. The most important discussion which is very possibly the original speculation of Mādhava is on the question of inference to be refuted as a source of Valid knowledge. It is scholarly disputed that the basis of inference, the Major Premise or Vyāpti cannot be established by any known source of valid knowledge, and as a consequence, we must accept perception alone. It is noticeable that it is the present work alone where such a long and clear exposition of the materialist's theory is found in the whole history of Sanskrit literature. There are references to the Cārvākas in other systems as well, but they are all in the form of quotations cited on behalf of the oppositionists repudiating a particular tenet of a system. A complete account of the Cārvākas as a separate system can be found only in the *Sarvadarśanasaṃgraha* and a few verses in the *Ṣaḍ-darśana-samuccaya* as well.

2. **The Buddhist System** :—That Perception is the only source of knowledge is severely criticised at the outset, and the law of identity along with the law of causation are offered as the means of establishing *Vyāpti* or the universal proposition. The causal relation is established not by the logician's method of agreement (anvaya) and difference (vyatireka) but in their own way called *Pañcakāraṇi* which, though a distorted form of the logician's method, requires five stages for its functioning. A discussion on the theory of momentariness follows next and in this connection all the arguments given in support of non-momentary existence are properly refuted. The portion has become a bit difficult for an ordinary student inasmuch as various technical words as *arthakriyā*, *atiśaya*, *krama* etc. are used. After refuting generality or *Sāmānya*, a brief description of all the existing four schools of Buddhist philosophy is given. Of these *Śūnyavāda* or nihilism turns all existence, internal as well external, to be above any expression. Yogācāra or *Vijñānavāda* takes it to be explicable but in terms of ideas (Vijñāna). Accordingly, the self-luminous character of intellect is established after criticising external existence as a reality. The *Sautrāntika* view holds the external things as inferable as contrasted with the *Vaibhāṣikas* who find these to be perceptible. It is in this connection that *ālaya-vijñāna* and *pravṛtti-vijñāna* are explained along with the five well-known *skandhas* which are the modifications of *citta* or the mind. The four golden truths (ārya-satya), viz., suffering, its cause, its cessation and the way to its cessation, are also reviewed. With the exposition of the *Vaibhāṣika* school and a summary of Buddhism as such the chapter comes to a close.

3. **The Ārhata System** :—At the very outset the Jainas criticise in various ways the doctrine of momentariness held by the Buddhists. The Arhat or omniscient (*lit.* adorable) is established next after a long debate with the Mīmāṃsakas and the logicians, the latter's conception of God as the creator of the universe being criticised. An interval is given for discussing the ethical implications of the Jaina metaphysics, and as a result, *tri-ratnas* or three jewel-like ways of attaining liberation are given. These are proper belief, proper knowledge

and proper conduct. The last one is the same as *yama* of the Yoga System. The Jaina metaphysics is treated next in which the number of Ultimate Reality is given as two, five and seven according to the various points of view. The usual discussion on Bondage and Liberation is also done at length. Lastly, the Jaina logic of expressing anything as conditional existence is established. We can know a thing only in a portion and not as a whole. Consequently, the Jaina philosophy teaches us to respect the opinions of others as well. This theory is also called *Syādvāda* (theory of probable existence) or *Anekāntavāda* (theory of a thing having endless aspects). A metrical collection of the Jaina principles concludes the chapter.

4. **The Rāmānuja System** :—Refuting the Jaina logic of probable existence and the peculiar magnitude of the soul, the author establishes three realities according to Qualified Monism of Rāmānuja—the self (*cit*), the world (*acit*) and God (Īśvara), the first two being inseparable attributes of God. Disputing with Śaṃkara's theory of positive ignorance, he finds fault with the unqualified Brahman as well. The nature of the above three realities are discussed separately and some practical devices for pleasing God with devotion are shown. The first four sūtras of the *Brahma-sūtra* are then explained after Rāmānuja. It is noteworthy that Rāmānuja was one of the pioneers of the Bhakti-cult which gained ground in the South and gradually in the Northern India as well. Mādhava brings very clearly the doctrine of Rāmānuja as scattered in the works of the great Ācārya and his disciples.

5. **The Purṇaprajña System** :—The system based on the dualistic principle was started very recently at the time of Mādhava by Ānandatīrtha or Madhvācārya (c. 1150); but considering a large number of its followers, our author had to accomodate it in his work as a system of philosophy. At the outset the author distinguishes the system from the last one and then proves the existence of difference as the basis of Dualism. As the system is also a follower of Bhakti-cult it is essential that rules of serving God are framed. It is God's mercy that can grant liberation. God is omnipotent whose desire

is called Māyā. It is discussed after scripture that God and soul are two distinct realities, and as such there is nothing like illusory cognition as held by Śaṃkara. Lastly, the Catuḥ-sūtrī is explained after Madhvācārya and along with that the system is summed up.

6. **The Nakulīśa-Pāśupata System** :—It is stated above that Mādhava has systematised four schools of Śaiva Philosophy in all. The first of these called Pāśupata system and professed in the western part of India is extant in the *Pāśupata-sūtras* (having a commentary by Kauṇḍinya). At the first instance the Vaiṣṇava systems are criticised on the ground that they propound slavery in the form of emancipation. Then the *guru* is characterised as the knower of nine *gaṇas*. Liberation called *duḥkhānta* is explained next with all its varieties. *Kārya* (dependent entity as the world), *Kāraṇa* (God), *Yoga* (unity between soul and God) and *Vidhiṣ* (actions leading to Dharma) are elucidated in the next place. A very peculiar feature of the system lies in accepting a category, *Viśeṣa*, in which the system is distinguished from other systems (see page 214). Lastly it is stated that liberation is caused by the knowledge of God.

7. **The S'aiva System** :—The whole system is comprised of three realities, namely, *Pati* (God), *Paśu* (soul) and *Pāśa* (bondage). Of these God means Lord Śiva who is discussed at great length as having *mantra*, *mantreśvara*, *maheśvara*, liberated souls and *Śiva*. He is omniscient because of being the creator of all. Soul is divided into three classes and six different adjectives attributed to it in other systems are criticised here. At the end the fourfold division of bondage into *mala*, *karma*, *māyā* and *rodhaśakti* is explained. The system dominating the culture of southern India gets a lucid treatment at the hands of Mādhava.

8. **The Pratyabhijñā System** :—This branch of Śaiva Philosophy prevalent in Kashmir and propagating idealistic Monism is called also after these two attributes as Kashmir Śaivism and *Śaivādvaita*.[5] The system starts with ascertaining

5. See my notes on the names *Pratyabhijñā*, *Trika* and *Spanda* on p. 349.

its literature which is *Sūtra*, *Vṛtti* and *Vivṛti*, after mentioning in brief the nature of the philsophical thoughts. The *maṅgala*-verse of Abhinavagupta's commentary on the *Pratyabhijñā-sūtra* is taken as a sample to explain the whole system. The two powers of cognition and action being explained the doctrine of Ābhāsavāda implying realistic Idealism is elaborated. It is held that mundane objects are caused by mere wish of Lord Śiva. The necessity of accepting Pratyabhijñā being exposed the conclusion is approached.

9. **The Raseśvara System** :—It is a very peculiar system holding that different preparations of Mercury or *Pārada* can enable a man to be free from old age and death, which is, in other words, called *Jīvanmukti*. It is neither a philosophy of Āyurveda as such nor a full-fledged philosophical system deserving such a distinguished treatment. At best it can be accepted as a means to tāntric exercises so much prevalent among the Śaivas of the mediaeval age. The body is regarded as eternal by these philosophers and in order to turn it into its true nature (Svarūpa) this interesting medicinal application is enjoined.[6]

10. **The Aulūkya System** :—The famous Vaiśeṣika and Nyāya systems are termed as Aulūkya and Akṣapāda, by these unusual names undoubtedly to create laughter at the two great teachers propounding these systems. Consistently enough, the author gives the contents of the sūtra work, section by section at the very outset. The method of śāstric approach he mentions after the two systems as enumeration, definition and examination of the categories belonging to a particular Śāstra. The six Vaiśeṣika categories of substance, quality, action, generality, particularity and inherence are defined in a distinguished way quite usual with the logicians. Then discussions on a number of Vaiśeṣika questions, viz., production and destruction of *dvitva* (the numeral 'two'), activity of fire on substance and division arising out of another division,

6. Dr. S. N. Das Gupta has discussed the philosophy of Āyurveda at great length in the second volume of his epoch-making work, the *History of Indian Philosophy*.

follow. These questions, it may be mentioned, are very worthy discussions on modern scientific line. In the last place, the Vaiśeṣika theory of darkness has been explained after refuting other theories of the same, and in this connection non-existence (abhāva) is thoroughly discussed with all its divisions. It should be noted that non-existence is not accepted as a category in the sūtras though references are made to it in the last chapters. Mādhava has very precisely reconciled the views of the Sūtrakāra (mentioning six categories) and of other writers (holding seven categories).

11. The Akṣapāda System :—There is practically no difference in the manner of presentation of this system from the previous one. All the sixteen categories are defined just after describing the contents of the *Nyāyasūtra*. This is followed by two long debates on the questions of liberation (*mukti*) and God (*Īśvara*). Regarding the nature of *mukti* the scholars are at daggers drawn. Hence the views of the *Mādhyamikas* (nihilists), *Vijñānavādins*, Jainas, Cārvākas, Sāṃkhyas and Mīmāṃsakas are vehemently criticised, and the logician's theory of *mukti*, *viz.*, absolute destruction of pain is established. In the last place, God is proved as the creator of the universe after repudiating other theories as held by the opponents.

12. The Jaimini System :—The contents of the Sūtras being described, the parts of the first *adhikaraṇa* (an enquiry into Dharma) is discussed after the Bhāṭṭa School and the Prabhākara School separately. A discussion on the question of impersonal origin (apauruṣeya) of the Vedas follows next and it is proved that Vedas are not of any personal origin. As an offshoot of this very tenet the words are proved eternal and the Vedas authoritative. An epistemological question whether validity of knowledge arises out of itself is tackled next and the same has been proved after a prolonged discussion. Lastly the conclusion is given. It would not be out of place to say that description side of the system has not been touched at all. The injunctions, *arthavādas*, *bhāvanās* and other allied topics which are described in primary works of Mīmāṃsā are left altogether. But the merit lies in dealing

with the topics of *apauruṣeya* and *Prāmāṇyavāda*, which are the subject-matter of standard works alone.

13. The Pāṇinian System :—The Pāṇini system of grammar, it is said, was established as a system of Philosophy by Vyāḍi in his Saṃgraha containing a hundred thousand verses, but which was lost due to negligence as remarks Bhartṛhari in his *Vākyapadīya*.[7] It was Bhartṛhari to take upon himself the task of evolving a School of philosophy called Verbal Monism (*Śabdādvaita*) in the said work and that is why he is remembered by Mādhava here and there in this particular chapter. But the start of the chapter is made by Patañjali's sentence and its discussion. To clarify, the word 'Śabdānuśāsana' is proved to be preferable to the word 'Vyākaraṇa'. Next the word as Brahman is clearly explained. The well-known theory of *sphoṭa* (or the most subtle stage of speech which brings out the meaning of a sentence, a word or even a letter) is elucidated after replying to the allegations made by the opponents against this theory. Existence as the meaning of a word is proved next—whether we refer to the Vyāḍi theory of holding the universal (*Jāti*) as the meaning of a word or to the Vājapyāyana theory of taking the individual (*Vyakti*) as the meaning of it.[8] In the last place Verbal Monism is proved and it is shown that Grammar is sufficient to grant liberation to a person deserving it.

14. The Sāṃkhya System :—It is the common belief that Kapila wrote a *Sāṃkhya-Sūtra* but strangely enough Mādhava gives quotations after quotations from Īśvarakṛṣṇa's *Sāṃkhya-Kārikā*, which is surely accepted by our scholarly author as the first authentic work of the Sāṃkhya System. That the present *Sāṃkhya-Sūtra* is a later creation is accepted unanimously by scholars of the modern age. Anyway, the twenty-five elements of the system are categorised into four,

7. Cf. VP. II. 484-90.

8. For a clear exposition and criticism of the two theories see Dr. Gaurinath Sastri's monumental work, the *Philosophy of Word and Meaning*, chapter VII.

namely, the cause (*Prakṛti*), the cause and modification as well, the modification alone, and lastly, the element (Puruṣa) devoid of the two. The various theories on the relation of the Cause and the Effect are then examined. The Naiyāyika theory of *Ārambhavāda* (or non-existence of a thing prior to its production), the Vedāntin's theory of *Vivartavāda* turning all existence to be illusory, and others are criticised, and the theory of *Satkāryavāda* implying the existence of a thing even before its manifestation (Pariṇāma) is proved to be a valid theory. After establishing *Prakṛti* as a separate element and the independence of *Puruṣa*, their mutual relation is described. It is to be noted that Sāṃkhya Philosophy does not accept God which its partner, the Yoga system, does.

15. **The Pātañjala System** :—The contents of the *Yoga-Sūtra* of Patañjali are described at the outset and then a short discussion on liberation follows. The first Sūtra of the *Yoga-Sūtra* is discussed at length and the meaning of the word '*atha*' is proved as the 'Start'. The four *anubandhas* are treated and afterwards the term *yoga* meaning meditation or *Samādhi* is explained with its various implications. Ordinarily *yoga* is defined as obstruction of the activities of the mind. The four kinds of meditation are very concisely brought out. Next the five *kleśas* (pains) of ignorance, egoism, attachment, contempt (*dveṣa*) and fear of death are explained. After explaining in this way the words used in the definition of God, the author discusses the means to *Vṛtti-nirodha*, *viz.*, Exercise and Dispassion. A long discussion on *mantras* is given later. That action (Kriyā) is *yoga* is a sentence to be explained with reference to Pure Superimponent Indication (Śuddhā Śāropā Lakṣaṇā) and in this connection the *Kāvya-Prakāśa* is quoted. Next the eightfold organs (aṅga) of *yoga* are described. These are *yama*, *niyama*, *āsana* (postures), *Prāṇāyāma* (breath-control), *Dhāraṇā*, *Dhyāna* and *Samādhi*. Here a summary of the results of *yoga* are also given. These are called *Vibhūtis* or *Siddhis*.

16. **The S'āṃkara System** :—This system is the largest of all covering over a hundred pages. It is treated as brilliantly

as could be possible for Mādhava, and as such, many objections raised by the opponents are answered. Scripture is taken as the most convincing source of knowledge and everything is established on the basis of that. At the very outset our author tackles the problem created by the Sāṃkhya doctrine of Prakṛti as the root-cause of the universe. The relation between Puruṣa and Prakṛti as accepted by the Sāṃkhyas is punctured from all sides. In place of *Pariṇāmavāda* (real manifestation of the cause into its effect), *vivartavāda* (illusory appearance of the same) is offered as the most satisfactory theory to explain the mundane existence which appears due to superimposition of this objective world over Brahman or Absolute Reality. After this short dispute the contents of the *Brahmasūtra* are described only here. In course of explaining the organs of the first topic (*adhikaraṇa*) the opponent's standpoint implying unnecessity to make an enquiry into Brahman are fully explained. But soon after this the anthor puts a long reply given by the Śaṃkarites to that question. It is stated that the common man cannot distinguish the true nature of Brahman intermixed with worldly qualifications due to illusion as it is. And that is why the enquiry as to its nature is essential. Next that long referred term Brahman, the only reality, is dealt with. It is proved that scriptures (the Vedas) are the only means to know Brahman. These scriptures are questioned by the opponents who are fully crushed by Śaṃkara. Now the different theories regarding the explanation of the apprehension of silver in a piece of conch-shell are examined and lastly, it is proved that such appearance is inexplicable (*anirvacanīya*). Long objections and their replies characterise all these discussions. *Avidyā* and *Māyā* are proved to be one and the same. The universe is only an illusory manifestation of Brahman caused by that *Māyā*. It should be noticed that existence of *Māyā* (or ignorance) is established by Śaṃkara on the perceptible knowledge 'I am ignorant of it.' But other sources of knowledge (*pramāṇas*) are also possible. The purpose of accepting this *Avidyā*, Śaṃkara firmly expresses, is only to explain the *Śruti*-text—*ekam evā'dvitīyam* (Ch. VI. 2. 1.), i. e., there is only one reality

having no second to it. Unless ignorance was considered there could be no satisfactory explanation of the text. The identity of the soul and Brahman being established the powers of *Māyā* are explained. It is asserted by Śaṃkara that a real thing is not obstructed by any knowledge, but the universal appearance is checked by knowledge of Brahman and as a consequence we must take the external objects to be false. In the last place the first four Sūtras are explained in the way of Śaṃkarācārya.

IV

After this analysis of these different systems as depicted by Mādhavācārya it will be clear how exhaustively they are dealt with. The author's erudition and presence in almost all the Indian Śāstras are quite unquestioned. Not only the Systems of Indian Philosophy but even the Sūtras of Pāṇini, the Vedic literature, the different Purāṇas, the Śaivāgamas, the Vaiṣṇava tantras, the Buddhist works, the Jaina writings and works on Poetics were all quite under his command.[9] No collection of the principles of Indian Philosophy has excelled the *Sarva-darśanasaṃgraha* even to this day in quality and exhaustive treatment. All the so-called histories of modern times except one or two are plying on the surface and have not been able to exhibit even the sample of traditional discussion. Thus the work of Mādhava being unsurpassed even today deserves full attention to be paid by every student of Indian Philosophy.

The *Sarvadarśanasaṃgraha* of Mādhavācārya has been published at various places either with or without the Śāṃkara System. The editions of the work are as follows :—

1. SDS.—Published by the Royal Asiatic Society of Bengal (only text without the Śāṃkara system).
2. SDS.—Published by Jīvānanda Bhattacharya, Calcutta (the same with some additional faults).
3. SDS.—Eng. Trans. by Cowell & Gough (without Śāṃkara system), London.

---

9. See Appendix III for his knowledge of works and authors.

4. SDS.—Hindi Trans. by Udaya Singh and Published by Khemaraja Srikrishnadas, Bombay (without Śāṃkara system).
5. SDS.—Published by Ānandāśrama Granthāvali, Poona (only text with Śāṃkara system).
6. SDS.—Published by Bhandarkar Oriental Institute, Poona, with the first Sanskrit commentary and a scholarly introduction by Mm. Vāsudeva Śāstri Abhyankar with copious indexes.

Though the text of the *Sarvadarśanasaṃgraha* is still defective because the quotations of other works occuring in the present work sometimes present different readings when compared with the original text, still the Abhyankar edition is comparatively in a good position, and as such, it can provisionally be acceptable. Unless a through research is carried on on textual matters, the validity of that edition cannot be challenged. In the present edition I have entirely depended on the text accepted by the late Śāstrī. Though at a place or two the text becomes unintelligible but that could not be helped in absence of any more correct reading. It is a pity that the Mss. of the work are very rare. It is expected that I shall try to examine the text of the *Sarvadarśanasaṃgraha* in the years to come.

The most esteemed translation of Cowell and Gough is based on a defective text but in absence of any other translation it has been oft-quoted even by great authorities on the subject.[10] Besides that the translation is far from being literal and sometimes wrong as well. The Hindi translation is the worst ever-made of any work which has so far come to my knowledge.

Considered in this perspective the present edition with its elaborate explanation and translation as well is expected to arrest the attention of our readers in no time. It would not

---

10. The late Dr. T. Chowdhury, Head of the Skt. Deptt. of the Patna University, had translated only the first three systems very literally but that work could not see the light of day.

be out of place to explain its special features. The text of each system has been divided into several parts on the basis of the subject-matter they deal with. This is much helpful to a reader seeking any point of discussion in the body of the text. The translation has been kept as close to be original as possible but the beauty of the language into which it is translated has also been left undisturbed. Thus sometimes the translation has become explanatory and notes have throughout been provided having close affinity to the text. As far as possible the technical terms have also been explained at the very place where they occur. In such a case repetitions are unavoidable. Historical notes have also been given everywhere. In a sense no stone has been kept unturned to make the work as thorough as possible.

पूर्वपीठिका

[सर्वदर्शनसंग्रह का महत्त्व—दर्शन की उत्पत्ति—भारतीय दर्शन और पाश्चात्त्य दर्शन—तत्त्वसाक्षात्कार के साधन—प्रमाण—संख्या पर विचार—दार्शनिकों के भेद—श्रौत और तार्किक—प्रमेय—ईश्वर पर दर्शनों की मान्यता—जीव का निरूपण—संसार की व्याख्यायें—विभिन्न दर्शनों में तत्त्वविचार—नास्तिक-दर्शन—रामानुज और मध्व—अनुमान के अवयव—अद्वैतवेदान्त—मोक्ष का विचार—माधवाचार्य का समय—उपसंहार।]

माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह बहुत दिनों से विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता आया है। यद्यपि इसके अनेकानेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई उत्तम अनुवाद तथा व्याख्या न देखकर प्रस्तुत संस्करण का प्रयास किया गया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये आधुनिक ग्रन्थ यद्यपि दर्शन के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा का निर्वाह करते हुए माधवाचार्य के द्वारा लिखे गये इस ग्रन्थ का अवमूल्यन किसी भी मूल्य पर नहीं किया जा सकता। जैसी पाण्डित्यपूर्ण शैली में माधवाचार्य ने अपने काल में प्रसिद्ध दर्शनों का संकलन करने का प्रयास किया और उनकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना करने में कुछ उठा नहीं रखा, उस तरह का संग्रह अन्यत्र मिलना दुष्कर है। दर्शनों की विवेचना में उद्धरणों की पुष्कलता लेखक के अद्वितीय पाण्डित्य की विजय-पताका पंक्ति-पंक्ति में प्रसारित कर रही है। चाहे गम्भीर विवेचन हो, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त में भीषण संग्राम छिड़ा हुआ हो अथवा किसी दर्शन के पदार्थों की गणना ही करनी हो, माधवाचार्य की शैली एकरूपता का अद्वितीय दृष्टान्त उपस्थित करती है।

यह प्रायः देखने में आता है कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का लेखक दूसरे सम्प्रदायों की विवेचना करते समय अपने विचारों का आरोपण करने लगता है या कम से कम उस विवेच्य सम्प्रदाय की आलोचना भी करता जाता है। किसी भी लेखक से निष्पक्ष या वस्तुनिष्ठ (Objective) होने की आशा करना सरासर भूल है परन्तु माधवाचार्य मानो इस नियम के सबसे बड़े अपवाद हैं। किसी भी सम्प्रदाय की विवेचना में, चाहे वह चार्वाक ही क्यों न हो, आचार्य की निष्पक्षता श्लाघनीय है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्तों और पदार्थों की व्याख्या

अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में निर्विकार भाव से उन्होंने की है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों के अध्ययन में उनके सर्वदर्शनसंग्रह का महत्त्व इतना अधिक अंकित हुआ है।

अब हम कुछ देर के लिए अपने विवेच्य विषय से हटकर दर्शन-शास्त्र के विषय में सामान्य रूप से कुछ विचार करें और उसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्यांकन करें।

दर्शन-शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है देखना, विचारना, श्रद्धा करना। आदि-काल से ही मानव ने अपने जीवन में दर्शन को प्रमुख स्थान दिया था। वस्तुतः जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही दर्शन है जो व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न हुआ करता है। मनुष्य में अपने आस-पास के पदार्थों को समझने के लिए जिज्ञासा की लहरें सदा दौड़ा करती हैं। यही नहीं, उसके साथ इन वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का निरूपण कौन करता हैं, उसके ज्ञान के क्या साधन हैं, इत्यादि कितनी ऐसी शंकायें हैं जिनसे मनुष्य को चिन्तन की प्रेरणा मिलती रहती है। सामान्य रूप से दर्शन के आविर्भाव का यही इतिहास है।

इस विषय में भी भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। ऐसा कहा जाता है कि भारतीय दर्शन दुःख की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है। प्रायः सभी दर्शन दुःख-निवृत्ति के लिए ही उपायों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। यह एक निश्चित तथ्य है कि प्राणी संसार में त्रिविधात्मक दुःखों से ग्रस्त है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि सुख की प्राप्ति करे। यह तो एक दूसरी विशेषता है कि एक ही उपाय से दुःख का निवारण तथा सुख का आसादन भी हो जाय। लेकिन वह सुख है क्या चीज ? क्या रुपये पा लेना, परीक्षा में प्रथम होना, या नौकरी पा लेना ही सुख है ? उत्तर होगा कि ये सभी सुख न केवल क्षणिक हैं अपितु ये अतिशय से भरे हुए हैं अर्थात् इन सबों में एक से बढ़ कर एक सुख हैं। इनकी कोई सीमा नहीं। एक सुखद वस्तु मिलने पर दूसरी की कामना होती है। यही नहीं, कभी-कभी तो सुख की एक निश्चित परिभाषा देना भी असम्भव हो जाता हैं। जो वस्तु राम के लिए सुखद है, मोहन के लिए नहीं। दर्शनों का लक्ष्य है कि किसी भी उपाय से सर्वोच्च सुख की प्राप्ति का उपाय बतलायें जो साथ ही साथ इस जगत् के दुःखों का आत्यन्तिक निवारण करने में समर्थ हो। सांसारिक दुःखों को बन्धन और उनकी निवृत्ति को दार्शनिक भाषा में मोक्ष के नाम से पुकारते हैं। यही बन्धन और मोक्ष भारतीय दर्शनों का मुख्य प्रश्न रहा है। यह दूसरी बात है कि उनके स्वरूप पर विभिन्न मत हैं अथवा दुःख-निवृत्ति के उपायों के विश्लेषण में मत-भेद है। कोई दार्शनिक कह सकता है कि महेश्वर

की सेवा से मोक्ष मिलता है तो दूसरा कह सकता है कि आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से मोक्ष मिलता है। कोई दार्शनिक जीते-जी मोक्ष प्राप्त होने की बात करता है तो कोई मृत्यु के बाद ही मोक्ष की सत्ता निर्धारित करता है। इस तरह दर्शनों में भेद होता है।

आत्यन्तिक दुःख-नाश और आत्यन्तिक सुख दोनों का सम्मिलित नाम मोक्ष (मुक्ति, निर्वाण, महोदय) है। मोक्ष पाने के लिये श्रुतियाँ तो उपाय बतलाती ही हैं तार्किक दृष्टि से भी कई दर्शनों में इस पर विचार किया गया है। जैसे बौद्ध-दर्शन चार आर्य-सत्यों के ज्ञान को ही मोक्ष-साधन समझता है तो न्याय-दर्शन अपने दर्शन में कहे गये पदार्थों के साक्षात्कार को ही मोक्ष का साधन मानता है। दूसरी ओर शंकराचार्य आत्मा के ज्ञान को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। यह देखने में आता है कि मोक्ष के विचार को लेकर प्रत्येक दर्शन में कुछ-न-कुछ विचार किया गया है। यहाँ तक कि चार्वाक ने भी कहा है कि देह का नष्ट हो जाना मोक्ष है। कुछ लोग मोक्ष के प्रश्न पर बहुत दूर तक विचार करते हुए पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी मानते हैं। उनका कहना है कि इस संसार में आवागमन का क्रम जब तक चलता रहेगा तब तक तो प्राणी बन्धन में ही पड़ा है। मोक्ष होने पर न तो उसे जन्म लेना पड़ता और न उसकी मृत्यु होती है।

पाश्चात्य दर्शन में मोक्ष के प्रश्न पर लोग मौन हैं। यही कारण है कि भारतीय दर्शन से वे एक नयी दिशा का निर्देश पाते हैं। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में भी भौतिकवाद के तुच्छ धरातल से बहुत ऊपर उठकर हीगेल (Hegel) के पूर्ण प्रत्ययवाद में प्रवेश करने की चेष्टा हुई है किन्तु भारतीय दर्शनों के तारतम्य तथा गंभीरता का लेश भी उन दर्शनों में नहीं है। कारण यह है कि भारत में दर्शन को जीवन से पृथक् कभी नहीं समझा गया, चाहे चार्वाक हो अथवा शंकर—सब के सब जीवन के धरातल पर ही अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा करते हैं। यही कारण है कि भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शनों की भाँति न केवल तत्त्वों की मीमांसा करता है, अपितु आचारशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, क्रियाशास्त्र, मोक्षशास्त्र आदि सभी विषयों को अपने में समेट कर चलता हैं। कहना न होगा कि पाश्चात्य दर्शन उक्त पक्षों में सबों पर समान रूप से विचार नहीं करता। तत्त्वों की मीमांसा (Metaphysics) में वह इतना संनद्ध है कि अन्य प्रश्नों पर विचार करने का उसे अवकाश ही नहीं है। जिन वाक्यों और शब्दों पर हमारे यहाँ के वैयाकरणों, नैयायिकों, और मीमांसकों ने बहुत प्राचीन काल में ही विस्तृत विचार किया था उन पर पाश्चात्य जगत्

में अभी-अभी अनुसंधान हुए हैं तथा वे भी किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँच सके हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि भारतीय दर्शन एक सर्वांगीण और परिपूर्ण शास्त्र है। इसमें अब कुछ भी परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन की आवश्यकता नहीं है, उसका संकलन हम भले कर सकें, पाश्चात्त्य दर्शनों से उसकी तुलना भले ही की जाय अथवा उसमें विद्यमान किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर अनुसंधान भले ही किया जाय, परन्तु और किसी दूसरे कार्य की आवश्यकता उसमें नहीं है। दूसरी ओर पाश्चात्त्य दर्शन अभी भी अपूर्ण है—जीवन, जगत्, या ईश्वर की व्याख्या में पूर्णतः सफल नहीं है।

तो, मोक्ष का प्रश्न भी ऐसा ही प्रश्न है जिसके विषय में भारतीय दर्शन ही परिपूर्ण समाधान दे सकता है। दर्शनों के तारतम्य से चार्वाक के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की विचारधारा से आरम्भ करके हम बढ़ जाते हैं और शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में जिज्ञासा की पूर्णतः शान्ति पाते हैं। माधवाचार्य की यही मान्यता है। अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार दूसरे लोग मध्यवर्ती दर्शनों में प्रतिपादित मोक्ष का भी आश्रय लेते हैं। विभिन्न दर्शनों में अन्य विषयों पर भले ही मतभेद हो किन्तु इस प्रश्न पर सब एकमत हैं कि मूल तत्त्व के साक्षात्कार से ही मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है।

किन्तु यह साक्षात्कार हो कैसे? इसके लिये प्रमाणों के रूप में साधन दिये गये हैं। यह प्रश्न सार्वजनिक है कि हम किसी वस्तु का ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं? शुद्ध ज्ञान के कौन-कौन से साधन हैं? प्रत्येक दर्शन में इस पर विचार किया गया है और अपनी रुचि के अनुरूप दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उसके अनुसार कोई भी ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ अनुभव है। चार्वाक-दर्शन में यह विचार किया गया है कि अनुमान के लिये व्याप्ति-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और व्याप्ति की स्थापना किसी भी साधन से नहीं हो सकती है। यह हम कह सकते हैं कि धूम और अग्नि का सम्बन्ध हम अपनी आँखों के सामने वर्तमान काल में भले ही जान लें किन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि वर्तमान काल में ही हमारी आँखों से दूर किसी स्थान में भी धूम और अग्नि का सम्बन्ध होगा। अतीत काल और अनागत काल के विषय में तो कहना ही कठिन है। स्पष्टतः चार्वाक की यह विचारधारा डेविड ह्यूम के संशयवाद (Scepticism) से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

दूसरी ओर, बौद्धों और जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। इनका कहना है कि व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करना कोई कठिन नहीं।

बौद्ध लोग तो व्याप्ति की स्थापना के लिये कार्य-कारण-सम्बन्ध तथा तादात्म्य-सम्बन्ध को उपाय के रूप में उपस्थित करते हैं किन्तु जैन लोग अन्वय और व्यतिरेक की विधि से ही संतुष्ट हैं। हाँ, इतना वे दोनों मानते हैं कि व्यभिचार की शंका न रहे। शब्द और उपमान आदि प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जाता है। वैशेषिक लोग भी इसी विधि से केवल दो प्रमाण ही मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द-प्रमाण सभी स्थानों पर प्रमाण ही नहीं होता।

माध्व-सम्प्रदाय वाले दो ही प्रमाण मानते हैं किन्तु अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष और शब्द को। शब्द के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का बोधक होने पर ही अनुमान प्रमाण माना जा सकता है। रामानुज-सम्प्रदाय वाले स्पष्ट रूप से अनुमान को पृथक् गिनकर तीन प्रमाणों की बात करते हैं। इन तीन प्रमाणों को मानने की प्रथा सांख्य-योग में भी है।

प्रमाणों के विशेषज्ञ के रूप में मान्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। माहेश्वर-सम्प्रदाय वाले भी घुमा-फिराकर इन्हीं प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण माना गया है। यह दूसरी बात है कि प्रभाकर-मत के मीमांसक अभाव नहीं मानते। अर्थापत्ति का अर्थ है कि जब किसी दूसरे प्रकार से वस्तुस्थिति की असिद्धि हो तो किसी एक स्थिति का आपादन करें, जैसे दिन में भोजन न करने पर भी देवदत्त मोटा हुए चले जा रहे हैं, तो अर्थापत्ति से हम जान सकते हैं कि वे रात में ही डट कर भोजन करते होंगे क्योंकि किसी दूसरे प्रकार से उनकी मोटाई सम्भव नहीं है। अनुपलब्धि का अर्थ है किसी वस्तु का अभाव जानना। सभा में पहुँचते ही हमें मालूम हो गया कि वहाँ हमारा मित्र नहीं है। यह बात अनुपलब्धि-प्रमाण से ही मालूम हुई है। शंकराचार्य भी उपर्युक्त छह प्रमाणों को ही मान्यता देते हैं। पौराणिकों का भी एक सम्प्रदाय है जो सम्भावना और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानता है। नवाँ प्रमाण चेष्टा है जिसे तान्त्रिक और साहित्यिक लोग मानते हैं। यद्यपि इन प्रमाणों में प्रत्यक्ष को शिरोमणि कहा गया है किन्तु कई ऐसे विषय हैं जिनकी सिद्धि के लिये हमें अनुमान और शब्द पर अवलम्बित होना पड़ता है जैसे ब्रह्म की सिद्धि के लिये श्रुति को ही शंकराचार्य ने प्रमाण-शिरोमणि माना है।

इस प्रकार प्रमाणों की विवेचना करने के पश्चात् इनके आधार पर दार्शनिकों हम दो कोटियों में रख सकते हैं*—तार्किक, और श्रौत। श्रौत दार्शनिक वे हैं जो मूलतत्त्व के अन्वेषण में श्रुति को ही मुख्य साधन मानते हैं।

---

* अभ्यंकर—उपोद्घात पृ० ४२।

उन्हें हम वेदवादी भी कह सकते हैं। इनमें शंकराचार्य, जैमिनि, पाणिनि आदि आते हैं। तार्किक दार्शनिक से हमारा अभिप्राय यह है कि मूलतत्त्व के अनुसंधान में ये लोग एकमात्र तर्क का सहारा लेते हैं। तर्क और कुछ नहीं, अनुमान का ही दूसरा नाम है। ये लोग श्रुति में प्रतिपादित विषयों को भी तर्क-निकष पर कसने पर ही प्रमाण मानते हैं। तार्किकों के भी दो भेद हैं—एक तो वे दार्शनिक जो अपने को स्पष्टतः तार्किक कहते हैं और दूसरे वे जो अपने को श्रौत कहने पर भी भीतर-भीतर तर्क का ही सहारा लेते हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करने वाले रामानुज और माध्व सम्प्रदाय वाले दार्शनिक कहते हैं कि हम लोग उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं किन्तु श्रुति-वाक्यों का जो अर्थ उन्होंने पूर्वाग्रह के कारण किया है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये प्रच्छन्न तार्किक हैं। उदाहरण के लिये स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म की एकता का निर्देश करने वाले (तत्त्वमसि) इस वाक्य का उन दोनों ने कैसे निर्वाह किया है यह देखने ही योग्य है। रामानुज की दशा तो और भी दयनीय है।[1] वे अपने श्रीभाष्य में शंकराचार्य की खिल्ली उड़ाते हैं कि शंकर श्रौतमत के बहाने से छिपकर बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे हैं। और रामानुज ? वेद-मत का प्रचार करते हुए क्या छिपे हुए तार्किक वे नहीं हैं ?

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक आदि भी तार्किक ही हैं क्योंकि इन्होंने भी अपनी प्रतिष्ठा अनुमान के बल पर ही की है। यहाँ स्मरणीय है कि श्रौत और तार्किक दार्शनिकों में भेद का कारण यह है कि श्रौत पक्ष में वेदों को स्वतः-प्रमाण माना गया है जब कि तार्किक पक्ष में उन्हें परतः प्रमाण मानते हैं। स्वतःप्रमाण का अर्थ है कि वेदों की प्रामाणिकता अपने आप में सिद्ध (Self-evident) है, किसी दूसरे प्रमाण को उसे सिद्ध नहीं करना पड़ता। तदनुसार वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। वेदों की शक्ति अकुण्ठित या अप्रतिहत है। दूसरी ओर, जो लोग वेदों को परतः प्रमाण मानते हैं उनका यह कहना है कि वेद पौरुषेय हैं, अनित्य हैं, उनकी सिद्धि के लिए हमें दूसरे साधनों पर निर्भर करना पड़ता है। इस दशा में वेदों को पुरुष अर्थात् ईश्वर की रचना मानते हैं।

पौरुषेय और अपौरुषेय का विचार मीमांसा-दर्शन में अच्छी तरह हुआ है। अन्त में वेदों को अपौरुषेय ही माना गया है। इनका कथन है कि वेद ईश्वर से केवल प्रकाशित हुए हैं। जैसे मनुष्य अनायास ही निःश्वास छोड़ता है, उसे न तो बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है या न किसी परिश्रम की। उसी प्रकार वेद भी ईश्वर से प्रादुर्भूत हुए हैं। अपौरुषेय मानने पर ही

---

१. देखिये, पृ० २४७।

श्रौत दार्शनिकों ने श्रुति की प्रामाणिकता सबसे ऊपर स्वीकार की है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सत्ताओं के भेद से श्रुति और प्रत्यक्ष इन दोनों प्रमाणों में कोई विरोध नहीं है। जहाँ तक व्यवहार-जगत् का सम्बन्ध है, हमें प्रत्यक्ष को प्रश्रय देना ही पड़ेगा। लौकिक दृष्टि से द्वैत भी सत्य ही है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार करने पर श्रुतियों को प्रधानता देनी पड़ेगी। उस दशा में अद्वैतवाद ही सत्य सिद्ध होता है।

प्रमाणों के इस विवेचन में हम दो बातें स्पष्ट रूप से देखते हैं—एक तो प्रमाणों की संख्या और दूसरी प्रमाणों की प्रामाणिकता या पूर्वापरता। यह सर्वमान्य है कि प्रमेय पदार्थों का विचार करने से पूर्व प्रमाणों का संग्रह कर लेना आवश्यक है।

प्रमाण से जिसकी सिद्धि की जाती है उसे प्रमेय कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से तीन पदार्थ मिलते हैं। जीव, जगत् और ईश्वर। कोई दार्शनिक तो इन तीनों की पदार्थता मानते हैं, कुछ केवल दो की और कुछ केवल एक की। वस्तुस्थिति चाहे जो भी हो इन तीनों की व्याख्या उन सबों को करनी पड़ती है—चाहे वे तीनों को एक ही में क्यों न समेट लें। तो इनका क्रमशः निरीक्षण करें—

(१) **ईश्वरः**—ईश्वर के विषय में चार्वाक का तो कहना है कि इसकी सत्ता अलौकिक नहीं। पृथ्वी का राजा ही परमेश्वर है। यदि चार्वाकों से पूछा जाय कि ईश्वर के न मानने पर लौकिक और अलौकिक कर्मों का फल कौन देगा ? तो ये बतलायेंगे कि लौकिक कर्म तो राजा के अधीन हैं ही—वही तो निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ है। याचकों को दान देकर और चोरों को दण्ड देकर वह सभी कर्मों का फल यथाविधि देता ही है। अब रही बात अलौकिक कर्मों की। ये अलौकिक कर्म वास्तव में धूर्तों के उपाख्यान हैं जो जनसामान्य को ठगने के लिये वैदिक वंचकों के बकवाद हैं।

बौद्ध और जैन अपने-अपने धर्म प्रवर्तकों को ही ईश्वर मानते हैं। वस्तुतः ये लोग भी ईश्वर की सत्ता मानते ही नहीं। सांख्य में भी ईश्वर नहीं माना जाता। मीमांसक लोग भी ईश्वर नहीं मानते किन्तु मनुष्य के कर्मों का शुभ-अशुभ फल देने के लिये अदृष्ट नाम की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। वैयाकरण लोगों से पूछने पर सम्भवतः वे यह कहेंगे कि शब्द की परा अवस्था जिसे स्फोट भी कहते हैं, वही ईश्वर है। रामानुज ईश्वर पर कुछ विशेषणों का आरोपण करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जीवों का नियामक, अन्तर्यामी और उनसे पृथक् पदार्थ है। जीव और जड़ उसके शरीर हैं जीवों को वह उनके कर्मों के अनुसार फल देता हैं। मध्वाचार्य के अनुसार भी ईश्वर इन्हीं विशेषणों से युक्त

है किन्तु यह अन्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। वह संसार का उपादान-कारण नहीं, केवल निमित्त-कारण है। महेश्वर-सम्प्रदाय, नैयायिक और वैशेषिक-दर्शनों की भी यही मान्यता है। लेकिन इस दर्शन-समूह में दो मत हो जाते हैं। पाशुपत और प्रत्यभिज्ञा दर्शनों में यह माना गया है कि ईश्वर कर्म का फल देने के समय जीवों के द्वारा किये कर्मों की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ऐसा मानने पर ईश्वर की स्वतंत्रता नहीं रह सकेगी। दूसरे महेश्वर, वैशेषिक और माध्वमत वाले कहते हैं कि ईश्वर कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही संसार का निर्माण करता है।

योग-दर्शन में यद्यपि ईश्वर जीव से भिन्न है किन्तु वह न तो संसार का निमित्त-कारण है और न उपादान ही। वह सर्वथा निर्लेप और निर्गुण है। शंकराचार्य के अनुसार भी ईश्वर वैसा ही है किन्तु वह पारमार्थिक है। यह स्मरणीय है कि जगत् और ईश्वर की सत्ताओं में अन्तर है। अतः दोनों में कार्य-कारण-भाव होना असम्भव है। माया के आधार पर ईश्वर संसार का उपादान-कारण बनता है किन्तु विवर्त रूप से।

ईश्वर के विषय में दिये गये बहुत से प्रमाण हैं। किन्तु सभी अनुमान और श्रुति पर आधारित हैं। यदि श्रौत-दर्शन हो तो ईश्वर श्रुति-सिद्ध है और यदि तार्किक दर्शन हो तो ईश्वर की सिद्धि अनुमान से करते हैं। फिर भी श्रुति की प्रधानता अन्ततः स्वीकार करनी ही पड़ती है।

(२) **जीव**—ईश्वर के समान ही जीव को लेकर भी दार्शनिकों में बड़ा विवाद है। सर्वप्रथम चार्वाकों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि वे शरीर को ही आत्मा कहते हैं यदि उसमें चैतन्य हो। कर्त्ता और भोक्ता भी वही है। चार महाभूतों (Gross elements) के मिलने से विशेष क्रिया द्वारा चैतन्य उत्पन्न होता है। उसमें चैतन्यांश के द्वारा ज्ञान होता है, देहांश तो जड़ के रूप में ही है। यह दूसरी बात है कि कुछ चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। कुछ प्राण को और कुछ मन को भी आत्मा मानते हैं। चार्वाकों का मत विभिन्न दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, स्वतन्त्र रूप से तो कहीं उनके विचार मिलते ही नहीं।

बौद्धों के अनुसार जीवात्मा विज्ञान के रूप में है। चूँकि विज्ञान क्षण-क्षण बदलने वाले प्रवाह के समकक्ष है इसलिये आत्मा भी क्षण-क्षण बदलने के कारण अनित्य है। पूर्वक्षण में उत्पन्न विज्ञान अपने उत्तर-क्षण में संस्कार के रूप में चला आता है इसलिये स्मृति आदि की सिद्धि की जाती है। शून्यवादी बौद्ध तो आत्मा के मूल रूप को शून्य ही मानते हैं किन्तु व्यवहार की दशा में आत्मा की

प्रतीति भी उन्हें माननी पड़ती है। जैनों के अनुसार जीवात्मा देह से भिन्न ही है किन्तु देह के परिमाण में ही रहती है। देह के बढ़ने और घटने से जीवात्मा भी बढ़ती-घटती रहती है। उनके अनुसार जीवात्मा नित्य तो है किन्तु उसमें विकार होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में वह आत्मा कूटस्थ (एक समान रूप में) नित्य नहीं है।

आस्तिक दर्शनों में, नैयायिकों और वैशेषिकों का यह कहना है कि जीवात्मा के गुण बुद्धि, सुख, दुःख आदि जब अनित्य हैं तो जीवात्मा भी विकारी है क्योंकि धर्मी में आने और जाने वाले धर्म धर्मी को विकारशील बना देते हैं। कहने का अभिप्राय है कि जीवात्मा कूटस्थ नित्य नहीं है और आत्मा का स्वरूप जड़ के समान हो जाता है। यही कारण है कि मुक्ति की दशा में ज्ञान का नाश हो जाने से आत्मायें पाषाणवत् हो जाती है। प्रभाकर-मीमांसकों के मत से* यह सिद्धान्त बहुत कुछ मिलता-जुलता है। मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय भाट्ट-सम्प्रदाय मानता है कि आत्मा अंश के भेद से ज्ञान और जड़ दोनों के रूप में है। शैव, सांख्य और योग के सम्प्रदायों में तथा वेदान्तियों के मत से आत्मा केवल ज्ञान के स्वरूप में है। यह दूसरी बात है कि अद्वैत-वेदान्ती, सांख्य और योग वाले आत्मा को निर्गुण मानते हैं जब कि द्वैत-वेदान्ती, विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को सगुण मानते हैं।

जहाँ तक जीवात्मा के परिमाण (Magnitude) का सम्बन्ध है, बौद्ध लोग कहते हैं कि आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है अतः उसका कोई परिमाण नहीं हो सकता। वास्तव में आत्मा का आश्रय कोई है ही नहीं जिससे आत्मा उसके अनुरूप कोई परिमाण धारण कर ले। रामानुज, मध्व और वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि जीव का परिमाण अणु के समान (Atomic) है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल तथा अद्वैत-वेदान्त वाले जीवात्मा को विभु (All-pervasive) कहते हैं। चार्वाक, शून्यवादी और जैन लोग आत्मा को अणु और विभु के बीच में रखते हैं अर्थात् जीवात्मा मध्यम परिमाण की है।

जीव कर्त्ता या भोक्ता है, इस विषय पर भी मत-भेद है। नैयायिक और वैशेषिक तो जीवात्मा का कर्तृत्व सत्य मानते हैं किन्तु रामानुज और मध्व-सम्प्रदाय वाले उसके सत्य होने पर भी उसे नैमित्तिक मानते हैं स्वाभाविक नहीं। अद्वैत-वेदान्ती कहते है कि जीवात्मा कुछ उपाधियों के कारण ही कर्त्ता बनती है। सांख्य-योग में प्रकृति को कर्त्ता माना गया है। इसीलिये प्रकृति के

* दे० पंचदशी (६।८८)।

सम्बन्ध से जीवात्मा में भी कर्त्ता होने की प्रतीति हो जाती हैं। जिस रूप में जीवात्मा कर्त्ता है उसी रूप में भोक्ता भी है।

(३) **संसार**—संसार अर्थात् जड़-वर्ग की सत्ता के विषय में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, भले ही वह सत्ता भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मानी जाय। चार्वाकों का कहना है कि जड़ पदार्थ ही संसार का मूल कारण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु ही संसार का निर्माण करते हैं। बौद्ध लोग यद्यपि चार्वाक की तरह ही आकाश-तत्त्व नहीं मानते किन्तु वे चार्वाक के द्वारा सम्मत परमाणुओं में अवयव मानते हैं और उन अवयवों का प्रवाह संसार का निर्माण करता है। जैन लोग एक प्रकार के परमाणुओं को ही संसार के मूल कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। आकाश भी इन्हें मान्य है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में सूर्य की किरणों में उड़ने वाले धूल-कणों के अवयवों को परमाणु कहते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों के मिलने से एक त्र्यणुक बनता है। यही सूर्य की किरणों में धूल के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसी क्रम से संसार का निर्माण होता है। ये परमाणु नित्य हैं। दूसरी ओर, मीमांसक और वैयाकरण परमाणुओं को भी अनित्य मानते हुए केवल शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं। यह शब्द ही संसार का मूल कारण है ; सांख्य-योग के मत से यह शब्द भी कार्य है, नित्य नहीं क्योंकि शब्द का कारण अहंकार है। अहंकार का कारण महत् और महत् का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। रामानुज-सम्प्रदाय वाले इसे ही मान्यता देते हैं। अद्वैत-वेदान्तियों के अनुसार यह प्रकृति भी मूल कारण नहीं हो सकती। यह ब्रह्म का विवर्त है जिससे प्रकृति सद्वस्तु के रूप में प्रतीत होती है। आत्मा ही संसार का मूल कारण है। ये सारे दृश्यमान पदार्थ उसी के विवर्त हैं।

अब हम यह विचार करें कि यह सृष्टि मूल कारण से किस रूप में सम्बद्ध है। इस पर न्याय-वैशेषिकों का कहना है कि कारण तीन प्रकार के हैं—समवायी, असमवायी और निमित्त। ये तीनों मिलकर अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् कारणों से भिन्न रूप में कार्य की उत्पत्ति होती है। इसे ही आरम्भवाद भी कहते हैं। सभी लोग इस मत को नहीं मानते। बौद्धों का कहना है कि समवायी अर्थात् उपादान कारण (जैसे मिट्टी या सूत) अपने से भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं करते हैं। तदनुसार समवायी कारण का संघात (Combination) होने से ही कार्य होता है। इसे केवल सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध ही मानते हैं। चूँकि संघात भी क्षण-क्षण में बदल रहा है अतः कारण

के नष्ट होते ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। शून्यवादी तो कहेंगे कि कार्य का कारण कभी सद्रूप होता ही नहीं, असत् होते हुए भी क्षण-क्षण में प्रतीत होता रहता है। इस मत को लोग **असत्ख्यातिवाद** कहते हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानरूपी आत्मा क्षण-क्षण में नये-नये बाह्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होती है। उपादान-कारण जब वास्तव में कार्य के रूप में बदल जाय तो उसे **परिणामवाद** कहते हैं जिसे सांख्य-योग और रामानुज-वेदान्त में माना गया है। जब कारण की परिणति कार्य के रूप में सचमुच नहीं हो, केवल वैसी प्रतीति हो तो उसे **विवर्तवाद** कहते हैं जो शंकराचार्य की मान्यता है।

शंकराचार्य के विवर्तवाद का एक रूप **दृष्टि-सृष्टिवाद** के रूप में देखने में आता है। इसका अर्थ है कि जिस समय हमने देखा उसी समय उसकी सृष्टि हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि देखने के समय द्रष्टा की अविद्या के कारण उक्त वस्तु उस रूप में सृष्ट (Created) दिखलाई पड़ती है। पहले से उसकी सत्ता नहीं रहती। राम ने सीपी में रजत देखा तो उस समय उस स्थान पर रजत राम की अविद्या से ही उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्व या पश्चात् रजत की प्रतीति नहीं होती। सांसारिक प्रपंच भी व्यक्ति की अविद्या के कारण तात्कालिक और तद्रूप ही सृष्ट होता है। जीवों को नानात्मक मानने पर प्रपंच का भेद भी होगा। वास्तव में 'जीव होना' ही अविद्या के कारण होता है, वह वस्तुतः तो है नहीं। अभिनवगुप्त के सम्प्रदाय (प्रत्यभिज्ञा) में भी यही बात कही गयी है परन्तु वे लोग **प्रतिबिम्बवाद** नाम का सिद्धान्त मानते हैं। यह ठीक है कि जगत् ब्रह्म के कारण है किन्तु न तो ब्रह्म ने संसार का आरम्भ ही किया है, न तो वह ब्रह्म का परिणाम है और न ही विवर्त। जैसे दर्पण में बहिर्भूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है वैसे ही ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। बिम्ब के स्थान पर स्वीकृत माया ब्रह्म में अपना सम्बन्ध दिखाकर बिम्ब के अभाव में भी प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है। अतः न तो बिम्ब को अलग मानकर द्वैत-पक्ष में जाना पड़ता और न 'बिम्ब पृथक् नहीं है' कह कर मूलच्छेद ही करने की आवश्यकता है।

तत्त्व-विचार—सभी दार्शनिकों ने, चाहे वे कहीं के हों, किसी-न-किसी रूप में संसार के मूल पदार्थों (Ultimate Reality) पर विचार किया है। इन्हें ही भारतीय दर्शन में पदार्थ या 'तत्त्व' के नाम से पुकारते हैं। चार्वाक लोगों का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार तत्त्व हैं। बौद्ध लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व मानते हैं। शून्यवादी केवल शून्य को, योगाचार वाले केवल विज्ञानस्कन्ध को तथा अन्य बौद्ध पाँच आन्तरिक-

स्कन्धों को और चार बाह्य परमाणुओं को तत्त्व मानते हैं। भगवान् बुद्ध के विचार से दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधमार्ग ये चार आर्य-सत्य अर्थात् तत्त्व हैं। जैनों के विचार से दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। इन्हीं का विस्तार पाँच तत्त्वों के रूप में किया गया है जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। उसी प्रकार सात तत्त्वों का वर्णन भी कुछ लोग करते है—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। ये नास्तिक दार्शनिकों के विचार हैं।

रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार सभी पदार्थ प्रमाण और प्रमेय के रूप में बँटे हुए हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं और द्रव्य, गुण तथा सामान्य प्रमेय हैं। द्रव्यों के भी छः भेद है—ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल। गुणों के दस भेद हैं—सत्व, रजस् , तमस् , शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। सामान्य द्रव्य-गुण दोनों के रूप में होता है। ईश्वर पाँच प्रकार का है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। वैकुण्ठ में निवास करने वाले तथा मुक्त जीवों के द्वारा प्राप्य नारायण ही पर ईश्वर हैं। व्यूह चार तरह का होता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। यद्यपि भगवान् एक ही हैं परन्तु प्रयोजनवश उनके चार रूप हो गये हैं। उनमें ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज, इन छः गुणों से युक्त वासुदेव हैं। संकर्षण-व्यूह में ज्ञान और बल की प्रधानता रहती है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य की प्रधानता रहती है। अनिरुद्ध में शक्ति और तेज की प्रधानता रहती है। भगवान् के अवतारों को विभव कहते हैं। अन्तर्यामी ईश्वर वह है जो जीवों के हृदय में रहता है। योगी लोग इसे पा सकते हैं तथा जीवों का नियन्त्रण भी यही करता है। देव-मन्दिर में प्रतिष्ठित ईश्वर अर्चावतार है। इस प्रकार ईश्वर-द्रव्य का निरूपण किया गया।

जीव ईश्वर के अधीन होते हैं, प्रत्येक शरीर में भिन्न हैं तथा नित्य हैं। ये तीन तरह के हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। संसारी जीव बद्ध हैं, नारायण की उपासना से वैकुण्ठ में पहुँचे हुए जीव मुक्त हैं और संसार को कभी न छूने वाले अनन्त, गरुड़ आदि जीव नित्य हैं। नित्य-विभूति से वैकुण्ठ-लोक समझा जाता है। ज्ञान का अर्थ है अपने आप में प्रकाशित होने वाला जिसे चैतन्य और बुद्धि भी कहते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक तथा चौबीस तत्त्वों से बनी हुई है। ये चौबीस तत्त्व हैं—प्रकृति, महत् , अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र और पाँच महाभूत। काल जड़ पदार्थ है और विभु है। इन सबों का स्पष्ट विवेचन यतीन्द्रमत-दीपिका में हुआ है।

माध्व-सम्प्रदाय के अनुसार तत्त्वों की संख्या दस है—द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। द्रव्यों की संख्या बीस है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश-प्रकृति, तीन गुण, महत्तत्त्व, अंहकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्र, महाभूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिविम्ब। गुणों की संख्या अनेक है। रूप, रस आदि चौबीस गुणों के अलावे आलोक, दम, कृपा, बल, भय, लज्जा, गम्भीरता, सुन्दरता, धीरता, वीरता, शूरता, उदारता आदि भी गुण में ही चले आते हैं। कर्म के तीन भेद हैं—विहित, निषिद्ध और उदासीन ! नित्य और अनित्य के भेद से सामान्य भी दो तरह के हैं। भेद न होने पर भी भेद के व्यवहार का निर्वाह करने वाले अनन्त विशेष हैं। माध्व लोग समवाय नहीं मानते। विशेषण के सम्बन्ध से विशेष्य में होने वाला आकार ही विशिष्ट नाम का पदार्थ है। अंशी का मतलब है—हाथ, डेग इत्यादि के द्वारा नापा जाने वाला पदार्थ। शक्तियाँ चार हैं, अचिन्त्य-शक्ति, आधेय-शक्ति, सहज-शक्ति और पद-शक्ति। सादृश्य तो लोक में प्रसिद्ध ही है किन्तु यह दोनों पदार्थों में स्थित नहीं रहता। दूसरे के आधार पर एक वस्तु में ही स्थित रहता है। वैशेषिकों के समान ही यहाँ चार प्रकार के अभाव माने जाते हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। अविद्या पाँच खण्डों की होती है—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध-तामिस्र और तम। वर्णों की संख्या इकावन (५१) मानी गई है इस प्रकार द्वैत-मत में तत्त्वों का विवेचन बहुत अधिक विश्लेषण के साथ हुआ है।

अब महेश्वर-सम्प्रदाय के अनुसार तत्त्वों पर विचार करें। पाशुपत-दर्शन के अनुसार पाँच तत्त्व हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। कार्य का अर्थ है अस्वतंत्र पदार्थ जिसके तीन भेद हैं—विद्या, कला और पशु। जीव के गुणों को विद्या कहते हैं, अचेतन पदार्थ को कला कहते हैं और पशु तो जीव ही है। कारण के दो भेद हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण मिलकर परतन्त्र-कारण बनाते हैं। स्वतन्त्र कारण परमेश्वर है। आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं, धर्म-कार्य की सिद्धि करने वाली विधि है और मोक्ष दुःखान्त।

शैव-दर्शन में पति, पशु और पाश, ये तीन पदार्थ कहे गये हैं। पति का अर्थ है शिव, पशु जीव है और पाश के चार भेद हैं—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। इन सबों का विचार प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जीव और परमात्मा दोनों को एकाकार कहा गया है। किन्तु जड़ पदार्थ आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी। और बातें तो पाशुपत-दर्शन से मिलती-जुलती ही हैं। रसेश्वर-दर्शन भी तत्त्व-विचार में कोई नयी चीज नहीं देता।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के तत्त्व इतने प्रसिद्ध हैं जितने किसी दर्शन के नहीं। वस्तुतः उनका दर्शन ही तत्त्व-विचार-शास्त्र है। वैशेषिकों के यहाँ सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छह भावात्मक (Positive) है और अभाव नाम का सप्तम पदार्थ भी स्वीकृत है। नैयायिकों ने प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण किया है। यहाँ पर यह ध्येय है कि नैयायिकों ने अनुमान के लिये पाँच अवयवों की आवश्यकता मानी है। वे हैं--प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। ये अवयव प्रायः सभी दार्शनिकों को स्वीकृत हैं। फिर भी कुछ दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से इनका चयन किया है। बौद्ध लोग उदाहरण और उपनय से ही संतुष्ट है। मीमांसक लोग तीन अवयवों को मानते हैं--प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। अद्वैत-वेदान्ती केवल तीन अवयवों को लेते हैं चाहे प्रथम तीन या अन्तिम तीन। रामानुज और मध्व-सम्प्रदाय का कोई नियम नहीं है। कभी पाँचों से, कभी केवल तीन से और कभी उदाहरण और उपनय, इन दो अवयवों से ही काम लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उदाहरण तो कोई भी छोड़ता ही नहीं।

मीमांसा-शास्त्र में चूँकि वाक्यार्थ-विचार की प्रधानता है इसलिये तत्त्व का विचार हमें दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु समवाय आदि कुछ पदार्थों का उनके द्वारा खण्डन किया जाना देखकर हमारा अनुमान है कि वैशेषिकों की तरह कुछ पदार्थों को वे अवश्य मानते हैं। वैयाकरण लोगों को शब्दार्थ के विचार से अवकाश ही कहाँ है कि तत्त्व पर विचार करें ? किन्तु वास्तव में उन्होंने विचार किया है। तत्त्व-विचार की दृष्टि से वे प्रत्यभिज्ञा, मीमांसा, वैशेषिक और अद्वैत-वेदान्त के बिन्दुओं से बने हुए वर्ग के बीच अवस्थित हैं। द्रव्य, गुण, कर्म (क्रिया) और सामान्य (जाति) इन चार पदार्थों को मानते हुए वे शब्द-ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व स्वीकार करते हैं।

सांख्य-दर्शन में चार प्रकार के तत्त्व हैं—प्रकृत्यात्मक, विकृत्यात्मक, उभयात्मक और अनुभयात्मक। इनका विचार इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में किया गया है। योग-शास्त्र इससे पृथक् नहीं जाता। अद्वैत-वेदान्त में पदार्थ एकात्मक है। वह आत्मा या ब्रह्म-स्वरूप है। द्वैत की प्रतीति तो अनादि अविद्या के कारण कल्पित है। तो, दृक् और दृश्य के भेद से दो पदार्थ हुए। दृक्-पदार्थ के तीन भेद हैं—ईश्वर, जीव और साक्षी। अज्ञान की उपाधि से युक्त ईश्वर है जिसके ब्रह्म, विष्णु और महेश ये तीन भेद हैं। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त अज्ञान वाला पदार्थ जीव है। ईश्वर या जीव ही

उपाधियों से युक्त होकर साक्षी कहलाता है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है वह दृश्य पदार्थ है। उसके तीन भेद हैं—अव्याकृत, मूर्त और अमूर्त। अव्याकृत का अर्थ है—अविद्या, अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध, उसमें चित् की प्रतीति और जीवेश्वर का भेद। 'अमूर्त' शब्द से शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म भूत और अन्धकार लिये जाते हैं क्योंकि ये अविद्या से उत्पन्न हैं। ये अमूर्त अवस्था में ही सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति करते हैं और राजस अंश से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति करते हैं। सबों के सात्त्विकांश मिलकर मन की और राजसांश मिलकर प्राण की उत्पत्ति करते हैं। तब इन भूतों (Elements) का आपस में मिश्रण अर्थात् पंचीकरण होता है जिससे यह भौतिक संसार प्रतीत होता है। इस प्रकार इन तत्त्वों का निरूपण किया जाता है।

मूल तत्त्वों को जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और मूल तत्त्वों के विकृत रूपों को जानकर उनमें लिपटे रहने से प्राणी बन्धन में पड़ा रहता है। बन्धन के विषय में जानना चाहिए कि संसार में सबों को सुख-दुःख और मोह का अनुभव होता है। यही बन्धन है। सांख्य और योग वाले कहते हैं कि यह अनुभव वस्तु-निष्ठ है जब कि वेदान्ती इसे आत्मनिष्ठ मानते हैं क्योंकि सुख आदि मन की वृत्तियाँ हैं जो पहले के संस्कार के कारण विभिन्न पदार्थों के ज्ञान से जैसे-तैसे उत्पन्न होती हैं तथा नष्ट होती हैं।

मोक्ष के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद ही है। चार्वाक स्वतंत्रता या देह-नाश को ही मोक्ष कहते हैं। शून्यवादी आत्मा का उच्छेद होना मोक्ष मानते हैं। दूसरे बौद्धों का कथन है कि निर्मल ज्ञान की उत्पत्ति ही मोक्ष है। जैन-सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि कर्म से उत्पन्न देह में जब आवरण न हो तो जीव का निरन्तर ऊपर उठते जाना ही मोक्ष है। रामानुज-सम्प्रदाय में ईश्वर के गुणों की प्राप्ति और उनके स्वरूप का अनुभव करना मोक्ष है। द्वैत-वेदान्त में दुःख से भिन्न पूर्ण सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है। इस अवस्था में भगवान् के केवल तीन गुण नहीं मिलते, संसार का कर्त्ता होना, लक्ष्मी का पति होना और श्रीवत्स की प्राप्ति—नहीं तो मोक्षावस्था में जीव को सब कुछ मिल जाता है। पाशुपत-दर्शन में परमेश्वर बन जाना, शैव-दर्शन में शिव हो जाना तथा प्रत्य-भिज्ञा में पूर्ण आत्मा की प्राप्ति को मोक्ष माना गया है। रसेश्वर-दर्शन कहता है कि रस से सेवन के देह का स्थिर हो जाना, जीते जी मुक्त हो जाना मुक्ति है। न्याय-वैशेषिक मोक्ष को प्रायः अभावात्मक शब्दों में लेते हैं। वैशेषिक कहते हैं कि सारे विशेष गुणों का नाश हो जाना मोक्ष है जब कि नैयायिक आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ नैयायिक न केवल दुःख-निवृत्ति को, प्रत्युत सुख को भी मोक्ष में ही लेते हैं। मीमांसकों के

यहाँ विविध वैदिक कर्मों के द्वारा स्वर्ग आदि की प्राप्ति ही मोक्ष है। वैयाकरणों की धारणा है कि मूलचक्र में स्थित परा नामक ब्रह्मरूपिणी वाणी का दर्शन कर लेना ही मोक्ष है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति के उपरत हो जाने पर पुरुष का अपने रूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष माना गया है। उधर अपना काम पूरा करके सत्त्व, रजस् और तमस्, ये तीनों गुण भी मूलप्रकृति में आत्यन्तिक रूप से विलीन हो जाते हैं और प्रकृति को भी मोक्ष मिलता है। योगदर्शन मानता है कि चित्-शक्ति निरुपाधिक रूप से अपने आप में स्थित हो जाती है तो मोक्ष होता है। अन्त में अद्वैतवेदान्त में शंकराचार्य का कहना है कि मूल अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अपने स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है। इस प्रकार दर्शनों में अन्तिम तत्त्व (पुरुषार्थ) मोक्ष का सम्यक् निरूपण किया गया है। यहाँ केवल दिशा-निर्देश अथवा पाठकों की रुचि उत्पन्न करने के लिए सारांश दिया गया है।

अपनी अंग्रेजी-भूमिका में दर्शनों के तारतम्य का संक्षिप्त विवरण मैंने दिया है। अतः यहाँ पर पुनरुक्ति से बचने के लिए केवल यही प्रतिपादित करना लक्ष्य है कि माधवाचार्य का उक्त दर्शन-संग्रह लिखने का क्या लक्ष्य है ? यह सर्वमान्य सत्य है कि माधवाचार्य का अपना दर्शन अद्वैत-वेदान्त ही था। इसी की स्थापना के लिए उन्होंने अन्य दर्शनों को भी यथार्थ रूप में रख कर उनकी अपेक्षा शांकर-दर्शन को प्रधानता दी है। यह हम प्रत्येक दर्शन के आरम्भ में देखते हैं कि विगत दर्शन का खण्डन करके किसी दर्शन की नींव रखते हैं। इस तरह क्रमशः दर्शनों की मान्यता वे बढ़ाते चलते हैं।

दूसरे दर्शन-ग्रन्थों में सर्वदर्शनसंग्रह की तरह क्रम नहीं रखा गया है। प्रायः लोग नास्तिक दर्शनों के बाद क्रमशः आस्तिक दर्शनों का विचार करते हैं। कारण यही होता है कि उन्हें किसी दर्शन से कुछ लेना-देना नहीं है पर माधवाचार्य को तो अपने लक्ष्य की सिद्धि करनी थी अतः उन्होंने एक विशेष क्रम का निर्वाह किया है।

अद्वैत-वेदान्त भारतवर्ष का सबसे अधिक मान्य दर्शन है। माधवाचार्य इसीलिए इसे सब दर्शनों का शिरोमणि मानते हैं और उस पर उन्होंने बहुत अधिक विचार किया है। इस पर उठाई गई सारी आपत्तियों का पाण्डित्यपूर्ण समाधान तो किया ही है, मूल पदार्थों के विवेचन को तिलांजलि देकर भी उसके सिद्धान्तों की स्थापना की है। अतः सर्वदर्शनसंग्रह को न केवल दर्शनों का संकलन समझें प्रत्युत एक प्रबन्ध ग्रन्थ (Thesis) के रूप में ले सकते हैं जिसमें अद्वैत-मत की प्रतिष्ठा की गई है। यह बहुत आवश्यक था कि अद्वैत की स्थापना उस

समय में विद्यमान सारे दार्शनिक सम्प्रदायों के पूरे परिप्रेक्ष्य में की जाय। अतः 'आम्राश्च: सिक्ता: पितरश्च प्रीणिता:' के अनुसार एक ही साथ दो-दो काम हो गये—दर्शनों का संग्रह भी हो गया और उनके बीच अद्वैत-वेदान्त की क्या महत्ता है, यह भी जान गये।

अन्त में हम प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक माधवाचार्य* के विषय में भी विचार कर लें। दक्षिण भारत में तुंगभद्रा नदी के किनारे पम्पा-सरोवर के समीप विजयनगर में एक सुप्रसिद्ध साम्राज्य था जिसमें प्राय: १३५५ ई० के आसपास में महाराज बुक्क सम्राट् हुए थे। उक्त साम्राज्य की स्थापना महाराज हरिहर प्रथम ने माधवाचार्य की ही प्रेरणा से की थी। माधवाचार्य इन दोनों राजाओं के यहाँ मुख्य मन्त्री के पद पर सुशोभित थे। इनका परिवार बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि विद्या के क्षेत्र में वह बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा था। वेदों के प्रसिद्ध भाष्य-कर्त्ता सायणाचार्य इसी वंश में हुए थे। इस वंश का नाम ही सायण-वंश था। सायण और माधव की रचनाओं की तुलना करने से हमें मालूम होता है कि माधवाचार्य सायण के बड़े भाई थे। इनके पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। ये बौधायन-सूत्र के मानने वाले यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये सूचनायें माधवाचार्य ने पराशर-स्मृति की अपनी व्याख्या में प्रस्तुत की है।

माधवाचार्य को एक दूसरे माधव से भी अभिन्न समझने की भूल लोगों ने की है। माधव नाम के एक मन्त्री होने की सूचना १३४७ ई० के शिखालेख में मिलती है जिनकी मृत्यु १३९१ ई० के बाद हुई थी। इस प्रकार प्राय: ४५ वर्षों की अवधि तक इन्होंने मन्त्री का कार्य उत्तरदायित्वपूर्वक सँभाला था। ये अद्वितीय योद्धा थे क्योंकि इनके लिये लेखों में 'भुवनैकवीरः' का विरुद मिलता है। पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित कोंकण-प्रदेश में तुरुष्कों (तुर्कों) का उपद्रव जोर-शोर से चल रहा था। उन्होंने उसकी राजधानी गोमन्तक (आधुनिक गोआ) के धार्मिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। माधव ने उनसे लोहा लिया और उन्हें परास्त करके उस स्थान पर फिर से धर्म की प्रतिष्ठा की। महाराज बुक्क माधव से इस कार्य से इतना प्रसन्न हुए कि उन्हें वनवासी अर्थात् जयन्तीपुर का शासक बना दिया। अपने प्रशासन से माधव ने प्रजा का हृदय जीत लिया। गोआ के शासक के रूप में १३१२ शक संवत् (१३९० ई०) में उन्होंने कुचर नाम गाँव अग्रहार (जागीर) में ब्राह्मणों को

---

* दे० बलदेव उपाध्याय, आचार्य सायण और माधव, पृ० १३३ तथा आगे।

दे दिया। किन्तु ये विजेता माधव माधवाचार्य से भिन्न हैं। माधवाचार्य और माधव मन्त्री दोनों के व्यक्तित्वों में बड़ा अन्तर भी है। दोनों के माता-पिता तो भिन्न थे ही, उनके गोत्र भी पृथक् थे। यही नहीं, उनकी मृत्यु के समय में भी अन्तर है। माधवाचार्य ने बुक्क के शासन की समाप्ति (१३७९) के कुछ पूर्व ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और श्रृंगेरी मठ में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उधर यह दान-पत्र १३९० का है अतः दोनों में कोई तारतम्य दिखलाई नहीं पड़ता। फिर भी माधवाचार्य महाराज बुक्क के यहाँ मुख्य मन्त्री थे तथा दूसरे माधव मन्त्री से भिन्न थे। श्रृंगेरी मठ में माधवाचार्य बाद में विद्यारण्य के नाम से शंकराचार्य बन गये थे। विद्यारण्य के विषय में अहोबल पण्डित ने अपने तेलुगु-व्याकरण में लिखा है—

वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता,
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणी नीलाहिवेणी सरसिजनिलया किंकरीति प्रसिद्धा,
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शंकरो वीतशङ्कः॥

इससे माधवाचार्य (विद्यारण्य) के विषय में सूचना प्राप्त होती है कि ये ही माधवीयधातुवृत्ति के भी रचयिता थे। विद्यारण्य के रूप में भी इन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे थे जैसे—पंचदशी, वैयासिक-न्यायमाला आदि।

यह किंवदन्ती है कि माधवाचार्य ने ही बुक्क के बड़े भाई हरिहर प्रथम को विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना का परामर्श दिया था। उस समय उस स्थान का नाम विद्यानगर रखा गया था। बाद में धीरे-धीरे वह विजयनगर हो गया। यह किसी घटना से या भाषाविज्ञान से अनुप्राणित हुआ होगा। हरिहर की मृत्यु के पश्चात् माधवाचार्य बुक्क के गुरु बने और उस समय शिष्य के आदेश से उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे। संन्यास की अवस्था में ये प्रायः १३७९ ई० से १३८५ ई० तक रहे। मृत्यु के समय इनकी अवस्था प्रायः ९० वर्ष की थी (१३८५)। अतः माधवाचार्य का जीवन-काल १२९५ ई० से १३८५ ई० तक मानना ठीक है।

माधवाचार्य और सायणाचार्य ने अपने गुरुओं का उल्लेख बहुत श्रद्धा से किया है। इनके तीन गुरु थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ। भारतीतीर्थ माधव के दीक्षागुरु थे जिनकी मृत्यु के पश्चात् (१३८० ई०) माधव (विद्यारण्य) शंकराचार्य के पद पर आये। विद्यातीर्थ और श्रीकण्ठ इनके विद्यागुरु थे। सायण ने वेदभाष्यों के आरंभ में विद्यातीर्थ का नाम देते हुए उल्लेख किया है कि

बुक्कराय ने माधवाचार्य को वेदभाष्य करने का आदेश दिया तो उन्होंने यह काम अपने छोटे भाई सायण को सौंप दिया।*

परम्परा से चले आते हुए माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह को सायण के बड़े भाई की रचना मानने में कुछ लोगों ने विवाद खड़ा कर दिया है। उनका कहना है कि माधवाचार्य के किसी गुरु का उल्लेख सर्वदर्शन में नहीं मिलता, मंगलाचरण में लेखक ने शार्ङ्गपाणि के पुत्र किसी सर्वज्ञविष्णु नामक गुरु का उल्लेख किया है। दूसरे, लेखक अपने को 'सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभ' कहता है जिससे वह सायण का पुत्र प्रतीत होता है। सायण के तीन पुत्रों में कम्पण, मायण और शिङ्गण थे। कुछ लोगों का कहना है कि द्वितीय पुत्र मायण ही माधव के नाम से प्रसिद्ध थे। अतः यह ग्रन्थ सायण के पुत्र की कृति है।

ध्यान से विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि सायण उक्त वंश का भी नाम था जिसमें माधव हुए थे। वंश के नाम पर उन्होंने अपने को सायणमाधव कहा है तथा सायण-वंश रूपी क्षीरसागर में उत्पन्न कौस्तुभ से अपनी तुलना की है। ऐसा साहस माधवाचार्य के अलावे और किसी में संभव नहीं था। किसी एक व्यक्ति से उत्पन्न होने के लिए 'दुग्धाब्धिकौस्तुभ' का विशेषण लगाना भी ठीक नहीं है। अब रही बात गुरु की। किसी व्यक्ति के कई नाम होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहते हैं कि पुण्यश्लोकमंजरी में विद्यातीर्थ के इस दूसरे नाम सर्वज्ञविष्णु का उल्लेख भी है। अतः किसी भी दशा में यह सिद्ध है कि वैयासिकन्यायमाला, विवरणप्रमेय, जैमिनीयन्यायमाला तथा पंचदशी—जैसे सफल ग्रन्थों के लेखक माधवाचार्य ही इसके रचयिता हैं।

माधवाचार्य के पाण्डित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। परिशिष्ट-३ में दी गई सूची ही इसका निर्णय करती है कि परोक्ष या अपरोक्ष में कितने ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से उनका परिचय था। केवल यही कह देना उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति का बोधक हो सकेगा कि अपने काल में ही उत्पन्न वेदान्तदेशिक और जयतीर्थ आदि ग्रन्थकारों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में सर्वदर्शनसंग्रह अद्वितीय ग्रन्थ है क्योंकि इसमें दर्शनों के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है।

---

* यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्॥

सर्वदर्शनसंग्रह का उद्धार करने में महामहोपाध्याय पं० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर का नाम सबसे आगे की पंक्ति में रखा जाता है। अपनी संस्कृत-टीका से युक्त संस्करण में उन्होंने जैसे अध्यवसाय का प्रदर्शन किया हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाण्डित्यपूर्ण उपोद्घात में दर्शनों का मन्थन करके उन्होंने नवनीत-रूप सार-संकलन का भी प्रयास किया है। सच पूछें तो आगे की पीढ़ी के लिए उन्होंने बहुत-सा काम सरल कर दिया है। उक्त महामनीषी के ग्रन्थ को उपजीव्य मानकर ही यह संस्करण प्रस्तुत किया गया है अतः उनके सम्मुख मैं नतमस्तक हूँ। इसके अतिरिक्त कॉवेल और गफ के अनुवाद एवं डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तथा डॉ० धीरेन्द्रमोहनदत्त की पुस्तकों से जो अंगरेजी शब्दावलियाँ ली गई हैं इसलिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत व्याख्या मेरे चार वर्षों के अध्यवसाय का परिणाम है। इस अवधि में विभिन्न स्थानों के सहयोगियों, शुभाभिलाषियों एवं शिष्यों से इस कार्य में जो प्रेरणा मिलती रही है वही मेरा सबसे बड़ा बल रहा है। यद्यपि इसे सुन्दर, सरल और आधुनिक बनाने की पूरी चेष्टा की गई है फिर भी दोष रह जाना स्वाभाविक है। ग्रंथ के विषय तथा आकार के अनुरूप विशद भूमिका नहीं दे सका, पाठक क्षमा करेंगे। इस पर तो पृथक् रूप से भूमिका लिखी जानी चाहिए जो भारतीय दर्शन-साहित्य के अध्ययन में अनिवार्य भी मानी जाय। प्रस्तुत भूमिका तो परम्परा का निर्वाह मात्र है।

काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी ने इस कृति का निरीक्षण करके जो प्राक्कथन लिखने की कृपा की है, उसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पूज्यपाद स्वामी श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम—कवितार्किकचक्रवर्ती पं० महादेवशास्त्री) जी ने जो प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने आशीर्वचनों से अलंकृत किया है इसे मैं अपना भागधेयोत्कर्ष अथवा आपकी अहैतुकी दया ही मानता हूँ।

वाराणसीस्थ बृहत्तर प्रकाशन-संस्थान चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष-बन्धुओं ने इतने बड़े ग्रन्थ का प्रकाशन-भार लेकर मेरे सदुद्देश्य की सफलता में जो तत्पर सहयोग दिया है उसके लिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

यदि यह कृति पाठकों के तनिक भी काम आई तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

काशी
२०-६-६४

—उमाशंकरशर्मा 'ऋषि'

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

सर्वदर्शनसंग्रहः

'प्रकाश' व्याख्योपेतः

वन्दे वाणीं वराभीष्टां स्वगुरुं वनमालिनम् ।
कुर्वे व्याख्यां प्रकाशाख्यां सर्वदर्शनसंग्रहे ॥ १ ॥

टीकां यद्यपि वैदुषीविमलितामभ्यङ्करो निर्ममे
नैवं सायणमाधवस्य सरला जाता गभीरा गिरा ।
सर्वेषामुपकारमेव सुचिरं ध्यात्वा स्वभाषामयीं
व्युत्पत्तिप्रहितामिमां वितनुते व्याख्यां मगोऽयं कविः ॥ २ ॥

नाधीतं पदशास्त्रमप्यवगतः कोशो न सम्यङ्मया
साहित्येऽपि न साधना किल कृता तर्के सदा धर्षितः ।
वेदान्तादिविचक्षणैर्गुरुवरैर्विद्योपलब्धिं हृदा
ध्यायं ध्यायमहं मुदं किल लभे ज्ञानं दिशत्वीश्वरः ॥ ३ ॥

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भारतीय-परंपरा का पालन करते हुए सायण-माधव इसके आरंभ में मंगलाचरण के श्लोक लिखते हैं—

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम् ।
येनैव जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्तृकम् ॥ १ ॥

जिसमें नित्यज्ञान स्थिर होकर रहता है, निःश्रेयस (चरम सुख, मुक्ति) का जो भाण्डार है ऐसे शिव को मैं नमस्कार करता हूँ; उससे ही पृथ्वी आदि [द्रव्य] उत्पन्न हुए हैं और उस (शिव) के कारण ही यह (सारा संसार) कर्तृयुक्त [कहा जाता है] । [इस आरंभिक श्लोक के द्वारा ही माधवाचार्य निर्देश करते हैं कि ईश्वर कर्ता है और संसार उसका कार्य । न्याय-शास्त्र में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में यह भी एक तर्क है। पृथ्वी आदि द्रव्य तथा निःश्रेयस और नित्यज्ञान का विमर्श भी न्याय-वैशेषिकों के अनुकूल है। दर्शन-शास्त्र की मुख्य समस्यायें हैं—ईश्वर, मोक्ष, मूलतत्त्व । इनका निर्देश आदि में हुआ है ।] ॥ १ ॥

पारं गतं सकलदर्शनसागराणा-
मात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकम् ।
श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं
सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ॥ २ ॥

सभी दर्शन-रूपी समुद्रों के पार पहुँचे हुए, अपने अनुकूल तत्त्व के उपदेश से सभी लोगों को कृतार्थ करने वाले, सभी आगमों (शास्त्रों) को जानने वाले, श्री शार्ङ्गपाणि के पुत्र, सर्वज्ञ-विष्णु नामक गुरु का मैं प्रतिदिन आश्रय लेता हूँ (या अनुसरण करता हूँ) । [आत्मोचितार्थ० = कॉवेल के अनुसार इसका अर्थ है—'जिसने आत्मा शब्द के उचित अर्थ के द्वारा समस्त मानव को सन्तुष्ट किया है'] ॥ २ ॥

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ॥ ३ ॥

श्री युक्त सायण-वंशरूपी क्षीर-सागर में कौस्तुभ-मणि के समान तथा महाप्रतापी माधवाचार्य के द्वारा [सभी दर्शनशास्त्रों का संक्षेप] यह 'सर्वदर्शन-संग्रह' बनाया जा रहा है ॥ ३ ॥

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्य शास्त्राण्यसौ
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यास्यत्सतां प्रीतये ।
दूरोत्सारितमत्सरेण मनसा शृण्वन्तु तत्सज्जना
माल्यं कस्य विचित्रपुष्परचितं प्रीत्यै न संजायते? ॥ ४ ॥

पहले के आचार्यों के अत्यन्त कठिन शास्त्रों का अच्छी तरह मन्थन करके, सायण के वंश में उत्पन्न, सामर्थ्यवान् माधव ने सज्जनों की प्रसन्नता के लिए [उन शास्त्रों को] इस जगह जमा किया; उसे सज्जन लोग मन से मत्सरता (ईर्ष्या) दूर हटाकर सुनें, क्योंकि रंग-बिरंगे फूलों से बनाई गई माला किसे प्रसन्न नहीं करती ? ॥ ४ ॥

(१) चार्वाक-दर्शनम्

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाणं
भूतार्थवादमथ यो नितरां निविष्टः।
वेदादिनिन्दनपरः सुखमेव धत्ते
सोऽयं बृहस्पतिमुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ॥—ऋषिः

(१. चार्वाक और लोकायतिक—नामकरण)

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते ? बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात्। दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—

१. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

इति लोकगाथाम् अनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम् ॥

मंगलाचरण के पहले श्लोक में परमेश्वर को 'निःश्रेयसनिधि' (मुक्ति का भाण्डार) कहा गया है। आप परमेश्वर को मुक्ति प्रदान करने वाला कैसे कहते हैं ? बृहस्पति के मत को मानने वाले, नास्तिकों के शिरोमणि (प्रधान) चार्वाक ने तो इस तरह की धारणा ही उखाड़ फेंकी है। चार्वाक के मत का खण्डन करना भी कठिन है। प्रायः संसार में सभी प्राणी तो इसी लोकोक्ति पर चलते हैं—'जबतक जीवन रहे सुख से जीना चाहिए, ऐसा कोई नहीं जिसके पास मृत्यु न जा सके; जब शरीर एक बार जल जाता है तब इसका पुनः आगमन कैसे हो सकता है ?' सभी लोग नीतिशास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ (धन-संग्रह) और काम (भोग-विलास) को ही पुरुषार्थ समझते हैं, परलोक की बात को स्वीकार नहीं करते हैं तथा चार्वाक-मत का अनुसरण करते हैं—इस तरह मालूम होता है [बिना उपदेश के ही लोग स्वभावतः

चार्वाक की ओर चल पड़ते हैं] इसलिए चार्वाक-मत का दूसरा नाम अर्थ के अनुकूल ही है—लोकायत (लोक = संसार में, आयत = व्याप्त, फैला हुआ)।

विशेष—शङ्कर, भास्कर तथा अन्य टीकाकार लोकायतिक नाम देते हैं। लोकायतिक-मत चार्वाकों का कोई सम्प्रदाय है। चार्वाक = चारु (सुन्दर), वाक (वचन)। मनुष्यों की स्वाभाविक-प्रवृत्ति चार्वाक-मत की ओर ही है। बाद में उपदेशादि द्वारा वे दूसरे दर्शनों को मान्यता प्रदान करते हैं। दूसरे जीव भी (पशु-पक्षी आदि) चार्वाक (= स्वाभाविक-धर्म एवं दर्शन) के पृष्ठपोषक हैं। ग्रीक-दर्शन के एरिस्टिपस एवं एपिक्युरस इसी सम्प्रदाय के समान अपने दर्शनों की अभिव्यक्ति करते हैं। 'लोकायत' शब्द पाणिनि के उक्थगण (क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०) में मिलता है जिसमें 'लोकायतिक' शब्द बनाने का विधान है। षड्दर्शन-समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न का कहना है कि जो पुण्य-पापादि परोक्षवस्तुओं का चर्वण (नाश) कर दे वही चार्वाक है। काशिका-वृत्ति में (१।३।३६) चार्वी नामक लोकायतिक-आचार्य का भी उल्लेख है।

(२. तत्त्व-मीमांसा)

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, स न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृह० उप० २।४।१२)। तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात् ॥

उनके मत से पृथिवी आदि चार महाभूत ही तत्त्व हैं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) [प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण आकाश-तत्त्व को ये स्वीकार नहीं करते क्योंकि आकाश अनुमान द्वारा सिद्ध होता है]। जिस प्रकार किण्व आदि (मादक-द्रव्यों) से मादक-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के रूप में बदल जाने पर इन्हीं (चार) तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न होता है। इनके नष्ट हो जाने पर स्वयं चैतन्य का भी विनाश हो जाता है। ऐसा कहा भी है (श्रुति-प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है)—'(आत्मा) विज्ञान (= शुद्ध चैतन्य) के रूप में इन भूतों से निकल कर उन्हीं में विलीन हो जाता है, मृत्यु के बाद चैतन्य (ज्ञान) की सत्ता नहीं रहती' (बृ० उप०

२।४।१२)। अतएव उपर्युक्त चैतन्य से युक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं। देह के अलावे आत्मा नाम का कोई दूसरा भी पदार्थ है—कोई प्रमाण इसके लिये नहीं। ये केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं; अनुमानादि को अस्वीकार करने से उनको प्रमाण नहीं माना जाता ॥

विशेष—किण्व = एक प्रकार की ओषधि या बीज जिससे शराब बनाई जाती थी। 'सुरायाः प्रकृतिभूतो वृक्षविशेषनिर्यासः' (अभ्य०)। जैसे प्रकृति-अवस्था (किण्व, मधु, शर्करादि) में मादक शक्ति नहीं किन्तु उनकी विकृति-अवस्था (शराब) में मादकता आ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, वायु आदि पदार्थों में चैतन्य न होने पर भी इनके विकार-रूप (शरीर) में चैतन्य हो जाता है। तुलना करें—

जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ॥ (स० सि० सं० २।७)

अर्थात् जड़-पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है। आत्मा = शरीर + चैतन्य। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण मानते हैं। इनके द्वारा अनुमान के खण्डन के लिए आगे देखें। बृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य का उद्धरण चार्वाक अपने अर्थ की सिद्धि के लिए देते हैं, भले ही उसका दूसरा अर्थ है। शङ्कराचार्य इसमें ब्रह्मज्ञान के अनन्तर की अवस्था का वर्णन मानते हैं। देखिये, शबर-भाष्य जै० सू० १।१।५; कहा भी है—A scoundrel quotes the Bible for his own purpose. अर्थात् स्वार्थ-सिद्धि के लिए दुष्ट भी बाइबिल से उद्धरण देते हैं।

(३. सुख की प्राप्ति—दुःख और सुख का मिश्रण)

अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न च 'अस्य दुःखसंभिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति' इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा—मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयात् नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम् ॥

स्त्री-आदि के आलिङ्गनादि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है (दूसरा कुछ

पुरुषार्थ नहीं)। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दुःख से मिला-जुला होने (संभिन्न) के कारण [सुख] पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि हमलोग [सुख के साथ] अनिवार्य-रूप से मिले-जुले दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग कर सकते हैं। [ऐसा कोई सुख संसार में नहीं जो केवल सुख ही हो, दुःख नहीं। वस्तुतः संसार के सभी सुख-दुःखों से युक्त होते हैं। ऐसा देखकर भी सुख को पुरुषार्थ समझना चाहिए क्योंकि सुख-दुःख से भरी वस्तु से दुःख को हटाकर केवल सुख का ही आनन्द लिया जा सकता है। इसके लिए दृष्टान्त भी लें—] जैसे—मछली चाहनेवाला व्यक्ति छिलके (Scale) और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितने की आवश्यकता है उतना (अंश) लेकर हट जाता है; और जिस प्रकार धान को चाहनेवाला व्यक्ति पुआल के साथ ही धान ले आता है, जितना उसे लेना चाहिए उतना लेकर हट जाता है। इसलिए दुःख के भय से [मन के] अनुकूल लगनेवाले सुख को छोड़ना ठीक नहीं है॥

न हि 'मृगाः सन्ति' इति शालयो नोप्यन्ते। न हि 'भिक्षुकाः सन्ति' इति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद् भीरुः दृष्टं सुखं त्यजेत्, तर्हि स पशुवत् मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्—

२. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी॥ इति।

ऐसा नहीं देखा जाता कि हरिण हैं (वे खा जायँगे) इसलिए धान ही न रोपें, या भिखमंगे हैं (माँगने के लिए आवेंगे) इसलिए हाँड़ियों को [चूल्हे पर] ही न चढ़ायें। (लोग यही समझते हैं कि विघ्न अपने स्थान पर हैं, हमारा काम क्यों रुका रहे ?) यदि कोई डरपोक [उपर्युक्त प्रकार के विघ्नों के भय से] दृष्ट (साक्षात्, वर्तमान, दिखलाई पड़नेवाले) सुख को छोड़ देता है तो वह पशु के समान मूर्ख ही है। कहा भी है—'यह मूर्खों का विचार है कि मनुष्यों को सुख का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि उनकी उत्पत्ति [सांसारिक] विषयों के साथ होती है तथा वे दुःख से भरे हैं। भला कहिये तो, [अपनी] भलाई चाहनेवाला कौन ऐसा आदमी होगा जो उजले और

सबसे अच्छे दानेवाली धान की बालियों को केवल इसीलिए छोड़ना चाहता है कि इनमें भूँसा और कुरण्डा भी है ?' [कण = कुरण्डा, कोंढ़ा, कुँड़; चावल के छिलके की धूल, जो पशुओं के खाने के काम में आती है।]

(४. यज्ञों और वेदों की निस्सारता)

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्ते ? इति चेत्, तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषैः दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं—कर्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिः ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च—प्रतिक्षिप्तत्वेन, त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्। तथा च आभाणकः—

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ इति।

यदि [कोई पूछे कि]—पारलौकिक-सुख [का अस्तित्व] न हो तो विद्वान् लोग अग्निहोत्रादि (यज्ञों) में क्यों प्रवृत्त होते हैं जब कि उन यज्ञों में अपार धन का व्यय तथा शारीरिक श्रम भी लगता है ?—तो, यह (तर्क) भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रयोजन केवल जीविका-प्राप्ति ही है; तीनों (वेद) केवल धूर्तों (ठगनेवालों) के प्रलाप हैं, क्योंकि अपने को वेदज्ञ समझनेवाले धूर्त 'बगुला-भगतों ने' आपस में ही [वेद को] अनृत (झूठा), व्याघात (आपस में विरोध) और पुनरुक्त (दुहराना) दोषों से दूषित किया है, [उदाहरण के लिए]—कर्मकाण्ड को प्रमाण माननेवालों (पूर्व मीमांसकों) ने ज्ञानकाण्ड को, और ज्ञानकाण्ड को प्रमाण माननेवालों (उत्तरमीमांसकों, वेदान्तियों) ने कर्मकाण्ड को आपस में दोषयुक्त बतलाया है। ऐसी लोकोक्ति भी है—'बृहस्पति का कहना है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना (संन्यास लेना) और भस्म लगाना उन लोगों की जीविका [के साधन] हैं जिनमें न बुद्धि है, न पुरुषार्थ (शारीरिक-शक्ति)।'

विशेष—चार्वाक के विरोधी लोग शङ्का करते हैं कि विद्वान् लोग कितना अधिक व्यय और श्रम से अग्निहोत्रादि का सम्पादन करते हैं। पर यह सब किसलिए ? लौकिक-सुख तो इनसे है नहीं। तब तो केवल पारलौकिक-सुख ही

इनसे मिलता है अर्थात् परलोक है। **अनृत-दोष**—पुत्रेष्टि-यज्ञ करने पर भी पुत्र न होना वेद-वाक्यों को झूठा सिद्ध करता है। कर्मकाण्ड में, जैसे 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१) हे ओषधि ! रक्षा करो, 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१) ऐ छुरे इसे मत काटो—इन अचेतन वस्तुओं को चेतन के समान सम्बोधित करना असम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्मकाण्ड में, 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० ३।२), 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।३) इनमें अन्न और प्राण को ब्रह्म माना गया है वह झूठा है। **व्याघात-दोष**—कभी कहते हैं 'उदिते जुहोति' और कभी 'अनुदिते जुहोति' (तुल० ऐ० ब्रा० ५।५।५ और तै० ब्रा० २।१।२।३-१२)। कभी 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६) कहते तो कभी हजारों रुद्रों को मानते हुए भी नहीं हिचकते—'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११)। कभी तो 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) कहते हैं कभी 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (मु० ३।१।१) और 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३।१) कहते हैं—इस प्रकार परस्पर विरोधी वाक्यों की सत्ता वेदों में ही है। **पुनरुक्त-दोष**—उसी बात को कहना जिसे लोग पहले से ही जानते हैं जैसे 'आपः उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१) क्षौरकाल में सिर को जल से भिगा दे। 'पृथिवी से पौधे होते हैं, पौधों से अन्न' (तै० २।१।१)—इन सबों में उसी का वर्णन है जिसे हम जानते हैं। इन दोषों के लिए देखिए—सायण की ऋग्वेद भाष्य भूमिका में मन्त्रों और ब्राह्मणों का प्रामाण्य-विचार और न्याय-सूत्र २।१।५७—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'।

मीमांसक लोग ज्ञानकाण्ड को अप्रामाणिक मानते हैं तथा वेदान्ती लोग कर्मकाण्ड को। दो के लड़ने पर तीसरे का लाभ होता ही है—इस तरह चार्वाक पूरे वेद को ही अप्रामाणिक मान लेते हैं। उनके अनुसार धूर्तों ने यज्ञादि का विधान करनेवाले वेदों का निर्माण करके, श्रद्धा से अन्धी जनता में विश्वास दिलाकर, लोगों से यज्ञ कराकर धन चूसने का एक साधन बना लिया है, उनकी यह जीविका ही हो गई है। अग्निहोत्र=अग्नि में होनेवाले सभी श्रौत, स्मार्त कर्म। तीन वेद=ऋग्, यजुः, साम। ये धूर्तों के बनाये हैं किन्तु अपौरुषेय कहकर इनका प्रचार किया गया है। त्रिदण्ड—तीनों प्रकार के कर्मों का त्याग करके संन्यास लेना और उन कर्मों को दण्ड देने के लिए दण्ड धारण करना। भस्म लगाकर सन्ध्यावन्दन, देवपूजा, जपादि करना। जिनके पास बुद्धि है वे तरह-तरह के उपाय करके (साम, दानादि उपायों से देश, काल के अनुसार परामर्श देकर) जीविका पाते हैं। पुरुषार्थ वाले पराक्रम दिखाकर वृत्ति पाते हैं। किन्तु जिनके पास ये दोनों चीजें नहीं हैं वे जीविका

का कोई दूसरा साधन न देखकर सभी जीवों को कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ बताकर उनसे मनमाना धन ऐंठते रहते हैं।

(५. ईश्वर–मोक्ष–आत्मा)

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। 'मम शरीरम्' इति व्यवहारो 'राहोः शिरः' इत्यादिवदौपचारिकः ॥

इसलिए कण्टकादि [भौतिक कारणों से] उत्पन्न [भौतिक] दुःख ही **नरक** है (पुराणों में वर्णित कुम्भीपाकादि नरक नाम की कोई वस्तु नहीं)। संसार में स्वीकृत राजा ही **परमेश्वर** है (संसार का नियन्ता, उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता, पुनर्जन्म का प्रदाता ईश्वर नहीं क्योंकि उत्पत्ति आदि तो स्वाभाविक है, पुनर्जन्म है ही नहीं)। [देह ही आत्मा है अतः] देह या आत्मा का विनाश ही **मोक्ष** है। देह को आत्मा मानने पर ही 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं काला हूँ' इत्यादि वाक्यों को सिद्ध करना सरल हो सकता है क्योंकि [उद्देश्य और विधेय दोनों का] आधार एक ही हो जाता है। [मैं = आत्मा, मोटा = देह का गुण। 'अहं स्थूलः' कहने पर दोनों शब्दों का आधार समान हो जाता है, आत्मा पर शरीर के गुणों का आरोपण हुआ है इसलिए ऐसे वाक्यों की सिद्धि के लिए हमें आत्मा (अहं) और देह (स्थूलः) को समान समझना होगा। यदि आत्मा-देह एक नहीं हैं तो 'अहं स्थूलः' वाक्य कैसे बन सकता है ? उपर्युक्त देहात्मवाद को स्वीकार कर लेने पर समस्या सुलझ जाती है। अस्तु, यदि शरीर आत्मा है तो हमें 'अहं शरीरम्' कहना चाहिए, 'मम शरीरम्' कैसे कहेंगे ?] 'मेरा शरीर' यह प्रयोग 'राहु का सिर' के समान आलंकारिक या गौण-प्रयोग है। ['मम शरीरम्' तभी कह सकते हैं जब आत्मा (अहं) और शरीर में भेद हो किन्तु यह मुख्यार्थ नहीं है, आलंकारिक-दृष्टि से प्रयुक्त है। राहु और उसका सिर दो पृथक् चीजें नहीं, एक ही चीज है। 'राम का सिर' कहने पर तो पार्थक्य स्पष्ट मालूम पड़ता है क्योंकि एक ओर राम तो समस्त अङ्ग-संस्थान को कहते हैं और दूसरी ओर सिर एक अंग विशेष है। इसी के सादृश्य से 'राहु का सिर' भी कहते हैं किन्तु वस्तुतः सिर का ही नाम राहु है फिर भी 'राहोः शिरः' कहते हैं। उसी प्रकार आत्मा और शरीर के एक रहने पर भी 'मम शरीरम्' कहते हैं।]

(६. मत-संग्रह)

तदेतत्सर्वं समग्राहि—

४. अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता ।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते ॥

५. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः ।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥

६. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥

७. किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥

८. देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ॥ इति ।

इन सबों का संग्रह कर दिया गया है—स्त्री के आलिंगन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ का लक्षण है। काँटे इत्यादि [गड़ने की] पीड़ा से उत्पन्न दुःख ही नरक कहलाता है ॥ ४ ॥ संसार के द्वारा माना गया राजा ही परमेश्वर है, कोई दूसरा नहीं, देह का नाश ही मुक्ति है, ज्ञान से मुक्ति नहीं होती ॥ ५ ॥ इस मत में चार तत्त्व हैं—भूमि, जल, अग्नि और वायु। इन्हीं चारों भूतों से चैतन्य (ज्ञान) उत्पन्न होता है, जिस प्रकार किरावादि द्रव्यों के मिलने से मदशक्ति (निकलती है)। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' इस प्रकार [दोनों के] एक आधार होने के कारण तथा मोटाई आदि से संयोग होने के कारण देह ही आत्मा है, कोई दूसरा नहीं। 'मेरा शरीर' यह उक्ति आलंकारिक है ॥ ६—८ ॥

(७. अनुमान-प्रमाण का खण्डन)

स्यादेतत् । स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात् । अस्ति च प्रामाण्यम् । कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत ? 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति ?

तदेन्मनोराज्यविजृम्भणम् । व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकम् अभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः । व्याप्तिश्च

उभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः । स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्ग-भावं भजते, किं तु ज्ञाततया । कः खलु ज्ञानोपायो भवेत् ?

खैर यही सही, किन्तु आपकी यह इच्छा तो तब पूरी होती जब अनुमानादि को प्रामाणिक नहीं मानते (यह चार्वाक के विरोधियों की शंका है)। लेकिन अनुमानादि तो प्रमाण हैं ही, नहीं तो धुआँ देखकर अग्नि (धूमध्वज) के प्रति बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति कैसे सिद्ध होती (=अनुमान-प्रमाण से ही यह सम्भव है) ? अथवा, 'नदी के किनारे फल हैं' इस बात को सुनकर फल चाहनेवाले नदी के किनारे क्यों चल पड़ते हैं ? (=शब्द या आगम-प्रमाण से यह सम्भव है जब कि आप्त या यथार्थवक्ता की बात सुनकर उस पर विश्वास करें)। [इस प्रकार इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अनुमान और शब्द प्रमाण हैं— यह पूर्वपक्षी अर्थात् चार्वाक के विरोधियों का वचन है]।

यह सब केवल मन के राज्य की कल्पना है। अनुमान को प्रमाण माननेवाले लोग, सम्बन्ध बतलानेवाला लिङ्ग (हेतु Middle term) मानते हैं जो व्याप्ति (Major premise) और पक्षधर्मता (Minor premise) से युक्त रहता है। व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की (शंकित और निश्चित) उपाधियों से रहित [पक्ष और लिङ्ग का] सम्बन्ध। आँख की तरह यह सम्बन्ध केवल अपनी **सत्ता** से ही [अनुमान का] अङ्ग नहीं बन सकता, प्रत्युत इसके **ज्ञान** से [अनुमान संभव है]। (कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आँख दर्शन-क्रिया का एक सहायक अङ्ग है उसी प्रकार व्याप्ति भी अनुमान का अङ्ग है। किन्तु इन दोनों की सहायता की विधियों में बड़ा अन्तर है। **देखने** में, स्वयं आँखों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं, केवल सत्ता की आवश्यकता है किन्तु **अनुमान** में, सहायता देनेवाली व्याप्ति की सत्ता की आवश्यकता नहीं, उसका ज्ञान होना चाहिए)। अब व्याप्ति के ज्ञान का कौन-सा उपाय है ? [इसके बाद प्रत्यक्षादि साधनों के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान असम्भव है—यह दिखलाया जायगा।]

विशेष—किसी अनुमान (यदि परार्थानुमान न हो) में तीन वाक्य होते हैं—व्याप्ति (Major premise), पक्षधर्मता (Minor premise) तथा निगमन (Conclusion)।

(व्याप्ति) यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः,

(पक्षधर्मता) पर्वते धूमः,

(निगमन) ∴ पर्वते वह्निः।

या, All smoky objects are fiery (Major),

The hill is smoky (Minor),
∴ The hill is fiery (Concl,).

इनमें 'पर्वत' **पक्ष** (Minor term जिसमें साध्य की सत्ता सन्दिग्ध हो) है, 'वह्नि' **साध्य** (Major term सिद्ध करने योग्य) और 'धूम' **हेतु** या **लिङ्ग** (Middle term)। हेतु वह पद है जो Major और Minor premise में विद्यमान हो किन्तु निगमन (Conclusion) में न रहे। व्याप्तिवाक्य (Major premise) में हेतु और साध्य का सम्बन्ध होता है, पक्षधर्मता-वाक्य (Minor premise) में हेतु और पक्ष का सम्बन्ध होता है तथा निगमन (Conclusion) में पक्ष और साध्य का। मूल-ग्रन्थ की पंक्ति में कहा है कि अनुमान में लिङ्ग या हेतु को व्याप्ति और पक्षधर्मता के वाक्यों में स्थित रहना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में अनुमान की सफलता व्याप्ति पर ही अवलम्बित है अतः व्याप्ति ज्ञान के लिए न्याय-दर्शन में अनेक उपाय बतलाये गये हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में तो इसके लिए पूरा आगमन तर्कशास्त्र ही पड़ा हुआ है (Inductive Logic)। चार्वाक सिद्ध करते हैं कि व्याप्ति को न तो प्रत्यक्ष से जान सकते, न अनुमान से; उपमान और शब्द भी इसमें असफल हैं।

व्याप्ति के ज्ञान में दो उपाधियाँ (Conditions) होती हैं—**निश्चित और शंकित**। यह तो स्पष्ट है कि व्याप्ति में उपाधि रहने पर निगमन भी सोपाधिक होगा अर्थात् अशुद्ध होगा। निम्नलिखित अनुमान सोपाधिक है—

सभी हिंसायें अधर्म का साधन हैं,
यह हिंसा भी हिंसा ही है,
∴ यह हिंसा अधर्म का साधन है।

यहाँ पर व्याप्तिवाक्य में 'निषिद्ध' उपाधि है अर्थात् व्याप्ति को इस प्रकार होना चाहिए—'सभी निषिद्ध हिंसायें अधर्म का साधन हैं'। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो वेदविहित-हिंसा भी अधर्म का साधन हो जाय! इसी उपाधि के चलते निगमन भी सोपाधिक (Conditional) हो गया कि 'यदि यह निषिद्ध हिंसा है तो अधर्म का साधन है'। अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि व्याप्ति की सत्ता से ही अनुमान लाभान्वित नहीं होता, जब तक कि उसका निश्चित ज्ञान न हो। इसी प्रकार व्याप्ति में यदि उपाधि **निश्चित** हो तब तो अनुमान हो नहीं सकता। उपाधि के **शंकित** होने पर भी कहीं व्याप्ति होगी, कहीं नहीं। ऐसी अवस्था में व्याप्ति होने पर भी उसके निश्चित ज्ञान के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता, व्याप्ति न रहने पर तो अनुमान का प्रश्न ही नहीं

उठता। इसीलिए व्याप्ति को उभयविध-उपाधि से विधुर (रहित) होना कहा गया है।

(८. प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता)

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य संप्रयुक्तज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसंभवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसंभवेन सर्वोपसंहारवत्याः व्याप्ते दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात्। नाऽपि चरमः। अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रियतन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्—चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः (त० वि० २०)। इति॥

प्रत्यक्ष-प्रमाण से तो [व्याप्ति का ज्ञान] नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष या तो बाह्य (External) होता है या आन्तर (Internal)। इनमें पहले (बाह्य) प्रत्यक्ष से [व्याप्तिज्ञान होना असम्भव है; बाह्य-प्रत्यक्ष केवल बाहरी इन्द्रियों से उत्पन्न होता है]। बाह्य-प्रत्यक्ष [बाह्येन्द्रियों से] सम्बद्ध (बाहरी) विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। [बाह्येन्द्रियों का सम्बन्ध तो केवल वर्तमानकाल की वस्तुओं के साथ ही हो सकता है, अतएव] इस तरह का ज्ञान भले ही वर्तमानकाल (भवत्) की वस्तुओं के विषय में सफल हो, परन्तु भूतकाल और भविष्यत्काल की वस्तुओं का ज्ञान देने में तो असफल हो जायगा। व्याप्ति तो सभी अवस्थाओं (कालों) का संग्रह करनेवाली है अतः [बाह्य-प्रत्यक्ष से] इसका ज्ञान होना दुष्कर है। ऐसा भी न समझें कि व्याप्ति का ज्ञान सामान्य (जाति General class) के विषय में होता है (अर्थात् यद्यपि तीनों काल में घूम, अग्नि आदि के वैयक्तिक उदाहरण हम नहीं पा सकते किन्तु इनकी जाति—घूमत्व, अग्नित्व आदि—का तो त्रैकालिक-ज्ञान एक बार ही हो सकता है। तीनों कालों के घूमों में घूमत्व तो वही है इसलिए सामान्य द्वारा व्याप्तिज्ञान हो सकता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए) क्योंकि तब दो व्यक्तिगत उदाहरणों में अविनाभाव (व्याप्ति) का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता [क्योंकि यह निश्चित नहीं कि जाति में प्राप्त सभी गुण उसके प्रत्येक व्यक्ति में होंगे ही। घूमत्व (जाति) की न व्याप्ति हमने जान ली, किसी विशेष घूम की तो नहीं न ? वैयक्तिक-घूम की व्याप्ति न जानने से व्यक्ति के विषय में अनुमान भी नहीं हो सकता]।

प्रत्यक्ष का दूसरा भेद (आन्तर प्रत्यक्ष) भी [व्याप्तिज्ञान] नहीं करा सकता, [आन्तर प्रत्यक्ष मन-रूपी अन्तरिन्द्रिय द्वारा ज्ञान देता है किन्तु] अन्तःकरण बाह्येन्द्रियों के अधीन है (जो ज्ञान बाहरी इन्द्रियाँ पाती हैं, मन उसी की छाप ग्रहण कर लेता है) इसलिए बाह्य-वस्तुओं (धूम-अग्नि आदि) में स्वतंत्रतापूर्वक उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती (= बाह्यवस्तुओं के ज्ञान के लिए निश्चय ही अन्तःकरण बाह्येन्द्रियों की सहायता लेगा)। कहा भी गया है—'आँख आदि बाहरी इन्द्रियों के द्वारा प्रदर्शित (उक्त) विषयों को ग्रहण करने वाला मन बाह्येन्द्रियों (बहिः) के अधीन है' (तत्त्व-विवेक, २०) ॥

(९. अनुमान और शब्द से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता)

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्रतत्रापि एवमित्यनवस्था-दौःस्थ्यप्रसङ्गात्। नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गा-वगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात्। धूमधूमध्व-जयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यान्तरदर्शनेन अर्थान्तरानुमित्य-भावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परानु-मानस्य ?

अनुमान भी व्याप्तिज्ञान नहीं दे सकता; यदि अनुमान से व्याप्ति बने तो व्याप्ति को सिद्ध करने वाले अनुमान की सिद्धि के लिए एक दूसरा अनुमान चाहिए, पुनः उस अनुमान के लिए तीसरा अनुमान चाहिए। इस प्रकार अनवस्था-दोष (जिसकी समाप्ति कभी न हो) उत्पन्न होगा। [अभ्य०—अग्नि को धूम में सिद्ध करनेवाली व्याप्ति जिस दूसरे अनुमान से ज्ञात होती है उस अनुमान को सिद्ध करने वाली व्याप्ति किसी तीसरे अनुमान से ज्ञात होगी—इस प्रकार अनवस्था-दोष हुआ।]

शब्द-प्रमाण भी व्याप्ति ज्ञान नहीं दे सकता क्योंकि कणाद (वैशेषिक-दर्शनकार) के मत के अनुसार शब्द अनुमान के ही अन्तर्गत है[1], [इसलिए अनुमान के खण्डन के साथ शब्द का भी खण्डन हो गया]। यदि शब्द को

---

१. देखिये—भाषा-परिच्छेद, १४०—

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥

अनुमान के अन्तर्गत न भी मानें तो भी वृद्ध-पुरुष के व्यवहार-रूपी लिङ्ग (चिह्न middle term) की तो आवश्यकता पड़ेगी ही, इसलिए फिर ऊपर कहा हुआ दोष (अनवस्था) आ जायगा जिसे लाँघना टेढ़ी खीर है (= शब्द-प्रमाण में शक्तिग्रह द्वारा वस्तुओं का बोध होता है। शक्तिग्रह के भिन्न-भिन्न उपाय हैं जैसे—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, वृद्धव्यवहार इत्यादि। शक्तिग्रह का अभिप्राय है किसी शब्द के द्वारा निश्चित अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना जैसे गौ कहने से एक चतुष्पद, सींगवाले, खुरसहित प्राणी को समझ लेना। यही वैयाकरणों का शक्तिवाद या अर्थविज्ञान है जिसका वर्णन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में विस्तृत-रूप से किया है। हाँ, तो शक्तिग्रह के साधनों में वृद्ध पुरुष का व्यवहार भी एक है। किन्तु यह (वृद्धपुरुष वाला) शक्तिग्रह या शक्तिज्ञान अनुमान-प्रमाण से होता है। जैसे—कोई बालक उत्तम वृद्ध के 'गामानय' कहने पर मध्यम वृद्ध को गौ लाते हुए—इस लिङ्ग को—देखकर 'गामानय' शब्दों का अर्थ 'गौ लाओ' समझ लेता है, वैसे ही 'धूम-अग्नि में व्याप्ति है' इस प्रकार किसी के कहे हुए वाक्य से शब्दप्रमाण द्वारा उत्पन्न व्याप्तिज्ञान—जो अनुमान का साधन है, 'धूम', 'अग्नि' और 'व्याप्ति' शब्दों के शक्तिग्रह (अर्थज्ञान) होने के बाद ही, हो सकता है, उसके पहले नहीं। फिर, शक्तिग्रह के लिए दूसरे व्यवहार'रूपी लिङ्ग की आवश्यकता होगी अर्थात् दूसरा अनुमान चाहिए और उस अनुमान में भी शक्तिग्रह चाहिए—इस प्रकार पुनः अनवस्था आ जाती है)।

यदि यह कहें कि धूम और अग्नि (धूमध्वज) में अविनाभाव-सम्बन्ध पहले से ही है तो इस बात पर वैसे ही विश्वास नहीं होगा जैसे मनु-आदि ऋषियों की बातों पर। इस तरह अविनाभाव-सम्बन्ध को न जाननेवाला व्यक्ति दूसरी चीज (धूमादि) देखकर, दूसरी चीज (अग्नि-आदि) का अनुमान नहीं कर सकता इसलिए स्वार्थानुमान की बात केवल नाममात्र को रह जाती है, परार्थानुमान की तो बात ही क्या ? (= यदि व्याप्तिज्ञान का साधन केवल शब्द को मानते हैं तब तो जिस व्यक्ति को धूम-अग्नि के अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दिया गया वह तो धूम से अग्नि का अनुमान करेगा ही कैसे ? इस तरह आपके अपने तर्क से ही स्वार्थानुमान—जिसमें प्रमाणान्तर से व्याप्ति जानकर अनुमान होता है—का दुर्ग ध्वस्त हो जाता है। पञ्चावयव-वाक्यों का प्रयोग सम्भव न होने से परार्थानुमान का प्रयोक्ता भी नहीं मिल सकता। दोनों अनुमानों के लिये तर्कसंग्रह देखें।

विशेष—अनवस्था दोष—नैयायिकों के यहाँ कई दोष हैं जिनमें ये साधारण हैं। जब किसी वस्तु को उसी के आधार पर सिद्ध करते हैं तब

आत्माश्रय-दोष होता है। दो वस्तुओं में एक को दूसरे के आधार पर सिद्ध किया जाय तो **अन्योन्याश्रय**-दोष होता है। तीन या उससे अधिक वस्तुओं के बीच वृत्त के रूप में घूमने वाले तर्क को **चक्रक**-दोष कहते हैं। यदि तर्क को अनन्त काल तक चलने दिया जाय तो **अनवस्था**-दोष होता है। (इण्डियन रिसर्च इंस्टिच्यूट की सायण-ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका, डॉ० सातकडि मुखोपाध्याय अनूदित, पृ० ७, पाद-टिप्पणी)। शक्तिग्रह के ये साधन हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात्कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥ (वा० प०)

(१०. उपमानादि से भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं)

उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसंबन्धादिबोधकत्वेन अनौपाधिकसंबन्धबोधकत्वासंभवात्॥

[व्याप्ति-ज्ञान कराने में] उपमानादि तो दूर से ही खिसक गये (= उपमान से व्याप्तिज्ञान नहीं होता)। इसका कारण यह है कि उपमान में संज्ञा (गवय) और संज्ञी (गो सदृश पिण्ड) का सम्बन्ध होता है, उसी सम्बन्ध का बोध कराना उपमान का काम है; उपाधि से रहित सम्बन्ध (= व्याप्ति) का बोध कराना उसके लिये साध्य नहीं।

विशेष—उपमान का लक्षण तर्कसंग्रह में इस प्रकार किया गया है—'उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः।' (पृ० १६) अर्थात् किसी वस्तु (संज्ञी) से उसके नाम (संज्ञा) का सम्बन्ध जानना **'उपमिति'** कहलाता है। इस उपमिति का करण (= असाधारण कारण, साधन) **'उपमान'** कहलाता है। यहाँ करण का अभिप्राय है सादृश्य-सम्बन्ध को जानना। कोई व्यक्ति गवय को नहीं जानता किन्तु किसी जंगली आदमी से सुनता है कि 'गवय' 'गौ के समान' होता है—वह वन में जाकर देखता है कि गौ के समान ही कोई जीव चर रहा है, वह पहली बात को याद करके तुरत समझ लेता है कि वर्त्तमान जीव गवय है। उपमान यही है—यहाँ 'गवय' संज्ञा या नाम है, 'गौ के समान पिण्ड' संज्ञी है अर्थात् उस परार्थ का बोध कराता है। उपमान संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध मात्र बतलाता है, किसी दूसरे सम्बन्ध को बतलाने की शक्ति इसमें नहीं अतः व्याप्ति का ज्ञान कराना उसके लिए साध्य नहीं क्योंकि व्याप्ति में उपाधि-रहित सम्बन्ध का बोध होता है। इसी प्रकार अभावादि प्रमाण भी इस काम में सफल नहीं हो सकते क्योंकि अभाव में तो केवल अभाव का ज्ञान होगा उससे भिन्न (व्याप्ति आदि) का ज्ञान वह नहीं करा सकता।

(१०. व्याप्तिज्ञान का दूसरा उपाय भी नहीं है)

किं च—उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि, अप्रत्यक्षाणामभावस्य अप्रत्यक्षतयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च, 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः' इति तल्लक्षणं कक्षीकर्त्तव्यम्। तदुक्तम्—

इसके अलावे, यदि उपाधि के अभाव को [व्याप्ति समझते हैं, तो उसे] भी जानना कठिन ही है। इसका कारण यह है कि 'सभी उपाधियाँ प्रत्यक्ष ही होंगी'—यह नियम रखना असंभव है; यद्यपि प्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव भी प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है, किन्तु अप्रत्यक्ष (न दिखलाई पड़ने वाली) वस्तुओं का अभाव भी अप्रत्यक्ष ही रहेगा (= किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान तभी होता है जब उस वस्तु को जानते हैं—अभावज्ञानं प्रतियोगिज्ञानसापेक्षम्—अर्थात् अभाव का ज्ञान अपने विरोधी = भाव के ज्ञान की अपेक्षा रखता है)। इसलिए [अप्रत्यक्ष वस्तुओं के अभाव को जानने के लिए] दूसरे प्रमाण—अनुमानादि—की आवश्यकता होगी और तब फिर वही उपर्युक्त (अनवस्था) दोष आ जायगा जिसे हम हटा नहीं सकते। (कहने का अभिप्राय यह है—यदि व्याप्ति का लक्षण 'उपाधिहीनता' हो तो इसे सभी प्रकार की उपाधियों से रहित होना चाहिए। उपाधि का अभाव तभी जाना जा सकता है जब उपाधि का ज्ञान हो। उपाधियाँ सभी प्रत्यक्ष ही नहीं रहतीं—कुछ द्रव्यरूप-धर्मी, कुछ गुणादिरूप-धर्म, कुछ मूर्त, अमूर्त, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष—इस प्रकार कई तरह की हो सकती हैं। जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ कुछ शङ्कित और निश्चित भी होती हैं। प्रत्यक्ष उपाधियों का अभाव तो प्रत्यक्ष होगा, किन्तु अप्रत्यक्ष उपाधियों का अभाव अप्रत्यक्ष ही होगा। अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान से ही होगा और अनुमान में उपाधि-हीन सम्बन्ध (व्याप्ति) की पुनः अपेक्षा होगी। फिर उस व्याप्ति के लिए तीसरा अनुमान और उस अनुमान के लिए पुनः व्याप्ति—इस प्रकार यह तर्कशृंखला अनन्तकाल तक चलती रहेगी)।

उपाधिका दूसरा लक्षण—इसके अलावे [दूसरा दोष भी है—] उपाधि का यह लक्षण स्वीकार करना चाहिए—जो साधन (हेतु Middle term) को सदा व्याप्त न करने पर भी साध्य (Major term) के साथ सम-व्याप्ति रखे [व्याप्ति दो प्रकार की होती है—सम और विषम। दोनों वस्तुओं की व्याप्ति बराबर-बराबर रहने पर समव्याप्ति होती है जैसे (Man)

और (Rational Animal) में। विषम व्याप्ति जैसे धूम और अग्नि में—यहाँ धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति होने पर भी अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति नहीं है क्योंकि धूम नहीं रहने पर भी अग्नि हो सकती है]। ऐसा कहा भी है—

विशेष—उपाधि का उपर्युक्त लक्षण ही सभी न्याय-ग्रन्थों में स्वीकृत किया गया है। भाषा-परिच्छेद (१३८) में कहा गया है—

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥

अर्थात् साध्य के रूप में स्वीकृत वस्तु का जो व्यापक हो तथा साधन के रूप में स्वीकृत वस्तु का व्यापक न हो वही उपाधि है (मुक्तावली०)। तर्कसंग्रह में तो मानो माधव के शब्द ही हैं (पृ० १५)—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा 'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्त्वात्' इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथाहि, 'यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगः' इति साध्यव्यापकत्वम्। 'यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावात्' इति साधनाव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात् आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।' **साध्य का व्यापक** कोई तभी बन सकता है जब कि साध्य के समान आधार वाली वस्तु के अत्यन्ताभाव का विरोधी हो, जैसे—

सभी वह्निमान् पदार्थ धूमवान् हैं,
पर्वत वह्निमान् है,
∴ पर्वत धूमवान् है,

इस अनुमान में 'भींगी लकड़ी से संयोग' उपाधि है जो निष्कर्ष को भी सोपाधिक (Conditional) बना देती है। यह उपाधि 'धूमवान्' (साध्य major term) का व्यापक है कि जहाँ धूम होगा अग्नि में भींगी लकड़ी का संयोग भी अवश्य होगा। इस तरह उपाधि साध्य का व्यापक होती है। साधन का अव्यापक कोई तब हो सकता है जब साधन (हेतु middle term) से युक्त वस्तु में रहने वाले के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जैसे उपर्युक्त अनुमान में—'जहाँ अग्नि है वहाँ भींगी लकड़ी नहीं होती, लोहे के गोले (या बिजली) में भींगी लकड़ी नहीं रहती है'—इस प्रकार साधन (वह्निमान्) में उपाधि की अव्याप्ति रहती है। इसी लक्षण को आचार्यों ने कहा भी है। स्मरणीय है कि उपाधियुक्त अनुमान में व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः ।
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च ॥ ९ ॥
व्यावर्त्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि ।
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्य्यैश्च ॥१०॥ इति ।

जो (१) साधन को व्याप्त न करे, (२) साध्य को व्याप्त करे और (३) साध्य के समान व्याप्ति रखे—उसे उपाधि कहते हैं। [उपाधि के उपर्युक्त लक्षण में] तीन विशेषण इसलिए रखे गये हैं कि [इनमें से प्रत्येक के द्वारा] शब्द को अनित्य सिद्ध करने के समय क्रमशः निम्नोक्त तीन उपाधियाँ हटाई जायँ—(१) कर्त्ता से युक्त होना, (२) घट होना, (३) श्रवणीय न होना। इसलिए यह निर्दोष (लक्षण) है और आचार्यों ने भी 'समासमा' इत्यादि श्लोक के द्वारा कहा है।

विशेष—उपाधि के लक्षण में तीन खण्ड हैं और इन खण्डों में किसी एक के भी अभाव में दोष उत्पन्न होगा। तभी तो लक्षण की पूर्णता समझी जायगी। हम यहाँ देखें कि कैसे, किसके अभाव में, कौन-सा दोष उत्पन्न होता है। एक अनुमान है—

सभी उत्पन्न वस्तुएँ अनित्य हैं,
शब्द उत्पन्न होता है, (शब्दोऽनित्यः उत्पन्नत्वात्)
∴ शब्द अनित्य है,

इस अनुमान में 'अनित्यत्व' साध्य है, 'उत्पन्नत्व' साधन। हमें उपाधि के उपर्युक्त लक्षण की परीक्षा इसी अनुमान के आधार पर करनी है।

सबसे पहले उपाधि के लक्षण से प्रथम विशेषण—साधन'व्यापकत्व—को हटा दें; बचा, 'साध्यव्याप्तिः उपाधिः'। अब ऊपर वाले शुद्ध अनुमान (अनौपाधिक) में इस लक्षण को लगाने पर उपाधि निकल आवेगी—सकर्तृकत्व (किन्तु पहले से वह अनुमान उपाधि-हीन है)। इसका कारण यह है कि सकर्तृकत्व के साथ अनित्यत्व (साध्य) की व्यापकता है—सभी सकर्तृक वस्तुएँ अनित्य हैं (इस प्रकार साध्य को व्याप्त करने के कारण यह उपाधि हो गई)। किन्तु उपर्युक्त अनुमान उपाधिहीन है, 'सकर्तृकत्व' उपाधि उसमें आ न जाय, इसलिए 'साधनाव्यापक'—यह विशेषण रखा गया। उसे रखने से 'सकर्तृक' उपाधि नहीं आ सकती क्योंकि 'सकर्तृक' (उपाधि) के साथ 'उत्पन्नत्व' (साधन) की अव्यापकता नहीं, व्यापकता ही है; अतः उस अवस्था में ऐसी किसी उपाधि को आने का अवसर नहीं मिलेगा।

अब दूसरे विशेषण—साध्यव्यापकत्व—पर आपत्ति आयी, इसे हटा दें; बचा, 'अव्याप्तसाधनः उपाधिः'। इस लक्षण को उपर्युक्त अनुमान में लगाने पर एक उपाधि निकल आती है—घटत्व। घटत्व (उपाधि) उत्पन्नत्व (साधन) का अव्यापक है क्योंकि जो घटत्व होगा वह तो उत्पन्न नहीं होगा (इस प्रकार साधन को अव्याप्त करने के कारण यह उपाधि हो गई)। 'घटत्व' उपाधि का वारण करने के लिए 'साध्यव्यापक'—यह विशेषण दिया गया। उसे रखने से 'घटत्व' उपाधि नहीं आ सकती क्योंकि 'घटत्व' (उपाधि) में साध्य (अनित्यत्व) को व्याप्त करने की शक्ति नहीं, घटत्व (जाति) नित्य है।

इतने पर भी 'अश्रावणत्व' उपाधि के आने का अवकाश है यदि हम **'साध्य-सम-व्याप्ति'**—यह विशेषण नहीं रखें। अश्रावणत्व (उपाधि) उपर्युक्त अनुमान के साधन (उत्पन्नत्व) को व्याप्त नहीं करता (साधनाव्यापकत्वे सति), क्योंकि शब्द—जैसी उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं में अश्रावणत्व का अभाव है (अर्थात् श्रवणीयता)। पुन', अश्रावणत्व (उपाधि) अपने साध्य (अनित्यत्व) को व्याप्त कर लेता है। यहाँ अनित्यत्व का अभिप्राय समझें—द्रव्यत्व-मात्र से व्याप्त (अवच्छिन्न) अनित्यत्व अर्थात् अनित्य कहलाने वाले सारे द्रव्य। किन्तु कुछ द्रव्य (आत्मा, आकाश आदि) नित्य हैं जिनमें भी अश्रावणत्व है, इसलिए 'अश्रावणत्व' (उपाधि) [द्रव्यत्व-मात्र से व्याप्त] अनित्यत्व के साथ समव्याप्ति नहीं रखता और उपाधि के रूप में दिखलाई पड़ता है। यदि समव्याप्ति होती तो उपाधि नहीं दिखलाई पड़ती। अतः उपाधि के लक्षण में तीसरे विशेषण—साध्यसमव्याप्ति—की भी आवश्यकता है तभी अश्रवत्व-नामक उपाधि से बच सकते हैं।

'समासमा' से पूरा यह श्लोक समझें—

समासमाविना भावावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥

यह श्लोक श्रीहर्ष-रचित **'खण्डन-खण्ड-खाद्य'** की आनन्दपूर्णीय-टीका में अनुमान-खण्डन (पृ० ७०७) के प्रकरण में उद्धृत किया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि व्याप्ति के दो भेद हैं—सम और असम। निरन्तर एक साथ रहने वाले दो पदार्थों की व्याप्ति सम कहलाती है जैसे—पृथिवी और गन्ध की। निरन्तर एक साथ न रहनेवाले (असमनियतयोः) दो पदार्थों की व्याप्ति असम कहलाती है जैसे—अग्नि और धूम की। आर्द्रेन्धनसंयोग (उपाधि) और धूम में समव्याप्ति होती है। किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग और अग्नि में असमव्याप्ति है। इस प्रकार दो व्याप्तियाँ हैं = धूम और अग्नि में 'अग्नि' असम या हीन व्याप्ति वाला है, किन्तु 'धूम' सम व्याप्तिवाला। तो, श्लोक का अर्थ है कि जब

सम और असम दोनों व्याप्तियाँ (अविनाभाव) एक स्थान पर ही विद्यमान हों और सम (धूम) के द्वारा अग्नि (असम) व्याप्त न किया जा सके तो वह हीन व्याप्ति वाला (अग्नि) प्रयोजक नहीं होता अर्थात् धूम रूपी साध्य का साधक (हेतु) नहीं बन सकता। किसी भी तरह, समव्याप्ति की अनिवार्यता स्पष्ट है।

(११. व्याप्तिज्ञान और उपाधिज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष)

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्य उपाधिज्ञाने जाते तदभावविशिष्टसम्बन्धरूपव्याप्तिज्ञानं, व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः ॥

विधि (Affirmative) का निश्चय हो जाने के बाद ही उसके निषेध (Negative) का निश्चय होता है, इसलिए उपाधिज्ञान (विधि) हो जाने पर ही इसके निषेध (अभाव) से युक्त सम्बन्ध वाली व्याप्ति का ज्ञान होता है (=व्याप्ति में उपाधि का अभाव होना चाहिए इसलिए उपाधि का ज्ञान हो जाने के बाद ही व्याप्ति का ज्ञान संभव है)। दूसरी ओर उपाधि का ज्ञान भी व्याप्तिज्ञान पर निर्भर करता है (क्योंकि उपाधि के लक्षण में ही व्याप्ति की बात आती है—साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्यापकः उपाधिः)। इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष-रूपी वज्र-प्रहार [विरोधियों के मुख पर] वज्रलेप (सिमेंट के पलस्तर) के समान दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अविनाभाव (व्याप्ति Universal Proposition) दुर्बोध है और अनुमानादि प्रमाणों का कोई स्थान नहीं।

(१२. लौकिक-व्यवहार और वस्तुएँ)

धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

११. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥ इति।

धूमादि जानने के बाद अग्न्यादि जानने की जो प्रवृत्ति [लोगों में देखी

जाती] है वह या तो पूर्वकाल के प्रत्यक्ष पर आधारित है (=पहले अग्नि को प्रत्यक्ष रूप से देखा था, कुछ देर के बाद धुएँ को देखने से संस्कार जग गया और मनुष्य अग्नि को याद करते हुए प्रवृत्त होता है), या यह बिल्कुल भ्रम है (=धूम-अग्नि के साहचर्य से धूम को देखकर अग्निका भ्रम होता है)। कभी-कभी इससे फल की प्राप्ति हो जाती है, वह तो मणि, मन्त्र, औषध-आदि के समान स्वाभाविक है (अर्थात् मणिस्पर्श, मन्त्र-प्रयोग और औषध-सेवन से कभी कार्य होता है, कभी नहीं। कभी-कभी तो इनके बिना भी कार्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक की विधियों में ठहर न सकने (व्यभिचरित होने) के कारण इनमें कार्य-कारण-भाव (Causal relation) नहीं है। ऐश्वर्यादि की प्राप्ति मणिस्पर्श से नहीं, स्वभावतः ही होती है। रोगादि निवृत्ति भी कभी स्वभावतः, कभी किसी विशेष अन्न के खाने से होती है—इसमें औषधसेवन का क्या प्रयोजन है। फिर भी काकतालीय न्याय (Accidental coincidence) से होने वाले कार्य को देखकर लोग इनमें कार्यकारणभाव मान लेते हैं। उसी तरह धूम और अग्नि में भी कार्यकारणभाव नहीं है, लोग मान लेते हैं]।

इसलिए उसका साध्य अदृष्ट-आदि कुछ नहीं। (कुछ लोगों के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों से उत्पन्न, पुण्य और पाप के रूप में अदृष्ट रहता है वही ऐश्वर्य देता है या रोग उत्पन्न करता है। इसे कर्मफल भी कहते हैं। ऐश्वर्यादि कार्यों को देखकर अदृष्ट-कारण की सिद्धि होती है जैसे धूम से अग्नि। किन्तु जब अनुमान मानते ही नहीं, ऐश्वर्यादि स्वाभाविक ही हैं तब अदृष्ट-रूपी कारण रहेगा क्या खाकर ?)

अब, यदि प्रश्न करे कि अदृष्ट यदि नहीं है तो संसार की विचित्रता तो आकस्मिक हो जायगी ! नहीं, यह ठीक नहीं है—वह तो स्वभाव से ही सिद्ध है (Self-evident)। कहा भी है—'अग्नि उष्ण है, जल शीतल, वायु समशीतोष्ण; यह सब विचित्रता किसने की ? अपनी-अपनी प्रकृति से ही इनकी व्यवस्थायें हुई हैं।'

(१३. चार्वाक-मत-सार)

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्—

१२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥

१३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता॥

१४. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ?॥

१५. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥

बृहस्पति ने भी यह सब कहा है—न तो स्वर्ग है, न अपवर्ग (मोक्ष) और न परलोक में रहने वाली आत्मा; वर्ण, आश्रम आदि की क्रियायें भी फल देने वाली नहीं हैं ॥ १२ ॥ अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना—ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं जिन्हे ब्रह्मा ने बनाया ॥ १३ ॥ यदि ज्योतिष्टोम-यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जायगा, तो उस जगह पर यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ? ॥ १४ ॥ मरे हुए प्राणियों को श्राद्ध से यदि तृप्ति मिले तो बुझे हुए दीपक की शिखा को तो तेल अवश्य ही बढ़ा देगा ॥ १५ ॥[1]

---

१. तुलना करें—विष्णुपुराण में चार्वाक-वर्णन (३।१८।२५-२८), पृ० २७०

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम् ॥
यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः ॥
निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ? ॥
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः ॥

"हिंसा से भी धर्म होता है—यह बात किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। अग्नि में हवि जलाने से फल होगा—यह भी बच्चों की सी बात है। अनेक-यज्ञों के द्वारा देवत्व लाभ करके यदि इन्द्र को शमी आदि काष्ठ का ही भोजन करना पड़ता है तो इससे तो पत्ते खाने वाला पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ? यदि किसी अन्य पुरुष के भोजन करने से भी किसी पुरुष की तृप्ति हो सकती है तो विदेश-यात्रा के समय खाद्य-पदार्थ ले जाने का परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है; पुत्रगण घर पर ही श्राद्ध कर दिया करें ?"

१६. गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥
१७. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ? ॥
१८. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥
१९. यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ? ॥

[विदेश] जाने वाले लोगों के लिए पाथेय (मार्ग का भोजन) देना व्यर्थ है, घर में किये गये श्राद्ध से ही रास्ते में तृप्ति मिल जायगी ॥ १६ ॥ स्वर्ग में स्थित (पितृगण) यदि यहाँ दान कर देने से तृप्त हो जाते हैं तो महल के ऊपर (कोठे पर) बैठे हुए लोगों को यहीं पर क्यों नहीं दे देते हैं ? ॥१७॥ जब तक जीना है सुख से जीना चाहिए, ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए (विलास करें) क्योंकि [मरने पर] भस्म के रूप में परिणत शरीर फिर [संसार में ऋणशोध के लिए] कैसे आ सकता है ? ॥ १८ ॥ [यदि आत्मा शरीर से पृथक् है और] शरीर से निकल कर दूसरे लोक में चला जाता है तब बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर लौट क्यों नहीं जाता ? ॥ १९ ॥

२०. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥
२१. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
२२. अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥ इति ॥

तस्माद्बहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्वाकमतमाश्रयणीयमिति रमणीयम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसङ्ग्रहे चार्वाकदर्शनम् ॥

इसलिए ब्राह्मणों के द्वारा बनाया हुआ यह जीविकोपाय है—मृत व्यक्तियों के सारे मरणोत्तर कार्य; इसके अतिरिक्त ये सब कुछ नहीं हैं ॥ २० ॥ वेद के रचयिता तीन हैं—भाँड़, धूर्त्त (ठग) और राक्षस । 'जर्भरी, तुर्फरी' आदि पण्डितों की वाणी समझी जाती है ॥ २१ ॥ इस (अश्वमेध) में घोड़े के लिङ्ग को पत्नी द्वारा ग्रहण कराने का विधान है—यह सब ग्रहण करने का विधान भाँड़ों का कहा हुआ है ॥ २२ ॥ [यज्ञ में] मांस खाना भी राक्षसों (मांस के प्रेमियों) का कहा हुआ है । इसलिए बहुत से प्राणियों के कल्याण के लिए चार्वाक-मत का आश्रय लेना चाहिए, यही अच्छा है ।

इस प्रकार सायण-माधव के बनाये हुए सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक-दर्शन समाप्त हुआ ॥

विशेष—'जर्भरी' से चार्वाकों का संकेत ऋग्वेद के इस मन्त्र पर है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ (१०।१०६।६)

हे दोनों अश्विनीकुमार ! आप (सृण्यौ इव) अंकुश के योग्य मत्त हाथी के समान हैं, (जर्भरी) शरीर को झुकानेवाले हैं, (तुर्फरीतू) मारनेवाले हैं, (नैतोशौ इव) अत्यन्त सन्तोषदाता पुरुष के पुत्रों के समान (तुर्फरी) शत्रुओं के विनाशक हैं और (पर्फरीका) धन से भरनेवाले हैं । (उदन्यजौ इव) जल से उत्पन्न वस्तुओं से निर्मल हैं, (जेमना) विजय करनेवाले हैं, (मदेरू) मत्त या स्तवनीय हैं (ता = तौ) वे दोनों अश्विनीकुमार (मे) मेरे (जरायु) बुढ़ापे से युक्त (मरायु) मरणशील शरीर को (अजरं) जरामरण रहित कर दें ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसङ्ग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां चार्वाकदर्शनमवसितम् ॥

(२) बौद्ध-दर्शनम्

शून्यं जगत् क्षणिकमात्रमथाप्तदुःखं
स्वस्यैव लक्षणमयं तनुते स्वभावम् ।
दुःखादितत्त्वमखिलं च दिदेश देशे
बुद्धाय शिष्यसहिताय नमोऽस्तु तस्मै ॥—ऋषिः

(१. चार्वाक-मत का खण्डन—व्याप्ति की सुगमता)

अत्र बौद्धैरभिधीयते—यदभ्यधायि, 'अविनाभावो दुर्बोध इति' तदसाधीयः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात्। तदुक्तम्—

१. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ॥
(प्र० वा० १।३३)। इति।

इस (व्याप्ति) के विषय में बौद्ध लोग कहते हैं—[चार्वाकों ने] जो यह कहा है कि अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता, वह ठीक (सिद्ध, तर्कसम्मत) नहीं। व्याप्ति का ज्ञान तो तादात्म्य (दो वस्तुओं की एकरूपता) तथा तदुत्पत्ति (कार्य-कारण का सम्बन्ध) से आसानी से हो सकता है। यही कहा भी है—'कार्य-कारण के सम्बन्ध से अथवा नियम रखनेवाले (=साध्य-साधन का अव्यभिचार—साक्षात्सम्बन्ध—सिद्ध करनेवाले) स्वभाव के द्वारा अविनाभाव (व्याप्ति) का निर्णय होता है, अदर्शन (व्यतिरेक—एक के न होने पर दूसरे का न होना) या दर्शन (अन्वय—एक के होने पर दूसरे का होना) से नहीं।' (प्रमाण-वार्तिक में व्याप्तिचिन्ता-परिच्छेद (१।३३) में या न्यायबिन्दु में भी यह श्लोक मिलता है। दोनों ग्रन्थ धर्मकीर्ति के हैं)।

विशेष—अविनाभाव व्याप्ति का ही दूसरा नाम है। इसकी व्याख्या प्रमाणवार्तिक की स्ववृत्ति में इस प्रकार है—'कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्याविनाभावः = साध्यधर्मं विना न भवतीत्यर्थः' (पृ० ८७) अर्थात् अविनाभाव = कार्य (तदुत्पत्ति) और स्वभाव (तादात्म्य) रूपी लिङ्ग का साध्य के बिना न देखा जाना। उपर्युक्त श्लोक में धर्मकीर्ति ने बौद्धों के अविनाभाव का निर्णय

करनेवाली दो विधियों (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) का तो प्रतिपादन किया ही है, साथ-साथ नैयायिकों की व्याप्ति का निश्चय करनेवाली अन्वय और व्यतिरेक-विधियों का खण्डन भी कर दिया है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मा (आत्मरूप) ही है वह उसके बिना कैसे हो सकती है ? इसलिए तादात्म्य अर्थात् नियामक स्वभाव को अविनाभाव का कारण बतलाया गया है, जैसे—शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य है, शिंशपा वृक्षत्व से पृथक् नहीं जा सकता। कार्य तो कारण के अधीन रहता है, कारण के बिना वह सम्भव नहीं—अतः इससे भी (दोनों विधियों से) अविनाभाव का निश्चय होता है। इसे आगे स्पष्ट किया गया है।

(२. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं)

'अन्वयव्यतिरेकौ अविनाभावनिश्चायकौ' इति पक्षे साध्य-साधनयोरव्यभिचारो दुरवधारणो भवेत्। भूते भविष्यति वर्तमाने चानुपलभ्यमानेऽर्थे व्यभिचारशङ्काया अनिवारणात्। ननु तथाविधस्थले तावकेऽपि मते व्यभिचारशङ्का दुष्परिहरा—इति चेत्; मैवं वोचः। विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यतामित्येवं-विधायाः शङ्काया व्याघातावधिकतया निवृत्तत्वात्। तदेव ह्याशङ्क्येत यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो नावतरेयुः। तदुक्तम्—'व्याघातावधिराशङ्का' (कुसु० ३।७) इति॥

'अन्वय और व्यतिरेक-विधियाँ अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करती हैं' यदि [नैयायिकों के] इस पक्ष को स्वीकार करें तो साध्य (Major term) और साधन (हेतु, लिङ्ग Middle term) में कभी भी व्यभिचार (पार्थक्य) नहीं होगा, यह जानना बड़ा कठिन हो जायगा। इसका कारण यह है कि [यद्यपि सन्निहित वर्तमानकाल में हम साध्य-साधन का सम्बन्ध स्थिर कर सकते हैं किन्तु] भूतकाल, भविष्यत्काल या अनुपस्थित अर्थ (वस्तु) वाले वर्तमानकाल में व्यभिचार की शङ्का हटाई नहीं जा सकती (सामने आये हुए वर्तमानकाल में व्यभिचार नहीं हो सकता किन्तु दूर के काल में साध्य-साधन का सम्बध नहीं भी रह सकता है)।

[नैयायिक लोग पूछ सकते हैं कि] ऐसी स्थिति में (भूत, भविष्य और दूरवर्ती वर्तमानकाल के विषय में प्रश्न उठाने पर) आप [बौद्धों] के मत में भी तो व्यभिचार (साध्य-साधन के नित्य सम्बन्ध में व्यवधान) होने की

शङ्का रहती ही है, उसे बचाना बड़ा कठिन है। ऐसा प्रश्न होने पर [हमारा उत्तर होगा कि] ऐसे मत कहो, क्योंकि 'कारण के बिना भी कार्य उत्पन्न हो जायगा' इस प्रकार की शङ्का होने से उसकी निवृत्ति व्याघात (विपरीत उदाहरण, रुकावट, Contrary instance) मिल जाने पर हो ही जायगी (व्याघात हो जाने से शङ्का का अवकाश नहीं रहता)। कारण यह है कि शङ्का ऐसी ही करें जिससे व्याघात इत्यादि न मिलें। [उदयनाचार्य ने] कहा भी है—'व्याघात के प्राप्त होने के समय तक ही आशङ्का बनी रहती है' (न्या० कु० ३।७)।

विशेष—किसी अनुमान में व्याप्ति की आवश्यकता होती है, जबतक साध्य और साधन में स्थायी सम्बन्ध न दिखलाया जाय, अनुमान हो नहीं सकता। पक्ष (पर्वत) में साध्य (अग्नि) को सिद्ध करने के लिए साध्य (अग्नि) और साधन या हेतु (धूम) में व्याप्ति दिखलानी पड़ती है। व्याप्ति को जानने के लिए नैयायिकों के यहाँ दो विधियाँ हैं—(१) अन्वय (Method of Agreement) और (२) व्यतिरेक (Method of Difference) उदाहरणतः, (१) अन्वय-विधि—जहाँ-जहाँ (जैसे—रसोई घर, कारखाना, चूल्हा आदि में) धूम है, वहाँ अग्नि है। इस तरह विशिष्ट उदाहरणों में धूम देखकर अग्नि की सत्ता जानकर दोनों के व्याप्ति-सम्बन्ध को अन्वय-विधि से जानते हैं। (२) व्यतिरेक विधि—जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है (जैसे झील, मैदान, नदी, बगीचा आदि में) वहाँ-वहाँ धूम नहीं है। अतः, एक के अभाव वाले उदाहरणों में दूसरे का भी अभाव देखकर दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध जान लेना व्यतिरेक-विधि है। पाश्चात्त्य तर्क-शास्त्र (आगमन) में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के पाँच नियम हैं—(१) Method of Agreement, (साहचर्य की विधि) (२) Method of Difference, (भेद-विधि) (३) Joint Method of Agreement and Difference, (साहचर्य और भेद की संयुक्त-विधि) (४) Method of Concomitant Variation (सहचारी विकार-विधि) (५) Method of Residue (अवशेष-विधि)—इनकी जानकारी के लिए किसी तर्कशास्त्र (आगमन) की पुस्तक को देखा जाय।

बौद्ध लोग उपर्युक्त दोनों विधियों को इसलिए नहीं मानते कि इनसे समीपवर्ती वर्तमान काल में देखे गये उदाहरणों का पता भले लग सके किन्तु कालान्तर और देशान्तर में विद्यमान पदार्थों की व्याप्ति तो नहीं हो सकती। कभी न कभी धूम और अग्नि में व्यभिचार (पार्थक्य) हो ही जायगा—ऐसी संभावना है (सहचार = साध्य-साधन का नियत संबंध, व्यभिचार = दोनों का

अलग हो जाना) ; इस प्रकार डेविडह्यूम के संशयवाद (Scepticism) में प्रवेश किया जा सकता है। इससे बौद्ध लोगों ने तादात्म्य और तदुत्पत्ति को ही व्याप्ति का साधन माना है। इससे भी निस्तार नहीं है। जो आक्षेप बौद्ध लोग नैयायिकों पर लगाते हैं वही आक्षेप बौद्धों पर भी लग सकता है। तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा व्याप्ति जानने में भी साध्य-साधन के संबन्ध-विच्छेद की संभावना है।

किन्तु बौद्ध लोग इस संशयवादी भ्रम को आड़े हाथों लेते हैं। तर्क और व्याघात का आश्रय लेकर शंकाओं को दूर किया जा सकता है। तर्क का अभिप्राय है विरोधी वाक्य को असिद्ध सिद्ध करना जैसे—'सभी धूमवान् पदार्थ अग्नियुक्त हैं' यदि वाक्य ठीक नहीं तो इसका विरोधी (Contradictory) वाक्य 'कुछ धूमवान् पदार्थ अग्नियुक्त हैं' अवश्य सत्य है। इसका अर्थ है कि अग्नि के बिना भी धूम हो सकता है (विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यताम्)। लेकिन सामान्य कार्य-कारण-सिद्धान्त (Universal Causation) से उपर्युक्त तथ्य खंडित हो जायगा। अर्थ यह होगा कि बिना कारण के भी कार्य होने लग जायगा (स्मरणीय है कि धूम का एक मात्र कारण अग्नि ही है)। यदि कोई हठपूर्वक यह कहना शुरू कर दे कि कारण के बिना कार्य होता है तो यह व्यावहारिक असंगति (व्याघात Practical absurdity) हो जायगी। यदि कार्य कारण के बिना होता ही है तो रसोई बनाने के लिए आग की क्या आवश्यकता ? इस प्रकार व्याघात होने तक ही शंका रहती है। अपनी क्रिया के व्याघात से व्यभिचार की शंका नहीं उठती। इस विधि को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Reductio ad absurdum (व्यावहारिक असंगति दिखाना) कहते हैं जिसमें विरोधी वाक्य को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं।

उदयनाचार्य की कुसुमांजलि में निम्नलिखित श्लोक है—

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥ (न्या० कु० ३।७)

(अनुमा = अनुमान)। यह अनुमान को सिद्ध करने वाली कारिका है जिसमें अनुमान से व्यभिचार की शंका का सम्बन्ध बतलाया गया है। शंका हो या नहीं, अनुमान दोनों स्थितियों में हैं। यदि शंका (= देशान्तर या कालान्तर में साध्य-साधन के बीच उपाधि या व्यभिचार होने की आशंका) रहे तो भी अनुमान सिद्ध होता है क्योंकि अनुमान-प्रमाण से ही उपाधि या व्यभिचार का ज्ञान होता है (भले ही इसके लिए दूसरे अनुमान की आवश्यकता है, पर वह है तो अनुमान ही न ?)। अगर शंका नहीं हो तब तो और भी

आनंद, क्योंकि अब तो शंका दूर करने की भी जरूरत नहीं है। शंका की अवधि तर्क को ही माना गया है। तर्क शंका का निवर्तक है। इसे हम ऊपर देख चुके हैं। लेकिन तर्क में भी व्याप्ति की आवश्यकता पड़ेगी और फिर दूसरा तर्क खोजना पड़ेगा जिससे अनवस्था-दोष (Argumentum ad Infinitum) उत्पन्न हो जायगा। इसलिए व्याघात (व्यावहारिक असंगति) का आश्रय लेना पड़ेगा। तर्कमूल व्याप्ति में जब अपनी क्रिया का व्याघात या असंगति आवेगी तब व्यभिचार-शंका समाप्त हो जायगी—पुनः दूसरे तर्क को आवश्यकता नहीं। इसलिए शंका की अवधि व्याघात है। शंका तभी तक है जब तक व्याघात नहीं मिलता।

(३. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान—पंचकारणी)

तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्ति-निश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पञ्चकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते ॥

इसलिए तदुत्पत्ति (कार्य-कारण-संबंध) के निश्चय के द्वारा अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। तदुत्पत्ति का निश्चय कार्य और हेतु (कारण) के प्रत्यक्ष उपलम्भ (प्राप्ति) और अनुपलम्भ (अप्राप्ति) रूपी पाँच [अवयवों] पर निर्भर करता है। (दो बार उपलम्भ और तीन बार अनुपलम्भ)। धूम और धूमध्वज (अग्नि) में कार्य-कारण-सम्बन्ध इन पाँच कारणों की समन्विति से निश्चित किया जाता है—(१) उत्पत्ति होने के पहले कार्य का नहीं प्राप्त होना, (२) कारण की प्राप्ति होने पर, (३) [कार्य का] प्राप्त होना। (४) [कार्य] प्राप्त होने के बाद कारण का प्राप्त नहीं होना और जिसके फलस्वरूप (५) [कार्य का] प्राप्त नहीं होना।

विशेष—बौद्धों ने अन्वय-व्यतिरेक की विधियों को ही तोड़-मोड़ कर पंचकारणी-विधि का निर्माण किया है। वैसी कोई इसमें नवीनता नहीं मिलती। कार्य और कारण की अप्राप्ति और प्राप्ति—दोनों से पाँच अवयव (Combinations) निकाले गये हैं। अप्राप्ति से तीन अवयव और प्राप्ति से दो। इन पाँचों को मिलाने के बाद ही कार्य-कारण का निर्णय होता है, पृथक्-पृथक् नहीं। इन्हें इस प्रकार समझें—

अनुपलम्भ	उपलम्भ
(१) उत्पत्ति के पूर्व कार्यानुपलम्भ	
(४) कारणानुपलम्भ होने पर—	(२) कारणोपलम्भ होनेपर—
(५) कार्यानुपलम्भ।	(३) कार्योपलम्भ,

हम देखते हैं कि (१) [धूम की] उत्पत्ति होने के पहले धूम का ज्ञान नहीं होता, अब (२) अग्नि देख रहे हैं तो (३) धूम का भी ज्ञान होता है। धूम का ज्ञान हो जाने पर जब (४) अग्नि की सत्ता नहीं रहे तो वैसी अवस्था में (५) धूम की भी सत्ता मिट जाती है। इन पाँच अवस्थाओं से पार करने के बाद धूम-धूमध्वज (अग्नि) में कार्यकारण का निर्धारण हो जाता है।

(४. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान)

तथा तादात्म्यनिश्चयेनाप्यविनाभावो निश्चीयते। 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत्', स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। अप्रवृत्ते तु बाधके भूयः सहभावोपलम्भेऽपि व्यभिचारशङ्कायाः को निवारयिता? शिंशपावृक्षयोश्च तादात्म्यनिश्चयो 'वृक्षोऽयं शिंशपेति' सामानाधिकरण्यबलादुपपद्यते। न ह्यत्यन्ताभेदे तत्संभवति। पर्यायत्वेन युगपत्प्रयोगायोगात्। नाप्यत्यन्ताभेदे, गवाश्वयोरनुपलम्भात्। तस्मात्कार्यात्मानौ कारणात्मानौ अनुमापयत इति सिद्धम्॥

इसी प्रकार तादात्म्य का निश्चय करने के बाद भी अविनाभाव का निश्चय होता है। [उदाहरण स्वरूप, 'शिंशपा वृक्ष है' इस उदाहरण में शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य-सम्बन्ध है, दोनों की आत्मा, आधार या धर्म एक ही—वृक्षत्व—है। शिंशपा में भी वृक्षत्व (वृक्ष का सामान्य धर्म) है और वृक्ष में भी। दोनों के सामान्य धर्म एक ही हैं]। यदि इस प्रकार विरोधी वाक्य (विपक्ष-वाक्य) कहा जाय कि 'यदि शिंशपा वृक्षत्व का अतिक्रमण कर दिया जाय (=उससे पृथक् हो)' तो बाधक-वाक्य (असंगति) की प्रवृत्ति हो जायगी कि तब तो यह (शिंशपा) अपनी आत्मा या सामान्य धर्म को ही छोड़ देगा। अभिप्राय यह है कि तादात्म्य-सम्बन्ध दिखाने वाले वाक्य 'शिंशपा के धर्म वृक्ष के धर्म हैं' का विपक्षी-वाक्य 'शिंशपा वृक्ष नहीं है' रखने पर असंगति हो जायगी तब तो शिंशपा का अपना धर्म भी साथ नहीं देगा—अतः तादात्म्य द्वारा अविनाभाव स्वीकार करना ही पड़ेगा।] यदि दैवात् असंगति (बाधक) न भी आवे और

पुनः सहचार (सदा साथ रहना) का उपलम्भ (प्राप्ति) भी हो तो व्यभिचार की शंका को कौन बचा सकता है ?

शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य-संबंध का निश्चय समानाधिकरणता के बल से सिद्ध होता है। (समानाधिकरण=एक ही आधार होना, जैसे शिंशपा और वृक्ष दोनों का अधिकरण वृक्षत्व है) कि, 'यह वृक्ष शिंशपा है'। तादात्म्य-संबंध दो पदार्थों के अत्यन्त अभेद (एक ही पदार्थ का बोधक) होने पर संभव नहीं है। [जैसे—'यह घट-घट है' इस उदाहरण में दोनों पृथक् नहीं हैं और इसलिए] पर्यायवाची होने के कारण दोनों का एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता ('यह घट-घट है' का प्रयोग नहीं हो सकता)। और न दोनों के अत्यन्त-भेद (एक दूसरे से पृथक् होना (Mutual exclusion) होने पर ही यह संभव है क्योंकि वैसी दशा में 'गौ अश्व है' [इसका प्रयोग होने लगेगा] जो प्राप्त (संगत) नहीं।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कार्य (कार्य-कारण संबंध से) तथा आत्मा (तादात्म्य संबंध से) क्रमशः कारण और आत्मा का अनुमान करते हैं (कार्य से कारण का अनुमान तदुत्पत्ति द्वारा और आत्मा का अनुमान तादात्म्य द्वारा होता है)।

विशेष—तादात्म्य का अर्थ है उसके स्वरूप में रहना, दो वस्तुओं का अभेद संबंध। जब दो वस्तुओं में धर्म समान रहता है जैसे—नर और प्राणी में 'प्राणित्व' तो दोनों के बीच तादात्म्य संबंध समझा जाता है। इसका दूसरा द्योतक शब्द है सामानाधिकरण्य=एक ही आधार पर टिका रहना, एक विभक्ति में ही रहना जैसे—वृक्षोऽयं शिंशपा। शाब्दिक दृष्टि से यहाँ वृक्ष और शिंशपा में समानाधिकरणता (समविभक्तित्व) है किन्तु अर्थदृष्टि से दोनों में 'वृक्षत्व' नामक सामान्य धर्म होने से तादात्म्य-संबंध है। तादात्म्य-संबंध न तो दो पदार्थों में अत्यन्त भेद होने पर ही हो सकता है (जैसे—'अश्वोऽयं महिषः' नहीं कह सकते यद्यपि दोनों में 'पशुत्व' सामान्य-धर्म है) और न अत्यन्त अभेद ही रहने पर (जैसे—'अश्वोऽयं घोटकः' नहीं कह सकते क्योंकि दोनों पर्याय ही हैं)। स्मरणीय है कि केवल बौद्ध लोग ही तादात्म्य द्वारा अविनाभाव स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।

(५. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर)

यदि कश्चित्प्रामाण्यमनुमानस्य नाङ्गीकुर्यात्तं प्रति ब्रूयात्—अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते, तत्र न किंचन

साधनमुपन्यस्यते, उपन्यस्यते वा ? न प्रथमः । अशिरस्क-वचनस्योपन्यासे साध्यासिद्धेः ।

एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत् ।

इति न्यायात् । नापि चरमः । अनुमानं प्रमाणं न भवतीति ब्रुवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात् ॥

यदि [इतना होने पर भी] कोई व्यक्ति अनुमान-प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करता है तो उससे इस प्रकार [द्विविधात्मक Dilemmatic] प्रश्न पूछें—"आप केवल 'अनुमान प्रमाण नहीं है' इतना भर कहते हैं, इसमें कोई हेतु (साधन, प्रमाण) उपस्थित नहीं करते हैं या करते हैं ?" (१) यदि पहली बात [पर अड़ते हैं तो] ठीक नहीं । [किसी सिद्धान्त को बिना कारण के रखने में] बिना सिर या हेतु के वाक्य उपस्थापित करने में साध्य (Major Term) की सिद्धि होगी ही नहीं । (अनुमान में किसी वाक्य को निगमन में रखने के लिए उचित और उपाधिहीन हेतु की आवश्यकता है, उसके नहीं रहने से अनुमान नहीं होगा । पर्वत में अग्नि (साध्य) सिद्ध करने के लिए उसमें धूमवत्त्व (हेतु, साधन) रखना ही पड़ेगा । अशिरस्क-वचन = बिना साधन का वाक्य, अप्रामाणिक बात)। न्याय (उक्ति) भी है—'अकेली प्रतिज्ञा (स्वीकृति) स्वीकृत वस्तु को सिद्ध नहीं करती' (= केवल सिद्धान्त रख देने से कि अनुमान प्रमाण नहीं है यह सिद्ध नहीं हो जायगा प्रत्युत इसके लिए साधन देना पड़ेगा । यदि साधन नहीं देते तो आपकी यह बात गलत हो जायगी कि अनुमान प्रमाण नहीं है अर्थात् अनुमान को आप भी प्रमाण स्वीकृत करेंगे ।)

(२) दूसरा पक्ष [कि अनुमान को प्रमाण न मानने के लिए साधन देना चाहिए—यह] भी ठीक नहीं । कारण यह है कि जब आपलोग कहते हैं—'अनुमान प्रमाण नहीं होता है' तब तो वचन (= शब्द-प्रमाण) को भी स्वीकार नहीं ही करते हैं (क्योंकि अनुमान-प्रमाण मानने के बाद ही आप्त-पुरुषों की बात—शब्द-प्रमाण को स्वीकृत कर सकते हैं)। दूसरी ओर आपकी स्थिति है कि अपने से भिन्न दूसरों के शास्त्रों में प्रमाण-रूप से स्वीकृत 'वचन' या शब्द-प्रमाण का उपयोग कर रहे हैं (यदि आप अनुमान को प्रमाण नहीं मानकर कुछ साधन देते हैं तो दूसरों की लीक पर चलने का दोषारोपण आप पर होगा । कम से कम न्यायशास्त्र की विधि को प्रामाणिक

मानना होगा और उसकी बातों को यथावत् स्वीकार करना शब्द-प्रमाण को मानना है)। ऐसा करने पर व्यावहारिक असंगति होगी जैसी 'मेरी माता वन्ध्या है' इस वाक्य में होती है। (अभिप्राय यह है कि यदि माता है तो वन्ध्या नहीं, यदि वन्ध्या है तो माता नहीं। दोनों की स्थिति एक दशा में असम्भव है। उसी प्रकार अनुमान को प्रमाण नहीं मानते तो शब्द को भी नहीं मानना होगा लेकिन ये पूर्वपक्षी-चार्वाक आदि—अनुमान की प्रामाणिकता काटने के लिए और भी बड़े प्रमाण—प्रत्यक्ष से दूर प्रमाण—शब्द का आश्रय लेते हैं, यह व्यावहारिक असंगति है)।

किं च प्रमाणतदाभासव्यवस्थापनं तत्समानजातीयत्वादिति वदता भवतैव स्वीकृतं स्वभावानुमानम्। परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिङ्गेनेति ब्रुवता कार्यलिङ्गकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या कश्चिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिङ्गकमनुमानम्। तथा चोक्तं तथागतैः—

२. प्रमाणान्तरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥ इति।

पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते।

यही नहीं, [तीन तरह के अनुमान तो आप स्वयं स्वीकार करते हैं।] प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था उसके समानजातीय होने के कारण होती है—यह कहते हुए आप ही स्वभावानुमान को स्वीकार करते हैं। (**प्रमाण और प्रमाणाभास** की व्यवस्था—राह में जाते हुए जब जल दिखलाई पड़ता है तब यह जलज्ञान प्रमाण है कि प्रमाणाभास, ऐसा सन्देह होता है। अगर ठीक निकला तो प्रमाण मानेंगे क्योंकि 'यथार्थानुभवः प्रमा,' और 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'। यदि जल नहीं मिला तो प्रमाणाभास मानेंगे। यह निर्णय कैसे करेंगे ? विधि स्वभावानुमान की होगी और साधन रहेगा समानजातीयत्व। (१) **प्रमाण**—जब एक बार ऐसा ज्ञात हुआ था तब उसमें जल निकला था, इस बार भी उसी तरह का या समानजातीय ज्ञान है, यह जलज्ञान भी **प्रमाण** है। यह निश्चय स्वभावानुमान से आप करते हैं, दूसरी ओर, (२) **प्रमाणाभास**—जब एक बार ऐसा ज्ञान हुआ था तो जल नहीं मिला था, इस बार भी सजातीय होने से जल नहीं मिलेगा—अतः यह भी **प्रमाणाभास** है। यहाँ भी स्वभावानुमान की आवश्यकता पड़ी। स्वभावानुमान में पक्ष, साध्य और लिंग तथा तीन अवयव-वाक्य रहते हैं।)

दूसरे, 'विरोधियों की विपरीत सम्मति (विरुद्ध सिद्धान्त या ज्ञान) का ज्ञान उनके वचन-रूपी लिंग या साधन से होता है' यह कहकर [आप] कार्य को देखकर कारण को जाननेवाला 'कार्यलिंगक' अनुमान भी स्वीकार करते हैं। [अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुसार ही बोलता है। ज्ञान कारण है और उसके वचन कार्य। चार्वाक लोग परपक्षियों के शब्दों को सुनकर उनकी मान्यताओं का अनुमान कर लेते हैं। यह भी अनुमान ही हुआ, भले ही इसमें कार्य (वचन) लिंग या हेतु का काम कर रहा है। विपक्षियों की विप्रतिपत्ति (विरुद्ध सिद्धान्त) साध्य है।]

तीसरे, जब आप किसी वस्तु की अनुपलब्धि या अभाव देखते हैं तथा उसके आधार पर किसी पदार्थ की सत्ता का निषेध करते हैं (जैसे—आकाश-तत्त्व, आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि का), तो यहाँ भी आप अनुमान का सहारा ले रहे हैं जिसका लिङ्ग है अभाव। (अभाव के आधार पर ही आप इन वस्तुओं का निषेध करते हैं। फिर अनुमान को खण्डित करने में तुक ही क्या रहा ? जब तीन-तीन प्रकार के अनुमान आप धड़ाधड़ दे रहे हैं फिर कैसे कहते हैं कि अनुमान है ही नहीं ?)।

इसलिए तथागत (बुद्ध) के अनुयायियों ने कहा है—(१) दूसरे प्रमाण (अनुमान) में सामान्य (समान जातीयता) की स्थिति होने के कारण, (२) दूसरे की सम्मति में गति या उसका अनुमान करने के कारण तथा (३) किसी के प्रतिषेध के कारण—दूसरे अनुमान प्रमाण की सत्ता [स्वीकार करनी पड़ती] है। ऊपर कहे तीनों प्रकार के अनुमानों का संग्रह इस श्लोक में हुआ है।) इस विषय पर विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है इसलिए यहाँ ग्रन्थ बड़ा हो जाने के भय से रुका जाय।

(६. बौद्धदर्शन के चार भेद—भावना-चतुष्टय)

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते। यद्यपि भगवान्बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपरस्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं

क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावना-चतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम् ।

ये बौद्ध लोग चार प्रकार की भावना (दृष्टिकोण) से परम पुरुषार्थ का वर्णन करते हैं। ये बौद्ध माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा क्रमशः इन वादों या सामान्य-सिद्धान्तों पर अड़े हुए हैं—सब कुछ शून्य होना (माध्यमिक), बाह्य-पदार्थों का शून्य होना (योगाचार), बाह्य-पदार्थों का अनुमान से ज्ञान होना (सौत्रान्तिक) और बाह्य-पदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान होना (वैभाषिक)। यद्यपि समझाने वाले भगवान् बुद्ध एक ही थे फिर भी समझने वाले पात्रों के बुद्धि-भेद से ये चार प्रकार बन गये। जिस प्रकार 'सूर्य डूब गया' ऐसा कहने पर जार (उपपति, प्रेमी), चोर और अनूचान (वेदपाठी) आदि अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अभिसरण (प्रेयसी से मिलने के लिए संकेतस्थल पर जाना), परधन का हरण और सदाचरण आदि के समय समझ लेते हैं।

देखना चाहिए कि चारों भावनायें (या दृष्टिकोण) इस प्रकार उपदिष्ट हुई हैं—(१) सब कुछ क्षणिक है क्षणिक, (२) सब कुछ दुःख है दुःख, (३) सबों का लक्षण अपने आप में है तथा (४) सब कुछ शून्य है शून्य।

विशेष—बौद्ध-दर्शन के सुप्रसिद्ध चार सम्प्रदायों का वर्णन यहाँ हुआ है। यद्यपि आगे हमें इनका विस्तृत वर्णन मिलेगा किन्तु यहाँ संक्षेप में कुछ जान लेना आवश्यक है।

(१) **माध्यमिक (शून्यवाद** Nihilism)—यह मत नागार्जुन (२ री शती ई०) से सम्बद्ध है जिनके माध्यमिक-शास्त्र (कारिका) के अनुसार संसार असत् या शून्य है—द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम हैं। फिर भी शून्य का अभिप्राय ऐसा सत् है जो चतुष्कोटि (सत्, असत्, सदसत्, असन्नासत्) से विलक्षण, अनिर्वचनीय है। व्यावहारिक वस्तुयें सभी शून्य या असत् हैं किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो अनौपाधिक और अविकृत है। माध्यमिक-कारिका (१.७) में कहा गया है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने अनुभयात्मक के अलावे सभी को स्वीकार कर ब्रह्म की शक्ति माया को कोटित्रयशून्य कहा है जिसके फलस्वरूप कट्टर हिन्दुओं ने उन्हें 'प्रच्छन्न (छिपा हुआ) बौद्ध' की संज्ञा दे रखी थी। उनके अनुसार माया 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो' (विवे० चूडा०) है।

(२) **योगाचार** (Subjective Idealism)—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, असंग आदि आचार्यों की छत्रच्छाया में यह सम्प्रदाय फलता-फूलता रहा है। इसके अनुसार बाह्य अर्थ तो शून्य है, किन्तु चित्त जो सभी वस्तुओं का ज्ञाता है, कभी भी असत् नहीं हो सकता अन्यथा हमारे ज्ञान भी असत् हो जायँगे। मन के द्वारा गृहीत सभी पदार्थ धारणामात्र (ideas) हैं। मानसिक धारणायें ही बाह्य वस्तुओं के रूप में भ्रमवत् दृष्टिगोचर होती हैं। विषयी (Subject) ही बाह्य-वस्तुओं पर अपनी तत्सम्बन्धी धारणाओं का आरोपण करता है (Subjective Idealism)। इस विचार में अंग्रेज दार्शनिक बर्कले से यह मत मिलता है। इसका दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है जिसमें विज्ञान या शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र सत् है। इस मत में चित्त के आठ प्रकार हैं—चक्षुर्विज्ञान आदि वैभाषिकों के सम्मत ६ विज्ञान, मनोविज्ञान और आलय विज्ञान। इस मत का प्रसिद्ध ग्रन्थ है—लंकावतारसूत्र।

(३) **सौत्रान्तिक** (Representationism)—उपर्युक्त दोनों सम्प्रदाय जहाँ महायान के हैं, सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयान के भेद हैं। सौत्रान्तिक का विशेष संबंध सूत्र-पिटक से है। इसके अनुसार मानसिक और बाह्य दोनों पदार्थ सत् हैं यद्यपि बाह्य-पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। उनके प्रत्यक्ष के लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ, तथा सहायक तत्त्वों (जैसे प्रकाश, आकार)—इन चार वस्तुओं की अपेक्षा है। इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होनेवाले विषय का विचार (idea) या अनुकृति (copy) प्राप्त होती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुएँ मन में रहनेवाले विषय के विचारों (idea) के प्रतिनिधिमात्र हैं। मानसिक धारणाओं से ही मन बाह्य-पदार्थों का अनुमान कर लेता है। केवल वर्तमान काल की सत्ता ये लोग मानते हैं। वैभाषिक लोग सभी कालों की सत्ता मानने के कारण 'सर्वास्तिवादी' कहलाते हैं। विज्ञानवादियों के खण्डन में ये उसी प्रकार दत्तचित्त हैं जिस प्रकार बर्कले (Berkeley) के खण्डन में मूर (Moore)। मूर का सिद्धान्त वस्तुवादी (realistic) है जब कि बर्कले आत्मनिष्ठ विचारवादी (Subjective Idealist) हैं। सौत्रान्तिक मत बहुत कुछ लौक (Locke) की 'विचारों की अनुकृति' (Copy theory of ideas) से मिलता है।

(४) **वैभाषिक** (Direct Realism)—बाहरी वस्तुओं को अनुमेय न मानकर वे पूर्णतया प्रत्यक्षगम्य मानते हैं क्योंकि जब तक उनका प्रत्यक्ष न हो, उनकी सत्ता किसी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती। पहले से अग्नि का प्रत्यक्ष जिस व्यक्ति ने नहीं किया है कभी भी धूम के आधार पर उस का अनुमान नहीं कर सकता। बाह्य-पदार्थों से सम्पर्क नहीं रहने पर मनोजगत्

में कभी भी बाहरी चीज की धारणा नहीं बन सकती। इसलिए या तो विज्ञानवाद मानें या बाह्य-वस्तुओं का साक्षात्प्रत्यक्ष मानें। अभिधर्म-दर्शन से ही वैभाषिक-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है।

माध्यमिक = पूर्ण असत् या पूर्ण सत् को अस्वीकार कर दोनों की सोपाधिक सत्ता मानने वाला, मध्यम-मार्ग का अवलम्बन करने वाला (दोनों के बीच के मार्ग पर चलनेवाला)। **योगाचार** = योग (चित्तवृत्ति की प्रवीणता) और आचार का समन्वय करनेवाला। योग के द्वारा मानसिक सत्ता (आलय-विज्ञान) को ही स्वीकार करके बाह्य पदार्थों में विश्वास हटा देना। **सौत्रान्तिक**—सुत्त-पिटक से सम्बद्ध, इसके बहुत से ग्रन्थ सुत्तान्त नाम से ही विख्यात हैं। **वैभाषिक**—विभाषा (अभिधर्म-महाविभाषा) नामक ग्रन्थ में इनके सिद्धान्त प्रतिपादित हैं इसलिए यह नाम इनका पड़ा।

इसके बाद चारों भावनाओं पर पृथक् विचार किया गया है तथा क्षणिकत्व भावना के अनुपम होने के कारण उस पर कुछ अधिक विस्तारपूर्वक विचार है।

(७. क्षणिकत्व की भावना—अर्थक्रियाकारित्व)

तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेनानुमातव्यं—यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सन्तश्चामी भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य नीलादिक्षणानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाक्रमव्यावृत्तौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः संभवति।

३. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः॥ (कुसु० ३।८)

इति न्यायेन व्याघातस्योद्भटत्वात्॥

इन भावनाओं में क्षणिकत्व-भावना का अनुमान नील आदि क्षणों (=क्षणिक पदार्थों) की सत्ता देखकर करना चाहिए। [चूँकि नील आदि पदार्थ क्षणिक हैं इसलिए एक साधारण क्षणिकत्व की भावना मान लेनी चाहिए। इस भावना का साधक अनुमान इस प्रकार होगा]—जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है, जैसे (उदाहरण)—मेघमंडल। [अब चूँकि सामने दिखलाई

पड़ने वाले] इन भावों की सत्ता है, [इसलिए ये भाव भी क्षणिक होंगे]। यह नहीं कह सकते कि उपर्युक्त अनुमान में हेतु ('सत्ता') असिद्ध है। (असिद्ध हेतु उसे कहते हैं जो व्यवहारतः असंगत कारण हो, साध्य की तरह ही हेतु को भी सिद्ध करने की आवश्यकता पड़े। न्यायदर्शन में इस हेत्वाभास को साध्यसम कहा गया है, नव्य नैयायिकों ने असिद्ध मानकर इसके तीन भेद किये हैं। यहाँ पर कुछ लोग सन्देह करते हैं कि 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' में वस्तुओं का सत् होना ही असिद्ध है क्योंकि सभी दार्शनिक पदार्थों को सत्तावान् नहीं मानते। लेकिन इस 'सत्' रूपी हेतु को असिद्ध मानना ठीक नहीं है— ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं। असिद्ध इसलिए नहीं मानते कि सत्त्व (सत्ता) में प्रयोजनमूलक कार्य करने की क्षमता रहती है (अर्थक्रियाकारित्व = कोई भी काम किसी उद्देश्य या अर्थ से किया जाता है, उक्त प्रकार के कार्य करने की शक्ति जब रहे तभी सत् होता है); यह सत्त्व नील आदि क्षणिक पदार्थों के प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है [सत्त्व का लक्षण 'अर्थक्रियाकारी होना' प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है जब कि हम नील आदि पदार्थों को क्षणिक पाते हैं—नील आदि पदार्थ क्षण भर में अपनी अर्थसाधक क्रिया करके नष्ट हो जाते हैं, इसलिए ऊपर के अनुमान में भावों का सत् होना असिद्ध हेतु नहीं]।

दूसरा कारणः—एक नियम है कि व्यापक (व्याप्त करनेवाला) का निष्कासन (व्यावर्तन) करने से व्याप्य का भी निष्कासन (exclusion) होता है (व्यापक में नहीं रहने वाली वस्तु व्याप्य में भी नहीं रहती), इस नियम के द्वारा व्यापक पदार्थ से क्रम (आगे-पीछे होना) और अक्रम (साथ-साथ होना) का निष्कासन (व्यावृत्ति) करने पर, क्षणिक होनेवाली वस्तुओं से सत्ता का निष्कासन भी सिद्ध होता है। [अभिप्राय यह है कि व्यापक से किसी को अलग करना व्याप्य से भी उसे अलग कर देना है, अब व्यापक से क्रम-अक्रम (जो अर्थक्रियाकारित्व या सत्ता को व्याप्त करता है) को पृथक् कर देते हैं जिससे स्वभावतः अक्षणिक (व्याप्य) वस्तुओं से सत्ता पृथक् हो जाती है ∴ क्षणिक सत् है क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत्त होता है। इससे 'यत्सत्तत्क्षणिकं' सिद्ध होता है और उपर्युक्त अनुमान हेतु के ठीक रहने से उचित प्रतीत होता है।]

यह सार्थक कार्य करने की शक्ति (जिसे यहाँ पर सत्ता कहा जा रहा है) क्रम (पूर्वापरता) तथा अक्रम (एक साथ होना) से व्याप्त है और क्रम तथा अक्रम के बीच तीसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। वैसा करने पर निम्नलिखित नियम के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से विकट असंगति हो जायगी—"आपस में विरोधी [पदार्थों] के बीच किसी तीसरे प्रकार (विकल्प) की सत्ता नहीं हो

सकती । वचन में ही विरोध होने के कारण विरोधियों (विरुद्ध पदार्थों) में कभी भी एकता नहीं होती) [आशय यह है कि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी हैं, दोनों के बीच में तीसरे विकल्प की आशंका नहीं है जो अर्थक्रिया-कारित्व को व्याप्त कर सके । किसी वस्तु की सत्ता या तो क्रमिक होगी = आगे पीछे करके, या अक्रमिक अर्थात् एक साथ ही होगी । बाद में यह दिखलाया जायगा कि ये दोनों क्रम और अक्रम स्थायी वस्तु से पृथक् हैं और अर्थक्रिया को भी व्यावृत्त करते हुए क्षणिकत्व-भावना को सिद्ध करते हैं । अर्थमूलक क्रिया की शक्ति केवल क्षणिक में ही है ।]

विशेष—अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत् = प्रयोजनभूता या क्रिया तत्का-रित्वमेव सत्त्वम् (अभ्य०) अर्थात् प्रयोजन के रूप में जो कार्य है उसे करने की क्षमता होना ही सत्ता का लक्षण है । दूसरे शब्दों में, सत्ता वह है जो कुछ कार्य उत्पन्न करने की क्षमता रखे । शश-विषाणके सदृश असत् वस्तु कभी भी कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती । सत्ता का यह लक्षण स्वीकार करने पर सभी पदार्थों को क्षणिक मानने में सुविधा होती है । मान लें कि बीज क्षणिक नहीं है, स्थायी है तो इसकी सत्ता होने के कारण क्षण-क्षण में यह नए-नए कार्य उत्पन्न करता रहेगा । यदि बीज सभी क्षणों में समान ही रहे, अपरिवर्तित हो, तो सदा वह उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न करेगा किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है । घर में रखा बीज वही नहीं जो खेत में डाला गया है । दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं । यदि यह तर्क किया जाय कि वस्तुतः बीज वही कार्य उत्पन्न नहीं करता किन्तु उसमें क्षमता है जो उचित उपादानों (जैसे-पृथ्वी, जल आदि) के संसर्ग से अभिव्यक्त हो जाती है । अतः बीज सदा वही है । यह तर्क असहाय है क्योंकि ऐसी दशा में यह स्वीकार करते ही हैं कि पहले क्षण का बीज अंकुरण का कारण नहीं प्रत्युत विभिन्न उपादानों के संसर्ग से परिष्कृत बीज ही उसका कारण है । अतः बीज तो परिवर्तित हो गया । इसी प्रकार कोई भी वस्तु दो क्षण नहीं ठहरती । सभी वस्तुयें क्षणिक हैं । इसकी सिद्धि के लिए सत्ता का एक विशिष्ट लक्षण (अर्थक्रियाकारित्व) करना पड़ता है ।

नीलादिक्षण—नील एक उदाहरण है, वस्तुतः इसे रंग से कोई सम्पर्क नहीं । प्राचीन नैयायिक (बौद्ध और गौतमीय दोनों) लोग उदाहरण देने में नील का प्रयोग करते थे । जिस प्रकार नव्य-न्याय में 'घट' को उदाहरण के रूप में रखते हैं । इसलिए नील वस्तुवाचक है । क्षण = क्षणिक-पदार्थ या पदार्थ ।

तौ च क्रमाक्रमौ स्थायिनः सकाशाद् व्यावर्तमानौ अर्थ-

क्रियामपि व्यावर्तयन्तौ क्षणिकत्वपक्ष एव सत्त्वं व्यवस्थापयतः इति सिद्धम् ।

और ये दोनों क्रम-अक्रम स्थायी पदार्थ से पृथक् होकर, अर्थक्रिया को भी (स्थायी-पदार्थ से) पृथक् कर देते हैं तथा क्षणिकत्व के पक्ष में ही सत्ता होने की व्यवस्था करते हैं—यही सिद्ध करना था।

विशेष—यदि सत्ता स्थायी होती तो क्रम और अक्रम नहीं होता। स्थायी होने पर आगे-पीछे होने का प्रश्न तो उठता ही नहीं, पदार्थों की एककालिकता भी नहीं होगी क्योंकि सत्ता के खण्ड नहीं होंगे। इसलिए क्रम और अक्रम दोनों स्थितियों से स्थायी पृथक् है, अस्थायी पदार्थ में ही ये हो सकते हैं। सत्ता का लक्षण अर्थक्रिया के रूप में दिया गया है, स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि स्थायी यदि कारण बनकर अपनी सत्ता के नाश के बाद कार्य उत्पन्न करे तभी यह संभव है। सो हो नहीं सकता, यदि स्थायी है तो फिर नाश कैसे? अर्थक्रिया (कार्योत्पादन) जब होगी तब क्षणिक-पक्ष में। इसलिए अर्थक्रिया को स्थायी पदार्थ से पृथक् करके, स्वयं भी क्रम-अक्रम स्थायी से पृथक् रहते हैं (excluded) जिससे केवल क्षणिक वस्तुओं की सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार क्षणिकत्व-भावना की सिद्धि हुई।

(८. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नन्वक्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं किं न स्यादिति चेत्—तदयुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—वर्तमानार्थक्रियाकरण-कालेऽतीतानागतयोः किम् अर्थक्रिययोः स्थायिनः सामर्थ्यमस्ति नो वा। आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव यथा सामग्री स्वकार्यं० समर्थश्चायं भाव इति प्रसङ्गानुमानाच्च।

द्वितीये कदापि न कुर्यात्। सामर्थ्यमात्रानुबन्धित्वादर्थ-क्रियाकारित्वस्य। यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थं यथा हि शिलाशकलमङ्कुरे। न चैष वर्तमानार्थक्रियाकरणकाले वृत्त-वर्तिष्यमाणे अर्थक्रिये करोतीति तद्विपर्ययाच्च॥

[ऊपर यह सिद्ध कर चुके हैं कि अर्थक्रियाकारित्व (कार्योत्पादन की क्षमता) केवल क्षणिक पदार्थ मानने से होता है इसपर विरोधी लोग पूछ सकते हैं कि]

अ-क्षणिक पदार्थों (जैसे दूसरे दर्शनों में ईश्वर, घट, पट आदि जो स्थायी या नित्य माने गये हैं उनमें) में कार्योत्पादन की क्षमता क्यों नहीं होगी। [इसपर हमारा पक्ष है कि] ऐसा प्रश्न करना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि [निम्नलिखित] दोनों विकल्पों से यह असिद्ध हो जायगा (शब्दशः—दोनो विकल्पों को सहन नहीं कर सकेगा)। वह इस प्रकार है—वर्तमान कार्योत्पादन के (सम्पादन के) समय स्थायी, पदार्थ (अ-क्षणिक) में भूतकालिक और भविष्यत्कालिक कार्योत्पादन की सामर्थ्य है कि नहीं ? (अभिप्राय यह है कि जब कुम्भकार एक घड़े का निर्माण करता है तब भूतकालिक घट और भविष्यत् घट रूपी अर्थ को उत्पन्न करने वाली क्रिया करने की शक्ति उसमें है कि नहीं ?)।

यदि पहला पक्ष लेते हैं [कि सामर्थ्य है] तब भूत और भविष्यत् दोनों काल के कार्योत्पादनों (=अर्थक्रियाओं) को आप छोड़ नहीं सकते—ऐसी स्थिति आ जायगी (=एक समय में ही तीनों कालों के घटों के उत्पादन का प्रसंग हो जायगा, जो होता ही नहीं)। जो वस्तु किसी काम के करने में समर्थ होती है, वह तो कभी कालक्षेप (समय काटना) नहीं सहेगी [तुरत कार्य-संपादन कर देगी, क्षेप का योग उसमें कहाँ ?] इस प्रसंग या स्थिति का अनुमान हम यों कर सकते हैं—जो पदार्थ जिस काम को करने में जब भी समर्थ होता है, वह उसे उसी समय कर देता है जैसे—सामग्री (कारण के विभिन्न सहायक-तत्व (Conditions) अपने कार्य को उत्पन्न कर देती है। और यह भाव (अ-क्षणिक) चूँकि समर्थ है [इसलिए एक साथ ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों का कार्योत्पादन होने लगेगा—इस दोष से बचने के लिए पहले विकल्प को छोड़ देना ही अच्छा है।]

यदि दूसरा विकल्प (स्थायी में भूत और वर्तमान अर्थक्रिया बतलाने की शक्ति नहीं है) लेते हैं तब तो [और भी आनन्द है कि] कभी भी यह कुछ नहीं कर सकता। कारण यह है कि कार्योत्पादन केवल सामर्थ्य पर ही अवलम्बित है। (स्थायी पदार्थ यदि एक समय में असमर्थ हो गया तो दूसरे समय में भी असमर्थ ही रहेगा। दूसरे, असमर्थ वस्तु की अपेक्षा समर्थ वस्तु के स्वरूप में भेद करना आवश्यक हो जाता है, इससे वस्तु स्थायी नहीं रह सकती और मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा।) जो पदार्थ किसी भी समय किसी काम को नहीं करता, वह उसके लिए असमर्थ समझा जाता है जैसे—अंकुर को उगाने में चट्टान। और यह (भाव = स्थायी पदार्थ) वर्तमान क्रिया उत्पन्न करने के समय विगत और अनागत अर्थक्रियाओं को उत्पन्न नहीं करता—इस प्रकार का विपर्यय या विरोध होता है।

विशेष—१. यदि स्थायी पदार्थ वर्तमान अर्थक्रिया के समय भूत और भविष्य की अर्थक्रियाओं को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है तो दोष होगा कि एक साथ ही सभी काल की अर्थक्रियायें उत्पन्न हो जायंगी। समर्थ पुरुष तो उत्पादन करता है। क्या वह विचार करता है कि हम कब उत्पादन करें ? जब काम, तब समाप्ति। २. यदि वह वैसी शक्ति नहीं रखता तब कभी कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता; अगर असमर्थ हो तो क्रिया उत्पन्न करेगा कैसे ? जो समर्थ होगा वही न कुछ उत्पन्न कर सकता है ? इस प्रकार दोनों विकल्पों के खण्डित हो जाने से स्थायी में अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार नहीं करना होगा।

(९. सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता।)

ननु क्रमवत्सहकारिलाभात् स्थायिनोऽतीतानागतयोः क्रमेण करणमुपपद्यत इति चेत्—तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। सहकारिणः किं भावस्योपकुर्वन्ति न वा ? न चेन्नापेक्षणीयास्ते। अकिंचित्कुर्वतां तेषां तादर्थ्यायोगात्। अथ भावस्तैः सहकारिभिः सहैव कार्यं करोति इति स्वभाव इति चेत्—अङ्ग ! तर्हि सहकारिणो न जह्यात्। प्रत्युत पलायमानानपि गले पाशेन बद्ध्वा कृत्यं कुर्यात्। स्वभावस्यानपायात्।

फिर भी कोई कह सकता है—क्रम (पूर्वापरता, आगे-पीछे होना) से युक्त सहकारी क्रियाओं को स्वीकार करने पर, भूत और भविष्यत्काल में, स्थायी या अ-क्षणिक पदार्थ का क्रम के द्वारा अर्थक्रियाकारी होना (करण, कार्योत्पादन) सिद्ध तो हो ही जाता है। [अर्थ यह है कि अक्षणिक या स्थायी पदार्थ वही है जो तीनों कालों की क्रियाओं के उत्पादन में समर्थ हो तथा सदा एक ही तरह का हो। दूसरी ओर क्षणिक सत्ता एक क्षण में क्रिया उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, तीनों कालों में इसके रूप विभिन्न प्रकार के होते हैं। अस्तु, स्थायी एकरूप होने पर भी, जब जैसी सहकारी क्रियायें मिलती हैं तब वैसी ही कार्योत्पत्ति कर सकता है। इससे पदार्थों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करके, उनके होने पर भी, सत्ता को स्थायी मान लेते हैं। ऐसा मान लेने पर उपर्युक्त दोनों दोष—१. सब समय सभी वस्तुओं का उत्पादन और २. कभी भी किसी क्रिया का उत्पादन नहीं करना—मिट जायँगे। इस प्रकार कार्यों का क्रम सहकारी क्रियाओं के कार्यक्रम पर निर्भर करता है, न कि वस्तुओं की सामर्थ्य और असामर्थ्य पर। निष्कर्ष यह निकला कि सत्ता अक्षणिक = स्थायी है जिसमें

परिवर्तन सहकारी क्रियाओं के आने से होते हैं, विशेषतया उनके क्रम के कारण। अतः सत्ता क्षणिक नहीं, अक्षणिक है— यह तर्क पूर्वपक्षियों का है, अब इसका उत्तर क्षणिकवादी क्या देते हैं, देखा जाय।]

अगर ऐसी बात है तो जो आपसे पूछा जाता है, उसे बतावें—सहकारी क्रियायें (या पदार्थ) क्या भाव (स्थायी) का उपकार (सहायता) करती हैं कि नहीं ? [आशय यह है कि पूर्वपक्षियों के मत में जो घट, पट आदि स्थायी पदार्थ हैं उनके सहकारी जल, मिट्टी, वायु आदि पदार्थ घटादि के निर्माण में सहायता करते हैं कि नहीं—आप लोग क्या कहते हैं ?] यदि सहायता नहीं करते तो उनकी आवश्यकता ही नहीं है। वे (सहकारी) तो कुछ करते नहीं, इसलिए वे तदर्थ (भाव की सहायता के लिए) होंगे—ऐसा प्रसंग नहीं होगा (अर्थात् क्रियाहीन सहकारी पदार्थ भाव की सहायता नहीं करते तो उनके रहने की जरूरत ही नहीं—सहकारी के बिना ही भाव को सत्ता होने का प्रबन्ध करना पड़ेगा)।

इसी पक्ष में यदि एक और विकल्प दिया जाय कि स्थायी-भाव (घट, पट आदि) उन परिवर्तनशील सहकारियों (जल, मिट्टी, हवा, सूर्य की किरणें) के साथ-साथ कार्य करता है इसलिए स्वभाव के रूप में सहकारियों को लिया जाय, [तो क्या हानि है ?] [यदि उपर्युक्त विकल्प के आधार कर स्थायी के स्वभाव के रूप में सहकारियों को ग्रहण करें तब समस्या यह उठेगी कि स्थायी पदार्थ] तब तो सहकारियों को छोड़ ही नहीं सकता, बल्कि भागने वाले (सहकारियों) के गले में फन्दा डालकर कृत्य (करने योग्य) कार्य स्वयं करेगा। कारण यह है कि स्वभाव को हटा नहीं सकते। [सहकारी यदि स्थायी के स्वभाव हैं, अपने ही रूप हैं तब तो उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता; सभी सहकारी खोज-खोज कर कार्य की उत्पत्ति के लिए लाये जावेंगे। इस प्रकार, सत्ता = अक्षणिक + सहकारी (एक ही स्वभाव के रूप में)]।

उपकारकत्वपक्षे सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा। भेदपक्ष आगन्तुकस्यैव तस्य कारणत्वं स्यात्। न भावस्याक्षणिकस्य। आगन्तुकातिशयान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्कार्यस्य। तदुक्तम्—

४. वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥ इति।

यदि सहकारियों को भाव (स्थायी) का उपकार करनेवाला मानते हैं तो इसमें भी प्रश्न होगा कि यह उपकार क्या वे भाव से अलग होकर करते हैं या नहीं (=बिना अलग हुए ही) ? [सहकारी पदार्थ जैसे मिट्टी आदि, स्थायी पदार्थ जैसे घटादि की उत्पत्ति में सहायता करते हुए उससे पृथक् रहते हैं या नहीं ? दूसरे शब्दों में, सहकारियों से उत्पन्न, स्थायी में रहने वाला विशेष (उपकार), अपने आश्रय स्थायी भाव से भिन्न है या नहीं ? इसके बाद भेद-पक्ष के विकल्प को लेकर बहुत बड़ा विवेचन किया गया है। यह दिखाया जायगा कि भेदपक्ष को स्वीकार करने पर अनवस्था-दोष (Argumentum ad Infinitum) होगा। इसलिए अन्तिम निर्णय होगा कि क्षणिक के रूप में ही सत्ता है।]

यदि यह कहें कि सहकारी स्थायी से भिन्न है तो जो सहकारी पदार्थ आगन्तुक (जैसे पानी, हवा, मिट्टी) हैं वे ही कारण कहलायेंगे (जो कार्य के उत्पादन में प्रधान होता है वही कारण है, जिसका निर्णय अन्वय व्यतिरेक से होता है) । अक्षणिक-भाव कारण नहीं होगा [क्योंकि कार्योत्पत्ति में उसका कोई हाथ नहीं, असल में कार्य तो सहकारी पदार्थ अक्षणिक से पृथक् होकर कर रहे हैं]। कार्य तो आगन्तुक सर्वाधिक (सहायक) के अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध होता है (आगन्तुक के साथ कार्य का अन्वय और व्यतिरेक ठीक-ठीक बैठ जाता है, अक्षणिक के साथ नहीं—इसलिए आगन्तुक कारण है और बाद में आनेवाला पदार्थ कार्य है।) अतिशय = बहुग्गुणाँश्चिन्तयित्वा सामान्यजनसंभवान्। विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः। [उक्त स्थिति को यों स्पष्ट करें—बीज स्थायी पदार्थ (भाव) है, उसमें आने वाले सहकारी अतिशय (सबसे बड़े उपयोगी) के होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, यह अन्वय हुआ। इस प्रकार के अतिशय के अभाव में अंकुर का उत्पन्न न होना, यह व्यतिरेक है। अब इस प्रकार अंकुर (कार्य) की उत्पत्ति अतिशय (सहकारी) के अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है जिसका फल है कि अतिशय ही अंकुरोत्पत्ति का कारण है न कि बीज। जो जिसके रहने पर रहे, नहीं रहने पर नहीं रहे—वही तो उस पदार्थ का कारण होता है ! यह बात हम सहकारी अतिशय के साथ देखते हैं स्थायी बीज के साथ नहीं। इसलिए स्थायी (पदार्थ, बीज) कारण नहीं होगा। उसे कारण मान लेने पर अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती। बीजाभाव में अंकुराभाव ठीक है (व्यतिरेक), परन्तु बीज होने पर अंकुर होना (अन्वय) ठीक नहीं है। इसलिए स्थायी पदार्थ कारण नहीं होगा, उसका सहकारी (सहकारियों में भी सर्वाधिक उपयोगी अतिशय) ही कारण हो सकता है।]'

कहा भी है—वर्षा और घूप से आकाश को क्या ? दोनों का फल चमड़े पर हो सकता है। यदि [वह स्थायी भाव] चमड़े के समान हो तब तो वह अनित्य हो जाता है, यदि वह आकाश के समान हो तो फलहीन (निष्फल) हो जाता है। [आशय यह है कि आकाश अविकारी है, उस पर वर्षा और घूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—वर्षा हो या घूप, आकाश ज्यों-का-त्यों रहता है। हाँ, प्रभाव पड़ता है तो चमड़े पर, वर्षा से चमड़ा ठंढा हो जायगा, घूप से गर्म। इस प्रकार मनुष्यों के शरीर पर उसका प्रभाव है क्योंकि चर्म विकारी है। अब पूछा जाय कि स्थायी भाव विकारी (चर्मवत्) है कि अविकारी (आकाशवत्) ? दोनों दशाओं में दोष हैं। स्थायी के रूप में माना गया बीज यदि विकार के योग्य (विकारी) है तथा सहकारियों से उत्पन्न होने वाले अतिशय के द्वारा विकृत होता है तब तो वह भाव अनित्य है क्योंकि नित्य पदार्थ में तो विकार होता ही नहीं। दूसरी ओर, यदि वह आकाश के समान अविकारी माना जाय तब तो निष्प्रयोजन ही हो जायगा। सहकारियों से उत्पन्न विशेष फल (अतिशय) की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि अतिशय के होने पर भी तो स्थायी पदार्थ बदल सकेगा ही नहीं। जल, वायु आदि सहकारियों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। फल यह हुआ कि स्थायी पदार्थ को सत्ता के रूप में मानने से दोष ही दोष उत्पन्न होंगे।]

(१०. अतिशय का दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष)

किं च, सहकारिजन्योऽतिशयः किमतिशयान्तरमारभते न वा ? उभयथाऽपि प्रागुक्तदूषणपाषाणवर्षणप्रसङ्गः। अतिशयान्तरारम्भपक्षे बहुमुखानवस्थादौःस्थ्यमपि स्यात्। अतिशये जनयितव्ये सहकार्यन्तरापेक्षायां तत्परम्परापात इत्येकानवस्थाऽऽस्थेया।

तथा सहकारिभिः सलिलपवनादिभिः पदार्थसार्थैराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमभ्युपेयम्। अपरथा तदभावेऽप्यतिशयः प्रादुर्भवेत्।

इसके अतिरिक्त [हम यह भी पूछते हैं कि] सहकारियों से उत्पन्न अतिशय (सर्वाधिक सहयोगी वस्तु) क्या दूसरे अतिशय को [कार्योत्पत्ति के लिए] उत्पन्न करता है कि नहीं ? दोनों स्थितियों में पूर्वोक्त दोषों के पाषाण की वर्षा होगी। [सलिल, पवनादि से उत्पन्न, बीज में रहने पर भी बीज से बिल्कुल

भिन्न अतिशय बीज में दूसरे अतिशय को यदि उत्पन्न नहीं करता तो सहकारियों से उत्पन्न अतिशय होने का फल ही क्या है ? यही नहीं, सहकारिजन्य अतिशय की उत्पत्ति के पूर्व बीज से अंकुर की उत्पत्ति भी हो जा सकेगी। दूसरी ओर, यदि सहकारिजन्य प्रथम अतिशय बीज में ही द्वितीय अतिशय उत्पन्न कर देता है, तो फिर वह द्वितीय अतिशय भी जो बीज से अत्यन्त भिन्न है बीज में तृतीय अतिशय उत्पन्न करेगा कि नहीं—इस प्रश्न के साथ-साथ अनवस्था बढ़ती ही जायगी (अभ्यंकर)। अतिशय को बीज (स्थायी) से अभिन्न करके भी दोष दिखाया गया है—'अथ भावादभिन्नोऽतिशयः'०। भेदपक्ष में ही और भी दोष होंगे, यह आगे दिखाते हैं—] यदि हम इस पक्ष को लें कि एक अतिशय दूसरे अतिशय को उत्पन्न करता है तो बहुत प्रकार की अनवस्था होने का दोष संभव है। (दूसरे अतिशय को इसलिए आरंभ करते हैं कि एक अतिशय से काम नहीं चलता। यह उत्पत्ति सहकारियों में दूसरे सहकारियों से होती है या स्थायी बीज में दूसरे सहकारियों से या अतिशयों में बीजादि स्थायी पदार्थों से या बीजादि में ही अतिशयों से होती है। जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ती है वहाँ वैसा ही विशेष उत्पन्न करना चाहिए। इसके बाद अनवस्थाओं का ताँता लग जाता है।)

जो अतिशय उत्पन्न करता है उसमें दूसरे सहकारी की आवश्यकता होगी तथा उनकी अनन्त परंपराओं के आ जाने से **एक अनवस्था** तो तुरत मान लेनी पड़ेगी। (अतिशय के उत्पादन में यदि दूसरे सहकारी की आवश्यकता नहीं रहे तो यह उत्पत्ति स्वाभाविक मानी जायगी और सलिलादि सहकारी गण बीजादि से ही अतिशय का उत्पादन करने लगेंगे। अब दूसरे प्रकार से तीन अनवस्थायें दिखाते हैं—) वैसा होने पर सलिल, पवन-आदि सहकारी पदार्थों की सहायता से रखे गये बीज के अतिशय में बीज को ही उत्पादक समझ लें; नहीं तो, उन (सहकारियों) के अभाव में भी अतिशय उत्पन्न हो सकता है। (ऊपर के वाक्य में यदि बीज के अतिशय में ही बीज को उत्पादक समझ लेते हैं तो बीज में स्थित अतिशय ही नैमित्तिक कारण सिद्ध हो जाता है। अपरथा= बीज में स्थित अतिशय यदि दूसरे अतिशय को उत्पन्न करे तब; अतिशय के स्वाभाविक होने पर)।

(११. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं० १)

बीजं चातिशयमादधानं, सहकारिसापेक्षमेवाधत्ते। अन्यथा सर्वदोपकारापत्तौ अङ्कुरस्यापि सदोदयः प्रसज्येत। तस्मादति-

शयार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिः अतिशयान्तरमाधेयं बीजे। तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन सहकारिसापेक्षस्य बीजस्य जनकत्वे सहकारिसंपाद्यबीजगतातिशयानवस्था प्रथमा व्यवस्थिता।

बीज एक अतिशय का ग्रहण करते हुए, दूसरे सहकारी भाव की आवश्यकता होने के कारण ही ऐसा करता है। नहीं तो (=अर्थात् यदि अतिशय का ग्रहण करना दूसरे सहकारी की आवश्यकता के कारण न हो बल्कि उसे स्वभावतः माना जाय), यदि [जल आदि सहकारियों को पकड़कर] सदैव बीज से अतिशय ग्रहण किया जाय तब ऐसा प्रसंग हो जायगा कि बीज से सदा अंकुर निकलता रहेगा। (फलित यह है कि बीज यदि सहकारी भाव की आवश्यकता न रखे और अतिशय से ही काम चला ले तो सदा अंकुर की उत्पत्ति होती रहेगी क्योंकि कारणस्वरूप बीज से अतिशय ग्रहण करने पर कार्यस्वरूप अंकुर भी उसी प्रकार उत्पन्न होता रहेगा)।

इसलिए प्रथम अतिशय को धारण करने के लिए अपेक्षित दूसरे सहकारी भावों को चाहिए कि वे बीज में दूसरे अतिशय को भी धारण करें। इस प्रकार से उपकार हो जाने पर (=अतिशयान्तर के मिल जाने पर) तथा पहले की तरह सहकारियों की अपेक्षा रखनेवाले बीज के [आधाररूप में] उत्पादक बन जाने पर (=जब बीज सहकारियों की सहायता से उत्पादक बन जाय तब), पहली अनवस्था उत्पन्न हो जाती है जो सहकारियों की सहायता से संपन्न होने वाले बीज के अतिशय से सम्बद्ध रहती है। (बीज के सहकारियों और अतिशय की एक अनन्त परम्परा चल पड़ती है जब कभी भी एक अतिशय दूसरे को उत्पन्न करने लगता है)।

(११. अनवस्था सं० २)

अथोपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणोऽपि बीजादिनिरपेक्षं कार्यं जनयति तत्सापेक्षं वा। प्रथमे बीजादेरहेतुत्वमापतेत्। द्वितीयेऽपेक्ष्यमाणेन बीजादिनोपकारेऽतिशय आधेयः। एवं तत्र तत्रापीति बीजादिजन्यातिशयनिष्ठातिशयपरम्परापात इति द्वितीयानवस्था स्थिरा भवेत्।

[अब हम पूछते हैं कि] इस प्रकार का उपकार (अतिशय का धारण) कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित होने पर भी बीज-आदि से पृथक् होकर कार्य को उत्पन्न करता है या उनकी अपेक्षा भी रखता है? यदि पहला विकल्प लेते हैं

तो बीज-आदि कभी भी कारण नहीं हो सकते (क्योंकि कारण वही है जो कार्योत्पत्ति में सहायक हो लेकिन यहाँ बीज वैसा नहीं है)। दूसरे विकल्प को लेने पर, अपेक्षित बीज-आदि को उपकार होने पर अतिशय लेना चाहिए। इस तरह उन-उन अवस्थाओं में भी, बीजादि से उत्पन्न अतिशय में अतिशयों की एक अनन्त परम्परा चल पड़ेगी जिससे दूसरी अनवस्था भी दृढ़ हो जाती है।

(११. अनवस्था सं० ३)

एवमपेक्ष्यमाणेनोपकारेण बीजादौ धर्मिण्युपकारान्तरमाधेयम्–इत्युपकाराधेयबीजाश्रयातिशयपरम्परापात इति तृतीयानवस्था दुरवस्था स्यात्।

इस प्रकार अपेक्षित उपकार को चाहिए कि वह [अतिशय के] धर्मी (विषयी) बीजादि में दूसरे उपकार का ग्रहण करे—इस तरह उपकार से उत्पन्न बीज के आश्रय (अतिशय) में रहनेवाले अतिशयों को अनन्त परम्परा फिर शुरू हो जायगी और यह तीसरी अनवस्था भी हटाना कठिन है।

विशेष—ऊपर एक अतिशय से दूसरे अतिशय को उत्पन्न किये जाने पर अनवस्थायें होती हैं—यह दिखाया गया। कुल तीन अनवस्थायें दिखलाई गई हैं। यह पूरा अवतरण उस विकल्प की व्याख्या है जिसमें कहा गया है कि उपकार भाव से भिन्न है। यह विकल्प यहाँ से शुरू किया गया है—सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा ? (देखिये–९वें परिच्छेद का दूसरा खंड)। इसके बाद, उपकार स्थायी भाव से अभिन्न है, इस विकल्प की परीक्षा होनेवाली है।

(१२. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति)

अथ भावादभिन्नोऽतिशयः सहकारिभिराधीयत इत्यभ्युपगम्येत, तर्हि प्राचीनो भावोऽनतिशयात्मा निवृत्तोऽन्यश्चातिशयात्मा कुर्वद्रूपादिपदवेदनीयो जायत इति फलितं ममापि मनोरथद्रुमेण। तस्मात्क्रमेण अक्षणिकस्य अर्थक्रिया दुर्घटा।

दूसरी ओर अगर यह स्वीकार करते हैं कि अतिशय भाव (स्थायी पदार्थ) से भिन्न नहीं है और सहकारियों के द्वारा गृहीत होता है (अर्थात् भाव और अतिशय दोनों समान हों, अतिशय स्थायी भाव का ही अवस्था-विशेष हो), तब तो प्राचीन भाव जो अतिशय नहीं है अवश्य ही निवृत्त (समाप्त) हो जायगा और एक दूसरा भाव अतिशय के रूप में उत्पन्न हो जायगा जिसे 'कुर्वद्रूप' (कार्योत्पादक वस्तु) आदि शब्दों से जानते हैं। मेरे मनोरथ के

वृक्ष का भी तो यही फल है (अर्थात् मेरी ही बात सिद्ध हो गई)। इस प्रकार **'क्रम'** के द्वारा अक्षणिक (स्थायी) की अर्थक्रिया (कार्योत्पादिका) सिद्ध करना कठिन है।

विशेष—उपर्युक्त लम्बे विवेचन में यह सिद्ध किया जा रहा था कि क्रम-नियम (एक के बाद दूसरे का होना) से स्थायी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता—क्षणिक-पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी होगा; क्षणिक ही सत् है। इस परिच्छेद में कहने का अभिप्राय यह है कि जलादि सहकारियों के द्वारा अतिशय के उत्पन्न होने पर भी यदि स्थायी बीजादि दूसरी अवस्था (कार्य रूप) में नहीं पहुंच जाते किन्तु अपनी पूर्वावस्था में ही अवस्थित रहते हैं, तब तो अतिशय का होना ही व्यर्थ है इसलिए सहकारी जलादि का मिलना भी व्यर्थ है। यदि दूसरी अवस्था में पहुँच जाते हैं तब तो 'क्षणिक' की ही सिद्धि हो जाती है—एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आना ही सिद्ध करता है कि पहली अवस्था क्षणिक है ∴ पूरी सत्ता ही क्षणिक है।

(१३. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नाप्यक्रमेण घटते। विकल्पासहत्वात्। तथाहि—युगपत्सकलकार्यकरणसमर्थः स्वभावस्तदुत्तरकालमनुवर्तते न वा? प्रथमे तत्कालवत्कालान्तरेपि तावत्कार्यकरणमापतेत्। द्वितीये स्थायित्वव्रत्याशा मूषिकभक्षितबीजादौ अङ्कुरादिजननप्रार्थनामनुहरेत्।

अक्रम (एक साथ उत्पन्न होना) के नियम से भी [अक्षणिक-पदार्थ का अर्थक्रियाकारी होना] सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि विकल्पों को यह सह नहीं सकता (=दो विकल्पों के खण्डन से इस वाक्य का भी खण्डन हो जाता है)। वह इस प्रकार होता है—एक ही साथ सभी काम करने में समर्थ स्वभाव[1] कार्य की उत्पत्ति के बाद भी रहता है या नहीं (या नहीं=या एक साथ कार्य उत्पन्न करके रह जाता है)? यदि पहले विकल्प को लेते हैं तो स्वभाव एक काल में जितना काम करता है उतना ही दूसरे काल में भी करने लगेगा [क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के बाद भी स्वभाव तो बदलेगा ही नहीं, दूसरे काल में उसकी सत्ता रहेगी ही और वह उसी परिमाण में निरन्तर—कालान्तर

१. स० द० सं० की कुछ प्रतियों में **स्वभावः** के स्थान में **स भावः** पाठ है लेकिन वह ठीक नहीं। भाव नहीं रहने से ही विरुद्ध धर्म पर आरोपित आश्रय की विभिन्नता रूपी साधन अनुपयोगी हो सकता है।

में भी—कार्य उत्पन्न करते रहेगा । लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि कार्योत्पत्ति केवल एक बार होती है, उसी स्वभाव से पुनः पुनः कार्योत्पत्ति, एक ही परिमाण में, नहीं होती । यही तो सत्ता को स्थायी मानने का परिणाम है! इसलिए अक्रम-नियम (Method of Simultaneity) के प्रथम विकल्प से अक्षणिक-सत्ता का खण्डन हो जाता है क्योंकि इसमें कठिनाई (absurdity) उत्पन्न हो जाती है]।

यदि दूसरे विकल्प (स्वभाव एक साथ कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है) को लेते हैं तो स्वभाव के स्थायी होने की आशा उतनी ही सफल होगी जितनी चूहे के खाये हुए बीजादि में अंकुरादि उत्पन्न होने की प्रार्थना ! (अर्थात् जिस प्रकार चूहे के खाये हुए बीज नहीं उग सकते उसी प्रकार यह मानकर कि स्वभाव कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है, स्वभाव का स्थायित्व स्वीकार नहीं कर सकते । जब कोई भाव अपना कार्य करके समाप्त हो जाय तो इसका अभिप्राय है कि वह क्षणिक है । इस दृष्टिकोण से भी बौद्धों के मत—क्षणिक-वाद—की पुष्टि होती है । इसके लिए अभी प्रयोग दिये जायँगे कि बीजादि भाव क्षण-क्षण में भिन्न होते हैं क्योंकि उनसे क्षण-क्षण में विरुद्ध धर्म आते-जाते हैं इत्यादि……)।

(१३ क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय)

यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं तन्नाना, यथा शीतोष्णे । विरुद्धधर्माध्यस्तश्चायमिति जलधरे प्रतिबन्धसिद्धिः । न चायमसिद्धो हेतुः । स्थायिनि कालभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोः प्रसङ्गतद्विपर्ययसिद्धत्वात् । तत्रासामर्थ्यसाधकौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ प्रागुक्तौ ।

जिन वस्तुओं पर विरुद्ध धर्म आरोपित होते हैं वे नाना प्रकार की (एक प्रकार की नहीं) हैं उनमें परस्पर भेद है, जैसे शीत और उष्ण । यहाँ स्वभाव पर विरुद्ध-धर्मों का आरोप हुआ है—इसी तरह मेघ में भी व्याप्ति की सिद्धि होती है । (प्रतिबन्ध = व्याप्ति । मेघ को भी सिद्ध करते हैं कि इसकी सत्ता स्थायी नहीं, क्षणिक ही है । वह कैसे ? मेघ प्रतिक्षण में नये-नये स्वरूप का प्रदर्शन करता है इसलिए उसमें क्षण-क्षण विरुद्ध धर्म तो आते ही हैं और इसीलिए वह नाना प्रकार का है । न्याय की भाषा में कहेंगे कि विरुद्ध धर्म के आरोपण और नानात्व में व्याप्ति है । यही व्याप्ति जलधर के नानात्व की सिद्धि करती है) । वहाँ यह हेतु (विरुद्धधर्म का आरोपित होना) असिद्ध नहीं है । कारण यह है कि स्थायी (बीजादि) पदार्थ में काल के भेद से सामर्थ्य और

असामर्थ्य दोनों का प्रसंग (असत् से सत् की सिद्धि) और प्रसंगविपर्यय (सत् से सत् की सिद्धि)—ये सिद्ध होते हैं। इनमें असामर्थ्य के साधक प्रसंग और उसका विपर्यय पहले ही कहे जा चुके हैं (देखिये-परि० ८)।

विशेष—असिद्ध हेतु उसे कहते हैं जब हेतु या अनुमान का साधन (Middle Term) साध्य के समान ही सिद्धि की अपेक्षा करे; उसकी सत्ता सन्दिग्ध हो जैसे—

गगनारविन्द सुगन्धित है (निष्कर्ष)
क्योंकि वह (गगनारविन्द) अरविन्द (कमल) है—हेतु,
जो कमल हैं वे सुगन्धित हैं जैसे तालाब का कमल।

यहाँ अरविन्दत्व हेतु है जिसका आश्रय है गगनारविन्द। वह होता ही नहीं इसलिए यहाँ हेतु आश्रय के विषय में असिद्ध अर्थात् आश्रयासिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभास को प्राचीन नैयायिक साध्यसम कहते हैं। असिद्ध के तीन भेद हैं— (१) आश्रयासिद्ध (उपर्युक्त उदाहरण) (२) स्वरूपासिद्ध (हेतु का स्वरूपतः पक्ष में न रहना) और (३) व्याप्यत्वासिद्ध (सोपाधिक हेतु)। इनके विस्तृत विवेचन के लिये न्यायदर्शन देखें।

यहाँ पर प्रतिपक्षी लोग शंका उठाते हैं कि 'यद्विरुद्धधर्मा०' वाले अनुमान में भी स्वरूपासिद्ध नामक दोष है। पहले स्वरूपासिद्ध समझ लें। उदाहरण है—

सभी चाक्षुष (Visual) पदार्थ गुण हैं (बृहत् वाक्य),
शब्द चाक्षुष पदार्थ है (लघु वाक्य),
∴ शब्द गुण है (निष्कर्ष)।

यहाँ लघुवाक्य में जो चाक्षुषत्व (हेतु Middle Term) का सम्बन्ध शब्द से दिखाया गया है वह स्वरूपतः असिद्ध है क्योंकि शब्द चाक्षुष नहीं, उसका अपना गुण है श्रावण होना, अर्थात् श्रवण (कानों) से सम्बद्ध है। उसी प्रकार इस अनुमान में—

जो विरुद्धधर्मों से परिपूर्ण है वह नानाप्रकारक है (Major Pr.)
बीजादि विरुद्ध धर्मों से परिपूर्ण हैं (Minor Pr.)
∴ बीजादि नानाप्रकारक (diverse) हैं। (concl.)

शंका यह है कि बीजादि (पक्ष) में काल का भेद होने पर भी तो विरुद्ध धर्मों से परिपूर्णता नहीं देखते। इसीलिए वे लोग असिद्ध हेतु मानते हैं जिसका खण्डन 'न चायमसिद्धो हेतुः' कहकर किया जा रहा है।

प्रसंग और उसका विपर्यय—व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा जिस अनुमान का प्रदर्शन होता है उसे प्रसंगानुमान कहते हैं। दूसरी ओर, अन्वय-व्याप्ति के द्वारा

प्रदर्शित अनुमान को प्रसंगविपर्ययानुमान कहते हैं। यों असत् से सत् को सिद्ध करना प्रसंग कहलाता है। उदाहरण लें—पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि वहाँ धूम (हेतु) है। इसमें जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम का भी अभाव है जैसे तालाब में—यही व्यतिरेक-व्याप्ति है। इस प्रकार पर्वत में धूमाभाव असत् है उसे सत् सिद्ध कर रहे हैं—यदि तालाब के समान पर्वत में भी अग्नि नहीं है तब तो धूम भी नहीं हो सकता। इस धूमाभाव की सिद्धि के साथ पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यही हुआ प्रसगानुमान।

इस स्थान पर स्थायी पदार्थ (बीजादि) में वर्तमान अर्थक्रिया-करण (कार्योत्पत्ति) के समय अतीत और भविष्यत् में अर्थक्रियाकरण की असमर्थता सिद्ध करनी है (साध्य है)। हम इसे इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि एक समय (वर्तमान) में तो यह अतीत और भविष्य के कार्यों को उत्पन्न नहीं करता (करण को अकरण के द्वारा सिद्ध करते हैं)। तब हम व्यतिरेक व्याप्ति की सहायता लेते हैं—जो समर्थ है वह तो काम तो करता ही है। इससे वर्तमान अर्थक्रियाकरण के समय अतीत और भविष्य की अर्थक्रिया का करण सिद्ध होता है। इस तरह की सिद्धि के साथ-साथ वर्तमानकाल में अतीत और भविष्य की अर्थक्रिया के अकरण को देखकर उसकी असमर्थता सिद्ध हो गई। आठवें परिच्छेद में इसका विचार 'आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः' आदि कह कर किया गया है। यहाँ उसकी आवश्यकता देखकर पुनः विस्तृत व्याख्या की गई।[1]

दूसरी ओर प्रसंगविपर्यय उसे कहते हैं जहाँ सत् से सत् का ज्ञान दिखाया जाय। उदाहरणतः, 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है यह अन्वय-व्याप्ति दिखाकर पर्वत में सत् (existent) धूम को दिखाया जाय। इससे अग्नि का अनुमान होता है। असामर्थ्य-साधक प्रसंगविपर्यय भी उसी क्रम में वर्णित हो चुका है—'यद् यदा यन्न करोति०' इत्यादि। उसमें भी सिद्ध हुआ है कि वर्तमान अर्थक्रिया के काल में अतीत और भविष्य की कार्योत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार असामर्थ्य के द्वारा स्थायी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। अब 'सामर्थ्य' का सामर्थ्य भी देखें।

(१३ ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय)

सामर्थ्यसाधकावभिधीयेते। यद्यदा यज्जननासमर्थं तत्तदा तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम्। असमर्थश्चायं वर्तमानार्थ-

---

१—(१) यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव—प्रसङ्गानुमानम्।
(२) यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थम्—प्रसङ्गानुमानविपर्ययः।

क्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोरर्थक्रिययोरिति प्रसङ्गः । यद्यदा यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थं यथा सामग्री स्वकार्ये । करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थक्रिये भाव इति प्रसङ्गव्यत्ययो विपर्ययः ।

अब हम सामर्थ्य के साधक [प्रसंग और उसके विपर्यय] का वर्णन करते हैं। एक समय में जो पदार्थ जिस किसी दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करने में असमर्थ है, उस समय वह उसे उत्पन्न नहीं करता जैसे पत्थर का टुकड़ा अंकुर को [उत्पन्न नहीं करता क्योंकि पत्थर के टुकड़े में असमर्थता है]। यह (बीजादि भाव) अर्थक्रिया करने के समय अतीत और अनागत (भविष्य) की अर्थ-क्रियाओं के करने में असमर्थ है—इस प्रकार प्रसंग हुआ (= प्रसंगानुमान)।

एक समय में जो जिसे उत्पन्न करता है वह उस समय में उसके लिए समर्थ है जैसे कारणों की पूरी सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिए। यह भाव अतीत और अनागत काल में उस समय में चलनेवाली अर्थ क्रियाओं को उत्पन्न करता है (∴ वह उनके लिए समर्थ है)।—इस प्रकार प्रसंग का उल्लंघन करनेवाला उसका विपर्यय है।

विशेष—सामर्थ्यसाधक और असामर्थ्य-साधक के निम्नोक्त प्रकार से अनुमान होते हैं जिनमें ये व्याप्तियाँ हैं। क्रिया-करण और सामर्थ्य के समनियत होने के कारण दोनों (क्रियाकरण तथा सामर्थ्य) में व्याप्त और व्यापक का परस्पर भाव रहता है इसलिए दो व्याप्तियाँ होती हैं—(१) यत्करोति तत्स-मर्थम् (क्रियाकरण—व्याप्य, सामर्थ्य—व्यापक), (२) यत्समर्थं तत्करोति (सामर्थ्य—व्याप्य, क्रियाकरण—व्यापक)। इसी प्रकार क्रिया के अकरण और असामर्थ्य में भी व्याप्य-व्यापक का भाव है जिससे दो व्याप्तियाँ हो सकती हैं—(३) यन्न करोति तदसमर्थम् (क्रिया-अकरण—व्याप्य, असामर्थ्य—व्यापक), (४) यदसमर्थं तन्न करोति (असामर्थ्य—व्याप्य, क्रिया-अकरण—व्यापक)। इन चारों व्याप्तियों पर विचार करने पर पहली सामर्थ्यसाधिका अन्वयव्याप्ति निकलती है, दूसरी असामर्थ्यसाधिका व्यतिरेकव्याप्ति, तीसरी असामर्थ्यसाधिका अन्वयव्याप्ति और चौथी सामर्थ्यसाधिका व्यतिरेकव्याप्ति है। इन्हीं का संकलन ऊपर के अनुमानों में किया गया है।

(१४. निष्कर्ष—क्षणिकवाद की स्थापना)

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या, व्यापकानुपलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिकं, प्रसङ्गतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वय-

व्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम् । तदुक्तं ज्ञानश्रिया—

५. यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्
द्वेधापि क्षणभङ्गसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥

इसलिए [अब सारे तर्कों का निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि] सत्ता क्षणिकत्व के पक्ष में ही व्यवस्थित होती है—यही सिद्ध हुआ । इसके ये कारण हैं—(१) विपक्ष (अक्षणिक, स्थायी) में क्रम और यौगपद्य (अक्रम, एक साथ होना)—दोनों की असिद्धि हो जाती है । [विपक्ष वह है जो निश्चित साध्य का अभाव धारण करे—निश्चितसाध्याभाववान्विपक्षः । जब बौद्ध लोग क्षणिकत्व की स्थापना करते हैं तो उनके लिए क्षणिकत्व साध्य है और उसके विरुद्ध अक्षणिक माने गये ईश्वर, घट, पटादि विपक्ष हैं । ∴ विपक्ष = स्थायी (यहाँ पर) । ऊपर दिखला चुके हैं कि स्थायी भाव क्रम या अक्रम से भी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता ।] इसके फलस्वरूप व्यापक के अनुपलम्भ से सत्त्व में व्यतिरेक-व्याप्ति प्राप्त होती है । [आशय यह है—अर्थक्रियाकारित्व व्याप्य है और क्रम या अक्रम में से कोई एक व्यापक बन जाता है । जब ईश्वरादि स्थायी पदार्थ में क्रम या अक्रम का अभाव सिद्ध करते हैं तो व्याप्य अर्थक्रियाकारित्व का भी अभाव हो जाता है । व्यापक के अभाव में व्याप्य का अभाव होना व्यतिरेक व्याप्ति है, इसलिए यहाँ भी व्यतिरेक व्याप्ति से सिद्ध होता है कि अक्षणिक पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व नहीं होगा और चूँकि सत्ता के लिए अर्थक्रियाकारी होना आवश्यक है, सत्ता को क्षणिक होना चाहिए ।] (२) प्रसंग और उसके विपर्यय के बल से सत्त्व में अन्वयव्याप्ति का ग्रहण होता है । [व्याप्य के सत् होने से व्यापक का सत् होना, यही अन्वयव्याप्ति है । उदाहरणार्थ—जो सत् है वह क्षणिक है । सत्ता अर्थक्रियाकारी होती है । यदि उसे क्षणिक न मानकर (विपक्ष में) नित्य स्वीकार करते हैं तो उसमें सामर्थ्य होने से भाव (सत्ता) सदा सभी कार्यों को उत्पन्न करने लगेगा—यह प्रसंग है । सामर्थ्य न होने से कभी नहीं करेगा—यह विपर्यय है; इसलिए अर्थक्रियाकारी को (साथ-साथ, सत्ता को) क्षणिक होना परम आवश्यक है—यह अन्वयव्याप्ति है । इस प्रकार दोनों से क्षणिक-सत्ता की सिद्धि होती है ।]

ज्ञानश्री ने भी कहा है—'जिसकी सत्ता है, वह क्षणिक है जैसे—जलधर

और ये सत्ता-सम्पन्न भाव (वस्तुएँ—घट, पटादि)। अर्थ-कर्म की जो शक्ति (=कुछ चीज उत्पन्न करने का सामर्थ्य) है वही सत्ता है, इसमें प्रमाण (मिति) है [जिससे न तो कोई वस्तु ही उत्पन्न होती और न ज्ञान ही, वैसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उसके अस्तित्व का प्रमाण कौन देगा ? अर्थकर्म की शक्ति रखने वाले पदार्थ की सत्ता का प्रमाण तो है]। यह सत्ता सिद्ध (स्थिर) पदार्थों में स्थिर नहीं है (किन्तु क्षणिक पदार्थों में ही सिद्ध है और स्वयं भी यह सत्ता क्षणिक ही है)। [अक्षणिक से कार्योत्पत्ति का] एक ही प्रकार नहीं है [किन्तु स्वाभाविक होने पर क्रम से या अक्रम से (एक साथ) होता है।] नहीं तो दूसरे के द्वारा भी दूसरे की क्रिया उत्पन्न हो सकती है। (=कार्योत्पादन अगर नैमित्तिक नहीं हो तो सहकारी उपकार के द्वारा भी कार्योत्पत्ति होगी, कारण की आवश्यकता ही नहीं है—इससे भी कारण अक्षणिक नहीं होता, वह क्षणिक ही रहता है।) इस प्रकार दोनों रीतियों (क्रम और अक्रम) से क्षण में पदार्थों के भंग (विनाश) की संगति (सिद्धि) होती है और अंत में हमारे साध्य (क्षणिकं क्षणिकम्) को ही सिद्ध करती है।'

विशेष—ऊपर बौद्धों की एक भावना 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' की व्याख्या विधिवत् की गई है। इसमें सत्ता-विषयक विरोधी वाद (स्थायिवाद) का युक्तियुक्त खण्डन करके अपने पक्ष की सम्यक् प्रतिष्ठा हुई है। तदनुसार संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, परिवर्तनशील हैं। उनकी परिवृत्ति क्षण-क्षण में होती जा रही है। एक ही चीज को हम दो बार नहीं देख सकते, एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते और न एक ही मनुष्य को दो बार प्रणाम कर सकते हैं। किसी की भी सत्ता क्षणमात्र के लिए है—कार्योत्पत्ति ही वस्तुओं का उद्देश्य है। एक क्षण में रहना, दूसरे क्षण में अर्थक्रिया और विनाश—यही है बौद्धों का सत्ताविषयक सिद्धान्त। वैभाषिक और सौत्रान्तिक लोग तो इस पर और भी जोर देते हैं। पाश्चात्त्य-दार्शनिक वस्तुओं की क्षणिकता में देश और काल को बड़ा महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार क्षण-क्षण में वस्तुओं का देश (Space, place) और काल (Time) बदलता जा रहा है। इन दोनों गुणों से विशिष्ट होने पर एक सेकंड में भी उसी वस्तु के दो रूप देखे जा सकते हैं।

(१५. सामान्य का खण्डन)

न च कणभक्षाक्षचरणादिपक्षकक्षीकारेण सत्तासामान्ययोगित्वमेव सत्त्वमिति मन्तव्यम्। सामान्यविशेषसमवायानामसत्त्वप्रसङ्गात्।

न च तत्र स्वरूपसत्तानिबन्धनः सद्व्यवहारः। प्रयोजकगौरवापत्तेः। अनुगतत्वाननुगतत्वविकल्पपराहतेश्च। सर्षपमहीधरादिषु विलक्षणेषु क्षणेष्वनुगतस्याकारस्य मणिषु सूत्रवद्, भूतगणेषु गुणवच्चाप्रतिभासनाच्च।

कणाद (कणों को एकत्र करके खानेवाले कणाद—वैशेषिक-सूत्रकार) और अक्षपाद (गौतम—न्याय-सूत्रकार, किंवदन्ती के अनुसार जिनके चरणों में आखें थीं) आदि के पक्षों को स्वीकार करने वालों को यह नहीं समझना चाहिए कि सत्ता की सामान्य-दशा में भाग लेना (योगदान करना) ही सत्ता है (=वस्तु के सामान्य जैसे गोत्व, पशुत्व आदि को सत्ता नहीं कहते जैसा कि कणाद, गौतमादि मानते हैं), नहीं तो सामान्य, विशेष और समवाय—इन वैशेषिक-सम्मत पदार्थों की भी सत्ता न होने का भय उत्पन्न हो जायगा (क्योंकि ये पदार्थ सामान्य में भाग नहीं लेते =सामान्य का, विशेष का और समवाय का सामान्य नहीं होता। इन पदार्थों की सत्ता न रहने से वैशेषिक-दर्शन का मूल ही नष्ट हो जायगा)।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि वहाँ (=सामान्य, विशेष और समवाय पर) सत्ता का आरोप करना अपने रूप की सत्ता पर निर्भर करता है (=चूँकि इन पदार्थों की अपनी सत्ता तो निःसन्दिग्ध है इसलिए इन पर सत्ता का आरोप भी कर सकते। जैसी अपनी सत्ता, वैसी सामान्य सत्ता)। ऐसा करने से बहुत से प्रयोजकों (स्वरूप-सत्ताओं) की आवश्यकता होगी (और वह बहुत श्रमसाध्य होगा)।

यही नहीं, सामान्य की सत्ता को (अनेक में एक की) उपस्थिति और अनुपस्थिति-विषयक विकल्पों की द्विविधा में डालकर असिद्ध कर सकते हैं। (अनेक में एक सामान्य होता है, यदि उसकी उपस्थिति है तो भी दोष, नहीं है तो भी दोष—इसलिए सामान्य की सत्ता नहीं है)। इसके अलावे क्षणों (पदार्थों) में सामान्य रूप से, मणियों [की माला] में सूत्र की तरह या भूत-गणों में (पृथ्वी, जल आदि में) गुणों (रूप, रसादि) की तरह, वर्तमान कोई भी आकार दिखलाई नहीं पड़ता [जिसे हम सामान्य कहकर पुकार सकें]।

किं च सामान्यं सर्वगतं स्वाश्रयसर्वगतं वा? प्रथमे सर्ववस्तुसंकरप्रसङ्गः। अपसिद्धान्तापत्तिश्च। यतः प्रोक्तं प्रशस्तपादेन—'स्वविषयसर्वगतमिति'।

किं च विद्यमाने घटे वर्तमानं सामान्यमन्यत्र जायमानेन संबध्यमानं तस्मादागच्छत्संबध्यते अनागच्छद्वा ? आद्ये द्रव्यत्वापत्तिः। द्वितीये सम्बन्धानुपपत्तिः।

इसके अतिरिक्त [यह बतावें कि] सामान्य सभी में है अथवा अपने आश्रय में सर्वत्र स्थित है ? यदि पहले विकल्प को लेते हैं (सामान्य सर्वगत है) तो सभी वस्तुएँ आपस में मिल जायँगी (कोई भेद नहीं रहेगा, विशृंखलता हो जायगी)। दूसरे, आपका विरोधी सिद्धान्त आ धमकेगा क्योंकि प्रशस्तपाद (वैशेषिक-सूत्रभाष्य के लेखक) का कथन है—'अपने विषयों या आश्रयों में सर्वत्र विद्यमान है'।

अब [यदि सामान्य केवल अपने आश्रयों में सर्वतोभावेन विद्यमान है तो बतावें कि] पहले से विद्यमान घट में उपस्थित सामान्य, दूसरे स्थान पर उत्पन्न होने वाले (घट) से संबद्ध कर दिये जाने पर, पहले घट से निकलकर [दूसरे से] संबद्ध होता है या बिना निकले ही हुए ? अगर निकलकर दूसरे से संबद्ध होता है तो [सामान्य को] द्रव्य कहें (क्योंकि द्रव्य में ही गुण और क्रिया—गमनादि—होती है)। यदि बिना आये ही संबद्ध होता है तब सम्बन्ध ही नहीं हो सकता (सम्बन्ध के लिए संनिकर्ष आवश्यक है)।

किं च विनष्टे घटे सामान्यमवतिष्ठते, विनश्यति, स्थानान्तरं गच्छति वा ? प्रथमे निराधारत्वापत्तिः। द्वितीये नित्यत्ववाचोयुक्त्ययुक्तिः। तृतीये द्रव्यत्वप्रसक्तिः। इत्यादि दूषणग्रहग्रस्तत्वात्सामान्यमप्रामाणिकम्। तदुक्तम्—

६. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यतियुक्तता॥

[अब फिर बतावें कि] घट के नष्ट हो जाने पर, यह सामान्य वहीं अवस्थित रहता है या नष्ट हो जाता है या दूसरी जगह चला जाता है ? अगर वहीं रहता है तो बिना आधार के ही रहेगा कैसे ? अगर नष्ट हो जाता है तो उसे नित्य कहने की बात अयुक्त हो जाती है (नित्य का कभी विनाश नहीं होता, सामान्य को न्याय-वैशेषिक में नित्य माना गया है)। यदि तीसरा विकल्प (स्थानान्तरण) लेते हैं तो यह द्रव्य हो जायगा (गुण और क्रिया के चलते)। इस तरह के दोषों के ग्रह से ग्रस्त होने के कारण सामान्य को अप्रामाणिक कहते हैं। यह कहा भी है—'[सामान्य] दूसरी जगह वर्तमान है

(एक घट में घटत्व है) और उससे भिन्न स्थान में [घट के] उत्पन्न होने पर, प्रथम स्थान से अचल [सामान्य का दूसरे घट में] जाना (वृत्ति)—इससे बढ़कर और युक्ति क्या हो सकती है !!'

७. यत्रासौ वर्तते भावस्तेन संबध्यते न तु ।
तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम् ॥
८. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसंततिः ॥ इति ।

अनुवृत्तप्रत्ययः किमालम्बन इति चेत्—अङ्ग, अन्यापोहालम्बन एवेति संतोष्टव्यमायुष्मता, इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

"जहाँ पर वह भाव है उस स्थान से तो उसका सम्बन्ध नहीं है लेकिन उस स्थान में रहने वाले पदार्थ को व्याप्त करता है—क्या ही वह विचित्र दृश्य है ? (उदाहरणार्थ, घटरूपी भाव जिस भूतल में है उस भूतल से घटत्व का सम्बन्ध नहीं है । भूतल-देश में वर्तमान घट को लेकिन घटत्व व्याप्त कर लेता है । जब घट को घटत्व व्याप्त करता है तो उसके आधार भूतल से तो उसका संबन्ध होना ही चाहिए लेकिन ऐसा क्यों नहीं है ?) [सामान्य] न तो जाता है, न वह वहाँ था ही, न वह बाद में टुकड़े होकर ही रहता है, न यह अपने पहले आधार को ही छोड़ता—कठिनाइयों की परम्परा विचित्र है !"

यदि आप पूछें कि 'एक की सत्ता अनेक में है' यह विश्वास किस पर अवलम्बित है, तो इसका उत्तर होगा—हे मित्र, आप चिरायु हों, संतोष करें कि अन्य पदार्थ के अपोह (तद्-भिन्न-भिन्न) पर ही अवलम्बित है ('यह घट है' यह वाक्य आप कैसे मानते हैं जब कि घटत्व सामान्य को नहीं मानते ? यही शंका है । अपोहवाद को स्वीकार करके ही यह विश्वास होता है—यह घट घटेतर से भिन्न है । घट से भिन्न जिन पदार्थों का बोध होता है, यह घट उन सबों से भिन्न हैं । उत्तर यही है) । अब इसे अधिक बढ़ाना व्यर्थ है ।

विशेष—आठवें श्लोक में जाति या सामान्य के विरुद्ध आपत्तियाँ उठाई गई हैं । सामान्य एक जगह से दूसरी जगह जाता नहीं है क्योंकि क्रिया केवल द्रव्य में ही रहती है, सामान्य में नहीं । ऐसा होने पर घटोत्पत्ति के समय उसमें घटत्व नहीं रहेगा—यह दोष सम्भव है । यदि यह कहें कि मृत्पिण्ड में ही घटत्व था और उत्पन्न होते ही घट में आ गया, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व मृत्पिड में घटत्व था ही नहीं; घटोत्पत्ति के बाद ही घट में घटत्व सामान्य रहता है । यह भी अयुक्त है । यदि फिर भी यह कहें कि

दूसरे घट में विद्यमान घटत्व बढ़कर दूसरे से संबद्ध हो जाता है, तो उत्तर होगा कि बाद में घटत्व टुकड़े होकर भी नहीं रहता। अवयव-सहित पदार्थ को ही वृद्धि होती है, घटत्व में तो अवयव नहीं—तो यह बढ़ेगा कैसे ? यदि वृद्धि नहीं हो और फिर भी संबन्ध को स्वीकार करें तो सामान्य की सत्ता पहले नहीं रह सकती। लेकिन ऐसी बात है नहीं, प्रत्युत वह तो पूर्व आधार को छोड़ता ही नहीं। यह जाति को स्वीकार करनेवालों की दोष-परम्परा है।

(१६. दुःख और स्वलक्षण की भावनायें)

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थकरसम्मतम्। अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृत्त्युपाये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

ननु किंवदिति पृष्टे दृष्टान्तः कथनीय इति चेत्—मैवम्। स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।

समूचे संसार को दुःखात्मक समझना सभी शास्त्रकारों (आस्तिक, नास्तिक दोनों) से सम्मत है। [यदि संसार दुःखमय] न हो तो उस (दुःख) से बचने की इच्छा करने वाले व्यक्तियों की प्रवृत्ति दुःखों से निवृत्त होने के उपायों के प्रति कैसे होगी ? यही कारण है कि [बौद्ध लोग] यह भावना (विचार) रखते हैं—'सब कुछ दुःख है, दुःख है।'

यदि कोई पूछे कि—'किसकी तरह (यह होता है) ? कोई उदाहरण तो कहिये।' [तब हम उत्तर देंगे कि] ऐसी बात नहीं, सभी पदार्थों का अपना-अपना लक्षण है (All are types in themselves) और वे क्षणिक भी हैं। किसी साधारण लक्षण (या समान लक्षण) के अभाव में यह कहना संभव नहीं है कि इसके समान यह दूसरा है। इसलिए यह भावना रखनी चाहिए कि सभी पदार्थों का अपना लक्षण है, अपना लक्षण है।

विशेष—बौद्धों की भावना है—सर्वं दुःखं दुःखम्। संसार में सब कुछ दुःख है। दुःख की सत्ता मानने में सभी दर्शनकार सहमत हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन का प्रमुख अंश बंधन और मोक्ष का ही विवेचन करता है। बन्धन का अर्थ है संसार के दुःखों में पड़ा रहना; जरा-मरण, आवागमन आदि दुःख ही तो हैं। इनसे बचना ही मुक्ति है। क्या चार्वाक और क्या शंकराचार्य—सभी

दुःख की अनिवार्य (कम-से-कम व्यावहारिक-रूप से) सत्ता मानते हैं। सांख्यकारिका की पहली कारिका में ही कहा गया है—

> दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
> दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ।।

सारांश यह कि दर्शनों का मतभेद दुःख की प्रकृति और उससे बचने के उपायों को लेकर है। दुःख की व्याख्या भगवान् बुद्ध यों करते हैं—

'इदं खो पन भिक्खवे, दुक्खं अरिय सच्चं । जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, संखियत्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा ।।' अर्थात् हे भिक्षुगण, यह दुःख प्रथम आर्य-सत्य है। जन्म लेना भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना (पश्चात्ताप), उदासीनता तथा परिश्रम भी दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम होना दुःख है, प्रिय का वियोग भी दुःख है। जो ईप्सित वस्तु को नहीं पाता तो वह भी दुःख है। संक्षेप में ये राग द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख है।

बुद्ध का कहना है कि हँसी और आनन्द कैसे हो जब यह भव-रूपी भवन नित्य जल रहा है? (को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति । धम्मपद, १४६)।

बौद्धों की दूसरी भावना है—सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम् । क्षणिक होने के कारण सभी पदार्थों का अपना-अपना लक्षण या असाधारण लक्षण है। सामान्य को ये मानते नहीं जिससे उन क्षणिक पदार्थों को भी किसी समान-धर्म द्वारा लक्षण का विषय (लक्ष्य) बनाकर साधारण लक्षण दे सकें। वस्तुओं के स्वलक्षण होने के कारण दो पदार्थों में सादृश्य नहीं दिखलाया जा सकता। इस पर अंगुलियों का दृष्टान्त दिया गया है जो कभी समान नहीं होतीं—

> एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
> साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ।।

यही नहीं, सभी पदार्थों के क्षणिक होने के कारण ज्ञाता भी तो दो क्षण नहीं ठहर सकता। कोई भी ज्ञाता साधारण-धर्म को जानकर 'यह घट है' इस प्रकार का घट-रूप पदार्थ नहीं जान सकता।

(१७. शून्य की भावना—माध्यमिक-सम्प्रदाय)

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम् । स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात् । यदि

दृष्टं सत्तदा तद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदंताया अधिष्ठानस्य च तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

उसी प्रकार यह भावना भी करनी चाहिए कि सब कुछ शून्य है। स्वप्न में या जागरण की दशा में भी मैंने यह रजतादि (चाँदी आदि) नहीं देखा—इस तरह एक विशेष प्रकार के निषेध की प्राप्ति होती है। जो कुछ दिखलाई पड़े वह यदि सत् हो तो उससे संबद्ध दर्शन की इस रूप में उसके (इदंता के) आधार की (जैसे शुक्ति की), उस पर आरोपित रजतत्व आदि की तथा उन दोनों (रजत और शुक्ति) के समवाय (नित्य सम्बन्ध जैसे गन्ध और पृथिवी में) आदि सम्बन्ध की भी सत्ता हो जायगी। लेकिन यह किसी भी वादी (विपक्षी, शास्त्रार्थी) को अभीष्ट नहीं है। लेकिन अर्धजरतीय-सत्ता (आधा में एक, आधा में दूसरी) ठीक नहीं। 'मुर्गी का एक भाग पचाने के लिए है, दूसरा भाग अण्डे देने के लिए छोड़ दें'—ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विशेष—शून्य की भावना नागार्जुन ने उठाई है जिन्होंने शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की है। यद्यपि प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि प्राचीन सूत्रों में भी शून्य का विचार है किन्तु उसे सिद्धान्त का रूप देकर सप्रमाण विवेचन करने का सारा श्रेय नागार्जुन को ही है। इन्होंने अपनी माध्यमिक-कारिका में शून्यवाद का पाण्डित्यपूर्वक विश्लेषण किया है (समय २०० ई०)। इसके अन्य आचार्य हैं—**आर्यदेव** (नागार्जुनशिष्य २०० ई०, कृतियाँ—चतुःशतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण आदि), **बुद्धपालित** (मा० का० की व्याख्या, ५वीं शताब्दी), **भावविवेक** (संस्कृत में इनके ग्रन्थ अप्राप्य, मा० का० व्याख्या, मध्यमार्थसंग्रह, करमणि), **चन्द्रकीर्ति** (षष्ठशती, माध्यमिकावतार, प्रसन्नपदा = मा० का० व्याख्या, चतुःशतक टीका), **शान्तिदेव** (नालन्दा के जयदेव के शिष्य, बोधिचर्यावतार, ७वीं शती), **शान्तरक्षित** (नालन्दा के प्रधान, तिब्बतयात्रा करके वहाँ सम्मे विहार की ७४९ ई० में स्थापना, तत्त्वसंग्रह)।

इसकी स्थापना—सीपी (शुक्ति) में चाँदी के भ्रम से कोई उसके पास गया किन्तु चाँदी नहीं देख सका। अब एक निषेध की प्राप्ति हो गई—मैंने

स्वप्न या जागरण में चाँदी नहीं देखी। यहाँ पर 'नहीं' (नञ्) का सम्बन्ध कारक आदि से मिली हुई क्रिया के साथ है। इसलिए यहाँ पर त्रिविधात्मक निषेध प्राप्त हुआ—दर्शन क्रिया का, उसके कर्त्ता देखनेवाले का, उसके कर्म दृश्य वस्तु का। यही नहीं, दूसरे रूप में धर्मी, धर्म और उनके संबन्ध का भी निषेध हो जाता है। धर्मी सीपी है, उसका धर्म (इदं रजतम् में इदंता का आधार) रजतत्व है,—दोनों के निषेध से रजतत्व के समान ही शुक्ति-आदि (दोनों के संम्बन्ध आदि) का भी निषेध हो जाता है जिससे शून्यवाद में सहायता मिलती है।

दूसरे दार्शनिक जैसे नैयायिक-आदि पूरे का निषेध नहीं करते, कहीं विशेषण का निषेध होता है, कहीं क्रिया का। 'अन्धकार में मैंने घड़ा नहीं देखा'—इसमें केवल दर्शनक्रिया का निषेध है, न कि द्रष्टा या अंधकार या घड़े का। 'पैरों से जाता है, रथ से नहीं जाता'— इसमें प्रधानभूत गमनक्रिया का भी निषेध नहीं है। विधि और प्रतिषेध विशेषण पर ही लगते हैं यदि विशेष्य की बाधा हो—इसलिए केवल रथ का ही निषेध है। शून्यवादियों को यह ठीक नहीं जँचता। आधा निषेध और आधा विधि—यह क्या तमाशा है ? विधान हो तो सबों का, निषेध हो तो सबों का, लेकिन विरोधी लोग तो मानेंगे ही नहीं। अर्धजरतीय-न्याय (आधा बूढ़ा, आधा जवान) हो नहीं सकता। शून्यवाद में सबों का निषेध होता है।

तस्मादध्यस्ताधिष्ठान-तत्संबन्ध-दर्शन-द्रष्टृणां मध्य एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिकाः' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन्—भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्व-सर्वसत्यत्व-भ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

इसलिए, (१) आरोपित वस्तु (रजतत्व) के अधिष्ठान (आधार, जैसे सीपी), (२) उनके सम्बन्ध, (३) दर्शन-क्रिया और (४) द्रष्टा—इनके बीच एक के या अनेक के असत् होने से, निषेध का विषय होकर सबों की अ-सत्ता बलात् (जबर्दस्ती) आ जाती है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के उपदेश देने पर उत्तम बुद्धिवाले माध्यमिकों ने ऐसा कहा—भिक्षुओं के पैर फैलाने की तरह (मन्थर-गति से), क्षणभंग इत्यादि शब्दों के कहने से तथा स्थायित्व

(स्थिर होना), अनुकूल वेदना होना, उपस्थित होना (सामान्य), सब सत्य होना—इन भ्रमों को हटाने से [बुद्ध के वचनों का] यही अभिप्राय है कि सब कुछ शून्य। इसलिए तत्त्व (दर्शन का मूल पदार्थ) शून्य ही है जो इन चार कोटियों से नितान्त मुक्त है—(१) सत्, (२) असत्, (३) उभयात्मक (४) अनुभयात्मक। [अभिप्राय यह है कि शून्य उसे कहते हैं जो सत् भी नहीं हो, न असत् हो, न सदसत् हो, न सदसत् से भिन्न ही हो। शून्य एक अनिर्वचनीय तत्त्व है जिसका केवल ज्ञान ही है।]

विशेष—माध्यमिकों का अनिर्वचनीय शून्य-तत्त्व अद्वैतवेदान्तियों के अद्वैत-तत्त्व से मिलता है। विवेकचूडामणि में माया के विषय में लिखा गया है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥

मायावाद में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करने के कारण शंकराचार्य को उनके विरोधियों ने 'प्रच्छन्नबौद्ध' तक कह दिया है। इसके अलावे बुद्ध को भी लोगों ने अद्वयवादी, अद्वैती आदि विशेषण दिये हैं। वस्तुतः, शून्यवाद और अद्वैतवाद में मौलिक अन्तर होते हुए भी इतना साम्य है कि विद्वानों को भी चकित रह जाना पड़ता है।

तथा हि—यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावस्तर्हि कारकव्यापार-वैयर्थ्यम्। असत्त्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम्—

९. न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासंभवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥ इति।

जैसे (इसका विश्लेषण करने पर)—यदि घटादि का स्वभाव सत् होना है तब तो इसके बनाने वाले की चेष्टायें व्यर्थ ही होंगी। (घट सत् ही है तो इसे बनाना क्या ?) यदि 'स्वभाव असत् होना है' यह पक्ष लेते हैं तो वही पुराना दोष इसे घेर लेगा। (यदि घट असत् है तो क्या कुम्भकार इसे कभी बना सकता है ? किसी भी दशा में कारक या निर्माता की आवश्यकता नहीं, उसकी स्थिति सन्दिग्ध हो जाती है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता २।१६)। जैसा कि कहा गया है—'आकाश आदि की तरह सत् वस्तु के कारण की आवश्यकता ठीक नहीं लगती और दूसरी ओर, आकाश-कुसुम की तरह असत् कार्य का हेतु (कारण) भी असम्भव है।

विशेष—शून्यवाद चूँकि चार कोटियों से विनिर्मुक्त है इसलिए प्रस्तुत संदर्भ में प्रथम दो कोटियों का खण्डन किया गया है। तदनुसार घट न सत् है और न असत्। पिछली दो कोटियों (उभयात्मक और अनुभयात्मक) का खण्डन अब किया जायगा।

विरोधादितरौ पक्षावनुपपन्नौ। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

१०. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः॥ इति।

११. इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥ इति च।

न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

वाद के दोनों पक्ष (सत् असत् दोनों होना, सत् असत् दोनों में एक भी न होना) स्वयं ही विरोधी हैं इसलिए [बिना प्रयास के ही] असिद्ध हो जाते हैं। भगवान् ने जैसा कि लंकावतार-सूत्र[1] में कहा है—'जिन पदार्थों का विवेचन बुद्धि से होता है, उनके स्वभाव का निर्णय नहीं होता। इसलिए वे (पदार्थ) अनिवचनीय तथा स्वभावहीन दिखलाये गये हैं।' और भी—'यह वस्तु बलात् उत्पन्न हुई है, यह विद्वान् लोग बोलते हैं। जैसे-जैसे पदार्थों का चिन्तन होता है वैसे-वैसे ही वे नष्ट हो जाते हैं।' अभिप्राय यह है कि पदार्थ को किसी भी पक्ष (कोटि) में रहने की व्यवस्था नहीं दी जा सकती।

दृष्टार्थव्यवहारश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम्—

१२. परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः॥ इति।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति।

१—लंकावतार-सूत्र विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला संस्कृत ग्रन्थ है। कुल १० परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में ग्रंथ की रचना के कारणों का वर्णन है जिसमें कहा है कि बुद्ध ने लंका में जाकर रावण को ये शिक्षायें दी थीं। इसीलिए ग्रंथ का नाम लंकावतार-सूत्र है।

देखी जानेवाली वस्तुओं का व्यवहार स्वप्न-व्यवहार के समान अविद्या (या कल्पना) से चलता है। (सबों को शून्य मानने के बाद दृश्यमान जगत् स्वप्न-व्यवहारवत् कल्पना है। ठीक इसी प्रकार शंकर को अनिर्वचनीय ब्रह्म मान लेने पर संसार की व्याख्या के लिए माया-शक्ति और व्यावहारिक-सत्ता माननी पड़ती है)। इसलिए कहा है—'एक स्त्री-शरीर में संन्यासी, कामी और कुत्ते की तीन विभिन्न कल्पनायें होती हैं कि यह अस्थिपंजर है, कामिनी है या खाने की चीज है।' (इसी तरह संसार में लोगों के विकल्प हैं)।

तो इसी प्रकार चारों भावनाओं (क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण, शून्य) के वश, सारी वासनाओं के निवृत्त हो जाने पर, शून्य के रूप में परम (अंतिम) निर्वाण (मोक्ष) मिल जायगा—इस तरह हमारा काम समाप्त हो गया, अब हमें किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं। [उपर्युक्त उक्तियाँ आचार्यों की हैं जो स्वयं निर्वाण पाकर (हीनयानी होकर) निवृत्त हो गये। अब शिष्यों के मुक्त होने की भी विधि बतलाई जायगी।]

शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः। गुरूक्तस्याङ्गीकरणादुत्तमाः, पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः ॥

अब शिष्यों को दो काम करना है—योग और आचार। उनमें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रश्न करना **योग** कहलाता है। गुरु की कही हुई बातों को स्वीकार करना **आचार** कहलाता है। गुरु की कही बातों को अंगीकृत करनेवाले ये (बौद्ध) उत्तम हैं। दूसरी ओर, ये प्रश्न नहीं करने के कारण अधम भी हैं, इसलिए इनकी **माध्यमिक** के रूप में विशेष ख्याति है।

विशेष—माधवाचार्य माध्यमिक नाम पड़ने का एक विचित्र कारण देते हैं। चूँकि ये उत्तम और अधम दोनों हैं इसलिए माध्यमिक (बीचवाला एक तीसरा संप्रदाय) कहलाते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति दूसरी है। ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के मध्यम-मार्ग (भोग और तपस्या के बीच का मार्ग) का प्रतिपादन करने से ये माध्यमिक हुए। तत्पश्चात्, तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की ऐकान्तिक विचारधाराओं को छोड़कर इन्होंने मध्य-पथ का आलम्बन लिया। शाश्वतवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार आत्मा और परलोक भी नित्य है। दीघनिकाय में ६२ मतवादों में इसका उल्लेख है। दूसरी ओर, उच्छेदवाद अजितकेशकम्बल का मत था जिसमें मृत्यु के अनन्तर आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। पृथिवी आदि चार तत्त्वों से बना हुआ

शरीर मरने के बाद इन्हीं तत्त्वों में विलीन हो जाता है, कुछ भी नहीं बचता। इसके अलावे शून्यवाद की स्थापना सत् और असत् के मध्य-बिन्दु पर ही हुई है इसलिए भी इस सम्प्रदाय को माध्यमिक कहते हैं।

(१८. योगाचार-मत—विज्ञानवाद)

गुरूक्तं भावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात् केषांचिद्योगाचारप्रथा। एषा हि तेषां परिभाषा—स्वयंवेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। तर्कीर्तितं धर्मकीर्तिना—

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। इति।

दूसरे कुछ (बौद्धों) को योगाचार के नाम से पुकारते हैं क्योंकि आध्यात्मिक गुरुओं की बताई हुई चारों भावनाओं और बाह्य-पदार्थों की शून्यता का अंगीकरण (आचार) करके पुनः यह प्रश्न (योग) भी करते हैं कि आन्तरिक-पदार्थों (जैसे—चित्तादि) की शून्यता क्यों स्वीकार करते हैं? चूँकि उनकी यह परिभाषा (सिद्धान्त) है—कम-से-कम अपना ज्ञान (स्वयंवेदन Self-Subsistent Knowledge) तो स्वीकार करें, नहीं तो ऐसा प्रसंग हो जायगा कि समूचे संसार को अन्धा मानना पड़ेगा (यदि अपना ज्ञान या ज्ञाता का ज्ञान भी शून्य ही हो तो जाननेवाला कौन रहेगा? ज्ञाता के अभाव में पूरा संसार ही अन्धा है, किसी को कुछ भी नहीं सूझता—अन्तर-बाह्य सभी तो शून्य हैं। इसीलिए योगाचार-मत में बाह्य-पदार्थ शून्य है, आन्तर सत्य)।

ऐसा ही धर्मकीर्ति ने कहा भी है—'जो प्रत्यक्ष को भी नहीं मानता, पदार्थों की दृष्टि भी उसकी ठीक नहीं है।' (धर्मकीर्ति के कथन का अभिप्राय है कि जिस बुद्धि से हम पदार्थों का ज्ञान पाते हैं उसे तो मानना होगा, उसे शून्य मानने पर पदार्थों के विचार की शक्ति कहाँ से आवेगी? यहां पर प्रत्यक्ष का अभिप्राय है बुद्धि की क्षमता, ज्ञाता का ज्ञान, स्वसंवेदन इत्यादि। प्रसिद्धयति=सामर्थ्य है)।

विशेष—योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानवाद है। इसका जन्म शून्यवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। माध्यमिकों के अनुसार समस्त संसार असत्य प्रतीत होता है किन्तु इनका कहना है कि जिस बुद्धि से यह प्रतीत

होता है उसे तो सत्य मानें। अतएव बुद्धि, चित्त, मन या विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। विज्ञान को मानने से ही इसका नाम विज्ञानवाद है। अपेक्षाकृत इस मत का प्रचार देश-विदेश में अधिक हुआ तथा इसी सम्प्रदाय ने नैयायिकों से लड़कर बौद्ध न्याय का जन्म दिया। बौद्ध-न्याय का अर्थ है योगाचार-सम्प्रदाय के ग्रन्थ। लंकावतार-सूत्र इस सम्प्रदाय का बहुत प्रामाणिक ग्रंथ है जो मूल संस्कृत में दस परिच्छेदों में है।

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं—**मैत्रेयनाथ** (मूल संस्कृत में कई ग्रन्थ अप्राप्य, केवल 'अभिसमयालंकारिका' ८ परिच्छेदों में प्राप्त), **आर्य असंग** (मैत्रेयशिष्य, ४थी शती, कृतियाँ—महायानसंपरिग्रह, योगाचारभूमिशास्त्र, महायान-सूत्रालंकार), **वसुबन्धु** (असंग के छोटे भाई, पहले वैभाषिक बाद में भाई के संपर्क से विज्ञानवादी, कृ०—सद्धर्मपुंडरीकटीका, महापरिनिर्वाण-सूत्रटीका, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता टीका, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—विंशिका और त्रिंशिका दो संस्करण), **स्थिरमति** (वसुबन्धु के शिष्य, उनके सभी ग्रंथों पर टीकायें और भाष्य), **दिङ्नाग** (कांची के ब्राह्मण, वसुबन्धु के शिष्य, ५वीं शती, तान्त्रिक, शास्त्रार्थी, कृतियाँ—प्रमाण-समुच्चय तथा उसकी वृत्ति, आलंबन-परीक्षा, हेतुचक्रनिर्णय, त्रिकालपरीक्षा, न्यायप्रदेश—केवल यही ग्रंथ संस्कृत में पूरा प्राप्त। घोर नैयानिक, गौतम और वात्स्यायन का खंडन, उद्योतकर द्वारा न्यायवार्तिक में स्वयं खंडित, बौद्ध न्याय के प्रतिष्ठापक), **शंकरस्वामी** (दिङ्नाग के शिष्य), **धर्मपाल** (नालन्दा बिहार के कुलपति, शीलभद्र के गुरु, बौद्ध ग्रन्थों की टीकायें), **धर्मकीर्ति** (कुमारिल के समकालिक, इत्सिंग द्वारा उल्लेख, धर्मपाल के शिष्य ६२५ ई०, प्रचंड तार्किक, कृतियाँ—प्रमाण-वार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, हेतुबिन्दु, वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धि)।

(१९. बाह्य पदार्थ का खण्डन)

बाह्यं ग्राह्यं नोपपद्यत एव। विकल्पानुपपत्तेः। अर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति अनुत्पन्नो वा? न पूर्वः, उत्पन्नस्य स्थित्यभावात्। नापरः, अनुत्पन्नस्यासत्त्वात्। अथ मन्येथाः—'अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति' तदपि बालभाषितम्। वर्तमानतावभासविरोधात्। इन्द्रियादेरपि ज्ञानजनकत्वेन ग्राह्यत्वप्रसङ्गाच्च।

[माध्यमिकों की तरह यह तो हम मानते ही हैं कि] बाह्य ग्राह्य (प्रत्यक्षीकरणीय, सत्य) के रूप में सिद्ध नहीं ही होता (=बाह्य पदार्थ को असत् तो हम भी मानते हैं)। कारण यह है कि इसके विषय में दिये गये दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। वे हैं—[घटादि] पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्राह्य है, [तो हम पूछते हैं कि] वह उत्पन्न होने के बाद ज्ञान-ग्राह्य होता है या विना उत्पन्न हुए ही ? उत्पन्न होने के बाद वह ज्ञानग्राह्य हो नहीं सकता (शब्दशः—पहला विकल्प ठीक नहीं) क्योंकि उत्पन्न पदार्थ की स्थिति नहीं हो सकती (कोई भी वस्तु उत्पन्न होने पर एक क्षण ही ठहर सकती है दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है। उत्पत्ति वाले क्षण में तो ज्ञान द्वारा वह ग्राह्य नहीं है क्योंकि पदार्थ की सत्ता का कारण ज्ञान ही है। कारण कार्य के पूर्व होता है इसलिए ज्ञान अर्थ के पहले रहना चाहिए। ज्ञान से ग्रहण करते-करते तो अर्थ नष्ट हो जाता है तो कैसे बाह्यार्थ ज्ञानग्राह्य होंगे ?) दूसरा विकल्प भी संभव नहीं (बिना उत्पन्न हुए कोई पदार्थ ज्ञानग्राह्य हो ही नहीं सकता) क्योंकि बिना उत्पन्न हुए किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं होगी (और इस दशा में हमारा सिद्धान्त—बाह्यार्थशून्यत्ववाद—खरा ही उतरता है)।

फिर भी यदि यह मानते हो कि भूतकालिक पदार्थ ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हैं क्योंकि उसे (ज्ञान को) उत्पन्न करते हैं तो यह भी मूर्खों की-सी बात हो जायगी। (अभिप्राय यह है कि ज्ञानकाल में अर्थ भले ही विद्यमान न हो किन्तु ज्ञानोत्पादन के सम्बन्ध से तो ज्ञानग्राह्य हो सकता है।) कारण यह है कि ऐसा मानने पर वस्तुओं के वर्तमान काल में प्रतीति का विरोध हो जायगा। (यदि भूतकाल में ही पदार्थ ज्ञानग्राह्य होते हैं तो वर्तमान में उनकी प्रतीति कैसे संभव है ?) दूसरी आपत्ति यह है कि इन्द्रियाँ भी [चूँकि ज्ञान का साधन हैं इसलिए वे] ज्ञान उत्पन्न करके ग्राह्य बन जायँगी (अर्थ यह है कि जब ज्ञान के उत्पादन-सम्बन्ध से ही कोई वस्तु ग्राह्य होती है तब तो इन्द्रिय आदि जो अप्रत्यक्ष हैं इनका भी ग्रहण होने लगेगा। इससे विशृंखलता आ जायगी)।

किं च, ग्राह्यः किं परमाणुरूपोऽर्थोऽवयविरूपो वा। न चरमः, कृत्स्नैकदेशविकल्पादिना तन्निराकरणात्। न प्रथमः अतीन्द्रियत्वात्। षट्केन युगपद्योगस्य बाधकत्वाच्च। यथोक्तम्—

१३. षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥ इति।

[हम फिर पूछते हैं कि] यह ग्राह्य अर्थ परमाणु (atom) के रूप में है या अंग-प्रत्यंग से युक्त कोई शरीरी है ? दूसरा (शरीरधारी का) विकल्प हो नहीं सकता क्योंकि 'पूरे में ग्राह्य है या एक भाग में' इस प्रकार के विकल्पादि लगाकर उसका निराकरण कर सकते हैं। (अवयवी के रूप में घटादि कृत्स्न या पूर्णरूप में ज्ञानग्राह्य है कि उसका एक भाग ज्ञानग्राह्य होता है ? पहला विकल्प संभव नहीं क्योंकि पूर्णरूप का इन्द्रिय से संबन्ध हो नहीं सकता। दूसरा विकल्प भी असंभव है क्योंकि एक भाग को हम घट नहीं कह सकते तो फिर अवयवी घटादि ज्ञानग्राह्य कैसे होगा ?) पहला विकल्प (परमाणु के रूप में ग्राह्य होना) भी कठिन है क्योंकि परमाणु का ग्रहण इन्द्रियों से होता ही नहीं। दूसरे, छह (दिशाओं) के साथ उसके एक साथ योग होने में बाधा पहुँचती है। (छह दिशायें हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर और नीचे। परमाणु चूँकि निरवयव है इसलिए इन छहों के साथ परमाणु का एक साथ (युगपत्) संबन्ध नहीं हो सकता। यदि होता है तो परमाणु अवयव-हीन कैसे होगा ? यही षट्क परमाणु के अवयवहीन होने में बाधक है।)

जैसा कि कहा भी गया है—'छह (दिशाओं) के साथ युगपत् (सम-कालिक) योग होने से परमाणु के छह तल (अंश, भाग) सिद्ध होते हैं (जैसे परमाणु का ऊपरी भाग, पश्चिमी भाग, दक्षिणी भाग आदि)। और इन्हें एक-एक भाग करके लिया जाय तो अणु के आकार का कोई भी पिण्ड (ठोस पदार्थ) बन सकता है।' (इस प्रकार ग्राह्यता के अभाव में परमाणु असत् है, यह अवयवहीन नहीं)।

(२०. बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना)

तस्मात्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति सिद्धम्। तदुक्तम्—

१४. नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥ इति।

ग्राह्यग्राहकयोरभेदश्चानुमातव्यः। यद्वेद्यते येन वेदनेन, तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानेनात्मा। वेद्यन्ते तैश्च नीलादयः।

इसलिए, चूँकि बुद्धि को अपने अतिरिक्त कोई दूसरा ग्राह्य नहीं अतः उन विषयों के स्वरूप में रहने वाली वह बुद्धि स्वयं ही, प्रकाश की तरह अपने रूप को प्रकाशित करनेवाली है—यह सिद्ध हुआ। ऐसा कहा भी है—'बुद्धि के

द्वारा ग्राह्य (अनुभव करने योग्य) दूसरा कोई पदार्थ नहीं (बुद्धि के द्वारा स्वयं बुद्धि ही ग्राह्य, दूसरी चीजें नहीं; बुद्धि किसी दूसरे पदार्थ को विषय नहीं बनाती)। न तो उससे बढ़कर कोई अनुभव ही है। [इसलिए बुद्धि के अलावे बाहर] किसी भी ग्राह्य और ग्राहक के अभाव के कारण वह अपने-आप ही प्रकाशित होती है।' (प्रकाश तो अपने-आप को प्रकाशित करके संसार के अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है किन्तु बुद्धि केवल अपने को प्रकाशित करती है, बाह्य अर्थों को नहीं।)

ग्राह्य और ग्राहक में भेद नहीं है—यह अनुमान कर लें। जिस वेदन (ज्ञान) से जिसको जाना जाता है, वह उससे भिन्न नहीं है (ज्ञान और ज्ञातवस्तु में अन्तर नहीं है) जैसे ज्ञान से आत्मा [पृथक् नहीं है]। (ज्ञान से आत्मा को जानते हैं इसलिए वहाँ आत्मा और ज्ञान एक ही हैं —अद्वैत-वेदान्तियों का अनुसरण करके यह दृष्टान्त लिया गया है)। उन ज्ञानों से ही नीलादि पदार्थों को जाना जाता है। (क्षणिक पदार्थों का ज्ञान भी उसी से होता है)।

भेदे हि सति अधुना अनेनार्थस्य सम्बन्धित्वं न स्यात्। तादात्म्यस्य नियमहेतोरभावात्। तदुत्पत्तेरनियामकत्वात्। यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासनैव निमित्तम्। यथोक्तम्—

१५. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ इति।

१६. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥ इति च।

(स० सि० सं० पृ० १२)

[इस प्रकार विषय और विज्ञान में अभेद दिखलाकर, भेद होने पर आपत्ति दिखलाते हैं कि यदि विषय और विज्ञान में] भेद माना जाय तो इस समय ज्ञान के साथ वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा क्योंकि [सम्बन्ध] का नियम बतलाने वाला कोई तादात्म्य ही नहीं रहेगा। [आशय यह है कि 'जब ज्ञान है तो विषय के साथ है' इस प्रकार ज्ञान के साथ अर्थ का नियत सम्बन्ध है।

किन्तु उसका मूल है तादात्म्य क्योंकि ज्ञान और सविषय—ये दोनों समानार्थक हैं। यह तादात्म्यसम्बन्ध नहीं रह सकता यदि ज्ञान और विषय को पृथक् मानें। इस प्रकार सम्बन्ध का नियम असिद्ध हो जायगा।] (इतना होने पर भी यदि भेदपक्ष में अर्थ का निमित्त ज्ञान को स्वीकार करें तब तो विषय से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानोत्पत्ति ही सम्बन्ध बतला सकेगी। इसलिए फिर उत्तर देते हैं—) दूसरे, तदुत्पत्ति (कार्यकारण भाव) भी सम्बन्ध का नियमन नहीं कर सकती (ऐसी बात नहीं कि घटरूपी कार्य के साथ कुम्भकार, चक्र, दण्डादि कारणों का सम्बन्ध नित्य हैं। निष्कर्ष यह है कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति किसी से भी विषय और विज्ञान में भेद सिद्ध करना कठिन है)।

यह जो ग्राह्य और ग्राहक की धारणाओं (संवित्ति = चेतना Consciousness) के पृथक् होने की प्रतीति होती है वह एक चन्द्रमा में दो (चंद्र) होने की प्रतीति की तरह भ्रम है। यहाँ भी भ्रम का निमित्त कारण भेद की वासना (जन्मजात संस्कार) है जिसका आदि नहीं और न जिसका प्रवाह ही कभी टूटता है। जैसा कि कहा गया है—"एक साथ प्राप्त होने का [इन दोनों में] नियम है इसलिए नील (क्षणिक पदार्थ) और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं। भेद तो भ्रान्त ज्ञान के कारण, एक चन्द्र में [दो चन्द्र के] भ्रम की तरह दृष्टिगोचर होता है।[1] (नील और उसका ज्ञान क्रमशः विषय और विज्ञान है, ये दोनों साथ देखे जाते हैं। एक के न रहने पर दूसरा रहेगा—ऐसा हो नहीं सकता। जो जिसके साथ नियमतः उपलब्ध होता है वह उससे अभिन्न है। जैसे घट मिट्टी से अभिन्न है उसी तरह यहाँ भी समझें)।"

और भी—"यद्यपि बुद्धि की आत्मा (= स्वरूप) अविभक्त है, एक ही है तथापि भ्रम (विपर्यास) से भरी आँखों के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राह्य और ग्राहक की चेतना (ज्ञान) से इसमें भेद बना हुआ है।" (बुद्धि एक है पर अनादि भेदवासना से इसमें तीन भेद—ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान—तो स्पष्ट अवभासित होते हैं)।

न च रसवीर्यविपाकादि समानमाशामोदकोपार्जितमोदकानां स्यादिति वेदितव्यम्। वस्तुतो वेद्य-वेदकाकारविधुराया

---

१ तुलनीय—सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
अन्यचेत्संविदो नीलं न तद्भासेत संविदि ॥
भासते चेत्कुतः सर्वं न भासेतैकसंविदि।
नियामकं न सम्बन्धं पश्यामो नीलतद्धियोः ॥
(विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० ७५)।

अपि बुद्धेः व्यवहर्तृपरिज्ञानानुरोधेन विभिन्नग्राह्यग्राहकाकार-रूपवत्तया तिमिराद्युपहताक्ष्णां केशोण्डुकनाडीज्ञानभेदवत् अना-द्युपप्लववासनासामर्थ्यात् व्यवस्थोपपत्तेः पर्यनुयोगायोगात् । यथोक्तम्—

१७. अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते ।
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥

[कुछ लोग शायद समझते होंगे कि जब विज्ञानवादी समस्त बह्यार्थ को असत् के रूप में एक समान मानते हैं तब तो काल्पनिक वास्तविक पदार्थ में भी कुछ अन्तर नहीं मानते होंगे । विरोधियों की इस शंका की आशा विज्ञान-वादियों ने पहले से की थी और इसलिए वे कहते हैं] ऐसा न समझें कि काल्पनिक मिठाई (आशामोदक) और वास्तविक मिठाई (उपार्जित मोदक) दोनों के खाने पर रस, वीर्य, विपाक (पचना) आदि एक ही तरह के होंगे (आशामोदक की तरह ही उपार्जित मोदक भी कल्पनामय है और दोनों के खाने का समान फल होगा—ऐसी बात नहीं है) ।

आप इस तरह का प्रश्न (पर्यनुयोग) नहीं कर सकते हैं । वास्तविकता यह है कि बुद्धि भले ही ज्ञेय (वेद्य) और ज्ञाना (वेदक) के रूपों से बिल्कुल पृथक् (विधुर) हो तथापि प्रयोग करनेवालों (व्यवहर्त्ता) के ज्ञान का अनुरोध यही है (कि बुद्धि के ज्ञाता-ज्ञेय रूप से भेद हैं—'मैं घट जानता हूँ'—इसमें 'मैं' ज्ञाता और 'घट' ज्ञेय है) । यही कारण है कि [यद्यपि बुद्धि न तो ज्ञात्राकार है, न ज्ञानाकार और न ज्ञेयाकार फिर भी] ग्राह्य-ग्राहक के आकार में विभिन्न रूप धारण कर लेती है । यह व्यवस्था (भेद-दशा) एक अनादि मिथ्या ज्ञान-विषयक वासना (चित्त में जमी हुई भावना) की शक्ति के कारण है (=मिथ्याज्ञान एक अनादि वासना है इसी से ग्राह्य-ग्राहक के रूप में बुद्धि के भेद प्रतीत होते हैं । (उदाहरणार्थ—) जिनकी आँखें तिमिर (एक नेत्र रोग) आदि (पित्त-आदि) दोषों से दूषित हैं उन्हें [आकाश में] कभी केश की तरह, कभी उण्डुक (मकड़जाल) की तरह और कभी नाड़ी की तरह [रेखा दिखलाई पड़ती है]—इसी ज्ञान के भेद की तरह (उपर्युक्त व्यवस्था भी है) । [सारांश यह हुआ कि वासना के कारण ही उपार्जित मोदक खाकर तृप्त होने का ज्ञान होता है, आशामोदक से ऐसा नहीं होता । ज्ञान का भेद वासना के भेद से ही सिद्ध होता है ।]

जैसा कि कहा गया है—'[वस्तुतः] वेद्य और वेदक के आकार में बुद्धि

नहीं है, किन्तु भ्रम में पड़े हुए लोग इसके लक्षण (स्वरूप) को विभक्त—ग्राह्य (घटादि) और ग्राहक (आत्म-व्यवसाय) के आकारों से सम्पन्न—देखते हैं।' (इसका कारण आगे के श्लोक में है)।

१८. तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत्।
यदा तदा न संचोद्या ग्राह्यग्राहकलक्षणा॥ इति।

तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशात् अनेकाकारावभासत— इति सिद्धम्। ततश्च प्रागुक्त-भावना-प्रचय-बलात् निखिल-वासनोच्छेद-विगलित-विविध-विषयाकारोपप्लव-विशुद्ध-विज्ञानो-दयो महोदय इति॥

'ठीक उसी प्रकार इस (बुद्धि) में ग्राह्य और ग्राहक के दो स्वरूपों की व्यवस्था (भेद) जब केशादि-ज्ञान के भेद की तरह की जाती है तब संदेह नहीं रहना चाहिए [कि बुद्धि के दो भेद वस्तुतः ही हैं]।' इसलिए हमारी यह बुद्धि ही अनादि वासना के वश अनेक आकारों में प्रतीत होती है—यह सिद्ध हुआ। [पाश्चात्य-दर्शन का प्रत्ययवाद—Idealism—इस विज्ञानवाद से बिल्कुल मिलता-जुलता है। उसके अनुसार प्रत्यय या ideas ही संसार की मूलसत्ता अर्थात् Ultimate Reality है। संसार में जो कुछ देखते हैं वे प्रत्ययों के ही प्रक्षेप हैं, बाह्यार्थ कुछ नहीं है। इसके विवेचन के लिए भूमिका-भाग देखें]।

इसके बाद पहले कही गयी चार भावनाओं (क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण और शून्य) की वृद्धि के बल से, सभी वासनाओं का उच्छेद (विनाश) हो जाता है जिससे विविध प्रकार के विषयों के आकार में जो मिथ्याज्ञान (उपप्लव) होते हैं वे गल जाते हैं तथा विशुद्ध विज्ञान (Consciousness) का जन्म होता है—यही मोक्ष (महोदय) है।

(२१. सौत्रान्तिक-मत—बाह्यार्थानुमेयवाद)

अन्ये तु मन्यन्ते—यथोक्तं 'बाह्यं वस्तुजातं नास्तीति' तदयुक्तम्। प्रमाणाभावात्। न च सहोपलम्भनियमः प्रमाण-मिति वक्तव्यम्। वेद्यवेदकयोरभेदसाधकत्वेनाभिमतस्य तस्या-प्रयोजकत्वेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्।

ननु भेदे सहोपलम्भनियमात्मकं साधनं न स्यादितिचेन्न। ज्ञानस्यान्तर्मुखतया, ज्ञेयस्य बहिर्मुखतया च भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। एकदेशत्वैककालत्व-लक्षणसहत्व-नियमासंभवाच्च।

लेकिन दूसरे (सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय वाले बौद्ध) मानते हैं—यह जो आप कहते हैं कि बाहरी वस्तुओं की सत्ता ही नहीं, यह युक्तियुक्त नहीं है। इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। आप यह नहीं कह सकते कि साथ-साथ पाये जाने का जो नियम है वही प्रमाण है (नील और उसके ज्ञान में सहोपलम्भ-नियम है जिससे दोनों अभिन्न हैं; बुद्धि की सत्ता इससे सिद्ध होती है)। इसका कारण यह है कि वेद्य और और वेदक में अभेद सिद्ध करने के लिए [जिस सहोपलम्भ-नियम का] प्रयोग आप करते हैं वह अभेद को सिद्ध करने में कारण (प्रयोजक) नहीं बन सकता क्योंकि 'विपक्ष में वह नहीं रहेगा' (=विपक्ष-व्यावृत्ति)—यह संदेहपूर्ण है। [आशय है कि जैसे धूम और अग्नि में सम्बन्ध दिखलाने के समय अग्नि का अभाव धारण करनेवाले पदार्थ विपक्ष हैं, उनमें देशान्तर या कालान्तर में कभी धूम हो सकता है। विपक्ष में कभी नहीं होगा, यह नियम कहाँ है? ऐसी आशंका धूम और अग्नि के कार्य-कारण-भाव नष्ट हो जाने के भय से नहीं की जाती (आशंका का खंडन हो जाता है)। यह तर्क ठीक है, प्रयोजक है। किन्तु उसी प्रकार यहाँ 'भेद होने पर भी सहोपलम्भ-नियम रह सकता है'—इस आशंका का निरसन नहीं होता। इसलिए विपक्ष में हेतु की व्यावृत्ति होगी, अतएव यह संदिग्ध है और अनुमान नहीं हो सकता।]

[यदि विज्ञानकारी शंका करें कि] भेद को भी सिद्ध करने के लिए सहोपलम्भ का नियम साधन नहीं बन सकता, तो (हम कहेंगे कि) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि [प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरोध हो जायगा] ज्ञान तो आन्तर-वस्तु है, और (घटादि) ज्ञेय पदार्थ बाह्य है—इस प्रकार भेद तो स्पष्ट (प्रत्यक्ष रूप) प्रतीत होता है। [इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान प्रत्यक्ष-विरोधी है।]

दूसरी युक्ति यह है कि सहोपलम्भ का नियम होना ही असंभव है क्योंकि [आत्मनिष्ठ ज्ञान है और बाह्य-वस्तुनिष्ठ विषय है, दोनों के दो स्थान हैं; विषय पूर्वक्षण में रहता है, ज्ञान उत्तर क्षण में, इसलिए] विषय और ज्ञान का एक देश में या एक काल में होना संभव नहीं है, इसलिए दोनों के स्वरूप (लक्षण) मिलेंगे ही कब [कि सहोपलम्भ आपको दिखलाई पड़ेगा]?

किं च नीलाद्यर्थस्य ज्ञानाकारत्वेऽहमिति प्रतिभासः स्यात्। न तु 'इदमिति' प्रतिपत्तिः। प्रत्ययादव्यतिरेकात्। अथोच्यते—ज्ञानस्वरूपोऽपि नीलाकारो भ्रान्त्या बहिर्वत् भेदेन प्रतिभासत इति, न च तत्राहमुल्लेख इति। तथोक्तम्—

१९. परिच्छेदान्तराद्योऽयं भागो बहिरिव स्थितः।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासोऽप्युपप्लवः॥ इति।

२०. यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते। इति च।

इसके अतिरिक्त नीलादि अर्थ यदि ज्ञान (बुद्धि) के ही स्वरूप हों [तो जिस प्रकार ज्ञाता आत्मा को 'अहम्' कहते हैं उसी प्रकार उन] बाहरी पदार्थों में भी 'अहम्' ऐसी प्रतीति होगी, 'इदम्' (यह) ऐसा ज्ञान नहीं होगा। कारण यह है कि [बाह्य पदार्थ] प्रत्यय (ज्ञान ideas) से भिन्न नहीं हैं (प्रत्युत आप लोग ज्ञान और विषयों को अभिन्न समझते हैं)।

यदि आप लोग उत्तर में कहें कि—नीलादि आकार, ज्ञान के अपने रूप में होने पर भी भ्रान्ति के कारण, भेद से बाह्य पदार्थ-जैसा प्रतीत होता है और यही कारण है कि उसमें 'अहम्' द्वारा अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसा कि कहा भी है—"ज्ञान के आन्तर (भीतरी) परिच्छेद (विषयों का प्रकाश करनेवाले भाग) से पृथक् जो बाह्यवत् (विषयों के रूप में) दिखलाई पड़नेवाला भाग है, भेद-रहित ज्ञान में जो भेद की प्रतीति होती है—वह मिथ्याज्ञान (उपप्लव) ही है।" और भी—'जो आन्तरिक-रूप से जानने योग्य तत्त्व है वह बाह्य-जैसा प्रतीत होता है।'

विशेष—सौत्रान्तिकों ने एक गम्भीर आशंका योगाचारों के समक्ष रखी कि बुद्धि का बोध 'अहम्' से होता है बाह्य-पदार्थों का 'इदम्' से। यदि सभी पदार्थ बुद्धि के रूप ही हैं तो उन सबों का बोध 'अहम्' द्वारा क्यों नहीं होता—अहं घटः, अहंभूमिः, अहं नीलः, क्यों नहीं कहते ? उत्तर में विज्ञानवादी फिर पुराना राग अलापने लगते हैं—मिथ्याज्ञान और अध्यास। उसी अनादि वासना से 'विज्ञान' भ्रम द्वारा बाह्य 'विषय'-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः है नहीं। दार्शनिक-भाषा में यों कहें कि अभेद पर भेद का अध्यास (projection) मिथ्याज्ञान (illusion) द्वारा होता है। इसीलिए भ्रमवश ही बाह्य वस्तुओं पर 'अहम्' का आरोपण नहीं करते। जैसे शंख पर पीलापन का आरोपण होता है। यद्यपि शंख पीला नहीं परन्तु पित्तादि के दोष से (विशेषतया पाण्डुरोग

होने पर) शंख के उजलापन को छिपाकर (आवरण) पीलापन की प्रतीति होती है। उसी तरह 'अहम्' का अर्थवाली ज्ञानस्वरूप आत्मा (या बुद्धि) के आन्तरत्व को छिपाकर बाह्यत्व अवभासित होता है, पीलापन के अध्यास होने पर भी शंख का स्वरूप भासित होता है, तथैव ज्ञेयाकार के अध्यास के बाद भी ज्ञान प्रतीत होता ही है। कारण यह है 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसी प्रतीति जो होती है !

सौत्रान्तिक लोग बाहरी पदार्थों को शून्य नहीं मानते, उन्हें अनुमेय मानते हैं। नील, पीतादि विचित्र पदार्थ बुद्धि के आकार के हैं और आन्तर ज्ञान से उनका अनुमान होता है। सर्वसिद्धान्त संग्रह में कहा गया है—

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥

ज्ञान और विषय को लोक का व्यवहार भी मानता है। ज्ञान का विषय दूसरा ही है, फल दूसरा (ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यत्फलमन्यदुदाहृतम्। काव्यप्रकाश, २)। विज्ञानवादियों के ऊपर दिये गये उत्तर का खंडन अब ये सौत्रान्तिक लोग करेंगे।

तदयुक्तम्। बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिरहिततया बहिर्वदित्युपमानोक्तेरयुक्तेः। न हि वसुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति प्रेक्षावानाचक्षीत। भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वेऽभेदप्रतिभासस्य प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्ये च भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गाच्च। अविसंवादान्नीलतादिकमेव संविदाना बाह्यमेवोपाददते, जगत्युपेक्षन्ते चान्तरमिति व्यवस्थादर्शनाच्च।

आपका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जब बाहरी वस्तुओं की सत्ता ही नहीं (= विज्ञानवादियों के मत में) तो उसकी व्युत्पत्ति ('बहिः' शब्द का अर्थ-ज्ञान) भी तो नहीं होगा ? और ऐसी दशा में 'बाह्य पदार्थ के समान (प्रतीत होता है)' यह उपमान की उक्ति भी व्यर्थ हो जायगी। (उपमान वही हो सकता है जिसकी सत्ता हो, जिससे कुछ अर्थ निकले किन्तु आप लोग बाह्यार्थ को मानते नहीं और ऊपर से कहते हैं कि आन्तर बुद्धि 'बाह्यार्थ के समान' प्रतीत होती है। यह कैसे ?) कोई भी चेतनाशील व्यक्ति नहीं कहता कि वसुमित्र वन्ध्यापुत्र की तरह लगता है। दूसरी आपत्ति यह भी है कि [विषय और विज्ञान के बीच] भेद की प्रतीति को भ्रान्त मानकर अभेद (ऐक्य) की प्रतीति को प्रामाणिक मानना, तथा ऐक्य की प्रतीति को

प्रामाणिक मानकर भेद की प्रतीति को भ्रान्त मानना—इससे अन्योन्याश्रय-दोष का प्रसंग हो जायगा। [आशय यह है कि विज्ञानवादी ज्ञाता और ज्ञेय में भेद की प्रतीति को मानते हैं भ्रान्त, और इसे ही साधन बनाकर सिद्ध करते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है। अब जो यहाँ साध्य था वही साधन बन जाता है। वह भी किसका ? उसे ही सिद्ध करने का जिसके द्वारा वह स्वयं सिद्ध हुआ है। इसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Petitio Principi कहते हैं। अभेद की प्रतीति को साधन मानकर भेद की प्रतीति को भ्रान्त सिद्ध करेंगे। इस प्रकार तार्किक वृत्त में फँसें।]

[हम देखते हैं कि] कुछ लोग किसी के साथ विना कुछ भी विरोध (विसंवाद) किये ही नीलादि पदार्थों को ज्ञान का विषय मानकर, बाह्य-पदार्थ को ही केवल ग्रहण करते हैं, संसार में आन्तर की तो उपेक्षा ही कर देते हैं—ऐसी व्यवस्था देखी जाती है। [बाह्यार्थ को सिद्ध करते हुए सौत्रान्तिकों का कहना है कि नैयायिकादि विद्वान् तो लौकिक-दृष्टिकोण से आन्तर पदार्थ को स्वीकार नहीं करते किन्तु बाह्यार्थ की सत्ता तो मानते ही हैं—हम भी उनसे यहाँ पर सहमत हैं। बाह्यार्थ के विषय में तो किसी का कोई विरोध ही नहीं है। केवल ये लोग ही विरोध खड़ा करते हैं। स्मरणीय है कि सौत्रान्तिक और वैभाषिक आन्तर बाह्य दोनों को मानते हैं, माध्यमिक दोनों में किसी को नहीं मानते, विज्ञानवादी केवल आन्तर को मानते हैं, नैयायिकादि बाह्य को ही केवल मानते हैं।]

(२२. बाह्यार्थ की सत्ता—निष्कर्ष)

एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमयपायसीयन्यायवत् आभासतां भजेत्। अतो बहिर्वदिति वदता बाह्यं ग्राह्यमेवेति भावनीयमिति भवदीय एव बाणो भवन्तं प्रहरेत्।

इस प्रकार [विज्ञान और विषय के बीच] अभेद सिद्ध करने के लिए जो हेतु आप देते हैं वह गोमयय-पायसी-न्याय से केवल आभासमात्र (हेत्वाभास) है। [जिस प्रकार यह अनुमान देकर—'गोमय (गोबर) पायस है क्योंकि गव्य है', हम गोमय को पायस सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि गव्यत्व हेतु यहाँ अप्रयोजक है, इसलिए हेत्वाभास होगा, उसी प्रकार आपका भी अनुमान हेत्वाभास से युक्त है क्योंकि हेतु शुद्ध-हेतु न होकर हेत्वाभास है। गोमय-पायसीय न्याय का उल्लेख व्यास ने पातंजल-योगसूत्र (१।३२, तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः) के अपने भाष्य में किया है। इसकी विशद व्याख्या वाचस्पतिमिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका में है।]

इसलिए जब आप 'बाह्य के समान' यह कहते हैं तब बाह्यार्थ को तो ग्राह्य ही समझते हैं और इसकी भावना (विचार) करनी चाहिए—अतः आपका ही चलाया बाण आप ही पर प्रहार करेगा। (अपने तर्क से आप स्वयं खण्डित हो गये)।

(२३. बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है)

ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नमिति चेत्—तदनुपपन्नम्। इन्द्रियसंनिकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेयतोपपत्तेः। अतएव पर्यनुयोगपरिहारौ समग्राहिषाताम्—

२१. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥ इति।

कोई यह आशंका कर सकता है कि ज्ञान से अर्थ का काल भिन्न है अतएव ज्ञान के द्वारा विषय का ग्रहण असंभव है। (सभी पदार्थ क्षणिक हैं अतः ज्ञान भी क्षणिक, विषय भी क्षणिक। ज्ञान के समय के अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विषय कार्य है, ज्ञान कारण। कार्यकारण एक साथ उत्पन्न नहीं होते। यदि पूर्वापर के क्रम से होते हैं तब जिस क्षण में ज्ञान है उस क्षण में विषय नहीं, जब विषय है तो उस क्षण में ज्ञान नहीं। इसलिए दोनों में सम्बन्ध ही नहीं होगा। यह समस्या विज्ञानवादियों के समक्ष भी थी, उसका हल दूसरे प्रकार से उन्होंने किया था।) यह आशंका युक्त नहीं है—विषय का [प्रथम क्षण में] इन्द्रिय से संनिकर्ष (सम्बन्ध) होता है, इससे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी ज्ञान में वह [पहला विषय] अपने आकार का समर्पण कर देता है (द्वितीय क्षण में), इसी समर्पित किये हुए आकार से उस (पहले) अर्थ का अनुमान कर लेते हैं। अब तो सिद्ध हुआ ? [इसे यों समझें—घटादिविषय एक क्षण में नष्ट होकर अपने अर्थक्रियाकारित्व के बल से दूसरे क्षण में अपने आकार के सदृश दूसरे घट को उत्पन्न करता है। पूर्वक्षणवाला वह घट ही इन्द्रिय के साथ मिलकर अपने दूसरे क्षण में अपने आकार के सदृश स्वरूप वाले ज्ञान को भी उत्पन्न करता है। अब इस ज्ञान-स्वरूप के द्वारा अपने कारण—पूर्वक्षणवाले घट—का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार विषय ज्ञानग्राह्य बनता है किन्तु वह अनुमेय हो जाता है।]

इसलिए [इस विषय में] प्रश्न और उत्तर का संग्रह किया गया है[1]— 'यदि प्रश्न हो कि भिन्न कालवाली वस्तु का ग्रहण कैसे होगा, [तो उत्तर है कि घटादि] पदार्थ के ज्ञानाकार को अर्पित करने में समर्थ हेतु को ही लोग ग्राह्य समझते हैं।' (घट के ज्ञान में अपने आकार के समान आकार उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही हेतु है जिसे हम ग्रहण करते हैं।)

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते, यथा च भाषया देशः, यथा वा संभ्रमेण स्नेहः, तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्। तदुक्तम्—

२२. अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ इति।

तब, जिस तरह पोषण (भरा हुआ शरीर) देखकर भोजन का अनुमान होता है, भाषा से देश का, अथवा आदर से प्रेम का—उसी तरह ज्ञानाकार से ज्ञेय पदार्थ का अनुमान करना चाहिए। यह कहा भी है—'इस ज्ञान को [ज्ञाता] जो अर्थ के साथ मिलाता है वह उस ज्ञान से अर्थाकार (अपने आकार के समान आकार) को हटाकर नहीं [मिलाता, बल्कि संयुक्त करके ही]। इसलिए ज्ञान (संविद्) का मेयरूप (या विषय के रूप में) होना ही विषय के ज्ञान (प्रमेय = विषय, अधिगति = ज्ञान) का प्रमाण है (विषयों का ज्ञान इसलिए होता है कि बुद्धि विषयों के आकार के समान ही आकार ग्रहण करती है)।'[2]

(२४. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान)

न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता। तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति च। तथा बाह्यार्थसद्भावे प्रयोगः—ये यस्मिन्सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तसापेक्षाः। यथा—अविवक्षति अजिगमिषति मयि वचनगमनप्रतिभासा विवक्षु-जिगमिषु-पुरुषान्तर-सन्तानसापेक्षाः।

१—पर्यनुयोग = प्रश्न, परिहार = उत्तर।

२—स० द० सं० की कुछ प्रतियों में यहाँ पर पाठ है—अर्धेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्धरूपताम्। 'अर्थ' के स्थान में 'अर्ध' का कुछ लिप्यन्तर सम्भव है। गफ ने इसीका अनुवाद किया है किन्तु संगति नहीं बैठती।

तथा च विवादाध्यासिताः प्रवृत्तिप्रत्ययाः सत्यप्यालयविज्ञाने कदाचिदेव नीलाद्युल्लेखिन इति ।

यह नहीं कह सकते कि ज्ञान की सत्ता ही उन (विषयों) का ज्ञान है क्योंकि [ऐसा करने पर] ज्ञान (वित्ति) सर्वत्र एक-सा हो जायगा [चूँकि ज्ञान की सर्वत्र सत्ता है इसलिए घटज्ञान (तद्वेदना) और पटज्ञान में अन्तर नहीं होगा । अतः वित्ति की सत्ता और विषय-वेदना दोनों भिन्न हैं] । लेकिन सारूप्य (विषयों की समानाकारता) ही उस (वित्ति या ज्ञान) में प्रविष्ट होकर [उस ज्ञान को] सरूप (विषय के आकार के समान आकारयुक्त) करने के लिए [विषय के साथ] संयुक्त करता है । (यदि दोनों एक होते तो सरूप बनाने की अपेक्षा ही नहीं होती ।]

बाह्यार्थ की सत्ता के लिए एक प्रयोग (Formal argument) यह है—जो (कार्य, जैसे अंकुर) जिस (कारण, जैसे बीज) के रहने पर भी कभी-कभी उत्पन्न होते हैं (कभी होते हैं, कभी नहीं जैसे—कोठी में रखे बीज अंकुर नहीं उत्पन्न करते), वे सभी (कार्य) उस (विशिष्ट कारण) के अतिरिक्त अन्य कारणों (जैसे—मिट्टी, जल, वायु) के साथ सम्बद्ध हैं । उदाहरण के लिए, जब मैं बोलना या जाना नहीं चाहता (कभी बोलता हूँ, कभी नहीं, कभी जाता हूँ कभी नहीं) तब वचन या गमन की जो भी प्रतीतियाँ (प्रतिभास) होंगी वे दूसरे पुरुषों के समूह के विषय में (सापेक्ष) हैं जो (पुरुष) बोलने और जाने के अभिलाषी रहते होंगे ।

उसी प्रकार, प्रस्तुत प्रसंग के अन्तर्गत आये हुए प्रवृत्ति के प्रत्यय (क्रियाशीलता की प्रतीतियाँ = प्रवृत्तिविज्ञान), आलयविज्ञान (आत्मा, ज्ञाता) के रहने पर भी, कभी-कभी ही नीलादि-पदार्थों के रूप में व्यक्त होते हैं । [आशय यह है कि नीलादि के रूप में व्यक्त होनेवाले (बाह्य-पदार्थ) घट, पट आदि के विषय में 'अयं घटः' 'अयं पटः' आदि प्रवृत्तियों (विषयों) की प्रतीति होती है । ये ही प्रवृत्ति प्रत्यय या प्रवृत्तिविज्ञान कहलाते हैं । इनका ज्ञाता 'अहम्' के रूप में व्यक्त आलय विज्ञान है । आलयविज्ञान के साथ ये कभी-कभी रहते हैं (कादाचित्क हैं, बीजांकुर के समान) । इसलिए आलयविज्ञान के अतिरिक्त बाह्य घटादि विषयों के साथ ये सम्बद्ध हैं । इस अनुमान से भी बाह्य पदार्थों की सिद्धि होती है ।]

विशेष—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान वस्तुतः विज्ञानवादियों के सिद्धान्त हैं । इनका प्रयोग सौत्रान्तिक लोग उन्हीं के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए करते हैं । योगाचार लोग अद्वैतवादी हैं, शुद्ध विज्ञान (Consciousness),

प्रत्यय (idea), चैतन्य या चित्त (mental phenomenon) को ही एक मात्र सत्ता मानते हैं। यद्यपि बुद्धि एकरूपा ही है परन्तु अनादि वासना के कारण प्रतीत होने वाले इसके विभिन्न स्वरूपों को कौन रोक सकता है ? ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण, वेद्य-वेदक-वेदन की त्रितयी अविच्छिन्न है। विज्ञानवादी बौद्ध अवस्था के भेद से चित्त (विज्ञान) के दो भेद करते हैं—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। **आलयविज्ञान,** धर्मों के बीजों का स्थान है। ये धर्म बीज के रूप में यहाँ समवेत रहते हैं और विज्ञान के रूप में बाहर निकल कर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करते हैं आधुनिक मनोविज्ञान का 'उपचेतनमन' (Subconscious Mind) प्रायः वैसा ही है। लंकावतार सूत्र (२।९९-१००) में आलय-विज्ञान को समुद्र के समान कहा है। जिस प्रकार समुद्र में वायु-प्रेरित तरंगें उठती रहती हैं, कभी विराम नहीं लेतीं—उसी प्रकार आलय-विज्ञान में भी बाह्य-विषयों के झकोरों की चित्र-विचित्र विज्ञानरूपी तरंगें उठती हैं। ये कभी भी नष्ट नहीं होतीं। आलयविज्ञान समुद्र है, विषय पवन है तथा विज्ञान (सात प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान) तरंगें हैं—

> तरङ्गा उदधेर्यद्वत्पवनप्रत्ययेरिताः।
> नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न वर्तते॥
> आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
> चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते॥

इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्तिविज्ञान भी इसमें डूबते-उतराते हैं।

दूसरी ओर, **प्रवृत्ति-विज्ञान** क्रियाशील चित्त है जिससे विषयों की प्रतीति होती है, यह आत्मा के समान नहीं है किन्तु आलय विज्ञान से ही उत्पन्न होता है और उसीमें विलीन हो जाता है। इसके सात भेद हैं—(१) चक्षुर्विज्ञान, (२) श्रोत्रविज्ञान, (३) घ्राणविज्ञान, (४) जिह्वाविज्ञान, (५) कायविज्ञान, (६) मनोविज्ञान और (७) क्लिष्ट मनोविज्ञान। इन सबों का विवेचन इतने सूक्ष्म ढंग से बौद्धों ने किया है कि आधुनिक मनोविज्ञान को भी इनके समक्ष नतमस्तक हो जाना पड़ेगा। इन पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त अनुसंधान और अध्यवसाय की अपेक्षा है। विद्वानों के सत्प्रयास से यह संभव है। विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि में इनका सम्यक् विवेचन है।

तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम्—

२३. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥ इति।

तस्मादालयविज्ञानसंतानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिविज्ञानहेतुर्बाह्योऽर्थो ग्राह्य एव, न वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद इति वेदितव्यम् ।

उनमें आलयविज्ञान वह चैतन्य (बुद्धि) है जो 'अहम्' (मैं = आत्मा) का स्थान है (अहम् के आकार में है)। नीलादि पदार्थों को व्यक्त करने वाला [इदम् से संबद्ध] विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है। जैसा कि कहा गया है—'वह आलयविज्ञान है जो आत्मा (Ego) का स्थान है, और वह प्रवृत्तिविज्ञान है जो नीलादि पदार्थों को अभिव्यक्त करता है।

इसलिए आलयविज्ञान के संतान (प्रवाह, क्योंकि सब कुछ क्षणिक है अतः उनका प्रवाह ही संभव है) के अतिरिक्त, कभी-कभी होनेवाले प्रवृत्तिविज्ञान का कारण [घटादि] बाह्य पदार्थ है, अतः उसे तो ग्रहण करना ही होगा। ऐसा न समझें कि वासना के परिणाम की प्रतीति कभी-कभी होती है इसलिए बाह्यार्थ भी कभी-कभी ही उत्पन्न होगा। (विज्ञानवादियों के मत से ही वासना के परिणाम की प्रतीति सदा ही होती है—उसे 'कभी-कभी होना' सिद्ध करने के लिए कोई साधन या हेतु नहीं है। इसे ही अब स्पष्ट किया जायगा—)।

(२५. विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण)

विज्ञानवादिनये हि वासना नाम एकसंतानवर्तिनामालयविज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः। तस्याश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः। तस्य च प्रत्ययः कारणं स्वसंतानवर्तिपूर्वक्षणः कक्षीक्रियते। संतानान्तरनिबन्धनत्वानङ्गीकारात् ।

विज्ञानवादियों के मत से 'एक प्रवाह (संतान, परंपरा) में विद्यमान रहनेवाले जो आलयविज्ञान हैं वे जब अपने से संबद्ध प्रवृत्तिविज्ञानों को उत्पन्न करते हैं तब उनकी उसी शक्ति का नाम **वासना** है।' ('अहम्' इस आकार में रहनेवाले क्षणिक आलयविज्ञानों की परंपरा प्रत्येक जीव के लिए भिन्न है। उससे प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति होती है। राम के आलयविज्ञानों की परंपरा पर आधारित आलयविज्ञान राम से ही सम्बद्ध प्रवृत्तिविज्ञान को उत्पन्न करता है। इस तरह आलयविज्ञान में प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न करने की जो शक्ति है उसी को वासना कहते हैं)। उस (वासना) का अपने कार्योत्पादन (प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति) के प्रति उन्मुख या प्रवृत्त होना ही परिपाक (वासना का परिणाम) कहलाता है।

[वासनायें क्षणिक हैं, क्षण-क्षण बदलती हुई वासनाओं के बीच किसी-किसी का ही परिपाक हो पाता है, सबों का नहीं। कारण यह है कि परिपाक से उत्पन्न प्रवृत्तिविज्ञान की उत्पत्ति सदा नहीं देखी जाती। इस कादाचित्क परिपाक का कोई कादाचित्क कारण अवश्य देना चाहिए। सौत्रान्तिक लोग तो कहेंगे कि इसका कारण घटादि बाह्यार्थ है। विज्ञानवादी तो इसे कारण नहीं मानेंगे क्योंकि वे तो बाह्यार्थ को मानते ही नहीं। वे लोग कहेंगे कि] उस परिपाक की जो प्रतीति होती है उसका कारण अपने प्रवाह में स्थित पूर्वक्षण को हम स्वीकार करते हैं। [पूर्वक्षण की वासना उत्तरक्षण की वासना के परिपाक का कारण है उसी तरह सभी वासनायें आलयविज्ञान की परंपरा होने के कारण तुल्य होंगी और सभी अपने-अपने उत्तरक्षण की वासनाओं के परिपाक का कारण बन जायंगी। प्रवृत्तिविज्ञान भी सदा उत्पन्न होने लगेगा।] कारण यह है कि वासना के परिपाक को हम किसी दूसरे संतान (ज्ञानसंतान से भिन्न घटादि ज्ञेयसंतान) के अधीन नहीं मानते। (हम ज्ञान को ही मानते हैं इसीके अधीन वासना का परिपाक है।)

ततश्च प्रवृत्तिविज्ञानजनकालयविज्ञानवर्तिवासनापरिपाकं प्रति सर्वेऽप्यालयविज्ञानवर्तिनः क्षणाः समर्था एवेति वक्तव्यम्। न चेदेकोऽपि न समर्थः स्यात्। आलयविज्ञानसंतानवर्तित्वाविशेषात्। सर्वे समर्था इति पक्षे कालक्षेपानुपपत्तिः। ततश्च कादाचित्कत्वनिर्वाहाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः सुखादिविषयाः षडपि प्रत्ययाश्चतुरः प्रत्ययान् प्रतीत्योत्पाद्यन्त इति चतुरेणानिच्छताप्यच्छमतिना स्वानुभवमनाच्छाद्य परिच्छेत्तव्यम्॥

इसलिये, प्रवृत्ति-विज्ञान को उत्पन्न करने वाले आलय-विज्ञान में रहने वाली वासना का परिपाक (उत्पन्न) करने में, आलयविज्ञान में स्थित सारी क्षणिक-वासनायें समर्थ हैं—ऐसा कहें। (आलयविज्ञान समुद्रवत् है, इससे ही प्रवृत्ति विज्ञान की उत्पत्ति होती है। आलयविज्ञान में क्षणिक वासनायें हैं जो वासना का परिपाक कर सकती हैं अर्थात् वासना को कार्योत्पादन में लगा सकती हैं।) [यदि सभी क्षणिक वासनाओं में यह सामर्थ्य] नहीं होती तो एक भी क्षणिक वासना समर्थ नहीं होती क्योंकि आलयविज्ञान की परम्परा में रहने पर कोई भेद-भाव नहीं होता ('कुछ' का प्रश्न नहीं है, सभी समर्थ हैं)।

यदि यह कहें कि सभी क्षणिक वासनायें समर्थ हैं तो कालक्षेप (समय बिताना) नहीं होगा (सभी वासनायें तुरत ही कार्योत्पादन करेंगी क्योंकि जो

अपने कार्य के उत्पादन में समर्थ है वह कालक्षेप नहीं सह सकता—तुरत कार्य उत्पन्न करेगा। फिर कार्य भी एक समान होंगे)। अब इसलिए वासनाओं का 'कभी-कभी होना' सिद्ध करने के लिए (क्योंकि यह जरूरी है अन्यथा विश्व के रङ्गमञ्च पर कभी-कभी होने वाले कार्यों की उत्पत्ति विज्ञानवादी कैसी वासना से सिद्ध करेंगे?), चतुर व्यक्ति को, इच्छा न होते हुए भी, स्वच्छ बुद्धि से, अपनी अनुभूति को बिना ढँके हुए, विचार करना चाहिए कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के विषय तथा सुखादि के विषय (objects)—ये छह प्रकार की प्रतीतियाँ चार प्रत्ययों (कारणों) को पाकर ही उत्पन्न की जाती हैं। [शब्दादि पाँच विषय बाह्य हैं, सुखादि विषय मन के हैं अतः आन्तरिक हैं—इन छह प्रतीतियों का कुछ बाह्य कारण खोज लें (वे हैं चार कारण) नहीं तो 'कादाचित्क' का निर्वाह नहीं होगा क्योंकि समर्थ वासनायें परिपाक उत्पन्न करती रहेंगी—सभी उत्पन्न होंगे, 'कभी-कभी' नहीं हो सकेगा।]

(२६. ज्ञान के चार कारण)

ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यधिपतिरूपाः। तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति। समनन्तरप्रत्ययात् प्राचीनज्ञानोद्बोधरूपता। सहकारिप्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्विषयग्रहणप्रतिनियमः॥

ये चार कारण प्रसिद्ध हैं—(१) आलम्बन (Substratum), (२) समनन्तर (Suggestion), (३) सहकारी (Medium) और (४) अधिपति (Dominant organ)। उनमें 'ज्ञान' (=साकार चित्त) शब्द से समझे जाने वाले नीलादि की प्रतीति का, जिसे चित्त भी कहते हैं, नील (पदार्थ) से, **आलम्बन** के कारण ही नील-रूप बनता है। **समनन्तर** के कारण ही पूर्वक्षण के ज्ञान से आकार-ग्रहण की शक्ति आती है। **सहकारी** के कारण ही प्रकाश से स्पष्टता होती है (किसी एक का स्पष्टीकरण होता है)। **अधिपति** के कारण आँख द्वारा विषय के ग्रहण का नियन्त्रण होता है।

विशेष—साकार चित्त को ही ज्ञान कहते हैं और बोधरूपता का अर्थ है उसके स्वरूप (आकार) को ग्रहण करने की शक्ति। जिस प्रकार पूर्वक्षण के घट से उसी के आकार में उत्तरक्षण में घट उत्पन्न होता है उसी तरह पूर्वक्षण में वर्तमान, आकार को ग्रहण करने में समर्थ ज्ञान से उत्तरक्षण में तदाकार ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान की यह परम्परा (सन्तान) बराबर चलती रहती है।

आकार भी दो तरह का है—अहम् का आकार, इदम् का आकार। अहमाकार पूर्वक्षण के ज्ञान से उत्पन्न होता है, दूसरे कारण की अपेक्षा इसमें नहीं है। यह अनादि है, सब समय रहता है और एक रूप वाला है। यही आलयविज्ञान है। 'यह घट है' इस प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान में भी अहमाकार है ही क्योंकि आलयविज्ञान से ही प्रवृत्तिविज्ञान जन्म लेता है। दूसरा इदमाकार कभी-कभी होता है (कादाचित्क), इसलिए दूसरे कारणों (आलम्बनादि) की अपेक्षा रहती है, इसका आदि भी होता है और इसके विविध रूप हैं। ज्ञान में अपने आकार के सदृश आकार डालने वाले शब्दादि अनेक प्रकार के विषय अपने-अपने आकार के प्रवृत्तिविज्ञान को उत्पन्न करते हैं। यहीं चार कारणों की अपेक्षा होती है।

विषय के आधार को आलम्बन कहते हैं जिस पर आश्रित होकर प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होता है। उत्तरक्षण के ज्ञान को आकार-ग्रहण की शक्ति देते हुए पूर्वक्षण का ज्ञान समनन्तर कहलाता है। ज्ञान को स्पष्ट करने वाला प्रकाश (light) सहकारी है। मन से वस्तु का संयोग होना भी सहकारी ही है। इन्द्रिय को अधिपति कहते हैं। यही सबों पर नियन्त्रण रखता है। इसलिए ज्ञान में यह अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत ही आकार प्रदान करता है। चक्षु-इन्द्रिय ज्ञान के उत्पादन में रूप का आकार ही दे सकती है। रसना रस के आकार को तथा मन जो अन्तःकरण की इन्द्रिय है उसका अवदान सुखादि आन्तरिक विषयों तक ही सीमित है। इस प्रकार ये चारों कारण मिलकर प्रवृत्तिविज्ञान में, 'इदम्' के आकार वाले, कभी-कभी होने वाले ज्ञान को जन्म देते हैं।

उदितस्य ज्ञानस्य रसादिसाधारण्ये प्राप्ते नियामकं चक्षुरधिपतिर्भवितुमर्हति। लोके नियामकस्याधिपतित्वोपलम्भात्। एवं चित्तचैत्तात्मकानां सुखादीनां चत्वारि कारणानि द्रष्टव्यानि॥

रस आदि विषयों को भी समान रूप से ग्रहण करने के कारण उत्पन्न ज्ञान का नियंत्रण करने वाली चक्षु-इन्द्रिय अधिपति होने के योग्य है (क्योंकि एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान से तो वह संबद्ध है)। संसार में पाते हैं कि जो नियंत्रण करता है, वही अधिपति होता है। इसी प्रकार चित्त और उसके विभिन्न विकारों के रूप में सुख आदि (आन्तरिक विषयों) के भी चार कारण देख लें [क्योंकि वह भी प्रवृत्तिविज्ञान ही है]।

(२७. चित्त और उसके विकार—पाँच स्कन्ध)

सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारसंज्ञकः। तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति

रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्ध-द्वयसंबन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्ध-निबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः॥

तो चित्त और चित्त के विकारों के रूप में यह स्कन्ध (अमूर्त्त तत्त्व) पाँच प्रकार का है—(१) रूपस्कन्ध (Sensational), (२) विज्ञानस्कन्ध (Perceptional), (३) वेदनास्कन्ध (Affectional), (४) संज्ञा-स्कन्ध (Verbal), और (५) संस्कारस्कन्ध (Impressional)। उनमें विषयों के साथ इन्द्रियों का नाम **रूपस्कन्ध** है जिसकी व्युत्पत्तियाँ हैं—जिनसे विषयों का निरूपण होता है (=इन्द्रियाँ) और जो निरूपित होते हैं (=विषय)। आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान का प्रवाह **विज्ञानस्कन्ध** है (केवल यही स्कन्ध चित्त है, अन्य चैत्त या चित्त के विकार हैं)। पहले कहे गये इन दोनों स्कन्धों के संबन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रतीतियों का प्रवाह (परंपरा) **वेदनास्कन्ध** है। 'गौ' इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले ज्ञानों का प्रवाह **संज्ञास्कन्ध** है। वेदनास्कन्ध पर आधारित रागद्वेषादि क्लेश (कष्ट), मद-मानादि उपक्लेश (अल्प कष्ट) तथा धर्म-अधर्म को **संस्कारस्कन्ध** कहते हैं।

विशेष—स्कन्धों का यह क्रम वस्तुतत्त्व के ज्ञान के लिए अच्छा है किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में विज्ञानस्कन्ध को दूसरा स्थान न देकर पाँचवाँ स्थान दिया गया है। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में इसके लिए कारणों की मीमांसा की है। उनके विचार से क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है। संस्कार की अपेक्षा विज्ञान सूक्ष्म है और सुगम नहीं है। ये स्कन्ध चित्त और उसके विकारों से संबद्ध हैं। इनमें विज्ञानस्कन्ध चित्त है तथा अन्य स्कन्ध उसके विकार स्वरूप हैं। चैत्त के बाद चित्त का वर्णन संभव भी है।

विज्ञान दो प्रकार के हैं—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। 'अहम्' के आकार वाले आलयविज्ञान का प्रवाह ही आत्मा है। 'इदम्' के आकार में प्रवृत्तिविज्ञान है। विषयों के आकार में आने पर यह रूपस्कन्ध कहलाता है। इसमें इन्द्रियाँ भी हैं जो भौतिक नहीं, चैत्त (Mental) ही हैं। जब विज्ञानस्कन्ध (चित्त) रूपस्कन्ध (विषय + इन्द्रिय) के साथ मिलता है तब सुख-दुःख की अनुभूति होती है—यही वेदनास्कन्ध है। सुख-दुःख चूँकि चित्त

के परिणाम हैं इसलिए भौतिक नहीं हैं। घट, पट आदि नाम संज्ञास्कन्ध (Symbolical world) है। ये केवल संकेत हैं जो अवयवों के आधार पर दिये जाते हैं। इस विषय में सुविख्यात मिलिन्दप्रश्न का नागसेन-मिलिन्द-संवाद देखने योग्य है। घटादि में नाम-रूप (Name and Form) दो भाग हैं। रूप भौतिक है किन्तु नाम चित्त की एक विशेष विकृति के कारण अमूर्त है। राग, द्वेषादि क्लेश हैं, मान-मद-मोहादि उपक्लेश, धर्म-अधर्म—ये संस्कार स्कन्ध है। ये भी चैत्त है। स्मरणीय है कि इन स्कन्धों के पूर्ण विनाश के बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(२८. चार आर्य सत्य—दुःख, समुदाय,[1] निरोध, मार्ग)

तदिदं सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं संपादयेत्। अत एवोक्तम्—दुःखसमुदायनिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभितानि तत्त्वानि। तत्र दुःखं प्रसिद्धम् ॥

तो यह समूचा संसार दुःख है, दुःख का घर है और दुःख का साधन है (यहीं से दुःख मिलता है)—यह ध्यान करके, उससे बचने के उपाय—तत्त्व-ज्ञान—को प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए कहा है—(१) दुःख (Suffering), (२) समुदाय (Cause of Suffering), (३) निरोध (Cessation of Suffering) तथा मार्ग (Way to Cessation)—ये चार तत्त्व आर्य-बुद्ध के द्वारा सम्मत हैं। इनमें दुःख तो प्रसिद्ध है (संसार में दुःख की सत्ता अनिवार्यरूप से है—देखिये इसी दर्शन का विगत अंश)।

विशेष—आश्चर्य है कि दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग—ये चार तत्त्व प्रसिद्ध होने पर भी गफ ने अपने अंग्रेजी-अनुवाद में इन्हें द्वन्द्व-समास में न लेकर षष्ठी तत्पुरुष में लिया है और लिखा है—'दुःख के समूह को रोकने के चार मार्ग हैं' (......are to the saints the four methods of suppressing the aggregate of pain. p. 30.)। माना कि अर्थ वही है पर ये निरोध के चार मार्ग कौन-कौन हैं ? गिना तो दें सही। भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश ये ही चार आर्य सत्य हैं। वस्तुतः दर्शन शास्त्र मात्र के ही ये चार व्यूह या पहलू (Aspects) हैं। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में चार व्यूह

१—बौद्ध लोग 'समुदय' (दुःखकारण) कहते हैं किन्तु सर्वदर्शनसंग्रह में इसे समुदाय कहा गया है। सम्भव है दुःख के कारणों को शृंखला—द्वादश निदानों—को देखकर समूहवाचक समुदाय नाम दिया गया हो।

हैं—रोग, रोग का कारण, आरोग्य और भैषज्य, उसी प्रकार यहाँ भी संसार, संसार का कारण मोक्ष, और मोक्ष का उपाय—ये चार पहलू हैं (द्रष्टव्य, व्यास भाष्य २।१५)। वैद्यक-शास्त्र की इसी समता के कारण बुद्ध को महा-भिषक् कहा गया है।

बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन न करके सीधे आर्यसत्यों का ही उपदेश दिया। सारनाथ में दिया गया उनका प्रथम उपदेश द्रष्टव्य है (धम्मचक्कप्पवत्तण-सुत्त)। उनका कथ्य था कि संसार में लोग दारुण व्यथा से संतप्त हैं। उन्हें बचाने का उपाय न करके दार्शनिक गुत्थियों जैसे—आत्मा, ईश्वर, कार्य, कारण आदि को सुलझाना मूर्खता है। किसी को बाण लग जाय तो निकाल कर मरहम-पट्टी करनी चाहिए, न कि यह पता लगाते फिरें कि किसने बाण फेंका ? क्षत्रिय ने, ब्राह्मण ने···? वह किधर बैठा था ? वह किस रंग का था ? आदि-आदि। अन्य प्रश्नों पर बुद्ध मौन ही हो जाते थे। किन्तु उनके शिष्यों ने मौन का पूरा लाभ उठाया और वे दर्शन के दुरूह दलदल में धँस गये। फल स्पष्ट था कि अपनी-अपनी बुद्धि लोगों ने दौड़ाई तथा वैभाषिक-सौत्रान्तिक आदि सम्प्रदाय बन गये। बुद्ध ने वास्तव में दर्शन (Philosophy) नहीं दिया, उनका बस नीतिशास्त्र (Ethics) है। आर्यसत्यों में सिद्धान्त और व्यवहार का अनुपम समन्वय है।

समुदायो दुःखकारणम्। तद् द्विविधं—प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्—'इदं प्रत्ययफलम्' इति। इदं कार्यं ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति-गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसमवायः, तन्मात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदिति सूत्रार्थः।

समुदाय का अर्थ है दुःख का कारण। वह (कारण) दो प्रकार का है—(१) प्रत्यय पर आधारित और (२) कारण (हेतु) पर आधारित। इनमें प्रत्यय पर आधारित (दुःखकारण) को समझाने वाला सूत्र है—'यह (कार्यसमूह) प्रत्यय (कारणसमवाय) का ही परिणाम है।' इस कार्य [के उत्पादन] की ओर जो दूसरे हेतु जाते हैं (कार्य उत्पन्न करते हैं—कार्य प्रति अयन्ति), उन जाने वाले (दूसरे कारणों के साथ मिलने वाले) कारणों का भाव ही प्रत्यय है जिसे कारण-समवाय भी कह सकते हैं। [कार्य] उन प्रत्ययों का ही फल है किसी चेतन का नहीं—यही सूत्र का अर्थ है। [आशय यह है कि कारणों के समूह के स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति होना—प्रत्ययोपनिबन्धन

समुदाय है। अंकुर को उत्पन्न करने में मिट्टी, जल, बीज आदि कारण हैं कोई चेतन सत्ता ('अहम् करोमि' के रूप में) इन पदार्थों में नहीं है। न तो मिट्टी ही चेतन है न अंकुर ही। चेतन सत्ता के अभाव में केवल कारणों से कार्य होता है। हेतूपनिबन्धन में क्रमिक कार्य होता है—अंकुर से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गर्भ.........आदि। यहाँ भी चेतन-सत्ता नहीं रहती। न तो अंकुर ही समझता है कि मैं उत्पन्न कर रहा हूँ और न काण्ड ही अपने को उत्पादित समझता।]

यथा बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां समवायाज्जायते। तत्र पृथिवीधातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातू रूपमौष्ण्यं च। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशधातुरवकाशं शब्दं च। ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

उदाहरण के लिए बीज-हेतु वाला अंकुर छह धातुओं (मूल कारणों) के समवाय (मेल) से उत्पन्न होता है (न तो कार्य ही चेतन है और न कारण, यह भी नहीं कि कोई दूसरी चेतनशक्ति इनकी सहायता कर रही है। इसलिए फल निकलता है कि अंकुरादि कार्य केवल कारणों के मेल से ही बनते हैं)।

इनमें पृथिवी-धातु (the element of earth) अंकुर में कठोरता और गन्ध उत्पन्न करता है। जल-धातु चिकनाहट और रस (स्वाद) उत्पन्न करता है। तेज (अग्नि)-धातु रूप और उष्णता, वायुधातु स्पर्श और गति देता है, आकाश-धातु शब्द और स्थान की पूर्ति करता है। ऋतु-धातु योग्यता (या आवश्यकता) के अनुसार पृथिवी-आदि तत्त्वों को प्रदान करता है। (जिस ऋतु में पदार्थ होता है उसकी विशेषतायें लिए हुए रहता है। उसके अनुसार पृथिवी-आदि तत्वों में न्यूनाधिकता पर प्रभाव पड़ता है)।

(२८ क. हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप)

हेतूपनिबन्धनस्य च संग्राहकं सूत्रम्—'उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता।' तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्यकारणरूपाणां या धर्मता कार्यकारणभावरूपा, एषा उत्पादादनुत्पादाद्वा स्थिता। यस्मिन्सति यदुत्पद्यते, यस्मिन्नसति यन्नोत्पद्यते तत्तस्य कारणस्य कार्यम्—इति। 'धर्मता' इत्यस्य

विवरणं धर्मस्थितितेत्यादि। धर्मस्य कार्यस्य कारणानतिक्रमेण स्थितिः। स्वार्थिकः तल् प्रत्ययः। धर्मस्य कारणस्य कार्यं प्रति नियामकता।

हेतूपनिबन्धन समुदाय का वर्णन करने वाला सूत्र यह है—'तथागतों के मत से इन धर्मों (कार्यकारण) की धर्मता (कार्य-कारण होना) उत्पत्ति (अन्वय) तथा अनुत्पत्ति (व्यतिरेक) से सिद्ध ही हो जाती है; इसमें धर्म (कार्य) की स्थिति, धर्म (कारण) की नियन्त्रणशक्ति, तथा प्रतीत्य-समुत्पाद (कारण पाकर कार्य होना) की अनुकूलता भी है।'

[इसका यह अर्थ है—] तथागतों अर्थात् बुद्धों (निर्वाणप्राप्त लोगों) के मत से कार्यकारण के रूप में जो धर्म हैं उनकी धर्मता प्रकृति (nature) कार्य-कारण के भाव के रूप में है। यह उत्पाद (अन्वय-विधि) और अनुत्पाद (व्यतिरेक-विधि) से सिद्ध हो गई है। जिसके रहने पर जिसकी उत्पत्ति होती है (उत्पाद) और जिसके न रहने पर जो उत्पन्न नहीं होता (अनुत्पाद) वह उस कारण का कार्य है। 'धर्मता' शब्द की 'धर्मस्थितिता' इत्यादि शब्दों के द्वारा व्याख्या की गई है। (धर्मस्थितिता =) धर्म अर्थात् कार्य का कारण का उल्लङ्घन न करके स्थित रहना। 'स्थितिता' में तल् (ता) प्रत्यय उसी अर्थ का बोधक है (∴ निरर्थक है)। (धर्मनियामकता =) धर्म अर्थात् कारण का कार्य के प्रति नियामक होना। (इसलिए धर्मता का अर्थ है 'कार्य का कारण के बिना न रहना' और 'कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना'।)

नन्वयं कार्यकारणभावश्चेतनमन्तरेण न संभवतीत्यत उक्तम्—प्रतीत्येति। कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादेऽनुलोमता = अनुसारिता या, सैव धर्मतोत्पादादनुत्पादाद्वा धर्माणां स्थिता। न चात्र कश्चिच्चेतनोऽधिष्ठातोपलभ्यत—इति सूत्रार्थः॥

यहाँ पर कोई पूछ सकता है कि कार्य कारण का सम्बन्ध किसी चेतन सत्ता के [हस्तक्षेप किये] बिना संभव नहीं है, इसीलिए [उनकी शंका के निराकरण के लिए] कहा है—प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता। कारण के रहने पर उसे पाकर (प्रतीत्य) उत्पत्ति (समुत्पाद) होने पर अनुलोम होना अर्थात् अनुसरण (पीछे-पीछे रहना)—यही धर्मता (कार्यकारण भाव) उत्पत्तिनियम और अनुत्पत्ति नियम से धर्मों के विषय में सिद्ध होती है (कार्य

कारण का सम्बन्ध सिद्ध होता है)। इसमें कोई भी चेतन अधिष्ठाता (संबन्ध जोड़नेवाला) नहीं मिलता—यही सूत्र का अर्थ है।

विशेष—चेतन के खंडन में बौद्धों का विशेष लक्ष्य नैयायिकों पर है क्योंकि वे ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुमान का आश्रय लेते हैं—पृथ्वी अंकुरादि सकर्तृक हैं, क्योंकि ये कार्य हैं घटवत्। बौद्धों का राद्धान्त है कि न तो बीज को अपने कारणत्व का ज्ञान है और न अंकुर को ही अपने कार्यत्व का। कारण तो अपने कार्य के आगे सदा रहता है। चेतन कहाँ है? जिनमें कार्यकारण भाव है उनमें चैतन्य नहीं पाते और जिन ईश्वरादि में चैतन्य है वे कार्य करते नहीं दिखालाई पड़ते।

प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा—बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद्गर्भः, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते—'अहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः' इति। एवमाध्यात्मिकेष्वपि कारणद्वयमवगन्तव्यम्। 'पुरःस्थिते प्रमेयाब्धौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः' इति न्यायेनोपरम्यते।

प्रतीत्यसमुत्पाद[1] का हेतूपनिबन्धन कारण इस प्रकार होता है—बीज से अंकुर, अंकुर से ग्रन्थि, ग्रन्थि से डंठल, डंठल से कली, कली से ठूँड़, उससे फूल और तब फल (इस प्रकार एक कारण का दूसरे कारण को उत्पन्न करते जाना)। यहाँ बाह्य समुदायों (कारणों के समूहों) के होने पर, बीजादि कारण या अंकुरादि कार्य यह नहीं समझते कि मैं अंकुर बना रहा हूँ या मैं बीज से बना हूँ। इसी तरह आध्यात्मिक पदार्थों में भी दो कारणों (प्रत्यय, हेतु) को समझ लें। यहाँ पर उस लोकोक्ति के अनुसार छोड़ देते हैं कि—'जानने योग्य वस्तुओं का समुद्र ही सामने में है, ग्रन्थ के बड़ा हो जाने के भय से [विस्तार को छोड़कर केवल दिशामात्र दिखला दें]।[2]

विशेष—आध्यात्मिक वस्तुओं का प्रत्ययोपनिबन्धन जैसे—काय की उत्पत्ति

१—माध्यमिक-वृत्ति (पृ० ९)—अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यत इति इदंप्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।

(हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।)

२—पुरःस्थिते प्रमेयाब्धौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः।
विस्तारं संपरित्यज्य दिङ्मात्रमुपदर्श्यताम्॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान, इन छह धातुओं के समवाय से होती है। पृथिवी-धातु से काय में कठोरता, जल-धातु से स्निग्धता, अग्निधातु से वर्ण और परिपाक, वायु-धातु से श्वासादि, आकाशधातु से विस्तार तथा विज्ञान-धातु से नाम-रूप प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक वस्तुओं का हेतूपनिबन्धन कारण ही भवचक्र कहलाता है। इसे ही विशेषतया प्रतीत्यसमुत्पाद समझते हैं। इसमें १२ कारणों की शृंखला प्रदर्शित की गई है। बौद्ध लोग इन्हें ही दुःख का कारण समझते हैं—क्षणिक वस्तुओं को स्थिर समझना या तत्त्वों को न जानना **अविद्या** है। इसी के कारण पूर्वजन्म में भला-बुरा कर्म करने का **संस्कार** होता है। ये दोनों कारण पूर्वजन्म से संबद्ध हैं। संस्कार के कारण ही इस जन्म में प्राणी गर्भ में आता है तथा **विज्ञान** या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक अवस्थायें (**नामरूप**) उसे मिलती हैं। नाम–रूप के कारण ही **षडायतन** (छह इन्द्रियों का समूह) मिलता है जिसके कारण बालक बाह्य पदार्थों का **स्पर्श** करता है। स्पर्श करने पर उसे सुख, दुःख तथा उदासीनता की त्रिविध **वेदना** (Sensatison) होती है जिससे पदार्थों की **तृष्णा** उत्पन्न हो जाती है। तृष्णा से विषयों की आसक्ति या **उपादान** होता है और उसी से **भव** अर्थात् नया जन्म होता है जो पूर्वजन्म के संस्कार के समान ही है। यहाँ तक आठ कारण वर्तमान जीवन से संबद्ध हैं। अब भव के कारण भविष्य में **जाति** (जन्म) लेना अनिवार्य है। फिर **जरामरण** को कौन रोकेगा ? यही दुःख के कारणों की शृंखला है जिस पर समूचा बौद्धदर्शन अवलंबित है।

(२९. सौत्रान्तिक-मत का उपसंहार)

तदुभयनिरोधः। तदनन्तरं विमलज्ञानोदयो वा मुक्तिः। तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्त्वज्ञानम्। तच्च प्राचीनभावना-बलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। सूत्रस्यान्तं पृच्छतां कथितं—'भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः, सौत्रान्तिका भवन्तु' इति। भगवताऽभिहिततया सौत्रान्तिकसंज्ञा संजातेति ॥

तो, इन दोनों का (दुःख के दोनों कारणों का, अथवा दुःख और दुःख कारण का) निरोध होता है। उसके बाद विमलज्ञान का उदय होने से मुक्ति होती है। दुःख को रोकने का उपाय ही मार्ग है। वह (मार्ग) है तत्त्वों को जानना। वह तत्त्वज्ञान प्राचीन भावनाओं के ही कारण होता है—यही सबसे बड़ा रहस्य है। सूत्र के अंतिम सिद्धान्त पूछने वालों को [बुद्ध ने] कहा—'…

और आप लोग सूत्र के अंत (गूढ़ रहस्य) को पूछते हैं, इसलिए सौत्रान्तिक हों।' भगवान् (बुद्ध) के कहने से इनका नाम सौत्रान्तिक पड़ गया।[1]

विशेष—दुःखनिरोध के आठ क्रमिक मार्ग बुद्ध ने बतलाये हैं। वे हैं—सम्यक् दृष्टि (ज्ञान), सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, कर्मान्त (पंचशील, दशशील), सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि। इन्हें अष्टांग मार्ग कहते हैं। सम्यक् का अर्थ है मध्यम-मार्ग, दोनों अतियों (Extremes) का परित्याग। न अधिक भोग न अधिक तपस्या। इसके काव्यमय वर्णन के लिए बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति पर हिन्दी में लिखे गये मेरे निरंजना-खंडकाव्य को देखें।

सौत्रान्तिक नाम पड़ने का कारण है, सूत्रान्तों को मानना। ये अभिधम्म-पिटक को नहीं मानते क्योंकि बुद्धवचन न होने से भ्रान्त है। बुद्ध के आध्यात्मिक उपदेश सुत्त-पिटक में ही संनिविष्ट हैं। इसलिए ये उसे ही प्रामाणिक मानते हैं। यशोमित्र अपनी स्फुटार्था में कहते हैं—'कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिका, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः।' शास्त्र = अभिधर्म। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य ये हैं—**कुमारलात** (२०० ई०, तक्षशिलावासी ग्रन्थ-कल्पनामंडतिका **श्रीलाभ** (कुमार के शिष्य, सौत्रान्तिक विभाषा की रचना), **धर्मत्रात** और **बुद्धदेव** (वसुबन्ध द्वारा उल्लिखित), **यशोमित्र** (अभिधर्मकोष की टीका स्फुटार्था)।

(३०. वैभाषिक-मत—बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद)

केचन बौद्धाः—बाह्येषु गन्धादिष्वान्तरेषु रूपादिस्कन्धेषु सत्स्वपि, तत्रानास्थामुत्पादयितुं सर्वं शून्यमिति प्राथमिकान्विनेयान् अचकथद्भगवान्, द्वितीयाँस्तु विज्ञानमात्रग्रहाविष्टान्विज्ञानमेवैकं सदिति, तृतीयानुभयं सत्यमित्यास्थितान्विज्ञेयमनुमेयमिति, सेयं विरुद्धा भाषेति वर्णयन्तः—वैभाषिकाख्यया ख्याताः।

कुछ बौद्ध वैभाषिक के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योंकि ये इन (तीनों सम्प्रदायों) की बात को विरुद्ध भाषा (विभाषा) कहकर मानते हैं—यद्यपि गन्धादि बाह्य पदार्थों और रूपादि स्कन्ध के आन्तरिक पदार्थों की सत्ता है फिर भी भगवान् बुद्ध ने (१) पहले शिष्यों में अविश्वास उत्पन्न करने के लिये 'सब कुछ शून्य है' ऐसा

१—सूत्रान्तं पृच्छति इति सौत्रान्तिकः। 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इति ठक्।

कहा। (२) दूसरे शिष्यों को जो विज्ञान रूपी ग्रहों से ग्रस्त थे, यह कहा कि विज्ञान ही एकमात्र सत् है। (३) तीसरे शिष्यों को जो दोनों (बाह्य आन्तर) की सत्ता में आस्था रखे हुए थे, यह कहा कि विज्ञेय (बाह्य) पदार्थ अनुमान का विषय है।

विशेष—वैभाषिकों का पुराना नाम सर्वास्तिवादी है क्योंकि ये सबों की सत्ता स्वीकार करते हैं। बाद में जब कनिष्क के समय बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई तो उसमें इस सम्प्रदाय के मूलग्रन्थ आर्य कात्यायनीपुत्र के द्वारा रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक विराट् टीका बनी जो 'विभाषा' कहलाई। इसी ग्रन्थ को सबसे अधिक मान्य मानने के कारण सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक पड़ गया। यशोमित्र ने स्फुटार्था में लिखा है—विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः। विभाषां वा वदन्ति वैभाषिकाः। उस्थादिप्रक्षेपात् ठक् (पृ० १२)।

अशोक के समय जब द्वितीय संगीति हुई थी उसी समय सर्वास्तिवाद अपने प्रिय सिद्धान्तों की रक्षा के लिए स्थविरवाद (थेरवाद) से पृथक् हो गया था। कनिष्क के समय तक सर्वास्तिवादी फिर विभक्त हो गये—एक गन्धार के सर्वास्तिवादी, दूसरे कश्मीर के। लेकिन चतुर्थ संगीति में ये एक कर दिये गये जिसका नाम 'काश्मीर वैभाषिक' पड़ा। सर्वास्तिवादियों का मूल साहित्य संस्कृत में था परन्तु आज वे ग्रन्थ लुप्त हैं, केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों पर ही सन्तोष करना पड़ता है। डा० तकाकुसु ने इनका विस्तृत परिचय दिया है।

सर्वास्तिवाद और स्थविरवाद में सूत्र (सुत्तपिटक) और विनय (विनयपिटक) में विशेष अन्तर नहीं। उनका अन्तर अभिधर्म को लेकर है। सूत्र में वैभाषिकों के ग्रन्थ हैं—दीर्घागम (तुल० स्थविरवादी–दीर्घनिकाय), मध्यमागम (मज्झिमनिकाय), संयुक्तागम (संजुत्त निकाय), अङ्गोत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय) और क्षुद्रकागम (खुद्दकनिकाय)। इस प्रकार नाम-क्रम में तो समता है ही विषयवस्तु भी दोनों के समान ही हैं। इनके विनय पाँच हैं जो स्थविरवादियों के विनयपिटक से तुलनीय हैं—

सर्वास्तिवादी (तिब्बती)—स्थविरवादी (पालि)

१. विनय-वस्तु	महावग्ग	(विनयपिटक)
२. प्रातिमोक्षसूत्र	पातिमोक्ख	,,
३. विनय विभाग	सुत्त विभङ्ग	,,
४. विनय क्षुद्रक वस्तु	चुल्लवग्ग	,,
५. विनय उत्तर ग्रन्थ	परिवार	,,

इन ग्रन्थों का मूल संस्कृत से तिब्बती अनुवाद कई शताब्दियों में हुआ है। यही दशा अन्य ग्रन्थों के तिब्बती और चीनी अनुवादों की है।

इनका अभिधर्म चीन में आज भी अपना मस्तक उठाये हुए है। ये ग्रन्थ सात हैं—(१) आर्य कात्यायनीपुत्र रचित ज्ञान-प्रस्थान (१८३ ई० पू०), (२) महाकौष्ठल (यशोमित्र के अनुसार) या शारिपुत्र (चीनी अनुवादों के अनुसार) रचित संगीति पर्याय, (३) वसुमित्र का प्रकरणवाद (१८३ ई० पू०), (४) देवशर्मा का विज्ञानकाय, (५) पूर्ण या वसुमित्र लिखित धातु-काय, (६) शारिपुत्र या मौद्गल्यायन रचित धर्मस्कन्ध तथा (७) मौद्गल्यायन रचित प्रज्ञप्तिशास्त्र। ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञानप्रस्थान पर चतुर्थ संगीति में विभाषा टीका लिखी गई। इसमें वसुमित्र और अश्वघोष का बड़ा हाथ था। इसकी भी तीन टीकायें हुई जिनमें **'महाविभाषा'** सबसे बड़ी है। हुएनसांग ने इसका अनुवाद चार वर्षों में (६५६–५९ ई०) पूरा किया। अनुवाद चार हजार पृष्ठों में है।

इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य हैं—**वसुबन्धु** (४थी शताब्दी), कृतियाँ—परमार्थसप्तति, तर्कशास्त्र, वादविधि और **अभिधर्मकोश**, अभिधर्मकोश की टीका-सम्पत्ति विपुल है, वसुबन्धु के कार्य सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय में भी हुए हैं), **संघभद्र** (विशुद्ध वैभाषिक, वसुबन्धु के विरोधी, कृतियाँ—अभिधर्म न्यायानुसार या कोशकरका, अभिधर्मसमयदीपिका, हुएनसांग द्वारा दोनों का अनुवाद, पृ० १७५१ और ७४९)। इसके अलावे अन्य आचार्य भी हैं जिनके चीनी अनुवादों में नाम बचे हैं।

एषा हि तेषां परिभाषा समुन्मिषति। विज्ञेयानुमेयत्ववादे प्रात्यक्षिकस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावेन, व्याप्तिसंवेदनस्थानाभावेन अनुमानप्रवृत्त्यनुपपत्तिः, सकललोकानुभवविरोधश्च।

ततश्चार्थो द्विविधः—ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र ग्रहणं निर्विकल्पकरूपं प्रमाणम्। कल्पनापोढत्वात्। अध्यवसायः सविकल्पकरूपोऽप्रमाणम्। कल्पनाज्ञानत्वात्।

उनकी पारिभाषिक शब्दावली इस प्रकार निकलती है—'विज्ञेय (बाह्य पदार्थों) को अनुमान का विषय जो लोग मानते हैं (=सौत्रान्तिक) वे प्रत्यक्षतः किसी भी अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फल यह होता है कि व्याप्ति के ज्ञान के स्थान की भी सत्ता नहीं रहेगी, फिर [व्याप्तिज्ञान के अभाव में] अनुमान की ही प्रवृत्ति नहीं होगी। (आशय यह है—'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति का ज्ञान कैसे होता है ? हम रसोईघर का उदाहरण देंगे, जहाँ धूम और अग्नि की व्याप्ति प्रत्यक्षज्ञान से प्राप्त होती है। इसलिये रसोईघर को

व्याप्ति के संवेदन का स्थान कहेंगे। जब सौत्रान्तिक लोग किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान नहीं मानते तो रसोईघर भी नहीं बच सकेगा। इसलिए उनके यहाँ प्रत्यक्ष के अभाव में व्याप्तिज्ञान का कोई उपाय नहीं। जिस अनुमान से वे विषयों का ज्ञान करते हैं, क्या व्याप्तिज्ञान के अभाव में वह ठहर सकेगा? इसलिए बाह्यार्थ को प्रत्यक्षगम्य मानना परम आवश्यक है।) दूसरे, समूचे संसार के अनुभव के भी [वह सिद्धान्त] विरोध में है (सभी लोग वस्तुओं को देखकर जानते हैं न कि अनुमान करके)।

इसके बाद अर्थ दो प्रकार के होते हैं—ग्राह्य (Sensible) तथा अध्यवसेय (ज्ञेय Knowable)। [इन्द्रियों के साथ वस्तुओं का संयोग होते ही जब निर्विकल्पक (Non-discriminative) ज्ञान होता है कि यह कोई चीज है, तो इस ज्ञान का विषय देवदत्तादि पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं। ग्राह्य = निर्विकल्पक ज्ञान जिसका हो वैसी वस्तु। बाद में जब जाति, गुण आदि विशेषों का प्रत्यक्षीकरण होता है तब 'यह ब्राह्मण है, श्याम है' इत्यादि सविकल्पक ज्ञान के विषय को अध्यवसेय कहते हैं। अध्यवसेय = सविकल्पक ज्ञान का विषय।][1]

तब उनमें निर्विकल्पक के रूप में जो ग्रहण (ग्राह्य का ज्ञान=निर्विकल्पक ज्ञान) होता है वही प्रमाण है क्योंकि उसमें कल्पना बिलकुल नहीं रहती (अपोढ=रहित)। सविकल्पक के रूप में जो अध्यवसाय होता है वह अप्रमाण है क्योंकि उसमें [वस्तु का ज्ञान नहीं,] कल्पना का ज्ञान होता है। [हम जानते हैं कि ज्ञान के विशेष हैं—जाति (Class), गुण(Quality), क्रिया (Action) और द्रव्य (Name)। वस्तुतः सीपी रहनेपर भी 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान चूँकि कल्पित-रजतत्व से युक्त है अतः प्रमाण नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान के ये चारों विशेष कल्पित अर्थात् कल्पनाप्रसूत हैं इसलिए प्रमाण नहीं होते। बौद्ध लोग मानते हैं कि कल्पना से ही कोई वस्तु असत्य सिद्ध होती है। जाति तो वस्तुनिष्ठ है नहीं, उसे तो अपोह से जानतेहैं जैसे—घट जाति=घट भिन्न-भिन्न या घटेतर भिन्न। यह भी काल्पनिक ही है। संज्ञायें जो वस्तुओं को दी जाती हैं

---

१ निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान का बड़ा सुन्दर निदर्शन शिशुपालवध की इन पंक्तियों (१।२–३) में हुआ है जहाँ नारद को आकाश से उतरते देखकर जनता में प्रतिक्रियायें होती हैं—

निर्विकल्पक—गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः॥ २ ॥
सविकल्पक—चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥३॥

पुरुष ही देते हैं अतः वे भी कल्पना पर ही आधारित हैं। गुण और क्रिया को अपने आश्रय से बराबर संबंध है ही नहीं—ये भी वस्तुनिष्ठ न होकर कल्पित हैं। सविकल्पक ज्ञान में मानसिक-दशा का प्रक्षेप वस्तु पर होता है अतः अध्यवसेय ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। जर्मन-दार्शनिक काँट (Kant) ने भी दृश्यजगत् (Phenomenon) और सत्य-जगत् (Noumena) का अन्तर दिखलाते हुए कहा था कि मूल सत्य को हम नहीं जान सकते क्योंकि जब ज्ञान करने जाते हैं तब वस्तु पर बुद्धि का आरोपण हो जाता है (Mind colours everything and as such we cannot know the noumena or Reality. What we are capable to know is only Appearance as interpreted in terms of the mental colouring of the real nature of things—of the so-called things-in-themselves.) इस प्रकार प्रत्यक्ष भी कभी कभी अप्रमाण माना जाता है।

(३१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है)

तदुक्तम्—

२४. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः॥ इति
२५. ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम्॥ इति च।

जैसा कि कहा गया है—'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो कल्पना से रहित है तथा भ्रान्त (मिथ्या ज्ञान) भी नहीं है (भ्रान्त नहीं होने से यह सत्य ज्ञान है और प्रमाण है)। विकल्प-प्रत्यक्ष (= सविकल्पक प्रत्यक्ष) में वस्तुओं की प्रतीति (निर्भास, appearance) होती है, एकमति से ज्ञान न होने के कारण यह भ्रम (उपप्लव) है (सविकल्पक ज्ञान भिन्न-भिन्न पुरुषों का विभिन्न प्रकार से होता है, सभी लोग एक ही दृष्टि से वस्तुओं को नहीं जानते इसलिए सबों की एकमति नहीं। लेकिन प्रमाण वही है जो एकात्मक-ज्ञान हो)।'

और भी—'ग्राह्य (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय) वस्तु ही [सत्य है] क्योंकि प्रमाण केवल ग्रहण (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान) ही है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह वस्तु नहीं है, शब्द, लिंग और इन्द्रियादि से उत्पन्न होने के कारण वह प्रमाण भी नहीं।'

विशेष—ज्ञान की उत्पत्ति के साधन ये हैं—शब्द (शब्द-प्रमाण),

लिंग (अनुमान प्रमाण), इन्द्रिय (सविकल्पक प्रत्यक्ष मात्र)। आदि = उपमानादि। ये सभी ज्ञान काल्पनिक हैं, वस्तुनिष्ठ नहीं। **शब्द**—यदि कोई कहे कि कलकत्ते में कल रात खूब पानी बरसा, तो श्रोता अपने पहले देखे हुए नगर के समान कलकत्ते की कल्पना करता है, फिर बीती हुई रात की कल्पना करता है, फिर कभी देखी हुई वर्षा की कल्पना करता है—इस प्रकार क्रम से ज्ञान करता हुआ शब्द ज्ञान से परिस्थिति को कल्पना का विषय बनाता है इसलिए यह प्रमाण नहीं। **लिंग**—जो अज्ञात वस्तु का ज्ञान करावे (लीनमर्थं गमयति) वही लिंग है जैसे–धूमादि। पहाड़ पर धूम देखकर रसोई घर–आदि जगहों में पहले देखे गये अग्नि के सदृश अग्नि की कल्पना अनुमाता करता है। यहाँ भी पहले की तरह कल्पना है अतः लिंग से उत्पन्न ज्ञान (अनुमान) भी प्रमाण नहीं। **इन्द्रिय**—इससे उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्पक जो प्रमाण है तथा सविकल्पक जो प्रमाण नहीं। उपमानादि में भी गो के सदृश गवय कहने पर पूर्वदृष्ट गो की कल्पना की जाती है अतः वह भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही संभव है।

ननु सविकल्पकस्याप्रामाण्ये कथं ततः प्रवृत्तस्यार्थप्राप्तिः संवादश्चोपपद्येयातामिति चेत्—न तद् भद्रम्। मणिप्रभाविषय-मणिविकल्पन्यायेन पारंपर्येणार्थप्रतिलम्भसंभवेन तदुपपत्तेः। अवशिष्टं सौत्रान्तिकप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

यदि कोई यह शंका करे कि जब आप सविकल्पक को अप्रमाण मानते हैं तब इसी ज्ञान को पाकर, जो व्यक्ति प्रस्तुत होकर, वस्तु की प्राप्ति करता है, जिससे सभी सहमत हैं (कोई विवाद नहीं)—इसकी सिद्धि कैसे होगी ? (माना कि सीपी को चाँदी समझ 'इदं रजतम्' कहना भ्रान्त है क्योंकि वहाँ अर्थ या वस्तु की प्राप्ति नहीं होती लेकिन सत्य रजत की स्थिति में तो अर्थ प्राप्ति होती है। इसे आप कैसे अप्रमाण कह सकते हैं ? इसमें किसी का विवाद भी नहीं कि यह चाँदी नहीं है। सच्ची चीज को कौन नहीं मानेगा ? इसलिये आपको सविकल्पक की प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी)।

उत्तर है कि शंका ठीक नहीं। मणि की प्रभा रूपी विषय से जिस प्रकार मणि की कल्पना की जाती है उसी तरह परंपरा (क्रम) से इस प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान संभव है, यह सिद्ध होता है। (मणि की प्रभा को देख कर कोई भ्रम से 'यह मणि है' यह सोचकर जाय तो उसे प्रभा के द्वारा ही मणि की प्राप्ति होती है। वैसे ही सत्यरजत के स्थान पर 'यह रजत है' इस

प्रकार सविकल्पक भ्रम ज्ञान से कोई जाय तो उसे उसी रजत की प्राप्ति होती है। अभिप्राय है कि भ्रम ज्ञान से ही क्रमशः सत्यज्ञान होता है।[1]) शेष बातें सौत्रान्तिकों की प्रस्तावना करते समय ही कह दी गई हैं, यहाँ पर नहीं बढ़ाई जा रही हैं।

(३२. तत्त्व की अभिन्नता—मार्गों में भेद)

न च विनेयाशयानुरोधेनोपदेशभेदः सांप्रदायिको न भवतीति भणितव्यम्। यतो भणितं बोधिचित्तविवरणे—

२६. देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥
२७. गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा॥ इति।

और ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि शिष्यों (विनेय) के अभिप्रायों के कारण उपदेशों में भेद होना साम्प्रदायिक नहीं है। (शिष्यों की विभिन्न बुद्धि के कारण गुरु का उपदेश एक होने पर भी सम्प्रदाय—different schools—के चलते उपदेशों में भेद होता है। बुद्ध का उपदेश एकात्मक ही था।) ऐसा बोधिचित्त के विवरण (टिप्पणी के रूप में छोटी टीका) में कहा गया है—'सन्मार्ग-प्रदर्शकों (लोक के स्वामियों, आचार्यों) के उपदेश, समझने वाले लोगों के अभिप्रायों के चपेटे में पड़कर, संसार में विभिन्न मार्गों (उपायों) के कारण, प्रायः भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। उनके उपदेश कहीं गम्भीर हैं, कहीं स्पष्ट (उत्तान) कहीं पर दोनों प्रकार के लक्षणों (गम्भीरता और स्पष्टता) से युक्त हैं—इसलिए भेद के कारण उपदेश भिन्न लगते हैं, किन्तु तत्त्व एक मात्र शून्य है जो अद्वय (non-dual) और अभिन्न हैं। (उपदेश के भेद से तत्त्व में भेद नहीं पड़ता, भेद होता है तो मार्ग या सम्प्रदाय में। शून्यतत्त्व का वर्णन सभी करते हैं परन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार ही। हीनबुद्धिवाले शिष्य एक शब्द में शून्यता को समझ न सके तो सर्वास्तित्ववाद के माध्यम से समझे। मध्यम-बुद्धिवाले ज्ञान मात्र का अस्तित्व मान कर समझ सके, तो प्रकृष्टबुद्धिवाले शिष्य साक्षात् रूप से शून्यता को समझ गये।)

१—तुलना करें—वाक्यपदीय—उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

(३३. द्वादश आयतनों की पूजा)

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्—

२८. अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥

२९. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ॥ इति ।

बौद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है कि बारह आयतनों (अन्तःस्थानों) की पूजा मोक्ष देने वाली है—'बहुत सा धन उपार्जित करके द्वादश आयतनों की पूजा करनी चाहिए । यहाँ दूसरी पूजाओं से क्या लाभ है ? विद्वानों ने कहा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चर्म, नेत्र, कर्ण, रसना और नासिका), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, जननेन्द्रिय तथा गुदा), मन और बुद्धि—ये ही द्वादश आयतन हैं ।' (= इनसे सम्यक् कर्म करना चाहिए ।)

(३४. बौद्ध-मत का संग्रह)

विवेकविलासे बौद्धमतमित्थमभ्यधायि—

३०. बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम् ।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥

३१. दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ॥

विवेक-विलास में बौद्ध-मत का इस प्रकार वर्णन किया गया है—'बौद्धों के देवता सुगत (बुद्ध) हैं, संसार क्षण में नष्ट हो जाता है । आर्यसत्य नाम के चार तत्त्वों को क्रमशः [जानना चाहिए] । दुःख, दुःख का स्थान, तब समुदय तथा मार्ग (ये सुप्रसिद्ध आर्यसत्य नहीं हैं क्योंकि वे हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग)—अब इनकी व्याख्या क्रमशः सुनें ।

३२. दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥

३३. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु ॥

३४. रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥

दुःख का अर्थ है संसार में रहने वाले प्राणी के स्कन्ध, जो पाँच कहे गये हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ।

द्वादश **आयतन** ये हैं—पाँच इन्द्रियाँ (ज्ञान की), शब्दादि पाँच विषय (दूसरे मत में पाँच कर्म की इन्द्रियाँ), मन तथा धर्म का आयतन (=निवास स्थान अर्थात् बुद्धि) ।

जिससे रागादि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से जो विद्यमान है—वही **समुदय** है ।

३५. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥
३६. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥

'सभी संस्कार क्षणिक हैं' यह जो स्थिर वासना (विचार) है, इसे ही **मार्ग** जानें । इसे मोक्ष भी कहते हैं ।

प्रत्यक्ष और अनुमान—ये केवल दो **प्रमाण** हैं । वैभाषिक-आदि बौद्धों के **चार प्रस्थान** (schools) प्रसिद्ध हैं ।

३७. अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥
३८. आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥[1]

वैभाषिक लोग अर्थ को ज्ञान से युक्त (प्रत्यक्षगम्य) मानते हैं, **सौत्रान्तिक** बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहणीय नहीं लेते (अनुमेय मानते हैं) । **योगाचार** के मत से बुद्धि ही आकार के साथ है (बुद्धि में ही बाह्यार्थ

१—अन्यत्राप्युक्तम्—मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥

चले आते हैं—भेद-भाव नहीं)। माध्यमिक केवल ज्ञान को ही अपने में स्थित मानते हैं।

३९. रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसंभवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥
४०. कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥
(वि० वि० ८।२६५-७५) इति।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे बौद्धदर्शनम् ॥

रागादि-ज्ञान की परम्परा रूपी वासना के नष्ट हो जाने से उत्पन्न मुक्ति चारों प्रकार के बौद्धों के लिए कही गई है। चर्म, कमण्डलु, मुण्डन, चीर (वस्त्र), पूर्वाह्न में [एक बार] भोजन, संघ में रहना और लाल (कषाय) वस्त्र धारण करना—बौद्ध भिक्षु इन्हें ही स्वीकार करते हैं।' (विवेक-विलास, ८।२६५-७५)।

इसप्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में बौद्धदर्शन [समाप्त हुआ]।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां बौद्धदर्शनमवसितम् ॥

(३) आर्हत-दर्शनम्

जीवादितत्त्वनिचयं समुपादिशद्यो
ज्ञानप्रपञ्चमखिलं सरलं तथैव ।
संदिश्य दर्शनमथापि चरित्रमेवं
जैनो भवेत्पथिनिदर्शक एष वीरः ॥—ऋषिः

(१. क्षणिक-भावना का खण्डन)

तदित्थं मुक्तकच्छानां मतमसहमाना विवसनाः कथंचित्स्थायित्वमास्थाय क्षणिकत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति । यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी, तदैहलौकिकपारलौकिकफलसाधनसंपादनं विफलं भवेत् ।

काँछ (पिछुआ, धोती के अगले भाग की छोर, कच्छ) को खुला रखने वाले (=बौद्ध) लोगों के इस क्षणिकत्व-मत को वस्त्र-हीन (जैन) लोग सहन नहीं कर पाते तथा किसी प्रकार [सत्ता का] स्थायित्व स्वीकार करके क्षणिकत्व-मत का खण्डन करते हैं । यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं मानी जाय तो इहलोक (संसार) और परलोक—दोनों की फलप्राप्ति के साधनों (व्रत, उपवास, दान, पुण्य आदि) का संपादन व्यर्थ हो जायगा ।

विशेष—माधवाचार्य बौद्धों और जैनों के साथ व्यंग्य करते हैं । बौद्ध लोग काँछ नहीं बाँधते तो जैन लोग उनके भी चाचा हैं कि वस्त्र ही नहीं पहनते । स्पष्टतः यह संकेत दिगम्बर जैनियों पर है । आश्चर्य है कि काँछ न बाँधनेवाले के मत को वस्त्रहीन लोग दोषपूर्ण मानें, पर यही तो संसार का नियम है । जैनियों की आपत्ति है कि यदि सभी पदार्थ क्षण-क्षण बदलते जा रहे हैं तब सभी कर्म बदल जायँगे । काम करने वाले फल पाने के समय नहीं रहेंगे । काम करे दूसरा, फल मिले दूसरे को । कोई काम करने की जरूरत ही फिर क्या है ? इसे ही बाद में स्पष्ट करेंगे ।

न ह्येतत्संभवत्यन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति । तस्माद्योऽहं प्राक् कर्म अकरवं सोऽहं संप्रति तत्फलं भुञ्जे इति पूर्वापरकालानुयायिनः स्थायिनस्तस्य स्पष्टप्रमाणावसिततया पूर्वापरभागविकलकालकलावस्थितिलक्षणक्षणिकता परीक्षकैरर्हद्भिर्न परिग्रहार्हा ॥

यह कभी संभव नहीं है कि एक व्यक्ति काम करे और दूसरा उसका फल ले ले। इसलिए, 'जिस व्यक्ति ने (मैंने) पहले काम किया था, वही व्यक्ति (मैं) इस समय उसका फल-भोग कर रहा है'— इस प्रकार स्पष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण से मालूम होता है कि पूर्व (पहले) और अपर (बाद में) काल में होनेवाला कार्य या भाव स्थायी (अ-क्षणिक) है । यही कारण है कि सत्य का अनुसंधान करनेवाले जैन लोग (अर्हत्) उस क्षणिकता को ग्रहण करने में असमर्थ हैं जिसमें पूर्वापर के क्रम से रहित, काल के एक छोटे अंश (कला) तक ही [किसी पदार्थ की] स्थिति स्वीकार की जाती है । [स्थायी पदार्थ में पूर्व और अपर का क्रम रहता है । दिन स्थायी है, उसका पूर्व-भाग और अपर-भाग हो सकता है, लेकिन एक क्षण का न तो पूर्वभाग होता न अपरभाग । चूँकि उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है कि किसी भी सत्ता के पूर्व और अपर—दो खंड होते हैं इसलिए सत्ता स्थायी ही होगी क्योंकि क्षणिक में पूर्वापर नहीं होता ।]

(२. क्षणिक-पक्ष में बौद्धों की युक्ति)

अथ मन्येथाः—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ?

इति न्यायेन 'यत्सत्तत्क्षणिकम्' इत्यादिना प्रमाणेन क्षणिकतायाः प्रमिततया, तदनुसारेण समानसंतानवर्तिनामेव प्राचीनः प्रत्ययः कर्मकर्त्ता, तदुत्तरः प्रत्ययः फलभोक्ता ।

आप लोग यह कह सकते हैं—'प्रमाणों से सिद्ध होकर निकला हुआ [क्षणिक-सत्ता का] यह प्रवाह कौन रोक सकता है ?' इस नियम से, 'जो कुछ सत् (स्थित existent) है, क्षणिक है' इस प्रकार के प्रमाण से क्षणिकता मालूम होती है । इसके अनुसार, एक ही संतान अर्थात् परम्परा में रहनेवाले [ज्ञानों में] पहले का प्रत्यय (ज्ञान) काम करनेवाला है, उसके बाद का ज्ञान फल भोगनेवाला होगा । [आशय यह है कि आपाततः अनुचित लगने वाली बात भी यदि प्रमाणों से सिद्ध हो जाय तो उसे मान लेना चाहिए । इसलिए 'यत् सत्, तत् क्षणिकम्' इस अनुमान से सिद्ध क्षणिकत्व को हमें मान लेना ही पड़ेगा, भले ही अनुभव ऐसा करने को नहीं कह रहा हो । हर व्यक्ति की अपनी ज्ञान-परम्परा (या प्रत्यय-संतान) होती है । उस परम्परा में पूर्वक्षण और अपरक्षण तो रहेंगे ही ! मान लिया कि राम के प्रत्यय-संतान में पूर्वक्षण में वर्तमान किसी आत्मा या प्रत्यय ने काम किया तो फल का भोग भी उसी

संतान में विद्यमान उसके बाद के क्षण की आत्मा करेगी। इसमें कोई असंगति की बात नहीं है।]

न चातिप्रसङ्गः। कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्। यथा मधुररसभावितानामाम्रबीजानां परिकर्षितायां भूमावुप्तानामङ्कुरकाण्डस्कन्धशाखापल्लवादिषु तद्द्वारा परंपरया फले माधुर्यनियमः। यथा वा लाक्षारसावसिक्तानां कार्पासबीजादीनामङ्कुरादिपारंपर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियमः।

इसमें अतिप्रसंग (प्रस्तुत विषय के अलावे दूसरे को भी समेट लेना) की शंका नहीं हो सकती, क्योंकि इसके पीछे कार्यकारण का नियम (The Law of Causation) भी नियंत्रण करने के लिए लगा हुआ है। [आशय यह है—समान संतान में पूर्वक्षण और अपरक्षण का कोई नियंत्रण नहीं है। एक के किये हुए कर्म का फल दूसरे संतान में विद्यमान व्यक्ति को भी मिल सकता है। राम के किए हुए काम का फल श्याम को भी मिल सकता है। इसे ही अतिप्रसंग कहते हैं। लेकिन ऐसा होना संभव नहीं है, क्योंकि क्षणों में कार्यकारण का नियम तो रहता है? एक ही संतान में विद्यमान पूर्वक्षण कारण है उत्तर क्षण कार्य। अतः ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि असमर्थ कारण किसी कार्य को उत्पन्न करे। एक ही संतान के क्षणों में पूर्वापरता के अनुसार कार्यकारण-भाव हो सकता है; एक संतान का क्षण न तो दूसरे संतान क्षण का कारण हो सकता है और न अपने ही संतान में कई क्षणों के बाद के क्षण का कारण बन सकता है। अतः यह सोचना निरर्थक है कि एक व्यक्ति के किये काम का फल दूसरा व्यक्ति ले लेगा।]

जैसे मधुर-रस में डुबाये गये (संस्कृत किये गये) आम के बीजों को जुती हुई भूमि में डाल देने से क्रमशः उसके द्वारा अंकुर, काण्ड (ग्रंथि-संधियाँ) स्कन्ध (तना), शाखा, पत्ते आदि से होती हुई मधुरता फल में चली आती है। अथवा, लाह के रस से सींचे गये कपास के बीजों से लाली क्रमशः अंकुरादि में होती हुई कपास में चली आती है [उसी प्रकार कर्म का फल भी परम्परा से उसी संतान में स्थित व्यक्ति को मिलता है, दूसरे को नहीं]।

यथोक्तम्—

१. यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा॥

२. कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते ।
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यसि ? ।। इति ।

जिस संतान या परंपरा में कर्म की वासना (छाप impression) लगा दी जाती है, फल भी उसी परंपरा में मिलता है जैसे कपास में लाली होती है [यदि लाली बीज में दी गई है तो वह उसी के फल—रुई—में पहुँचेगी, आम में या लीची में नहीं]। बीजपूर (बिजौरा) नींबू के फूल में जब लाक्षा (लाह) आदि छिड़की जाती है तब एक विशेष शक्ति (लाली) आ जाती है, उसे क्या तुम नहीं देखते हो [कि ऐसी अनर्गल बातें करते हो] ?

विशेष—यहाँ बौद्धों की युक्ति का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ। अब जैन इसका खंडन करेंगे। उपर्युक्त उदाहरण में कपास आदि की विचित्र बातें अभी तक वैज्ञानिक असत्य हैं। संभव है, भविष्य में फलों, फूलों पर प्रयोग ऐसे हों कि उन्हें मनोनुकूल बना लें।

(२. जैनों द्वारा उपर्युक्त-मत का खंडन)

तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम् । विकल्पासहत्वात् । जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा । नाद्यः । भवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धावस्यानुमानस्यानुत्थानात् । न द्वितीयः । तेनैव न्यायेन सर्वत्रक्षणिकत्वसिद्धौ सत्त्वानुमानवैफल्यापत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमित्यङ्गीकारे मिथ्यासर्पदंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापादनाच्च । अत एवोक्तम्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति ।

बौद्धों की यह युक्ति काश (एक उजले फूलवाली घास जो मीठी होती है तथा शरद् में फूलती है) और कुश का सहारा लेना भर है, (इसमें कोई तथ्य नहीं)। [डूबता हुआ व्यक्ति यदि तिनका पकड़ ले तो बचाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार दोष-नदी में ये बौद्ध डूब रहे हैं, उपर्युक्त युक्ति एक तिनके के समान है, इससे रक्षा क्या होगी ? हाँ, थोड़ी देर के लिए मानसिक शान्ति मिल पाती है कि मैंने उत्तर दे दिया। अभिप्राय है कि क्षणिकवाद चल नहीं सकता। इसमें कारण है।]

[उपर्युक्त युक्ति में दो विकल्प हो सकते हैं और] दोनों का खण्डन हो जाता है। वे दोनों हैं—जलधर इत्यादि का दृष्टान्त जो ऊपर दिया गया है (यत् सत्

तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी) उसमें क्षणिकत्व की सिद्धि इसी प्रमाण (=अनुमान) से होती है या किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है ? (दूसरा प्रमाण = प्रत्यक्ष, शब्द आदि) ।

पहला विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि आपके मत के अनुसार जो क्षणिकत्व है वह कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता, इसलिए दृष्टान्त ही ठीक नहीं (जलधर को सभी व्यक्ति स्थायी रूप से देखते हैं, न कि क्षण-क्षण में परिवर्तित), तो उपर्युक्त अनुमान नहीं किया जा सकता है। [आशय यह है—यों तो सभी लोग संसार को क्षणभंगुर मानते हैं किन्तु बौद्धों का क्षण कुछ दूसरा ही है। सामान्य दृष्टि से क्षण का अर्थ है थोड़ी देर, इसलिए क्षण-भंगुर = थोड़ी देर तक ठहरने वाला। न्यायशास्त्र में क्षण का अर्थ है तीन क्षण तक ठहरना क्योंकि पहले क्षण में उत्पत्ति, दूसरे में स्थिति और तीसरे में विनाश। लेकिन सभी वस्तुएँ वहाँ भी क्षणिक नहीं हैं। बौद्धों का क्षण तो एक क्षण का ही है। लेकिन ऐसी कोई चीज नहीं है जो एक क्षण भर ठहरे। क्षण = ऐसा कालांश जिससे सूक्ष्मतर और कोई काल न हो, सूक्ष्मतम कालांश। निमेष तक तो हम अनुभव कर सकते हैं किन्तु क्षण का नहीं। निमेष को ही लीजिए—इसमें चार क्षण हैं, पलक चलाना, इसके पूर्वस्थान का विभाजन, पूर्वसंयोगनाश, उत्तरसंयोग की उत्पत्ति। क्षण का अनुभव नहीं कर पाने से ही हम चारों को एक साथ समझ लेते हैं। क्षण के रूप में काल का विभाजन करना कठिन है। जलधर यद्यपि क्षण-क्षण बदलता है पर यहाँ क्षण का अर्थ है निमेष (पलक गिरने का समय), न कि बौद्धों का क्षण। क्षण निमेष से भी छोटा है अतः कोई उसे आँक नहीं सकता। जब दृष्टान्त ही ठीक नहीं तो अनुभव कैसे होगा ? इसलिए अनुमान से उक्त अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता]।

दूसरा विकल्प (दूसरे प्रमाण से इसे सिद्ध करना) भी ठीक नहीं ही है क्योंकि उसी प्रकार से क्षणिकत्व की सिद्धि सर्वत्र हो जायगी तो फिर सत्ता को [क्षणिक मानने के लिए] कोई भी अनुमान करना व्यर्थ हो जायगा। [यदि प्रत्यक्ष से ही यह सिद्ध है कि सत्ता क्षणिक है तो घट, पट इत्यादि को क्षणिक सिद्ध करने के लिए अनुमान की क्या आवश्यकता है ? यदि बुद्ध के उपदेश या शब्द-प्रमाण से ही यह सिद्ध है तो भी घट, पट आदि सिद्ध हो जायँगे। फिर क्षणिकत्व की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुमान क्यों ?]

फिर भी यदि आप कहें कि कुछ कार्य उत्पन्न करने वाले (अर्थक्रियाकारी) को सत् कहते हैं तो झूठ-मूठ के साँप काटने को भी सत् मानना पड़ेगा क्योंकि इससे भी तो कुछ कार्य (जैसे भय, शंकाजनित मृत्यु आदि) उत्पन्न होते हैं।

अतः यह कहा गया है कि सत्ता वह है जिसमें उत्पत्ति, विनाश (व्यय) और स्थिति (ध्रौव्य) हो। [यह जैनों का मत है]।

विशेष—ऊपर के पहले विवेचन में आम के बीज, कपास आदि दृष्टान्त देकर सत्ता को क्षणिक और संतानयुक्त सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी। वहाँ बीजादि कारण हैं और फल-फूल कार्य, जिनमें परंपरा से मधुरता या लाली का संक्रमण एक दूसरे तक होता है। लेकिन वास्तव में यह बात नहीं है। मधुरता या लाली नहीं चली जाती है। जाते हैं तो मधुर या लाल बीज के अंश। उन्हीं का संक्रमण होता है। कारण वह है जो कार्य से सीधा लगाव रखे (कार्यान्वयि कारणम्)। जैसा कार्य, वैसा कारण। अंकुरादि कार्यों से संबद्ध बीज का अंश ही कारण स्वरूप है, पूरा बीज कारण नहीं। यह तो लाक्षणिक प्रयोग है कि बीज अंकुर का कारण है। तो जो बीजांश मधुर रस में संस्कृत हैं, लाक्षा-रस से सींचे हुए हैं वे ही कार्य से संबद्ध होने पर मधुर या लाल दिखलाई देंगे। अतः अन्यत्र उत्पन्न संस्कार का फल अन्यत्र होगा—इस विषय में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है।

(४. क्षणिकवाद के खंडन की दूसरी विधि)

अथोच्यते—सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादिनामनेकान्ततावादस्येष्टतया विरोधासिद्धेः। यदुक्तं कार्पासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। युक्तेरनुक्तेः। तत्रापि निरन्वयनाशस्यानङ्गीकाराच्च।

इसके उत्तर में बौद्ध लोग यह कह सकते हैं कि क्षणिकवाद की सिद्धि इस तथ्य से हो सकती है कि [ऐसा न मानकर सत्ता को स्थायी मानने से] एक ही पदार्थ में दो विरुद्ध धर्मों—सामर्थ्य और असामर्थ्य—की स्थिति एक साथ होने लगेगी। [उदाहरण के लिए—कोठी में रखा और जमीन में बोया बीज यदि एक ही है तो उसमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य है कि नहीं ? यदि है तो कोठी का बीज अंकुरोत्पादन कर सकता है। सहकारी भावों को बौद्ध-दर्शन की विवेचना में काटा जा चुका है (दे० पृ० ४३ और आगे)। यदि बीजों में अंकुरोत्पादन की सामर्थ्य नहीं है तो भूमि में बोये बीजों से भी अंकुर नहीं निकलेंगे। ऐसा भी नहीं कह सकते कि सामर्थ्य भी है, असामर्थ्य भी। दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः अन्त में आप क्षणिकवाद को ही स्वीकार करेंगे।]

बौद्धों का यह तर्क भी ठीक नहीं है। स्याद्वाद के सिद्धान्त को धारण करनेवाले (जैन) लोग अनेकान्तता (अनिश्चय) के सिद्धान्त को मानते हैं

इसलिए कोई भी विरोध उनके लिए असिद्ध है। [जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित और सापेक्ष बनाने के लिए 'स्यात्' = 'शायद'— अव्यय का जोड़ना आवश्यक है। अभी हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, किन्तु हमारी यह अनुभूति काल और देश पर अवलंबित है, त्रैकालिक सत्य यह सत्ता नहीं है और न ही सार्वदेशिक। यह सापेक्ष सत्ता है, जिसके विषय में निश्चित रूप से हमारा ज्ञान नहीं हो सकता—अधिक-से-अधिक हम 'स्यादस्ति' (शायद या किसी तरह है) कह सकते हैं। इसलिए जैनदर्शन में प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात्' लगाते हैं। इसी सिद्धान्त को **स्याद्वाद** कहते हैं। इसका दूसरा नाम **अनेकान्तवाद** है क्योंकि किसी ज्ञान का निश्चय या एकान्त इसमें नहीं हो सकता। इसके अनुसार दो विरुद्ध पदार्थों—जैसे सामर्थ्य + असामर्थ्य, अस्ति + नास्ति—में कभी भी विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि घट का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही इसके आधार पर सिद्ध हो सकता है। बौद्धों का यह कहना कि असामर्थ्य और सामर्थ्य एक ही स्थान में नहीं रह सकती, जैन-दर्शन के लिए आसान है, दोनों साथ-साथ भी हो सकती हैं। क्षणिकत्व सिद्ध करने की यह युक्ति भी खंडित हो गई। अब दूसरी युक्ति लें।]

बौद्ध लोग यह जो कहते हैं कि इसकी सिद्धि के लिए कपास इत्यादि दृष्टान्त देते हैं, वह केवल कहने भर को है, कोई युक्ति तो उसमें नहीं देते। [केवल दृष्टान्त देने से अनुमान की सिद्धि नहीं होती। रसोईघर में धूम और अग्नि देखने पर भी शंका हो सकती है कि धूमवान् पदार्थ में अग्नि का होना क्या जरूरी है? इस अवस्था में हमें दोनों के बीच कार्यकारण-भाव के रूप में युक्ति देनी पड़ेगी। तभी शंका हट सकती है, तभी पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान कर सकते हैं, यों ही नहीं। कपास में भी क्या कोई युक्ति है? इस दृष्टान्त में भी वे लोग निरन्वय = संबंधहीन नाश ही चाहते हैं,] वहाँ भी नाश को निरन्वय रूप से हम लोग अंगीकार नहीं कर सकते।

विशेष—बौद्ध किसी वस्तु के नाश को संबंधहीन मानते हैं क्योंकि क्षण में वस्तु नष्ट होती जाती है, किसी से किसी का कोई संबंध नहीं है। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, नाश जब होता है तो सान्वय ही। घड़ा नष्ट होने पर टुकड़े रहेंगे, कपड़ा नष्ट होने पर राख बचेगी और यहाँ तक की गर्म लोहे पर पड़ा हुआ जल भी नष्ट होने पर समुद्र में चला जाता है। पदार्थ नित्य है, नष्ट होने पर भी किसी-न-किसी रूप में रहेगा ही।

ठीक इसी प्रकार कपास के बीजावयवों में भी, जो कार्य से संबद्ध होने योग्य हैं, लाह के रस का सेचन होता है। उन्हीं के अवयवों में फल निकलने

तक संबंध होते-होते लाली आ जाती है। परम्परा से तो कुछ होगा ही नहीं। संस्कार (लाक्षारसावसेक) कहीं और जगह हो तथा उसका फल (लाली) कहीं और जगह—यह कैसे हो सकता है? कारण वाली आत्मा में (एक ही संतान और परम्परा में) कर्म हो और कार्यात्मा में उसके फल का उपभोग—बौद्धों का यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता।

न च संतानिव्यतिरेकेण संतानः प्रमाणपदवीमुपारोढुमर्हति। तदुक्तम्—

३. सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते॥ इति।

न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसङ्गं भङ्क्तुमर्हति। तथा ह्युपाध्यायबुद्ध्यनुभूतस्य शिष्यबुद्धिः स्मरेत्तदुपचितकर्मफलमनुभवेद्वा॥

दूसरे, संतान या परंपरा तबतक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती जबतक इसे परस्पर मिलाने वाली वस्तु (संतानी = संतानों को संयुक्त करनेवाला) न हो। [बौद्धों का कहना है कि एक ही परंपरा में उत्पन्न पूर्वक्षण की वस्तु कर्मकर्त्ता है और उत्तरक्षण की वस्तु फलभोक्ता, अर्थात् एक ही परंपरा या संतान (series) काम करनेवाली और फल भोगनेवाली, दोनों ही है—लेकिन उन क्षणों में परस्पर संबंध कैसे होता है? उनका संतानी या संयोजक कहाँ है? ये कोई फूल की माला तो नहीं कि तागे से परस्पर मिले हों! इसलिए संतानी के बिना संतान को सिद्ध करना टेढ़ी खीर है।]

ऐसा ही कहा भी है—'व्यक्ति (पृथक्-पृथक् वस्तुएँ particular things) यदि एक ही जाति या प्रकार के हों, क्रमशः (एक के बाद दूसरा) उत्पन्न हुए हों और आपस में यदि मिले हुए हों तो उन वस्तुओं को एक ही संतान (परंपरा series) मानी जाती है।

आप लोग अतिप्रसंग को रोकने के लिए कार्य-कारण-भाव को नियामक के रूप में उपस्थित करते हैं (दे० परि० २) लेकिन इससे अतिप्रसंग रुक नहीं सकता। ऐसा होने पर अध्यापक की बुद्धि में अनुभूत वस्तु का स्मरण शिष्य की बुद्धि के द्वारा हो सकता है अथवा उनके द्वारा उपार्जित कर्मों के फल का अनुभव भी शिष्य की बुद्धि कर लेगी। [आशय यह है कि उपाध्याय की बुद्धि-संतान में बहुत सी क्षणिक बुद्धियाँ हैं। शिष्य को समझाते समय जो उपाध्याय की क्षणिक बुद्धि है उसके साथ दो बुद्धियाँ उत्पन्न होंगी, एक उपाध्याय में, दूसरी

शिष्य में। यह तो मानना होगा कि अपने अनुभूत विषय को अध्यापक इसलिए याद करता है कि वह उसी संतान में है, उसी तरह उसी संतान में होने के कारण उपदेश के पूर्वकाल में जो उपाध्याय की बुद्धि थी, उसका स्मरण शिष्य कर ही लेगा। इस तरह उपदेश के पहले की अध्यापक-बुद्धि दो संतानें उत्पन्न करती है—उपदेश के बाद की उपाध्याय-बुद्धि तथा उपदेश के बाद की शिष्य-बुद्धि। अतः अध्यापक का अनुभव शिष्य स्मरण करेगा। दोनों में कार्य-कारण का संबंध है ही। फिर अतिप्रसंग रुका कहाँ ? एक के किये अनुभव या कार्य का स्मरण अथवा फल तो दूसरे ने ले ही लिया। यही तो अतिप्रसंग है। कार्य-कारण-भाव मानने पर भी अतिप्रसंग का कुछ नहीं बिगड़ेगा। क्षणिकवाद सिद्धान्त ही ऐसा है जिसमें अतिप्रसंग होता ही है।]

तथा च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। तदुक्तं सिद्धसेन-वाक्यकारेण—

४. कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग—
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ—
न्नहो महासाहसिकः परोऽसौ॥ (वी० स्तु० १८) इति।

इसी प्रकार किये गये कर्म का नाश तथा नहीं किये गये कर्म की फल-प्राप्ति का प्रसंग हो जायगा। [उपर्युक्त उदाहरण में उपाध्याय के किये गये कर्म का फल उपाध्याय को नहीं मिलता यह कर्म-प्रणाश हुआ। दूसरी ओर, शिष्य को, जिसने कर्म भी नहीं किया केवल उपाध्याय से क्षणिक सम्पर्क मात्र किया, फल भोगना पड़ता है।] इसे सिद्धसेन के [सिद्धान्तों के] वार्तिककार ने यों लिखा है—'(१) किये गये कर्म का नाश, (२) नहीं किये हुए कर्म का फल भोगना, (३) संसार का विनाश, (४) मोक्ष का विनाश तथा (५) स्मरण-शक्ति का भंग हो जाना—इन दोषों की साक्षात् उपेक्षा करके जो क्षणिकवाद को मानने की इच्छा करता है, वह विपक्षी वास्तव में बड़ा साहसी है !' [हेमचन्द्र लिखित **वीतरागस्तुति** नाम के ग्रन्थ में यह श्लोक है। इस ग्रन्थ की टीका का ही नाम **स्याद्वादमंजरी** है।]

विशेष—बौद्धों के क्षणिकवाद का खंडन कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० २१७–२३) में, शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।२।१८ के भाष्य में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (भाग २, पृ० १६–३९) में तथा मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी

(पृ० १२२–२६) में किया है। ये सभी उपर्युक्त पाँचों तर्कों का आश्रय लेते हैं (१) **कृतप्रणाश**—वस्तुओं के क्षणिक होने के कारण कोई भी वस्तु बिना फल का उत्पादन किये ही भूतकाल के गर्भ में विलीन हो जाती है। जो काम करने वाला व्यक्ति है उसे फल नहीं मिलता क्योंकि फल मिलने के समय तक तो कार्य रहा ही नहीं और न वह व्यक्ति ही रहा जिससे काम किया गया। क्षण-क्षण में चीजें बदलती जा रही हैं। इसे ही 'कृतप्रणाश' या 'किये गये कर्म का नाश' कहते हैं। (२) **अकृतकर्मभोग**—दूसरी ओर, फल का भोग उसे करना पड़ेगा जिसने काम नहीं किया; दूसरे के द्वारा काम किया गया था फिर भी क्षणिकवाद ने उसे फलभोग करने को बाध्य ही कर दिया। देवदत्त कृत कर्म का फल भोगता है यज्ञदत्त ? इस प्रकार दूसरा दोष भी इस वाद में है। (३) **भवभंग**—इसका अर्थ है संसार का विनाश। संसार में प्राणियों का जन्म इसलिए होता है कि वे अपने पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल भोग लें। इसीसे संसार चलता है। किन्तु जब सत्ता क्षणिक है तब प्राणियों में अपने कर्मफल को भोगने के प्रति उत्तरदायित्व रहेगा ही नहीं, फिर वे क्यों जन्म लेंगे। दूसरे के कर्म का फल तो दूसरा भोग ही लेगा। जो प्राणी गया, सो गया। इस प्रकार संसार की उत्पत्ति असंभव है। (४) **मोक्षभंग**—मोक्ष उसे कहते हैं जिसमें प्राणी कर्मफल के बन्धन से मुक्त होकर फिर जन्म न ले। बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं तो मृत्यु के बाद सुखी होने के लिए प्रयत्नवान् कौन होगा ? आत्मा की कोई संतान या परंपरा भी वास्तव में नहीं चलती। यदि वास्तव में हो भी तो क्षणिकवाद सिद्धान्त को बाधा पहुँचेगी। अष्टांगमार्ग आदि जो मोक्ष के साधन बौद्धों के सम्मत हैं वे कर्मफल के क्षणिक होने के कारण स्वयं क्षणिक हैं—उनसे मोक्ष पाना बिल्कुल असंभव है। अतएव मोक्ष के सिद्धान्त की हानि होती है। (५) **स्मृतिभंग**—अनुभव करनेवाले व्यक्ति का तुरत विनाश हो जाता है इसलिए स्मृति (memory) नाम की कोई चीज नहीं रहती। सभी लोग मानते हैं कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करने वाला व्यक्ति एक ही है लेकिन क्षणिकवाद के अनुसार ये दो व्यक्ति हैं। भले ही ये उसी संतान में हों, पर हैं दो व्यक्ति—इसमें संदेह नहीं। इसी तरह प्रत्यभिज्ञा (Recognition) भी असिद्ध हो जाती है। कोई किसी को पूर्वानुभव के आधार पर पहचान नहीं सकता। इसीलिए बौद्धों को ये महासाहसिक कहते हैं। साहसिक = सहसा बिना विचारे हुए काम करनेवाला।

जयन्तभट्ट ने क्षणिकादि वासनाओं में बौद्धों का दम्भ माना है—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।

सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियतो दम्भस्य भूमिः परा ॥
(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

एक ओर बौद्ध लोग मानते हैं कि आत्मा की सत्ता नहीं केवल फल का भोग मात्र होता है, दूसरी ओर स्वर्ग की प्राप्ति के लिए चैत्य (पवित्र मन्दिर और मूर्ति) की अर्चना भी करते हैं। सभी संस्कार क्षणिक हैं, और दूसरी ओर युगों तक स्थित रहने वाले विहारों का (मठों का) निर्माण हो रहा है। एक ओर 'सब कुछ शून्य है' का उद्घोष चल रहा है, दूसरी ओर गुरु को धन देने का आदेश भी मिल रहा है। इससे अधिक बौद्धों का चरित्र और क्या होगा ? वह तो ढोंग की पराकाष्ठा है। व्यवहार क्या है और सिद्धान्त क्या ?

(५. क्षणिकत्व-पक्ष में ग्राह्य-ग्राहक-भाव न होना)

किं च क्षणिकत्वपक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेयकाले ज्ञानस्यासत्त्वेन च ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ सकललोकयात्रा-स्तमियात् । न च समसमयवर्तिता शङ्कनीया । सव्येतरविषाण-वत्कार्यकारणभावासंभवेनाग्राह्यस्यालम्बनप्रत्ययत्वानुपपत्तेः ।

इसके अलावे, यदि क्षणिकवाद को मानते हैं तो ज्ञान के समय ज्ञेय पदार्थ की सत्ता नहीं रहेगी, उसी प्रकार ज्ञेय-पदार्थ के समय ज्ञान की सत्ता नहीं रहेगी। (ज्ञेय पदार्थ कारण है और ज्ञान कार्य है। पहले ज्ञेय होगा तब ज्ञान, दोनों एक साथ रहेंगे ही नहीं क्योंकि वे पूर्वापर के क्रम से होते हैं।) इसलिए ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी और संसार के सारे काम अस्त हो जायँगे। [न तो कोई ग्राहक रहेगा और न कोई ग्राह्य—क्योंकि सभी पदार्थ क्षण-क्षण में बदलते जा रहे हैं।]

आप यह भी नहीं सोच सकते कि दोनों (ग्राह्य-ग्राहक) एक ही समय में रहेंगे। ऐसा होने से (=ग्राह्य और ग्राहक को समसामयिक मान लेने पर), बायीं और दायीं सींग की तरह, उनमें कार्य-कारण भाव (Causal relation) नहीं हो सकता और इसीलिए जो वस्तु ग्राह्य नहीं है (=अग्राह्य है) उसे आलंबन-प्रत्यय (विषय object) के रूप में नहीं लिया जा सकता।

विशेष—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दोनों सींगें एक दूसरे का कारण-कार्य नहीं, उसी प्रकार समकालिक हो जाने पर ग्राह्य-ग्राहक में भी कार्य-कारण नहीं हो सकेगा। 'आलंबन' एक प्रकार का प्रत्यय (कारण) है जिसे सौत्रान्तिक-मत की प्रस्तावना में हम स्पष्ट कर चुके हैं (पृ० ७५)। आलंबन

वास्तव में 'नील', 'घट', 'पट' आदि विषयों को कहते हैं—तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता भवति। आलम्बन-प्रत्यय केवल ग्राह्य का हो सकता है। जिसमें कार्य-कारण-भाव हो सके वही ग्राह्य है। यहाँ पर यदि ग्राह्य-ग्राहक या ज्ञेय-ज्ञान को समसामयिक मान लेंगे तो कार्य-कारण भाव रहेगा ही नहीं और उस अवस्था में ये अग्राह्य हो जायँगे। फलतः आलम्बन-प्रत्यय ये नहीं होंगे। इस प्रकार अपने ही अस्त्र से अपना सिद्धान्त खण्डित होगा।

कॉवेल प्रस्तावित करते हैं कि 'अग्राह्यस्य' के स्थान में 'ग्राह्यस्य' रखा जाय और वे अनुवाद भी वैसा ही करते हैं। यह भी ठीक है ग्राह्य ही विषय है, उसका आलम्बन नहीं होगा।

(६. ज्ञान का साकार होना और दोष)

अथ भिन्नकालस्यापि तस्याकारार्पकत्वेन ग्राह्यत्वम्—तदप्यपेशलम्। क्षणिकस्य ज्ञानस्याकारार्पकताश्रयताया दुर्वचत्वेन साकारज्ञानवादप्रत्यादेशात्।

निराकारज्ञानवादेऽपि योग्यतावशेन प्रतिकर्मव्यवस्थायाः स्थितत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न तु दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम्।

अब यदि कहा जाय कि [वस्तु ज्ञान से] भिन्न काल में भी हो तो भी अपने आकार की छाप उस पर दे देने के कारण ग्राह्य (Perceptible) ही रहेगी, यह कहना भी ठीक नहीं है। (आशय यह है कि घट, पट आदि विषय यद्यपि क्षणिक हैं तथापि नष्ट होने के पूर्व अपने आकार के सदृश आकार छोड़ जाते हैं। इसलिए ज्ञान के क्षण में वस्तु की सत्ता न होने पर भी वस्तु ज्ञानग्राह्य कहलाती है। आकार की छाप छोड़ना ही ग्राह्य होना है। इस प्रकार क्षणिकवाद के पक्ष में तर्क देकर उसे सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अब जैन इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं।)

इसका कारण यह है—क्षणिक पदार्थ (जैसे घट, पटादि), ज्ञान पर अपने आकार की छाप छोड़ेगा, इसका आश्रय लेना (=यह कहना) ही असंभव है और इसलिए 'ज्ञान साकार है' इस सिद्धान्त (वाद) का ही खण्डन हो जायगा। [घटादि विषय क्षणिक हैं। ये ज्ञान पर अपनी छाप छोड़ते हैं।

जब पूर्वक्षण में विद्यमान, आकार की छाप छोड़ने वाला विषय स्थित है तो आकार की छाप ग्रहण करने वाला, उत्तरक्षणिक ज्ञान ही नहीं है। [जब आकार ग्राहक उत्तर क्षण वाला ज्ञान है, तब पूर्वक्षणिक आकार समर्पक ज्ञेय (विषय) ही नहीं रहता। इस प्रकार यह कहना कठिन है कि कोई किसी को अपना आकार देता है या कोई आकार ग्रहण करता है। इसलिए साकार ज्ञान का सिद्धान्त बौद्धों के मत से खण्डित हो जाता है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की साकारता सिद्ध ही नहीं हो सकती।]

ज्ञान को निराकार मानने का सिद्धान्त रखने पर भी [अव्यवस्था हटाने के लिए] योग्यता के अनुकूल सभी विषयों की व्यवस्था माननी ही पड़ेगी। [निराकार ज्ञान मानने में एक बड़ा दोष यह होता है सभी प्रकार के ज्ञान—चाक्षुष, स्पार्शन, रासन, श्रावण आदि—एक समान हो जाते हैं और चाक्षुष का विषय रूप है, स्पार्शन का स्पर्श, रासन का रस, श्रावण का शब्द इत्यादि नियत विषयों की व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसलिए विश्रृंखलता दूर करने के लिए नियामक (Controller) के रूप में 'योग्यता' की शरण लेनी पड़ती है। योग्यता के ही कारण रसनेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान रस का ग्राहक होता है—ऐसी व्यवस्था संभव है। ज्ञान को साकार मानने पर भी चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान रूप का आकार ग्रहण करता है ऐसी व्यवस्था होती है।]

[अब निराकार ज्ञान के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष अनुभव देते हैं—] जैसे, प्रत्यक्ष के द्वारा विषय और आकार से रहित [भावात्मक Abstract] ज्ञान, जो घटादि का ग्राहक है, प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से (अहमहमिका से) अनुभूत होता है; दर्पणादि के समान यह ज्ञान केवल प्रतिबिम्ब (परछाईं) ग्रहण नहीं करता। (समस्या यह है कि ऊपर कहे गये तथ्यों के अनुसार, वस्तु ज्ञान को अपने आकार का यदि समर्पण कर देता है तो दर्पण की तरह ही वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्ञान ले लेता होगा तथा उसके द्वारा आन्तर प्रत्यक्ष से अनुभूत होता होगा। किन्तु आन्तर प्रत्यक्ष केवल सुख, दुःख, इच्छादि आन्तर भावों के ही लिए सुरक्षित है न कि बाह्य-विषयों—घट, पटादि—के प्रत्यक्षीकरण के लिए। इनका ज्ञान तो बाह्य-प्रत्यक्ष से होता है। घटादि का ग्राहक ज्ञान ('मैं घट देखता हूँ') प्रत्येक व्यक्ति को विषय और आकार से पृथक् रूप में ही होता है—इसलिए ज्ञान की निराकारता ही सिद्ध होती है।)

विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। न चेदमिष्टापादानमेष्टव्यम्। दवीयान्महीधरो नेदीयान्दीर्घो बाहुरिति व्यवहारस्य निराबाधं जागरूकत्वात्।

न चाकाराधायकस्य तस्य दवीयस्त्वादिशालितया तथा व्यवहार इति कथनीयम् । दर्पणादौ तथानुपलम्भात् ।

[साकारज्ञानवाद में दूसरा दोष—] यदि ज्ञान का प्रयोजन विषय के आकार को धारण कर लेना भर है तो इसमें दूर, निकट आदि व्यवहार के शब्दों को तिलांजलि दे दी जायगी (छोड़ देना पड़ेगा) । [दूर, निकट आदि शब्दों का सम्बन्ध ज्ञाता के साथ है, न कि ज्ञान के साथ । अभ्यंकर जी के शब्दों में—छायाचित्र लेने वाले दर्पण में बड़े-बड़े पहाड़, छोटे दर्पण में आने योग्य अपने ही सदृश छोटे आकार के द्वारा प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार साकार ज्ञानवादी बौद्धों के मत से पर्वतादि के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय बड़ा होने पर भी ये पहाड़, ज्ञानमय चित्त में आने के योग्य आकारों को धारण करके उसमें प्रवेश करते हैं । तो, ज्ञानमय चित्त में प्रविष्ट छोटे पर्वतादि ही विषयीभूत अर्थ हैं, न कि उस प्रकार के आकार को समर्पित करने वाले, बाह्य-जगत् में विद्यमान बड़े-बड़े पहाड़ । इसलिए, विषय बने हुए पदार्थ दूर में, नजदीक में या बड़े हैं—इस तरह के व्यवहारों की असिद्धि हो जायगी ।] इस इष्ट वस्तु के प्रतिपादन को खोजने की जरूरत भी नहीं है । 'यह पहाड़ कुछ अधिक दूर (Farther) है', 'यह बड़ी बाँह नजदीक (Nearer) है'—ऐसा व्यवहार बिना रोक-टोक के सदा चलता रहता है । [जब दूर और निकट के व्यवहार चलते हैं और उन्हें ज्ञानमय चित्त में (ज्ञान को साकार मान कर) सिद्ध करना कठिन है तब तो यह 'विषम उपन्यास' हो जायगा और दोनों में से किसी एक को हटाना पड़ेगा । व्यवहार को रोक नहीं सकते, रुकेगा तो साकार ज्ञानवाद ही । अतएव वह दोषपूर्ण है ।]

उत्तर में आप यह नहीं कह सकते कि आकार को समर्पण करने वाले उस (पर्वतादि) में ही दूरत्वादि गुण हैं और इसीलिये ऐसा व्यवहार होता है (अर्थात् चूँकि पर्वत दूरत्व से विशिष्ट है इसलिये ज्ञान के द्वारा उस आकार में ग्रहण होने पर दूरत्व अनुमान से ही उस व्यवहार का संचालन होता है । यह बौद्धों का उत्तर है, जो ठीक नहीं) क्योंकि दर्पण आदि में ऐसी बातें नहीं पायी जातीं । (दर्पण में दूर की वस्तुओं का आकार दूर पर ग्रहण नहीं होता, सभी वस्तुओं का आकार अल्प ही होता है जितना दर्पण में आ सके । इसलिये साकार ज्ञानवाद में किसी प्रकार दूरत्वादि का अनुमान नहीं हो सकता ।)

किं चार्थादुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलाकारतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि अर्थवत्तदपि जडं स्यात् । तथा च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टं स्यादिति महत्कष्टमापन्नम् ।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानं जडतां नानुकरोति—इति ब्रूषे, हन्त, तर्हि तस्या ग्रहणं न स्यादित्येकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायापातः।

इसके अलावे भी [दोष होगा कि] वस्तुओं से उत्पन्न ज्ञान जिस प्रकार उस वस्तु (उदाहरण के लिये नील या घट को लें) के आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यदि [पदार्थ के] जडत्व को भी ग्रहण कर ले तब तो अर्थ (वस्तु) की ही तरह वह (ज्ञान) भी जड ही हो जायगा (और ऐसी दशा में ज्ञान के स्वरूप की ही हानि हो जायगी। जड का अर्थ है प्रकाशरूप न होना। ज्ञान का अर्थ है स्वप्रकाशक और परप्रकाशक होना। यदि ज्ञान जड हो जाय तब तो घट का आकार प्रकाशित करना तो दूर रहा, अपने स्वरूप का भी प्रकाशन उससे न हो सकेगा]। इस प्रकार, जहाँ आप वृद्धि की चाह कर रहे थे, आपका मूल भी नष्ट हो गया—इस तरह बड़ा भारी कष्ट आ गया। (कोई व्याज की इच्छा से दूसरे को द्रव्य दे, किन्तु व्याज तो दूर, मूल भी नष्ट हो जायगा। चौबे गये छब्बे होने, दूबे बनकर आये।)

अब यदि इस दोष से बचने की कामना से कहें कि ज्ञान जडता का ग्रहण नहीं करता, तब और मजा है! उस (जडता) का ग्रहण नहीं होगा और वैसी दशा हो जायगी कि एक वस्तु का अनुसंधान करते-करते दूसरी वस्तु भी भूल जाय। (घटादि का ज्ञान क्या होगा, घट जड है—यही ज्ञान नहीं होगा।)

ननु मा भूज्जडताया ग्रहणम्। किं नश्छिन्नम्? तदग्रहणेऽपि नीलाकारग्रहणे तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा भवेत्। नीलाकारग्रहणे चागृहीता जडता कथं तस्य स्वरूपं स्यात्? अपरथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्यमपि रूपं भवेत्। तदेतत् प्रमेयजातं प्रभाचन्द्रप्रभृतिभिरर्हन्मतानुसारिभिः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ प्रबन्धे प्रपञ्चितमिति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोपन्यस्तम्॥

अच्छी बात है, जडता का ही ग्रहण नहीं होगा, हमारी क्या हानि है? [उत्तर यह है कि] जडता का ग्रहण न होने पर भी, जब नील (या घट) के आकार का ग्रहण होता है उस समय दोनों में (जडता और पदार्थ में) भेद होता है (जैसा कि घट और पट में है) या अनेकान्त होता है (जिसके चलते वे धूम और अग्नि की तरह कभी-कभी ही—व्यभिचरित होकर—मिलते हैं)। [आशय यह है कि घटाकार और जड़ता में या तो भेद होगा या व्यभिचार

सम्बन्ध होगा। 'घट जड है' ऐसा कहने पर भी जड और घट भिन्न हैं, इसमें कोई विश्वास नहीं करेगा। अतः जडता घट का स्वरूप ही है। फिर भी यदि घट ग्रहण होने पर भी जडता का ग्रहण नहीं हो, तो वे दोनों भिन्न हैं, ऐसा सन्देह हो जायगा और अभेद का निश्चय भी नहीं होगा।] नीलाकार का ग्रहण हो जाने पर भी जिस जड़ता का ग्रहण होता है वह उसका स्वरूप कैसे होगा ? अन्यथा (यदि अगृहीत गुण भी गृहीत वस्तु का स्वरूप हो, तब—) गृहीत स्तम्भ का रूप अगृहीत त्रैलोक्य ही हो जायगा। [यदि आप कहते हैं कि अवयव न भी देखा जाय और अवयवी देखा जाय, कोई हानि नहीं, तो मैं कहता हूँ कि त्रैलोक्य अवयव है और खम्भा अवयवी।]

इन सभी विषयों का प्रतिपादन **प्रभाचन्द्र** इत्यादि अर्हत् (जैन) मत को मानने वाले विद्वानों के द्वारा **प्रमेयकमलमार्तण्ड** इत्यादि ग्रन्थों में हुआ है इसलिये ग्रंथ बड़ा हो जाने के भय से यहाँ नहीं दे रहे हैं।

विशेष—माधवाचार्य की यह स्वभावोक्ति है—ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अब विराम करें। कई जगह ऐसा प्रयोग है। जैन ग्रन्थकारों में प्रभाचन्द्र बहुत से हुए हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता प्रभाचन्द्र ८२५ ई० में विद्यमान थे। विद्यानन्दी (८०० ई०) ने **आप्तपरीक्षा** नामक ग्रन्थ लिखा जिसकी टीका माणिक्यनन्दी (८०० ई०) ने **परीक्षामुख** नाम से की। **प्रमेयकमल-मार्तण्ड** इसी परीक्षामुख की टीका है।

(७. अर्हत्-मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप)

तस्मात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैः सौगती गतिर्नानुगन्तव्या, अपि तु आर्हती एवार्हणीया। अर्हत्स्वरूपं च हेमचन्द्रसूरिभिराप्तनिश्चयालंकारे निरटङ्कि—

५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः॥ इति।

इसलिये पुरुषार्थ (मोक्ष) की इच्छा करने वाले लोगों को बुद्ध की पद्धति का अनुगमन नहीं करना चाहिये, बल्कि अर्हत् (जिन) की सरणि का पूजन करना चाहिये। अर्हत् (जैनों के ईश्वर) का स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने अपने **आप्तनिश्चयालंकार** नामक ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—'जो सब कुछ जानता हो, राग (आसक्ति) आदि दोषों को जीत चुका हो, तीन लोकों में पूजित हो, वस्तुएँ जैसी हैं उन्हें वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।

विशेष—हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) अपने समय के सबसे बड़े विद्वान् थे जिन्होंने काव्य, व्याकरण, दर्शन आदि अनेक शास्त्रों में ग्रन्थ-रचना की। प्रमाणमीमांसा तथा शब्दानुशासन इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सर्वांगीण प्रतिभा के कारण ही इन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि मिली थी।

(८. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शंका)

ननु न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धति-मध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः—

६. सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥

७. न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते॥

कोई शंका कर सकता है—कोई विशेष पुरुष, 'सर्वज्ञ' शब्द के द्वारा बोधनीय नहीं है जो प्रमाण की पदवी पा सकता है। उस (अर्हत्, सर्वज्ञ) की सत्ता को सिद्ध करनेवाले पाँचों प्रमाणों की प्राप्ति वहाँ नहीं है। (पाँच प्रमाण = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति। इनमें किसी से अर्हत् की सिद्धि नहीं होती।) जैसा कि तौतातित (कुमारिलभट्ट)[1] ने कहा है—

(६) क. प्रत्यक्ष-प्रमाण से असिद्धि—'इस समय सर्वज्ञ (ईश्वर) हमलोगों को दिखलाई नहीं पड़ता।'

ख. अनुमान-प्रमाण से असिद्धि—'और न उस (सर्वज्ञ) का कोई भाग ही दिखलाई पड़ता कि लिंग (हेतु Middle term) बनकर वह सर्वज्ञ के अनुमान में सहायता करे।'

(७) शब्द-प्रमाण से असिद्धि—'न तो आगम (वेद-शब्द) की कोई विधि (आज्ञा) ही ऐसी है जिससे नित्य और सर्वज्ञ (अर्हत्) का बोध हो। **अर्थवाद**-वाक्यों का भी तात्पर्य (अर्थ) यहाँ पर नहीं लगता।'

---

१. **तौतातित** = अभ्यंकर ने इसका अर्थ 'बौद्ध' दिया है जब कि कॉवेल कुमारिल भट्ट का इसे पर्याय समझते हैं। आगे दिये गये श्लोक वास्तव में कुमारिल के हैं जो जैनों के विरोध में कहे गये हैं। इसके अलावे प्रमाणपञ्चक की स्वीकृति (प्रभाकर मत के अनुसार) तथा विधि अर्थवाद का उल्लेख बतलाता है कि शंका मीमांसकों की ओर से है, बौद्धों से नहीं।

विशेष—मीमांसक लोग शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत वेदों का ग्रहण करते हैं जो नित्य और अपौरुषेय हैं। वेद के विषयों के इनके अनुसार पाँच भेद हैं :—(१) **विधि**—अज्ञात ज्ञापक वाक्य जो प्रेरणा प्रदान करे जैसे 'स्वर्ग-कामो यजेत'। इसके भी चार भेद हैं—कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली उत्पत्ति-विधि, अंग और प्रधान अनुष्ठान का सम्बन्ध बतानेवाली विनियोग-विधि, कर्म से उत्पन्न फ़ल का स्वामित्व बतलानेवाली अधिकार-विधि तथा प्रयोग की शीघ्रता का बोधक प्रयोग-विधि। विधि पर मीमांसा-दर्शन बहुत जोर देता है और विध्यर्थ के निर्णय के लिए श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक छह प्रमाण भी स्वीकृत हैं। (२) **मन्त्र**—अनुष्ठान के अर्थों का स्मरण दिलानेवाले वाक्य। (३) **नामधेय**—यज्ञों के नाम। (४) **निषेध**—अनुचित कार्यों से हटानेवाले वाक्य। (५) **अर्थवाद**—लक्षणा के द्वारा स्तुति या निन्दापरक वाक्यों का कथन, जैसे—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यहाँ अग्नि को हिमनाशक कहा गया है, अग्नि औषधि नहीं है। इसके भी तीन भेद हैं—गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद। कहा गया है—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः॥

इसके विशेष विवेचन के लिए अर्थसंग्रह, मीमांसान्यायप्रकाश या मीमांसा-परिभाषा देखें। सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में भी विधि और अर्थवाद का सुन्दर विवेचन किया है। वहाँ ब्राह्मण-भाग के दो भेद हैं—विधि और अर्थवाद। दोनों एक दूसरे के पूरक है। अर्थवाद वाक्यों से किसी विधि की ओर प्रवृत्ति होती है।

मीमांसकों के दो भेद हैं—भाट्ट-मत (कुमारिलभट्ट का सम्प्रदाय) तथा गुरुमत (प्रभाकर गुरु का सम्प्रदाय)। दोनों विद्वानों ने मीमांसा-सूत्रों पर लिखे गये शबर-भाष्य की टीकायें कीं। अन्य भेदों के अलावे दोनों में एक यह भी भेद है कि कुमारिल छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अभाव) जब कि प्रभाकर अभाव को प्रमाण नहीं मानते। ज्ञात होता है कि कुमारिल के ही अनुसार प्रमाणों को लेकर 'अभाव' को विवादग्रस्त जानकर इसे छोड़ दिया गया है और पाँच प्रमाणों से भी काम चला लिया गया है।

स्याद्वादरत्नाकर और प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्तिम श्लोक का पाठ यों हैं—

न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते।

इसके बाद मीमांसकों के अनुसार शब्दादि प्रमाणों से अर्हत् की असिद्धि दिखलाई जायगी।

८. न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥
९. अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ? ॥
१०. अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते ।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥

(८) 'दूसरे तात्पर्य वाले अर्थवाद वाक्यों से भी उसकी सत्ता नहीं सिद्ध होती। चूँकि पहले किसी ने नहीं कहा इसलिए इसका अनुवाद (पुनः कथन) भी नहीं हो सकता।' (अनुवाद किसी निश्चित उक्ति को कहते हैं जो पुनः कही गयी हो। 'अनुवादोऽवधारिते'।)

(९) 'सर्वज्ञ (जैनियों का ईश्वर) सादि—आदि से युक्त—है, वह अनादि आगम का विषय नहीं हो सकता। [वेद अनादि है, उसमें सादि सर्वज्ञ का वर्णन मिलना असम्भव है; दूसरी ओर यदि आगम (वेद) को सादि मान लें तो वह कृत्रिम (artificial, human-made) हो जायगा और असत्य विषयों का प्रतिपादन करने लगेगा।] तो, कृत्रिम तथा असत्य विषयों के द्वारा उस (सर्वज्ञ) का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ?

(१०) 'अब यदि उस (सर्वज्ञ मुनि) के वचन से ही सर्वज्ञ का ज्ञान (प्रतीति) लोग (मूर्ख लोग) करें तो उन दोनों की ही सिद्धि कैसे हो सकती है क्योंकि वे एक दूसरे पर आश्रित हैं ? (इसलिए अन्योन्याश्रय-दोष उत्पन्न हो जायगा। इसकी व्याख्या आगे की जा रही है।)

११. सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ।
कथं तदुभयं सिध्येत्सिद्धमूलान्तराद्दते ॥
१२. असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ? ॥
१३. सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥
१४. उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः ।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाभवत् ॥

१५. एवमर्थापत्तिरपि प्रमाणं नात्र युज्यते।
उपदेशस्य सत्यत्वं यतो नाध्यक्षमीक्ष्यते ॥ इत्यादि।

(११) '[आप कहते हैं कि] सर्वज्ञ के द्वारा कहे जाने के कारण वाक्य सत्य हैं और इसी से उनका अस्तित्व सिद्ध होता है, [तो उत्तर है कि] दोनों (सर्वज्ञ और उनके वाक्य) की सिद्धि ही कैसे होगी जब कि सिद्ध किया हुआ मूल ही नहीं है। (=सर्वज्ञ की ही जब सत्ता नहीं तो उनके वाक्य कहाँ से सिद्ध होंगे)?

(१२) 'सर्वज्ञ से भिन्न किसी व्यक्ति के द्वारा कहे गये, मूलहीन वचन से, यदि सर्वज्ञ का ज्ञान लोग करते हैं तो अपने ही वाक्य से क्यों नहीं जान लेते? (सामान्य जैनलेखकों की बात पर विश्वास करके सर्वज्ञ को जानने से अच्छा है अपने ही मन से कपोलकल्पना करके उन्हें जानना।)

(१३) उपमान-प्रमाण से असिद्धि—'सर्वज्ञ के समान यदि किसी व्यक्ति को हम इस समय देखें तभी तो उपमान-प्रमाण के द्वारा उन्हें जान सकते हैं?

(१४) अर्थापत्ति-प्रमाण से असिद्धि—'बुद्ध (या जिन) का उपदेश, जो धर्म-अधर्मादि का बोधक है, दूसरी तरह से सिद्ध नहीं हो सकता यदि उन्हें सर्वज्ञ नहीं मानते।

(१५) 'इस प्रकार की अर्थापत्ति भी प्रमाण के रूप में यहाँ ठीक नहीं बैठती क्योंकि उपदेश की सत्यता ही अध्यक्ष (controller) के रूप में नहीं देखी जाती।'[१]

विशेष—कुमारिलभट्ट यहाँ पर सिद्ध करना चाहते हैं कि अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। जैन कहते हैं कि यदि अर्हत् सर्वज्ञ नहीं होते तो उनके वचन सत्य और आप्त नहीं होते। किन्तु वचन चूँकि सत्य और आप्त हैं, इसलिए वे अर्हत् सर्वज्ञ हैं। यह तर्क बुद्ध के विषय में दिया गया है किन्तु जैन लोग उन्हीं की ओट में अपना मतलब साधते हैं। लेकिन जिस हेतु को लेकर यह अर्थापत्ति होती है (अर्थात् 'वचन सत्य हैं'), वही गलत है। अतएव अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

---

१. तुलना करें—

बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥

अभाव-प्रमाण न देने का कारण यह है कि यह प्रमाण अभावात्मक (negative) है जिसकी आवश्यकता ही नहीं। इस प्रकार भाट्ट-मीमांसा के छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती।

(९. अर्हत् पर मीमांसकों की शङ्का का समाधान)

अत्र प्रतिविधीयते। यदभ्यधायि 'तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्' इति तदयुक्तम्। तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं, तत्तत्साक्षात्कारि; यथा—अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

अब इसका उत्तर दिया जाता है—आपने जो यह कहा कि 'उसकी सत्ता को सिद्ध करनेवाले पाँचों प्रमाणों में कोई वहाँ प्राप्त नहीं है'—यह ठीक नहीं कारण यह है कि उस (सर्वज्ञ) की सत्ता सिद्ध करनेवाले अनुमान आदि की सत्ता वास्तव में है।

स्पष्टीकरण—कोई आत्मा (= अर्हत्, सर्वज्ञ मुनि) सभी पदार्थों का साक्षात्कार कर सकती है यदि, सभी पदार्थों को ग्रहण करने का इसका स्वभाव होने पर, इस प्रकार के ज्ञान को रोकनेवाले तत्त्व नष्ट हो जायँ। किसी (व्यक्ति) में जिस (वस्तु) को ग्रहण करने का स्वभाव (योग्यता) है, ज्ञान के प्रतिबन्धक प्रत्ययों के नष्ट हो जाने पर, वह (व्यक्ति) उस (वस्तु) का साक्षात्कार करेगा ही। उदाहरण के लिए, तिमिर (अन्धकार) आदि रुकावटों के नष्ट हो जाने पर, दृष्टि-विज्ञान (इन्द्रिय) रूप का साक्षात्कार करता है।

तदग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा। तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारीति। न तावदशेषार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्।

सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव उसमें है तथा उसका प्रतिबन्ध डालनेवाले प्रत्यय नष्ट हो चुके हैं, इसलिए एक आत्मा ऐसी (सर्वज्ञ के रूप में) है। इसलिए सभी पदार्थों का साक्षात्कार करने वाली [वह आत्मा] है। इसमें आत्मा का सभी वस्तुओं को ग्रहण करनेवाला स्वभाव असिद्ध नहीं होता।

विशेष—सर्वज्ञ को सिद्ध करने के लिए अनुमान यों दिया गया—

(१) कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी—प्रतिज्ञा ।

(२) तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्—हेतु ।

(३) यद्यद्·········रूपसाक्षात्कारि—उदाहरण ।

(४) तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा—उपनय ।

(५) तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारी (आत्मा अर्हन्)—निगमन ।

इस प्रकार पाँच अवयवों का यह परार्थानुमान है जिससे सर्वज्ञत्व की सिद्धि भली भाँति हो जाती है ।

अब उपर्युक्त हेतु—अशेषार्थ को ग्रहण करने की प्रकृति में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास देखने की चेष्टा की जाती है । चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करती हैं । यह उनका स्वभाव है । मन और आत्मा का कोई ऐसा स्वभाव नहीं कि वे अमुक विषय को ही ग्रहण करेंगे । प्रत्यक्ष ज्ञान में उनका विषय इन्द्रियों से सम्बद्ध रहता है, अनुमान में तो उससे भी पुनः सम्बद्ध (= इन्द्रिय सम्बद्ध सम्बद्ध) विषय होता है । इस प्रकार सभी वस्तुओं को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव तो असिद्ध है, इसे स्वरूपासिद्ध कहेंगे । इसी के उत्तर में कहा गया है कि आत्मा का स्वभाव असिद्ध नहीं । इसके लिये कारण अब देंगे और मीमांसकों को आड़े हाथों लिया जायगा ।

चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति व्याप्तिज्ञानोत्पत्तेश्च । 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयति' (मी० सू० १।१।२ शबरभाष्य) इत्येवंजातीयकैरध्वरमीमांसागुरुभिर्विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं सकलार्थविषयज्ञानं प्रतिपद्यमानैः सकलार्थग्रहणस्वभावकत्वमात्मनोऽभ्युपगतम् ॥

यदि [सर्वज्ञत्व सिद्ध करने का हेतु 'अशेषार्थ ग्रहण करने की प्रकृति'] नहीं रखें तो चोदना या विधि (Injunction) के बल से सभी विषयों के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी (अन्यथा अनुपपत्त्या) । दूसरे, निम्नोक्त व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति भी [नहीं हो सकेगी]—'सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक (अनिश्चित (Indeterminate) हैं क्योंकि उनकी सत्ता है (हेतु) ।' [इस प्रकार अर्थापत्ति से उपर्युक्त स्वरूपासिद्ध दोष का खंडन हो जाता है ।

एक तो विधि वाक्यों की सर्वार्थगामिनी प्राप्ति हमें बाध्य करती है कि विधि के विधायकों (जैसे अर्हन्मुनि) का स्वभाव सभी विषयों का ज्ञान करने वाला मानना होगा। दूसरी ओर, सभी विषयों को अनेकान्त मानने वाली व्याप्ति भी बाध्य करती है कि हम उपर्युक्त स्वभाव को स्वीकार करें। फिर कहाँ रहा स्वरूपासिद्ध दोष ? प्रत्युत उस हेतु के बिना काम ही नहीं चलता। अब चोदना या विधि की सर्व व्यापकता सुनें।]

चोदना (विधि) बीते हुए विषयों को (जैसे अर्थवाद में) वर्तमान विषयों को (जैसे यागादि को), भविष्य में होने वाले विषयों को (जैसे स्वर्ग सुख प्राप्ति आदि) सूक्ष्म वस्तुओं को (जैसे शरीर धारण के पूर्व जीव), व्यवहित (Obstructed जैसे शरीरादि के द्वारा व्यवधान पाने पर जीव) या दूर की वस्तुओं को (जैसे स्वर्गादि) बतलाती है (= इन सभी प्रकार के विषयों का निर्देश विधियों में है जिससे वे विधियाँ मीमांसकों के ही अनुसार निखिलार्थ बोधक हैं। इसी प्रकार की चोदना अर्हन्मुनि के बनाये हुये आगम में भी देखी जाती है। तो क्या वह आगम सर्वार्थप्रकाशक नहीं होगा ?) (मीमांसा सूत्र १।१।२ पर शबर स्वामी का भाष्य)—इस प्रकार के अध्वरमीमांसा (यज्ञमीमांसा, कर्ममीमांसा)[1] के गुरुगण विधि (Injunctions) और प्रतिषेध (Prohibitions) के विचार पर आश्रित सभी वस्तुओं के ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए, आत्मा (अर्हन्मुनि) के सकलार्थग्रहण-रूपी स्वभाव को मानते हैं।

विशेष—चोदना के प्रणेता अर्हन्मुनि में निखिल वस्तुओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि उनका स्वभाव निखिल विषयों का ग्रहण करना नहीं होता, तो यह सम्भव नहीं था। इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा इसकी सिद्धि होती है। इसके अलावे अर्हन्मुनि ने यह अनुमान भी कहा है—'सब कुछ अनेकान्त (अनिश्चयात्मक) है क्योंकि उसकी सत्ता है।' यह अनुमान बिना व्याप्ति के ज्ञान के सम्भव नहीं है। अतः अर्हन्मुनि को यह होना ही चाहिये—सभी वस्तुओं के विषय में व्याप्ति होनी परमावश्यक है। इसके लिये 'निखिलार्थग्रहणस्वभाव' होना ही पड़ेगा।

---

१. वेद के अध्वर-भाग या कर्मकाण्ड पर जोर देने के कारण जैमिनीय दर्शन का नाम कर्म-मीमांसा या पूर्वमीमांसा भी है जब कि वेदान्त को जिसमें ज्ञानकाण्ड का वर्णन है उत्तरमीमांसा या ज्ञानमीमांसा भी कहते हैं। बाद में वेदान्त नाम पड़ जाने पर पहले को केवल मीमांसा भी कहने लगे।

न चाखिलार्थप्रतिबन्धकावरणप्रक्षयानुपपत्तिः । सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्यावरणप्रक्षयहेतुभूतस्य सामग्रीविशेषस्य प्रतीतत्वात् । अनया मुद्रयापि क्षुद्रोपद्रवा विद्राव्याः ।

[हेतु में जो विशेष्य = प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्व—लगा है, उसमें दोष प्राप्त होने की शंका करते हैं—] ऐसा न समझें कि अखिल वस्तुओं के [प्रकाशन या ज्ञान में] रुकावट डालने वाले आवरण (ढक्कन Covering) के विनाश की सिद्धि नहीं होगी। (अर्थात् अर्हन्मुनि अखिल वस्तुओं का ज्ञान रखते हैं उसमें कहीं भी कोई रुकावट नहीं डाल सकता।) इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शन आदि तीन (रत्नों) से युक्त तथा आवरण का विनाश करने वाले कुछ ऐसे विशिष्ट साधन (सामग्री विशेष) हैं जिनकी प्रतीति होती है। [अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं के ज्ञान में जो रुकावटें या आवरण हैं उनके नष्ट हो जाने पर अर्हन्मुनि का यह स्वभाव ही हो जायगा कि वे सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करें और फिर सर्वज्ञत्व उनमें क्यों नहीं रहेगा ? लेकिन प्रश्न है कि इन आवरणों को नष्ट करने के उपाय भी हैं क्या ? हाँ, हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र, इन तीन रत्नों के धारण से आवरण प्रक्षीण हो जाते हैं, मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। त्रिरत्न का स्वरूप आगे चल कर बतलायेंगे। अभी तो शत्रुओं से युद्ध में फँसे हैं।]

इस रीति से भी दुष्टों (जैनमत के आक्षेपकों) के उपद्रव (आक्षेप) दबा दिये जायँ।

(१०. नैयायिकों की शंका और उसका उत्तर)

नन्वावरणप्रक्षयवशादशेषविषयं विज्ञानं विशदं मुख्यप्रत्यक्षं प्रभवतीत्युक्तं, तदयुक्तम् । तस्य सर्वज्ञस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासंभवादिति चेत्—तन्न । अनादिमुक्तत्वस्यैवासिद्धेः । न सर्वज्ञोऽनादिमुक्तः । मुक्तत्वादितरमुक्तवत् । बद्धापेक्षया हि मुक्तव्यपदेशः । तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत् ॥

[नैयायिकों की शंका है—] आप (जैन) लोग जो यह कहते हैं कि आवरण के अच्छी तरह (प्रकर्षेण) नष्ट हो जाने पर, सभी पदार्थों के विषय में, विशुद्ध विज्ञान (Pure intelligence) उत्पन्न होता है जिसमें सबसे अधिक प्रत्यक्ष-शक्ति रहती है, तो आप की यह बात ठीक नहीं है। कारण यह है कि सर्वज्ञ तो अनादि काल से मुक्त है, उसमें आवरण (ज्ञान को ढँकने

वाले तत्त्व) की संभावना ही कहाँ से होगी ? [हम उत्तर में कहते हैं कि] यह शंका भी युक्तियुक्त नहीं है। आप 'अनादि काल से मुक्त (सर्वज्ञ)' की ही सिद्धि नहीं कर सकते। सर्वज्ञ अनादि काल से मुक्त नहीं है, क्योंकि वह भी अन्य मुक्त पुरुषों की तरह 'मुक्त' होता है। 'मुक्त' शब्द 'बद्ध' की अपेक्षा रखता है। (जो मुक्त होगा तो किसी बन्धन से ही; इसलिए मुक्त को पहले बद्ध होना आवश्यक है चाहे वह सर्वज्ञ क्यों न हो।) यदि वह (बद्ध) नहीं रहेगा तो इस (मुक्त) का भी अभाव हो जायगा, जैसे—आकाश [न तो बद्ध रहता है और न मुक्त। इसलिए या तो बद्ध और मुक्त दोनों रखना पड़ेगा या दोनों में कोई नहीं।]

नन्वनादेः क्षित्यादिकार्यपरंपरायाः कर्तृत्वेन तत्सिद्धिः। तथा हि—क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। तदप्यसमीचीनम्। कार्यत्वस्यैवासिद्धेः। न च सावयवत्वेन तत्साधनमित्यभिधातव्यम्। यस्मादिदं विकल्पजालमवतरति।

[नैयायिक लोग उत्तर दे सकते हैं कि] पृथ्वी आदि अनादि काल से चली आने वाली कार्य-परंपरा को देखकर [उन कार्यों के] कर्त्ता के रूप में उस (सर्वज्ञ ईश्वर) की सिद्धि हो जाती है। समझने के लिए यह अनुमान लें—'पृथ्वी आदि इसलिए कर्तृयुक्त (Having a doer, i. e. God) हैं कि ये (पदार्थ) कार्य के रूप में हैं, जैसे कि घट।' (जिस प्रकार घट का कर्त्ता कुम्भकार है उसी प्रकार अनादि काल से चलने वाले पृथ्वी आदि पदार्थों के लिए भी एक अनादि कर्त्ता की आवश्यकता है। वही कर्त्ता ईश्वर है। यह नैयायिकों की तर्कप्रणाली ईश्वर को सिद्ध करने में काम आती है।) [अब हमारा (जैनियों का) प्रत्युत्तर है—] यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इन वस्तुओं को हम कार्य के रूप में ही स्वीकार नहीं कर सकते।

आप यह नहीं कह सकते हैं कि [पृथ्वी आदि पदार्थों के] अवयव युक्त होने के कारण उस (कार्यत्व) की सिद्धि हो जायगी क्योंकि यह विकल्प का समूह वहाँ पर आ जायगा। [इसके बाद पाँच विकल्प देकर उनका खण्डन किया जायगा।]

विशेष—जैनों के प्रहार से बचने के लिए वीर नैयायिक बहुत-सी युक्तियाँ देते हैं। जैनों का कहना है कि पृथ्वी कार्य नहीं है तब नैयायिकों ने कहा कि जिन-जिन पदार्थों की रचना में टुकड़े या अवयव होते हैं वे पदार्थ कार्य हैं। अब जैन लोग विकल्प का जाल फैलाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि सावयव होने से ही कोई पदार्थ कार्य नहीं हो जायगा।

(११. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन)

सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम्, अवयवसमवायित्वम्, अवयवजन्यत्वम्, समवेतद्रव्यत्वम्, सावयवबुद्धिविषयत्वं वा? न प्रथमः। आकाशादौ अनैकान्त्यात्। न द्वितीयः। सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः। साध्याविशिष्टत्वात्।

'अवयवों के साथ होना' इसका अर्थ क्या है—(१) अवयवों के साथ संयोग होना, या (२) अवयवों के साथ नित्यरूप से सम्बद्ध रहना, या (३) अवयवों से उत्पन्न होना, या (४) नित्य रूप से सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य होना अथवा (५) अवयवों [के विचार] से युक्त बुद्धि का ही विषय होना ? (पंचम विकल्प का अर्थ है कि जिस बुद्धि से सावयव पदार्थ का ज्ञान होता है उस बुद्धि में ही 'अवयवों से संयुक्त होने' का प्रत्यय (Concept) छिपा हुआ हो।)

(१) पहला विकल्प [कि अवयवों के साथ संयोग होता है,] ठीक नहीं क्योंकि आकाश आदि पदार्थों में व्यभिचार हो जायगा [इसलिए अतिव्याप्ति हो जायगी। आशय यह है कि आकाश के जो अवयव या भाग हैं उनका संयोग आकाश में है। इस प्रकार प्रथम विकल्प के अनुसार ही, अवयवों के साथ संयुक्त सावयवत्व यहाँ पर हेतु है जो कार्य अर्थात् आकाश की सिद्धि में उपयुक्त हो सकता है। यदि सावयव होने का अर्थ है 'अवयवों के साथ संयुक्त होना' तब तो आकाश भी अवयवों से संयुक्त है फिर आकाश को नैयायिक लोग कार्य क्यों नहीं मानते ? नैयायिक लोग इस युक्ति में—

सभी सावयव (अवयवसंयोगी) पदार्थ कार्य हैं,
चूँकि आकाश सावयव (अवयव संयोगी) है,
इसलिये आकाश कार्य है,

साध्य ('कार्य') को पक्ष ('आकाश') से भिन्न मानते हैं, आकाश को कार्य नहीं मानते। इसके चलते 'सावयव' हेतु व्यभिचारग्रस्त माना जायगा और वह व्यभिचार (Wide application) है कि यह हेतु साध्य के अभाव से युक्त (साध्याभाववत्) स्थानों में भी अपनी वृत्ति रखता है (साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपव्यभिचारग्रस्तः सावयवत्वहेतुः)। निष्कर्ष यह निकला कि 'अवयव संयोगी' वाले सावयवत्व को हेतु के रूप में ग्रहण करने से आकाश को भी समेट लेना पड़ेगा जो कार्य नहीं होते हुए भी कार्य के रूप में सिद्ध हो जायगा। इसलिये सावयव का अर्थ 'अवयवों के साथ संयुक्त रहना' नहीं होना चाहिये। आकाश में अवयव नहीं हैं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि

अवयव नहीं रहने से वह व्यापक नहीं हो सकता। जिसके भाग हैं वही व्यापक होगा।]

(२) दूसरा विकल्प [कि अवयवों के साथ नित्य रूप से सम्बद्ध रहना ही सावयव होना है] भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे सामान्य आदि में व्यभिचार या अतिव्याप्ति हो जायगी। [ठीक ऊपर जैसी दशा यहाँ भी है। सामान्य या जाति (जैसे—द्रव्यत्व, घटत्व, गोत्व आदि) अपने व्याप्य विषयों (जैसे—घट, पट, गो) में तो है ही, उनके अवयवों में भी है। सामान्य का इनके साथ समवाय-सम्बन्ध (Inherent relation) है कि कभी न आरम्भ देखा गया और न अन्त ही। नित्य, निरन्तर का दोनों में सम्बन्ध है। तब तो यह निश्चित है कि सामान्य अवयवों के साथ समवेत है। अब वही अनुमान दुहरा दें—

सभी सावयव (अवयव समवायी) पदार्थ कार्य हैं,
चूँकि सामान्य भी सावयव (अवयव समवायी) है,
इसलिये सामान्य कार्य है।

फिर नैयायिकों के कान खड़े हो गये। सामान्य को वे कार्य मानते नहीं फिर यह सिद्ध कैसे हुआ ? जरूर कहीं दाल में काला है। इसलिये 'सावयव' का अर्थ 'अवयवों से समवाय सम्बन्ध होना' लेंगे तो सामान्य को भी कार्य मानना पड़ेगा, अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः 'सावयव' का यह अर्थ ठीक नहीं है। द्रव्यत्व का सम्बन्ध घट के अवयवों के साथ कैसे ? दो उपाय हैं—एक तो घट के अवयव भी उसी प्रकार द्रव्य हैं जिस प्रकार घट, अतः उनसे भी द्रव्यत्व जाति नित्यरूप से सम्बद्ध है। दूसरे, द्रव्यत्व का सम्बन्ध घटत्व से है और घटत्व घट के प्रत्येक अवयव में है नहीं, तो वह घट (पूर्ण) को व्याप्त कैसे करेगा ? हम ऐसा कह भी नहीं सकते कि अमुक खण्ड में घटत्व है, अमुक में नहीं।]

(३) तीसरा विकल्प [कि सावयवत्व का अर्थ अवयवों से उत्पन्न होना है] भी दोषरहित नहीं क्योंकि यह हमारे साध्य ('कार्यत्व') से अभिन्न हो जायगा। [अभी हम लोग कार्यत्व को सिद्ध करना चाहते हैं क्योंकि वह संदिग्ध है। उसी प्रकार 'जन्यत्व' भी संदिग्ध है। इसे स्वयं ही सिद्ध करने की आवश्यकता है फिर यह कार्यत्व को क्या सिद्ध करेगा ? बात यह है कि कार्य और जन्य एक ही हैं। 'पट' कार्य को सिद्ध करने के लिए यह कहना अप्रामाणिक होगा कि एकत्र किये गये सूते ही पट हैं। अतः सावयवत्व का यह अर्थ भी व्यर्थ है।]

न चतुर्थः। विकल्पयुगलार्गलग्रहगलत्वात्। समवाय-

सम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वं समवेतद्रव्यत्वमन्यत्र समवेतद्रव्यत्वं वा विवक्षितं हेतूक्रियते ?

आद्ये गगनादौ व्यभिचारः। तस्यापि गुणादिसमवायवत्व-द्रव्यत्वयोः सम्भवात्। द्वितीये साध्याविशिष्टता। अन्यशब्दार्थेषु समवायकारणभूतेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। अभ्युपगम्यैतदभाणि। वस्तुतस्तु समवाय एव न समस्ति। प्रमाणाभावात्।

(४) चौथा विकल्प [कि सावयव नित्यरूप से सम्बद्ध द्रव्य है,] भी ठीक नहीं क्योंकि इसकी गर्दन दो विकल्पों की अर्गला (किवाड़ बन्द करने की लकड़ी, बेड़ा) से पकड़ ली जाती है। [विकल्प इस प्रकार हैं] आप 'समवेत द्रव्य होना' से क्या समझते हैं—(क) क्या अपने-आप में नित्य रूप से (=समवाय) सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य समझते हैं, या (ख) अपने अभीष्ट कथन (विवक्षित) का हेतु देने के लिये (=अपनी बात को सिद्ध करने के लिये) किसी दूसरे पदार्थ से समवाय सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य को 'समवेत द्रव्य' समझते हैं ? [प्रथम विकल्प का अर्थ है कि द्रव्य अपने-अपने रूप में ही समवाय सम्बन्ध रखते हैं, दूसरा विकल्प कहता है कि द्रव्य अपने से भिन्न किसी पदार्थ से समवाय सम्बन्ध रखते हैं। दोनों अवस्थायें दूषित की जायँगी। प्रथम का उदाहरण है (कल्पित)—पृथिवी का समवाय सम्बन्ध गन्ध से है और द्रव्य भी है। लेकिन इसे दूषित करेंगे। दूसरे का उदाहरण है—पट अपने से भिन्न तन्तुओं से समवाय सम्बन्ध रखता है तथा द्रव्य भी है।]

(क) पहले विकल्प को रखने से आकाशादि (द्रव्यों) में भी इसकी प्रसक्ति (Inclusion) हो जायगी, क्योंकि वह (आकाश) भी गुण (=शब्द) आदि में समवाय रूप में सम्बद्ध है तथा द्रव्य भी है। [आकाश में शब्द-गुण तथा द्रव्यत्व-जाति, जो उसी के रूप हैं, समवाय रूप से सम्बद्ध हैं इसलिये आकाश को भी तो पहली प्रतिज्ञा के अनुसार अवयवयुक्त मानना पड़ेगा। स्मरणीय है कि ये सारे विकल्प 'सावयवत्व' के ही हैं। आकाश वास्तव में सावयव किसी के मत से नहीं है। तर्कसंग्रहकार कहते हैं—'शब्द गुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।' इसलिये पहला विकल्प नैयायिकों के अपने सिद्धान्त का ही खंडन करेगा।]

(ख) दूसरा विकल्प लेने पर (कि द्रव्य अपने से भिन्न किसी से समवाय सम्बन्ध रखता है) साध्य (the proposition to be proved) से

कोई अन्तर ही नहीं रहेगा (यह भी उतना ही क्लिष्ट हो जायगा जितना साध्य है) क्योंकि आपने 'अन्य' (अपने से भिन्न) शब्द का प्रयोग किया है, उसके अर्थ में आने वाले जो समवाय-कारण के रूप में अवयव हैं (जैसे पट के अतिरिक्त इसका समवायिकारण तन्तु हैं जो पट के अवयव भी हैं), उन्हीं में समवाय सम्बन्ध की सिद्धि करनी होगी । [पट के अवयव और समवायिकारण तन्तु तो हैं, पर इन्हें 'पट से भिन्न' मानना कैसे होगा ? इसलिये दूसरे स्थान में (अन्यत्र) समवेत द्रव्य के रूप में सावयवत्व मानना हमारे साध्य—'सावयवत्वं कार्यम्'— की तरह ही सिद्धि की अपेक्षा रखता है । इस प्रकार चतुर्थ विकल्प—समवेतद्रव्यत्वं सावयवत्वम्—भी खण्डित हो गया, वह चाहे 'स्वस्मिन् समवेतद्रव्यत्वम्' या 'अन्यत्र……' हो ।]

हमने यह सब कुछ आपकी [शब्दावली का प्रयोग करके] ही कहा है, नहीं तो वास्तव में [हम जैनों के यहाँ] समवाय (Inherent relation) है ही नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है [जो 'समवाय' को सिद्ध करे] । (वेदान्तियों की ही तरह जैन लोग भी समवाय को स्वीकार नहीं करते ।)

नापि पञ्चमः । आत्मादिनानैकान्त्यात् । तस्य सावयवबुद्धिविषयत्वेऽपि कार्यत्वाभावात् । न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवार्थसम्बन्धेन सावयवबुद्धिविषयत्वमौपचारिकमित्येष्टव्यम् । निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत् ।

(५) पाँचवाँ विकल्प [कि अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय होना ही 'सावयव' है] भी ठीक नहीं क्योंकि यह (लक्षण) आत्मा-आदि पदार्थों को भी व्याप्त कर लेगा । आत्मा भी अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय है फिर भी इसे कार्य के रूप में स्वीकार नहीं करते । [इससे बचने के लिये] आप यह नहीं कह सकते कि आत्मा के अवयवहीन होने पर भी, अवयवयुक्त वस्तुओं (सावयव-अर्थ, जैसे शरीर आदि) के साथ सम्बन्ध होने के कारण जो इसे (=आत्मा को) 'अवयवों के विचार से युक्त बुद्धि का विषय' कहते हैं, वह लाक्षणिक (औपचारिक metaphorical) भाषा में कहा जाता है (इसलिये आत्मा आदि का व्यभिचार इस लक्षण के द्वारा नहीं होता—लेकिन यह रक्षक-तर्क ठीक नहीं) । कारण यह है कि अवयवहीन पदार्थ और व्यापक-पदार्थ में, परमाणु की तरह (परमाणु अवयवहीन है पर व्यापक नहीं) ही, विरोध है ।

विशेष—आत्मा अवयवहीन है, किन्तु शरीरादि अवयवयुक्त वस्तुओं के साथ (जैसे, मैं शरीरधारी हूँ) इसका सम्बन्ध देखा जाता है इसलिये औपचारिक प्रयोग से इसे सावयव बुद्धि का विषय कहते हैं । औपचारिक प्रयोग मानने का

कारण यह है कि आत्मा में कार्यत्व (जो यहाँ साध्य है) का अत्यन्त अभाव है, उसमें 'सावयव बुद्धि का विषयत्व' इस हेतु का भी अभाव है। लेकिन यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि अवयवहीन पदार्थ व्यापक नहीं हो सकते, दोनों में परस्पर विरोध है। औपचारिक प्रयोग कुछ कर नहीं सकता।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि पृथ्वी आदि कार्य नहीं हैं इसलिये इनके कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। अब कर्त्ता पर ही शंकायें उठायी जाती हैं कि कर्त्ता एक है या अनेक। फिर ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों को (नैयायिकादि को) अच्छी फटकार दी जायगी।

(१२. ईश्वर के कर्त्ता बनने पर आपत्ति)

किं च, किमेकः कर्त्ता साध्यते, किं वाऽनेके? प्रथमे प्रासादादौ व्यभिचारः। स्थपत्यादीनां बहूनां पुरुषाणां तत्र कर्तृत्वोपलम्भात्। द्वितीये बहूनां विश्वनिर्मातृत्वे तेषु मिथो वैमत्यसम्भावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया सर्वमसमञ्जसमापद्येत। सर्वेषां सामर्थ्यसाम्येनैकेनैव सकलजगदुत्पत्तिसिद्धौ इतरवैयर्थ्यं च।

इसके अलावे, क्या आप एक कर्ता सिद्ध करते हैं या अनेक? यदि प्रथम विकल्प (एक कर्त्ता होना) लेते हैं तो प्रासाद (महल) आदि [के कर्तृत्व] में विरोध हो जायगा। उसके निर्माण में कर्त्ता के रूप में स्थपति (बढ़ई Carpenter) आदि बहुत से पुरुष पाये जाते हैं [यदि एक ही कर्त्ता मानेंगे तो प्रासादादि का निर्माण कैसे होगा?] यदि दूसरा विकल्प लेते हैं (कि बहुत-से कर्त्ता होते हैं) तब तो बहुत से कर्त्ता मिलकर विश्व का निर्माण करेंगे, उनमें परस्पर मतभेद की भी सम्भावना अनिवार्य है। फल यह होगा कि एक-एक चीज के भिन्न-भिन्न रूप हो जायँगे और सब कुछ असमंजस (गड़बड़, Incoherent) हो जायगा। दूसरी ओर, यदि सबों में समान शक्ति मानकर किसी एक के द्वारा समस्त संसार की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं तो दूसरे कर्त्ता व्यर्थ हो जायँगे।

तदुक्तं वीतरागस्तुतौ—

१६. कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।

इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ (वी० स्तु० ६) इति ।

अन्यत्रापि—

१७. कर्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति ॥ इति ।

जैसा कि वीतरागस्तुति में कहा गया है—'इस जगत् (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात चराचर) का कोई कर्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है, वह नित्य है—जिन (नैयायिकों) की इस प्रकार की दुराग्रह—(कु = असत्, हेवाक = हठ) रूपी विडम्बनाएँ (मायाजाल) हैं, [हे जिनेन्द्र !] तुम उनके शिक्षक (उपदेशक) नहीं हो ।'

दूसरे स्थान में भी (कहा है)—'इस संसार में अपनी इच्छा से काम करनेवाला कोई देखा नहीं जाता, नहीं तो चटाई (कट Mat) बनाने में भी उसकी प्रसक्ति (Inclusion) हो जायगी । फिर आप श्रीमान् तथा बढ़ई आदि के लिए कार्य ही क्या रह जायगा, जब कि वह पुरुष (ईश्वर) ही तीनों भुवनों का संग्रह करके (आ + √हन् = संकलन) निर्माण करता है ?'

विशेष—वीतरागस्तुति के इस श्लोक में नैयायिकों के द्वारा ईश्वर के लिए प्रदत्त चार विशेषणों का प्रयोग हुआ है—एक, सर्वग, स्ववश और नित्य । ईश्वर के एकत्व के विषय में तो ऊपर विचार हो चुका है कि एकत्व उसमें नहीं है। अब अगले विशेषणों का विचार करें । **सर्वग** (सर्वव्यापी)—यदि ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसी के शरीर से संसार अवच्छिन्न है, दूसरे किसी के द्वारा बनाई गई वस्तुओं के लिए फिर कोई आश्रय नहीं रहेगा । यही नहीं, नरक आदि स्थानों में भी ईश्वर की प्रसक्ति माननी पड़ेगी । इस प्रकार उसे सर्वग सिद्ध नहीं कर सकते । **स्ववश** (स्वतन्त्र)—यदि ईश्वर को स्वतन्त्र मानते हैं तो अपने कारुणिक-स्वभाव से प्राणियों को वह सुखी ही बनाता, दुःखी नहीं । यदि प्रत्येक प्राणी के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म से प्रेरित होकर ही उसे दुःखी या सुखी बनाता है, तब स्वतन्त्रता कहाँ रही ? दूसरे यदि वह कर्म की अपेक्षा रखता है, तब सर्वेश्वरत्व भी उससे छिन गया क्योंकि ईश्वर अब कर्मों को तो नियन्त्रित नहीं कर सकता । वास्तव में कर्म ईश्वर का नियमन नहीं कर सकते । **नित्य**—संसार के कर्ता ईश्वर को नित्य भी नहीं कह सकते । अगर उसका

स्वभाव संसार का निर्माण करना है तब तो प्रलय नहीं हो सकेगी। यदि संहार करना ही स्वभाव मानें तो संसार की उत्पत्ति और स्थिति असम्भव हो जायेगी। अगर दोनों को ही स्वभाव मानें तो विरोध पड़ेगा तथा असंगति होगी। काल के भेद से स्वभाव में भेद मानें तो अनित्यत्व ही होगा। (अभ्यङ्कर)।

(१३. सर्वज्ञ की सिद्धि)

तस्मात्प्रागुक्तकारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सार्वज्ञ्यं युक्तम्। न चास्योपदेष्ट्रन्तराभावात् सम्यग्दर्शनादित्रितयानुपपत्तिरिति भणनीयम्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वादमुष्य अशेषार्थ-ज्ञानस्य। न चान्योन्याश्रयादिदोषः। आगमसर्वज्ञपरम्पराया बीजाङ्कुरवदनादित्वाङ्गीकारादित्यलम्।

इसलिए पूर्वोक्त तीनों कारणों (सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र) के बल से आवरण के क्षीण हो जाने पर सर्वज्ञ कहना (किसी को भी) युक्ति-युक्त है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि इस वाक्य के उपदेशक कोई दूसरे नहीं (स्वयं सर्वज्ञ ही हैं), अतः सम्यक् दर्शन आदि तीनों कारणों की असिद्धि हो जायगी। (चूँकि सम्यक् दर्शनादि को सर्वज्ञ बनने का कारण बतलानेवाला वाक्य स्वयं सर्वज्ञ का ही कहा हुआ है, इसलिए सर्वज्ञ ही सर्वज्ञ का कारण बतलावे, इसमें आत्माश्रय-दोष हुआ। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं) क्योंकि पहले के सर्वज्ञों के द्वारा बनाये गये आगमों से अशेष वस्तुओं का यह ज्ञान उत्पन्न होता है।

उसके बाद, अन्योन्याश्रय आदि दोषों की भी कल्पना यहाँ नहीं करें क्योंकि आगम और सर्वज्ञ की परम्परा बीज और अंकुर की परम्परा के समान ही अनादि है। बस, इतना पर्याप्त है।

विशेष—आगम में सर्वज्ञ की बात कही गई है और सर्वज्ञ का बनाया हुआ आगम है, इससे दोनों में अन्योन्याश्रय-दोष तो हुआ ही। इसका उत्तर है कि इन दोनों—आगम और सर्वज्ञ में बीज और अंकुर का सम्बन्ध है। जिस बीज से कोई अंकुर निकला, वह अंकुर उसी बीज का कारण नहीं होता, किन्तु किसी दूसरे बीज को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय का तो प्रसंग आता ही नहीं। फिर भी पहले बीज हुआ कि अंकुर, यह जानना कठिन है इसीलिए दोनों का संबंध अनादि मानते हैं। आगम भी जिस सर्वज्ञ की बात कहता है उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत नहीं, बल्कि उसके पहले के किसी सर्वज्ञ के द्वारा बनाया गया है।

(१४. त्रिरत्नों का वर्णन—सम्यक् दर्शन)

रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति (त० सू० १।१)।

विवृतं च योगदेवेन—'येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' तथा च तत्त्वार्थसूत्रं—तत्त्वार्थ(र्थे) श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।

'तीन रत्न' शब्द से समझे जानेवाले सुप्रसिद्ध सम्यक् दर्शन आदि तीनों का निरूपण 'परमागमसार' (नामक ग्रन्थ) में हुआ है जो (ग्रन्थ) अर्हतों के प्रवचनों (Teachings) के संग्रह[1] के रूप में है—'सम्यक् दर्शन (Right faith), सम्यक् ज्ञान (Right knowledge) और सम्यक् चारित्र (Right conduct) मोक्ष के मार्ग हैं (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का प्रथम सूत्र; रचयिता—उमास्वाति, काल–५० ई०)।'

योगदेव ने इसका विवरण भी दिया है—'जिस रूप में जीव आदि पदार्थों की व्यवस्था [संसार में] है अर्हत् ने उसी रूप में उनके तात्त्विक अर्थ का प्रतिपादन किया है, उन (उक्तियों) में श्रद्धा रखना, जिसका दूसरा नाम 'विरुद्ध सिद्धान्तों में आस्था (अभिनिवेश) नही रखना' है, ही सम्यक् दर्शन कहलाता है।' उसी तरह तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है—'तत्त्वार्थ में श्रद्धा रखना ही सम्यक् दर्शन कहलाता है'।

विशेष—जैन-दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र (Ethics) इन तीन रत्नों पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं। इसके लिए दण्डचक्रादिन्याय है। जैसे दण्ड, चक्र, सूत्र, मृत्तिका आदि सब मिलकर घट का निर्माण करते हैं न कि पृथक्-पृथक्, उसी प्रकार ये सब मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनाते हैं। तृणारणिमणिन्याय से ये काम नहीं करते। तृण अग्नि का कारण है, उसी प्रकार अरणि, उसी प्रकार मणि। तीनों भिन्न हैं। तीनों रत्नों का मिलना ही कारण नहीं है (कारणतावच्छेदकं तु न

---

१. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

मिलितत्वम्), किन्तु तीनों में प्रत्येक की वृत्ति (Action) कारण का निर्माण करती है।

ऊपर परमागमसार और उसके टीकाकार योगदेव का नाम दिया गया है। आज दोनों ही अज्ञात हैं। हाँ, उद्धरणों की प्राप्ति उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र ग्रन्थ में होती है।

अन्यदपि—

१८. रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा॥ इति।

परोपदेशनिरपेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः। व्याख्यानादि-रूपपरोपदेशजनितं ज्ञानमधिगमः।

दूसरे स्थान में भी (कहा है)—'जिन-देव के द्वारा कहे गये तत्त्वों में रुचि होना सम्यक् श्रद्धान (=दर्शन) कहलाता है। वह या तो निसर्ग (स्वभाव) से ही उत्पन्न होता है या गुरु के अधिगम (शिक्षा) से।' दूसरों के उपदेश की अपेक्षा न रखने वाले आत्म-स्वरूप (स्वभाव) का नाम निसर्ग (Nature) है। व्याख्यान आदि के रूप में दूसरों के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान अधिगम (Instruction) कहलाता है।

(१५. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप)

येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। यथोक्तम्—

१९. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥ इति।

'जिस स्वभाव से (रूप में) जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं उसी रूप में मोह (भ्रम False knowledge) तथा संशय से रहित होकर [उन्हें] जानना **सम्यक् ज्ञान** है।' जैसा कि कहा है—'तत्त्वों का, उनकी अवस्था के अनुरूप, संक्षेप या विस्तार से, जो बोध होता है, उसे ही विद्वान् लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं।'

तज्ज्ञानं पञ्चविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेन। तदुक्तम्—मति-श्रुतावधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानमिति। अस्यार्थः—ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य

व्यापृतः सन्यथार्थं मनुते सा मतिः । ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टं ज्ञानं श्रुतम् । सम्यग्दर्शनादिगुणजनितक्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः । ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदकं ज्ञानं मनःपर्यायः । तपःक्रियाविशेषान्यदर्थं सेवन्ते तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम् ।

वह ज्ञान—(१) मति, (२) श्रुत (३) अवधि (४) मन:पर्याय और (५) केवल—इन भेदों के कारण पाँच प्रकार का है। यह कहा भी है—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्याय तथा केवल ये ज्ञान हैं। इसका अर्थ [निम्नलिखित है]-

(१) **मति** (Sensuous cognition)—ज्ञान के आवरण[1] (प्रतिबन्धक) का क्षय (बिल्कुल विनष्ट) या उपशम (थोड़ी देर के लिए नष्ट) हो जाने पर इन्द्रिय और मन को आगे रखकर [उनकी सहायता से) युक्त होकर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना 'मति' है। [घटादि के प्रत्यक्ष होने के पूर्व जो मननात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, वही मति है। चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना स्मरण के रूप में जो वस्तु का चिंतन करते हैं, उससे यह ज्ञान भिन्न है। उदाहरण से समझें—जिस तरह नाटक देखने के समय पर्दा हटने के थोड़ी देर पहले—'कौन पात्र आवेगा' इस तरह की मानसिक वृत्ति के साथ दर्शक लोग पर्दे पर दृष्टि डाले रहते हैं। ठीक उसी तरह का यह ज्ञान है। बिना सोचे ही अकस्मात् किसी वस्तु के देखने में भी मतिज्ञान ही है। बच्चे छह महीने तक अपनी दृष्टि स्थिर नहीं कर पाते इसलिए उन्हें मतिज्ञान नहीं होता। दृष्टि की स्थिरता ही मतिज्ञान का अनुमापक है।]

(२) **श्रुत** (Scriptural or verbal knowledge)—ज्ञान के आवरण का क्षय या उपशम हो जाने पर, मतिज्ञान से उत्पन्न, स्पष्ट ज्ञान को 'श्रुत' कहते हैं। इसे ही नैयायिक लोग 'निर्विकल्पक' कहते हैं। इन्द्रियों से उत्पन्न होने

---

१. ज्ञान के आवरण तीन प्रकार के हैं—मनोगत (mental), इन्द्रियगत (Sensuous) तथा विषयगत (Objective)। हठ, मत्सरता, अभिमान आदि के कारण ज्ञान का आवृत होना मनोगत आवरण है। नेत्र रोगों या इन्द्रियों में किसी दोष के कारण ज्ञान का आवरण इन्द्रियगत है। सूक्ष्म होने या अन्धकार में छिपे होने के कारण वस्तु को नहीं देख सकना विषयगत आवरण है।

के कारण स्वयं प्रत्यक्ष होने पर भी यह अतीन्द्रिय है = इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं है।]

(३) **अवधि** Definite knowledge)—जो ज्ञान सम्यक् दर्शन आदि गुणों से उत्पन्न क्षय या उपशम का कारण हो तथा विषयों (Objects) को व्याप्त करने वाला हो वह 'अवधि' है। [जिससे विषयों को मर्यादित कर दिया जाय कि यह वस्तु ऐसी है, वह ऐसी—यही अवधिज्ञान है। निर्वचन ऐसा होगा—अव समन्तात् द्रव्यादिभिः परिमितत्वेन धीयते = ध्रियते विषयोऽनेन। अथवा, अवधीयते = द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिच्छिद्यते विषयोऽनेन। अवधिज्ञान से विषयों का द्रव्य, स्थान, काल आदि जानते हैं। यही सविकल्पक ज्ञान है। देवता लोग इसी ज्ञान के कारण नीचे सातवें नरक तक देख पाते हैं लेकिन ऊपर अपने विमान के दण्ड तक ही देख सकते हैं इसलिए एक और अर्थ इसका है—अधस्तात् बहुतरविषयग्रहणात् अवधिः (अभ्यंकर)।]

(४) **मनःपर्याय** (Extraordinary perception)—ज्ञान के आवरण के रूप में जो ईर्ष्या आदि विघ्न (अन्तराय) हैं उनका क्षय या उपशम हो जाने पर दूसरे व्यक्तियों के मन की बात को स्पष्ट रूप से व्याप्त करने वाले ज्ञान को 'मनःपर्यय' कहते हैं। [दूसरे व्यक्तियों के मन की बात को जानने के लिए ईर्ष्यादि मनोगत आवरण हटना आवश्यक है। वह सम्यक् दर्शन से हटता है। इस प्रकार, मनः = मनोगत अर्थ का, पर्यय = पर्ययण = दूसरे के मन में सर्वतः (परि) गमन होता है। इसे अलौकिक प्रत्यक्ष से दूसरे लोग जानते हैं।]

(५) **केवल** (Pure knowledge)—जिसके लिए तपस्वी लोग विशेष प्रकार की तपस्यायें करते हैं तथा जो अन्य किसी प्रकार के भी ज्ञान से पृथक् (असंसृष्ट Unalloyed) है वही 'केवल ज्ञान' है। (सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञान के सभी आवरणों का सर्वथा विनाश हो जाने पर ही मोक्ष देने वाला यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे तत्त्वज्ञान भी कहते हैं। अन्य किसी भी ज्ञान से पृथक् होने के कारण इसे 'केवल' कहते हैं।)

विशेष—इस पाँचों भेदों में प्रथम को परोक्ष और दूसरों को यहाँ प्रत्यक्ष कहते हैं पर जैन लेखकों ने एक स्वर से मति और श्रुत—दोनों को ही परोक्ष माना है।[1] जब प्रत्यक्ष का वर्गीकरण इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के

1. Vide. *Studies in Jaina Philosophy*. p. 30. — The Jaina thinkers are unanimous in ascribing the status of *parokṣa* (indirect knowledge) to the *mati* (sensuous cognition) and the *Śruta-jñāna* (scriptural knowledge).

रूप में होता है तब अवधि, मनःपर्याय और केवल को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष में रखते हैं तथा किसी भी इन्द्रिय से समुत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आता है।

तत्राद्यं परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत् । तदुक्तम्—

२०. विज्ञानं स्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयविनिश्चयात् ॥ इति ।

अन्तर्गणिकभेदस्तु सविस्तरः तत्रैवागमेऽवगन्तव्यः ।

उन [पाचों भेदों] में पहला परोक्ष है, दूसरा प्रत्यक्ष है। यही कहा भी है—'विज्ञान अपना तथा दूसरों का प्रकाशक [दीप के समान] है, किसी भी बाधा से मुक्त होने पर यह प्रमाण माना जाता है। ज्ञेय (knowable) वस्तुओं का विनिश्चय [चूँकि दो प्रकार से होता है इसलिए विज्ञान भी] दो तरह का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष।' किन्तु इन सबों का विस्तारपूर्वक अवान्तर (अन्तर्गणिक) भेद वहीं आगमों से ही समझना चाहिए।

विशेष—मतिज्ञान के चार भेद हैं—अवग्रह (Perception) ईहा (Speculation), अवाय (Perceptual judgement) तथा धारणा (Retention)। वास्तव में ये व्यावहारिक प्रयक्ष की चार अवस्थायें हैं। 'यह पुरुष है' यह ज्ञान अवग्रह है। उसके बाद 'यह दक्षिण का है कि उत्तर का' इस संशय के होने पर 'यह दक्षिण का ही है' यह ज्ञान ईहा है। यह केवल संभव है, निश्चय नहीं। फिर भाषा आदि के आधार पर 'दक्षिण का है' यह ज्ञान अवाय है। उसी विषय का संस्कार से उत्पन्न फिर से ज्ञान होना धारणा है जिससे उस विषय का स्मरण होता है। डा० नथमल टाँटिया ने अपने प्रबन्ध (Thesis) Studies in Jaina Philosophy के द्वितीय-अध्याय (Epistemology of the Agamas, p. 27-80) में इन भेदों-उपभेदों का बहुत ही प्रामाणिक वर्णन किया है। विशेष ज्ञान के लिए वह स्थल द्रष्टव्य है।

(१६. सम्यक्चारित्र और पाँच महाव्रत)

संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम् । तदेतत्सप्रपञ्चमुक्तमर्हता—

२१. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ॥

संसार के (प्रवर्तन के कारण स्वरूप] कर्मों के नष्ट (उच्छित्ति = उत् + √छिद् + क्तिन्) हो जाने पर, उद्यत (= पाप नाश के लिये), श्रद्धावान् (= प्रथम रत्न से युक्त) तथा ज्ञानवान् (= द्वितीय रत्न से युक्त) पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से निवृत्त (पृथक्) हो जाना ही सम्यक् चारित्र (Right conduct) है। अर्हत् ने इसका वर्णन विस्तारपूर्वक किया है— 'पाप के साथ संबन्ध का सब प्रकार से त्याग करना चारित्र है। अहिंसा आदि व्रतों के भेद से वह पाँच प्रकार का है। वे हैं—अहिंसा, सूनृत (सत्य), अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।'

२२. न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्॥
२३. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्॥
२४. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हि ते॥
२५. दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्॥
२६. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः॥

अहिंसाव्रत—प्रमाद (असावधानी या पागलपन) से भी जब चरों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) और स्थावरों (लता, वृक्ष आदि) के प्राणों का विनाश (व्यपरोपण = पृथक् करना) नहीं किया जाता है—वही अहिंसा-व्रत है॥ २२॥ **सत्यव्रत**—प्रिय (सुनने में सुखद), पथ्य (अंत में सुखद) तथा तथ्य (यथार्थ, सत्य) वाणी को सूनृत व्रत कहते हैं। वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है जो प्रिय नहीं (सुनने में सुखद नहीं) या हितकर नहीं (परिणाम में सुखद नहीं) है॥ २३॥ **अस्तेयव्रत**—बिना दिये हुए किसी वस्तु को न लेना अस्तेय व्रत है। धन मनुष्यों के बाहरी प्राण हैं, उनके हरण से तो प्राणों का हरण होता है॥ २४॥ **ब्रह्मचर्यव्रत**—दिव्य (आगामी जीवन में भोग्य) और औदरिक (इसी शरीर में भोग्य) कामनाओं का कृत (स्वयं किये गये), अनुमत (अनुमोदित) तथा कारित (दूसरों से कराये गये) तीनों विधियों से (मन, वचन तथा कर्म से), त्याग देना 'ब्रह्म' (ब्रह्मचर्य) है जो अठारह

तरह का है ॥ २५ ॥ **अपरिग्रहव्रत**—सभी वस्तुओं में इच्छा का त्याग कर देना अपरिग्रह है क्योंकि इच्छा (मूर्च्छा) के द्वारा असत् (बुरी या सत्ताहीन Non-existent) वस्तुओं में चित्त की विकृति हो जाती है ॥ २६ ॥

विशेष—पतञ्जलि ने योग सूत्रों में (२।३०) यम के रूप में इन्हीं पाँच व्रतों का उल्लेख किया है जो योग-शास्त्र के अष्टाङ्ग-मार्ग में प्रथम-मार्ग के रूप में आते हैं। ब्रह्म के अनुसार आचरण करना ब्रह्मचर्य है। यह अठारह प्रकार का है। काम दो हैं—दिव्य और औदरिक। इन दोनों के भी तीन-तीन भेद होंगे क्योंकि ये कृत, अनुमत और कारित हो सकते हैं। इस प्रकार छह भेद हुए। अब मन, वचन या कर्म से प्राप्त होने के कारण इसके भी तीन-तीन भेद हुए। इस प्रकार कुल अठारह भेद हुए—अठारह कामनाओं के त्याग से अठारह ब्रह्मचर्य हुए—(१) मनःकृतदिव्यकामत्याग, (२) मनःकृतौदरिककामत्याग, (३) मनोऽनुमतदिव्यकामत्याग आदि। मूर्च्छा = इच्छा। 'मूर्च्छा परिग्रहः' (तत्त्व० सू० ७।१२) के भाष्य में लिखा है—इच्छा प्रार्थना कामोऽभिलाषः काङ्क्षा गार्ध्यं मूर्च्छेत्यनर्थान्तरम्। अनर्थान्तर = पर्याय (Synonymous)।

(१७. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें)

२७. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम् ॥ इति।

भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च निरूपितम्—

२८. हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम् ॥

इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकम्। यथा रसायनम्, तथा चात्र ज्ञान-श्रद्धानाचरणानि संभूय फलं साधयन्ति, न प्रत्येकम्।

पाँच भावनाओं (States of mind) के द्वारा पाँच प्रकार से क्रमशः भावित (व्यवहृत) ये महाव्रत संसार के अक्षय (स्थायी) पद की सिद्धि करते हैं ॥ २७ ॥ पाँच भावनाओं के विस्तार का निरूपण इस प्रकार हुआ है—हास्य (विनोद), लोभ, भय एवं क्रोध का तिरस्कार (प्रत्याख्यान) सदैव करके (=४ भावनाओं से) तथा सोच-समझकर (आलोचना करके) भाषण के द्वारा सूनृत-व्रत का व्यवहार करना चाहिये ॥ २८ ॥ [केवल सत्य व्रत के लिये पाँचों भावनायें बतलाई गई हैं। अन्य के लिये नीचे 'विशेष' देखें।]

ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मिलकर मोक्ष का कारण बनते हैं, प्रत्येक पृथक्-पृथक् नहीं। जैसे रसायन-सेवन में उसका ज्ञान, उस पर विश्वास तथा उसका प्रयोग तीनों मिलकर फल देते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

विशेष—सभी व्रतों की भावनायें भिन्न-भिन्न हैं। केवल सूनृत की भावनाओं का निर्देशक श्लोक ही उद्धृत किया गया है। अन्य भावनायें यों हैं—

अहिंसा की भावनायें—(१) वाग्गुप्ति = विषयों में जाने की इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति है वचन द्वारा उस प्रवृत्ति से आत्मा की रक्षा करना। (२) मनोगुप्ति = मन के द्वारा उस प्रवृत्ति से अपनी रक्षा। (३) ईर्यासमिति = जन्तुओं की रक्षा के लिये देखकर पैर रखते हुए चलना। (४) आदानसमिति = आसनादि को देखकर यत्नपूर्वक लाँघना, उसे ग्रहण करना या उठाना। (इनका वर्णन आगे देखें)। (५) आलोकितपानभोजन—देखकर पानी पीना या खाना।

सूनृत की भावनायें—(१) हास्य का परित्याग करके बोलना क्योंकि इससे असत्य भाषण में प्रवृत्ति देखी जाती है। (२) लोभ का परित्याग करके बोलना। (३) भय त्याग कर बोलना। (४) क्रोध त्याग कर बोलना क्योंकि इन सबों से झूठ बोलने की ओर प्रवृत्ति होती है। (५) सोच समझ कर बोलना।

अस्तेय की भावनायें—(१) शून्य स्थानों, पहाड़ों की गुफाओं में निवास। (२) दूसरों के द्वारा त्यक्त स्थानों में रहना। (३) दूसरों के किसी काम में रुकावट नहीं डालना। (४) आचार शास्त्र के नियमों से भिक्षा में मिली हुई वस्तु की शुद्धि। (५) दूसरों के साथ 'मेरा-तेरा' न करना।

ब्रह्मचर्य की भावनायें—(१) स्त्रीप्रेम की बातें न सुनना। स्त्री के सुन्दर शरीर को न देखना। (३) पहले की रति का स्मरण न करना। (४) शक्तिवर्धक रस-रसायनों का सेवन नहीं करना। (५) अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना (आभूषणों का प्रयोग नहीं करना)।

अपरिग्रह की भावनायें—(१) श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के प्रति राग-द्वेष न होना। (२) जितेन्द्रिय का रस के प्रति रागद्वेष न होना। (३) चक्षु-इन्द्रिय का रूप के प्रति रागद्वेष न होना। (४) स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श के प्रति रागद्वेष न होना। (५) घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के प्रति रागद्वेष न होना।

(१८. जैन तत्त्व-मीमांसा—दो तत्त्व)

अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्तः। तत्र बोधात्मको जीवः। अबोधात्मकस्त्वजीवः। तदुक्तं पद्मनन्दिना।

२९. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः ॥
३०. हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता ।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ इति ।

यहाँ संक्षिप्त रूप से जीव और अजीव नाम के दो तत्त्व हैं। उनमें ज्ञान के रूप में जीव है और अज्ञान के रूप में अजीव है। पद्मनन्दि ने इसे कहा है—'चित् (Soul) और अचित् (Non-soul)—ये दो परम तत्त्व (Ultimate reality) हैं। कर्ता के द्वारा उपादेय का ग्रहण करना तथा हेय का त्याग करना—ऐसा विवेचन (अलग-अलग) होने का नाम विवेक है ॥ २९ ॥ कर्ता में रहने वाले राग आदि दोष हेय हैं क्योंकि इनका कार्य है अविवेक। (रागादि के कारण हम चित्-अचित् में भेद नहीं कर पाते।) उपादेय (ग्राह्य) है तो [ज्ञान की] वह परम ज्योति जिसका एक मात्र लक्षण (या चिह्न) है 'उपयोग' ॥ ३० ॥

विशेष—उपादेयमुपा० = कुर्वतः (कुर्वता) उपादेयम् (= वस्तु) उपादेयम् (= ग्राह्यम्) अर्थात् कर्त्ता को उपादेय वस्तु का ग्रहण करना चाहिये, उसी प्रकार हेय वस्तुओं का त्याग करना चाहिये। परम ज्योति (जीव, चित्) का एक विशेष चिह्न है उपयोग (Consciousness)। इसके भी दो भेद हैं—उपयोग और लब्धि। जीव में अवस्थित चेतना का नाम लब्धि (Dormant consciousness) है किन्तु जब यही चेतनता कार्य रूप में आती है तब उपयोग (Active consciousness) कहलाती है। एक अवस्थित योग्यता बतलाती है, दूसरी कार्यान्विति। उपयोग साकार भी हो सकता है निराकार भी। साकार उपयोग को ज्ञान और निराकार उपयोग को दर्शन कहते हैं। इसके बाद उपयोग का निरूपण होगा।

सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीवसाधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायोपशमिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीवस्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः—'औपशमिकक्षायिकौ

भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' (त० सू० २।१) इति ।

[जीवात्मा का] स्वाभाविक चैतन्य के रूप में जो परिणाम (Change) है उसीको स्वीकार करने वाले (पहचानने वाले) ज्ञान और दर्शन को उपयोग (जीवात्मा की क्रियाओं का वास्तविक प्रयोग) कहते हैं । [बृहद्द्रव्य-संग्रह के आरम्भ में ही कहा है कि विवक्षित पदार्थ को व्याप्त करने वाला, पदार्थ का ग्रहण करने वाला व्यापार ही उपयोग है । सच में उपयोग वही है जिससे किसी वस्तु का रहस्य हम जानें, चित् का स्वाभाविक रूप जानें, उसका परिणाम जानें, जीवात्मा को जानें आदि । तो इसके दो रूप हैं—ज्ञान और दर्शन । दोनों व्यापारों में जीवात्मा का सहज-परिणाम (= चेतन्य रूप में) एक तरह का ही होता है क्योंकि इस परिणाम के बाद ही ज्ञान और दर्शन दोनों की उत्पत्ति होती है—प्रत्यक्ष और साकार होने पर ज्ञान कहलाता है, परोक्ष और निराकार होने पर दर्शन (श्रद्धा) कहलाता है । अब आगे यह बतला रहे हैं कि 'उपयोग' जीवात्मा का लक्षण है ।]

[जीव और कर्म के] पारस्परिक प्रदेशों (अवयवों) के मिश्रण (प्रदेश-बन्ध) के कारण कर्म के साथ मिली-जुली (एकीभूत) आत्मा के पार्थक्य (= कर्म और आत्मा के भेद) को जानने का साधन वह (उपयोग) ही है । [प्रदेश = अवयव; जीव के प्रदेशों में जो मिथःसंयोग है वह कभी दृढ़ रहता है कभी शिथिल । कभी-कभी फल देने के लिए प्रवृत्त होने वाले कर्म के अवयव जीव के अवयवों के संयोग को शिथिल कर अन्दर घुस आते हैं । इस प्रकार कर्म और जीव के प्रदेशों का मिश्रण होता है, इसे ही प्रदेशबन्ध कहते हैं क्योंकि ऐसा करने से जीव अपने अवयवों के कारण ही बन्धन (Bondage) में पड़ता है । वह तब तक मुक्ति (Liberation) नहीं पा सकता जब तक कर्म के अवयव पृथक् न हो जायँ । किसी सामान्य उपाय से उन्हें पृथक् रूप से जानना कठिन है । उपाय है तो 'उपयोग' । उसीसे जीवात्मा अपने में मिले हुए कर्म के परमाणुओं (पुद्गलों) से पृथक् ज्ञात होता है क्योंकि जीवात्मा चैतन्यरूप में परिणत हो जायगा, जिसे उपयोग से जान लेंगे । दूसरी ओर, कर्म के पुद्गल चैतन्यरूप में परिणत नहीं होंगे । उपयोग इस प्रकार मोक्ष का मार्ग तैयार करता है ।]

चैतन्य सभी जीवों में सामान्यरूप से पाया जाता है; एक ओर उपशम (थोड़ी देर के लिए कारणवश शान्त हो जाना) और क्षय (अत्यन्ता-भाव) तथा क्षय और उपशम के वश में होकर, औपशमिकक्षय के रूप में

क्षायौपशमिक भाव के द्वारा, दूसरी ओर, कर्मों के उदय हो जाने के कारण कलुष (पाप) या दूसरे आकार के द्वारा [वही चैतन्य प्रतीत होता है]; परिणाम (आत्मस्वरूप जानने के लिए परिवर्तन) से युक्त जीव की अवस्थाओं की जब बात उठती है तब [वही चैतन्य] जीव का अपना रूप (Real nature) बन जाता है। ऐसा ही वाचकाचार्य ने कहा है—'औपशमिक, क्षायिक और दोनों का मिश्रण, औदयिक और पारिणामिक—ये (पाँच) भाव जीव के अपने रूप हैं' (तत्त्व० सू० २।१)।

विशेष—भाव (अवस्थायें) पाँच हैं–उपशम से सम्बद्ध, क्षय से सम्बद्ध, दोनों के मिश्रण (क्षयोपशम, उपशमक्षय) से सम्बद्ध, उदय से सम्बद्ध, तथा परिणाम से सम्बद्ध। (१) उपशम का अर्थ है थोड़ी देर के लिए नहीं उत्पन्न होना। जिस प्रकार फिटकरी के प्रयोग से पानी में कीचड़ बैठ जाती है (Sedimentation) यह पंक का उपशम है, वैसे ही आत्मा में कर्म का अपनी शक्ति के कारणवश दब जाना उपशम (Subsistence) है। जिस भाव का लक्ष्य केवल उपशम करना है उसे औपशमिक कहते हैं, जो जीव की एक विशिष्ट अवस्था है। (२) क्षय (Dissociation) किसी पदार्थ के आत्यन्तिक अभाव को कहते हैं (प्रध्वंसाभाव, क्योंकि वर्तमान पदार्थ का ही क्षय करना अभीष्ट है, भ्रम से अत्यन्ताभाव न समझें जिसमें अन्त आदि किसी का पता नहीं रहता)। जैसे काँच के बर्तन में रखे या मेघ में स्थित जल में पंक का बिल्कुल विनाश हो जाता है। जिस भाव का लक्ष्य कर्म का क्षय करना है उसे क्षायिक कहते हैं। (३) क्षय और उपशम—दोनों के मिश्रण को क्षयोपशम कहते हैं जैसे कुएँ के जल में कहीं तो पंक का क्षय है, कहीं उपशम। दोनों लक्ष्य रहने पर भाव क्षायौपशमिक कहलाता है। यह भी जीव की एक विशिष्ट अवस्था है। (४) द्रव्यादि निमित्तों से जब कर्म-फल की प्राप्ति शुरू हो जाती है उसे उदय (Rise) कहते हैं। जैसे जल में पंक का ऊपर उठना। इसी से सम्बद्ध भाव औदयिक है। यह भी जीव की एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें कर्म मिले रहते हैं। (५) एक और स्थिति है परिणाम (Manifestation) जिसमें किसी द्रव्य को अपने स्वरूप में मिल जाना पड़ता है। इसमें कर्मोपशम आदि रहते ही नहीं, अपना स्वाभाविक रूप (जैसे आत्मा के लिए चैतन्य) मिल जाता है। इससे सम्बद्ध भाव पारिणामिक है।

स्मरणीय है कि इन भावों में पारिणामिक भाव जीव के लिए स्वाभाविक है क्योंकि इसमें कर्मोदय, उपशम आदि बिल्कुल नहीं रहते। औपशमिक आदि चार भाव जीव के लिए नैमित्तिक हैं क्योंकि विशिष्ट अवस्थाओं में ही ये उपपन्न होते हैं और कर्मोपशम आदि की अपेक्षा रहती है। ये पाँचों भाव ही जीव

की अवस्थाओं (पर्यायों) की बात चलने (विवक्षा) पर जीव का स्वरूप कहलाते हैं। जब केवल 'जीव' (पदार्थ) की बात चले (उसकी अवस्थाओं की नहीं), तब तो उसका स्वरूप ही भाव कहलाता है। इसे अभी स्पष्ट करेंगे—

अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्योत्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकादिद्रव्य-संबन्धादधःपतिते जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसंधान-वशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मलतापादकः क्षायिको भावः।) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भू-तस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलस्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभ-व्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः॥

(१) जब कर्म का उपशम हो जाय और [भविष्यत् को प्रभावित करने के लिए नये कर्म का) उदय न मिले, तब जीव में उत्पन्न होनेवाले भाव को **औपशमिक** कहते हैं। उदाहरणार्थ—गन्दा करने वाले पंक के कतक (पानी साफ करनेवाला एक द्रव्य) आदि द्रव्यों के संयोग से नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आती है।

(२) अर्हतों के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों के अनुसंधान से राग (आसक्ति, लाली) आदि पंकों को धोकर निर्मलता देने वाला भाव क्षायिक है (यह वाक्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है क्योंकि इसके बाद पुनः क्षायिक भाव का वर्णन है। इसे औपशमिक में भी नहीं रख सकते क्योंकि स्पष्ट शब्द में 'क्षायिक' का प्रयोग है)। कर्म का क्षय (सदा के लिये नाश) हो जाने पर उत्पन्न होने वाला भाव (दशा) का नाम **क्षायिक** है। उदाहरणार्थ—पंक में से बिल्कुल पृथक्, निर्मल, तथा स्फटिक आदि के पात्र में रखे हुए जल की स्वच्छता। उसी तरह मोक्ष भी है [जिसमें जीव कर्मों का पूर्ण विनाश करके प्रवेश करता है]।

(३–५) दोनों मिला-जुला होने से भाव **मिश्र** (क्षायौपशमिक) है। उदाहरणार्थ—[कुएँ आदि के] जल में आधी स्वच्छता। कर्म का उदय होने पर जो भाव उत्पन्न होता है वह **औदयिक** है। कर्म के उपशम आदि से

अलग स्वाभाविक भाव जो चेतनत्व (Consciousness) आदि है, वह **पारिणामिक** है।

यही भाव यथासम्भव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप है—यही वाचकाचार्य के सूत्र का अर्थ है।

विशेष—जैन-दर्शन में जीवों की भव्यता पर बड़ा विचार किया गया है। जीव अन्धकार में भटकते रहते हैं। जब तक उनमें आध्यात्मिक विकास के लिये स्वयं-चेतन प्रयास नहीं चलता तब तक वे सम्यग् दर्शन नहीं पाते। इसके लिये उनमें सत्य-प्राप्ति के लिये प्रेम उत्पन्न होता है। सभी जीवों में यह लक्षण नहीं पाया जाता। जो इस सम्यक् दर्शन से युक्त होकर मोक्ष के इच्छुक हैं वे **भव्य जीव** (Fit for liberation) हैं। जिनमें यह लक्षण नहीं वे **अभव्य** हैं, ये कभी मोक्ष नहीं पा सकते। जैन लोग इस अनन्त बन्धन का कोई निश्चित कारण नहीं देते। बौद्ध धर्म में भी ऐसे अभव्यों का वर्णन है। देखें, अभिसमयालंकार ८।१०—

वर्षत्यपि हि पर्जन्ये नैवाबीजं प्ररोहति।
समुत्पादेऽपि बुद्धानां नाभव्यो भद्रमश्नुते ॥

अस्तु, भव्यत्व और अभव्यत्व जीव के ये दो भाव चैतन्य के समान ही पारिणामिक हैं। अब प्रश्न उठता है कि चैतन्य तो ज्ञान है, वह जीवात्मा में रहने वाला उसका गुण है, स्वरूप नहीं। फिर चैतन्य जीव का भाव कैसे होगा? इसका समाधान नीचे देंगे—

तदुक्तं स्वरूपसम्बोधने—

३१. ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥ इति।

ननु भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेण अवस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तमिति चेत्—तदयुक्तम्। बाधे प्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्। न सोऽस्ति। समस्तेषु वस्तुष्वनेकान्तात्मकत्वस्य स्याद्वादिनो मते सुप्रसिद्धत्वादित्यलम्।

स्वरूप-सम्बोधन नामक ग्रन्थ में यह कहा गया है—'जो ज्ञान से भिन्न नहीं, और न अभिन्न (समान Identical) ही है, किसी प्रकार वह भिन्न और अभिन्न दोनों है, उसके पूर्व में और अन्त में ज्ञान ही है—इसे ही आत्मा

कहा गया है।' [यह स्पष्ट है कि चैतन्य जीव का स्वाभाविक भाव है, जीव की एक विशेष अवस्था ज्ञान है—इस अवस्था-विशेष (ज्ञान) से जीव अत्यन्त भिन्न नहीं है। अत्यन्त अभिन्न भी वह नहीं कि जीव को ज्ञान ही कह दें। तब ? दोनों ही सीमाएँ (Extremes) अभिन्न और भिन्न साथ-साथ उसमें हैं। जीव में अपने दृष्टिकोण से ज्ञानवत्ता है इसलिए वह ज्ञान से अभिन्न है, दूसरों के दृष्टिकोण से अज्ञानवत्ता है इसलिए ज्ञान से वह भिन्न भी है। पूर्वापरीभूत ज्ञान का अर्थ है ज्ञान का प्रवाह, यही आत्मा है। 'कथंचन' का प्रयोग बतलाता है कि सत्ता अनेकान्त (बहुत सी संभावनाओं से युक्त) है।]

अब कोई शंका कर सकता है—'भेद और अभेद एक दूसरे का परिहार (विरोध) करते हुए अवस्थित हैं इसलिए वास्तव में दोनों में से कोई एक ही हो सकता है, दोनों होना असंगत है।' [हमारा उत्तर है कि] ऐसी शंका निराधार है क्योंकि इसके बाधक (Contrary) में प्रमाण नहीं मिलता। किसी वस्तु की अप्राप्ति को ही बाधक प्रमाण कहते हैं, यहाँ पर अप्राप्ति है ही नहीं। कारण यह है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त माननेवाले (जैनों) के मत से सभी वस्तुओं में अनेकान्तात्मकता है—यही कहना पर्याप्त है।

विशेष—जैनों का एक विशिष्ट सिद्धान्त है—अनेकान्तवाद, जिसका अर्थ है कि किसी वस्तु का कोई रूप निश्चित नहीं, सभी वस्तुएँ अनिश्चित हैं—सत्ता असत्ता दोनों हैं, इसे सप्तभङ्गी नय के द्वारा वे व्यक्त करते हैं। इसमें स्यात् (कथंचित्) शब्द का प्रयोग होने के कारण जैनों को स्याद्वादी भी कहते हैं। अनेकान्तवाद को अपनाने के कारण जैनों में सभी तरह के सिद्धान्तों को अपनाने की परम्परा है। वे सभी विचारों का आदर करते हैं। इसकी विवेचना इसी दर्शन में आगे होगी। इसी सिद्धान्त के कारण यहाँ पर जीव में ज्ञान से भिन्नता और अभिन्नता दोनों मानते हैं। यदि भेद और अभेद दोनों की एक साथ उपलब्धि नहीं होती तभी उपर्युक्त शंका हो सकती थी। अनेकान्तवाद मानने के बाद यह सब विचार मिट जाता है।

(१९. पाँच तत्त्व—दूसरा मत)

अपरे पुनर्जीवाजीवयोरपरं प्रपञ्चमाचक्षते जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलास्तिकायभेदात्। एतेषु पञ्चसु तत्त्वेषु कालत्रयसम्बन्धितया अस्तीति स्थितिव्यपदेशः। अनेकप्रदेशत्वेन शरीरवत्कायव्यपदेशः।

दूसरे (जैन-दार्शनिक) लोग अब जीव और अजीव (= उपर्युक्त भेदीकरण) का एक दूसरा ही प्रपञ्च (विस्तार, वर्गीकरण) करते हैं—जिनके अनुसार

[ये पाँच] अस्तिकाय (पदार्थ) हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इन पाँचों तत्त्वों का सम्बन्ध चूँकि तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) से है (= तीनों कालों में ये स्थित हैं) इसलिये 'अस्ति' शब्द के द्वारा इनकी स्थिति (Existence सत्ता) का बोध कराया जाता है। उसी तरह, अनेक स्थानों में रहने के कारण, शरीर की भाँति, इनका बोध 'काय' शब्द से होता है। [इनके अस्तिकाय नाम पड़ने का कारण बतलाया जा रहा है कि 'अस्ति' से काल का बोध होता है 'काय' से देश का। कोई भी वस्तु किसी न किसी देश या काल (Time or Space) में रहती है। 'अस्तिकाय' शब्द दर्शन के अन्तस्तल का स्पर्श करने वाला है जिसमें वस्तुओं के दो व्यापक-तत्वों का बोध कराने की सामर्थ्य है।]

तत्र जीवा द्विविधाः, संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः—समनस्का, अमनस्काश्च। तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियालापग्रहणरूपा संज्ञा। तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र द्वीन्द्रियादयः शङ्खगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। एक जन्म (भव) से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले जीव **संसारी** कहलाते हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। उनमें संज्ञा-युक्त जीव **समनस्क** हैं। [संज्ञा से लोग खाने-पीने आदि की चेतनता समझते हैं जो पशुओं में भी है, लेकिन जैन लोग इसे सीमित अर्थ में लेते हैं।] शिक्षा (दूसरों का उपदेश), क्रिया, आलाप (बातचीत) का ग्रहण करना ही संज्ञा है। [संज्ञा से गन्धर्व, मनुष्य आदि का ही ग्रहण होता है क्योंकि ये ही दूसरों के गुण-दोष के विचार में निपुण हैं। पशु-पक्षियों में कुछ ही ऐसे हैं जैसे—हाथी, घोड़ा, बन्दर, सुगा आदि।]

अमनस्क जीव संज्ञा से रहित हैं, जिनके दो भेद हैं—त्रस और स्थावर (उनमें दो इन्द्रियाँ आदि से युक्त शंख, गण्डोलक (गंडकी का एक पत्थर) आदि चार प्रकार के जीव **त्रस** हैं। पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु और वनस्पति **स्थावर** हैं।

विशेष—त्रस का अर्थ सामान्यतः लोग गतिशील (Locomotive) और स्थावर का अर्थ अगतिशील (Immovable) लेते हैं। लेकिन आपाततः प्रतीत होने पर भी उनका यह अर्थ नहीं है। त्रस और स्थावर दोनों ही विशेष

प्रकार के कर्मों के बोधक हैं। इन कर्मों से ही कोई जीव जन्म लेकर स्थावर होता है, कोई त्रस। शुभ और अशुभ दोनों तरह के कर्मों का नाम त्रस है। प्राय: अशुभ कर्म का नाम स्थावर है। त्रस कर्म के उदय होने से जो जीव जन्म लेते हैं वे त्रस हैं. स्थावर कर्म के उदय से स्थावर जीव जन्म लेते हैं।

त्रस जीवों के चार प्रकार हैं—(१) **द्वीन्द्रिय** (स्पर्श और रसन की इन्द्रियों से युक्त) जैसे—शंख, गंडोलक, शुक्ति (सीपी), कृमि (कीट) आदि। (२) **त्रीन्द्रिय** (स्पर्श, रसन और घ्राण)—पिपीलिका (चींटी), यूक (जोंक) आदि। (३) **चतुरिन्द्रिय** (ऊपर के तीन तथा चक्षु)—दंश, मशक (मच्छर), भ्रमर आदि। (४) **पञ्चेन्द्रिय** (कर्ण भी)—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि। स्थावर जीवों के भेद अब बतलावेंगे। स्मरणीय है कि समनस्क केवल त्रस ही होते हैं उनमें भी पाँच इन्द्रियों वाले ही।

तत्र मार्गगतधूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथिवी कायत्वेन येन गृहीता स पृथिवीकायिकः। पृथिवीं कायत्वेन यो ग्रहीष्यति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि भेद-चतुष्टयं योज्यम्। तत्र पृथिव्यादि कायत्वेन गृहीतवन्तो ग्रहीष्यन्तश्च स्थावरा गृह्यन्ते न पृथिव्यादिपृथिवीकायादयः। तेषामजीवत्वात्। ते च स्थावराः स्पर्शनैकेन्द्रियाः। भवान्तर-प्राप्तिविधुरा मुक्ताः।

[यहाँ पर एक विभाजन करें—] मार्ग की धूलि **पृथिवी** है, ईंट आदि (पाषाण भी) **पृथिवीकाय** हैं (क्योंकि ये मरे हुए आदमी के काय की तरह स्थित हैं)। पृथिवी को काय के रूप में जिसने ग्रहण कर लिया वह **पृथिवी-कायिक** है, पृथिवी को काय के रूप में जो ग्रहण करेगा वह **पृथिवीजीव** है। इसी प्रकार जल (अप् = आप:) आदि में भी चार-चार भेद कर लें। पृथिवी आदि को काय के रूप में जिन्होंने ग्रहण कर लिया है या जो ग्रहण करेंगे वे जीव ही स्थावर जीव हैं (अर्थात् पृथिवी कायिक, अप्कायिक, तेजःकायिक आदि और पृथिवीजीव, अब्जीव, तेजोजीव आदि ही जीव—स्थावर जीव—हैं)। पृथिवी (अप्, तेज) आदि तथा पृथिवीकाय (अप्काय, तेजःकाय) आदि स्थावर-जीव नहीं हैं क्योंकि इनमें जीव ही नहीं है। [अभिप्राय यह है कि पहले दोनों वर्ग स्थावर जीव में नहीं आते। स्थावर जीव कहने से पिछले दोनों वर्गों (···कायिक···जीव) का ही ग्रहण होता है।]

इन सभी स्थावर जीवों की एक ही इन्द्रिय—केवल स्पर्शन—होती है। **मुक्त** जीव वे हैं जो दूसरा जन्म नहीं पाते। [इस प्रकार संसारी और मुक्त का वर्णन करके जीव-तत्त्व का वर्णन समाप्त हुआ।]

धर्माधर्माकाशास्तिकायाः ते एकत्वशालिनो निष्क्रियाश्च द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतवः। तत्र धर्माधर्मौ प्रसिद्धौ। आलोकेनावच्छिन्ने नभसि लोकाकाशपदवेदनीये तयोः सर्वत्रावस्थितिः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। अतएव धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयः। अधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः। अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

धर्म, अर्थ और आकाश के अस्तिकाय एकत्व से युक्त (एक भेदवाले) हैं, क्रियाहीन हैं, द्रव्य को दूसरे स्थान में ले जानेवाले हैं। धर्म और अधर्म तो प्रसिद्ध ही हैं। आलोक (प्रकाश) से व्याप्त आकाश में, जिसे 'लोकाकाश' शब्द से समझते हैं, वहाँ उन दोनों की अवस्थिति सर्वत्र है। क्रमशः गति और स्थिति के ग्रहण से धर्म और अधर्म का उपकार होता है (=ग्रहण होता है)। इसलिए **धर्म**-अस्तिकाय (पदार्थ) का अनुमान प्रवृत्ति (गति Motion) देखकर करते हैं, **अधर्म**-अस्तिकाय स्थिति (Rest) से अनुमेय है। एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु का प्रवेश होना 'अवगाह' है, यही **आकाश** का काम है।

विशेष—जिस प्रकार जीव और पुद्गल के कई भेद हैं, उस तरह धर्म, अधर्म, और आकाश में भेद नहीं होते—ये अकेले ही हैं (आ आकाशादेकद्रव्याणि, त० सू० ५।६)। बाहरी या भीतरी किसी भी कारण से पदार्थ में कोई विशेष अवस्था उत्पन्न हो जाये जिससे पदार्थ (या द्रव्य) दूसरे स्थान में पहुँच जाये—इसी का नाम 'क्रिया' है। उपर्युक्त तीनों अस्तिकाय क्रिया से भी रहित हैं, ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हाँ, ये जीवों और पुद्गलों में क्रिया (देशान्तर-प्राप्ति) उत्पन्न करने के कारण होते हैं।

आकाश के दो रूप हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोक से सम्बद्ध आकाश लोकाकाश है। इसी में धर्म और अधर्म रहते हैं, इनके भी पुद्गल होते हैं। धर्माधर्म से आकाश वैसा ही व्याप्त है जैसा तेल से तिल रहता है। तात्पर्य यह है कि ये आकाश में सर्वत्र हैं, कोई स्थान इनसे खाली नहीं है (धर्माधर्मयोः कृत्स्ने, त० सू० ५।१३)। उपग्रह और उपकार दोनों ग्रहण (Apprehension) के अर्थ में लिये गये हैं। जीव के द्वारा गृहीत गति का नाम धर्म है, स्थिति

का नाम अधर्म। यों दोनों की स्थिति सर्वत्र होती है। इस पर अभ्यंकर जी ने दृष्टान्त दिया है—जैसे मछली की गति होने पर जल साधारण अवस्था में रहता है उसी तरह जीवों की गति होने पर धर्म। फिर, जैसे घोड़े की स्थिति होने पर पृथिवी साधारण अवस्था में रहती है उसी तरह जीवों की स्थिति में अधर्म भी रहता है। गति और स्थिति जीव के विशेष परिवर्तनों के नाम हैं। धर्म और अधर्म को हम देख नहीं सकते, केवल जीव की गति और स्थिति देखकर उनका अनुमान भर हो सकता है।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (त० सू० ५।२४)। ते च द्विविधाः—अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। तत्र द्व्यणुकादिस्कन्धभेदात् अण्वादि-रुत्पद्यते। अण्वादिसङ्घाताद् द्व्यणुकादिरुत्पद्यते। क्वचिद् भेद-सङ्घाताभ्यां स्कन्धोत्पत्तिः (त० सू० ५।२६)। अतएव पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (रूप) से युक्त **पुद्गल** होते हैं। वे दो प्रकार के हैं—अणु (Atomic) और स्कन्ध (Compound)। [अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, ग्रहण, धारण, निक्षेपण आदि के न होने से] अणुओं का उपभोग नहीं किया जा सकता। द्व्यणुक (दो अणुओं से बना हुआ) से आरम्भ करके स्कन्ध होते हैं। द्व्यणुक आदि स्कन्धों का विश्लेषण (Analysis) करने पर अणु आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के समूह (Synthesis) से द्व्यणुक आदि होते हैं। कभी-कभी स्कन्ध की उत्पत्ति विश्लेषण और संघात दोनों के प्रयोग से होती है। इसलिए भरने (मिलने, √पॄ + णिच्) या पृथक्-पृथक् होने (√गल्) के कारण इन्हें **पुद्गल** कहते हैं।

विशेष—पुद्गल के लक्षण में प्राचीन पुस्तकों में 'गन्ध' नहीं दिया गया है—जिसका अनुवाद कॉवेल ने भी किया है पर सूत्र में 'गन्ध' का प्रयोग है। स्पर्श के आठ भेद हैं—कठोर, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष। रस पाँच प्रकार का है—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। गन्ध दो प्रकार की है—सुरभि, असुरभि। वर्ण के पाँच भेद हैं—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल।

अणु = √अण् से, अर्थ है—स्पर्शादि अवस्थाओं के उत्पादन में समर्थ है, ऐसा जिसे कहते हैं। स्कन्ध = √स्कन्ध् से, अर्थ—ग्रहण, निक्षेपण आदि व्यापारों का उपयोगी। ये दोनों ही पुद्गलों की विशेष अवस्थाओं के नाम हैं। प्रकृति में अणु, फिर स्कन्ध। द्व्यणुकादि स्कन्धों का विश्लेषण करने पर अन्त

में पुद्गलों की अणु-अवस्था (परिणाम) में पहुँचते हैं। अणुओं को मिलाने पर पुद्गलों की स्कन्धावस्था में पहुँचते हैं। कभी-कभी भेद और संघात दोनों करने पर स्कन्ध-परिणाम की प्राप्ति होती है जैसे—

द्वयणुक = त्र्यणुक का विश्लेषण

या, द्वयणुक = अणुओं का संघात।

(२०. काल भी एक द्रव्य है)

कालस्यावेकप्रदेशत्वाभावेन अस्तिकायत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वमस्ति। तल्लक्षणयोगात्। तदुक्तं—गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (त० सू० ५।३८) इति। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (त० सू० ५।३९)। यथा जीवस्य ज्ञानत्वादिधर्मरूपाः, पुद्गलस्य रूपत्वादिसामान्यस्वभावाः। धर्माधर्माकाशकालानां यथासम्भवं गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वादिसामान्यानि गुणाः।

तस्य द्रव्यस्योक्तरूपेण भवनं पर्यायः। उत्पादस्तद्भावः परिणामः पर्याय इति पर्यायाः। यथा जीवस्य घटादिज्ञानसुखक्लेशादयः। पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः। धर्मादीनां गत्यादिविशेषाः। अतएव षड् द्रव्याणीति प्रसिद्धिः।

यद्यपि **काल** (Time) अनेक स्थानों में अवस्थित न होने के कारण अस्तिकाय नहीं है फिर भी यह द्रव्य (Substance तत्त्व) है। कारण यह है कि द्रव्य के लक्षण इसमें लगते हैं। कहा है कि गुण और पर्याय (= कर्म—हेमचन्द्र) से युक्त द्रव्य होता है (तत्त्व सू० ५।३८)।[1] द्रव्य में रहनेवाले किन्तु स्वयं गुण धारण न करनेवाले को **गुण** (Qualities) कहते हैं। उदाहरणार्थ जीव के गुण, ज्ञानत्व आदि धर्मों के रूप में हैं, पुद्गल के [गुण] रूपत्व (वर्ण) आदि सामान्य स्वभाव हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल के [गुण] यथासम्भव गति (धर्म-गुण), स्थिति (अधर्म-गुण), अवगाह (आकाश-गुण) और वर्तनाहेतुत्व (= किसी विशेष अवस्था में रहना, काल-गुण) आदि के सामान्य रूप हैं।

उस द्रव्य का उपर्युक्त रूप से (= भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जाकर) होना **पर्याय** (Action) कहलाता है। [द्रव्य के] पर्याय ये हैं—उत्पाद (उत्पत्ति Production), तद्भाव (सत्ता Existence), परिणाम

---

१. देखिए वैशेषिक सूत्र—(१।१।१५)

(Development) और पर्याय (Action)। जैसे जीव के [पर्याय] घट आदि का ज्ञान, सुख, क्लेश आदि हैं; पुद्गल के [पर्याय] मिट्टी का पिण्ड, घट आदि हैं; धर्मादि के [पर्याय] गति आदि के विशेष (सामान्य नहीं, क्योंकि वह गुण में रहता है) हैं। इसीलिए प्रसिद्धि है कि द्रव्य छह हैं (पाँच अस्तिकाय + काल)।

विशेष—द्रव्य का यही लक्षण नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है। अन्तर यही है कि जैन 'पर्याय' का प्रयोग करते हैं नैयायिक 'कर्म' का। हेमचन्द्र ने पर्याय को कर्म कहा भी है। एक स्थान पर (अभिधानरत्नमाला १५०३) में उसे यों कहा है—पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः। अब द्रव्यलक्षण की व्याख्या करें—जिस धर्म के चलते एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न किया जाता है (Distinguished) द्रव्य में निवास करनेवाला वह धर्म **गुण** है। जैसे ज्ञानत्व, इसी से जीव-द्रव्य का भेद पुद्गलादि द्रव्यों से किया जाता है। पुद्गल-द्रव्य को रूपत्व के चलते दूसरे द्रव्यों से पृथक् करते हैं। तो, यहाँ ज्ञान, रूप आदि गुण हैं। द्रव्य की विशेष अवस्था का नाम **पर्याय** है जो क्रमशः उत्पन्न होती है। जैसे जीव में घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान इत्यादि और पुद्गल में श्वेत, कृष्ण आदि। ये देखने में गुण—जैसा लगते हैं। भ्रम में न पड़ें। पर्याय द्रव्य के अवस्था-विशेष का नाम है अतः गुण भी उसमें रहते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ में दोनों की परिभाषा ऐसी दी गई है—(१) सहभावी धर्मो गुणः (२) क्रमभावी पर्यायः। द्रव्य के साथ होने वाले धर्म को **गुण** कहते हैं जैसे जीव का गुण—उपयोग, पुद्गल का गुण—ग्रहण करना, धर्मास्तिकाय का गुण—गति उत्पन्न करना, अधर्मास्तिकाय का—स्थिति उत्पन्न करना, काल का गुण—सत्ता उत्पन्न करना आदि। द्रव्य के साथ-साथ गुण उत्पन्न होते हैं। क्रम (Succession) नहीं होता। दूसरी ओर क्रम से उत्पन्न होनेवाले, द्रव्य के बाद आनेवाले **पर्याय** हैं। जीव के पर्याय नरक आदि; पुद्गल के रूप, रस, स्पर्शादि; धर्म, अधर्म और आकाश का पर्याय अभिव्यक्ति है।

काल का गुण है—वर्तनाहेतुत्व। वर्तन का अर्थ है द्रव्य का भिन्न-भिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में रहना। चावल, भात के रूप में, दूध-दही के रूप में, बीज अंकुर, काण्ड, पत्ता, फूल, फल के रूप में, नवीन वस्तु जीर्ण-शीर्ण वस्तु के रूप में—यह सब काल के कारण ही होता है।

(२१. सात तत्त्व—तीसरा मत)

केचन सप्त तत्त्वानीति वर्णयन्ति। तदाह—जीवाजीवास्रवबन्धसम्वरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि (त० सू० १।४) इति।

तत्र जीवाजीवौ निरूपितौ। आस्रवो निरूप्यते—औदारिकादि-कायादिचलनद्वारेण आत्मनश्चलनं योगपदवेदनीयमास्रवः। यथा सलिलावगाहि द्वारं जलाद्यास्रवणकारणत्वादास्रव इति निगद्यते, तथा योगप्रणाडिकया कर्मास्रवतीति स योग आस्रवः।

कुछ लोग (जैन दार्शनिक) सात तत्त्वों का वर्णन करते हैं। यह बात [सूत्रकार भी] कहते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं (त० सू० १।४)।[1] उनमें जीव और अजीव का निरूपण तो हो चुका है (देखिये—अनुच्छेद १८)। अब आस्रव का निरूपण किया जाता है—औदारिक आदि कायों तथा दूसरे साधनों (= मन और वचन) के चलने से आत्मा का चलना, जिसे योग भी कहते हैं, आस्रव है। जिस प्रकार पानी में डूबा हुआ [किसी नली का] छेद आस्रव कहलाता है क्योंकि जलादि का इसी से होकर आस्रवण (गिरना, बहना) होता है, उसी प्रकार योग (= आत्मा की चञ्चलता)-रूपी नली के द्वारा [आत्मा या जीव में] कर्म का आस्रवण (Flow, प्रवाह, बहना) होता है, यह योग (जीव का कर्म से ँधना) ही आस्रव है।

विशेष—आस्रव के लक्षण में कुछ शास्त्रीय-पदों का प्रयोग हुआ है, उन्हें देखा जाय। काय (शरीर) के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। दे० तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२।३६)। ये काय एक की अपेक्षा दूसरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हैं। उदार = स्थूल, उसमें उत्पन्न = औदार = स्थूल शरीर से साध्य कर्म आदि। औदार जिसका प्रयोजन है वह **औदारिक** = यह दृश्यमान स्थूल शरीर। वैक्रियिक इसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। विक्रिया = सामर्थ्य के कारण अनणु को अणु बना देना तथा लघु को महान् बना देना। विक्रिया जिसका प्रयोजन है वह **वैक्रियिक** = जो दृश्य नहीं है ऐसा शरीर। आहारक इससे भी सूक्ष्म है। **आहारक** वह है जिसे आहृत अर्थात् स्वीकृत किया जाय। सूक्ष्मवस्तुओं के परिज्ञान के लिये इसे स्वीकृत किया गया है। तेज (अग्नि) में उत्पन्न **तैजस** है जो आहारक की अपेक्षा सूक्ष्म है। सबसे सूक्ष्म **कार्मण** है जिसमें शब्दादि भी प्राप्त नहीं होते। यद्यपि पाँचों प्रकार के शरीरों का निमित्त

---

१. चेतनालक्षणो जीवः। तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। शुभाशुभकर्मागमद्वार-मास्रवः। आत्मकर्मणोरन्योन्यावयवानुप्रवेशो बन्धः। आस्रवनिरोधः संवरः। कर्मैकदेशसंक्षयो निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगो मोक्षः—इत्येषां सामान्यलक्षणानि (अभ्यङ्करः)।

कर्म ही है फिर भी रूढि वश (Conventionally) इसे 'कार्मण' शब्द से समझते हैं। लोहे के पिण्ड में अग्नि के परमाणु प्रवेश करते हैं उसी तरह तैजस और कार्मण वज्र आदि में भी प्रवेश कर जाते हैं। इन शरीरों (पाँचों) में सूक्ष्मता एक से अधिक है लेकिन व्यापकता भी वैसी ही अधिक है।

कायादि = काय, मन, वचन। आत्मा के स्थान का चलना (देशान्तर गमन) 'योग' कहलाता है। यह तीन प्रकार का है क्योंकि कर्म (जिससे यह उत्पन्न होता है) तीन प्रकार का ही है—मानसिक, वाचिक और कायिक। तो, योग के ये भेद हैं—मनोयोग, वाग्योग और काययोग। मन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश (स्थान) का चलना **मनोयोग** है। वचन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश का चलना **वाग्योग** है। शरीर के चलने से आत्मा के प्रदेश का चलना **काययोग** है। ये योग ही आस्रव हैं।

आत्म-प्रदेश का संचालन एक प्रकार से नली का छेद है जिससे होकर बाहर से कर्म के पुद्गल आत्मा के प्रदेश के बीच चले आते हैं।

यथार्द्रं वस्त्रं समन्ताद्वातानीतं रेणुजातमुपादत्ते, तथा कषायजलार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा निष्टप्तायःपिण्डो जले क्षिप्तोऽम्भः समन्ताद् गृह्णाति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते। कषति = हिनस्ति आत्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः, क्रोधो मानो माया लोभश्च।

[आस्रव के और भी दृष्टान्त देते हैं—] जिस प्रकार भींगा कपड़ा चारों ओर से हवा द्वारा लाई गई धूलि के समूह को पकड़ लेता है उसी प्रकार कषाय-रूपी जल से भींगी हुई आत्मा योग के द्वारा लाये गये कर्म को सभी स्थानों से ग्रहण करती है। अथवा जिस प्रकार खूब गर्म किया गया लोहे का टुकड़ा पानी में डाले जाने पर चारों ओर से पानी खींचता है, उसी प्रकार कषाय से उष्ण जीव योग के द्वारा लाये कर्म को चारों ओर से खींच लेता है।

[कषाय का निर्वचन—] जो कषण करे = आत्मा को बुरी अवस्था में ले जाकर उसका हनन करे, वह कषाय है (√कष्) जैसे—क्रोध, मान (अहंकार), माया, (Delusion) और लोभ।

सः द्विविधः शुभाशुभभेदात्। अत्राहिंसादिः शुभः काय-योगः। सत्यमितहितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हत्सिद्धा-

चार्योपाध्यायसाधुनामधेयपञ्चपरमेष्ठिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। एतद्विपरीतस्त्वशुभः त्रिविधो योगः।

तदेतदास्रवभेदप्रभेदजातं, 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य' (त० सू० ६।१-४) इत्यादिना सूत्रसंदर्भेण ससंरम्भमभाणि।

अपरे त्वेवं मेनिरे—आस्रवयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिः विषयान्स्पृशद् रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति।

उस (योग) के दो भेद हैं—शुभ और अशुभ। अहिंसा आदि शुभ काययोग हैं। सत्य बोलना, मित (आवश्यकतानुसार) बोलना, हित करनेवाली बातें बोलना आदि शुभ वाग्योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक इन पाँच परमेष्ठियों में भक्ति रखना, तपस्या में रुचि होना, शास्त्र (श्रुत) का शिक्षण (विनय) इत्यादि शुभ मनोयोग हैं। इसके विपरीत तीन तरह के अशुभ योग हैं। [प्राण लेना, चोरी करना, मैथुन आदि अशुभ काययोग है। झूठा, कठोर, असभ्य आदि भाषण करना अशुभ वाग्योग है। वध का चिन्तन, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग है।]

आस्रव के इन भेद-प्रभेदों का वर्णन इन सूत्रों में प्रयत्नपूर्वक किया गया है—'काय, वाक् और मन—ये कर्म के द्वारा योग (आत्मप्रदेश सञ्चलन) हैं।' 'यही आस्रव है।' 'पुण्य के लिए शुभ [योग है]।' 'पाप के लिए अशुभ [योग है]।' (त० सू० ६।१-४)।

लेकिन दूसरे लोग ऐसा मानते हैं—'जो पुरुष को विषयों की ओर बहाकर ले जाय अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति; उसे ही आस्रव कहते हैं।' इन्द्रियों के द्वारा ही पुरुषों की ज्योति विषयों का स्पर्श करती है तथा रूपादि के ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है।

(२१ क. बन्ध का निरूपण)

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायवशाद्योगवशाच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्धयोग्यानामादानमुपश्लेषणं यत्करोति, स बन्धः। तदुक्तं—सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः (त० सू० ८।२) इति।

जब मिथ्या-दर्शन, अविरति (आसक्ति), प्रमाद (असावधानी) और कषाय (पाप) के कारण, तथा योग के भी कारण आत्मा उन पुद्गलों का आदान अर्थात् आलिंगन करती है जो पुद्गल (शरीर, Matter) अपने सूक्ष्म क्षेत्र (रूप) में प्रवेश करते हैं, अनन्त (सभी) स्थानों में निवास करते हैं तथा [अपने पूर्वकृत] कर्मों के बन्धन में पड़ने लायक होते हैं—इसी क्रिया का नाम बन्ध (Bondage) है। यह कहा भी है—'सकषाय रहने के कारण जीव [अपने पहले के किये हुए] कर्मों के भाव (परिणाम) के अनुकूल पुद्गलों (शरीरों) को ग्रहण करता है, वही बन्ध है (त० सू० ८।२)।

(२२. बन्धन के कारण)

तत्र कषायग्रहणं सर्वबन्धहेतूपलक्षणार्थम्। बन्धहेतून्पपाठ वाचकाचार्यः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (त० सू० ८।१) इति।

यहाँ (उपर्युक्त उद्धरण में) 'कषाय' शब्द बन्धन के सारे कारणों का उपलक्षण (बोधक)[1] है। वाचकाचार्य (उमास्वाति) ने बन्ध के हेतुओं को इस प्रकार निरूपित किया है—मिथ्या दर्शन (False Intuition झूठा विश्वास), अविरति (Non-indifference), प्रमाद (लापरवाही Carelessness) कषाय (पाप Sin) तथा योग (Influx)—बन्ध के हेतु हैं (त० सू० ८।१)।

मिथ्यादर्शनं द्विविधं—मिथ्याकर्मोदयात्परोपदेशानपेक्षं तत्त्वाश्रद्धानं नैसर्गिकमेकम्। अपरं परोपदेशजम्। पृथिव्यादि-षट्कोपादानं षडिन्द्रियासंयमनं चाविरतिः। पञ्चसमितित्रिगु-प्तिष्वनुत्साहः प्रमादः। कषायः क्रोधादिः। तत्र कषायान्ताः स्थित्यनुभवबन्धहेतवः प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुर्योग इति विभागः।

[क] **मिथ्यादर्शन** दो प्रकार का है—मिथ्या कर्मों का उदय होने पर, दूसरों के उपदेश के बिना ही प्राकृतिक रूप से [जैन दार्शनिकों के] तत्त्वों पर

---

१ उपलक्षण = एक पदार्थ का अपने सदृश अन्य पदार्थों का बोध कराना। उदाहरणार्थ 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में 'काक' शब्द दधि के विनाशक अन्य जीवों का भी उपलक्षण है। दही को कौए से बचाना = बिल्ली, वानर आदि सभी जीवों से बचाना।

श्रद्धा न रखना एक प्रकार का [मिथ्यादर्शन] है, दूसरा प्रकार वह है जिसमें दूसरों (अन्य सम्प्रदायों) के उपदेश से [जैनदर्शन में अश्रद्धा] उत्पन्न होती है।

[ख] पृथ्वी आदि (= पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, स्थावर, जंगम—पुद्गल अस्तिकाय) छह पदार्थों का उपादान (ग्रहण) तथा छह इन्द्रियों का संयमन न करना **अविरति** है। [विरति = इन्हें त्याग देना, अविरति = नहीं त्यागना— इससे बन्धन होता है।]

[ग] पाँच समितियों और तीन गुप्तियों [के प्रयोग] का प्रयास न करना **प्रमाद** है। [पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का वर्णन अभी तुरत किया जायगा। कर्मपुद्गलों के प्रवेश से अपनी रक्षा करना 'गुप्ति' है। कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति—ये तीन भेद हैं। प्राणियों को पीड़ा न देते हुए अच्छा व्यवहार रखना 'समिति' है जिसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, उत्सर्ग भेद हैं। देखें— अनु० २३]।

[घ] क्रोधादि **कषाय** है [आदि = मान, माया, लोभ]। यहाँ एक विभाजन (Distinction) करना पड़ता है कि कषाय तक के चारों हेतु (= मिथ्यादर्शन आदि) स्थिति और अनुभव के बन्धनों के कारण हैं जब कि **योग** (या आस्रव) प्रकृति और प्रदेश के बन्धनों का कारण है।

(२२ क. बन्धन के भेद)

बन्धश्चतुर्विध इत्युक्तं, प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः (त० सू० ८।३) इति। यथा निम्बगुडादेस्तिक्तत्वमधुरत्वादिस्वभाव एवमावरणीयस्य ज्ञानदर्शनावरणत्वम् आदित्यप्रभाच्छादकाम्भोधरवत्प्रदीपप्रभातिरोधायककुम्भवच्च। सदसद्वेदनीयस्य सुखदुःखोत्पादकत्वमसिधारामधुलेहनवत्।

ऊपर जो चार प्रकार का कहा गया है [उसे सूत्र में कहा है—] 'प्रकृति बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभव-बन्ध तथा प्रदेश-बन्ध—ये उस (बन्ध) के प्रकार हैं।' (त० सू० ८।३) [अब इन चारों बन्धों का क्रमशः निरूपण करते हुए पहले प्रतिबन्ध के आठ भेदों का वर्णन होगा। ये भेद हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुः, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। ये आठ प्रकार के कर्म हैं। इनसे ही व्यक्ति बन्धन में पड़ता है।]

जिस प्रकार नीम, गुड़, आदि में तिताई (Bitterness), मिठास आदि स्वभाव के रूप में है, उसी प्रकार (आवरणीय कर्म में ज्ञान और दर्शन का आवरण करना स्वभाव है। दृष्टान्त के लिए सूर्य के प्रकाश को ढँकनेवाले मेघ और दीपक के प्रकाश को छिपानेवाले घड़े को लें। [सूर्य के प्रकाश का मेघ द्वारा आवृत होना **ज्ञानावरण** का दृष्टान्त है जिसमें वस्तु का स्वरूप ज्ञात नहीं होता, ज्ञातृत्व-शक्ति ढँक जाती है। **दर्शनावरण** के दृष्टान्त में दीपक के प्रकाश का छिपना है जिसमें वस्तु को देखने की शक्ति छिप जाती है।] सत् और असत् के रूप में ज्ञेय पदार्थ का (एक साथ ही) सुख-दुःख को उत्पन्न करना [वेदनीय कर्म है] जिसके दृष्टान्त में तलवार की धार पर वर्तमान मधु का चाटना है। (एक ही साथ सुख और दुःख दोनों हैं; क्योंकि तलवार की धार से जीभ कट जाना दुःख है, मधु का चाटना सुख। यही वेदनीय कर्म है = सुख-दुःख का संवेदन।)

दर्शने मोहनीयस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानकारित्वं दुर्जनसङ्गवत्। चारित्रे मोहनीयस्यासंयमहेतुत्वं मद्यमदवत्। आयुषो देहबन्धन-कर्तृकं जलवत्। नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्। गोत्रस्योच्चनीचकारित्वं कुम्भकारवत्। दानादीनां विघ्ननिदानत्व-मन्तरायस्य स्वभावः कोशाध्यक्षवत्।

सोऽयं प्रकृतिबन्धोऽष्टविधो द्रव्यकर्मावान्तरभेदमूलप्रकृति-वेदनीयः। तथावोचदुमास्वातिवाचकाचार्यः—आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः (त० सू० ८।४) इति।

तद्भेदं च समगृह्णात्पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिं-शद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् (त० सू० ८।५) इति। एतच्च सर्वं विद्यानन्दादिभिर्विवृतमिति विस्तरभयान्न प्रस्तूयते।

[**मोहनीय** कर्म दर्शन और चरित्र दोनों में मोह उत्पन्न करता है।] दर्शन में मोहनीय कर्म का स्वभाव है तत्त्वार्थ में अश्रद्धा उत्पन्न कर देना जैसे दुष्टों के संग से होता है। चारित्र में मोहनीय का स्वभाव है असंयम उत्पन्न करना जैसा मदिरा का नशा (मद) से होता है। **आयु** कर्म शारीरिक बन्धन में डालता है, जैसे जल [तैरने में शरीर को धारण करता है उसी प्रकार आयु कर्म भी देह धारण करता है।] **नाम** कर्म से विभिन्न नाम उत्पन्न

होते हैं जैसे चित्रकार [विभिन्न चित्र बनाता है। **गोत्र** कर्म से ऊँचा (वंश) और नीचा की भावना आती है, जिस तरह कुम्भकार [घड़े में ऊँचा और नीचा स्थान बनाता है।] **अन्तराय** कर्म का स्वभाव है दानादि के कामों में विघ्न डालना, जिस प्रकार कोशाध्यक्ष [राजा को मितव्ययिता का पाठ पढ़ा कर दानादि से रोकता है।]

इस प्रकार यह प्रकृति-बन्ध आठ तरह का है, इसे मूल-प्रकृति भी कहते हैं तथा द्रव्यों के [धर्म और अधर्म नामक] कर्मों के अनुसार इसमें अन्तर भेद (Subdivisions) होते हैं। ऐसा ही उमास्वाति वाचकाचार्य ने कहा भी है—पहले बन्ध (प्रकृति बन्ध) में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—ये भेद हैं। (त० सू० ८।४)।

इनके भेदों की भी संख्या उन्होंने दी है कि क्रमशः इनके भी पाँच (ज्ञानावरण), नव (दर्शनावरण), दो (वेदनीय), अठाईस (मोहनीय), चार (आयु), बयालीस (नाम), दो (गोत्र), तथा पाँच (अन्तराय) भेद होते हैं। (त० सू० ८।५)। इसका पूरा विवरण विद्यानन्दिन् आदि ने [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीकाओं में] दिया है इसलिए विस्तार के डर से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

यथाजागोमहिष्यादिक्षीराणामेतावन्तमनेहसं माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिस्तथा ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामादितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः (त० सू० ८।१४) इत्याद्युक्तकाला दुर्दान्तवत्स्वीयस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।

यथाजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्तप्रदेशानामात्मप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः।

स्थितिबन्ध—जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध अपने माधुर्य के स्वभाव से किसी निश्चित काल (अनेहस् = समय) तक च्युत नहीं होते (उनमें किसी निश्चित समय तक मिठास रहती है), उसी प्रकार मूल प्रकृतियों (प्रकृति बन्धों) में प्रथम तीन ज्ञानावरणादि तथा अन्तराय (कुल मिलाकर चार कर्मों) का इस सूत्र के अनुसार—'उत्कृष्ट स्थिति (= बन्ध) का परिमाण

करोड़ों-करोड़ों तीस सागरोपम—जैसे काल हैं'—इतने समय तक मतवाले (हाथी) की तरह अपने स्वभाव को न छोड़ना 'स्थितिबन्ध' है। [स्थिति दो प्रकार की है—परा और अपरा। परा स्थिति उत्कृष्ट होती है तथा आठों कर्मों में प्रत्येक की भिन्न-भिन्न होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्मों की परा स्थिति तीस सागरोपम—जैसे करोड़ों-करोड़ों समय तक होती है = उतने समय तक इनका अपना स्वभाव (प्रकृति) नहीं छूटता। 'सागरोपम' एक समय की अवधि है जो बहुत बड़ी है। अन्य कर्मों की परा स्थिति अलग-अलग होती है जैसे—मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर सागरोपम जैसे करोड़ों-करोड़ों काल (त० सू० ८।१५), नाम और गोत्र कर्मों की बीस सागरोपम—जैसे करोड़ों-करोड़ों काल (८।१६), आयु कर्म की तेंतीस० (८।१७) अपरा स्थिति का वर्णन भी सूत्रकार ने ८।१८ से आरंभ किया है जैसे—वेदनीय कर्म की अपरा स्थिति बारह मुहूर्त्त तक है इत्यादि। संक्षेप में स्थिति का अर्थ है ठहरना, अपने स्वभाव को न छोड़ना। वह काल जैनों के अनुसार चाहे जितना सागरोपम भी हो। जैसे दुर्दान्त (मतवाला) हाथी कुछ समय तक अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता उसी प्रकार कर्म भी अपनी प्रकृति में स्थिर रहते हैं।]

अनुभवबन्ध—जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द आदि स्वभाव के अनुसार अपने-अपने कार्य करने की विशेष सामर्थ्य की उत्पत्ति (अनुभाव) होती है उसी प्रकार कर्म के पुद्गलों में अपने कार्य करने की विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होती है। [यही अनुभवबन्ध है।]

प्रदेशबन्ध—कर्म के रूप में परिणत पुद्गलों (Matters) के जो [द्व्यणुकादि] स्कन्ध हैं, जिनके अनन्त स्थान हुआ करते हैं, उनका (अनन्त अवयवों वाले स्कन्धों का) अपने अवयवों में प्रवेश कर जाना ही प्रदेशबन्ध है।

विशेष—कुछ दार्शनिकों के अनुसार जो सात तत्त्व होते हैं उनमें बन्ध (Bondage) चौथा तत्त्व है। इसके बाद पाँचवाँ तत्त्व संवर है जिसका वर्णन अब किया जायगा। बन्ध चार प्रकार के हैं—(१) प्रकृतिबन्ध (Natural Bondage) जिसमें आठ प्रकार के कर्म हैं। कर्मों से ही मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है। जैनों की कर्ममीमांसा इतनी सुन्दर है कि कर्मो से ही ये गोत्र, नाम, आयु आदि भी मानते हैं। किसी विशेष प्रकार के कर्म से ही मनुष्य की आयु निश्चित होती हैं, दूसरे कर्म उसके गोत्र के निर्धारक होते हैं। कुछ कर्म ज्ञान को छिपा लेते हैं तो दूसरे कर्म मोह उत्पन्न करते हैं। (२) स्थितिबन्ध (Bondage in Existence) जिसमें कोई भी स्थिर रहता है इसके दो भेद हैं—परा और अपरा। (३) अनुभवबन्ध (Bondage in Capacity) जिसमें

किसी कार्य के करने की सामर्थ्य होती है, कर्म के पुद्गलों की अपनी शक्ति, जिससे बन्धन रहे। (४) प्रदेशबन्ध (Bondage of Entrance) पुद्गल के द्व्यणुकादि अनेक अवयव वाले स्कन्धों का अपने अवयव में प्रवेश करने से प्रदेशबन्ध होता है। इस प्रकार बन्ध की विचित्र मीमांसा इन लोगों ने की है। कर्म के पुद्गलों का आस्रव (Influx) जब रुक जाय तो उसे संवर कहते हैं। इसे ही अब व्यक्त किया जाता है।

(२३. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व)

आस्रवनिरोधः संवरः। येनात्मनि प्रविशत्कर्म प्रतिषिध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः। संचारकारणयोगादात्मनो गोपनं गुप्तिः। सा त्रिविधा—कायवाङ्मनोनिग्रहभेदात्। प्राणिपीडा-परिहारेण सम्यगयनं समितिः। सेर्याभाषादिभिः पञ्चधा। प्रपञ्चितं च हेमचन्द्राचार्यैः—

३२. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्॥
३३. अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।[1]
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥

आस्रव (आत्मा का चलना, योग, influx) का निरोध हो जाना (कर्मपुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट न होना) **संवर** है। जिससे आत्मा में घुसने-वाला कर्म रुक जाय वह गुप्ति, समिति आदि से युक्त संवर नाम का तत्व है।

[आत्मा में कर्मपुद्गलों के] संचार अर्थात् प्रवेश का कारण जो योग (आस्रव) है उससे आत्मा की रक्षा करना (गोपन) **गुप्ति** (Protection) है! इसके तीन भेद हैं—काय-गुप्ति, वाक्-गुप्ति तथा मनो-गुप्ति (निग्रह = बचाना, गुप्ति)। प्राणियों की पीड़ा से अपने को बचाते हुए अच्छी तरह व्यवहार करना **समिति** (Right conduct) है। ईर्या, भाषा आदि इसके पाँच भेद हैं।

---

१ 'अनवद्यमृतं' के स्थान पर 'अपद्यतां गतम्' पाठ है। पद्य = पादवेधक > वेधक। इसलिए 'अपद्यतां गतम्' का अर्थ है 'अवेधकम्. वेधाजनकम्', जो किसी को कष्ट न दे। अथवा, 'अपद्य' का अर्थ है गद्य। 'गद्यतां गतम्' अर्थात् गद्य के रूप में, पद्य के रूप में नहीं क्योंकि गद्य के बोलने और समझने में शीघ्रता होती है। पद्य में वह सुकरता नहीं है। कॉवेल ने दूसरा ही पाठ 'आपद्येत' लिया है जिससे विधिलिङ् का अर्थ लिया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसकी व्याख्या की है—'जिस मार्ग पर लोग खूब चलते हों (जिससे बहुत कम जीव जंतु उस पर हों), सूर्य की किरणों से चुम्बित हो, उस पर जन्तुओं की रक्षा के लिए देख-भाल कर चलना, सज्जनों के लिए **'ईर्यासमिति'** है (३२)। अनिन्द्य, सत्य, सभी जनों के लिए हितकर तथा मित भाषण करना, जो वचन के संयमी व्यक्तियों को प्रिय लगे, वह **'भाषा-समिति'** कहलाती है (३३)।'

३४. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम्।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता॥
३५. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नतः।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृता॥
३६. कफमूत्रमलप्रायैर्निर्जन्तुजगतीतले।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत्॥

अत एव—

आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः।

इति निराहुः।

'भिक्षा के बयालीस दोषों से नित्य रूप से अदूषित (मुक्त) अन्न को मुनि लेता है, वही **एषणासमिति** कहलाती है (३४)। आसन आदि को अच्छी तरह देखकर यत्नपूर्वक उस पर बैठकर ग्रहण करना, रखना तथा ध्यान करना—यह **आदान समिति** कही जाती है (३५)। जन्तु से रहित पृथ्वी पर यत्नपूर्वक (सावधानी से) कफ, मल, मूत्र, प्राय (नासिकामल) को जो साधु छोड़ता है वही **उत्सर्ग समिति** है (३६)। इसलिए—आस्रव स्रोत (Pipe) का दरवाजा है, उसे जो ढँक देता है (सम् ∠ वृ) वही संवर है।' इस प्रकार निर्वचन (Etymology) दिया गया है।

तदुक्तमभियुक्तैः—

३७. आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

जैसा कि विद्वानों ने कहा है—'संसार में आने का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण है संवर; यही जैनों के सिद्धान्त का संक्षेप (सृष्टि = सार) है, शेष बातें इसी का विस्तार (प्रपंच) मात्र हैं।

(२३ क. निर्जरा)

अर्जितस्य कर्मणस्तपःप्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम् । चिरकालप्रवृत्तकषायकलापं पुण्यं सुखदुःखे च देहेन जरयति नाशयति । केशोल्लुञ्चनादिकं तप उच्यते । सा निर्जरा द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात् । तत्र प्रथमा यस्मिन्काले यत्कर्म फलप्रदत्वेनाभिमतं तस्मिन्नेव काले फलदानाद् भवन्ती निर्जरा कामादिपाकजेति च जेगीयते । यत्कर्म तपोबलात्स्वकामनयो-दयावलिं प्रवेश्य प्रपद्यते सौपक्रमिकनिर्जरा । यदाह—

३८. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह ।
निर्जरा संमता द्वेधा सकामाकामनिर्जरा ॥
३९. स्मृता सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ॥ इति ।

जो कर्म अर्जित किया गया हो उसे अपनी तपस्या इत्यादि (= ध्यान, जप) से नष्ट कर देना 'निर्जरा' नामक तत्त्व है। बहुत दिनों से प्राप्त किये हुए कषाय (कर्म) समूह से उत्पन्न पुण्य (Merit) तथा सुख और दुःख को भी यह (तत्त्व) देह से ही [नष्ट करता है (जरयति = ∠ जॄ)। केशों को उखाड़ना आदि तप कहलाता है।

यह निर्जरा दो प्रकार की है—यथाकाल और औपक्रमिक। पहली (यथाकाल निर्जरा) वह है जब किसी काल में कोई कर्म फलदायक समझा जाता है (या अभीष्ट होता है) तब उसी काल में फल देने के बाद उत्पन्न होने वाली निर्जरा, कामनाओं की पूर्ति के बाद भी होती है। [अभिप्राय यह है कि कर्म का किसी कालविशेष में फलोत्पादन के पश्चात् नष्ट हो जाना यथाकाल (Temporary) निर्जरा है।] लेकिन जब तपोबल द्वारा अपनी इच्छा से उदयावस्था में कर्म को लाकर [नष्ट किया जाय] वह औपक्रमिक (Requiring efforts) निर्जरा है। जैसा कि कहा है—'संसार (आवागमन) के कारण-स्वरूप जो कर्म हैं उनके विनाश से निर्जरा होती है जिसके दो भेद हैं—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। सकाम (औपक्रमिक) निर्जरा यम धारण करनेवाले (तपस्वियों) की होती है, दूसरे प्राणियों की अकाम (यथाकाल, अपने आप होनेवाली) निर्जरा होती है।'

(२४. मोक्ष का विचार)

मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसंन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः। तदाह—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः (त० सू० १०।२) इति। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् (त० सू० १०।५)।

मिथ्यादर्शन (False knowledge) आदि बन्ध के कारण हैं, उनका निरोध (संवर) कर लेने पर नये कर्मों का अभाव होकर, निर्जरा-रूपी कारण के संपर्क से पूर्वोपार्जित कर्मों का विनाश हो जाता है, तब सब प्रकार के कर्मों से सदा के लिए (आत्यन्तिक = पूर्ण) मुक्ति मिल जाती है, यही मोक्ष है। कहा है—बन्ध के कारणों का अभाव (संवर) तथा निर्जरा से सभी कर्मों से बच जाना मोक्ष है (त० सू० १०।२) उसके बाद प्राणी ऊपर ही चला जाता है जब तक लोक का अन्त न मिल जाय (त० सू० १०।५)।

विशेष—जैन लोग मोक्ष के दो कारण मानते हैं—संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव (कर्मोदय) रुकता है, नये कर्म उत्पन्न नहीं होते। निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म कर दिया जाता है। इस प्रकार कर्मों के बन्धन से बिल्कुल निकल जाना मोक्ष है। इसके विपरीत कर्मसंपृक्त होना बन्ध है। मोक्ष होने पर प्राणी ऊपर की ओर उठता-उठता लोकों को पार करके सबसे ऊपर पहुँच जाता है।

यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रमुपरतेऽपि तस्मिंस्तद्बलादेवासंस्कारक्षये भ्रमति, तथा भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्कृतं प्रणिधानं मुक्तस्य तदभावेऽपि पूर्वसंस्कारादालोकान्तं गमनमुपपद्यते। यथा वा मृत्तिकालेपकृतगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतति, पुनरपेतमृत्तिकाबन्धमूर्ध्वं गच्छति, तथा कर्मरहित आत्मा असङ्गत्वादूर्ध्वं गच्छति। बन्धच्छेदादेरण्डबीजवच्चोर्ध्वं गतिस्वभावाच्चाग्निशिखावत्।

जैसे हाथ और डण्डे से गोलाकार घुमाया गया कुम्भकार का चाक (चक्र) [घुमाने वाले हाथ और डण्डे की क्रिया] बंद हो जाने पर भी, उसके बल से ही, संस्कार (Momentum) क्षीण न होने के कारण, घूमता ही जाता है,

उसी प्रकार संसार में स्थित (बद्ध अवस्था में) आत्मा ने अपवर्ग (मोक्ष Liberation) की प्राप्ति के लिए कई बार जो योग (प्रणिधान) किया था, अब मुक्त हो जाने पर उस (प्रणिधान) के अभाव में भी पहले संस्कार से लोक के ऊपर तक चली जाती है—यह सिद्ध होता है। अथवा जैसे मिट्टी का का लेप करके भारी बनाया गया लौकी का तुम्बा (सूखी खोखली लौकी Dry hollow gourd which the ascetics use) पानी में नीचे गिरता जाता है, लेकिन जब [पानी में भींगने से] मिट्टी का बन्धन छूट जाता है तब ऊपर चला आता है—उसी प्रकार कर्म से रहित होकर आत्मा बिना किसी संग के कारण ऊपर जाती है। बन्धन का नाश होने से रेंड़ के बीज की तरह, [जैसे रेंड़ के बीज का कोश छूट जाने पर वह ऊपर छिटक जाता है ?] या अग्निशिखा की तरह अपनी ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति के कारण [आत्मा ऊपर जाती है]।

अन्योन्यं प्रदेशानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः। परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। तदुक्तं, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च (त० सू० १०।६)। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च (त० सू० १०।७) इति। अत एव पठन्ति—

४०. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः॥ (प. न.) इति।

परस्पर एक दूसरे के प्रदेश में (= आत्मा और शरीर द्वारा) प्रवेश करने पर अविभक्त (Undistinguished) रूप से रहना **बन्ध** है। एक दूसरे का केवल संपर्क होना **संग** है। यह कहा है—पूर्व (संस्कार) के प्रयोग से, संग न होने से, बन्ध का नाश हो जाने से तथा अपनी गति के प्रस्फुटन से [आत्मा की गति ऊपर की ओर होती है]; भ्रमण का संस्कार पाये हुए (आबिद्ध) कुम्हार के चक्के की तरह, लेप छूट जाने से लौकी की तरह, रेंड़ के बीज की तरह तथा अग्नि की शिखा की तरह [यह गति होती है]—(त० सू० १०।६–७)। इसलिए [आचार्य पद्मनन्दी] पढ़ते हैं—'चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तो जा-जाकर लौट आते हैं, लेकिन लोक से परे जो आकाश है उसमें गये हुए लोग आज तक नहीं लौटे।'

अन्ये तु गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरिदेशावस्थानं मुक्तिरित्यास्थिषत। एवमुक्तानि

सुखदुःखसाधनाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितानि नव पदार्था-न्केचनाङ्गीचक्रुः । तदुक्तं सिद्धान्ते जीवाजीवौ पुण्यपापयुता-वास्रवः संवरो निर्जरणं बन्धो मोक्षश्च नव तत्त्वानीति । संग्रहे प्रवृत्ता वयमुपरताः स्मः ।

दूसरे लोग कहते हैं कि सभी क्लेशों और उनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर, ज्ञान के आवृत (ढँकना) न होने पर (प्रकट ज्ञान रहने पर), एकमात्र सुख से भरी हुई आत्मा का ऊपर के देश में अवस्थित होना ही मुक्ति है।

कितने लोग ऊपर कहे गये [सात तत्त्वों में] सुख और दुःख के कारण-स्वरूप पुण्य और पाप (दो और पदार्थों को) जोड़ कर कुल नव पदार्थ मानते हैं। सिद्धान्त [नामक ग्रन्थ] में कहा गया है कि पुण्य और पाप से संयुक्त जीव और अजीव (१-४), आस्रव (५), संवर (६), निर्जरण (७), बन्ध (८) और मोक्ष (९) ये नव तत्त्व हैं। चूँकि हमारा लक्ष्य सार का संग्रह (Summary) करना है, इसलिए अब [विस्तार] छोड़ दें।

विशेष—माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह का लक्ष्य (object) यहाँ बतलाते हैं कि इस ग्रंथ में विस्तृत प्रमेयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। व्याख्या-शैली नहीं अपनाकर माधव ने समास-शैली अपनाई है। संग्रह का लक्षण है—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये।
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

अब जैनों का न्यायशास्त्र आरम्भ होता है जिसमें सुप्रसिद्ध सप्तभङ्गी-नय (Seven-membered syllogism) या अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा होती है।

(२५. जैन न्यायशास्त्र—सप्तभङ्गीनय)

अत्र सर्वत्र सप्तभङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति।

जैन लोग सर्वत्र सप्तभङ्गी—नय नामका न्याय (Logic) उपस्थित करते हैं। [इसके सात निम्नांकित रूप हैं—] (१) स्यादस्ति—किसी प्रकार है, (२) स्यान्नास्ति—किसी प्रकार नहीं है, (३) स्यादस्ति च नास्ति च—किसी प्रकार है और नहीं है, (४) स्यादवक्तव्यः—किसी प्रकार अवर्णनीय है, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यः—किसी प्रकार है और अवर्णनीय है (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यः—

किसी प्रकार नहीं है और अवर्णनीय है, (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य — किसी प्रकार है, नहीं है और अवर्णनीय है।

विशेष—जैन न्यायशास्त्र में परामर्श सात वाक्यों के रूप में होता है इसे सप्तभङ्गी न्याय (या नय) कहते हैं। भङ्ग का अर्थ समुच्चय (Combination) है इसलिए जिसमें अस्तित्व (Positive entity) नास्तित्व (Negative entity) आदि का एक साथ ही समुच्चय होता है वह 'सप्तभङ्गि (न्)—नय' कहलाता है। सात प्रकार से कहने की रीति (भंगी, भंगिमा) से भी इसे यह नाम पड़ सकता है। सांख्य आदि सात दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित एकान्तवाद का भंग (मेल) करके अपने अनेकान्तवाद की जड़ मजबूत करने के कारण भी इसे सप्तभङ्गिनय कहा जाना संभव है। इसकी तीन तरह की लेखनशैली है—सप्तभङ्गनय, सप्तभङ्गिनय तथा सप्तभङ्गीनय (समाहार द्विगु)।

जैन लोगों के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान पूरा नहीं है। किसी वस्तु के कई पहलू हैं, उनमें सबों का एक साथ ज्ञान प्राप्त करना केवल ज्ञान से ही संभव है, सामान्य ज्ञान से नहीं। हमारा ज्ञान एकांगी ही हो सकता है क्योंकि हम अपूर्ण जीव हैं। सभी दार्शनिकों में विवाद का यही कारण है। परमार्थ के केवल एक पक्ष का अवलोकन कर सकने के कारण वे केवल एक विशिष्ट पक्ष को ही जान सकते हैं। इसे जैन लोग 'नय' कहते हैं—एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः (न्यायावतार २९)। इसलिए सभी ज्ञान ज्ञाता के दृष्टिकोण तथा ज्ञान के पहलू से प्रभावित रहते हैं। वहीं तक उसकी सत्यता सिद्ध है—कोई ज्ञान सर्वतोभावेन सत्य नहीं है (No knowledge is true in all its aspects)। ज्ञान की इस सीमा पर ध्यान नहीं रखकर लोग अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक तो बात ठीक है, पर जब हम अपने ज्ञान को ही एकमात्र सत्य मानते हैं तो परमार्थ की हत्या-सी हो जाती है। हाथी को देखकर कई अंधों के विभिन्न विचारों के व्यक्त होने की कहानी हम जानते हैं। यही दशा विभिन्न दार्शनिकों की है। जैन-दार्शनिक इस तथ्य से पूर्णतः अवगत हैं और सभी निर्णयों को सापेक्ष मानने के पक्ष में हैं। तदनुसार कोई ज्ञान स्वतंत्र नहीं है, अपने दृष्टिकोण, पहलू आदि के अधीन है। अतएव अपने सभी निर्णयों के पूर्व सापेक्षता का सूचक कोई शब्द लगाना परम आवश्यक है। इसका फल यह होता है कि इस निर्णय को सीमित तथा अन्य निर्णयों को संभावित किया जा सकता है। वह प्रसिद्ध शब्द है—स्यात् अर्थात् किसी प्रकार! 'स्यात् अस्ति घटः' कहने से यह पता लगता है कि एक पक्ष से देश, काल, पात्र, गुण आदि का विचार करके हम घट की सत्ता मानते

हैं, घट के दूसरे पक्षों—जैसे नास्तित्व आदि की भी संभावना (Possibility) रह जाती है। यही प्रसिद्ध सिद्धान्त है—स्याद्वाद।

'स्यात्' शब्द सापेक्षता और अनेकान्तता का द्योतक है। प्रत्येक निर्णय के पूर्व इसे लगाना आवश्यक है। यदि किसी वस्तु को 'अस्ति' कहते हैं, तो देश, काल, भाव, वर्ण आदि से उसका विरोध होता है। अतः दोनों प्रकार (विधि-निषेध) के परामर्श इसमें लगेंगे। पटने में वसन्त ऋतु में विद्यमान लाल रेशमी साड़ी का उदाहरण लें। द्रव्यतः वह रेशमी रूप में हैं, सूती में नहीं। देशतः, पटने में है, गया आदि में नहीं। कालतः वसंत ऋतु में है, शीत में नहीं। वर्णतः लाल रंग में हैं, पीले आदि में नहीं। अपने द्रव्यादि रूप में है, परकीय में नहीं—इसलिए एक ही साथ विधि और निषेध दोनों होते हैं जो अनिश्चयावस्था (अनेकान्तवाद) की सूचना देते हैं। एकान्तवाद का अर्थ है निश्चय। अनेकान्तवाद में किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता का निश्चय नहीं रहता।

जैनों के अलावे सभी एकान्तवादी हैं जो अपने मत को निश्चयात्मक मानते हैं। वे सात प्रकार के हैं, इसका भंग करने से भी जैनन्याय सप्तभङ्गन्याय कहलाता है। (१) सत्कार्यवादी सांख्य लोग पदार्थों की सदा ही **सत्ता** मानते हैं। (२) शून्यवादी बौद्ध (माध्यमिक) पदार्थों की **असत्ता** ही स्वीकार करते हैं। (३) असत्कार्यवादी नैयायिक लोग उत्पत्ति के पूर्व पदार्थ का अभाव, उत्पत्ति होने पर भाव तथा नाश होने पर पुनः अभाव मानते हैं। ये कालभेद से **सत्ता और असत्ता** स्वीकार करते हैं, जैनों की तरह एक ही साथ नहीं। (४) संसार को माया का उपादान मानने वाले शांकरवेदान्ती पदार्थों की अनिर्वचनीयता (Indescribability) मानते हैं। माया से उत्पन्न वस्तुएँ प्रतीतिकाल में भी 'नहीं है' इस रूप में बाद में बाधित हो जाती हैं। सत्व की अवस्था में ही पदार्थ असत् हैं। न तो अस्तित्व है न नास्तित्व—अतः दो विरोधियों का वर्णन कठिन होने से अवाच्यता सिद्ध है। (५) कुछ माया को मानने वाले ही वेदान्ती सांख्योक्त पदार्थों की **सत्ता** स्वीकार करके भी माया से संसार की **अनिर्वाच्यता** मानते हैं। (६) कुछ मायावेदान्ती शून्यवादोक्त पदार्थों का **नास्तित्व** मानकर भी माया कृत **अनिर्वाच्यता** स्वीकार करते हैं। (७) अंत में कुछ वेदान्ती नैयायिक आदि के प्रतिपादित **सत्त्वासत्त्व** के साथ मायिक **अनिर्वाच्यता** मानते हैं।

ये सातों एकान्तवादी वस्तु का एकपक्षीय विचार ग्रहण करते हैं, जैन इनमें 'स्यात्' शब्द लगाते हैं। सांख्यों का कहना कि 'घट है' ठीक है, पर यह निश्चित सत्य नहीं है—इसमें स्यात् (किसी प्रकार) लगाने पर ठीक

विचार संभव है। जैनों की दृष्टि बहुत उदार है जिससे वे प्रत्येक मत का 'स्यात्' लगाकर स्वागत करते हैं।

तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्—

४१. तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते॥
४२. क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक्।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः॥
४३. आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः॥
४४. समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते। इति।

इस पूरे (नय) का प्रतिपादन अनन्तवीर्य ने किया है—'किसी वस्तु का विधान (Affirmation) करने की इच्छा होने पर 'किसी प्रकार है' इस तरह की गति (नय) होती है। यदि उसका निषेध (Negation) कहना अभीष्ट हो तो 'किसी प्रकार नहीं है' ऐसा प्रयोग होता है। क्रमशः अब यदि दोनों कहने की इच्छा हो तो दोनों का समुदाय (Combination) लें [स्यादस्ति च नास्ति च।] जब दोनों को एक साथ कहना हो और [विरोध होने के भय से ऐसा कहना] संभव नहीं हो तो 'किसी प्रकार अवाच्य है' ऐसा कहें। प्रथम (भंग) के साथ अवाच्य कहने की इच्छा हो तो वह पंचम भंग होता है—[स्यादस्ति चावक्तव्यम्]। दूसरे भंग को अवाच्य से मिलाने पर षष्ठ भंग उत्पन्न होता है—[स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्]। सबों के समुच्चय से बना हुआ भंग सातवाँ है—[किसी प्रकार है, नहीं है और अवक्तव्य है]।

स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। यथोक्तम्—

४५. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः॥ इति।

यदि पुनरेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दोऽयं स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथंचिदस्तीति स्यात्पदात्कथंचिदित्ययमर्थो लभ्यत इति नानर्थक्यम्। तदाह—

४६. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः ।
सप्तभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥ इति ।

'स्यात्' (किसी प्रकार Somehow) यह शब्द एक निपात (अव्यय Particle) है जो तिङन्त (क्रिया) के रूप में है (√अस् + विधिलिङ्) तथा अनिश्चय का द्योतक है। जैसा कि कहा गया है—'वाक्यों में अनेकान्त (अनिश्चय) को व्यक्त करनेवाला, गम्य (विधेय Predicate, जैसे—अस्ति) के प्रति विशेषण का काम करने वाला, यह 'स्यात्' निपात है जो सार्थक होने के कारण (अर्थयोगित्वात्) क्रिया के रूप में है।' अभिप्राय यह है कि 'स्यात्' सार्थक है, क्रियापद की तरह देखने में लगता है, अनिश्चय का व्यंजक है तथा अपने विधेय 'अस्ति' आदि शब्दों का विशेषण बन जाता है।]

यदि 'स्यात्' शब्द एकान्त या निश्चय का बोध कराता तो 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' शब्द निरर्थक होता [सार्थक नहीं; क्योंकि 'स्यादस्ति' से निश्चयात्मक अर्थ ग्रहण करने पर 'अस्ति' पद का ही अर्थ हो सकता है; 'स्यात्' का नहीं, वह निरर्थक हो जायगा।] किन्तु यदि 'स्यात्' को अनेकान्त (अनिश्चय) का बोधक मानें तो 'स्यादस्ति' का अर्थ 'कथंचित् अस्ति' (किसी प्रकार है) होता है जिसमें 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' (किसी प्रकार) लेते हैं और निरर्थकता नहीं रहती। ('स्यात्' का अर्थ कुछ हो जाता है, बेकार इसका प्रयोग नहीं है। अतः 'स्यात्' की सार्थकता इसकी अनेकान्तबोधकता पर है)।

कहा है—'स्याद्वाद का सिद्धान्त सब प्रकार से एकान्त (निश्चय करने वाले) सिद्धान्तों को छोड़ देने पर, 'किम्' शब्द से निष्पन्न (= कथम् < किम्) शब्द में 'चित्' शब्द का विधान करने पर ('कथंचित्' अर्थ धारण करके), सप्तभङ्गीनय की अपेक्षा रखकर हेय (त्याज्य) और आदेय (ग्राह्य = अस्ति + नास्ति) रूपी विशेषों से युक्त होता है।' [त्याज्य = नास्ति, ग्राह्य = अस्ति, ये दोनों विकल्प तभी संभव हैं जब वस्तु का स्वरूप अनिश्चित हो। इसे अब और स्पष्ट करेंगे—]

यदि वस्त्वस्त्येकान्ततः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मनाऽस्तीति नोपादित्साजिहासाभ्यां क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्ताप्रापणीयत्वादहेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु कथंचित्क्वचित्केनचित्सत्त्वेन हानोपादाने प्रेक्षावतामुपपद्येते।

यदि वस्तु एकान्त या निश्चित रूप से है (अनेकान्त नहीं हैं), तब सब प्रकार से, सदा के लिए, सब जगह, सब लोगों के साथ है; तब तो ग्रहण या त्याग करने की इच्छा से कहीं, कभी, या कोई न प्रवृत्त ही होगा और न निवृत होगा [क्योंकि वस्तु सबों के साथ है पाने की क्या जरूरत ? या फिर छोड़ना कैसे ? अतः सभी दृष्टिकोणों से हम 'अस्ति' नहीं कह सकते—एक दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि यहाँ वस्तु है, पर 'वस्तु है' कहने का अर्थ होगा कि यह सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा और सर्वात्मना है ।] प्राप्त वस्तु प्रापणीय (पाने योग्य) नहीं हो सकती तथा अहेय वस्तु की हानि भी संभव नहीं । [जो वस्तु पहले से नहीं मिली है वही प्राप्य हो सकती है, प्राप्त वस्तु प्राप्य क्या होगी ? उसी प्रकार जो वस्तु त्याज्य है उसी का त्याग भी होता है, अत्याज्य का नहीं । सर्वत्र, सर्वथा 'अस्ति' माने जाने पर त्याग और ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।]

किन्तु यदि अनेकान्तपक्ष मानें तो किसी प्रकार (किसी दृष्टिकोण से), कहीं, किसी जीव के द्वारा त्याग और ग्रहण होगा—ऐसा विद्वान् समझ सकते हैं । [जब वस्तु सदा नहीं है, एक ही दशा में है तो उसका त्याग और ग्रहण संभव है—एक समय में त्याग, दूसरे में ग्रहण] ।

किं च वस्तुनः सत्त्वं स्वभावः, असत्त्वं वा इत्यादि प्रष्टव्यम् । न तावदस्तित्वं वस्तुनः स्वभाव इति समस्ति । घटोऽस्तीत्यनयोः पर्यायतया युगपत्प्रयोगायोगात् । नास्तीति प्रयोगविरोधाच्च । एवमन्यत्रापि योज्यम् । यथोक्तम्—

४७. घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयोः ॥ इत्यादि ।

इसके अलावे पूछना चाहिए कि वस्तु की अपनी प्रकृति क्या है, सत् होना या असत् होना ? ऐसा नहीं कह सकते कि अस्तित्व (Is-ness) ही वस्तु का स्वभाव है, क्योंकि 'घटः अस्ति (घड़ा है)' इस वाक्य में 'घटः' (= वस्तु का अस्तित्व) और 'अस्ति' (प्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व) इन दोनों शब्दों का एक साथ इसलिए प्रयोग नहीं हो सकता कि ये पर्यायवाची हो जायँगे । यदि [घटः] नास्ति = 'घड़ा नहीं है' ऐसा कहें तो प्रयोग से असिद्ध होगा । [आशय यह है कि घट का अर्थ सत् या असत् दोनों में से कोई एक ही है; यदि सत् अर्थ है तो 'सत् (= घटः) अस्ति' कहने में पुनरुक्ति होती है । यदि असत् अर्थ है तो 'असत् (घटः) अस्ति' कहना अव्यावहारिक है ।]

इसी प्रकार दूसरे स्थानों में भी समझें। जैसा कि कहा है:—"घड़ा है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'घट' में सत् का बोध हो ही जाता है; 'नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि ['घटो नास्ति' इस वाक्य में] सत् (घटः) और असत् के एक साथ रहने से विरोध होगा।"

तस्मादित्थं वक्तव्यम्—सदसत्सदसदनिर्वचनीयवादभेदेन प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः। पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन मिश्रितानि सदसदादिमतानीति त्रिविधाः। तान्प्रति किं वस्त्वस्तीत्यादि पर्यनुयोगे 'कथंचित्तदस्ति' इत्यादि प्रतिवचनसंभवेन ते वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तस्तूष्णीमासत इति संपूर्णार्थविनिश्चायिनः स्याद्वादमङ्गी कुर्वतस्तत्र तत्र विजय इति सर्वमुपपन्नम्। यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमञ्जर्याम्—

४८. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः॥

४९. न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते॥ इति।

इसलिए ऐसा कहे—सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय सिद्धान्तों (वादों) को मानने के कारण विरोधियों के चार प्रकार हैं। फिर, अनिर्वचनीय-सिद्धान्त के साथ सत्, असत् आदि [पूर्वोक्त तीन] मतों को मिला देने से उनके तीन और भी प्रकार होते हैं। वे जब पूछें कि वस्तु क्या है, तब 'किसी प्रकार वह है' इत्यादि प्रत्युत्तर देना संभव है इसलिए वे विरोधी-वादी लोग सबके सब शान्त हो जाते हैं, और वस्तु के सभी पक्षों पर विचार करके 'स्याद्वाद' को स्वीकार करने वाले की उन सभी जगहों में विजय होती है, यह पूर्णरूप से सिद्ध हो गया।

स्याद्वादमंजरी में आचार्य (मल्लिषेण १२९२ ई०) ने कहा है—'सभी ज्ञानों (अस्ति, नास्ति आदि) का विषय बनने वाला पदार्थ अनेकान्तात्मक (अनिश्चित) है; किन्तु नय (न्याय) का विषय बननेवाला पदार्थ एक ही देश (Aspect पहलू, पक्ष) से विभूषित रहता है। [नय में किसी एक पक्ष से भी काम चल जाता है जैसे —घटः अस्ति, घटो नास्ति। किन्तु सभी ज्ञानों का विषय बनने के लिए, जिससे वस्तु के सभी पक्ष मालूम हो जायँ, एक पक्ष या देश से काम नहीं चलता। उसके लिए वस्तु को अनेकान्त

(अनिश्चयात्मक) मानना पड़ेगा। भावात्मक रूप से (Positively) वस्तु के विषय में कुछ कह देना उसे सीमित करके अपने दृष्टिकोणों का उस पर आरोपण कर देना है। इसलिए सुभग मार्ग है कि उसे अनेकान्तात्मक मानें जिसके अन्दर सारे पक्ष छिपे हों।]'*

'[वस्तु के] एक ही [पक्ष aspect] पर आधारित अनेक न्याय जब प्रमाणकोटि में प्रवृत्त हों (प्रामाणिक होना चाहते हों), तब संपूर्ण अर्थों (all aspects) का निश्चय करनेवाला 'स्यात्' [शब्द से विशिष्ट घट आदि] पदार्थ प्रामाणिक (श्रुत trustworthy) समझा जाता है।'

५०. अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथार्हतः॥
(हेमचन्द्रकृत द्वितीयद्वात्रिंशिका वी० स्तु० श्लो० ३०)

जिस प्रकार दूसरे [दर्शनों के] सिद्धान्त एक दूसरे को पक्ष और प्रतिपक्ष बनाने के कारण मत्सरता से भरे हुए हैं; उस प्रकार अर्हन्मुनि का सिद्धान्त पक्षपाती नहीं है क्योंकि यह सारे नयों (Propositions) को बिना भेद-भाव के ग्रहण कर लेता है।

विशेष—पक्ष = अपना सिद्धान्त। प्रतिपक्ष = विरोधियों का सिद्धान्त। सांख्य के लिए सत्कार्यवाद पक्ष है, असत्कार्यवाद प्रतिपक्ष। दूसरे दार्शनिकों के सिद्धान्त पक्षपाती हैं क्योंकि वस्तु के किसी एक पहलू का विचार प्रस्तुत करते हैं, सर्वांगपूर्ण विचार वे नहीं करते। ऐसा करना असंभव भी है। जैनों का सिद्धान्त इस पचड़े से दूर है, किसी पक्ष का आश्रय न लेकर सभी पक्षों को स्वीकार करता है। जैनों का दृष्टिकोण बहुत उदारवादी है, किसी प्रकार का भेद-भाव न मानकर सभी पक्षों को समान रूप से देखते हैं। यही कारण है कि अनेकान्तवाद स्वीकार किया जाता है।

---

* वाक्यों की तीन कोटियाँ हैं—दुर्नय, नय और प्रमाण वाक्य। 'घटः अस्ति एव' दुर्नय है क्योंकि यह मिथ्या है। 'नास्तित्व' आदि के होते हुए भी उन्हें छिपाकर 'अस्तित्व' पर जोर देना मिथ्यारूप है। 'घटः अस्ति' नय है। यह दुर्नय नहीं है क्योंकि नास्तित्व आदि को यह छिपाता नहीं, बल्कि उनके प्रति उदासीनता (Indifference) दिखलाता है। यह प्रमाण भी नहीं क्योंकि 'स्यात्' का प्रयोग न होने से दूसरे धर्मों (नास्तित्वादि) की सूचना नहीं मिलती। 'स्यादस्ति' प्रमाण वाक्य है। नय के विषय में देवसूरि का कहना है—नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशतः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। (अम्यं०)

(२६. जैनमत-संग्रह)

जिनदत्तसूरिणा जैनं मतमित्थमुक्तम्—

५१. बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः ।
अन्तरायस्तथा निद्रा भीरज्ञानं जुगुप्सितम् ॥

५२. हिंसा रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः ।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः ॥

५३. जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्त्वज्ञानोपदेशकः ।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी ॥

जिनदत्त सूरि (ग्रन्थ—विवेकविलास, समय—१२२० ई०) ने जैन-मत [का सारांश] इस प्रकार व्यक्त किया है—'बल, भोग, उपभोग (इन्द्रियसुख), दान तथा लाभ के अन्तराय (१–५), निद्रा (६), भय (७), अज्ञान (८), घृणा (९), हिंसा (१०), रति (= इच्छा ११), अरति (अनिच्छा १२), राग (१३), द्वेष (१४), अविरति (वैराग्यहीनता १५), काम (१६), शोक (१७) तथा मिथ्यात्व—ये अठारह दोष जिनके पास नहीं हैं, वह देवता स्वरूप हम लोगों का जिन (जितेन्द्रिय) गुरु सम्यक्रूप से तत्त्वज्ञान का उपदेशक है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये अपवर्ग के मार्ग हैं। [ज्ञान = संमोहरहित ज्ञान, दर्शन = अर्हन्मुनि के उपदिष्ट मत में विश्वास, चारित्र=पापकर्म से विरति । वर्तनी = मार्ग ।]

५४. स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च ।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा ॥

५५. जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्रवः संवरोऽपि च ।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याधुनोच्यते ॥

५६. चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः ।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः ॥

'स्याद्वाद के सिद्धान्त में दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान । [उपर्युक्त विधि से वस्तु को प्रत्यक्षतः भी अनेक रूप का देखते हैं, दूसरे उपादान और त्याग करने की इच्छा के उद्देश्य से किसी पदार्थ के प्रति जो लोगों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दिखलाई पड़ती है, यही हेतु बनकर अनुमान द्वारा सिद्ध करेगी कि वस्तुएँ अनेक रूप की हैं ।] सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य के रूप में

हैं [इसमें भी स्याद्वाद लगाकर स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, आदि वाक्य बनेंगे ।] तत्त्व नव या सात हैं (विभिन्न मतों से) ॥ ५४ ॥ जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरण और मुक्ति—अब इनकी व्याख्या की जाती है। (इन नवों में पुण्य को संवर में तथा पाप को आस्रव में ले लेने पर सात ही तत्त्व बचते हैं ।] चेतना (Intelligence) जीव का लक्षण है, उससे भिन्न (अचेतन) अजीव होता है । अच्छे काम से उत्पन्न होने वाले पुद्गल (Matter, bodies) पुण्य हैं, उसका उलटा पाप है (= बुरे काम से उत्पन्न पुद्गल) ॥

५७. आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।
प्रवेशः कर्मणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम् ॥

५८. अष्टकर्मक्षयान्मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन ।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्रवे क्रियते पुनः ॥

५९. लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः ।
क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ॥

'आस्रव [पापरूपी] स्रोत का द्वार है, जो उसे ढँक ले, वह संवर कहलाता है । कर्मों का प्रवेश करना बन्ध है और उनसे अलग हो जाना मोक्ष है ॥ ५७ ॥ आठ प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष मिलता है । कुछ लोग पुण्य का अन्तर्भाव संवर में करते हैं तथा पाप का आस्रव में ॥५८॥ जिसे चार अनंत पदार्थ (ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख) मिल चुके हैं, जो संसार में बँधा हुआ नहीं है (अगूढ़) तथा जिसके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं उस आत्मा को जिन भगवान् की कही हुई निर्व्यावृत्ति (Infallible जहाँ से फिर लौटना नहीं) मुक्ति मिलती है ॥ ५९ ॥

६०. सरोजहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः ॥

६१. लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः ॥

६२. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महाञ्श्वेताम्बरैः सह ॥ इति ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे आर्हतदर्शनम् ॥

[अब जैनो के प्रसिद्ध भेद—श्वेताम्बर और दिगम्बर—के विषय में विचार किया जा रहा है।] 'धूल झाड़नेवाले (झाड़ू के तरह की चीज) को साथ रखनेवाले, भिक्षान्न खानेवाले, अपने केशों को उखाड़नेवाले, क्षमाशील तथा आसक्तिरहित जैन साधु श्वेताम्बर हैं ॥ ६० ॥ केश उखाड़े हुए, मोर के पंख का झाड़न हाथ में लिये, हाथों को ही पात्र माननेवाले (करपात्री) तथा देनेवाले के घर पर ही ऊपर की ओर से खानेवाले ये दूसरे जैन साधु हैं जो दिगम्बर (नंगे) हैं ॥६१॥ दिगम्बर साधुओं की मान्यता है कि केवल-ज्ञान से युक्त पुरुष भोजन नहीं करता और स्त्री को मोक्ष भी नहीं मिलता (इन्हें पुरुष का जन्म ग्रहण करने पर ही मोक्ष मिल सकता है)। इन (दिगम्बरों) का श्वेताम्बरों के साथ यह बहुत बड़ा अन्तर लोग कहते हैं ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में आर्हतदर्शन [समाप्त हुआ]।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामार्हतदर्शनमवसितम् ॥

(४) रामानुज-दर्शनम्

तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वररूपमस्या—
विद्याकृतं न तु जगत्सविशेष ईशः ।
भक्तिश्च तत्र फलितेत्युपदेशकाय
रामानुजाय सततं प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥—ऋषिः ।

(१. अनेकान्तवाद का खण्डन)

तदेतदार्हतमतं प्रामाणिकगर्हणमर्हति । न ह्येकस्मिन्वस्तुनि परमार्थे सति परमार्थसतां युगपत्सदसत्त्वादिधर्माणां समावेशः सम्भवति । न च सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोः समुच्चयासम्भवे विकल्पः किं न स्यादिति वदितव्यम् । क्रिया हि विकल्प्यते न वस्त्विति न्यायात् ।

जैनों का यह (अनेकान्तवाद का) सिद्धान्तवाद कतिपय प्रमाणों से काटा (निन्दित किया) जा सकता है । इसका कारण यह है कि वस्तु में एक ही पारमार्थिक सत्ता (Ultimate reality) हो सकती है, उस सत्ता में एक ही साथ सत्ता, असत्ता आदि (सात) धर्मों से युक्त पारमार्थिक सत्ताओं का समावेश नहीं हो सकता । [पारमार्थिक या अन्तिम दशा में वस्तु का एक धर्म ही, जैसे सत्ता या असत्ता, स्थिर किया जा सकता है । अनेकान्तवादियों की तरह एक ही साथ सात-सात धर्मों को मान लेना असम्भव है ।]

कोई यह नहीं कह सकता कि सत् और असत् चूँकि परस्पर विरोधी हैं और उनका समुच्चय (Combination) होना सम्भव नहीं है, इसलिए उस प्रकार के धर्मों में विकल्प क्यों नहीं होगा ? विकल्प क्रिया का ही होता है वस्तु का नहीं—ऐसा नियम है, अतः विकल्प नहीं मान सकते । [अनेकान्तवादी की ओर से इस उत्तर की अपेक्षा है कि विकल्प द्वारा विभिन्न धर्मों का एकत्र समावेश हो सकता है । जहाँ समुच्चय सम्भव नहीं है वहाँ विकल्प किया जाता है । उदाहरण के लिए—'उदिते जुहोति' और 'अनुदिते जुहोति' में विकल्प है । पहले वाक्य में सूर्योदय के बाद होम करने का विधान है, दूसरे वाक्य में सूर्योदय के पूर्व ही होम करना विहित है । उदित और अनुदित दोनों होम एक साथ नहीं हो सकते, अतः यहाँ विकल्प करते हैं—कुछ लोग सूर्योदय के बाद करें, कुछ लोग

पहले। यहाँ भी उसी प्रकार क्यों नहीं मान लें ? उत्तर यों दे सकते हैं—जो वस्तु साध्य होती है उसी में कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि बदल-बदल कर विकल्प कर सकते हैं, क्रिया (साध्य) का ही विकल्प सम्भव है। जो वस्तु पहले से सिद्ध है, वह तो किसी एक प्रकार से सिद्ध होती है, उसमें विकल्प कहाँ से आवेंगे ? सत्ता सिद्ध वस्तु (Completed action) है, उसका कोई एक ही प्रकार हो सकता है—'जुहोति' साध्य (क्रिया) है जिसके लिए विकल्प दिये जा सके।]

न च 'अनेकान्तं जगत्सर्वं हेरम्बनरसिंहवत्' इति दृष्टान्तावष्टम्भवशादेष्टव्यम्। एकस्मिन्देशे गजत्वं सिंहत्वं वाऽपरस्मिन्नरत्वमिति देशभेदेन विरोधाभावेन तस्यैकस्मिन्देश एव सत्त्वासत्त्वादिनाऽनेकान्तत्वाभिधाने दृष्टान्तानुपपत्तेः। ननु द्रव्यात्मना सत्त्वं पर्यायात्मना तदभाव इत्युभयमप्युपपन्नमिति चेत्, नैवम्—कालभेदेन हि कस्यचित्सत्त्वमसत्त्वं च स्वभाव इति न कश्चिद्दोषः।

निम्नलिखित दृष्टान्त को आधार (अवष्टम्भ) मानकर भी यह सिद्ध नहीं हो सकता—'समूचा संसार अनेकान्त (Multiform) है जिस प्रकार गणेश (गज का सिर और मनुष्य की धड़) और नरसिंह (सिंह का सिर और मनुष्य की धड़) हैं।' यह दृष्टान्त हमारी प्रकृत समस्या में लग नहीं सकता, क्योंकि इस दृष्टान्त में तो एक देश (खंड, भाग, Part) में गज या सिंह का स्वरूप है, दूसरे भाग में मनुष्य का स्वरूप है—देशों का अन्तर है इसलिए विरोध की कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु अनेकान्तवाद में एक ही भाग में सत्त्व, असत्त्व आदि (धर्मों को) मानकर अनेकान्त सत्ता स्वीकृत की जाती है। [दृष्टान्त में देशभेद है, अतः दो पक्ष सम्भव हैं; जबकि अनेकान्तवाद में देश का बिना भेद किये ही एक ही जगह कई पक्ष मान लेते हैं, जो कभी संभव नहीं।]

यदि कोई यह कहे कि किसी द्रव्य के रूप में सत्ता मानें (जैसे मिट्टी की सत्ता) और उसके पर्यायों (विभिन्न अवस्थाओं, जैसे—मिट्टी का पिंड, खप्पड़, घट आदि) के रूप में असत्ता मानें और इस प्रकार दोनों को ही सिद्ध कर डालें, तो [हमारी आपत्ति है कि] ऐसा नहीं होगा—काल के भेद से किसी वस्तु का सत् (Existent) और असत् (Non-existent) होना तो उसका स्वभाव ही है, इसमें कोई दोष नहीं है। [मिट्टी के पिण्ड में मिट्टी की सत्ता है, घट आदि की असत्ता; उसी प्रकार घट की अवस्था में मिट्टी (द्रव्य) की सत्ता

है, कपाल (Potsherd) आदि की असत्ता। आशय यही है कि मूल द्रव्य की सत्ता किसी भी अवस्था (पर्याय) में रहती है, अन्य पर्यायों की नहीं। लेकिन यहाँ काल का भेद स्पष्ट है। मृत्पिण्ड के काल में घट नहीं, घट के काल में कपाल नहीं; किसी काल में एक की सत्ता और दूसरी की असत्ता होती है। यह तो अत्यन्त स्वाभाविक है। फलितार्थ यह हुआ कि देश (Space) और काल (Time) के भेद से असत् और सत् को स्वीकार कर सकते हैं। कोई वस्तु सत् भी है असत् भी, किन्तु कैसे ? देश-भेद या काल-भेद से। यह नहीं कि अनेकान्तवादी की तरह एक ही काल और एक ही देश में वस्तु के कई परस्पर विरोधी धर्म मान लें।]

न चैकस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्ववदनेकान्तत्वं जगतः स्यादिति वाच्यम्। प्रतियोगिभेदेन विरोधाभावात्। तस्मात्प्रमाणाभावाद्युगपत्सत्त्वासत्त्वे परस्परविरुद्धे नैकस्मिन्वस्तुनि वक्तुं युक्ते। एवमन्यासामपि भङ्गीनां भङ्गोऽवगन्तव्यः।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार एक ही साथ एक वस्तु का छोटा और बड़ा दोनों रूप रह सकता है उसी प्रकार संसार को अनेकान्त मान लें। [ऐसा इसलिए नहीं कह सकते कि उसका छोटा और बड़ा होना] विभिन्न वस्तुओं पर आधारित (प्रतियोगि) है—इसलिए किसी विरोध का अवकाश नहीं। [अभिप्राय यह है कि जैसे त्र्यणुक में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों है उसी प्रकार जगत् सत् और असत् दोनों है। लेकिन यह समानता ठीक नहीं, त्र्यणुक का छोटा और बड़ा होना सापेक्ष है, किसी भिन्न प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है, जैसे—चतुरणुक और द्व्यणुक। चतुरणुक की अपेक्षा वह छोटा है, द्व्यणुक की अपेक्षा बड़ा। ऐसी ही दशा में हम त्र्यणुक में दो विरुद्ध (Contrary) धर्म एक साथ मानते हैं, जो स्वाभाविक है, असमंजस नहीं। किन्तु जगत् को सत्-असत् मानने के समय यह बात नहीं मिलती। कोई प्रतियोगी नहीं है जिसकी अपेक्षा उसे सत् या असत् कहें। दूसरे, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व अत्यन्त विरोधी (Contradictory) नहीं, जब कि सत्-असत् ऐसे हैं।]

निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाणों के अभाव में (हमारे तर्कों से खण्डित होने से) परस्पर विरोधी (Mutually contradictory or exclusive) सत् और असत् को, एक ही साथ, एक ही वस्तु में स्थित कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भंगियों का भी खण्डन समझ लें।

विशेष—अनेकान्तवाद की रक्षा करने के लिए जैनों से चार युक्तियों की अपेक्षा रखी जाती है—(१) समुच्चय के अभाव में विकल्प मानते हुए दो

विरुद्ध पदार्थों को एक साथ मानना, (२) गणेश और नरसिंह के शरीर की तरह संसार को अनेकान्त मानना, (३) द्रव्य के रूप में सत्ता और उसके पर्यायों के रूप में असत्ता मानना तथा (४) एक वस्तु में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व की तरह संसार को अनेकान्त मानना। किन्तु इनकी ये युक्तियाँ संसार को अनेकान्त सिद्ध नहीं कर पातीं क्योंकि सामान्यतया हमलोग भी दो विरोधियों का एक वस्तु में समावेश कर्ता आदि के भेद से (१), देश (स्थान) के भेद से (२), अवस्था अथवा काल के भेद से (३) या प्रतियोगियों के भेद से (४) मानते हैं—तात्पर्य यह है कि कुछ-न-कुछ उपाधि लगा कर ही दो विरोधियों का एक में समावेश हो सकता है, जैनों की तरह निरुपाधि विरोधी एक साथ, एक ही काल में नहीं मान सकते। अब उनके सप्तभङ्गीनय पर ही प्रहार किया जायगा।

(२. सप्तभंगीनय की निस्सारता)

किं च, सर्वस्यास्य मूलभूतः सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा। आद्ये सर्वमनेकान्तमिति प्रतिज्ञाव्याघातः। द्वितीये विवक्षितार्थासिद्धिः। अनेकान्तत्वेनासाधकत्वात्। तथा चेयमुभयतःपाशा रज्जुः स्याद्वादिनः स्यात्।

अपि च, नवत्वसप्तत्वादिनिर्धारणस्य फलस्य तन्निर्धारयितुः प्रमातुश्च तत्करणस्य प्रमाणस्य प्रमेयस्य च नवत्वादेरनियमे साधु समर्थितमात्मनस्तीर्थकरत्वं देवानांप्रियेणार्हतमतप्रवर्तकेन।

अब जरा यही पूछें कि जो इन सारे प्रपंचों की जड़ सप्तभंगीनय है, वह स्वयं एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है या अनेकान्त (अनिश्चित स्वरूपवाला)। यदि प्रथम विकल्प मानते हैं तो 'सब कुछ अनेकान्त है' इस प्रतिज्ञा (Axiom) का ही विरोध होता है। [सप्तभंगीनय यदि एकान्त (निश्चित स्वरूपवाला) है तो फिर किस मुँह से सब चीजों को अनेकान्त मानेंगे—क्या सप्तभंगीनय 'सब कुछ' के अन्तर्गत नहीं है ? इस प्रकार असामंजस्य उत्पन्न होता है।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं तो इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अनेकान्त हो जाने से सप्तभंगीनय प्रामाणिक नहीं हो सकता, किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकता (जो स्वयम् अनिश्चित है उससे वस्तुओं या पदार्थ की सिद्धि की क्या

अपेक्षा करें ?) इस प्रकार स्याद्वादियों के गले में दोनों ओर से फन्दा (बन्धन) देनेवाली रस्सी पड़ जाती है (वे किसी ओर भाग नहीं सकते)।

इसके अतिरिक्त, (तत्त्वों की संख्या) नव या सात मानी गयी है, यह निर्धारण करना **फल** है, निर्धारण करनेवाला **प्रमाता** (Knower) है, उसके निर्धारण का साधन (करण) **प्रमाण** है, (ये तत्त्व स्वयं) **प्रमेय** हैं— इन सबों में नव आदि का नियम हो ही नहीं सकता। [यदि इन सबों का स्वरूप निश्चित मानें तो 'सब कुछ अनेकान्त है' की प्रतिज्ञा कहाँ रही ? यदि इनका स्वरूप अनिश्चित है तो इतने प्रपंच की क्या आवश्यकता है ? इतने तत्त्व, प्रमाण, प्रमाता, फल आदि का वर्णन करके कहते हैं कि सब कुछ अनेकान्त है। यह क्या खेल है ?] आर्हत-मत के प्रवर्तक, मूर्खसम्राट् ने अपनी शास्त्र-निर्माण-शक्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है ! (इस प्रकार अनेकान्तवाद अपने सिद्धान्त से ही अपनी जड़ खोद देता है। जब सब कुछ अनिश्चित है तो अनेकान्तवाद भी अनिश्चित, जैनों का पूरा दर्शन ही अनिश्चित, सारे तत्त्व, उनके प्रमाण, प्रमाता आदि सब अनिश्चित ! साधु ! साधु !! ऐसे दर्शन को शत शत प्रणाम !!)

(३. जीव के परिमाण का खण्डन)

तथा जीवस्य देहानुरूपपरिमाणत्वाङ्गीकारे योगबलादनेक-देहपरिग्राहकयोगिशरीरेषु प्रतिशरीरं जीवविच्छेदः प्रसज्येत। मनुजशरीरपरिमाणो जीवो मतङ्गजदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्। किं च गजादि शरीरं परित्यज्य पिपीलिकाशरीरं विशतः प्राचीन-शरीरसन्निवेशविनाशोऽपि प्राप्नुयात्। न च यथा प्रदीपप्रभा-विशेषः प्रपाप्रासादाद्युदरवर्तिसंकोचविकाशवांस्तथा जीवोऽपि मनु-जमतङ्गजादिशरीरेषु स्यादित्येषितव्यम्। प्रदीपवदेव सविकारत्वे-नानित्यत्वप्राप्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।

उसी प्रकार यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि जीव शरीर (Body) के अनुरूप परिणाम धारण कर लेता है, तो योग के बल से योगी लोग एक साथ जो अनेक शरीर धारण करते हैं, उन शरीरों में प्रत्येक शरीर में जीव का टुकड़ा देखा जायगा। [वास्तव में जीव विभु है जिससे एक साथ अनेक शरीरों में रह सकता है। योगी लोग अपने योग की सामर्थ्य से एक ही बार में कई शरीरों में निवास कर सकते हैं। ऐसे शरीरों के समूह का नाम **कायव्यूह** है। विभु होने के कारण उन-उन शरीरों में जीव का निवास संभव है। किन्तु यदि यह

मानें कि जीव शरीर के अनुरूप परिमाण धारण करता है, तब तो कठिनाई होगी कि शरीर से बाहर उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। एक शरीर में जीव का एक टुकड़ा, दूसरे में दूसरा टुकड़ा—इस तरह जीव के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।]

[दूसरा दोष यह होगा कि] मनुष्य के शरीर का परिमाण रखनेवाला जीव [पुनर्जन्म होने पर, योनि बदलने से] हाथी के पूरे शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। (किसी एक ही अंश में मानव शरीर खप जायगा, शेषांश के लिए क्या जवाब होगा?) यही नहीं, जब जीव गजादि के बड़े शरीर को छोड़ कर चींटी के छोटे शरीर में प्रवेश करने लगेगा तब [वह छोटे परिमाण में हो कर पुनः] अपने पहले शरीर (हाथी आदि के शरीर) में प्रवेश करने की क्षमता खो बैठेगा। [चूँकि गज देह के परिमाण में जीव चींटी के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए उसे अपने प्राचीन शरीर के परिमाण (आकार) का विनाश करना ही होगा—अतः वह पुराने शरीर में फिर लौट नहीं सकता; त्यागपत्र स्वीकार हो जाने पर फिर पुराने पद पर लौटना कैसा?]

ऐसी भी कल्पना नहीं हो सकती कि जैसे प्रदीप की प्रभा (किरणों) के अवयव (विशेष Particulars), पनसाला-जैसी छोटी जगह या महल-जैसी बड़ी जगह में, अपने आधार के अनुसार संकुचित (सिकुड़ते) या विकसित (फैलते) हैं, उसी प्रकार जीव भी मनुष्य और हाथी की देहों में आकर [संकोच और विकास प्राप्त] करता होगा। ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं कि प्रदीप की तरह ही जीव को सविकार मानना पड़ेगा [जिसमें संकोच और विकास-रूपी विकार (Changes) होते हैं], फलतः जीव अनित्य हो जायगा और [बौद्धों के क्षणिकवाद पर आपके ही द्वारा आरोपित] 'किये कर्म का नाश' तथा 'न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति'—ये दो दोष आ पहुँचेंगे।

विशेष—विकार से युक्त वस्तुएँ अनित्य होती हैं क्योंकि संकोच और विकास का सम्बन्ध उत्पत्ति और विनाश से है—कभी-न-कभी जीव की उत्पत्ति और विनाश होगा ही। जब उत्पत्ति मानेंगे तो न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति होगी। उत्पत्ति के बाद उसे सुख-दुःख रूपी फल मिलेंगे, जिसके कारण पुण्य-पाप हैं; जब जीव उत्पन्न ही नहीं हुआ था तब उसने इन फलों के कारण-रूप कर्म ही कैसे किये थे? कोई भी व्यक्ति उत्पत्ति के बाद कर्म करने पर ही फल पाता है लेकिन जीव बिना कर्म के ही फल पाने लगेगा। उसी प्रकार जब जीव का विनाश होगा तब किये गये कर्म का भी नाश होगा। विनाश के बाद भोक्ता ही नहीं रहेगा तब फल कौन भोगेगा? विनाश के समय किये गये कर्म का फल भी नष्ट हो जायगा—इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः 'कृतप्रणाश' दोष की प्राप्ति होगी।

एवं प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन जीवपदार्थदूषणाभिधानदिशाऽन्यत्रापि दूषणमुत्प्रेक्षणीयम्। तस्मान्नित्यनिर्दोषश्रुतिविरुद्धत्वादिदमुपादेयं न भवति। तदुक्तं भगवता व्यासेन—नैकस्मिन्नसंभवात् (ब्र० सू० २।२।३१) इति। रामानुजेन च जैनमतनिराकरणपरत्वेन तदिदं सूत्रं व्याकारि।

इस प्रकार प्रधान-मल्ल को शान्त करने की तरह[1] जीव-पदार्थ में दोष दिखाकर संकेत किया गया है कि अन्य पदार्थों में भी दोष की कल्पना कर लें। इसलिए नित्य (Eternal) और निर्दोष (Infallible) श्रुति (वेदों) के विरुद्ध होने के कारण यह जैन-मत ग्राह्य नहीं है। भगवान् व्यास ने भी [ब्रह्मसूत्र में] कहा है—[जैन-मत ठीक] नहीं, क्योंकि एक ही (वस्तु) में [छाया और धूप के समान 'नास्ति' और 'अस्ति'—जैसे विरुद्ध धर्मों का आरोपण करता है जो] असंभव है (ब्र० सू० २।२।३१)। रामानुज ने इस सूत्र की व्याख्या जैन-मत का निराकरण करते हुए ही की है।

विशेष—जीवस्वरूप का खण्डन करके संकेत किया गया है कि वेदाप्रामाण्य, ईश्वरास्वीकार आदि पदार्थों का भी खण्डन कर लें। यदि वेद प्रमाण नहीं हैं तो जैनों के सिद्धान्त के अनुसार अर्हन्मुनि के द्वारा प्रणीत (उत्पन्न किया गया) आगम भी प्रमाण नहीं हो सकता। वेद अपौरुषेय हैं इसलिए पुरुषों में पाई जानेवाली स्वच्छन्दता वहाँ नहीं है। जब स्वच्छन्दता नहीं, तो कोई दोष कैसे आयेगा ? अतः सारे दोषों से रहित वेद स्वतः ही प्रमाण है—उसकी प्रामाणिकता कोई नहीं मिटा सकता। उसके बाद ईश्वर भी श्रुति के प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० उ० ३।१।१); द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वे० उ० ३।३)। 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्र की व्याख्या सभी वेदान्तियों ने जैन-मत के खण्डन के रूप में ही की है। विशेष ज्ञान के लिए वह स्थल देखना चाहिए।

(४. रामानुज-दर्शन के तीन पदार्थ)

एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामकभेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम्—

---

१. प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय—जिस प्रकार मुख्य पहलवान को पछाड़ देने पर दूसरे पहलवान मल्ल-युद्ध करने से विरत हो जाते हैं वैसे ही जैनों के द्वारा स्वीकृत जीवस्वरूप को दूषित कर देने पर अन्य सिद्धान्तों और पदार्थों का खण्डन स्वयमेव हो जाता है।

१. ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥ इति ।

उस (रामानुज) दर्शन का यही सिद्धान्त है—चित् (Soul) अचित् (Universe) और ईश्वर (God) के भेद से, जो क्रमशः भोक्ता (Enjoyer, subject), भोग्य (Object) और नियामक (Controller) हैं तीन प्रकार के निश्चित पदार्थ हैं। ऐसा ही कहा है—'ईश्वर, चित् और अचित् के रूप में पदार्थों की संख्या तीन है; हरि (विष्णु) ही ईश्वर है, चित् से जीव का अभिप्राय है और दृश्यमान जगत् (Appearance) अचित् है।'

(५. अद्वैत-वेदान्त का इस विषय में पूर्वपक्ष)

अपरे पुनरशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः। तच्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपि 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिसामानाधिकरण्याधिगतजीवैक्यं बध्यते मुच्यते च ।

तदतिरिक्तनानाविधभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चः सर्वोऽपि तस्मिन्नविद्यया परिकल्पितः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) इत्मादिवचननिचयप्रामाण्यात्—इति ब्रुवाणाः, 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिशिरःशतवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वविद्ययाऽनाद्यविद्यानिवृत्तिमङ्गीकुर्वाणाः, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (काठ० उ० २।१) इति भेदनिन्दाश्रवणेन पारमार्थिकं भेदं निराचक्षाणाः, विचक्षणम्मन्याः तमिमं विभागं न सहन्ते ।

कुछ लोग (शाङ्कर वेदान्ती), जो अपने को बड़े बुद्धिमान् मानते हैं (विचक्षणम्मन्याः), इस विभाजन को नहीं मानते (इससे सहमत नहीं हैं) [मायावादी थोड़ा भी द्वैत नहीं सहन कर सकते ।] [उनकी मान्यता है कि] चित् के रूप में (स्वयं प्रकाशित होनेवाले ज्ञानमात्र के स्वरूप में) केवल ब्रह्म ही परमार्थ (Ultimate reality) है जिसमें सारे (अशेष) विशेषण

(जैसे—ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, शब्द, स्पर्श, ज्ञातृत्व, नित्यत्व आदि सभी व्यावहारिक विशेषण जो किसी पदार्थ की सीमा स्थिर करते हैं कि यह इस तरह का है) शत्रु के रूप में हैं (=कोई भी विशेषण ईश्वर में नहीं लग सकता)। उस ब्रह्म का स्वभाव (Essence) ही नित्य (Eternal), शुद्ध (Pure), बुद्ध (Intelligent) तथा मुक्त (Free) रहना है, फिर भी 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) की तरह के वाक्यों से ज्ञात होनेवाले सामानाधिकरण्य (जीव और ब्रह्म का एक होना, समानाधिकरण = एक आधार, Identity) से उसकी एकता जीव के साथ सिद्ध होती है, और इसीलिए वह बन्धन में भी पड़ता है और मुक्त भी होता है। ['तत्त्वमसि' का अर्थ है—वह (ब्रह्म) तुम (जीव) हो अर्थात् ब्रह्म ही जीव है। यद्यपि ब्रह्म मुक्त है किन्तु उपर्युक्त वाक्य में दोनों की एकता होने के कारण जीव के रूप में ब्रह्म बन्धन में पड़ता है। जब जीव और ब्रह्म के ऐक्य का साक्षात्कार हो जाता है तब वह ब्रह्म मुक्त हो जाता है।]

उस (ब्रह्म) के अतिरिक्त, भोक्ता (जीव), भोग्य (जगत्) आदि के भेदों के रूप में नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तार, Universe of diversities) उस ब्रह्म में ही कल्पित किये जाते हैं—ये सारे-के-सारे अविद्या (Illusion, ignorance) से परिचालित होते हैं। इसके लिए कितने ही वाक्य प्रमाण के रूप में हैं जैसे—'हे सोम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), सबसे पहले यह सत् (Existent) ही उत्पन्न हुआ था, जो अकेला था, दूसरा कुछ नहीं था'; इस प्रकार की बातें ये (माया वेदान्ती) लोग करते हैं। [अद्वितीय मानने से ब्रह्म निर्विशेष मालूम पड़ता है, उसमें कोई विशेषण नहीं लग सकता। यदि विशेषण लग सकते तो वे ही विशेषण लगकर दूसरे ब्रह्म भी हो सकते। जब तक सूत्र (Formula) नहीं मालूम है तब तक एक ही कलाकृति है; जिस क्षण कृति के विशेष या सूत्र ज्ञात हो जायँगे उसी क्षण दूसरी कृति निर्मित हो जायगी।]

'आत्मा को जाननेवाला शोक को पार कर जाता है' (छा० उ० ७।१।३) इस तरह के सैकड़ों वेदवाक्यों के सिर पर सवार होकर (Taking advantage of), निर्विशेष ब्रह्म और आत्मा के एकत्व (Identity) के ज्ञान से (आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार करके), अनादि काल से चली आनेवाली अविद्या (माया, भ्रम) की निवृत्ति हो जाती है—ऐसा वे स्वीकार करते हैं। 'जो व्यक्ति इस (ब्रह्म) को नाना प्रकार के रूप में देखता है वह मृत्यु के बाद भी पुनः मृत्यु (जन्मान्तर में) पाता है' (का० उ० २।१) यहाँ [जीव

और ब्रह्म में] भेद माननेवाले की निन्दा सुनकर दोनों के बीच ये (मायावेदान्ती) तात्त्विक भेद नहीं मानते।

(५. क. रामानुज का उत्तर-पक्ष, अद्वैतियों की अविद्या का पूर्वपक्ष)

तत्रायं समाधिरभिधीयते। भवेदेतदेवं यद्यविद्यायां प्रमाणं विद्येत। नन्विदमनादि भावरूपं ज्ञाननिर्वर्त्यमज्ञानम् 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम्। तदुक्तम्—

२. अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते॥

(चित्सुखी १।९) इति।

इन सभी शंकाओं का समाधान इस प्रकार है—[शांकरवेदान्तियों का] कथन ठीक माना जाता, यदि अविद्या को मानने के लिए प्रमाण रहते। [अविद्या को माननेवाले यह कह सकते हैं कि] यह अज्ञान अनादि और भावात्मक (Positive) है, तथा ज्ञान से हट जाता है; प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही यह सिद्ध है (जैसा कि हम ऐसे वाक्यों में पाते हैं—) 'मैं अज्ञानी हूँ अपने आप को या किसी दूसरे को भी नहीं जानता हूँ।' ऐसा ही कहा भी है—'जो अनादि है, भावात्मक है, विज्ञान (Knowledge) से जिसका नाश होता है, वही अज्ञान है—विशेषज्ञ लोग इसका लक्षण इसी प्रकार करते हैं।' (चित्सुखी १।९)

विशेष—चित्सुखाचार्य (१२२५ ई०) के द्वारा लिखित चित्सुखी या प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका शांकरदर्शन का एक बहुमान्य ग्रंथ है। इसकी टीका प्रत्यक्स्वरूप ने प्रायः १५०० ई० में मानसनयनप्रसादिनी के नाम से की थी। सर्वदर्शन संग्रह (१३५० ई०) में चित्सुखी का उद्धरण उसकी कीर्ति का सूचक है।

न चैतज्ज्ञानाभावविषयमित्याशङ्कनीयम्। को ह्येवं ब्रूयात्प्रभाकरकरावलम्बी भट्टदत्तहस्तो वा ? नाद्यः—

३. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित्कैश्चिद्रूपं कदाचन॥

४. भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।
भावान्तरादभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्॥

इति वदता भावव्यतिरिक्तस्याभावस्यानभ्युपगमात्।

[अज्ञान के विषय में उपर्युक्त प्रत्यक्ष, मायावादियों के दृष्टिकोण से भावरूप (Positive) अज्ञान का विषय है इसलिए उनके अनुसार ही यह कहा जाता है] 'यह (प्रत्यक्ष) ज्ञान के अभाव का विषय है'—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। (इस प्रत्यक्ष को ज्ञान के अभाव का विषय) माननेवाले कौन हैं ? या तो प्रभाकर गुरु[1] (मीमांसा के एक संप्रदाय के प्रवर्तक) का वरद कर पानेवाले (= गुरु-मतानुयायी) या कुमारिलभट्ट का सहारा पानेवाले (भाट्ट-मीमांसक) ऐसा कहेंगे।

गुरुमतवाले तो ऐसा (अज्ञान को भावरूप न मान कर, ज्ञानाभाव का विषय मानना) मान ही नहीं सकते। उन्हीं का कथन है—'अपने रूप (सत् के रूप में) तथा दूसरे के रूप (असत् के रूप में) की सहायता से, नित्य-रूप से, सत् और असत् दोनों में विद्यमान वस्तु में, कोई व्यक्ति, एक समय में, किसी एक ही रूप को जान सकता है'। [वस्तुओं में सदा दो रूप होते हैं, स्वकीय रूप से वस्तु सदात्मक है और परकीय रूप से वह असदात्मक है। कभी वस्तु को हम सत् के रूप में (Existent) जानते हैं, कभी असत् के रूप में। जब सत् के रूप में कोई गुण जाना जाता है, उस समय उससे भिन्न या परकीय गुण असत् रहेंगे ही। आम के फल में रूप, रस आदि सभी हैं—कभी रूप को जानते हैं उस समय रस का ज्ञान नहीं, इत्यादि। अतः सत् रूप में ज्ञान के समय भी असत् रहता है, असत् के ज्ञान के समय में भी सत् है; परन्तु यह प्रकृति का नियम है कि व्यक्ति एक समय में किसी एक को ही जान सकता है यद्यपि दूसरा रूप भी दूसरे समय में यथावत् जाना जा सकता है। अतः सत् और असत् में कोई अन्तर नहीं।]

---

१. प्रभाकर को गुरु उपाधि मिलने के विषय में एक दन्तकथा है। एक बार इनके अध्यापक एक ग्रंथ में यह पढ़ कर परेशान थे—अत्र तुनोक्तं, तत्रापितोक्तम्। परेशानी का कारण यह था कि दोनों स्थानों पर पदार्थ का कथन किया गया था जब कि ये पंक्तियाँ ठीक उलटी बातें सूचित कर रही थीं। गुरु की परेशानी से प्रभाकर की बुद्धि जाग उठी और उन्होंने इन पंक्तियों को इस रूप में पढ़ा—अत्र तुना उक्तम् (यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा उल्लेख है), तत्र अपिना उक्तम् (वहाँ 'अपि' शब्द से उल्लेख है)। स्मरणीय है कि पहले के ग्रंथों में अक्षर सटा-सटा कर लिखे जाते थे, इसीलिए इस तरह की कठिनाई अध्यापक को हुई। गुरु ने कहा कि प्रभाकर, आज से तुम्हीं गुरु हो। यही कारण था कि प्रभाकर गुरु कहलाये। इन्होंने शबरभाष्य पर टीका लिख कर अपना अलग संप्रदाय चलाया।

'अभाव एक प्रकार का दूसरा भाव (Entity) है जो किसी-न-किसी व्यपेक्षा (सम्बन्ध, असत् के निरूपण की इच्छा) से प्रकट किया जाता है। एक अन्य भाव (भाव का विशेष भेद) के अतिरिक्त अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसका निरूपण नहीं हो सकता।' [पृथ्वी में घट का अत्यन्ताभाव पृथ्वी का स्वरूप मात्र है (Positive), घट का प्रागभाव मिट्टी है, ध्वंसाभाव खपड़ा है, अन्योन्याभाव पटादि है—इस प्रकार घट के चारों अभाव (अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव; और अन्योन्याभाव) किसी न किसी भाव (Positive entity) के ही रूप में हैं, अतः अभाव भाव ही का दूसरा नाम है जो असत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।]—यह कह कर प्रभाकर के मतानुयायी भाव के अतिरिक्त अभाव पदार्थ को स्वीकार ही नहीं करते [कि अज्ञान को ज्ञानाभावविषयक मानें।]

विशेष—यहाँ पर शांकर वेदान्त द्वारा पूर्वपक्ष की स्थापना हो रही है। तथ्य यही है कि शङ्कर अज्ञान को भावरूप मानते हैं, इसके लिए मीमांसकों से भी वे यह स्वीकार करवा लेते हैं कि अभाव भावरूप है अर्थात् अज्ञान = ज्ञानाभाव = ज्ञानभाव = भावरूप (Positive ignorance)। अपने अज्ञान को ज्ञानाभाव कहना वे किसी मूल्य पर भी स्वीकार नहीं करते। यही अज्ञान सारे मायाजाल की सृष्टि करता है, यदि ज्ञानाभाव इसे मान लेंगे तो इसकी विश्वसृजनशक्ति विनष्ट हो जायगी। रामानुज आगे चल कर इस अज्ञान या माया का खण्डन करेंगे। उपर्युक्त पद्यों में प्रभाकर का उद्धरण देकर उनसे अज्ञान को प्रकारान्त से भावात्मक स्वीकार कराया जा रहा है। प्रभाकर भाव का ही एक दूसरा रूप अभाव मानते हैं, उससे पृथक् नहीं। तो एक तरह से उन्होंने शङ्कर की स्थिति ही स्वीकार कर ली।

न द्वितीयः। अभावस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वेन ज्ञानस्य नित्यानुमेयत्वेन च तदभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। यदि पुनः प्रत्यक्षाभाववादी कश्चिदेवमाचक्षीत, तं प्रत्याचक्षीत—अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवेऽहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य प्रतियोगितया चावगतिरस्ति न वा? अस्ति चेत्, विरोधादेव न ज्ञानानुभवः। न चेत्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न संभवति। तस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे प्रागुक्त-

दूषणाभावात् अयमनुभवो भावरूपाज्ञानगोचर एवाभ्युपगन्तव्य इति ।

दूसरी ओर, भाट्ट-मीमांसक भी ऐसा नहीं कह सकते। अभाव का ज्ञान उनके अनुसार छठे प्रमाण (अनुपलब्धि) से होता है (प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं), तथा ज्ञान भी सदा ही अनुमेय रहता है अतः इसका अभाव (= ज्ञानाभाव) भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। [यद्यपि अभाव को भाट्ट लोग एक पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं फिर भी 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं। ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर ही उसका अभाव प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है, पर भाट्ट लोग ज्ञान को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय मानते हैं। नैयायिकों का यह कथन है कि 'मैं जानता हूँ' यह वाक्य अनुव्यवसायात्मक आन्तर प्रत्यक्ष से निष्पन्न होता है इसलिए ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु यह ठीक नहीं। इस प्रकार का ज्ञान दूसरे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, वह भी तीसरे की अपेक्षा करेगा—इस तरह अनवस्था नाम का दोष उत्पन्न हो जायगा। इसलिए ज्ञान को भाट्टमतानुसार स्वप्रकाशक (दीप की तरह) मानना ही उपयुक्त है। एक दीप दूसरे दीप से प्रकाशित नहीं होता, अपना प्रकाशन आप ही करता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान इनके अनुसार अतीन्द्रिय है। प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थों का अभाव भले ही प्रत्यक्ष हो, लेकिन प्रत्यक्ष से ग्रहण न करने योग्य पदार्थों (जैसे, ज्ञान) का अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं। फलित यह हुआ कि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव का विषय नहीं, भावरूप अज्ञान का ही विषय मानना पड़ेगा। ज्ञानाभाव प्रत्यक्ष नहीं है—प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव नहीं है (Simple conversion)।]

अब यदि अभाव को प्रत्यक्ष (अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत) माननेवाला व्यक्ति ऐसी बात कहे तो उससे पूछना चाहिए—'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव में, अभाव-धर्म के रूप में या ज्ञान के प्रतियोगी (विरोधी = नहीं जानना) के रूप में, आत्मा ('अहम्' शब्द से प्रतीत होनेवाली) की अवगति (ज्ञान Apprehension) होती है या नहीं ? यदि ऐसी अवस्था में आत्मा का बोध होता है, तो विरोध के ही कारण ज्ञान के अभाव का अनुभव नहीं होगा। यदि नहीं होता तो ज्ञान के अभाव का अनुभव और नहीं होगा क्योंकि कोई भी अभाव तभी जाना जा सकता है जब अभाव के धर्मों से युक्त (उसके आधार का) उसके विरोधी (भाव) का ज्ञान हो। [नैयायिकादि अभाव को प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उपर्युक्त अनवस्था इसलिए नहीं लगती कि अन्तिम अनुव्यवसाय स्वयम् अज्ञात होकर भी वस्तु की सत्ता से ही अपने पहले के

अनुव्यवसाय का ग्रहण कर लेगा। ज्ञान दो तरह के हैं—परगत और स्वगत। पूरा का पूरा परगत ज्ञान तथा निर्विकल्पक स्वगत ज्ञान अतीन्द्रिय है। स्वगत सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए इनके मतानुसार 'अहमज्ञः' यह प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानाभाव का विषय है—ऐसा कह सकते हैं। इस सम्प्रदाय से अद्वैतवेदान्ती पूछते हैं कि 'मैं अज्ञ हूँ (मैं ज्ञानाभाव सम्पन्न हूँ)' इस अनुभव में ज्ञानाभाव को आधार मानने के कारण 'अहम्' अर्थ वाली आत्मा का ज्ञान होता है कि नहीं? उसी अनुभव में ज्ञानाभाव का विरोधी होने के कारण ज्ञान का ज्ञान होता है कि नहीं? यदि है तो ज्ञान की सत्ता माननी पड़ेगी; ज्ञानाभाव कहाँ है और कहाँ है उसका अनुभव? यदि नहीं है तो ज्ञानाभाव रहने पर भी इसका अनुभव नहीं होगा क्योंकि अभाव का ज्ञान तभी सम्भव है जब अभाव के आधार का ज्ञान हो, अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान हो। घट का बिना ज्ञान हुए घटाभाव जानना असम्भव है।]

अब यदि उस अज्ञान को भावरूप (positive) स्वीकार कर लें, तो उपर्युक्त दोषों से मुक्ति मिल जाती है। अतएव यह अनुभव भावरूप अज्ञान से ही उत्पन्न होता है—ऐसा मानना चाहिये। (इस प्रकार मायावादियों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।)

(६. रामानुज द्वारा इसका खण्डन)

तदेतद्गगनरोमन्थायितम्। भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावेन समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि—विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो न वा? प्रतिपन्नश्चेत्, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानमिति तस्मिन्प्रतिपन्ने कथंकारमवतिष्ठते? अप्रतिपन्नश्चेत्, व्यावर्तकाश्रयविषयशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत?

[मायावादियों के द्वारा अज्ञान को भावरूप मानने के लिए तर्क देना ठीक वैसा ही असम्भव है जैसा कोई पशु] आकाश का पागुर (जुगाली, चर्वितचर्वण, regrazitating) करे! भाव के रूप में अज्ञान को मानना ज्ञानाभाव के रूप में मानने के ही बराबर है। इसमें दो विकल्प हो सकते हैं—[अज्ञान के] विषय (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) तथा आश्रय (=आत्मा) के रूप में, अज्ञान की व्यावर्तक बनकर, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं? ('मैं अज्ञ हूँ' इस अज्ञान की प्रतीति के समय उस ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है कि नहीं?) यदि प्रतीति होती है तो 'स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त होने वाला (ज्ञान का विरोधी) वह अज्ञान है'—इसलिए उस (ज्ञान)

की प्रतीति होने पर ज्ञान किसी प्रकार नहीं रह सकता। [चूँकि अज्ञान आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान जाने पर हट जाता है इसलिये स्वरूप के ज्ञान के बाद अज्ञान ठहरेगा ही नहीं। 'अहमज्ञः' में अज्ञान की प्रतीति के समय ज्ञान यदि रहे तो अज्ञान की प्रतीति कैसे हो सकेगी, अज्ञान कहाँ से रहेगा ?] दूसरी ओर यदि आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक (अज्ञान का व्यावर्तक है आत्मा, प्रतीति, बोध), आश्रय तथा विषय से शून्य होने से अज्ञान का अनुभव ही कैसे होगा ?

विशेष—अज्ञान (मैं अज्ञ हूँ) का विषय (Object) आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ही है; उसका आश्रय (Substratum, object) है आत्मा, क्योंकि आत्मा को प्रत्यक्ष रूप में यह अनुभव होता है कि मैं नहीं जानता हूँ। आत्मा ही अज्ञान का व्यावर्तक (रोकने वाला, प्रतिषेधक) है। यहाँ शांकरवेदान्तियों का यह दोष दिखलाया जा रहा है कि व्यावर्तक को ही वे अज्ञान का विषय और आश्रय दोनों मान लेते हैं।

अथ विशदः स्वरूपावभास एवाज्ञानविरोधी, नाज्ञानेन सह भासत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोध इति—हन्त, तर्हि ज्ञानाभावेऽपि समानमेतदन्यत्राभिनिवेशात्। तस्मादुभयाभ्युपगतज्ञानाभाव एव 'अहमज्ञो, मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभवगोचर इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

(मायावादी यह कह सकते हैं कि) आत्मा (स्वरूप) की जो प्रतीति (अवभास) स्फुट (manifested) है वही अज्ञान (माया) का विरोध करती है। वह (विशद आत्मप्रतीति) अज्ञान के साथ नहीं रह सकती। इस प्रकार [अज्ञान के] आश्रय और विषय के होने पर [आत्मा की प्रतीति स्फुट न होने से] उसका विरोध अज्ञान (अहमज्ञः) के अनुभव के साथ नहीं होता (तात्पर्य यही है कि अविशद आत्मप्रतीति अज्ञान का व्यावर्तक नहीं है, विशद से ही ऐसी आशा की जाय)। रामानुज उत्तर में कहते हैं कि हाय, हाय, तब तो [जो बात भावरूप अज्ञान मानकर आप कह रहे हैं] वही बात ज्ञानाभाव का विषय मानने पर होगी (कि आधार और विरोधी—इन दोनों में विशद स्वरूपावभास या आत्मप्रतीति विरोधी हो सकेगी, अविशद स्वरूपावभास नहीं।) हाँ, यदि आप पक्षपात (अभिनिवेश) न करें तभी ऐसा कहेंगे। [मायावादी लोग भावरूप अज्ञान मानने में जो पक्षपात करते हैं वह हम लोगों में नहीं है। इस प्रकार दोनों पक्षों (हमारे और आपके) से सिद्ध ज्ञानाभाव ही—'मैं अज्ञ हूँ,

अपने आपको और दूसरे को भी नहीं जानता' इस वाक्य में अनुभूत होता है (is experienced)—ऐसा मानना चाहिए।

विशेष—रामानुज अपने तर्क के बल से अद्वैतियों को 'अज्ञान भावरूप नहीं, ज्ञानाभाव का विषय है' ऐसा स्वीकार कराते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि अज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध्य नहीं। अब अनुमान के अखाड़े में ले जाकर अज्ञान को पछाड़ने की युक्ति रची जा रही है। रामानुज ने अपने ब्र० सू० भाष्य के प्रथम सूत्र में अज्ञान का खण्डन बड़े जोरदार शब्दों में किया है। उसी से विषय-वस्तु लेकर प्रस्तुत स्थल में प्रतिपादन किया जा रहा है।

(७. अज्ञान को भावरूप मानने में अनुमान और उसका खण्डन)

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभाव-व्यतिरिक्त-स्वविषयावरणस्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति।

[शांकर वेदान्ती कह सकते हैं कि] प्रस्तुत विवाद से ग्रस्त ज्ञान (= अज्ञान भावरूप है) को अनुमान से सिद्ध क्यों नहीं मानते ? अनुमान इस प्रकार हो सकता है—

(१) [अविद्या को] प्रमाणित करने वाला ज्ञान **(पक्ष)** किसी दूसरी वस्तु के बाद में होता है, जो वस्तु ज्ञान के प्रागभाव से बिल्कुल भिन्न, ज्ञान के विषयों को ढँकनेवाली, ज्ञान के द्वारा हट जाने वाली, तथा जो ज्ञान के स्थान में अवस्थित रहती है **(साध्य)**।

(२) कारण यह है कि प्रमाण ज्ञान (Right Knowledge) अप्रकाशित वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है **(हेतु)**।

(३) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है **(उदाहरण)**।

विशेष—प्रथम वाक्य में 'वस्त्वन्तर' के कुछ विशेषण लगाये गये हैं। स्वविषयावरण = स्व अर्थात् प्रमाणज्ञान का विषय ब्रह्मादि है, उसके स्वरूप को ढँकनेवाला। स्वदेशगत = प्रमाणज्ञान का देश आत्मा है, उसी में अवस्थित रहनेवाला। स्वप्रागभावव्यतिरिक्त = प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से पृथक्। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त अज्ञान भावरूप ही सिद्ध होता है। जो दीप प्रथम-प्रथम प्रकाश की किरणें फैलाता है उसी में अंधकार को नष्ट करने की शक्ति होती है। जिस प्रकार अँधेरे में पहले-पहल जलाया गया दीपक अपनी प्रभा से अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाश में लाता है उसी प्रकार अँधेरे की तरह विद्यमान

किसी दूसरी वस्तु (अर्थात् अज्ञान) को हटाकर प्रमाणज्ञान भी अप्रकाशित वस्तु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश में ले आता है। जो वस्तु हटाई जाती है वही अज्ञान है, यह भावरूप है जिसकी व्यावृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है।

तदपि न क्षोदक्षमम्। अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेऽपसिद्धान्तापातात्। तदसाधनेऽनैकान्तिकत्वात्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। न हि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं संभवति। ज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वात्। सत्यपि प्रदीपे ज्ञानेन विषयप्रकाशसंभवात्। प्रदीपप्रभायायस्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानं समुत्पादयतो विरोधिसंतमसनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेवेत्यलमतिविस्तरेण।

[रामानुज का कहना है कि] उपर्युक्त उक्ति भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती (शब्दशः, चक्की में पिसने से बच नहीं सकती; क्षोद = चूर्ण)। कारण यह है कि [आप ज्ञान को एक दूसरी वस्तु—अज्ञान—के बाद सिद्ध करते हैं तो] यह अज्ञान भी [उसी हेतु से (अप्रकाशित प्रपञ्च को प्रकाशित करने के कारण)] एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा जो सिद्ध करना आपको अभीष्ट नहीं क्योंकि ऐसा करने पर [दूसरे अज्ञान से प्रपञ्च का आवरण हो जाने पर संसार की ही संभावना मिट जायगी जो] आपके सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। (अथवा इस दूसरे अज्ञान से आपके प्रस्तुत अनुमान का विषय—भाव रूप अज्ञान—का भी आवरण हो जायगा और संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।)

यदि आप [भावरूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथाकथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात्] सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारयुक्त) हो जायगा। [यहाँ हेतु है 'अप्रकाशितार्थ को प्रकाशित करने के कारण'। यह हेतु साध्य (Major term) के विरोधी स्थानों में भी रहता है इसलिये अनैकान्तिक = अनिश्चित है।] दूसरे, उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त (साध्य को) सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं रखता है क्योंकि वस्तुतः दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती, ज्ञान ही किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहने पर भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन सम्भव है। दर्शनेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है, उसी समय प्रदीप-प्रभा (सहायक के रूप में) प्रकाश के विरोधी निबिड़ अन्धकार को दूर करके थोड़ा-सा उपकार ही भर करती है। अब अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

(७ क. उपर्युक्त अनुमान का प्रत्यनुमान)

प्रतिप्रयोगश्च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिकाद्यज्ञानस्याश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्रस्वभावत्वमेव इति चेत्, मैवं शङ्किष्ठाः। अनुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुणत्वापादनस्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषः। अनुभवितुरात्मत्वमात्मवृत्तिगुणविशेषस्य ज्ञानत्वमित्याश्रयणात्।

इसका विरोधी अनुमान (Counter-position) इस प्रकार है— जिस अज्ञान के विषय में विवाद चल रहा है वह विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता, क्योंकि वह अज्ञान है (जब कि ब्रह्म ज्ञान है)—जिस प्रकार शुक्ति (सीपी, Nacre) आदि के विषय में उत्पन्न अज्ञान [ज्ञाता पर आश्रित है न कि ज्ञान पर ही, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है; उसी प्रकार मायावादियों का वह भावरूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। लेकिन मायावादी तो इस अज्ञान को ज्ञानरूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं—यह उनका दोष है।]

[यदि कोई शंका करे कि] शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान (Illusion) का आश्रय स्वचेतन (आत्मा, प्रत्यक् अर्थ) है, उसका स्वभाव ही विशुद्ध ज्ञान है (फिर अज्ञान का आरोपण ज्ञानस्वरूप आत्मा पर कैसे करते हैं ? उत्तर में हम कहेंगे कि) अनुभव करना अनुभव करनेवाली आत्मा का एक धर्म है जो (धर्म) केवल अपनी सत्ता से, किसी वस्तु में व्यवहार की योग्यता (आनुगुण्य) उत्पन्न करने का स्वभाव रखता है; जिस (अनुभूति) के ज्ञान, अवगति, संविद् (बोध) आदि बहुत से नाम हैं तथा जो (धर्म) कर्म करनेवाला भी है। अनुभव करनेवाले को आत्मा और आत्मा की वृत्तियों (Actions) में स्थित एक गुण को ज्ञान कहते हैं।

ननु ज्ञानरूपस्यात्मनः कथं ज्ञानगुणकत्वमिति चेत्, तदसारम्। यथा हि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्यं प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः।

यहाँ कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप (Essence) है, फिर ज्ञान उसका गुण कैसे होगा ? इस पर रामानुज का कथन है कि यह शंका ठीक नहीं। [रामानुज जीवात्मा और परमात्मा दोनों को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं, फिर ज्ञान उनका गुण भी है, ऐसा स्वीकार करते हैं। यह उपन्यास (Establishment) आपत्तिजनक है क्योंकि स्वरूप गुण नहीं हो सकता। किन्तु जिस श्रुति-प्रमाण से आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, उसी प्रमाण से आत्मा का गुण ज्ञान है, यह भी जानते हैं। स्वरूप गुण हो सकता है क्योंकि स्वरूपवाले ज्ञान से गुणवाले ज्ञान को पृथक् माना जाता है। इसमें दृष्टान्त भी है—] जिस प्रकार मणि, सूर्य इत्यादि तैजस (Luminary) पदार्थ स्वयं प्रभा से युक्त स्वरूप से अवस्थित हैं, किन्तु **प्रभा** रूपी **गुण** के आश्रय स्थान भी हैं (अर्थात् सूर्यादि तेज के स्वरूप में होकर भी तेज के एक प्रकार—प्रभा-गुण—से भरे हैं। स्वरूप ही गुण भी है)।

अपने आश्रय से पृथक् होकर भी रहने पर तथा उसमें रूप (Mode of things) होने के कारण द्रव्य के रूप में रहने पर भी, प्रभा (Light) को गुण के रूप में पुकारते हैं क्योंकि वह सूर्यादि के तेज का उपकारी होने का सौभाग्य रखती है। [गुण किसी वस्तु में व्याप्य अथवा अव्याप्य वृत्ति धारण करके रहता है। आकाश में शब्द उसके एकदेश में ही रहता है अतः अव्याप्य वृत्तिवाला है, घट में रूप चारों ओर से रहता है अतः व्याप्य वृत्तिवाला है। प्रभा नित्य रूप से सूर्य-सम्बद्ध है, फिर भी सूर्य के अतिरिक्त समुद्र, पर्वत, भूमि आदि में देखी जाती है—इसलिये वह गुण नहीं है। दूसरे, प्रभा में शुक्ल-रूप रहता है जिससे इसे द्रव्य मानना पड़ता है। गुण में गुण नहीं रह सकता, द्रव्य में गुण रहता है अतः प्रभा द्रव्य है। फिर प्रभा को गुण कैसे कहेंगे ? चूँकि सूर्यादि तेजों में यह निवास करती है, गुण भी द्रव्य में रहते हैं, गुणों के सादृश्य से प्रभा को गुण मानते हैं किन्तु यह व्यवहार गौण है, मुख्य रूप से तो प्रभा द्रव्य ही है।] ठीक इसी प्रकार, इस आत्मा का स्वरूप यद्यपि स्वयं प्रकाशित होनेवाला चैतन्य है, इसका गुण भी चैतन्य ही है (जो गौण प्रयोग से माना जाता है)।

विशेष—जिस प्रकार प्रभा मुख्यतः द्रव्य है, गौणरूप से उसे गुण मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञान भी मुख्यतः द्रव्य (आत्मा का स्वरूप है), गौणरूप से ही उसे गुण के रूप में समझते हैं क्योंकि आत्मा के रूप में दूसरे द्रव्यों से सम्बद्ध होकर गुण के ही समान हो जाता है। अब श्रुति-प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि आत्मा का स्वरूप भी ज्ञान है और गुण भी ज्ञान ही है।

तथा च श्रुतिः—स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृ० उ० ४।५।१३)। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (बृ० उ० ४।३।९)। न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ० उ० ४।३।३०)। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा (छा० ८।१२।४)। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ० उ० ४।३।७)। एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्नो० ४।९) इत्यादिका।

इसके लिए श्रुति-प्रमाण भी है—जैसे नमक का टुकड़ा अन्तर-बाह्य का भेद बिना किये ही (सर्वत्र) रस का ही खण्ड है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अन्तर-बाह्य के विभाजन से शून्य होकर (सर्वत्र) प्रज्ञान का ही खण्ड है (इसमें आत्मा को ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है; बृ० उ० ४।५।१३)। यहाँ (स्वप्नावस्था में) यह पुरुष (आत्मा) स्वयंप्रकाशित होता है (वही, ४।३।९)। विज्ञाता (आत्मा) के ज्ञान (गुणरूप में वर्तमान ज्ञान) का विनाश नहीं होता है (वही, ४।३।३०)। जो यह समझे कि मैं इसे सूँघ रहा हूँ, वही आत्मा है (ज्ञान उसका गुण है; छा० ८।१२।४)। यह पुरुष जो विज्ञान से युक्त इन्द्रियों और हृदय में भी है, वह अपने आप में प्रकाशित है (प्रथम खण्ड में ज्ञान गुण है, फिर ज्ञान आत्मस्वरूप है—बृ० ४।३।७)। वह पुरुष ही देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, समझनेवाला, करनेवाला (सब जगह ज्ञान गुण है) तथा विज्ञानस्वरूप आत्मा है (प्र० ४।९) इत्यादि।

विशेष—इस प्रकार कुछ श्रुतियों में आत्मा को ज्ञानस्वरूप कुछ में ज्ञान-गुणक तथा कुछ में ज्ञानस्वरूप और ज्ञानगुणक दोनों माना गया है। आत्मा केवल ज्ञाता ज्ञानगुणक) है, यह कहनेवाले नैयायिक लोग भी परास्त हुए; आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, कहनेवाले मायावेदान्ती भी गये।

(८. भावरूप अज्ञान मानने में श्रुति प्रमाण नहीं है)

न च 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति श्रुतिरविद्यायां प्रमाणमित्याश्रयितुं शक्यम्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः।

ऋतशब्दश्च कर्मवचनः । 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३।१) इति वचनात् । ऋतं कर्म फलाभिसन्धिरहितं, परमपुरुषाराधनवेषं तत्प्राप्तिफलम् । अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकाल्पफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि । 'य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इति वचनात् ।

'अनृत (असत्य) से ढँके हुए' (छा० ८।३।२)[1]—यह श्रुतिवाक्य अविद्या के विषय में प्रमाण (Authority) है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । 'अनृत' का अर्थ है 'जो ऋत (सत्य) से भिन्न हो । 'ऋत' का अर्थ है (पुण्य) कर्म, क्योंकि इस वाक्य में—'ऋत को पीते हुए' कहा गया है [जिसका अर्थ है कि वे दोनों कर्म के फलों का अनुभव कर रहे हैं ।] ऋत का अर्थ है फल की कामना न रखते हुए किया गया कर्म; परम पुरुष (ब्रह्म) की आराधना के रूप में उसकी प्राप्ति का फल मिलता है । यहाँ पर उससे भिन्न, सांसारिक तथा थोड़ा फल देनेवाला कर्म ही अनृत कहा गया है जो ब्रह्म की प्राप्ति का विरोधी है । ऐसा ही श्रुतिवचन भी है—जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करते, वे लोग अनृत (सांसारिक फल) से ढँके हुए हैं (छा० ८।३।२) ।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४।१०) इत्यादौ मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकरत्रिगुणात्मकप्रकृत्यभिधायको नानिर्वचनीयाज्ञानवचनः ।

५. तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।
बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम् ॥
(वि० पु० १।१९।२०)

इत्यादौ विचित्रार्थसर्गसमर्थस्य पारमार्थिकस्यैवासुराद्यस्त्रविशेषस्यैव मायाशब्दाभिधेयत्वोपालम्भात् । अतो न कदाचिदपि श्रुत्याऽनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम् ।

'माया को मूलकारण समझें'—इस वाक्य में माया-शब्द का अर्थ 'विचित्र पदार्थों की सृष्टि करनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति' है, न कि अनिर्वचनीय

१. इस वाक्य का मायावेदान्ती लोग अर्थ करते हैं कि अनृत संसार का मूलकारण मायानामक भावरूप अज्ञान है, उसी से शब्दादि विषयों द्वारा कामनाओं की उत्पत्ति होने से लोग अपने वास्तविक रूप से हटा दिये जाते हैं ।

(भावरूप) अज्ञान । [विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक में] विचित्र वस्तुओं की सृष्टि में समर्थ तथा पारमार्थिक (वास्तविक real), असुर के अस्त्र-विशेष का ही बोध माया शब्द से होता है—'बालक (प्रह्लाद) के शरीर की रक्षा करते हुए, उस आशुगामी [विष्णु के चक्र] ने शम्बर नामक राक्षस की हजारों मायाओं को एक-एक खण्ड करके नष्ट कर दिया' (वि० पु० १।१९।२०)। इसलिए **श्रुति-प्रमाण** से कभी भी अनिर्वचनीय **अज्ञान का प्रतिपादन** नहीं होता ।

(६. अज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति से भी नहीं—'तत्त्वमसि' का अर्थ)

नाप्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या । तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वेन विरुद्धयोर्जीवपरयोः स्वरूपैक्यस्य प्रतिपत्तुमशक्यतयाऽर्थापत्तेरनुदयदोषदूषितत्वात् ।

['तत्त्वमसि' (तुम वह हो) इस वाक्य में जीव और परमात्मा की एकता का उपदेश दिया गया है । यदि इन दोनों में वास्तविक भेद होता तो यह संभव नहीं था कि ऐक्य दिखला दें, तथ्य यह है कि इन दोनों में काल्पनिक भेद ही माना जायगा । यह काल्पनिक भेद किसी अन्य उपाय से सिद्ध नहीं होता अतः इस अभेद ज्ञान के उत्पादक के रूप में—अर्थापत्ति-प्रमाण से—अनिर्वचनीय अज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा । इसका खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि जीव और परमात्मा में अज्ञान के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रकार से एकता सिद्ध नहीं होती, इसलिए आप [अज्ञान की सत्ता] नहीं मान सकते । [स्मरणीय है कि जब किसी विशेष अर्थ के आपादान (ग्रहण) के बिना कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती तब अर्थापत्ति-प्रमाण मानते हैं—मोटे देवदत्त पण्डित दिन में खाते ही नहीं । इस वाक्य में न खानेवाले देवदत्त की मोटाई असिद्ध ही हो जायगी यदि हम यह न कहें कि वे रात में ही दुगुना भोजन करते हैं । यह 'रात में दुगुना भोजन करना' अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है । यहाँ भी अज्ञान को न मानें तो काल्पनिक भेद सिद्ध नहीं होगा । लेकिन रामानुज इसे काट रहे हैं ।]

कारण यह है कि तत् (वह) और त्वम् (तुम) दोनों पदों में सविशेष (Qualified) ब्रह्म का अर्थ है, आपस में विरोधी जीव और परमात्मा में स्वरूप की एकता का प्रतिपादन करना [इस वाक्य से] कठिन है, अतः अर्थापत्ति-प्रमाण का यहाँ उदय ही नहीं होगा—यही दोष यहाँ लग जायगा । [तत् और त्वम् दोनों सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, दोनों में 'नीलो घटः' इत्यादि के

समान समानाधिकरणता (Identity) है—इसी से वाक्यार्थं की सिद्धि हो जाती है, अर्थापत्ति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि किसी दूसरे प्रकार से वस्तुसिद्धि नहीं होती हो, तब न अर्थापत्ति आवेगी ?]

तथा हि—तत्पदं निरस्तसमस्तदोषम् अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणास्पदं जगदुदयविभवलयलीलं ब्रह्म प्रतिपादयति। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वंपदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्माचष्टे। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।

इसे इस प्रकार समझें—'तत्' शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करता है जो (ब्रह्म) सारे दोषों से रहित है, असीम अतिशयों (विशेषताओं) से युक्त तथा असंख्य कल्याणप्रद गुणों का आगार है एवं संसार की उत्पत्ति, विभव (स्थिति) और लय की लीला दिखलाता है। 'उसने देखा, मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न होऊँ' (छा० ६।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में उसी (ब्रह्म) का वर्णन है। उसका समानाधिकरण (Identical) 'त्वम्' शब्द भी अचित् (जड़ शरीर) से विशिष्ट जीव की देह धारण करनेवाले ब्रह्म का ही बोध कराता है ! समानाधिकरणता (Identity) दो प्रकारों से विशिष्ट किसी एक ही वस्तु पर निर्भर करती है। ['नीलो घटः' में एक ही वस्तु का बोध होता है किन्तु एक प्रकार है नील गुण से विशिष्ट होना, दूसरा प्रकार है घटत्वजाति से विशिष्ट होना। तत् और त्वम् भी ब्रह्म के प्रतिपादक हैं किन्तु दो प्रकारों से विशिष्ट हैं।]

विशेष—'तदैक्षत०' आदि में ब्रह्म का संकल्प दिखलाया गया है जो संसार की उत्पत्ति के पूर्व किया गया है। वे पहले निरीक्षण करते हैं, पुनः बहुत होने की कामना करते हैं कि चित्, अचित् के मिश्रण से जगत् के रूप में मैं ही बहुत बन जाऊँ, उसके लिए पहले तेज, जल, अन्न आदि के रूप में उत्पन्न होऊँ। ब्रह्म का यह संकल्प तभी संभव है जब वे सभी दोषों से रहित हों, अनन्त कल्याणकारी गुणों से संपन्न हों। इसलिए ब्रह्म में वे सब गुण उपपन्न होते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द से ऐसे ही ब्रह्म का बोध होता है।

(१०. 'तत्त्वमसि' में लक्षणा—अद्वैत-पक्ष)

ननु 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत् तत्त्वमिति पदयोर्विरुद्धभागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्वरूपमात्मैक्यं सामानाधिकरण्यार्थः किं

न स्यात्। यथा सोऽयमित्यत्र देशान्तरकालान्तरसंबन्धी पुरुषः प्रतीयते। इदंशब्देन च संनिहितदेशवर्तमानकालान्तरसंबन्धी। तयोः सामानाधिकरण्येनैक्यमत्रगम्यते। तत्रैकस्य युगपद्विरुद्ध-देशकालप्रतीतिर्न संभवतीति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपपरत्वे स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। एवमत्रापि किंचिज्ज्ञत्व-सर्वज्ञत्वादि-विरुद्धांश-प्रहाणेनाखण्डस्वरूपं लक्ष्यत इति चेत्—।

[मायावादी लोग] शंका करते हैं कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य की ही तरह तत् और त्वम् दोनों शब्दों में विरुद्ध अंश को त्याग देने वाली लक्षणा से, आत्मा की एकता का बोध क्यों नहीं होगा, इस एकता में निर्विशेष (Unqualified) स्वरूप रहता है और इस प्रकार समानाधिकरणता (Identity) का अर्थ क्यों नहीं हो जायगा ? 'सोऽयम्' में तत् शब्द से दूसरे स्थान और दूसरे काल से संबद्ध पुरुष का अर्थ मालूम होता है। दूसरी ओर इदम् शब्द से निकट स्थान और वर्तमानकाल-संबन्धी पुरुष का बोध होता है। [यहाँ देखना है कि दोनों पदों से भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों का बोध होता है, अतः दोनों को एक वाक्य में स्थापित करना कुछ कठिन-सा लगता है इसलिए] दोनों पदों की एकता समानाधिकरण के नियम से ही संभव है। यदि ऐसा न करें तो एक ही पुरुष के उद्देश्य के रूप में एक साथ ही विरुद्ध देश और काल वाले शब्दों से उस पुरुष (देवदत्त) की प्रतीति संभव नहीं है, इसलिए दोनों पदों को हम व्यक्ति (देवदत्त) का बोधक मानकर व्यक्ति की एकता समझ सकते हैं। [तात्पर्य यह है कि देवदत्त के उद्देश्य के रूप में दो शब्द 'यह' और 'वही' आते हैं किन्तु दोनों शब्दों में स्थान और काल को लेकर काफी अन्तर है। जब दोनों एक ही व्यक्ति के उद्देश्य हैं तो अवश्य ही दोनों में एकता होनी चाहिए, एकता तभी स्थापित हो सकती है जब दोनों शब्द मतभेदवाले अश को निकाल दें। ऐसी दशा में उनका अपना अर्थ कम हो जायगा तथा लक्षणा से दूसरे अल्प अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी को 'विरुद्ध भाग त्याग करानेवाली लक्षणा' कहते हैं। इस प्रकार 'सः' और 'अयम्' के बीच एकता समानाधिकरण के नियम (Law of identity) से हो जायगी।] इसी प्रकार, यहाँ भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों के बीच, 'तत्त्वमसि' महावाक्य में एकता हो सकती है यदि उन दोनों के विरुद्ध अंश, जैसे थोड़ा जानना (जीव का गुण), सब कुछ जानना

(परमात्मा का गुण) आदि, का त्याग हो जाय और दोनों के अखंड-स्वरूप का बोध हो जाय । [यह मायावादी लोगों का पूर्वपक्ष हुआ ।]

(११. रामानुज का उत्तर-पक्ष)

विषमोऽयमुपन्यासः । दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणा-गन्धासंभवात् । एकस्य तावद् भूतवर्तमानकालद्वयसंबन्धो न विरुद्धः । देशान्तरस्थितिर्भूता संनिहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसंबन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहरणीयः । लक्षणापक्षेऽप्येकस्यैव पदस्य लक्षकत्वाश्रयणेन विरोधपरिहारे पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वस्वीकारो न संगच्छते ।

मायावादियों की यह स्थापना बिल्कुल व्यर्थ है। 'यह वही देवदत्त है' इस दृष्टान्त में भी विरोध नहीं है, अतः लक्षणा की गंध भी इस वाक्य में नहीं है। एक व्यक्ति का संबन्ध यदि भूत और वर्तमान दोनों कालों से [भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, एक साथ नहीं] है तो कोई भी विरोध की बात नहीं [जिससे लक्षणा स्वीकार करने की आवश्यकता हो, यह तो स्वाभाविक ही है।] दूसरे स्थान में उसकी स्थिति भूतकाल में थी अब उसकी स्थिति निकट स्थान में है इसलिए स्थान के भेदों का संबन्ध, जिससे विरोध होने की संभावना है, उसे काल का भेद मानकर समझा सकते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि 'सः' और 'अयम्' शब्दों में विरोध है ही नहीं कि लक्षणा मानें। यह माना कि 'सः' का मतलब दूसरे काल और दूसरे स्थान में अवस्थित पुरुष है, यह भी माना कि 'अयम्' का अर्थ निकट काल और निकट स्थान में अवस्थित पुरुष है। किन्तु क्या दो स्थानों में एक ही व्यक्ति नहीं रह सकता ? हाँ, यदि एक साथ एक ही समय में आप कहें तो संभव नहीं है। सो बात तो यहाँ है नहीं। वह पुरुष दो विभिन्न कालों में दो स्थानों पर था। भूतकाल में दूर पर था लेकिन वर्तमान-काल में निकट आ गया। अतः कोई विरोध यहाँ नहीं है। फिर लक्षणा क्यों स्वीकार करें।]

फिर भी, यदि आप लक्षणा मानने के लिए ही सिर पर सवार हैं तो लक्षणा में भी एक ही शब्द लाक्षणिक होता है। किन्तु उक्त विरोध से बचने के लिए दो पदों को (सः और अयम् को) लाक्षणिक स्वीकार करना पड़ता है जो वास्तव में संगत नहीं।

विशेष—माधवाचार्य का उपर्युक्त कथन चिन्तनीय है। लक्षणा में यह आवश्यक नहीं कि लाक्षणिक एक ही पद हो। लक्षणा में केवल अन्वय का

ही विरोध नहीं किया जाता बल्कि तात्पर्यार्थ का भी विरोध होता है। इसके लिए एक पद के समान ही दो, तीन या सभी पदों की लक्षणा होती है। 'विष खा लो पर उसके घर में भोजन मत करो' इसमें सभी पदों की लक्षणा है। लेकिन एक बात है। वह यह कि लाक्षणिक चाहे कितने भी पद हों परन्तु लक्ष्यता का व्यापक कोई एक ही होता है अर्थात् लक्ष्यार्थ एक ही होगा।

इतरथैकस्य वस्तुनः तत्तेदंताविशिष्टत्वावगाहनेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यानङ्गीकारे स्थायित्वासिद्धौ क्षणभङ्गवादी बौद्धो विजयेत। एवमत्रापि जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' (बृ० ३।७।२२) इति श्रुत्यन्तरात्।

यदि दोनों पदों में लाक्षणिकता मान लें तो एक वस्तु को 'इदम्' और 'तत्' दोनों के गुणों से विशिष्ट मानकर, प्रत्यभिज्ञा (Recognition) को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करना पड़ेगा। इस तरह स्थायित्व नाम की कोई चीज नहीं रह जायगी, क्षणभंगवाद को स्वीकार करनेवाले बौद्धों की ही विजय हो जायगी। [रामानुज का यह पूछना है कि काल में भेद होने से वस्तु में भेद पड़ता है कि नहीं ? यदि नहीं पड़ता है तो लक्षणा की आवश्यकता ही क्या है। यदि वस्तु कालक्रम से भिन्न होती चली जाती है तो क्षणिकवादी बौद्धों का सिद्धान्त ही यह हो जायगा। किन्तु वास्तव में यह बात चिन्तनीय है क्योंकि बौद्ध-मत उसी समय स्वीकार किया जा सकता है जब उपाधि में भेद हो अर्थात् जब दो वस्तुओं में भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हों। किन्तु यहाँ पर वस्तु तो एकरूप ही रहती है। 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्य में अभेद की उत्पत्ति नहीं की जाती क्योंकि वह तो पहले से ही है। अभेद की सूचना ही यहाँ मिलती है। फल यह हुआ कि अभेद बतलाने के लिए इस वाक्य में लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है।]

ठीक इसी प्रकार इस (तत्त्वमसि) वाक्य में जीव और परमात्मा दोनों के बीच शरीर और आत्मा का संबन्ध है इसलिए तादात्म्य (Identity) रखना विरोध नहीं होता यही प्रतिपादित किया गया है। जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है। इसलिए वह ब्रह्म का ही एक प्रकार है, ब्रह्मात्मक है। इसके लिए वेद का

दूसरा प्रमाण भी है—जो आत्मा में रहता है, आत्मा से भिन्न दूसरी आत्मा जिस परमात्मा को नहीं जान पाती, आत्मा जिसका शरीर है (बृ० ३।७।२२)।

विशेष—यहाँ जीव और ईश्वर के बीच के भेद को बाँधने की बहुत ही सुन्दर चेष्टा हुई है। जीव को शरीर माना गया और ईश्वर उसकी आत्मा है। आत्मा और शरीर चूँकि परस्पर विरोधी शब्द हैं अतः दोनों के बीच शरीरात्म-भाव दिखाकर 'त्वम्' शब्द का अर्थ जीव के शरीर को धारण करने वाले परमात्मा के रूप में किया जाता है। 'तत् त्वम्' कहने पर कोई विरोध नहीं है—तादात्म्य दोनों में हो सकता है।

(१२. सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं)

अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। न च पर्यायत्वम्। द्वारभेदसंभवात्। तथा हि जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानीव सर्वाणि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि।

['त्वम्' शब्द से जो जीव के अन्तर्यामी परमात्मा का बोध हुआ] यह तो थोड़ा सा ही कहा गया। वास्तव में तो संसार में जितने भी [घट, पट, मनुष्य आदि] शब्द हैं, सभी परमात्मा के ही वाचक हैं। ऐसी दशा में यह बात नहीं है कि वे (शब्द) एक दूसरे के पर्याय हो जायँ क्योंकि सभी शब्दों में द्वार के भेद की संभावना है (घट-शब्द घट-पदार्थ की अभिव्यक्ति के द्वारा अपने अन्दर के परमात्मा का बोधक होगा, इस प्रकार सभी शब्द अपने निश्चित पदार्थों के द्वारा परमात्मा का बोध कराते हैं—जिस विधि से बोध होता है उसी के द्वार में अन्तर है)। जैसे देवताओं, मनुष्यों और अन्य योनियों के शरीर के अवयव उनमें निवास करने वाले जीव के शरीर के विभिन्न प्रकार (Forms) हैं, उसी प्रकार सारी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं। [मनुष्यों के शरीर के विविध अवयव उस शरीर के विभिन्न रूप हैं, उन अवयवों को हम मनुष्यात्मक कहते हैं क्योंकि सब मनुष्य के ही हैं। ब्रह्म के शरीर के विविध अवयवों के रूप में ये सारी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं अतः ये ब्रह्मात्मक हैं।]

अतः—

६. देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसाः।
पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घटः पटः॥

इत्यादयः सर्वे शब्दाः प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धा लोके, तद्वाच्यतया प्रतीयमानतत्तत्संस्थानवद्वस्तुमुखेन तदभिमानिजीवतदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्तसंघातस्य वाचकाः। देवादिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वमुक्तं तत्त्वमुक्तावल्यां चतुर्थसरे।

७. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधाना-
न्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोगः।
आत्मासंबन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्ते-
र्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे॥

(तत्त्वमुक्ताकलापः ४।८२) इति।

इसलिये, देव, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, सर्प, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, घट, पट आदि सभी शब्द प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Suffix) के जोड़ने से किसी न किसी अर्थ का बोधक होने पर लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। अपने उसी बाह्यार्थ से वे अपने-अपने शरीरावयवों को धारण करने वाली वस्तुओं का बोध कराते हैं तथा इसी प्रकार, उनका नियन्त्रण करने वाले जीव का (सजीव वस्तुओं में) तथा उसके बाद उसके अन्दर में नियामक के रूप में रहने वाले परमात्मा तक के सारे समूहों (अर्थों) का बोध भी ये शब्द ही करा देते हैं। [हमलोग शब्दों की महत्ता केवल बाह्य वस्तुओं का बोध कराने में ही समझते हैं। लेकिन शब्द न केवल बाह्यार्थ का प्रत्युत अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराने में समर्थ हैं। शब्द से वस्तु का बोध होता है, वस्तु से उसके भीतर रहने वाले जीव का, फिर जीव से परमात्मा का—इस प्रकार ये बहुत से संघात बीच में पड़ते हैं।]

देवादि शब्द परमात्मा तक का बोध करा देते हैं, यह तत्त्वमुक्तावली के चतुर्थ सर (अध्याय) में कहा गया है—'देव आदि शब्द जीव का बोध कराते हैं क्योंकि उस (जीव) से पृथक् न रहनेवाले सिद्ध-भाव (देवादि का शरीर) का उल्लेख किया जाता है। [जीव के बिना शरीर का स्वरूप नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए शरीर जीव से अपृथक् है, यह सिद्ध है।] इस अर्थ में, लोक और वेद दोनों में [देवादि शब्दों का] प्रयोग बहुत दृढ़तासे होता है, चूँकि [जीव और शरीर में] निष्कर्ष (पार्थक्य Difference) का अभाव है। [लोक में देव, मनुष्य, पशु आदि शब्दों का प्रयोग शरीर तथा जीव दोनों के लिए होता है, किसी एक के लिए नहीं। वेद में भी जहाँ-जहाँ 'देवत्वं प्राप्नोति

गच्छति' का प्रयोग है वहाँ-वहाँ 'देवत्व' का अर्थ है देवता के शरीर की विशेषता। इस प्रकार दोनों स्थानों में विशिष्ट अर्थ में ही इन शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें कारण यही है कि शरीर से शरीरी (जीव) अपृथक् रूप से सिद्ध है।]

'आत्मा से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर देव, मनुष्य आदि के शरीर (मूर्ति) की स्थिति पहले जैसी नहीं जानी जाती। [मर जाने पर शरीर क्षण भर भी पहले जैसा नहीं रहता जब कि उस शरीर में आत्मा या जीव का वास था।] यहाँ तक कि परमात्मा ने भी वस्तुओं में जीवात्मा का प्रवेश होने के कारण ही संसार में नाम (Name) और रूप (Form) की सृष्टि की।'

विशेष—वेङ्कटनाथ या वेदान्तदेशिक के लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में तत्त्वमुक्ताकलाप भी एक है। वेदान्तदेशिक का समय १२६७ से १३६८ ई० है। उक्त ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं भी एक टीका लिखी थी। इस ग्रन्थ में विशिष्टाद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन स्रग्धरा छन्दों में किया गया है। इसमें पाँच सर (लड़ी) हैं। इनमें क्रमशः जडद्रव्य, जीव, नायक, बुद्धि और अद्रव्य इन पाँच विषयों का वर्णन है। प्रस्तुत स्थल में उसी ग्रन्थ की सहायता से देव आदि शब्दों से परमात्मा तक का बोध होता है—यही बतलाया जा रहा है। कुछ श्लोकों के तो केवल संकेत ही किये गये हैं।

अनेन देवादिशब्दानां शरीरविशिष्टजीवपर्यन्तत्वं प्रतिपाद्य, 'संस्थानैक्याद्यभावे' (त० मु० क० ४।८३) इत्यादिना शरीरलक्षणं दर्शयित्वा, 'शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिः' (४।८४) इत्यादिना विश्वस्येश्वरा पृथक्सिद्धत्वमुपपाद्य, 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) इत्यादिना पद्येन सर्वेषां शब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वं प्रतिपादितं, तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अयमेवार्थः समर्थितो वेदार्थसंग्रहे नामरूपश्रुतिव्याकरणसमये रामानुजेन।

उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि देव आदि शब्दों का अर्थ शरीर से युक्त (पृथक् न रहनेवाले) जीव तक है। पुनः 'संस्थानैक्याद्यभावे' (४।८३) इससे आरम्भ होनेवाले श्लोक में शरीर का लक्षण किया गया है, पुनः 'शब्दैस्तन्वंहरूप' (४।८४) इस श्लोक में यह सिद्ध किया गया है कि विश्व ईश्वर से पृथक् सिद्ध नहीं हो सकता। अन्त में 'निष्कर्षाकूत' (४।८५) के द्वारा सभी शब्दों को परमात्मा का बोधक बतलाया गया है। ये सभी चीजें वहीं से जाननी चाहिएँ। रामानुज ने भी नाम और रूप का वर्णन करनेवाली

श्रुतियों का विश्लेषण करते समय अपने वेदार्थ-संग्रह नामक ग्रन्थ में भी यही बात पुष्ट की है।

विशेष—तत्त्वमुक्ताकलाप के उपर्युक्त संकेतों के पूरे श्लोक यों हैं—

संस्थानैक्याद्यभावे बहुषु निरुपधिर्देहशब्दस्य रूढि-
लोकाम्नायप्रयोगानुगतमिह ततो लक्ष्म निष्कर्षणीयम्।
अव्याप्तत्वादिदुःस्थं परमतपठितं लक्षणं तत्र तस्मात्-
यद्धीतुल्याश्रयं तद्वपुरिदमपृथक्सिद्धिमद् द्रव्यमस्य॥

[संसार के सभी जीवधारियों में] शरीर की रचना की एकता नहीं देखी जाती, बहुत से पदार्थों में देह शब्द का प्रयोग (रूढि = Convention) उपाधिहीन (Unconditional) ही है, यह लोक और वेद के प्रयोगों से सिद्ध है। इसलिये उसके अनुरूप ही एक लक्षण (शरीर का) निकालना चाहिये। दूसरे मतों के अनुसार दिये गये लक्षण अव्याप्ति आदि दोषों से दूषित हैं [जैसे नैयायिक लोग 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्' कहते हैं, ईश्वर के शरीर के रूप में अभिमत काल आदि में चेष्टा नहीं है अतः पूरे शरीर के अर्थ को यह लक्षण व्याप्त नहीं करता।] इसलिये शरीर का लक्षण होगा—बुद्धि का आश्रय ही जिसका आश्रय है, जो द्रव्य जिससे पृथक् होकर नहीं रह सकता, वही उसका शरीर है। [शरीर का आधार वही है जो बुद्धि का है, शरीर बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, जो जिससे पृथक् नहीं हो वही उसका शरीर है।]

शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिभिरखिलः स्थाप्यते विश्वमूर्ते-
रित्थंभावः प्रपञ्चस्तदनवगमतस्तत्पृथक्सिद्धमोहः।
श्रोत्राद्यैराश्रयेभ्यः स्फुरति खलु पृथक् शब्दगन्धादिधर्मो
जीवात्मन्यप्यहश्ये वपुरपि हि दृशा गृह्यतेऽनन्यनिष्ठम्॥

तनु[1], अंश[2], रूप[3] आदि[4] शब्दों से यह सिद्ध होता है कि इस रूप में (पृथक् न रहकर सिद्ध होनेवाला) यह समूचा संसार (प्रपंच) उस विश्वमूर्ति (विष्णु) का ही है (विष्णु से पृथक् यह जगत् सिद्ध नहीं होता)। इसे नहीं समझने के कारण मूर्ख लोग ईश्वर से जगत् को पृथक् समझने की मूर्खता (मोह) करते

१. उदाहरण—तत्सर्वं वै हरेस्तनुः (वि० पु० १।२२।३७)।

२. ममैवांशो जीवलोके (भ० गी० १५।७)।

३. द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य (वि० पु० १।२२।५३)।

४. आदि से शक्ति, काय, शरीर आदि का ग्रहण होता है—विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता (वि० पु० ६।७।६), यदम्बु वैष्णवः कायः (वि० पु० २।१२।३७), यस्यात्मा शरीरम् (बृ० उ० ३।७।२२) इत्यादि।

हैं। [ज्ञानी लोग प्रपंच को सदैव ईश्वर से अपृथक् ही सिद्ध समझ कर अपने व्यवहार चलाते हैं।] जिस प्रकार, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा, शब्द-गन्ध आदि गुणों का ग्रहण (Apprehension), अपने आश्रयों (आकाश, पृथिवी आदि) से पृथक् होकर ही होता है [क्योंकि इन्द्रियाँ आश्रय को ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः धर्मों का ज्ञान अकेला ही होता है], उसी प्रकार अदृश्य जीवात्मा में भी [ईश्वर का ग्रहण करने में असमर्थ लोग] अपनी नंगी आँखों से केवल शरीर का ग्रहण करते हैं, किसी अन्य पदार्थ (जीव) का ग्रहण नहीं कर पाते। [इन्द्रियाँ केवल गुणों का ग्रहण कर सकती हैं, उनके आधार का नहीं। केवल बाह्येन्द्रियों का सहारा लेनेवाले मूर्ख लोग भी केवल शरीर का ग्रहण कर सकते हैं, जीव से विशिष्ट (अपृथक् सिद्ध) शरीर का नहीं। आँखों से जीव के दर्शन नहीं हो सकते।]

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में संसार को परमात्मा से अपृथक् सिद्ध किया गया है। अब संसार के वाचक शब्दों का 'पार्थक्य' (निष्कर्ष) अर्थ न होने के कारण परमात्मा ही अर्थ है, यह बतलाया जा रहा है—

निष्कर्षाकृतहानौ विमतिपदपदान्यन्तरात्मानमेकं
तन्मूर्तेर्वाचकत्वादभिदधति यथा रामकृष्णादिशब्दाः।
सर्वेषामाप्तमुख्यैरगणि च वचसां शाश्वतेऽस्मिन्प्रतिष्ठा
पाकैस्तस्याप्रतीतेर्जगति तदितरैः स्याच्च भङ्क्त्वा प्रयोगः।

जहाँ [जीव और शरीर में] पार्थक्य रखने का अभिप्राय नहीं है,[1] वहाँ विवादास्पद (विमतिपद) शब्द भी एकमात्र 'अन्तरात्मा' अर्थ का ही बोध कराते हैं क्योंकि सारे शब्द उस (ईश्वर) की मूर्त्ति (Body) के ही वाचक हैं। राम, कृष्ण आदि शब्द भी ऐसे ही हैं [जिनसे परमात्मा के अर्थ का बोध होता है]। आप्त (प्रामाणिक) लोगों में प्रधानों (महर्षियों) ने इसी शाश्वत ब्रह्म में सारे शब्दों की अवस्थिति मानी है। [यह अवस्थिति वाच्यार्थ के ही रूप में है, दूसरी किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक ऐसी ही उक्ति भी है— 'नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।'] पाकों (अज्ञानियों, डिम्भों) के

---

१. कहीं-कहीं जीवात्मा और शरीर में अपृथक्-सिद्धि हो जाने पर भी पार्थक्य से प्रतिपादन होने के कारण पार्थक्य अर्थ अभीष्ट होता है जैसे—यह जीवात्मा का शरीर है। यहाँ शरीर का अर्थ जीवात्मा-पर्यन्त नहीं होगा, केवल शरीर का ही यहाँ अर्थ है। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' यहाँ भी पृथिवी शब्द इसी प्रकार का है, इससे परमात्मा तक अर्थ नहीं हो सकता। जहाँ ऐसी विवक्षा नहीं है वहाँ तो प्रत्येक शब्द परमात्मा तक का वाचक हो सकता है।

द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती, उनके साथ संसार में व्यवहार करनेवाले दूसरे (विद्वान्) लोग भी तोड़कर (लक्षणा से) शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में (लौकिक वस्तुओं के अर्थ में) करते हैं। [वाच्यार्थ तो शब्दों का परमात्मा ही है, लक्ष्यार्थ ये सारी वस्तुएँ हैं क्योंकि इसी अर्थ में जीव और शरीर की पृथक् सिद्धि होती है, गौण अर्थ (Secondary meaning) का सहारा लिया जाता है।]

(१३. निर्विशेष ब्रह्म की अप्रामाणिकता)

किं च सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। अन्यथा सविकल्पके सोऽयमिति पूर्वप्रतिपन्न-प्रकारविशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तेः।

इसके अतिरिक्त, चूँकि सभी प्रमाणों का विषय (Object) सविशेष (Determinate, रूपादि से युक्त) पदार्थ हुआ करता है इसलिए निर्विशेष (आकार-प्रकार हीन) वस्तु की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण सङ्गत नहीं हो सकता। यही नहीं, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Indeterminate Perception) में भी सविशेष (आकार-प्रकार से युक्त) ही वस्तु की प्रतीति होती है [न कि नैयायिकों के अनुसार निर्विशेष वस्तु की]। नहीं तो सविकल्पक प्रत्यक्ष (Determinate Perception) में 'यह वही है' इस वाक्य में पहले से प्रतिपादित वस्तु के आकार-प्रकार आदि की विशेषतायें नहीं जानी जा सकतीं। [जबतक हम पहले से वस्तु के आकार-प्रकार नहीं जानेंगे तो कैसे कह सकते हैं कि यह वही वस्तु है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु की विशेषतायें अवश्य ज्ञात होनी चाहिएँ।]

विशेष—रामानुज का निर्विकल्पक और सविकल्पक नैयायिकों से कुछ भिन्न है, इसीलिए वे इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख रहे हैं। नैयायिक लोग निर्विकल्पक को निष्प्रकारक ज्ञान समझते हैं जिसमें वस्तु की सत्ता ही ज्ञात रहती है जैसे—इदं किंचित्। रामानुज निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की परिभाषा यों करते हैं—एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम् अर्थात् एक प्रकार की वस्तुओं में प्रथम पिण्ड का ग्रहण करना। देवदत्त जब पहले से न देखे हुए घट को देखकर यह ज्ञान पाता है कि यह घट है (**अयं घटः**) तो यह निर्विकल्पक हुआ। यहाँ यद्यपि घटत्व के रूप में उस घट का प्रकार प्रतिभासित होता है फिर भी यह घटत्व इस प्रकार के दूसरे घटों में (एकजातीयद्रव्येषु) अनुवृत्त है—यह

अनुवृत्ति का प्रकार नहीं प्रतीत होता, इसलिए इस ज्ञान को वे निर्विकल्पक कहते हैं। जब वैसा ही दूसरा घट देखते हैं तब पहले देखे गये घट के आधार पर ही कहते हैं कि यह भी उसी जाति (Class) का है यह अनुवृत्ति ('घटत्व' की) प्रतीत होती है, इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक है जिसका उदाहरण है— **सोऽयं घटः**। नैयायिक लोग सविकल्पक का अर्थ वस्तु का प्रकार आदि लेते हैं जिसमें 'अयं रूपादिविशिष्टो घटः' कहते हैं। रामानुज का सविकल्पक नैयायिकों की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) है।

सभी प्रमाणों में सविशेष वस्तु का ही ग्रहण होता है। यदि वस्तु में रूप आदि न हों तो प्रत्यक्ष प्रमाण की तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए वस्तु और इन्द्रियों का संनिकर्ष होना आवश्यक है; जबतक वस्तु में कोई गुण नहीं, तब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होगा। दूसरे सारे प्रमाण प्रत्यक्ष के ही आधार पर होते हैं अतः उन सबों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि रामानुज शङ्कर के निर्विशेष ब्रह्म (Unqualified Brahman) का खण्डन करते हैं।

(१४. प्रपञ्च की सत्यता)

किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य बाधकम्। भ्रान्तिमूलकत्वात्, भ्रान्तिप्रयुक्तरज्जुसर्पवाक्यवत्। नापि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं निवर्तकम्। तत्र प्रमाणाभावस्य प्रागेवोपपादनात्। न च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिष्ठापनपक्ष एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाव्याकोपः।

इसके अतिरिक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को [शङ्कराचार्य की तरह] इस दृश्यमान जगत् (प्रपञ्च) का विरोधी (बाधक) नहीं समझना चाहिए। इसके मूल में भ्रान्ति (Illusion) है, जैसे भ्रम में ही प्रयुक्त होनेवाले 'रस्सी-साँप' के वाक्य में हम पाते हैं। [यह रस्सी नहीं, साँप है—यहाँ रस्सी को साँप समझना भ्रान्ति है। भ्रान्त व्यक्ति की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता है। वास्तविक रस्सी को साँप समझनेवाला व्यक्ति ही भ्रान्त है। वैसे ही यदि प्रपञ्च को भ्रान्तिमूलक मान लें तो वेदादि भी भ्रममूलक ही हो जायँगे—फिर उनकी बात पर विश्वास ही कौन करेगा ? 'तत्वमसि' वाक्य भी तो वेद के अन्तर्गत है जो स्वयं एक प्रपञ्च होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। फिर इस वाक्य के आधार पर प्रपञ्च का बाध कैसे कर सकेंगे ?]

पुनः, ब्रह्म और जीव में एकता का ज्ञान हो जाने से प्रपञ्च की निवृत्ति

(नाश) हो जाती हो, ऐसी बात नहीं, क्योंकि [ब्रह्म और आत्मा की एकता के विषय में] कोई भी प्रमाण नहीं है, यह हमने पहले ही सिद्ध कर दिया है। [अविद्या को मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है, यह कह चुके हैं। ब्रह्म और आत्मा में प्रत्यक्ष भेद है जिसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता, अतः ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं होती। यही नहीं, जब सभी प्रमाणों को सविशेषवस्तु के रूप में विषय की आवश्यकता पड़ती है, तब तो विशेष का अर्थ है एक और पदार्थ। विशेषण और विशेष्य में एकता कैसी ? अतः जीव ब्रह्म का विशेषण है, दोनों में एकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। जब एकता नहीं है तो किसी भी मूल्य पर प्रपञ्च का नाश नहीं होगा। स्मरणीय है कि शङ्कर अविद्या की निवृत्ति से जीव-ब्रह्म की एकता मानते हैं और उसके बाद प्रपञ्च की भ्रान्ति मिट जाती है जिससे पुरुष मुक्त होता है। रामानुज न तो भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च मानते हैं, न प्रपञ्च का नाश, न ब्रह्म-जीव की एकता और न ही जीवन्मुक्ति।]

अब, यदि सत्य के रूप में प्रपञ्च को प्रतिष्ठित (सिद्ध) करें तो भी 'एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान हो जायगा' इस प्रतिज्ञा में बाधा नहीं पड़ती। [शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी को सत्य नहीं मानते। प्रपञ्चमात्र को आत्मा पर आरोपित करते हैं, इसलिए प्रपञ्च के आधार के रूप में जो आत्मा है उसे जान लेने पर सारे प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१।४) में कहा गया है—**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** इसी की ओर संकेत है। रस्सी जान लेने पर 'साँप में क्या तत्त्व है', यह ज्ञात हो जाता है। सभी वस्तुओं के ज्ञान का अर्थ है सबों में विद्यमान तत्त्वांश का ज्ञान हो जाना। दूसरे अंशों में साम्य है कि नहीं, यह दिखलाना जरूरी नहीं है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत् के विवर्त का उपादान-कारण (Material cause) परमात्मा सिद्ध होता है। रामानुज केवल परमात्मा को ही सत्य नहीं मानते, संसारमात्र उनके लिए सत्य है। ऐसी अवस्था में केवल एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होगा, यह कहना बड़ा कठिन है। घट के ज्ञान से पट का ज्ञान नहीं हो जाता। तब तो रामानुज के अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की निरर्थकता ही सिद्ध हो जायगी। यही इस शङ्का का आशय है। रामानुज इसका प्रतिवाद करते हुए कारण अगले वाक्यों में देते हैं।]

प्रकृति-पुरुष-महदहंकार-तन्मात्र-भूतेन्द्रिय-चतुर्दशभुवनात्मक-ब्रह्माण्ड–तदन्तर्वर्ति–देव–तिर्यङ्–मनुष्य–स्थावरादि–सर्वप्रकार-

संस्थान-संस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारणभूतब्रह्मात्मज्ञानादेव सर्वविज्ञानं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपन्नतरत्वात्। अपि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यासत्त्वादेव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येत।

यह ब्रह्माण्ड (Universe) चौदह भुवनों (Worlds) से बना है जो प्रकृति (Primary cause), पुरुष (Self), महत् (Intellect), अहङ्कार (Self-position), तन्मात्रों (Subtle elements), भूतों (Gross elements) तथा इन्द्रियों (Organs of sense and action) के साथ-साथ है। उस (ब्रह्माण्ड) के अन्तर्गत देवता, पशु, मनुष्य, स्थावर (Immobile things) आदि सभी प्रकार के [पदार्थ अपने-अपने] संस्थानों (Organs) से युक्त होकर अवस्थित हैं। ये सब के सब कार्य के रूप में हैं फिर भी ब्रह्म ही हैं [क्योंकि ब्रह्म के शरीर से ही ये सब पदार्थ निकले हैं। मूलकारण भी ब्रह्म के शरीर से निकला है इसलिए प्रधान (पुरुष) सूक्ष्म शरीर का है, ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर का।] इसलिए कारणस्वरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान से ही सबों का ज्ञान हो जाता है। एक को अच्छी तरह जानने से सभी का ज्ञान हो जाता है, यह और भी अच्छी तरह सिद्ध हो गया। [कहने का अभिप्राय यह है कि संसार का कारण ब्रह्म सूक्ष्म शरीर में है, जब कि कार्यरूप संसार या ब्रह्माण्ड स्थूल शरीर में है। 'सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट आत्मा' के ज्ञान के द्वारा 'स्थूल शरीर से विशिष्ट आत्मा' का ज्ञान हो जाता है। यह बहुत ही सुकर है। जैसे किसी बालक को छोटे रूप में देखकर उसे ही युवावस्था में बड़े शरीर में भी जान लेते हैं कि यह वही बालक है। मिट्टी जिस प्रकार घटादि का उपादान कारण है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर का है। इसमें दृष्टान्त (मिट्टी-घट) और दार्ष्टान्तिक (सूक्ष्म शरीरादि) में एक-एक अंश को लेकर साम्य है, जब कि शङ्कर की व्याख्या में विवर्त का आश्रय लेने से उतनी समता नहीं रहती। ब्रह्म और प्रपञ्च में वह सम्बन्ध नहीं जो मिट्टी और घटादि में है। इसलिए रामानुज का सिद्धान्त और अधिक सिद्ध—उपपन्नतर—है[1]!]

---

१. यथा सोम्यैकेन० की व्याख्या रामानुज ने जैसी की है, वह श्रुति का तात्त्विक अर्थ नहीं है। अक्षरों से वैसा व्यक्त नहीं होता। वे कारण के रूप में सूक्ष्मशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं, कार्य के रूप में स्थूलशरीरविशिष्ट आत्मा लेते हैं। आत्मा को दोनों जगहों में रखने से उनका कुछ विशेष मतलब नहीं। तात्पर्य यही है कि सूक्ष्मशरीर के ज्ञान से उसके कार्य स्थूलशरीर का ज्ञान

इतना ही नहीं, यदि [शङ्कर की तरह] ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थों को मिथ्या मान लें तो सभी पदार्थों को असत् मानकर, एक के ज्ञान से सबों का ज्ञान होने की प्रतिज्ञा को छोड़ देना पड़ेगा। [ज्ञान-विज्ञान सत् (Existent) वस्तु का ही होता है, असत् का नहीं। खरहे की सींग आदि का विज्ञान सम्भव नहीं है।]

नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्। जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभाग-विभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथा-विधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते। एवं च कार्यकारणयोरनन्य-त्वमपि आरम्भणाधिकरणे प्रतिपादितमुपपन्नतरं भवति।

[जगत् को सत्य मानने से इसका विनाश सम्भव नहीं होगा और प्रलय की सिद्धि नहीं होगी। इस शङ्का का समाधान रामानुज इस प्रकार कर ते हैं—जिसमें नाम (Name) और रूप (Form) का निश्चय (विभाग) नहीं हो सके ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहनेवाला, प्रकृति-पुरुष के शरीर के रूप में अवस्थित ब्रह्म कारणावस्था में है; जब संसार अपने इसी रूप में लौट जाता है तब उसे **प्रलय** (Dissolution) कहते हैं। नाम और रूप के विभागों से मालूम होनेवाला स्थूल (Gross) चित् और अचित् वस्तुओं का शरीर (Body) लिये हुए ब्रह्म कार्यावस्था में स्थित है। जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे **सृष्टि** कहते हैं।

इसी प्रकार [व्यास ने ब्रह्मसूत्र के] आरम्भण (Origin of the world) अधिकरण में कार्य-कारण की एकता का प्रतिपादन किया है—और इससे वह एकता अच्छी तरह से सिद्ध हो जाती है।

(१५. निर्गुणवाद और नानात्वनिषेध की सिद्धि)

निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधविषयतया व्यवस्थिताः। नानात्वनिषेधवादाश्चैकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं

होता है—कार्य और कारण एक होते हैं। श्रुतिवाक्य में ऐसा निर्देश नहीं है। कारण के रूप में ज्ञान का विषय आत्मा ही है, कार्य है जगत्। तो आत्मा के ज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है, इतना ही कहना है। थिबॉट ने ठीक ही कहा है कि रामानुज ब्रह्मसूत्र के अधिक निकट हैं जब कि शङ्कर उपनिषदों के अधिक समीप हैं।

चेतनाचेतनात्मकं वस्त्विति सर्वस्यात्मतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमिति सर्वात्मकब्रह्मपृथग्भूतवस्तुसद्भावनिषेधपरत्वाभ्युपगमेन प्रतिपादिताः ।

[यदि ब्रह्म को सविशेष अर्थात् सगुण मानें तो 'निर्गुण' शब्द धारण करनेवाली श्रुतियों की क्या व्याख्या होगी ?] 'निर्गुण' का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों की यह व्यवस्था होगी कि प्राकृत (प्रकृतिसम्बन्धी Phenomenal) त्याज्य गुणों (जैसे जरा, मरण आदि) का निषेध करके ही परमात्मा का ज्ञान सम्भव है। [परमात्मा निर्गुण है = उसमें जरा, मरण आदि त्याग करने योग्य गुण नहीं हैं।]

[फिर भी, रामानुज परमेश्वर से जीवों और जड़-पदार्थों का भेद स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर श्रुतियाँ बहुत्व (Pluralism) का निषेध करती हैं—नेह नानास्ति किंचन (बृ० ४।४।१९), एकमेवाद्वितीयम् (छां० ६।२।१)। ऐसी दशा में इन श्रुतियों को क्या उत्तर देंगे ?] एक ही ब्रह्म के शरीर के रूप में उसी (ब्रह्म) के प्रकार (Type) के रूप में सारी वस्तुएँ चेतनात्मक (Sentient) और अचेतनात्मक (Unsentient) हैं, इसलिए सबों की आत्मा के रूप में, सब प्रकार से ब्रह्म (एकमात्र) ही अवस्थित है। अतः 'नानात्व' का निषेध करनेवाले श्रुतिवाक्यों का यही अर्थ दिया गया है कि सभी पदार्थों की आत्मा—ब्रह्म—से पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। ऐसे ही अर्थ से उन वाक्यों की सिद्धि होती है।

(१६. रामानुज-मत की तत्त्वमीमांसा)

किमत्र तत्त्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा ? सर्वं तत्त्वम् । तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते । एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ । चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसंकराच्च भेदः ।

रामानुज के मत से तत्त्व किस प्रकार का है—भेदात्मक, अभेदात्मक या उभयात्मक ? सभी प्रकार का तत्त्व है। सबों का शरीर बनकर, सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है, इसलिए **अभेदवाद** की उपपत्ति होती है। ब्रह्म एक ही है, नाना प्रकार के चित् और अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप से अवस्थित है—इसलिए **भेदाभेदवाद** की सिद्धि होती है। चित्, अचित् और

ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भेद (विलक्षणता Peculiarity) है, उन्हें मिलाकर नहीं रख सकते, इसलिए **भेदवाद** की भी सिद्धि होती है।

विशेष—चित् का स्वरूप है ज्ञानस्वरूप होना, इससे अचित् भिन्न है। चित् और ईश्वर में यद्यपि ज्ञानात्मकता समान है पर चित् का स्वरूप अणु है, ईश्वर का विभु—यही भेद होता है। अब तीनों पदार्थों के स्वभाव अपनी अलंकृत शैली में रामानुज उपस्थित करते हैं।

(१६. क. चित्, अचित् और ईश्वर के स्वभाव)

तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनामसंकुचितापरिच्छिन्न-निर्मल-ज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञान-संकोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुख-दुःखोपभोग-द्वयरूपा भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावाः।

अचिद्वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वमपुरुषार्थत्वं विकारा-स्पदत्वमित्यादयः।

परस्येश्वरस्य भोक्तृ-भोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छे-द्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्ति-तेजःप्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याण-गुणगणता स्वसंकल्पप्रवृत्तस्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातता स्वाभि-मतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूपनिरतिशयविविधानन्तभूषणतेत्यादयः।

(१) इनमें **चित्** के रूप में जीवात्मा हैं, वे संकोचरहित, सीमाहीन, निर्मल ज्ञान के स्वरूप हैं, अनादि कर्म रूपी अविद्या से घिरे हैं, इसलिए अपने-अपने कर्म के अनुसार ज्ञान का **संकोच** और **विकास** होना,[1] भोगने योग्य अचित् वस्तुओं के **संसर्ग** में आना, उसके गुण के अनुसार ही सुख और दुःख इन दोनों का उपभोग करने से **भोक्ता** बनना, भगवान् के **स्वरूप का ज्ञान**, भगवान् के **चरणों की प्राप्ति** आदि [उस जीवात्मा के] स्वभाव हैं।

---

१. स्मरणीय है कि स्वरूप-ज्ञान का संकोच-विकास नहीं होता, जो ज्ञान जीवात्मा में गुण के रूप में है उसी में संकोच-विकास होते हैं। अतः यहाँ इसी ज्ञान से अभिप्राय है। रामानुज कर्म को ही अविद्या मानते हैं जिससे ज्ञान का संकोच और विकास होता है।

(२) **अचित्** वस्तुएँ भोग्य (भोग करने के योग्य Enjoyable) हैं, इनके स्वभाव (Nature) हैं—**अचेतन** होना, पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति न करना (**अपुरुषार्थ**), **विकार** प्राप्त करना इत्यादि ।

(३) **परमेश्वर** के स्वभाव हैं—भोक्ता (जीव) और भोग्य (जड़) दोनों के आन्तरिक **नियन्ता** (Internal controller) के रूप में अवस्थित रहना, असीम (अपरिच्छेद्य) ज्ञान, ऐश्वर्य (Dominion), वीर्य (Majesty) शक्ति (Power), तेज (Brilliance) इत्यादि अनन्त **अतिशयों** (Glory) से युक्त तथा असंख्य कल्याणकारी **गुणों का समूह** होना, अपने संकल्प (इच्छा) से ही प्रवृत्त होकर अपने से भिन्न सारी चित् और अचित् वस्तुओं को **उत्पन्न करना**, अपने अभीष्ट तथा अपने अनुरूप, एक रूप से तथा दिव्य रूप से [युक्त होकर] निरतिशय (जिसे कोई पार न करसके Unsurpassable) विविध और अनन्त **भूषणों** (विशेषणों) **को धारण करना** इत्यादि ।

विशेष—ईश्वर के अतिशयों में ज्ञान वह गुण है जो सदा सभी विषयों का प्रकाशन करते हुए अपना प्रकाशन भी करता है। **ऐश्वर्य** = स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना, सभी जीवों और जड़ों पर नियंत्रण की सामर्थ्य रखना। **वीर्य** = संसार का उपादान कारण होने पर भी विकृति न होना। **शक्ति** = संसार का मूल कारण होना, न घटी हुई घटना उत्पन्न करना। **तेज** = सहकारियों (Subordinates) की आवश्यकता न होना, दूसरों से अभिभूत (Controlled) नहीं होना। इस प्रकार सभी पदार्थों की विशेषताएँ (Characteristics) बतलाई गई। अब वेंकटनाथ के तत्त्वमुक्ताकलाप के आधार पर पदार्थों का वर्णन होगा।

वेङ्कटनाथेन त्वित्थं निरटङ्कि पदार्थविभागः—

८. द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदा-
न्नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह ,जडामादिमां केचिदाहुः ॥

(त० मु० १।६)

९. तत्र द्रव्यं दशावत्प्रकृतिरिह गुणैः सत्त्वपूर्वैरुपेता
कालोऽब्दाद्याकृतिः स्यादणुरवगतिमाञ्जीव ईशोऽन्य आत्मा ।

संप्रोक्ता नित्यभूतिस्त्रिगुणसमधिका सत्त्वयुक्ता तथैव
ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिरिति कथितं संग्रहाद् द्रव्यलक्ष्म ॥
(त० मु० १।७) इत्यादिना ।

वेंकटनाथ ने पदार्थों का विभाजन इस रूप में वर्णित किया है—'द्रव्य और अद्रव्य के भेद से दो प्रकार का तत्त्व जाना जाता है—उसके ज्ञाता लोग ऐसा कहते हैं। द्रव्य भी दो प्रकार का है—**जड़** और **अजड़**। उनमें पहला (जड़) भी दो भेदों का है—**अव्यक्त** (प्रकृति और जगत् दोनों) तथा **काल**। दूसरा (अजड़) भी दो भेदों का है—निकट (**प्रत्यक्**) और दूर (**पराक्**) [अपने लिए प्रकाशित होनेवाला प्रत्यक् है, दूसरों के लिए प्रकाशित अजड़ पराक् है।] इनमें भी प्रथम (प्रत्यक्) **जीव** और **ईश्वर** के भेद से दो प्रकार का है। दूसरे (पराक्) के भी दो भेद हैं—**नित्यविभूति** तथा **मति**। पहली (नित्यविभूति) को कुछ विद्वान् 'जड़ा' भी कहते हैं' (तत्त्वमुक्ताकलाप १।६)।

'उनमें द्रव्य अवस्था धारण करता है (यह द्रव्य का लक्षण हुआ—विभिन्न अवस्थाओं में द्रव्य ही परिवर्तित होता है)। सत्त्व आदि (रजस्, तमस्) गुणों से युक्त इसकी प्रकृति (मूल अवस्था) है। अब्द (वर्ष) आदि के आकार (रूप) में **काल** है। **जीव** अणु तथा ज्ञान (अवगति) से युक्त है, दूसरी आत्मा (चेतन स्वरूप) को **ईश्वर** कहते हैं। **नित्य विभूति** (Eternal Bliss) उसे कहा गया है जो तीन गुणों से परे हो तथा सत्त्व गुण से युक्त हो। ज्ञाता (जीव + ईश्वर) को जो ज्ञेय (जानने के लायक) वस्तु का अवभास (विषय का प्रकाश) मिलता है, उसे **मति** कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप में द्रव्य का लक्षण कहा गया है।' (त० मु० क० १।७)।

विशेष—इन भेदों के स्पष्टीकरण के लिए हम चित्रांकन (Figure) करें—

- तत्त्व
  - द्रव्य
    - जड़
      - अव्यक्त
      - काल
    - अजड़
      - प्रत्यक्
        - जीव
        - ईश्वर
      - पराक्
        - नित्यविभूति (जड़ा)
        - मति
  - अद्रव्य (Non-Substance)

पहले श्लोक में द्रव्य का विभाजन है, दूसरे में उनके लक्षण हैं। द्रव्य का सामान्य लक्षण है 'दशा में रहना' अवस्थाश्रयीभूतं द्रव्यम् (जो अवस्था का आश्रय या आधार हो)।

(१६. ख. जीव का वर्णन)

तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मानः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च । तथा च श्रुतिः—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१, श्वे० ४।६) इत्यादिका । अत एवोक्तं 'नानात्मानो व्यवस्थातः' (वैशे० सू० ३।२।२०) इति तन्नित्यत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

१०. न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता २।२०) इति ।

इनमें 'चित्' शब्द से ज्ञात जीवात्मा (Individual spirits) परमात्मा से भिन्न हैं और नित्य हैं । श्रुति भी ऐसा कहती है—'दो पक्षी जो साथ रहते हैं और मित्र हैं……' (मुण्डकोप० ३।१।१ तथा श्वेताश्वतरोप० ४।६) इत्यादि । इसीलिए [कणाद ने भी वैशेषिक-सूत्र में] कहा है—'विभिन्न अवस्थाओं (Conditions) में रहने के कारण आत्मा नाना प्रकार की है ।' (३।२।२०) । उस (जीवात्मा, की नित्यता भी श्रुतियों में प्रसिद्ध है—'यह ज्ञानी आत्मा न तो उत्पन्न होती है, न मरती है; न यह उत्पन्न ही हुई थी और अब उत्पन्न होगी भी नहीं । यह अज (न जन्म लेनेवाली), नित्य (न मरनेवाली), शाश्वत (जो कहीं से नहीं निकली—नायं कुतश्चित्) तथा पुरानी (कभी उत्पन्न जो नहीं हुई—न बभूव कश्चित्) है; शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मारी जाती' (गी० २।२०, तथा कुछ परिवर्तनों के साथ—नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्—कठो० २।१८) ।

विशेष—'द्वा सुपर्णा' का श्लोक सांख्य-दर्शन का मूल है तथा भारतीय-दर्शनों में महावाक्य के रूप में उद्धृत किया गया है । सुनते हैं कि नील-घाटी की खुदाई में इस श्लोक के भाव का एक चित्र भी प्राप्त हुआ है । पूरा श्लोक इस रूप में है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

प्रथम चार पदों में 'सुपां सुलुक्०' (पा० सू० ७।१।३९) से औ के स्थान

में डा (आ) हो गया है। द्वौ सुपर्णौ = जीव और ईश्वर, सुपर्ण का अर्थ पक्षी होता है जिसके सादृश्य के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है। सयुजौ = समान गुणवाले, सखायौ = पाप नष्ट करना आदि गुणों के कारण ये आपस में समान हैं। वृक्ष = शरीर, क्योंकि वह भी वृक्ष के समान काटा जाता है। ये दोनों जीव और ईश्वर रूपी वृक्ष पर आश्रित हैं। उनमें एक (जीव) सुस्वादु पीपल का फल खाता है (कर्मफल का भोग करता है), दूसरा (ईश्वर) बिना खाये हुए (कर्मफल से असंपृक्त होकर) ही देखता है (प्रकाशित होता है)। यहाँ वास्तविक विषय को निगलकर (दबाकर) सुवर्ण, वृक्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु अर्थ में उन्हें ही हटाना पड़ेगा—यह बहुत सुन्दर रूपकातिशयोक्ति है। इसकी ही व्याख्या भागवत में यों की गई है—

सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं स पिप्पलादो न तु पिप्पलादः॥
(११।११।६)।

श्लोक का भाव बहुत पुराना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'नानात्मानो व्यवस्थातः' का भाव है कि संसार में किसी को सुख मिलता है, किसी को दुःख, कोई बन्धन में है तो कोई मुक्त—इस प्रकार की व्यवस्थायें (विभिन्न अवस्थायें) प्राप्त होती हैं। इसीलिए जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं, जीव एक नहीं है। तत्त्वावली में कहा है—

कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविधः पुनः।
अनयैवात्मनानात्वं सिध्यत्यत्र व्यवस्थया॥ (तत्त्वा० ९०)।

इस प्रकार जीवात्मा को **परमेश्वर से भिन्न, नाना प्रकार का** तथा **नित्य** माना गया है।

अपरथा कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अत एवोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या० सू० ३।१।२५) इति। तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

११. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
(श्वे० ५।९) इति।

'आराग्रमात्रः पुरुषः' (श्वे० ५।८), 'अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इति च।

यदि जीव को नित्य नहीं मानें (और जीव की उत्पत्ति और विनाश शरीर के साथ-साथ मानें) तो किये गये कर्म का नाश तथा नहीं किये गये कर्म के फल की प्राप्ति का संयोग हो जायगा। [कर्म करने के बाद शरीर के साथ ही जीव मर जायगा, फिर कर्म का तो नाश ही हो जायगा—चार्वाक-मत की सिद्धि होगी। जन्मान्तर का तो अभाव ही होगा, लेकिन जन्म लेते ही व्यक्ति को सुख, दुःख का फल मिलने लगता है। यह तो बिना किये कर्म का ही फल है। यदि इन बातों को स्वाभाविक मानते हैं तो चार्वाक का चेला बनें]

इसीलिए [गौतम ने न्यायसूत्र में] कहा है कि राग (Desire) से रहित व्यक्ति का जन्म नहीं होता (न्यायसूत्र ३।१।२५)। [इससे अनुमान लगता है राग से अनुबद्ध होकर ही प्राणी जन्म लेता है। राग तभी उत्पन्न होता है जब पहले से अनुभव किये गये विषयों का अनुचिन्तन किया जाय। पूर्वानुभव तभी हो सकता है जब दूसरे जन्म में विषयों का संसर्ग शरीर धारण करके किया गया हो। वही जीव पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता है तथा उनकी इच्छा करता है। यही दो जन्मों की प्रतिसन्धि है। इस शरीर में पहले शरीर से, उसमें भी उसके पहले के शरीर से—इस प्रकार अनादि काल से चेतन आत्मा का सम्बन्ध शरीर से रहा है। इसलिए जीव की नित्यता सिद्ध होती है।]

जीव का अणु होना भी श्रुतिवाक्यों में प्रसिद्ध है—'यदि केश के अग्रभाग का सौवाँ भाग भी सौ भाग में बँटा हुआ माना जाय तो इस छोटे भाग की तरह ही जीव (अणु) है, यह जीव ही मोक्ष की प्राप्ति (आनन्त्य Infinity) में समर्थ है' (श्वे० ५।९)। इसके अतिरिक्त भी कहा है—'पुरुष अरा (Spoke of a wheel) के अन्तिम खण्ड के आकार का है' (श्वे० ५।८), 'आत्मा अणु है, इसे चित्त (बुद्धि) से ही समझ सकते हैं' (मु० ३।१।९)।

(१६. ग, अचित् का निरूपण)

अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण-भोगायतनभेदात् ।

'अचित्' शब्द से सामने दिखलाई पड़नेवाले जड़ जगत् का बोध होता है जिसके तीन भेद हैं—भोग्य (विषय, जैसे शब्द आदि), भोग का उपकरण (साधन, जैसे इन्द्रियाँ) और भोग का आयतन (स्थान, जैसे शरीर)। [अचित् से रामानुज समूचे संसार का अर्थ लेते हैं जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ और दृश्य पदार्थ, तीनों चले आते हैं।]

(१७. ईश्वर का निरूपण—उनकी पाँच मूर्तियाँ)

तस्य जगतः कर्तोपादानं चेश्वरपदार्थः पुरुषोत्तमो वासुदेवादिपदवेदनीयः। तदप्युक्तम्—

१२. वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः॥ इति।

स एव वासुदेवः परमकारुणिको भक्तवत्सलः परमपुरुषस्तदुपासकानुगुणतत्तत्फलप्रदानाय स्वलीलावशादर्चा-विभव-व्यूह-सूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते।

उस [स्थूल] जगत् का रचयिता और उपादान कारण (Material cause) भी [प्रकृति के रूप में सूक्ष्मशरीरधारी] पुरुषोत्तम (परमात्मा) है जो ईश्वर शब्द का अर्थ है तथा जिसे वासुदेव आदि शब्दों के द्वारा जानते हैं। यह भी कहा गया है—'कल्याणकारी गुणों से भरे हुए वासुदेव ही परमब्रह्म (Supreme Absolute) हैं, वे भुवनों के उपादान कारण हैं, निर्माता हैं तथा जीवों के नियामक (Controller) हैं।'

वे ही वासुदेव सबसे अधिक दयालु, भक्तों से वातसल्य-प्रेम रखनेवाले तथा सर्वोच्च पुरुष हैं, अपने उपासकों के गुण के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए, अपनी लीला दिखलाते हुए वे अर्चा (Adoration), विभव (Emanation), व्यूह (Manifestation), सूक्ष्म (The Subtile) तथा अन्तर्यामी (Internal controller)—इन भेदों के कारण पाँच रूप में अवस्थित रहते हैं।

तत्रार्चा नाम प्रतिमादयः। रामाद्यवतारो विभवः। व्यूहश्चतुर्विधो वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञकः। सूक्ष्मं संपूर्णषड्गुणं वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म। गुणा अपहतपाप्मत्वादयः। 'सोऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।३) इति श्रुतेः। अन्तर्यामी सकलजीवनियामकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (बृ० मा० ३।७।२२) इति श्रुतेः।

(१) **अर्चा**—प्रतिमा आदि को कहते हैं। [घर में या देव-मन्दिर में, चौराहे पर या खेत में देवता के रूप में पूजित-प्रतिष्ठित पत्थर, धातु आदि की

मूर्तियों को अर्चा कहते हैं। यह भी ईश्वर का ही एक रूप है। इन प्रतिमाओं को सूक्ष्म और दिव्यशरीरयुक्त परमात्मा अपना शरीर बना लेता है। यहाँ ईश्वर अर्चक के अधीन स्नान, भोजन, आसन, शयन आदि भी करता है, यह सर्वसहिष्णु है। कहीं-कहीं अर्चायें स्वयं प्रकट होती हैं, कहीं देवताओं, मनुष्यों या सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित होती हैं।]

(२) **विभव**—राम आदि के रूप में अवतार को कहते हैं। [विभव दो तरह का होता है मुख्य और गौण। मुख्य विभव वह है जब परमात्मा स्वेच्छा से विशेष भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए साक्षात् प्रकट होते हैं। गौण विभव में आवेश के रूप में अवतार होता है। जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य सिद्ध करने के लिए परमात्मा अपने रूप से या शक्ति से प्रविष्ट हो जाता है। परशुराम आदि में स्वरूप से ही आवेश (Entrance) होता है। शक्ति के द्वारा आवेश विधि, शिव आदि चेतन रूपों में होता है। मत्स्य, कूर्म आदि दस अवतार विभव ही हैं। मुख्य विभवों की उपासना मोक्ष चाहनेवालों को करनी चाहिए क्योंकि ये विभव दीप से जले दीप की तरह हैं। विधि, शिव, अग्नि, परशुराम, व्यास आदि गौण विभवों की पूजा भोगेच्छु लोग ही करें।]

(३) **व्यूह**—चार प्रकार का है, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। [उपासना करने के लिए तथा संसार की सृष्टि आदि के लिए परमात्मा ही चार प्रकारों से अवस्थित है। वासुदेव ज्ञान, ऐश्वर्य आदि उपयुक्त छह गुणों से पूर्ण हैं। ज्ञान और बल से युक्त संकर्षण होते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त हैं और अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज है (दे० अनु० १६ क.)। स्मरणीय है कि संकर्षणादि में अपने दो गुणों के अतिरिक्त भी चारों गुण रहते है पर वे अप्रकाशित हैं—दो गुण व्यक्त (Patent) रहते हैं। संकर्षण का कार्य है—शास्त्र का प्रवर्तन करना और संहार। प्रद्युम्न धर्मप्रचार और सृष्टि करते हैं, अनिरुद्ध तत्त्वनिरूपण और रक्षण के अधिकारी हैं। कभी-कभी आद्य व्यूह (श्रीवासुदेव) में छहों गुण देखकर दूसरे व्यूहों से अभेद बतलाकर तीन व्यूहों का ही प्रतिपादन किया जाता है।]

(४) **सूक्ष्म**—छहों गुणों से परिपूर्ण वासुदेव नाम के परमब्रह्म को कहते हैं। गुणों से अभिप्राय है, जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, इत्यादि। श्रुतिवाक्य भी है—'वह (परमात्मा) पापरहित, जराहीन, मृत्युहीन, शोकहीन, भूख से रहित तथा प्यास से रहित है, सत्य ही उसकी कामना है और सत्य ही सङ्कल्प (Resolution) भी है' (छा० ८।७।३)। [सूक्ष्म रूप में अवस्थित परमात्मा नारायण हैं, वैकुण्ठ पुरी के निवासी हैं, दिव्यालय में महामणिमण्डप

से युक्त सिंहासन में शेषनाग को पलङ्ग बनाकर बैठते हैं, दिव्य, कल्याणकारी विग्रह (शरीर) धारण करते हैं, लक्ष्मी के साथ हैं, चतुर्भुज होकर शङ्ख, चक्रादि दिव्य आयुधों से भरे हुए, अनन्त गरुडादि के द्वारा उपास्य हैं। मुक्त लोग इन्हें प्राप्त करते हैं।]

(५) अन्तर्यामी—ये सभी जीवों का नियमन (Control) करते हैं। वेदवाक्य भी है—'जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियन्त्रित करता है' (बृ० मा० ३।७।२२) [जीवात्मा के हृदय में मित्र के रूप में अवस्थित परमात्मा ही अन्तर्यामी है। योगी लोग इसे देख पाते हैं। यद्यपि यह जीव के साथ है पर जीव के दोषों से बचा रहता है। यही अन्तःकरण या घट-घट का अन्तर्यामी परमात्मा है जो सभी मनुष्यों को अच्छे-बुरे काम में प्रवृत्त और निवृत्त करता है।]

तत्र पूर्वपूर्वमूर्त्युपासनया पुरुषार्थपरिपन्थिदुरितनिचयक्षये सत्युत्तरोत्तरमूर्त्युपास्त्यधिकारः। तदुक्तम्—

१३. वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम्।
अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु॥
१४. तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्चमूर्तीः करोति वै।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः॥

इनमें हरेक पहली मूर्ति की उपासना से पुरुषार्थ में बाधा पहुँचानेवाले पापों के समूह का विनाश हो जाता है, और तब भक्त को हर दूसरी मूर्त्ति की उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। [अर्चा के बाद ही विभव की उपासना हो सकती है और तब ही व्यूह की—इसी क्रम से उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। एक-एक मूर्त्ति की उपासना से कुछ-न-कुछ पाप कट ही जाते हैं।]

यही कहा है—'अपने भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखने के कारण, वासुदेव, अपने प्रत्येक भक्त की कामनाओं की पूर्त्ति, अधिकारियों के गुण के आग्रह से, करते हैं और बहुत फल देते हैं ॥ १३ ॥ इसीलिए लीला दिखाते हुए वे अपनी पाँच मूर्तियाँ रखते हैं—प्रतिमादि को **अर्चा** कहते हैं, अवतार **विभव** से सम्बद्ध हैं ॥ १४ ॥

१५. संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं सम्पूर्णषड्गुणम्॥

१६. तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निगद्यते ।
अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीवप्रेरक ईरितः ॥
१७. य आत्मनीति वेदान्तवाक्यजालैर्निरूपितः ।
अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्मषेऽधिकृतो भवेत् ॥
१८. विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्तौ ततः परम् ।
सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम् ॥ इति ।

'संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस प्रकार व्यूह चार प्रकार का समझें । छहों गुणों से परिपूर्ण (मूर्ति) को **सूक्ष्म** कहते हैं, इसे ही वासुदेव नामक परब्रह्म कहते हैं। **अन्तर्यामी** जीव में स्थित जीव के प्रेरक के रूप में समझा जाता है ॥ १५-१६ ॥ 'जो आत्मा में···' इस प्रकार के वेदान्त (उपनिषद्)—वाक्यों के समूह से वह निरूपित होता है । अर्चा की उपासना करने से पाप के नष्ट हो जाने पर, भक्त, विभव की उपासना का अधिकार पाता है । बाद में व्यूह की उपासना में अधिकृत होता है, तब सूक्ष्म की उपासना में । उसके बाद ही भक्त अन्तर्यामी को देखने की शक्ति पा सकता है ॥ १७-१८ ॥'

(१८. उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति)

तदुपासनं च पञ्चविधमभिगमनमुपादानमिज्या स्वाध्यायो योग इति श्रीपञ्चरात्रेऽभिहितम् । तत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्गस्य संमार्जनोपलेपनादि । उपादानं गन्धपुष्पादिपूजासाधनसंपादनम् । इज्या नाम देवतापूजनम् । स्वाध्यायो नाम अर्थानुसंधानपूर्वको मन्त्रजपो वैष्णवसूक्तस्तोत्रपाठो नामसंकीर्त्तनं तत्त्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च । योगो नाम देवतानुसंधानम् ।

उस (ईश्वर) की उपासना पाँच प्रकार की होती है—अभिगमन (Access), उपादान (Preparation), इज्या (Oblation), स्वाध्याय (Recitation) और योग (Devotion), ऐसा श्रीपंचरात्र नामक ग्रन्थ (लेखक अज्ञात, प्राचीन ग्रन्थ) में लिखा है ।

देव मन्दिर के रास्ते को साफ करना, लीपना आदि **अभिगमन** है । गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना **उपादान** है ! देवता की पूजा करना **इज्या** है । अर्थ पर ध्यान रखते हुए मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों और स्तोत्रों का पाठ करना, नाम का कीर्त्तन करना तथा तत्त्व का प्रतिपादन

करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना **स्वाध्याय** कहलाता है। देवता का ध्यान करना **योग** है।

एवमुपासनाकर्मसमुच्चितेन विज्ञानेन द्रष्टृदर्शने नष्टे भगवद्भक्तस्य तन्निष्ठस्य भक्तवत्सलः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमः स्वयाथात्म्यानुभवानुगुणनिरवधिकानन्दरूपं पुनरावृत्तिरहितं स्वपदं प्रयच्छति। तथा च स्मृतिः—

१९. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(गी० ८।१५) इति।

२०. स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम्।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति॥ इति च।

इस प्रकार उपासनारूपी कर्म से परिपूर्ण [अन्तर्यामी के] ज्ञान से जब जीव (द्रष्टा) का अपने कर्मों को देखना समाप्त हो जाता है, तब ईश्वर में निष्ठा रखने वाले भगवान् के भक्त को, भक्तवत्सल, परम दयालु पुरुषोत्तम अपना वह पद देते हैं जिसमें ईश्वर के यथार्थ रूप का अनुभव करने के अनुरूप अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ से फिर आवृत्ति (Return) नहीं होती है। स्मृतियों में ऐसी ही बात है—'मुझे पाकर महातमा लोग पुनर्जन्म-रूपी अस्थिर दुःख-भाण्डार में प्रवेश नहीं करते हैं, वे सबसे ऊँची सिद्धि पा लेते हैं (गीता ८।१५)।' इसी प्रकार—'वासुदेव भी अपने भक्त को पाकर अक्षय-आनन्द के रूप में अपना स्थान प्रदान करते हैं जहाँ से फिर लौट कर आना नहीं है।'

विशेष—यह स्वाभाविक है कि जीव अपने आप को देखता है, उसकी यह दृष्टि बन्द हो जाती है। जीव का अपने रूप को देखना मोक्ष का प्रतिबन्धक है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।४।२) में कहा है—**न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः** अर्थात् दृष्टि करने वाले को मत देखो। जीव को अपने रूप को देखना नहीं चाहिए। फिर 'आत्मानं विद्धि' (अपने को पहचानो) का कैसे अर्थ होगा? यह स्मरण रखना है कि दर्शन करने वाला (द्रष्टा) जीव है जब कि दर्शन किया जाने वाला (द्रष्टव्य) परमात्मा है जो जीव के अन्तर में निवास करता है। 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' में जीव का अपने रूप से पृथक् अन्तरात्मा को देखने आदि का विधान है। जीव इन्द्रियों के अधीन दर्शन-शक्ति प्राप्त करते हैं उन जीवों को देखना नहीं चाहिएं, प्रत्युत उनके अन्तर्गत विराजमान, विभु, अन्तर्यामी परमात्मा

को देखें। स्वान्तरात्मा को देखें, जीव को नहीं क्योंकि यह तो साँस लेता है। इसलिए 'द्रष्टृदर्शने नष्टे' का अर्थ है कि जब जीव अपने आप को या अपने कर्मों को देखना बन्द कर देता है, उसकी यह स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है तब भगवान् अपने धाम में उसे प्रविष्ट कराते हैं।

(१९. ब्रह्मसूत्र की व्याख्या—प्रथम सूत्र)

तदेतत्सर्वं हृदि निधाय महोपनिषन्मतावलम्बनेन भगवद्बोधायनाचार्यकृतां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं विस्तीर्णामालक्ष्य रामानुजः शारीरकमीमांसाभाष्यमकार्षीत्। तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः—अत्राथशब्दः पूर्ववृत्तकर्माधिगमनानन्तर्यार्थः। तदुक्तं वृत्तिकारेण—वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्म विविदिषतीति।

तो उपर्युक्त सारी बातों को हृदय में बैठाकर, बड़ी-बड़ी (मुख्य) उपनिषदों के मतों का आश्रय लेते हुए, भगवान् बोधायनाचार्य की लिखी हुई ब्रह्मसूत्र की वृत्ति को बहुत विशालकाय देखकर रामानुज ने शारीरक-मीमांसा के ऊपर भाष्य (श्रीभाष्य) लिखा।

इसमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'अथ' का अर्थ है, अभी तक जिन कर्मों का वर्णन [मीमांसासूत्र में] किया गया है उनको समझ लेने के बाद। वृत्तिकार ने कहा ही है—'अभी तक वर्णित कर्मों को समझने के बाद ही ब्रह्म को जानना चाहता है।'

विशेष—रामानुज के श्रीभाष्य लिखने के पूर्व भी विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त था। विशेषकर विष्णुपुराण पर ही यह सम्प्रदाय अवलम्बित था जिसकी साम्प्रदायिक टीका श्रीनाथमुनि ने की थी। बोधायन और टंकाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की वृत्तियाँ लिखीं तथा द्रमिडाचार्य ने भाष्य लिखा था। रामानुज ने इन मतों का मन्थन करके एक सुन्दर रीति से सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, यही उनका अवदान है। रामानुज का समय है १०१९ से ११३९ ई० जब कि ईसा के पूर्व से ही महाभारत, पञ्चरात्र आदि ग्रन्थों से यह सम्प्रदाय पुष्पित-पल्लवित हो रहा था।

'अथ' (इसके बाद) अपने साथ कुछ आकांक्षा रखता है कि किसके बाद? दो मीमांसाओं के बीच में इसका प्रयोग बतलाता है कि ब्रह्म की जिज्ञासा कर्मों की मीमांसा के अनन्तर ही होती है।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। अधीतसाङ्गवेदस्याधिगततदर्थस्य

विनश्वरफलात्कर्मणो विरक्तत्वाद् हेतोः स्थिरमोक्षाभिलाषुकस्य तदुपायभूतब्रह्मजिज्ञासा भवति। ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्तसमस्तदोषानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते।

एवं च कर्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य च वैराग्योत्पादनद्वारा चित्तकल्मषापनयद्वारा च ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन तयोः कार्यकारणत्वेन पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्। अत एव वृत्तिकाराः—'एकमेवेदं शास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इत्याहुः।

'अतः' (इसलिए) का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। अर्थ होगा—जो व्यक्ति अङ्गों के साथ वेदों को पढ़ चुका है, वह नश्वर फल रखने वाले कर्मों के सम्पादन से विरक्त हो जाता है; यही कारण है कि स्थिर (अनश्वर) मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है क्योंकि यही उस (मोक्षप्राप्ति) का उपाय है। यह स्वाभाविक है कि 'ब्रह्म' शब्द से उस पुरुषोत्तम का बोध हो जो सारे दोषों से रहित है, अवधिहीन (unlimited) विशेषताओं से युक्त है तथा असंख्य कल्याणकारी गुणों से भरा है।

इस प्रकार कर्मों का ज्ञान और उनके अनुष्ठान [मन में कर्मों की ओर से] वैराग्य उत्पन्न कर देते हैं तथा मन के सारे पापों का भी नाश कर देते हैं। इसलिए ब्रह्मज्ञान के लिए ये साधनस्वरूप हैं। फल यह हुआ कि कार्य (ब्रह्मज्ञान) और कारण (कर्म और अनुष्ठान) के रूप में इन दोनों पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा में एकशास्त्रता (संगति Continuity) सिद्ध हो जाती है। [दोनों का नाम मीमांसा ही है, एक पूर्व है, दूसरी उत्तर—इससे भी दोनों की एकशास्त्रता जानी जाती है।] इसीलिए वृत्ति के रचयिता (बोधायन) का कहना है कि षोडश अध्यायों (जैमिनि के १२ अध्याय तथा संकर्षकाण्ड के चार अध्याय १६ अध्याय) में लिखे गये जैमिनि-रचित मीमांसासूत्र से यह शास्त्र एक (मिला हुआ, एक = संयुक्त is one with) है।

(१९ क. कर्म के साथ ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है)

कर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य चाक्षयित्वं 'परीक्ष्य लोकात्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२) इत्यादिश्रुतिभिरनुमानार्थापत्त्युपबृंहिताभिः प्रत्य-

पादि। एकैकनिन्दया कर्मविशिष्टस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं दर्शयति श्रुतिः—

२१. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(बृ० ४।४।१० तथा ई० ९)

२२. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(ई० ११) इत्यादि।

'कर्म से प्राप्त (स्वर्गादि) लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य प्राप्त कर ले क्योंकि अकृत (नित्य Inartificial, genuine, परमात्मा) की प्राप्ति कृत (कर्म) से नहीं होती' (मुण्डक० १।२।१२) इस प्रकार की श्रुतियों की महत्ता अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों से और भी बढ़ाकर इनके द्वारा कर्मों के फल को नश्वर और ब्रह्मज्ञान के फल को अक्षय दिखलाया गया है।

एक-एक की (केवल कर्म की या केवल ज्ञान की) निन्दा करके कर्म से विशिष्ट (युक्त) ज्ञान को ही श्रुति मोक्ष का साधन बतलाती है—'जो अविद्या (ज्ञान से भिन्न, केवल कर्म) की उपासना करते हैं वे लोग घनघोर अन्धकार (नरक) में प्रवेश करते हैं। जो केवल विद्या (ज्ञान) में रत हैं वे तो और भी घने अन्धकार में पड़ते हैं।' (बृ० ४।४।१०, ई० ९)। 'विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म) दोनों को साथ-साथ जो व्यक्ति जानता है वह अविद्या से मृत्यु (ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबन्धक, पुण्य-पापरूपी प्राक्तन कर्म) को पारकर विद्या (परमात्मा की उपासना) से अमृत (मोक्ष) प्राप्त करता है' (ई० ११)।

विशेष—कर्मफल की नश्वरता तथा ब्रह्मज्ञान के फल की स्थिरता का प्रतिपादन करनेवाली अन्य श्रुतियाँ हैं—तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (छा० ८।१।६); अन्तवदेवास्य तद्भवति (बृ० ३।८।१०), न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः (का० २।१०)। इस विषय में अनुमान इस प्रकार होगा—(१) कर्मफल नश्वर है, क्योंकि यह उत्पन्न होता है (हेतु) जैसे घटादि (उदाहरण)। (२) ब्रह्मज्ञान का फल अविनाशी है, क्योंकि यह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा। अर्थापत्ति प्रमाण से भी यह सिद्ध होगा—शुक, वामदेव आदि ने अपने कर्मों का त्याग किया था, यदि हम कर्मफल की नश्वरता नहीं मानें तो उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। २१वें श्लोक में

केवल कर्म या केवल ब्रह्मज्ञान की निन्दा की गई है, २२वें में दोनों का अंगांगि-सम्बन्ध दिखलाया गया है।

तदुक्तं पाञ्चरात्ररहस्ये—

२३. स एव करुणासिन्धुर्भगवान्भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥

२४. तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥

२५. पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥

२६. एवं ह्यहरहः श्रौतस्मार्तधर्मानुसारतः।
उक्तोपासनया पुंसां वासुदेवः प्रसीदति॥

पाञ्चरात्ररहस्य में कहा है—'वे ही भगवान् जो दया के समुद्र तथा भक्तों पर वात्सल्य-प्रेम रखनेवाले हैं, उपासकों या भक्तों के आग्रह से पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण करते हैं ॥ २३ ॥ वे हैं, अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी, जिनका आश्रय लेकर जीवों का समूह क्रमशः ज्ञान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥ मनुष्य के पाप उक्त मूर्तियों में हर पहली मूर्ति की उपासना से नष्ट होते जाते हैं और भक्त उधर हर दूसरी मूर्ति की उपासना का अधिकारी बनते जाता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों में कहे गये धर्मों (कर्तव्यों) के अनुसार उपर्युक्त [मूर्तियों की] उपासना से मानवों पर वासुदेव भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥

२७. प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया।
अविद्यां कर्मसङ्घातरूपां सद्यो निवर्तयेत्॥

२८. ततः स्वाभाविकाः पुंसां ते संसारतिरोहिताः।
आविर्भवन्ति कल्याणाः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः॥

२९. एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते॥

३०. मुक्तास्तु शेषिणि ब्रह्मण्यशेषे शेषरूपिणः।
सर्वानश्नुवते कामान्सह तेन विपश्चिता॥ इति।

'निदिध्यासन (ध्यान Meditation) के रूप में भक्ति रखने पर हरि प्रसन्न हो जाते हैं तथा कर्मों के समूह के रूप में जो अविद्या है उसे तुरत नष्ट कर देते हैं। २७॥ उसके बाद संसार (आवागमन) को नष्ट कर देने वाले कल्याणकारी सर्वज्ञत्व आदि गुण प्रकट होते हैं जो मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से हैं॥ २८॥ इस प्रकार मुक्तों और ईश्वर के सारे गुण समान हो जाते हैं, केवल एक गुण ईश्वर में विशेष है—सबों का निर्माण करना (नियमन करना भी इसी में है)॥ २९॥ अशेष (जो किसी का अंग नहीं है, Absolute पूर्ण) शेषी (अंगी) में शेष (अंग) के रूप में ये मुक्त पुरुष हो जाते हैं (ब्रह्म में उसके अंग के रूप में मिल जाते हैं)। उस ज्ञानमय ब्रह्म के साथ-साथ उसके सभी गुणों की भी प्राप्ति ये (मुक्त) लोग करते हैं॥ ३०॥

विशेष—मुक्त पुरुषों और ईश्वर में सभी गुणों की समानता होने पर भी कुछ विलक्षणता रह ही जाती है। जीव किसी भी अवस्था में (मुक्त होने पर भी) ईश्वर के समान संसार का निर्माण तथा चित्-अचित् का नियन्त्रण नहीं कर सकता। इसी आशय से व्यास ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च** (४।४।१७–१८) जडपदार्थ की उत्पत्ति, पालन और संहार तथा चित्-अचित् का नियमन करना, यह जगत् का व्यापार है। इन्हें छोड़कर ही मुक्त पुरुष में ईश्वरता (ऐश्वर्य) आती है। कारण यह है कि कुछ श्रुतिवाक्यों में ऐसे प्रकरण आये हैं जैसे—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते० (तै० ३।१), यः पृथिवीमन्तरो यमयति (बृ० ३।७।३) इत्यादि। पहली श्रुति में पदार्थों की उत्पत्ति आदि का उल्लेख है, दूसरी में ईश्वर की नियामक-शक्ति का। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त व्यापार में मुक्त पुरुष का सन्निधान भी नहीं। अतः मुक्त की ईश्वरता सीमित है।

३०वें श्लोक में ब्रह्म को शेषी अर्थात् अंगी कहा गया है क्योंकि चित् और अचित् इसके अंग हैं। ईश्वर स्वयं में पूर्ण है, किसी का अंग नहीं है, इसलिए उसे अशेष कहा गया है। ये मुक्त पुरुष उसका अंग बन जाते हैं। अन्तिम पंक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं - एक में 'विपश्चिता' को अप्रधान कर्ता बना सकते हैं, दूसरे में अप्रधान कर्म। तृतीया विभक्ति में सह का प्रयोग बतलाता है कि वह शब्द अप्रधान हो जायगा। यदि यह अप्रधान कर्ता है तब मुक्तों की प्रधानता रहेगी—मुक्ताः तेन ईश्वरेण सह, सर्वान् कामान् (ईश्वरगुणान्) प्राप्नुवन्ति। मुक्त लोग प्रधानतः प्राप्त करते हैं, ईश्वर गौणतः। इसमें दोष होता है कि ईश्वर से मुक्तों को अधिक ऊँचा स्थान मिला। दूसरी ओर यदि यह अप्रधान कर्म बन जाय तो सारी बात सहल है—मुक्त पुरुष ईश्वर के गुणों की प्राप्ति प्रधानतः करते हैं, साथ-साथ ईश्वर की प्राप्ति भी करते हैं। अप्रधान कर्म बन जाने पर

ईश्वर की महत्ता में कुछ कमी नहीं हुई, बल्कि ईश्वर से उसके गुणों का माहात्म्य अधिक दिखलाया गया है। यह अच्छा ही है।

(२०. ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ)

तस्मात्तापत्रयातुरैरमृतत्वाय पुरुषोत्तमादिपदवेदनीयं ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं भवति। 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थप्राधान्येन सह ब्रूत इतः सनोऽन्यत्र' इति वचनबलादिच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधेयम्। तच्च ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं वेदनं न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदसन्दर्भश्राविणो व्युत्पन्नस्य विधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्।

इसलिए तीन प्रकार के तापों से व्याकुल पुरुषों को अमरत्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए पुरुषोत्तम आदि शब्दों के द्वारा बोधित ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए—यही कहने का मतलब है। [सन्-प्रत्यय के प्रकरण में पढ़ा गया व्याकरणशास्त्र का यह नियम है कि] इस सन्-प्रत्यय के प्रकरण को छोड़कर दूसरे स्थानों में जब प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक Root, stem) और प्रत्यय (Suffix) मिलकर अर्थ का प्रकाशन करते हैं तब प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता समझी जाती है—इस वाक्य के बल से ['जिज्ञासा' (√ज्ञा=जानना, सन्प्रत्यय= इच्छा करना) शब्द में, जहाँ प्रत्यय इच्छा के अर्थ में है] इच्छा की प्रधानता नहीं है, बल्कि इष्ट वस्तु की प्रधानता होती है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में इच्छा किया जानेवाला (अभीष्ट Desired) ज्ञान ही विधेय के रूप में है। [जिज्ञासा का अर्थ 'ज्ञानविषयक इच्छा' नहीं है, बल्कि 'इच्छा का विषय ज्ञान' है—इच्छा (प्रत्ययार्थ) की प्रधानता नहीं है, ज्ञान (प्रकृति) ही प्रधान है, ऐसा सन्-प्रत्यय का नियम है।]

उस ज्ञान का बोध ध्यान, उपासना आदि शब्दों के द्वारा होता है, न कि केवल वाक्य का श्रवण करने के बाद ही उत्पन्न अर्थज्ञान। व्युत्पन्न पुरुष पदों का सन्दर्भ (Context) सुनकर ही, बिना किसी विधान (Injunction) के ही, उनका अर्थ समझ लेता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का ज्ञान केवल वाक्यों को सुनकर उनका अर्थ समझ लेने से नहीं होता जैसा कि लौकिक ज्ञान में होता है। भूगोल में पढ़ते हैं कि कोलम्बो लंका की राजधानी है और हमें इसका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म के ज्ञान में ऐसी बात नहीं है। ध्यान, उपासना आदि को ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, केवल ऊपरी ज्ञान को नहीं। यदि ऐसा

नहीं होता तो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में किया गया ज्ञान का विधान व्यर्थ ही था। लौकिक वाक्यों में दिये गये ज्ञान के बाद यह नहीं कहा जाता है कि इस वाक्य को जानना चाहिए, विधान नहीं होता है। व्युत्पन्न पुरुष प्रसंग देखकर अपने आप समझ लेते हैं। पर यहाँ ब्रह्म के ज्ञान का विधान है इसलिए यह साधारण ज्ञान नहीं—उपासना आदि के रूप में यहां यह ज्ञान है जिसके लिए विधि दी गई है।]

विशेष—ताप तीन प्रकार के हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आत्मा के यहाँ दो अर्थ हैं शरीर और अन्तःकरण। शरीर में भूख-प्यास के रूप में धातुओं के प्रकोप से ज्वर होना, अतिसार आदि **आध्यात्मिक** ताप हैं। अन्तःकरण में उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद, संशय आदि से उत्पन्न कष्ट भी आध्यात्मिक ही हैं। भूत=माँ के पेट से जन्म लेने वाले (जरायु-ज), अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (वनस्पति) के रूप में चोर, वैरी सिंह, बाघ, पक्षी, साँप, जोंक, पेड़-पौधे आदि। इनसे होने वाले कष्ट **आधिभौतिक** हैं, देव=यक्ष आदि स्वर्ग के निवासी, हवा, पानी, धूप, शीत, गर्मी आदि। इनसे होने वाले ताप **आधिदैविक** हैं।

व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय के योग से पद बनता है, प्रकृति का भी कुछ अर्थ रहता है (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् तथा दधाति अर्थानिति धातुः), प्रत्यय का भी। किन्तु प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान होता है—दशरथ + इञ् (अपत्यार्थक प्रत्यय)=दशरथ के पुत्र (दाशरथिः)। दशरथ की मुख्यता नहीं है, अपत्य ही मुख्य है। गम् + तिप् (लकार-वचन-पुरुष विशिष्ट प्रत्यय)=गच्छति, गमनानुकूलक व्यापार से अधिक मुख्य प्रत्ययांश है जिसमें लकार (वर्तमान काल), एकवचन तथा प्रथमपुरुष की विशेषता व्यक्त होती है। प्रत्यय की प्रधानता सन् के प्रकरण में नहीं होती है। यही कारण है कि 'जिज्ञासा' शब्द में इच्छा को दबाकर ज्ञान प्रधान हो गया है।

ज्ञान का अर्थ श्रवण मनन, उपासना आदि है इसे व्यक्त करने के लिए श्रुतिवाक्य उद्धृत किये जा रहे हैं।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'आत्मत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७), 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१), 'अनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र 'श्रोतव्यः' इत्यनुवादः। अध्ययनविधिना साङ्गस्य

स्वाध्यायस्य ग्रहणेऽधीतवेदस्य पुरुषस्य प्रयोजनवदर्थदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वरसत एव श्रवणे प्रवर्तमानतया तस्य प्राप्तत्वात् ।

'सचमुच आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान लगाना चाहिए' (बृहदारण्यको० २।४।५), 'आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए' (वही, १।४।७), '[श्रवण और मनन से आत्मा को] जानकर प्रज्ञा (निदिध्यासन) करें' (वही, ४।४।२१), '[श्रवण और मनन के द्वारा] जानकर ही विशेष ज्ञान प्राप्त करे' (छा० ८।७।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से [यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का अर्थ श्रवण, मनन, उपासना आदि है]।

यहाँ 'श्रोतव्य' शब्द व्याख्यात्मक है। अध्ययन का विधान करने वाले वाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) से अङ्गों के साथ [वेदों के] स्वाध्याय का ग्रहण होता है (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च)। इसलिए जो पुरुष वेदों का अध्ययन कर लेता है वह अपने आप (स्वरसतः) ही वेदों को सप्रयोजन (सार्थक useful) समझते हुए, उनमें अर्थ देख कर, अर्थ का निर्णय करने के लिए श्रवण (गुरुमुख से वेदार्थ को सुनने) में प्रवृत्त होता है। अतः [ज्ञान में श्रवण की] प्राप्ति होती है। [ज्ञान में श्रवण का अर्थ कैसे होता है, इसे ही समझा रहे हैं। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो०' वाले उद्धरण में छह अङ्गों के साथ वेदों के अध्ययन और ज्ञान का विधान है। अध्ययन (अक्षर-ग्रहण) के बाद जब वेदार्थज्ञान की आवश्यकता होती है तब गुरुमुख से सुनना ही पड़ता है, अतः श्रवण के विना ज्ञान नहीं होता।]

मन्तव्य इति चानुवादः। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन मननस्यापि प्राप्तत्वात्। अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्। ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम्। 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरेव मोक्षोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा।

'मनन करना चाहिए' यह भी व्याख्यात्मक शब्द है। श्रवण को दृढता से प्रतिष्ठित करने के लिये मनन की प्राप्ति भी आवश्यक है। इसके लिए एक नियम है कि जब तक [मनन की] प्राप्ति नहीं होती, तब तक शास्त्र सार्थक (केवल अर्थयुक्त, विशेष कुछ नहीं) रहता है। तेल की धारा के समान स्मरण की अविच्छिन्न (unbroken) परम्परा को ध्यान कहते हैं। [जब स्मृति की

परम्परा बीच में न टूटे, चाहे दूसरे प्रकार की—विजातीय स्मृतियाँ लाख व्यवधान डालती हों, तब उसे ध्यान (Meditation) कहते हैं।] 'ध्रुवा स्मृति' (निरन्तर परमात्मा का ध्यान) वह है जिसमें स्मृति निरन्तर रहती है (प्रतिलम्भ), और सभी ग्रन्थियों (कर्मों, पापों, संशयों) का मोक्ष हो जाता है—इस प्रकार ध्रुवा स्मृति (Continued Remembrance) को ही मोक्ष का उपाय कहते हैं, ऐसा सुना जाता है। यह (ध्रुवा) स्मृति दर्शन के ही समान आकार धारण करती है (दर्शन शब्द से ध्यान का भी बोध हो जाता है।)।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि दर्शन या ज्ञान में श्रवण, मनन और ध्यान तीनों चले आते हैं। दर्शन और ध्यान में एकता का प्रदर्शन करने वाला श्लोक नीचे दिया जा रहा है।

३१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
(मु० २।२।८)

इत्यनेनैकवाक्यत्वात्। तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यनेनास्या दर्शनरूपता विधीयते। भवति च भावनाप्रकर्षात्स्मृतेर्दर्शनरूपत्वम्। वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितं 'वेदनमुपासनं स्यात्' इत्यादिना।

'उस परमात्मा को देख लेने (ध्यान में ले आने) पर हृदय की ग्रन्थियाँ (राग, द्वेषादि) छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सारे सन्देह मिट जाते हैं, जीव के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं (केवल प्रारब्ध कर्म रहता है)' (मु० २।२।८) [इस श्लोक में 'दर्शन' का अर्थ 'स्मृति' ही है] अतः दोनों वाक्यों में समानता है इसलिए ध्यान (ध्रुवा स्मृति) को भी दर्शन कहते हैं। उसी प्रकार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) इस वाक्य में ध्रुवा स्मृति को दर्शन के रूप में लिया गया है। भावनाओं के प्रकर्ष (विशेषता) के कारण स्मृति दर्शन के रूप में है भी। वाक्यकार (वृत्ति के रचयिता) ने इन सबों का सविस्तार वर्णन किया है—वेदन को उपासना कहते हैं इत्यादि।

तदेव ध्यानं विशिनष्टि श्रुतिः—

३२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठ० २।२३)।

प्रियतम एव हि वरणीयो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवाभिहितम्—

३३. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गी० १०।१०) इति।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गी० ८।२२) इति च।

श्रुति में इसी ध्यान की विशेषतायें बतलाई गई हैं—'इस आत्मा को प्रवचन (व्याख्यान exposition) से नहीं पा सकते हैं; न तो अधिक बुद्धि रखने से और न ही अधिक विद्या पाने से [इसे पा सकते]। जिस उपासक-विशेष का, [निदिध्यासन से प्रसन्न होकर] यह परमात्मा वरण (Selection) करता है, वही इसे पा सकता है। उस उपासक को यह परमात्मा अपना शरीर (रूप) दिखलाता है।' (कठ० २।२३)। सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति का ही वरण किया जाता है। यह प्रियतम (उपासक) जिसमें आत्मा को प्राप्त करे, इसके लिए भगवान् स्वयं प्रयास करते हैं—यह भगवान् ने ही कहा है—'जो निरन्तर मेरे साथ युक्त होने की इच्छा करते हैं तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि-योग (भक्ति) देता हूँ जिससे वे मेरे पास चले आते हैं।' (गी० १०।१०) तथा, 'हे अर्जुन, वह परम पुरुष (परमात्मा) अनन्य (एकनिष्ठ) भक्ति से ही पाया जा सकता है।' (गी० ८।२२) [इस प्रकार यह निदिध्यासन भक्ति का रूप धारण कर लेता है।]

(२१. भक्ति का निरूपण)

भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजन-सकलेतरवैतृण्य-वज्ज्ञानविशेष एव। तत्सिद्धिश्च विवेकादिभ्यो भवतीति वाक्य-कारेणोक्तं—तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादा-नुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्चेति।

तत्र विवेको नामादुष्टादन्नात्सत्त्वशुद्धिः। अत्र निर्वचनम्—'आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धया ध्रुवा स्मृतिः' इति। विमोकः कामानभिष्वङ्गः। शान्त उपासीतेति निर्वचनम्।

भक्ति एक प्रकार के ज्ञान को ही कहते हैं जिसमें निरतिशय (Unsurpassable) आनन्द के समान प्रिय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रयोजन (लक्ष्य) नहीं है तथा जिसमें अन्य सभी विषयों से वितृष्णा या वैराग्य रहता है। [जिस ज्ञान का लक्ष्य परमात्मा है तथा जिसे पाकर सभी वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है उसी ज्ञान को भक्ति कहते हैं।] उसकी सिद्धि विवेक आदि से होती है जैसा कि वाक्यकार ने कहा है—'उस (भक्ति) की प्राप्ति विवेक (Discrimination), विमोक (Exemption), अभ्यास (Practice), क्रिया (Observance), कल्याण (Excellence), अनवसाद (Freedom from Despondency) तथा अनुद्धर्ष (Satisfaction) के द्वारा, युक्ति (सम्भव) तथा निर्वचन (व्याख्या) के अनुसार, होती है।' [भक्ति की प्राप्ति के ये साधन हैं, इनमें दो बातें रहती हैं—सम्भव (युक्ति) अर्थात् प्रत्येक साधन का युक्तियुक्त लक्षण दिया जाता है तथा प्रत्येक की व्याख्या की जाती है जो प्रामाणिक वचनों के रूप में रहती है। इस प्रकार लक्षण और व्याख्या करके भक्ति-प्राप्ति के उपायों को समझते हैं।]

उनमें **विवेक** का अर्थ है, अ-दूषित अन्न से सत्त्व (प्रकृति) की शुद्धि, [यह सम्भव है।] अब इसका निर्वचन है—'आहार की शुद्धि से प्रकृति शुद्ध होती है, प्रकृति की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति प्राप्त होती है।' **विमोक** कामनाओं में आसक्ति न रखने को कहते हैं। इसका निर्वचन है—शान्त होकर (विषयों से अस्पृष्ट होने पर) उपासना करे।'

विशेष—अन्न (भोजन) तीन प्रकार के दोषों से दूषित होता है—जाति-दोष से लहसुन, प्याज आदि दूषित हैं। आश्रय-दोष से पतित, चाण्डाल आदि का अन्न दूषित होता है और निमित्त-दोष से जूठा, बासी आदि दूषित है। तीनों दोषों से रहित अन्न के सेवन से शरीर-शुद्धि होकर चित्त की शुद्धि होती है। भक्ति के साधनों का प्रथम लक्षण दिया जाता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्यों इसे भक्ति या ध्रुवा स्मृति का साधन मानते हैं? तब आगम-प्रमाण दिया जाता है जिसमें उस साधन से सम्बद्ध बातें रहती हैं, इसी को निर्वचन कहते हैं।

पुनः पुनः संशीलनमभ्यासः। निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६) इति। श्रौत-

स्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया । 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति निर्वचनम् । सत्यार्जवदयादानादीनि कल्याणानि । 'सत्येन लभ्यत' इत्यादि निर्वचनम् । दैन्यविपर्ययोऽनवसादः । नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३।२।४) इति निर्वचनम् । तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः । तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः । 'शान्तो दान्त' इति निर्वचनम् ।

[देवता का] बार-बार चिन्तन करना **अभ्यास** है, इसके लिए भाष्यकार (रामानुज) ने स्मृति से ही निर्वचन उद्धृत किया है—'उस (परमात्मा) के भावों में जो व्यक्ति सदा ही निरत है' (गी० ८।६)। अपनी शक्ति के अनुसार श्रुतियों और स्मृतियों (पुराणों और इतिहासों) में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान (Performance) करना **क्रिया** है। इसका निर्वचन यह है—'जो पुरुष क्रियायुक्त है वह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ है।' सत्य (सब जीवों की भलाई), आर्जव (मन, वचन और कर्म की एकरूपता), दया (अपने स्वार्थ पर ध्यान न रखते हुए दूसरों के दुःखों को न सहना), दान (बिना लोभ के द्रव्यादि देना) आदि कार्यों को **कल्याण** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'सत्य से पाया जाता है' इत्यादि। [देश, काल की प्रतिकूलता के कारण या शोक-वस्तु के स्मरण से उत्पन्न मन की शिथिलता को दीनता कहते हैं उसी] दीनता से रहित होने को **अनवसाद** कहते हैं। इसका निर्वचन है—'बलहीन व्यक्ति इस आत्मा को नहीं पा सकते' (मु० ३।२।४)। उपर्युक्त दीनता के विरुद्ध कार्यों (देश-काल की अनुकूलता होने या प्रिय-वस्तु का स्मरण करने से मन की शिथिलता से उत्पन्न सन्तोष को उद्धर्ष कहते हैं, इसका उलटा **अनुद्धर्ष** है, [शोक की तरह अति संतोष भी मन को शिथिल कर देता है इसलिए उसका अभाव कहा गया है (अभ्यं०)]। इसका निर्वचन है—'जो पुरुष शान्त है, इन्द्रियों को दबाये हुए है।'

विशेष—उद्धर्ष (उत् = अधिक, हर्ष = प्रसन्नता)। कोई बड़ी प्रसन्नता की बात सुनकर मन बाँसों उछल पड़ता है, मनुष्य को अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रहता। यह सन्तोष नहीं, अति सन्तोष की अवस्था है। पर ऐसा सन्तोष नहीं चाहिए, सन्तोष ऐसा हो जिसमें मन का नियन्त्रण (दान्त) रहे। इसलिये दोनों ही सन्तोष है, एक अतिसन्तोष, दूसरा शान्तिपूर्ण सन्तोष। पहले को हम विलासमय सन्तोष (Luxurious satisfaction) कहते हैं जो असंतोष ही है। दूसरा शान्ति की अवस्था (State of tranquillity) है। यही कारण है कि इसके निर्वचन में 'शान्तः दान्तः' का प्रयोग किया है।

तदेवमेवंविधनियमविशेषसमासादित-पुरुषोत्तम-प्रसाद-विध्वस्त-तमःस्वान्तस्य अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशय-प्रिय-विशदात्मप्रत्ययावभासतापन्नध्यानरूपया भक्त्या पुरुषोत्तमपदं लभ्यत इति सिद्धम्। तदुक्तं यामुनेन—उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगो लभ्य इति। ज्ञानकर्मयोगसंस्कृतान्तःकरणस्येत्यर्थः।

इस प्रकार वह व्यक्ति जो इन विशेष नियमों का सम्पादन करके प्रसन्न किये गये पुरुषोतम भगवान् की कृपा से अपने भीतर के सारे अन्धकारों को नष्ट कर चुका है, ऐसी भक्ति से पुरुषोत्तम का पद प्राप्त करता है जिस भक्ति में [परमात्मा को छोड़कर] कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रखकर, निरन्तर, सबसे अधिक (निरतिशय) प्रिय आत्मा के विशद प्रत्यय (विचार) अर्थात् स्पष्ट अवभास का ध्यान किया जाता है। [इस लम्बे समस्त-पद-युक्त वाक्य का अर्थ यही है कि उपर्युक्त नियमों से परमेश्वर को पाकर उनकी कृपा से सारे कर्मों का क्षय कर दें तथा उनमें निरन्तर ध्यान लगाकर उनकी भक्ति दिखलायें जिससे परमेश्वर का परम पद वैकुण्ठ प्राप्त हो।]

यामुनाचार्य (समय १०४० ई०, रचनायें—आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय, गीतार्थसंग्रह और स्तोत्ररत्न) ने कहा है—'दोनों (ज्ञान और कर्म) के द्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो वही एकान्तिक (final) तथा आत्यन्तिक (Absolute) पूर्ण भक्तियोग पा सकता है।' तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग से जिसका अन्तःकरण संस्कारवान् हो चुका है [वही व्यक्ति परमपद पा सकता है।]

(२२. द्वितीय सूत्र—ब्रह्म का लक्षण)

किं पुनर्ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्यपेक्षायां लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्रम् १।१।२) इति। जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालभोगब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतो, यतो = यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणात् सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्त इति सूत्रार्थः।

अब प्रश्न होता है कि किस ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए ? इसकी आशंका से ही ब्रह्म का लक्षण कहा गया है—जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) जन्मादि का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और प्रलय। ['जन्मादि' शब्द में] बहुव्रीहि समास है जो अपने अन्दर स्थित पदों के अर्थों को भी ग्रहण करता है (तद्गुणसंविज्ञान)। सूत्र का यह अर्थ है—**अस्य** = इस अचिन्तनीय (inconceivable) विविध प्रकार की विचित्र रचनाओं वाले तथा निश्चित देशकाल में फल को भोगने का नियम ब्रह्मा से लेकर तृण (स्तम्ब) पर्यन्त सभी जीवों (क्षेत्रज्ञों) में जहाँ समान (मिश्र) है, ऐसे जगत् का, **यतः** = वे सर्वेश्वर, जो सभी त्याज्य गुणों के विरोधी रूप में रहते हैं, जो सत्यसंकल्प (firm resolution) आदि अनन्त अतिशयों से युक्त हैं, असंख्य कल्याणकारी गुणों के भाण्डार हैं, सर्वज्ञ हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं, उन पुरुषोत्तम से, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय—ये सभी प्रवृत्त होते हैं।

विशेष—बहुव्रीहि समास के स्वपदार्थ को लेकर दो भेद हैं—तद्गुण-संविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान। जब समास में स्थित पदों के अर्थों का (तद्गुणानां) सम्बन्ध कार्य (क्रिया) से हो तब उसे तद्गुणसंविज्ञान कहते हैं जैसे—लम्बकर्णमानय। यहाँ 'आनय' (लाओ) क्रिया से 'लम्ब' और 'कर्ण' दोनों के अर्थों का सम्बन्ध है—लम्बे कान वाले पशु को लाना है; पशु के साथ ये दोनों भी आते हैं। दूसरी ओर, 'दृष्टसागरमानय' में 'आनय' का सम्बन्ध दृष्ट और सागर के साथ नहीं है। जब पुरुष को लाया जायगा, तब सागर और दृष्ट शब्दों के अर्थ नहीं होंगे। यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि (Bahu-vrihi of separable attribute) है। कभी-कभी तद्गुणसंविज्ञान शब्द की व्याख्या इस प्रकार होती है—तत्=विशेष्य, गुण=विशेषण, सम्=एक करना। जिस बहुव्रीहि में विशेष्य और विशेषण को एक क्रिया से सम्बद्ध जाना जाय, वह तद्गुणसंविज्ञान है। लम्ब और कर्ण शब्द 'पशु' के विशेषण हैं पशु विशेष्य है। अतः पशु को लाने के साथ इसके विशेषणों को भी लाना अभीष्ट होता है लम्ब और कर्ण को पृथक् करके पशु नहीं लाया जा सकता। लेकिन पुरुष को लाते समय 'सागर' नहीं आता और न आता है 'दृष्ट' शब्द का अर्थ—ये विशेषण विशेष्य से पृथक् हो गये। 'जन्म आदि यस्य तत्' में भी तद्गुणसंविज्ञान (Inseparable attribute) है क्योंकि ब्रह्म के कार्यों में सबों का ग्रहण हो जाता है, जन्म और आदि दोनों का।

जगत् के दो विशेषण दिये गये हैं—एक में अचित् का विश्लेषण है दूसरे में चित् का। अचिदंश के विषय में सोचना भी कठिन है कि वह कितने प्रकार का है और कितना विचित्र है। वह जीव की कृति नहीं है कि उसके विषय में

कुछ सोच-विचार कर सकें, यह तो ईश्वर की अचिन्त्यशक्ति का मूर्तरूप है। दूसरी ओर चिदंश है जिसमें फलभोग का सर्वसाधारण नियम सभी जीवों में लगा हुआ है चाहे वह ब्रह्मा हो या तुच्छ तृणखण्ड हो, उसे किसी विशिष्ट काल और देश में फल भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार, ब्रह्म वह है जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

(२३. तृतीय सूत्र—ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

इत्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां शास्त्रमेव प्रमाणमित्युक्तम्—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं यस्य तच्छास्त्रयोनि। तस्य-भावः तत्त्वं तस्मात्। ब्रह्मज्ञानकारणत्वाच्छास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः इत्यर्थः।

इस प्रकार के ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण है? यदि यह पूछा जाय तो उसका उत्तर पहले से ही तैयार है कि शास्त्र ही ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण हैं— क्योंकि शास्त्र ही उस (ब्रह्म की सिद्धि) के लिए प्रमाण (योनि) हैं' (ब्र० सू० १।१।३)। शास्त्र जिसकी योनि अर्थात् कारण या प्रमाण है वह (ब्रह्म) शास्त्रयोनि है। उसका भाव या तत्त्व (शास्त्रयोनित्व), इस कारण से—[शास्त्रयोनित्वात्]। शास्त्र चूँकि ब्रह्मज्ञान का कारण है इसलिए वह ब्रह्म की योनि (कारण) कहलाता है। यही अर्थ हुआ।

न च ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं शङ्कितुं शक्यम्। अतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि महार्णवादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानम्। तस्य पूतिकूष्माण्डायमानत्वात्। तल्लक्षणं ब्रह्म 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयतीति स्थितम्।

ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती कि ब्रह्म [शास्त्र=आगम के अतिरिक्त] किसी दूसरे प्रमाण से जाना जा सकता है। वह (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच के परे है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण की तो वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'समुद्र आदि सकर्तृक (Having a doer) हैं क्योंकि ये कार्य हैं जैसे घट' इस प्रकार का अनुमान [जैसा कि नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि के लिए उपस्थित करते हैं] भी नहीं हो सकता क्योंकि यह पूति-कूष्माण्ड (गले हुए कुम्हड़े) की तरह

[दूरसे ही त्याग करने योग्य] है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त ब्रह्म का प्रतिपादन 'जिससे ये सब दृश्यमान पदार्थ निकले···' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्य करते हैं—यह सिद्ध हो गया।

विशेष—पूति का अर्थ 'गला हुआ' तथा एक लता विशेष भी है। जिस प्रकार पूति लता में कुम्हड़े का फल नहीं हो सकता उसी प्रकार उक्त हेतु से साध्य (सकर्तृकत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। समुद्र, पर्वत आदि का निर्माण कोई कर रहा है, ऐसा नहीं मिलता। इसलिए कार्यत्व-हेतु असिद्ध है। न तो इसे प्रत्यक्ष से ही जानते हैं न अनुमान से ही। इसके अलावे यदि पर्वत, समुद्र आदि को कार्य के रूप में स्वीकार करें तो भी यह नहीं प्रमाणित होता कि किसी एक (कर्ता) ने ही उन सबों का निर्माण किया है जिससे एक ईश्वर को ही सबों का निर्माता सिद्ध करें। यह भी नहीं कह सकते कि जीवों में पर्वतादि निर्माण करने की सामर्थ्य नहीं है—बड़े-बड़े महर्षियों और देवताओं में सिद्धि के बल से ऐसी सामर्थ्य पाई गई है। इसके अतिरिक्त संसार का निर्माता ईश्वर शरीरधारी है कि शरीरहीन ? यदि शरीरहीन है तो कर्ता बन नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। शरीरधारी होने पर उसका शरीर नित्य होगा या अनित्य। यदि नित्य है तो अवयवों से युक्त वह ईश्वर नित्य होगा और संसार भी नित्य माना जायगा। जब संसार नित्य ही है तो कार्य (उत्पन्न) कैसे होगा ? उसकी उत्पत्ति की क्या आवश्यकता ? वह तो सदा से है—इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी। यदि उसका शरीर अनित्य है तो किसने शरीर को उत्पन्न किया ? स्वयं ईश्वर ने ही किया तो भी ठीक नहीं क्योंकि शरीरहीन वैसा नहीं कर सकता। यदि दूसरे शरीर से उत्पन्न किया तो फिर प्रश्न होगा कि उस शरीर को किसने उत्पन्न किया ? इस प्रकार अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त शरीर के अभाव में संसार का उत्पादन-रूपी कोई भी व्यापार उससे सम्भव नहीं है। जब व्यापार नहीं तो, तो वह कर्त्ता कैसे बनेगा ?

इस पूरे विचार से सिद्ध हुआ कि ईश्वर की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अन्य सभी प्रमाण निरस्त हैं, अतः आगम-प्रमाण से ही ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है।

(२४. चतुर्थ सूत्र—शास्त्रों का समन्वय)

यद्यपि ब्रह्म प्रमाणान्तरगोचरतां नावतरति तथापि प्रवृत्ति-निवृत्तिपरत्वाभावे सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयितुं प्रभवती-त्येतत्पर्यनुयोगपरिहारायोक्तम्—'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू०

१।१।४) इति। तुशब्दः प्रसक्ताशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव। कुतः? समन्वयात्। परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयादित्यर्थः।

यह शंका की जा सकती है कि यद्यपि ब्रह्म को दूसरे प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता, फिर भी यदि शास्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकेत न करे तो सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन वह नहीं कर सकता। [यदि शास्त्र सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करता है तो किसी का प्रवर्तक और निवर्तक वह नहीं हो सकता। इसलिए न तो वह सुख की प्राप्ति करा सकेगा, न दुःख की निवृत्ति ही। बिना प्रयोजन के उसे कौन पढ़ेगा? अतः शास्त्र अप्रामाणिक न हो, इसलिए उसे सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं होना चाहिए।] इसी शंका के परिहार के लिए कहा गया है—'उस (शास्त्र-प्रमाण) को तो समन्वय (Reconciliation) से [समझते हैं] (ब्र० सू० १।१।४)। यहाँ 'तु' (तो) शब्द प्राप्त शंका की निवृत्ति करने के लिए है। तत् = शास्त्र के द्वारा प्रमाणित होना, ब्रह्म के विषय में सम्भव है, पर कैसे? समन्वय से अर्थात् परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म ही अभिधेय [इन शास्त्रों में] है, जिनके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। [प्रथम सूत्र में ब्रह्म का ही नाम लिया गया है, वही मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य है, यही उद्देश्य है, उसी का सम्बन्ध शास्त्रों के साथ दिखलाया गया है। इससे पता लगता है कि सिद्ध-ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी शास्त्र सप्रयोजन हैं।]

न च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्यतरविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम्। स्वरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातो' 'नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षप्राप्तिभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टमेवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्। दिङ्मात्रमिह प्रदर्शितम्। विस्तरस्त्वाकरादेवावगन्तव्य इति विस्तारभीरुणोदास्यत इति सर्वमनाकुलम्।

॥ इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रामानुजदर्शनम् ॥

ऐसी बात नहीं है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति में से किसी एक के न होने से कोई चीज निरर्थक हो जाती है। केवल वस्तुस्थिति (या स्वरूप) का निर्देश करनेवाले 'तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ', 'यह साँप नहीं है' इस प्रकार के [सिद्ध] वाक्यों में हर्ष की प्राप्ति तथा भय की निवृत्ति रूपी प्रयोजन होता तो है ही—फिर भी कोई इन्हें असिद्ध नहीं कहता। [तात्पर्य यह निकला कि सिद्ध-वाक्य में भी प्रयोजन रहता है। इसलिए सिद्ध-ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त

शास्त्रों में प्रवृत्ति-निवृत्ति है, वे शास्त्र अर्थवान् (सप्रयोजन) हैं—इसमें सन्देह नहीं ।]

यहाँ इस दर्शन का केवल सामान्य निर्देश किया गया है, विस्तारपूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण आकर-ग्रन्थों (जैसे श्रीभाष्य, तत्त्वमुक्ताकलाप, यतीन्द्र-मतदीपिका आदि) से ही समझ लें । विस्तार होने के भय से अब आगे की बातें छोड़ दें, सब कुछ स्पष्ट है ।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में रामानुजदर्शन [समाप्त हुआ] ।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां रामानुजदर्शनमवसितम् ॥

(५) पूर्णप्रज्ञ-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स्वपरतन्त्रमिहेति भेदो
जीवोऽणुरीश्वर इतो जगतो निमित्तम् ।
वेदान्तभाष्यमिति तत्र मतं विधात्रे
मध्वाय पूर्णधिषणाय नमश्चिराय ॥—ऋषिः ।

(१. द्वैतवाद की रामानुजमत से समता और विषमता)

तदेतद्रामानुजमतं जीवाणुत्व-दासत्व-वेदापौरुषेयत्व-सिद्धार्थबोधकत्व-स्वतः प्रमाणत्व-प्रमाणत्रित्व-पञ्चरात्रोपजीव्यत्व-प्रपञ्चभेदसत्यत्वादिसाम्येऽपि परस्परविरुद्धभेदादिपक्षत्रयकक्षीकारेण क्षपणकपक्षनिक्षिप्तमित्युपेक्षमाणः, 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिवेदान्तवाक्यजातस्य भङ्ग्यन्तरेणार्थान्तरपरत्वमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसाविवरणव्याजेन आनन्दतीर्थः प्रस्थानान्तरमास्थिषत ।

रामानुज के दर्शन में [हमारे दर्शन = द्वैतवाद से] इन बातों में समता है—जीव को अणु (Atomic) मानना, उसे ईश्वर का दास मानना, वेदों को अपौरुषेय (नित्य) मानना, वेदों को सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) का बोधक मानना, वेदों को अपने-आप में प्रमाण मानना (परतः प्रमाण नहीं मानना), तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) मानना, पञ्चरात्र-ग्रन्थ पर अपने सिद्धान्तों को आधारित करना, प्रपंच और उसके भेदों (आत्मा से आकाशादि की भिन्नता) को सत्य मानना इत्यादि। इतना होने पर भी परस्पर विरोधी (Mutually Contradictory) भेद, [अभेद तथा भेदाभेद के] रूप में तीन पक्षों को स्वीकार करने से (देखिये रामानुजदर्शन, अनु० १६) उक्त-दर्शन क्षपणकों (जैनों) के [सप्तभंगीनय की तरह विरोधी] पक्षों को स्वीकार करने की मूर्खता करता है—इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं। 'वह आत्मा है, वह तुम्हीं हो' (छा० ६।८।७) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में वे दूसरी भंगी (तात्पर्य) से दूसरा ही अर्थ सिद्ध करते हैं। आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, पूर्णप्रज्ञ) ने उक्त बातें दिखलाते हुए ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या

(विवरण = व्याख्यानग्रन्थ का व्याख्यान) करने के बहाने एक नवीन प्रस्थान (सम्प्रदाय System of Philosophy) ही प्रवर्तित कर दिया है।

विशेष—माधवाचार्य ने पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का आरंभ बहुत सुन्दर ढंग से किया है। बहुत ही संक्षेप में रामानुज और मध्व के सिद्धान्तों की तुलना हो गई। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत है जिसमें ईश्वर को चिद् अचिद् से विशिष्ट मानकर, तीन तत्त्व प्रतिपादन करने पर भी अद्वैत (Monism) का पक्ष लिया गया है। मध्व इस प्रच्छन्नता से दूर भागते हैं। वे सीधे द्वैतमत (Dualism) का ही प्रस्थान रखते हैं जिसमें स्वतंत्र परमेश्वर तथा परतंत्र जीव को स्वीकार किया जाता है। दोनों हो श्रौत दार्शनिक हैं, श्रुतियों पर आधारित हैं, पञ्चरात्र का स्मृति-रूप में आधार लेते हैं—तर्कबल से अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं, प्रच्छन्न तार्किक हैं। इसलिए बहुत दूर तक दोनों में साम्य है।

परन्तु रामानुज मध्व से कुछ अधिक चतुर हैं क्योंकि एक ओर तो लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधकर जैनों के स्याद्वाद की निन्दा करते हैं (देखिए, आरंभिक अंश), दूसरी ओर कहते हैं कि—'सर्वं तत्त्वम्, भेदोऽभेदोऽभेदाभेदाश्च'। अन्तर इतना ही है कि जैन सात विरोधी वाक्य रखते हैं, रामानुज तीन से ही संतुष्ट हैं। पर तत्त्व वही है। रामानुज छिपकर चलते हैं कि तत्त्व अद्वैत है, पर उसके दो विशेषण भी हैं। मध्व बेचारे सीधे-सादे आदमी, बिना किसी दुराव के दो तत्त्व पृथक्-पृथक् मान लेते हैं। दोनों आचार्यों को अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए मूल श्रुतियों, वेदान्तसूत्रों आदि को तोड़ना मरोड़ना पड़ा हैं जिसमें कोई भी नहीं हिचकते।

(२. द्वैतवाद के तत्त्व—भेद की सिद्धि)

तन्मते हि द्विविधं तत्त्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। तदुक्तं तत्त्वविवेके—

१. स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः॥ इति।

इन (आनन्दतीर्थ) के मत से दो प्रकार के तत्त्व हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। तत्त्वविवेक नाम के ग्रन्थ में कहा गया है—'दो प्रकार का तत्त्व रखा जाता है, स्वतंत्र और परतंत्र। इनमें स्वतंत्र स्वयं भगवान् विष्णु हैं जो निर्दोष हैं तथा [स्वतंत्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि] सभी अच्छे-अच्छे गुणों से भरे हुए हैं।'

ननु सजातीय-विजातीय-स्वगत-नानात्वशून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति प्रतिपादकेषु वेदान्तेषु जागरूकेषु कथमशेषसद्गुणत्वं कथ्यत इति चेत्, मैवम्। भेदप्रमापकबहुप्रमाणविरोधेन तेषां तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। तथा हि, प्रत्यक्षं तावदिदमस्माद्भिन्नम् इति नीलपीतादेर्भेदमध्यक्षयति।

[अद्वैत-वेदान्ती ऐसी शंका कर सकते हैं—] ब्रह्मतत्त्व सजातीय (अपनी जाति में), विजातीय (दूसरी जाति के पदार्थों से) तथा स्वगत (अपने आप में विशेषणों के द्वारा), इन तीनों भेदों (नानात्व) से रहित है— इस प्रकार की बातें प्रतिपादित करनेवाले उपनिषद्-वाक्यों के रहते हुए आप लोग ईश्वर के विषय में यह कैसे कहते हैं कि वह सभी सद्गुणों से भरा हुआ है ? [हमारा उत्तर यह है कि] ऐसी बात नहीं है, बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो भेद को ही प्रमाणित करते हैं उनके साथ उक्त उपनिषद्-वाक्यों का विरोध होगा और इसलिए उन्हें (भेदशून्य ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों को) हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष को ही लें, 'यह (वस्तु) उस (वस्तु) से भिन्न है' इस प्रकार नील-पीत आदि पदार्थों में भेद की सत्ता को वह (प्रत्यक्ष) प्रमाणित करता है।

विशेष—भेद तीन प्रकार के हैं क्योंकि उनमें 'प्रतियोगी तीन प्रकार के होते हैं—सजातीय, विजातीय, तथा स्वगत। जिस भेद में प्रतियोगी (Opponent) अपनी जाति (Class) का ही हो उसे सजातीय भेद कहते हैं परमात्मा का जीवात्मा से किया गया भेद या एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद सजातीय (Homogeneous) भेद है। प्रतियोगी दूसरी जाति का होने पर भेद भी विजातीय होता है जैसे परमात्मा का आकाशादि प्रतियोगियों से दिखलाया गया भेद या पेड़ का पत्थर से भेद। दोनों की दो जातियाँ होने से भेद विजातीय (Heterogeneous) है। स्वगत (Internal) भेद वह है जिसमें किसी वस्तु का उसके अवयवों (स्वगत) से भेद कराया जाय। उदाहरणार्थ परमात्मा का अपने अन्दर विद्यमान करुणा, आनन्द आदि विशेषणों से भेद या वृक्ष का भेद फल, फूल, पत्तों से करना स्वगत-भेद है।

उक्त तीनों भेदों का निषेध 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के विषय में होता है। श्रुति का अर्थ यही है कि तत्त्व एक ही था उसमें कोई भेद नहीं, किन्तु यदि उन्हें सगुण

मानते हैं तो गुणों के साथ होने वाला कम से कम स्वगत भेद तो उनमें अवश्य ही होगा। अतः उक्त श्रुति का विरोध द्वैत-मत का प्रतिपादन करने से होता है। किन्तु मध्वाचार्य ऐसी श्रुतियों की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार नहीं करते कि परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करनेवाले बहुत से प्रमाण हैं। उनका भी अपलाप करना संभव नहीं है।

इसके बाद विभिन्न प्रमाणों से भेद की सिद्धि की चेष्टा की जाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों प्रमाण के रूप में रखे जाते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण तो स्पष्ट बतलाता है कि संसार में भेद की सत्ता है। नील से पीत, मनुष्य से पशु, पुस्तक से पाषाण क्या भिन्न नहीं ?

(३. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—शंका)

अथ मन्येथाः—किं प्रत्यक्षं भेदमेवावगाहते किं वा धर्मिप्रतियोगिघटितम् ? न प्रथमः, धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण तत्सापेक्षस्य भेदस्याशक्याध्यवसायात्। द्वितीयेऽपि धर्मिप्रतियोगिग्रहणपुरःसरं भेदग्रहणमथवा युगपत्तत्सर्वग्रहणम् ?

न पूर्वः, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गाच्च। नापि चरमः, कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्याभावात्। धर्मिप्रतीतिर्हि भेदप्रत्ययस्य कारणम्। एवं प्रतियोगिप्रतीतिरपि। संनिहितेऽपि धर्मिणि व्यवहितप्रतियोगिज्ञानमन्तरेण भेदस्याज्ञातत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावावगमात्। तस्मान्न भेदप्रत्यक्षं सुप्रसरमिति चेत्।

[भेद-ज्ञान को अस्वीकार करते हुए शंकराचार्य के अनुयायी भेद के विषय में शंका करते हैं—] आप क्या मानते हैं, क्या प्रत्यक्ष (Perception) सीधे भेद का ही ज्ञान करा देता है या वह धर्मी (वस्तु) तथा उसके प्रतियोगी (विरोधी वस्तु) के ज्ञान के आधार पर [भेद का ज्ञान कराता है] ?[1] पहला विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि जब तक धर्मी का और उसके प्रतियोगी (Opponent) का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उन्हीं दोनों पर निर्भर

१. किसी भी भेद मे दो बातें अनिवार्य हैं। एक धर्मी जिससे भेद कराया जाता है, इसे ही मूल वस्तु भी कहते हैं, दूसरा प्रतियोगी अर्थात् विरोधी वस्तु। 'नीलं पीताद् भिन्नम्' में नील धर्मी है, पीत प्रतियोगी।

करनेवाले भेद का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है [आधार—धर्मी और प्रतियोगी—के ज्ञान के बिना आधेय का कैसे ज्ञान होगा ? नील और पीत—दोनों को यथावत् समझने पर ही दोनों में भेद समझ सकते हैं। यदि सीधे भेद का प्रत्यक्ष करने का दम्भ रखें तो यह व्यर्थ है, असंभव है।]

यदि दूसरा विकल्प लेते हैं [कि धर्मी और प्रतियोगी के आधार पर भेद का ज्ञान होता है] तो पूछें कि भेद का यह ज्ञान धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के पश्चात् होता है या सबों (तीनों) का ज्ञान एक ही साथ (युगपत् Simultaneously) हो जाता है।

उक्त प्रश्न का प्रथम विकल्प ग्राह्य नहीं है क्योंकि बुद्धि जब एक बार ठहर जाती है तब आगे कार्य संचालन नहीं कर पाती। [१ 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा शब्द एक विशेष प्रकार के जल का अर्थ देता है। उतनें व्यापार के बाद ही वह शब्द विरत हो जाता है। घोष से सम्बन्ध दिखलाने के लिये गङ्गा का तटरूपी अर्थ वह शब्द नहीं बतला सकता। ऐसा करने से 'गङ्गा के किनारे गाँव' का अर्थ बिल्कुल संगत हो जाता। किन्तु वहाँ तक तो उसकी पहुँच ही नहीं है, करे तो क्या करे ? इसलिये तट-रूपी अर्थ की उपस्थापना, लक्षणा-शक्ति द्वारा, सामीप्य सम्बन्ध से, 'गङ्गा' शब्द का अर्थ 'जल' ही कर सकता है; जल के निकट होने के कारण 'तट' अर्थ हो गया। गङ्गा शब्द कुछ नहीं कर सका—लक्षणा अर्थ की ही हुई, शब्द की नहीं। सारांश यह कि **शब्द** अपना व्यापार करके विरत हो जाता है। २. कोई धनुर्धर बहुत तेजी से वाण चलाता है, यद्यपि वाण में ६० गज जाने की सामर्थ्य है परन्तु ३० गज जाते ही उसे कोई रोक लेता है, बस उसका व्यापार रुक गया, एक अंगुल भी वह वाण अब नहीं बढ़ सकता। अतः **कर्म** रुक जाने पर अपना अगला व्यापार बन्द कर देता है। ३. धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान कर लेने पर बुद्धि विरत हो जाती है, लाख चेष्टा करने पर भी 'भेद' को अपना विषय नहीं बना सकती। अतः **बुद्धि** भी विरत हो जाने पर व्यापार (Activity) नहीं दिखला सकती। इसे ही साहित्यशास्त्रियों ने कहा है—**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।** (देखें, काव्यप्रदीप, उल्लास ५।) दूसरे, इसमें अन्योन्याश्रय-दोष (Fallacy of mutual dependence, a logical seesaw) भी उत्पन्न हो जायगा। [भेद के ज्ञान के लिये धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है, तथा धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के लिये भेद-ज्ञान की आवश्यकता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होगा।]

इसका दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं [कि धर्मी, प्रतियोगी और भेद—तीनों का ग्रहण एक ही साथ हो जायगा] क्योंकि कार्य (भेद-ज्ञान) और

कारण (धर्मि-प्रतियोगि-ज्ञान) के रूप में गृहीत बुद्धियों की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती। धर्मी की प्रतीति (ज्ञान Apprehension) भेद-ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति भी [भेद-ज्ञान का कारण है]। यदि धर्मी निकट में भी हो किन्तु दूरस्थित प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो तो भेद का ज्ञान नहीं ही हो सकेगा, [उसी प्रकार धर्मी और प्रतियोगी दोनों के रहने पर भेद का ज्ञान हो जाता है]—इसलिये अन्वय और व्यतिरेक के नियमों द्वारा हम लोग [धर्मी + प्रतियोगी और भेद के बीच] कार्य-कारण का सम्बन्ध जान लेते हैं। [कोई यह शंका न करे कि भेद और धर्मिप्रतियोगी में कार्य-कारण-सम्बन्ध कहाँ है, इसलिये पहले ही दिखला दिया गया है।]

इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षीकरण (या प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान) नहीं हो सकता—यह [अद्वैतवेदान्ती की] शंका है।

(३ क. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—समाधान)

किं वस्तुस्वरूपभेदवादिनं प्रति इमानि दूषणानि उद्घुष्यन्ते, किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति ? प्रथमे चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायापातः। भवदभिधीयमानदूषणानां तदविषयत्वात्।

ननु वस्तुस्वरूपस्यैव भेदत्वे प्रतियोगिसापेक्षत्वं न घटते घटवत्। प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वत्र भेदः प्रथत इतिचेन्न। प्रथमं सर्वतो विलक्षणतया वस्तुस्वरूपे ज्ञायमाने प्रतियोग्यपेक्षया विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः।

ये सारे दोष किस के सिर पर आरोपित हो रहे हैं ? क्या वस्तु (घटादि) के स्वरूप (गोलाकार कम्बुग्रीव आदि) को ही भेद मानने वाले लोगों के प्रति (स्मरणीय है कि मध्वाचार्य इसे ही भेद कहते हैं), या उन लोगों के प्रति जो वस्तु (घटादि) से भिन्न उस वस्तु के ही धर्मों को लेकर भेद मानते हैं (जैसा कि वैशेषिक दर्शन में मानते हैं) ? [मध्वाचार्य एक ही वस्तु में उसके स्वरूप और वस्तु में भेद मानते हैं जब कि वैशेषिकादि वस्तु के धर्मों (Attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में भेद मानते हैं। इन दोनों पक्षों को ही यहाँ पर उठाया गया है और पूर्वपक्षी से पूछा जा रहा है कि आप किस पक्ष पर अपने तर्कों का गट्ठर फेंक रहे हैं ?]

यदि आप वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों (मध्वों) पर यह आरोप लगा रहे हैं, तो यह ठीक नहीं कर रहे हैं—जैसे चोर के अपराध से

माराडव्य-ऋषि को पकड़ कर दराड दिया गया, वही स्थिति हो जायगी। (खेत खाय गदहा मार खाय जोलहा)। [महाभारत के आदि पर्व (अध्याय १०७–८) में यह कथा आयी है—माराडव्य नाम के ऋषि को किसी राजा ने चोर समझ कर पकड़ लिया। राजा ने जब उन्हें दण्ड देकर शूली पर चढ़ाया उसी समय दूसरा असली चोर पकड़ा गया। तुरत उन ऋषि को शूली से उतारा गया और राजा ने उनसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की। माराडव्य ऋषि ने सोचा कि यह मेरे किसी न किसी कर्म का ही फल है, अत: उसका पता लगाने के लिए यमलोक में गये। यमराज ने बतलाया कि बचपन में किसी कीड़े को आपने बाँध लिया था उसी का यह फल भोगने को मिला है। माराडव्य बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि अनजान में हुए अपराध का दण्ड इस प्रकार का नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने यमराज को शाप दिया कि मर्त्यलोक में तुम शूद्रयोनि में जन्म लो। तदनुसार वे विचित्रवीर्य की दासी के गर्भ में व्यास के संयोग से आये और विदुर के रूप में उत्पन्न हुए। उसी दिन से यमराज ने यह नियम (Convention) चला दिया कि अज्ञान में किये गये अपराध को क्षमा कर दिया जाय। जहाँ एक व्यक्ति का अपराध हो और दूसरे को दराड मिले, वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।]

इसका कारण यह है कि आपके द्वारा आरोपित दोषों के क्षेत्र (Jurisdiction, Subject) में स्वरूप-भेदवादी लोग नहीं आते। [पूर्वपक्षियों का कहना था कि भेदवादी लोग धर्मी और प्रतियोगी के साथ ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होना मानते हैं जो बिल्कुल असम्भव है। यह अपराध धर्म को भेद माननेवालों का है, स्वरूपभेदवादियों का नहीं, परन्तु यदि आप हमारे (स्वरूप-भेदवादियों के) ऊपर भी यही आरोप लगाते हैं तो ठीक नहीं। दूसरे के अपराध से हमें क्यों पकड़ रहे हैं ? आपके द्वारा प्रतिपादित दोष वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले सिद्धान्त पर नहीं लग सकते। यदि वस्तु से भिन्न धर्मों के साथ दूसरी वस्तु के रूप में भेद हो तभी प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा भेद का ज्ञान होगा, केवल भेद का या धर्मि-प्रतियोगी के साथ भेद का। पूर्वपक्षियों ने फिर विकल्प किया था कि धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के बाद भेद का ज्ञान होता है या एक ही साथ—तो ये विकल्प भी धर्मभेदवादी को ही लग सकते हैं। स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों में कभी भी ये विकल्प नहीं लग सकते।]

[मध्वाचार्य ने शंकर के उत्तर में धर्मभेदवादियों को घसीटा है, सोचा कि इन्हें ही शंकर से भिड़ा दें, हम बिल्कुल बच जायँगे। पर लेने के देने पड़े, धर्मभेदवादी अब मध्वों (स्वरूपभेदवादियों) पर ही बिगड़ खड़े हुए। अब दोनों भेदवादियों में ही शास्त्रार्थ चला। धर्मभेदवादी पूछते हैं—] यदि

वस्तु के स्वरूप को ही भेद मान लें तो घट की तरह, किसी प्रतियोगी (Contrary, Counterpart) की अपेक्षा नहीं रहेगी। [घट के ज्ञान के लिए किसी प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं रहती है, सीधे घट का ज्ञान कर लेते हैं। यदि वस्तु के स्वरूप (Essence) को भेद मान लें तो यह भेद भी घट की तरह ही प्रतियोगि-निरपेक्ष हो जायगा।] किन्तु लोक में नियम से, सर्वत्र भेद-ज्ञान के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, [यदि धर्म (attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में हम भेद नहीं मानेगें तो ऐसी संभावना नहीं रहेगी,—अतः स्वरूप को भेद मानना दोषपूर्ण है।]

उसका उत्तर [मध्वों की ओर से] होगा कि ऐसी बात नहीं है, पहले-पहल वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरी सभी वस्तुओं से पृथक् (विलक्षण Peculiar) करके प्राप्त किया जाता है तब प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का (जैसे घट का घटत्व के रूप में) व्यवहार चलता है। [स्वरूप-भेदवादियों के मत से पहले, घट का घटत्व के रूप में, सबसे विलक्षण मानकर स्वरूप का ज्ञान होता है। इसी को भेदज्ञान कहते हैं,। जो वस्तु सबों से विलक्षण है उसके कम्बुग्रीवादि संस्थान-विशेषों से युक्त स्वरूप को भेद ही मानते हैं। तब प्रतियोगियों का अनुसंधान करके 'घट पट से भिन्न है' ऐसा व्यवहार करते हैं।]

तथा हि—परिमाणघटितं वस्तुस्वरूपं प्रथममवगम्यते। पश्चात्प्रतियोगिविशेषापेक्षया ह्रस्वं दीर्घमिति तदेव विशिष्य व्यवहारभाजनं भवति। तदुक्तं विष्णुतत्त्वनिर्णये—

'न च विशेषणविशेष्यतया भेदसिद्धिः। विशेषणविशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेदसिद्धिः। भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। पदार्थस्वरूपत्वाद् भेदस्य'—इत्यादिना।

इसे यों समझें—परिमाण (Dimensions) से विशिष्ट वस्तु-स्वरूप का ज्ञान पहले हो जाता है। बाद में विभिन्न प्रकार के प्रतियोगियों की अपेक्षा रखकर उसी वस्तु को 'छोटा', 'बड़ा' इत्यादि विशेषणों से विभूषित करके उसका व्यवहार करते हैं। [पहले किसी घट का परिमाण जान लेते हैं, यही उसका स्वरूप है और भेद भी है। फिर दूसरे घट का ज्ञान करके उसकी अपेक्षा प्रकृत घट को छोटा या बड़ा मानते हैं। स्वरूप का व्यवहार सामान्य है, दूसरे प्रतियोगी की अपेक्षा रखने पर विशिष्ट व्यवहार होता है। व्यवहार से

अव्यवहित पूर्वक्षण में ही भेदज्ञान होने का नियम नहीं है। जब हम कहते हैं— 'घटस्य स्वरूपम्' तो दोनों में भेद तो है ही! यहाँ तक कि 'घटः पटाद्भिन्नः' भी व्यधिकरण से व्यवहृत होता है और उसमें धर्म के भेद की सिद्धि नहीं होती। यह गौण व्यवहार है। यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो उसके देखने पर सभी चीजों से उसकी विलक्षणता ज्ञात नहीं होती। पुनः, यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो गवय को देखने पर भी गाय खोजने वालों की प्रवृत्ति होती और 'गो' शब्द का स्मरण होता क्योंकि लोग स्वरूप को भेद नहीं मानते, धर्म को ही भेद मानते—गो और गवय में धर्मों का अन्तर है अतः गवय मिल जाने पर भी गाय खोजते, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।]

इसीलिए विष्णुतत्त्वनिर्णय (लेखक—आनन्दतीर्थ, समय ११७० ई०) में कहा गया है—'विशेषण और विशेष्य रहने से भेद की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि विशेषण और विशेष्य का संबन्ध स्वयं भेद की अपेक्षा रखता है। [जो स्वयं भेद से सिद्ध होता है, भेद को क्या सिद्ध करेगा ?] फल यह होगा कि धर्मी और प्रतियोगी की अपेक्षा से भेद की सिद्धि होती है, तथा भेद के आधार पर धर्मी और प्रतियोगी की सिद्धि होती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होने से भेद ही युक्तियुक्त नहीं हो सकता। **पदार्थ के स्वरूप को ही भेद कहते हैं**। [उसके धर्म के आधार पर किये गये भेद को नहीं]'— इत्यादि।

विशेष—'यह एक प्रतियोगी से युक्त भेद को धारण करता है'—इसमें भेद विशेषण है, पट विशेष्य। 'पट में कुछ प्रतियोगी से युक्त भेद रहता है'— यहाँ भेद विशेष्य है, पट विशेषण। विशेषण और विशेष्य में भेद होना सुप्रसिद्ध है, जैसा कि 'राज्ञः (विशेषण) पुरुषः (विशेष्य)' में हम देखते हैं। यदि विशेषण-विशेष्य के रूप में भेद को सिद्ध किया जायगा तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध भेद के ऊपर आधारित है। इस भेद की सिद्धि धर्मित्व और प्रतियोगित्व की प्रतीति के ऊपर निर्भर करती है। दूसरी ओर, यह प्रतीति भेद की प्रतीति के विना संभव ही नहीं है, अतः अन्योन्याश्रय-दोष होता है।

इस प्रकार 'भेदयुक्त पट' या 'पट में भेद' इनमें विशेषण-विशेष्य के रूप में जो भेद की प्रतीति होती है, वह भेद की सिद्धि करने में युक्त नहीं है। फिर भेद है किस रूप का ? उत्तर होगा कि पदार्थं का स्वरूप ही भेद है। विष्णुतत्त्व-निर्णय में यही कहा गया है।

अत एव गवार्थिनो गवयदर्शनान्न प्रवर्तन्ते, गो शब्दं च न

स्मरन्ति । न च नीरक्षीरादौ स्वरूपे गृह्यमाणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति भणनीयम् । समानाभिहारादिप्रतिबन्धकबलाद् भेद-भानव्यवहाराभावोपपत्तिः ।

इसीलिए गौ का अन्वेषण करने वाले लोग गवय (गौ के समान जन्तुविशेष) देखने के बाद आगे नहीं बढ़ते (मानो उन्होंने गाय पाली हो) तथा गौ शब्द का स्मरण भी नहीं करते । [चूँकि किसी वस्तु का सबों से विलक्षण स्वरूप जान लेना ही उस वस्तु के विशिष्ट व्यवहार का कारण है इसीलिए सबों से विलक्षण गौ के स्वरूप को लोग गवय में भी देख लेते हैं और ऐसा होने पर भी अज्ञान के कारण गौ का अन्वेषण करनेवालों की प्रवृत्ति या गौ का स्मरण करना—ये व्यवहार नहीं होते ।] ऐसी भी शंका नहीं कर सकते कि [चूँकि भेद एक वास्तविक पदार्थ है और प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए] जल से युक्त दूध आदि को आँखों से देख लेने पर, भेद का आभास भी दृष्टिगोचर होगा (अर्थात् वस्तु का अपना स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ेगा)। उक्त उदाहरण में आँख का संनिकर्ष तो रहता ही है। स्वरूप को ही भेद मानने पर भेद का भी ग्रहण होगा कि यह जल है, यह दूध है। इसमें भेद का प्रतिभास अवश्य होगा परन्तु भेदज्ञान ही नहीं रहता है ।] कारण यह है कि भेद के आभास रूपी व्यवहार के अभाव की सिद्धि समानाभिहार (एक प्रकार के ही पदार्थों का समूह) आदि प्रतिबन्धक (प्रत्यक्षज्ञान को रोकनेवाले) कारणों के बल से होती है। [समानाभिहार एक प्रकार के पदार्थों का ही एक स्थान पर रहना । ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को समूह से पृथक् करना कठिन है—प्रत्यक्षज्ञान में भी यह प्रतिबन्ध डालता है। नीर-क्षीर एक प्रकार के ही पदार्थ हैं, इनको पृथक् करना कठिन है, इसलिए भेदाभास का व्यवहार यहाँ पर नहीं होता । ऐसी बात नहीं है कि भेद यहाँ है ही नहीं । वास्तव में दो पदार्थों के सादृश्य के कारण मिश्रित हो जाने से उनका पार्थक्य समझ में नही आता, भेद तो है ही। अतः नीर-क्षीर में स्वरूप का ग्रहण कर लेने पर भेद का प्रतिभास इसलिए नहीं होता कि नीर-क्षीर मिलकर एक हो गये हैं, समानाभिहार हो गया है। नहीं तो ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें स्वरूप का ज्ञान होने पर भेद का प्रतिभास नहीं हो ।]

तदुक्तम्—

२. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥
(सांख्यकारिका, ७) इति ।

अतिदूरात् = गिरिशिखरवर्तिपर्वतादौ, अतिसामीप्यात् = लोचनाञ्जनादौ, इन्द्रियघातात् = विद्युदादौ, मनोऽनवस्थानात् = कामाद्युपप्लुतमनस्कस्य स्फीतालोकवर्तिनि घटादौ, सौक्ष्म्यात् = परमाण्वादौ, व्यवधानात् = कुड्यान्तर्हिते, अभिभवात् = दिवा प्रदीपप्रभादौ, समानाभिहारात् = नीरक्षीरादौ यथावत् ग्रहणं नास्तीत्यर्थः।

ऐसा ही [सांख्यकारिका में] कहा गया है—'बहुत दूर होने के कारण, बहुत नजदीक होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के अव्यवस्थित (चंचल) होने के कारण, पदार्थ के बहुत सूक्ष्म होने के कारण, [इन्द्रिय और वस्तु के बीच में] किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाने के कारण, [किसी दूसरे तीव्र पदार्थ द्वारा वस्तु के] अभिभूत (अपेक्षाकृत शक्तिहीन) होने के कारण तथा समान रूप वाले पदार्थों में मिल जाने के कारण [प्रत्यक्षज्ञान को बाधा पहुँचती है।]'

बहुत दूर होने के कारण, जिस प्रकार पहाड़ों की चोटियों पर उगे हुए वृक्ष आदि को [देखना कठिन है]। बहुत नजदीक होने के कारण, जैसे अपनी आँखों में लगे हुए अंजन आदि को नहीं देख सकते। इन्द्रियों में दोष होने के कारण बिजली आदि को नहीं देख पाते। मन के अव्यवस्थित होने के कारण, जैसे कामादि वासनाओं से मन के क्षुब्ध हो जाने पर, खूब प्रकाश में अवस्थित घटादि को नहीं देख पाते। सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि को नहीं देख पाते। व्यवधान होने के कारण, दीवाल (कुड्य) के बीच में आने पर कोई चीज दिखलाई नहीं पड़ती। अभिभूत होने के कारण जैसे दिन में दीपक की प्रभा आदि को नहीं देख सकते। समान वस्तुओं में मिले होने के कारण, जैसे नीर-क्षीर में क्षीर का यथावत् प्रत्यक्ष नहीं होता है।

विशेष—सांख्यकारिका में यह कारिका प्रकृति की सिद्धि के क्रम में दी गई है। कहा गया है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी बहुत-सी वस्तुएँ सिद्ध नहीं होती क्योंकि उसके मार्ग में बहुत से बाधक कारण हैं—प्रकृति का प्रत्यक्ष सूक्ष्मता के कारण नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है कि प्रकृति का अभाव है। उसी प्रकार समानाभिहार के कारण नीर-क्षीर का भेद मालूम नहीं पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि भेद उनमें है ही नहीं। 'स्वरूपग्रहणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति न भणनीयम्'। सामान्य दशा में ऐसा नहीं कहते कि नीर-क्षीर में स्वरूपग्रहण हो गया, भेद का प्रतिभास भी होगा। नहीं, भेद ग्रहण नहीं होता। पर

यह तो हमारे सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि स्वरूप से भेदज्ञान नहीं हो। नहीं, प्रतिकूलता तनिक भी नहीं है—वास्तव में भेद-ज्ञान है, पर नीर-क्षीर के मिश्रित होने के कारण नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ भेद-ज्ञान का ग्रहण आपाततः नहीं होता।

कभी-कभी एक ही वस्तु के कई स्वरूप होते हैं। मनुष्य को दूर से देखने पर कोई पदार्थ जान पड़ता है, उसके बाद ऊँचा पदार्थ, फिर प्राणी, फिर मनुष्य, फिर युवक आदि—इस प्रकार तारतम्य से नाना प्रकार के स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार का तारतम्य धर्मभेदवादी (वैशेषिक) लोग भी स्वीकार करते हैं। स्वरूपभेदवादी के मत से यदि स्वरूप अनेक प्रकार के हैं तो भेद की भी अनेकरूपता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए जल-मिश्रित दूध में घड़े से भेद दिखाया जा सकता है, नीर से नहीं। क्योंकि उस प्रकार के स्वरूप का ज्ञान करने में हमारी आँखें असमर्थ हैं। अतएव नीर-क्षीर में विलक्षण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, उस प्रकार का भेदज्ञान भी नहीं होता, 'नीर से क्षीर भिन्न है' ऐसा ज्ञान भी नहीं होता—यही व्यवहार है।

(४. धर्मभेदवादी का समर्थन—भेद की सिद्धि)

भवतु वा धर्मभेदवादस्तथापि न कश्चिद्दोषः। धर्मिप्रतियोगिग्रहणे सति पश्चात्तद्घटितभेदग्रहणोपपत्तेः। न च परस्पराश्रयप्रसङ्गः। परानपेक्ष्य प्रभेदशालिनो वस्तुनो ग्रहणे सति धर्मभेदभानसंभवात्। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वेनानवस्था दुरवस्था स्यादित्यास्थेयम्। भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात्।

[मध्वाचार्य देखते हैं कि अपने ही पक्षवाले—धर्मभेदवादी को चिढ़ाने से काम नहीं चलेगा। वह भी तो भेद को स्वीकार करता है। यह दूसरी बात है कि वह स्वरूप का भेद न मानकर धर्मों का भेद मानता है। अपने मत के प्रतिपादन के पश्चात् उस पर भी दो-चार वाक्य लिख देना कोई बुरा नहीं है। इससे भेदवाद की जड़ और भी जम जायगी। इसलिए वे कहते हैं—] अथवा वैशेषिकों के धर्मभेदवाद को ही स्वीकार करें, उसमें भी कोई दोष नहीं है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर, उसके बाद उन पर ही आधारित (घटित) भेद का ग्रहण हो जाता है। [यह अभिप्राय है कि पहले घट धर्मी

का ज्ञान घट-सामान्य के रूप में तथा पट-प्रतियोगी का ज्ञान पट-सामान्य के रूप में हो जाता है, तब घट और पट में क्रमशः धर्मित्व और प्रतियोगित्व की स्थापना के साथ ही साथ सामूहिक-ज्ञान (Knowledge of a group) की तरह एक ही क्रिया से भेद का ग्रहण भी हो जायगा। इसी को धर्मि-प्रतियोगि-घटित भेद कहते हैं। यहाँ पर कारण-बुद्धि और कार्य-बुद्धि एक साथ नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त दोष होने की संभावना है, किन्तु वह बात नहीं है। घट और पट का जो ग्रहण धर्मी और प्रतियोगी के रूप में हो रहा है वह भेद के ज्ञान का कारण नहीं है। बल्कि घट और पट का जो ज्ञान घटत्व और पटत्व के रूप में किया गया था वही भेद-ज्ञान का कारण है। घट को भेद का धर्मी मानना और पट को भेद का प्रतियोगी मानना तो वस्तु की सत्ता होने पर ही भेदज्ञान का कारण होता है। इसलिए उक्त दोष नहीं लगता।]

अन्योन्याश्रय-दोष की भी संभावना यहाँ नहीं है क्योंकि दूसरों (भिन्न वस्तुओं) की अपेक्षा न रखते हुए ही, भेद-युक्त वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए धर्म-भेद (Difference in attributes) का ग्रहण होना संभव है। [अन्योन्याश्रय-दोष का आरोपण इसलिए होता है कि घट का घटत्व-रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होना भेदज्ञान के ऊपर निर्भर करता है, दूसरी ओर भेदज्ञान इस प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करता है। परन्तु यह दोष नहीं होता—स्वरूपभेदवाद में वस्तु सबसे विलक्षण स्वरूप की मानी जाती है घट-पट के ज्ञान में इनसे विलक्षण स्वरूपों से ही ज्ञान हो जायगा, इसमें दूसरों की अपेक्षा ही नहीं हैं—ज्ञान तो स्वरूप से हो रहा है अतः घट का घटत्व रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होने पर भेदज्ञान की सापेक्षता (भेद-ज्ञान पर आधारित होना) नहीं रहेगी। इसके बाद धर्मी-प्रतियोगी बना कर दोनों पदार्थों के भेद की कल्पना होगी।]

ऐसा भी यहाँ कहना ठीक नहीं है कि धर्मभेदवाद को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था-दोष इसलिए उत्पन्न होगा कि प्रत्येक भेद को किसी दूसरे भेद के द्वारा पृथक् करने की आवश्यकता होगी। [घट में भेद है जिसका प्रतियोगी है पट, इस प्रथम भेद के द्वारा घट को भेद्य (= प्रथमभेद से घट भिन्न है—ऐसे व्यवहार के योग्य) समझते हैं। अब प्रथम-भेद का प्रतियोगी घट हो गया, इस प्रथम भेद में द्वितीय भेद है—जिसके द्वारा प्रथम भेद को ही भेद्य समझते हैं। द्वितीय भेद का प्रतियोगी प्रथम भेद है, द्वितीय भेद में एक तृतीय भेद की कल्पना करनी पड़ेगी जिसके द्वारा द्वितीय भेद को भेद्य समझेंगे। इस प्रकार अन्त न होने वाली एक परम्परा चलती रहेगी।] यह अनवस्था इसलिए नहीं होगी कि दूसरे भेद

को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता (मूलाभावात्)। भेद और भेदी दोनों भिन्न हैं ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता। [आशय यह है कि जिस प्रकार 'घट और पट भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार पट को प्रतियोगी और घट को धर्मी मानकर चलता है, उसी प्रकार यदि 'भेद (द्वितीयभेद) तथा भेदी (प्रथम भेद) भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार लोक में दिखलाई पड़ता तभी द्वितीय भेद की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिए अनवस्था नहीं है। भेद एक ही होता है वह चाहे दूसरी बार हो या तीसरी बार। 'घट पट से भिन्न है' इसमें एक भेद है, अब 'वह भेद स्वयं घट से भिन्न है' यहाँ प्राप्त भेद भी कोई अलग नहीं—सर्वत्र एक प्रकार के भेद की ही प्राप्ति होती है।]

न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्। दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात्। सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव। दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः। तस्मान्मूलक्षयाभावादनवस्था न दोषाय।

ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए कि एक भेद के बल से दूसरे भेद का अनुमान होता चला जायगा (और अनवस्था घेर ही लेगी)। [आशय यह है कि प्रथम भेद का प्रतियोगी घट है, फिर द्वितीय भेद का अनुमान, द्वितीय भेद से तृतीय का, इस प्रकार अनुमान से अनवस्था हो जायगी। परन्तु मध्व इसका खण्डन करते हैं।] यह अनवस्था दृष्टान्त के रूप में दिये गये प्रथम-भेद का बिना नाश किये ही यदि उत्पन्न होती है तब तो अनवस्था मानने में कोई दोष ही नहीं है। [भेद को तो आप इस प्रकार स्वीकार करते ही हैं। आप भेद स्वीकार कर लें फिर हम पर लाखों दोष क्यों न आरोपित करें ! हमारा काम समाप्त !] यह दोषारोपण ऐसा ही है, जैसे कोई थोड़ी-सी तिल की खल्ली (Oil-cake) माँगने जाय और उसे एकाध पसेरी तेल ही देना पड़ जाय [थोड़ी सी वस्तु माँगे और अधिक वस्तु स्वयं देनी पड़े। भेदवादियों पर अनवस्था लगाने जाय और अनुमान द्वारा दोषारोपण करने में दृष्टान्त के रूप में स्वयं भेद (खण्डनीय वस्तु) को स्वीकार करना पड़े।] दूसरी ओर, यदि भेद को दृष्टान्त के रूप में स्वीकार ही न करें तो अनुमान ही नहीं होगा [और फलतः अनवस्था-दोष नहीं लगेगा]। कन्या का विवाह वर के विनाश के लिए नहीं होता [अनुमान का आधार लेकर चलनेवाली अनवस्था सीधे

अनुमान का ही विनाश कर देती है।] इसलिए हमारे मूल का क्षय न करने के कारण अनवस्था कोई भी दोष नहीं लाती।

विशेष—प्रस्तुत संदर्भ कठिन के साथ-साथ मनोरंजक भी कम नहीं। जब अनुमान से पूर्वपक्षी लोग एक भेद से दूसरे भेद की सिद्धि करके अनवस्था का आरोपण करने लगते हैं तब इस प्रकार का परामर्श होता है—

द्वितीय-भेद किसी दूसरे भेद के द्वारा भेद्य है (प्रतिज्ञा + साध्य)।
क्योंकि वह भी एक प्रकार का भेद है (हेतु)।

जिस प्रकार प्रथम-भेद होता है (दृष्टान्त)। जहाँ अनवस्था का आरोपण होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार विश्राम (End) खोजना ही पड़ता है। कहीं-कहीं यह विश्राम **सिद्ध के समान** ग्रहण करते हैं जैसे—घटत्व, पटत्व आदि सामान्यों (Generality) में यदि सामान्यत्व की जाति मानें तो इसका भी फिर सामान्यत्व मानना पड़ेगा, उसका भी सामान्यत्व होगा—यों अनवस्था होगी। इसके निराकरण के लिए सिद्ध है कि सामान्यों की सामान्यत्व-जाति नहीं मानी जाती। मूल में ही ऐसा नहीं होता कि घटत्व-पटत्व में जाति न मानें क्योंकि इनमें तो जाति लोकसिद्ध है। कहीं-कहीं यह विश्राम **स्वभावतः** मानना पड़ता है जैसे—नैयायिकों के मत से 'यह घट है' इसमें घट का ग्रहण व्यवसायात्मक ज्ञान से होता है, फिर इस व्यवसाय का ज्ञान भी अनुव्यवसाय ('मैं घट जानता हूँ' इस प्रकार के) से होता है, इसके लिए भी दूसरे अनुव्यवसाय की आवश्यकता होती है। बुद्धि की योग्यता देखकर अपने आप दो-चार कक्ष्याओं (कोटियों Stages) के बाद विश्राम हो जाता है। अन्तिम व्यवसाय अज्ञात ही रहता है। बस, अनवस्था वहीं समाप्त हो गई (अभ्यंकर)।

प्रस्तुत प्रसंग में अनवस्था का रूप यह है कि एक भेद से दूसरे भेद का अनुमान करते हैं, दूसरे भेद से तीसरे भेद का, इत्यादि। अनुमान का रूप ऊपर देख ही चुके हैं। इस अनवस्था का निराकरण भी दो तरह से हो सकता है—या तो अनुमान को कहीं विश्राम कराना है या सिद्धवाक्य मानें कि संसार में भेद है ही नहीं।

(१) बुद्धि की सामर्थ्य से कहीं न कहीं रुक ही जाना पड़ेगा। दृष्टान्त के रूप में तो पूर्वपक्षी प्रथम भेद को मानते हैं न ? उसका तो विघात (विध्वंस) नहीं करते ? तब तो बड़ा आनन्द है ! कम-से-कम दृष्टान्त के रूप में भी मानने का अर्थ है कि पूर्वपक्षी कुछ भेदों को तो स्वीकार करते हैं। इससे हमारे पक्ष का ही समर्थन हुआ। हम पर दोषारोपण करने करने क्या आये कि

स्वयं हमारे पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ा। तिल की खल्ली माँगने आये और ढेर-सा तेल देना पड़ा।

(२) यदि पहले से ही दुराग्रह हो कि भेद है ही नहीं तब तो और भी अच्छा ! भेद अस्वीकार करने पर दृष्टान्त के रूप में दिया गया प्रथम भेद भी नहीं सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में अनुमान के मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा। अनुमान के आधार पर टिकी हुई अनवस्था का तो क्या पूछना ? जिस अनुमान के आधार पर अनवस्था चलती है उसी अनुमान का वह खण्डन कर देती है। कन्या का विवाह हुआ पर वर ही मर गये।

इसलिए अनवस्था मानने पर भी हमारे भेदवाद की कुछ भी हानि नहीं हुई। ऐसी लाखों अनवस्थायें रहें तो भी हम गजनिमीलिकान्याय से अपना काम करते रहेंगे।

(५. अनुमान-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नः। यथा भृत्याद्राजा।

न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि—इति पुरुषार्थमर्थयमानाः पुरुषाः स्थपतिपदं कामयमानाः सत्कारभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थभाजनं भवन्ति। यः स्वस्यात्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्यः प्रीतः स्तावकस्य तस्याभीष्टं प्रयच्छति। तदाह—

३. घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनः।
ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम् ॥ इति।

अनुमान-प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है। [अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार की है]—परमेश्वर जीव से भिन्न है (प्रतिज्ञा + साध्य), क्योंकि उसके लिए परमेश्वर सेव्य है (हेतु), जो जिसके लिए सेव्य है वह उससे भिन्न है जैसे भृत्य से राजा [भिन्न है] (दृष्टान्त)।

'मुझे केवल सुख ही मिले, दुःख थोड़ा भी नहीं हो' इस प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करते हुए (मुमुक्षु) पुरुष यदि संसार (स्थ) के स्वामी परमेश्वर का पद ही प्राप्त करना चाहें तो उनका सत्कार नहीं होता (ईश्वर उन पर कृपा

प्रदर्शित नहीं करते); यही नहीं, वे सब प्रकार के अनिष्ट प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर यदि कोई अपने आपकी हीनता तथा दूसरों के गुणों के माहात्म्य का वर्णन करता है उस स्तुति करने वाले भक्त की, स्तवनीय परमात्मा प्रसन्न होकर सारी कामनायें पूरी करता है। [यदि भक्त परमेश्वर की स्तुति करता है तो वे प्रसन्न होते हैं, यदि स्वयं परमेश्वर बनना चाहे (जैसे अद्वैत पक्ष में होता है) तो वे रुष्ट होकर सारे अभीष्ट कामों को नष्ट कर देते हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में अभेद मानना ईश्वर की कोपाग्नि में घी डालना है।]

ऐसा ही कहा है—'राजा लोग उन सबों का विनाश कर डालते हैं जो अपने को राजा घोषित करते हैं। उधर अपने गुणों के उत्कर्ष का वर्णन करनेवाले लोगों की सारी कामनायें वे पूर्ण करते हैं।' [इस लौकिक उदाहरण से अनुमान होता है कि स्वामी से अभेद स्थापित करनेवाले पर स्वामी अप्रसन्न होते हैं तथा अपने से भेद रखने पर प्रसन्न होते हैं।]

एवं च परमेश्वराभेदतृष्णया विष्णोर्गुणोत्कर्षस्य मृगतृष्णिकासमत्वाभिधानं विपुलकदलीफललिप्सया जिह्वाच्छेदनमनुहरति। एतादृशविष्णुविद्वेषणादन्धतमसप्रवेशप्रसङ्गात्। तदेतत्प्रतिपादितं मध्यमन्दिरेण महाभारततात्पर्यनिर्णये—

४. अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्॥
(म० भा० ता० १।१११) इति।

इस प्रकार परमेश्वर से अभिन्न (एक) होने के लोभ से [अद्वैतवेदान्ती लोग ईश्वर को निर्गुण मानकर] विष्णु भगवान् के गुणों के उत्कर्ष को मृगतृष्णा (Mirage) के समान भ्रान्त (मायामय) कहते हैं। यह कहना वैसा ही है जैसे कोई केले के फलों की इच्छा से अपनी जीभ ही कटवा ले। [इनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। बल्कि जीभ कट जाने पर केले के फलों का कोई उपयोग ही नहीं है। उसी तरह ईश्वर को निर्गुण मानने पर उनसे मिलने का कोई उपयोग ही नहीं।] ऐसे विष्णु भगवान् को अप्रसन्न करने पर [उनसे एकाकार होने की धृष्टता करने से] अन्धतमस (नरक) में ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसका प्रतिपादन मध्यमन्दिर (पूर्णप्रज्ञ) ने अपने ग्रन्थ महाभारत-तात्पर्य-निर्णय में किया है—'दैत्यगण विष्णु से अनादि काल से (From time immemorial) द्वेष रखते आ रहे हैं, विष्णु में भी उनके प्रति अत्यधिक

द्वेष बढ़ता रहा है। इसलिए वे दैत्यों को अन्त में निश्चित रूप से निविड़ अन्धकार (नरक) में गिराते हैं।' (म० भा० ता० १।१११)

विशेष—मध्यमन्दिर मध्यगेह के पुत्र थे। इन्हीं का नाम आनन्दतीर्थ था तथा पूर्णप्रज्ञाचार्य भी ये ही थे। इनका समय ११७० ई० है। इन्होंने द्वैतवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए महाभारत-तात्पर्य निर्णय नामक ग्रन्थ लिखा था जिसकी तीन टीकायें हुईं—जनार्दन भट्ट कृत (१३२० ई०), वादिराज कृत तथा विट्ठलसूनु कृत। महाभारततात्पर्यनिर्णय में ही ग्रन्थकार के विषय में लिखा है—

आनन्दतीर्थाख्यमुनिः सुपूर्णप्रज्ञाभिधो ग्रन्थमिमं चकार।
नारायणेनाभिहितो बदर्यां तस्यैव शिष्यो जगदेकभर्तुः॥ (३२।१७०)

(६. ईश्वर की सेवा के नियम)

सा च सेवा अङ्कन-नामकरण-भजनभेदात् त्रिविधा। तत्राङ्कनं नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपेक्षितार्थसिद्ध्यर्थं च। तथा च शाकल्यसंहितापरिशिष्टम्—

५. चक्रं बिभर्त्ति पुरुषोऽभितप्तं
बलं देवानाममृतस्य विष्णोः।
स याति नाकं दुरितावधूय
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः॥

६. देवासो येन विधृतेन बाहुना
सुदर्शनेन प्रयातास्तमायन्।
येनाङ्किता मनवो लोकसृष्टिं
वितन्वन्ति ब्राह्मणास्तद्वहन्ति॥

उस सेवा के तीन भेद हैं—अंकन (Stigmatisation), नामकरण (Imposition of names) तथा भजन (worship)।

उनमें अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप के स्मरण के लिये या अपेक्षित लक्ष्य (मुक्ति) की सिद्धि के लिये उनके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) आदि का चिह्न [शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाय।] शाकल्य-संहिता (ऋग्वेद का संहिता-विशेष) के परिशिष्ट में ऐसी बात है—'जो पुरुष देवताओं के बलस्वरूप अमर विष्णु के अभितप्त (Burning) चक्र को धारण

करता है वह दुरितों (पापों) को नष्ट करके उस स्वर्ग में प्रवेश करता है— जहाँ राग से हीन संन्यासी लोग जा सकते हैं ॥ ५ ॥ बाहु में जिस सुदर्शन चक्र को धारण करके देवता लोग चलते-चलते उस स्वर्ग लोक में पहुँचे; जिस चक्र से अंकित होकर मनुओं ने संसार की सृष्टि की थी, उसी चक्र को ब्राह्मण लोग धारण करते हैं ॥ ६ ॥'

विशेष—इन दोनों श्लोकों तथा अगले श्लोक में वैदिक छन्द का प्रयोग है, ऋग्वेद की एक संहिता शाकल्यसंहिता के परिशिष्ट के नाम से इनका उद्धरण दिया गया है। दुरिता = दुरितम् द्वितीया एकवचन में 'डा' आदेश हो गया है। ब्रह्माण्डपुराण में अंकन के विषय में कहा गया है—

कृत्वा धातुमयीं मुद्रां तापयित्वा स्वकां तनुम् ।
चक्रादिचिह्नितां भूप धारयेद्वैष्णवो नरः ॥

नारदपुराण में चक्रधारण के विषय में यह लिखा है—

द्वादशारं तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम् ।
हरेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः ॥

यह सुदर्शन देवताओं को बल देता है; उसी से देवताओं ने स्वर्ग पर विजय पायी, मनुओं ने संसार की सृष्टि की।

७. तद्विष्णोः परमं पदं येन गच्छन्ति लाञ्छिताः ।
उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः ॥ इति ।

'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रितास इद्वहन्तस्तत्समासत' (तै० आ० १।११) इति तैत्तिरीयकोपनिषच्च । स्थानविशेषश्चाग्नेयपुराणे प्रदर्शितः —

८. दक्षिणे तु करे विप्रो बिभृयाच्च सुदर्शनम् ।
सव्येन शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

'विष्णु का वह पद सबसे अच्छा है (वैकुण्ठ) जिससे होकर अंकित पुरुष पार करते हैं। बड़े पग (Step) वाले विष्णु के चिह्न से अंकित होकर हमलोग ससार में ऐश्वर्ययुक्त बनें ॥ ७ ॥' तैत्तिरीयक उपनिषद् में भी कहा है— 'जिसका शरीर तप्त (अंकित) नहीं है, वह पुरुष कच्चा (आमः) है, उसे (स्वर्ग को) नहीं पाता। उसको धारण करने वाले भक्त (श्रितासः) गण ही उसे प्राप्त करते हैं।' (तै० आ० १।११)। [अंकन करने के लिये] विशेष स्थानों का उल्लेख अग्नि-पुराण में किया गया है—'ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन चक्र

धारण करे, शंख की छाप बायें हाथ में धारण करे, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग मानते हैं।'

अन्यत्र चक्रधारणे मन्त्रविशेषश्च दर्शितः—

९. सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्यसमप्रभ !।
अज्ञानान्धस्य मे नित्यं विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥

१०. त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
नमितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥ इति ।

दूसरी जगहों में चक्रधारण के विशेष मन्त्र भी दिये गये हैं—'हे सुदर्शन, तुम बहुत ज्वालाओं से युक्त हो, करोड़ों सूर्य के बराबर तुम्हारी ज्योति है, मैं अज्ञान के कारण अंधा हूँ, मुझे विष्णु का मार्ग प्रतिदिन दिखलाओ ॥ ९ ॥' 'तुम पहले समुद्र में उत्पन्न हुए थे, विष्णु ने तुम्हें अपने हाथ में धारण किया था, सभी देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया है, हे पांचजन्य शंख, तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥'

(६ क. नामकरण और भजन)

नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम् । भजनं दशविधं—वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायः, कायेन दानं परित्राणं परिरक्षणं, मनसा दया स्पृहा श्रद्धा चेति । अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणे समर्पणं भजनम् । तदुक्तम्—

अङ्कनं नामकरणं भजनं दशधा च तत् । इति ।

एवं ज्ञेयत्वादिनापि भेदोऽनुमातव्यः ।

नामकरण का अभिप्राय है अपने पुत्र आदि का केशव आदि (वैष्णव) नाम रख कर पुकारना जिससे भगवान् के नामों का अनुस्मरण होता रहे । भजन दस प्रकार का है—वाणी के द्वारा सत्य, हित, प्रिय वचन तथा स्वाध्याय; शरीर से दान, बचाव और रक्षा करना; मन से दया, स्पृहा (इच्छा) और श्रद्धा । इनमें एक-एक की प्राप्ति कर लेने पर उसे नारायण को समर्पण कर देना ही भजन है । ऐसा ही कहा है—अंकन, नामकरण तथा दस प्रकार के भजन—यही सेवा है ।

[इस प्रकार सेव्य-हेतु से भेद का अनुमान किया गया]। वैसे ही ज्ञेयत्व आदि हेतुओं के द्वारा भी भेद का अनुमान हो सकता है।

विशेष—ज्ञेयत्व के द्वारा भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—
परमात्मा जीव से भिन्न है क्योंकि जीव के द्वारा वह ज्ञेय है,
जो जिसके द्वारा ज्ञेय होता है वह उससे भिन्न है जैसे जीव से घट।

(७. श्रुति-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

तथा श्रुत्यापि भेदोऽवगन्तव्यः। 'सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति, रातिं देवस्य गृणतो मघोनः।' 'सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो, यज्ञेषु विप्रराज्ये।' 'सत्य आत्मा, सत्यो जीवः, सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा, मैवारुवण्यो मैवारुवण्यो मैवारुवण्य' इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्यः।

उसी तरह श्रुति-प्रमाण (Revelation) से भी भेद की सत्ता जानी जा सकती है। 'यह सच है कि स्तुति करने वाले धनयुक्त (अथवा इन्द्र) देव के इस मित्र (राति = दान) से सभी लोग प्रसन्न होते हैं। [इन्द्र के मित्र विष्णु से सभी प्रसन्न होते हैं अर्थात् विष्णु और लोक में पार्थक्य है।]' 'उन (विष्णु भगवान्) की वह महिमा सच है, मैं ब्राह्मणों के राज्य-रूपी यज्ञों में सुख (शवः) के उद्देश्य से उनकी प्रार्थना करता हूँ।' [√गृ = प्रार्थना करना (क्र्यादि. परस्मै०)।] 'आत्मा (परमात्मा) सत्य है, जीव सत्य है, उन दोनों का भेद भी सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य है, [परमात्मा] दुष्टों के द्वारा (आरुभिः) सेवनीय (वन्यः) नहीं है (मा एव), दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है, दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है।' इन श्रुतियों में मोक्ष और आनन्द में भेद का प्रतिपादन किया गया है। [आरु—अर = दोष, अर + उण् (मतुप् के अर्थ में) = आरु = दोषयुक्त।]

११. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥(गी० १४।२)

'जगद्व्यापारवर्जम्'; 'प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७-१८) इत्यादिभ्यश्च। न च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतिबलाज्जीवस्य पारमैश्वर्यं शक्यशङ्कम्।

'संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्'—इतिवद् बृंहितो भवतीत्यर्थपरत्वात् ।

[गीता में कृष्ण कहते हैं—] 'इस ज्ञान (परमात्मा के ज्ञान) को पाकर मनुष्य मेरे समान हो जाते हैं, वे सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय (विनाशकाल) में भी दुःखों का अनुभव नहीं करते' (गीता० १४।२) [इसमें मोक्ष के बाद भी भेद ही रहता है क्योंकि ज्ञान पाकर मनुष्य ईश्वर के समान हो जाता है । ईश्वर ही नहीं बन जाता ।] 'संसार के व्यापारों (नियमन, सृष्टि आदि) को छोड़कर [मुक्त पुरुष सभी कार्य कर सकता है] क्योंकि जीव का प्रकरण (प्रसंग) इतना ही है, तथा जीवों को संसार के व्यापार से दूर रखा गया है (उनमें वह सामर्थ्य नहीं है, ब्र० सू० ४।४।१७–१८)—इस श्रुतिवाक्यों में भेद का ही वर्णन है । 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (मु० ३।२।९) इस श्रुति के बल से ऐसी शंका न करें कि जीव ही परमेश्वर है क्योंकि इसमें केवल प्रशंसा की गई है, (तथ्य का निरूपण नहीं) जैसा कि इस श्लोकार्ध में अर्थ है—'भक्ति से ब्राह्मण की पूजा करने पर शूद्र भी ब्राह्मण ही हो जाता है ।' [इस एकावस्था-प्रतिपादक श्रुति को अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें ।]

(८. माया का अर्थ—द्वैत का प्रतिपादन)

ननु—

१२. प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥
(माण्डूक्यकारिका १।१७)

इति वचनाद् द्वैतस्य कल्पितत्वमवगम्यत इति चेत्सत्यम् । भावमनभिसंधायाभिधानात् । तथा हि—यद्ययमुत्पद्येत तर्हि निवर्तेत न संशयः । तस्मादनादिरेवायं प्रकृष्टः पञ्चविधो भेद-प्रपञ्चः । न चायमविद्यमानः । मायामात्रत्वात् । मायेति भगवदिच्छोच्यते ।

[माण्डूक्य कारिका (अद्वैतग्रन्थ) में कहा है कि] यदि प्रपञ्च की सत्ता वास्तव में है तो वह नष्ट भी होगा, इसमें सन्देह नहीं । यह द्वैत (Difference) केवल माया है, वास्तव में तो अद्वैत ही सत्य है (मा० का० १।१७)—इस वाक्य से कोई शंका कर सकता है कि द्वैत (भेदवाद) काल्पनिक है । हाँ, ठीक

है, लेकिन बिना भाव को सोचे-समझे कहने का यह फल है [कि शंका दिखलाई पड़ती है।] इसे समझने की चेष्टा करें—यदि यह (प्रपञ्च) उत्पन्न होता तभी इसका विनाश होता इसमें सन्देह नहीं। इससे पता लगता है कि यह प्रकृष्ट भेद प्रपञ्च (भेदात्मक संसार) पाँच प्रकार का है। इसकी सत्ता नहीं है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि यह मायामात्र है। माया का अर्थ है भगवान् की इच्छा।

विशेष—माण्डूक्य कारिका की प्रथम पंक्ति से उस स्थान में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रपञ्च माया है, काल्पनिक है, जब कि मध्व इससे दूसरा ही निष्कर्ष निकालते हैं कि यह प्रपञ्च अनादि है। यह माया अर्थात् ईश्वर की इच्छा ही है। महाभारततात्पर्यनिर्णय में कहा गया है—

पञ्चभेदांश्च विज्ञाय विष्णोः स्वाभेदमेव च।
निर्दोषत्वं गुणोद्रेकं ज्ञात्वा मुक्तिर्न चान्यथा ॥ (१।८२)।

अब पौराणिक वाक्यों का उद्धरण देकर माया की व्याख्या की जायगी।

१३. महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्तकथ्यते ॥
१४. प्रकृतिः प्रकृष्टकरणाद्वासना वासयेद्यतः।
अ इत्युक्तो हरिस्तस्य मायाविद्येति संज्ञिता ॥
१५. मायेत्युक्ता प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टे हि मयाभिधा।
विष्णोः प्रज्ञप्तिरेवैका शब्दैरेतैरुदीर्यते ॥
१६. प्रज्ञप्तिरूपो हि हरिः सा च स्वानन्दलक्षणा।
इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यबलात्।

हे अनन्त ईश्वर! आपकी इच्छा को ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रकृति और वासना भी कहते हैं ॥ १३ ॥ अधिक उत्पन्न होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं, विचारों को पैदा करने के कारण इसे वासना कहते हैं। 'अ' का अर्थ हरि है, उनकी माया (इच्छा) को अविद्या नाम देते हैं ॥ १४ ॥ प्रकृष्ट (बड़ा) होने के कारण इसे माया कहते हैं क्योंकि 'मय' का अर्थ 'बड़ा' होता है। इन शब्दों से एकमात्र विष्णु की प्रज्ञा (Excellent Knowledge) का ही बोध होता है ॥ १५ ॥ हरि विशिष्ट ज्ञान के स्वरूप हैं, उस विशिष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) का लक्षण है निरन्तर (अपने आप) आनन्द-प्राप्ति ॥ १६ ॥—इन वचनों के प्रमाण से [माया का अर्थ भगवान् की इच्छा सूचित होता है]।

सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञातत्वाद्रक्षितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम्। न हीश्वरे सर्वस्य भ्रान्तिः संभवति। विशेषादर्शननिबन्धनत्वाद् भ्रान्तेः।

तर्हि तद्व्यपदेशः कथमित्यत्रोत्तरमद्वैतं परमार्थत इति। परमार्थत इति परमार्थापेक्षया। तेन सर्वस्मादुत्तमस्य विष्णुतत्त्वस्य समाभ्यधिकशून्यत्वमुक्तं भवति।

[ऊपर प्रपंच को मायामात्र कहा गया है। अब मायामात्र शब्द का अर्थ करते हैं—] ईश्वर की उपर्युक्त प्रज्ञा (इच्छा, माया, बुद्धि) जिसको मापे (Measure out) और जिसकी रक्षा करे वही है मायामात्र (माया + √मा + √त्रा)। अत: यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर इस प्रपञ्च को जानते हैं तथा रक्षा भी करते हैं (अर्थात् प्रपञ्च सत्य है, तभी तो परमेश्वर इसे जानते हैं तथा रक्षा करते हैं)। इसलिये द्वैत भ्रान्ति (भ्रम Illusion) के द्वारा कल्पित नहीं है (सत्य है)। ईश्वर को भी सभी पदार्थों के विषय में भ्रान्ति होगी— यह सम्भव नहीं हैं क्योंकि भ्रान्ति विशेष (भेद) के अ-दर्शन पर निर्भर करती है। [ईश्वर के लिये कोई भी पदार्थ अदृश्य नहीं—वे सब कुछ देखते हैं इसलिये उन्हें भ्रान्ति नहीं होगी।]

फिर [माण्डूक्य कारिका में] उसका उल्लेख ही क्यों हुआ ? [ईश्वर के लिये 'अद्वैत: सर्वभावानाम्' आदि श्लोकों में अद्वैत शब्द से क्यों अभिहित किया गया है ?] इसका उत्तर है कि परमार्थ से अद्वैत तत्त्व होता है। 'परमार्थ से' का मतलब है परमार्थ की अपेक्षा रखने पर। इसलिये अभिप्राय यही है कि सबों से ऊँचा विष्णु-तत्त्व है, कोई न तो उसके समान है, न उससे ऊँचा।

विशेष—अद्वैत की खींच-तान खूब ही की गई है। तत्त्व परमार्थत: अद्वैत है अर्थात् परम (सबसे ऊँचे) अर्थ (= विष्णु) को लक्षित करने पर तत्त्व अद्वैत ही है। विष्णु सबसे ऊँचा है, एक ही तत्त्व है क्योंकि उतना ऊँचा कोई तत्त्व नहीं, न तो उसकी कोई बराबरी कर सकता न उससे बढ़ सकता है। अत: अद्वैत का अर्थ है सबसे ऊँचा, न कि एकमात्र तत्त्व।

तथा च परमा श्रुतिः—

१७. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

१८. मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात् ॥

१९. न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः।
कल्पितश्चेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते ॥

२०. द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्।
मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना ॥

तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु। इत्यादि।
तस्माद्विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव तात्पर्यं सर्वागमानाम्।

इसीलिए परम श्रुति यही है—'जीव और ईश्वर में भेद है, जड़ और ईश्वर में भेद है, जीवों में परस्पर भेद है, जड़ और जीवों में भेद है, जड़ों में भी परस्पर भेद है—इस प्रकार संसार (प्रपंच) में पाँच प्रकार के भेद हैं। यही भेद सच्चा है और अनादिकाल से चला आ रहा है। यदि इसका कहीं आरंभ हुआ होता तो नष्ट भी हो जाता ॥ १८ ॥ किन्तु यह नष्ट (समाप्त) नहीं होता, यह भ्रान्ति से भी कल्पित नहीं है। यदि कल्पित होता तो इसकी समाप्ति भी हो सकती। लेकिन इसकी समाप्ति नहीं होती ॥ १९ ॥ इसलिए 'द्वैत की सत्ता नहीं है' ऐसा सिद्धान्त अज्ञानियों का है। ज्ञानियों का तो यह मत है कि इस प्रपंच की मिति (नापा जाना) तथा रक्षा विष्णु के द्वारा होती है इसलिए इसे 'मात्र' कहते हैं, हरि ही सबसे ऊँचे हैं।' इत्यादि।

अतएव सभी आगमों का तात्पर्य यही है कि विष्णु ही सबसे ऊँचे हैं।

(९. ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के अन्य प्रमाण)

एतदेवाभिसंधायाभिहितं भगवता—

२१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

२२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

२३. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

२४. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
२५. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥
(गी० १५।१६–२०) इति ।

इन्हीं बातों पर ध्यान रखते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है—'संसार में ये ही दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। ये सभी पदार्थ (Beings) क्षर (Perishable) हैं, वह कूटस्थ अर्थात् अविकृत पदार्थ ही अक्षर (Imperishable) कहा जाता है[1] ॥ २१ ॥ इनसे पृथक् एक दूसरा पुरुष है जो परमात्मा के नाम से पुकारा जाता है। वह अव्यय (Undecaying) ईश्वर है जो तीनों लोकों को अपने में समेट करके ही धारण करता है ॥ २२ ॥

[कृष्ण आगे कहते हैं—] 'चूँकि मैं क्षर-पदार्थ के ऊपर हूँ तथा अक्षर से भी ऊँचा हूँ, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम के रूप में विख्यात हूँ ॥ २३ ॥ संमोह (Infatuation) से रहित होकर जो व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है; हे अर्जुन, वह सब कुछ जान जाता है तथा सब प्रकार से मुझे भजता है ॥ २४ ॥ हे निष्पाप (अर्जुन), इस प्रकार मैंने सबसे अधिक गोपनीय शास्त्र का वर्णन किया, हे अर्जुन, इसे जान कर मनुष्य बुद्धिमान् (आन्तरिक ज्ञान सम्पन्न) तथा कृतकृत्य (अपने कार्यों को समाप्त कर देने वाला) हो जाता है।' (गीता १५।१६-२०)।

(१०. मोक्ष ईश्वर के प्रसाद से ही मिलता है)

महावराहेऽपि—
२६. मुख्यं च सर्ववेदानां तात्पर्यं श्रीपतौ परे ।
उत्कर्षे तु तदन्यत्र तात्पर्यं स्यादवान्तरम् ॥ इति ।

---

१. तुल०—ब्रह्मा शिवः सुरेशाद्याः शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि क्षर हैं क्योंकि इनके शरीर नष्ट होते हैं। अक्षर देह होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है। इन दोनों चेतनों से भिन्न हरि हैं। लोक= संसार या पर्यालोचना करने पर।

युक्तं च विष्णोः सर्वोत्कर्षे महातात्पर्यम् । मोक्षो हि सर्व-पुरुषार्थोत्तमः ।

२७. धर्मार्थकामाः सर्वेऽपि न नित्या मोक्ष एव हि ।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्नरः ॥
इति भाल्लवेयश्रुतेः ।

महावराह (पुराण) में भी कहा गया है कि सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य परम श्रीपति (विष्णु) में ही स्थित है, उनसे भिन्न किसी देवता के गुणों में तात्पर्य होना तो गौण (Subordinate purport) है ॥ २६ ॥ यह युक्तिसंगत है कि विष्णु के उत्कर्ष का वर्णन ही महान् (मुख्य) तात्पर्य [उन वेदों का] है । मोक्ष ही सभी पुरुषार्थों में ऊँचा है जैसा कि भाल्लवेय उपनिषद् में कहा गया है—'धर्म, अर्थ और काम ये सब कोई भी नित्य नहीं हैं; नित्य कोई है तो मोक्ष—इसलिये उसी की प्राप्ति के लिये बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिए ।'

मोक्षश्च विष्णुप्रसादमन्तरेण न लभ्यते ।

२८. यस्य प्रसादात्परमार्त्तिरूपा-
दस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण ।
नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो
मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात् ॥
इति नारायणश्रुतेः ।

२९. तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तात्
निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति ॥
(वि० पु० १।१७।९१)

इति विष्णुपुराणोक्तेश्च । प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव नाभेद-ज्ञानादित्युक्तम् ।

विष्णु की कृपा के बिना मोक्ष नहीं मिलता जैसा कि नारायण उपनिषद् में कहा गया है—'जिनकी कृपा पाकर परम दुःख-रूपी इस संसार से लोग मुक्त

हो जाते हैं, दूसरे लोग (बिना कृपा पाये) नहीं। इस कर्म के जाल से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उन परम नारायण का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए।' ॥ २८ ॥ विष्णुपुराण में भी कहा गया है—'उन भगवान् (विष्णु) के प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में कौन पदार्थ दुर्लभ है ? धर्म, अर्थ और काम की प्रार्थना करना व्यर्थ है क्योंकि वे बहुत थोड़े हैं (अस्थायी हैं)। अनन्त ब्रह्मवृक्ष पर आश्रित रह कर [मुक्ति के इच्छुक लोग] निःसन्देह मुक्ति रूपी फल प्राप्त करते हैं।' ॥ २९ ॥ यह कहा गया है कि गुणों के उत्कर्ष का ज्ञान होने से ही [भगवान् की] कृपा प्राप्त होती है, अभेद का ज्ञान होने से नहीं (जैसा कि अद्वैतवादी कहा करते हैं)।

(११. 'तत्त्वमसि' का अर्थ)

न च तत्त्वमस्यादितादात्म्यव्याकोपः। श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भणात्।

३०. आह नित्यपरोक्षं तु तच्छब्दो ह्यविशेषतः।
त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत् ॥

३१. आदित्यो यूप इतिवत्सादृश्यार्था तु सा श्रुतिः। इति।

तथा च परमा श्रुतिः—

३२. जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।
एकस्थाननिवेशो वा व्यक्तिस्थानमपेक्ष्य सः॥

३३. न स्वरूपैकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः।
स्वातन्त्र्यपूर्णतेऽल्पत्वपारतन्त्र्ये विरूपते ॥ इति।

ऐसा कहना ठीक नहीं कि 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) इस वाक्य में स्थित [जीव और ईश्वर के बीच] तादात्म्य-सम्बन्ध से कोई विरोध है क्योंकि ऐसा कहना वेदों के तात्पर्य को न जानकर किया गया बकवाद (Babbling) है।

[प्रश्न यह है कि] 'तत्' शब्द सामान्य-रूप से नित्य-परोक्ष पदार्थ का बोध कराता है, दूसरी ओर, 'त्वम्' शब्द प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है दोनों में एकता कैसे हो सकती है ? [किन्तु उत्तर यही होगा कि] इस श्रुतिवाक्य में 'आदित्य ही यूप है' (= आदित्य के समान यूप है)—इस वाक्य की तरह ही [लक्षणा] से सादृश्य का अर्थ है। [जिस प्रकार आदित्य और यूप (यज्ञ का खूँटा) में एकता असम्भव देख कर सादृश्य—अर्थ की कल्पना होती है उसी

प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' में एकता असम्भव होने से इस श्रुति में जीव को ब्रह्म का सरूप (सदृश) मानने का तात्पर्य लिया जाता है ।]

जैसा परम श्रुति में कहा गया है—'जीव की परम (Ultimate) एकता का अर्थ है बुद्धि (ज्ञान) में समरूप (Similar) हो जाना [यद्यपि परमात्मा के ज्ञान के अनुसार जीव का ज्ञान होने के कारण परमात्मा जो जो जान सकता है वही जीव नहीं जान सकता], या एक ही स्थान पर रहना (वैकुण्ठ लोक में जीव और परमात्मा का एक साथ रहना ही जीव की एकता है), किन्तु यह निवास मूलस्थान के व्यंजक (वैकुण्ठ लोक) को ही ध्यान में रखते हुए कहा गया है । ['एक साथ निवास करना' कहने पर बद्ध जीवों के साथ भी परमात्मा का रहना सम्भव है, पर ऐसी बात नहीं । मूलस्थान अर्थात् वैकुण्ठलोक में ही एक स्थान पर रहने का अभिप्राय है इसीलिए 'व्यक्ति स्थान' का उल्लेख किया गया है ।]' ।। ३२ ।।

'जीव [बद्ध तो क्या,] यदि मुक्त हो जाय तब भी विरुद्ध धर्म होने के कारण (विरूपतः) ईश्वर से स्वरूप में एक नहीं हो सकता । उन दोनों में विरूपतायें यही हैं—ईश्वर में स्वतन्त्रता और पूर्णता है जब कि जीव में अल्पता (अणुत्व) और परतन्त्रता है ।। ३३ ।।'

(११ क. तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ)

अथवा तत्त्वमसीत्यत्र स एवात्मा स्वातन्त्र्यादिगुणोपेतत्वात् । अतत्त्वमसि त्वं तत्र भवसि तद्रहितत्वादित्यैकत्वमतिशयेन निराकृतम् । तदाह—

अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम् । इति ।

तस्माद् दृष्टान्तनवकेऽपि 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः' (छा० ६।८।२) इत्यादिना भेद एव दृष्टान्ताभिधानान्नायमभेदोपदेश इति तत्त्ववादरहस्यम् ।

[अब 'आत्मा तत्त्वमसि' की व्याख्या दूसरे प्रकार से करने के लिए इसका पदच्छेद दूसरे रूप में करते हैं कि 'आत्मा + अतत् + त्वमसि' = तुम वही नहीं हो । इसके लिए वे कहते हैं—] या यह भी सम्भव है कि 'तत्त्वमसि' में [इसके पूर्व] उसी आत्मा (परमात्मा) का अर्थ हो जो स्वतन्त्रता आदि गुणों से युक्त है । [किन्तु इसके बाद] 'अतत् त्वम् असि' का अर्थ यही है कि तुम वही (परमात्मा) नहीं हो क्योंकि स्वतन्त्रता आदि वे गुण तुममें नहीं हैं ।

इसलिये दोनों की एकता का निराकरण अच्छी तरह किया गया है। जैसा कि कहते हैं—'अतत् त्वम्' के रूप में छेद करें जिससे [जीव और ईश्वर की] एकता अच्छी तरह निराकृत कर दी जाय।

[फिर भी प्रश्न हो सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ से यह वाक्य लिया गया है वहाँ पर तो नव उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि जीव और ईश्वर एक हैं—तत् त्वम् असि। इसके उत्तर में वे कहते हैं—] इसीलिए नवों दृष्टान्तों के द्वारा, 'जैसे पक्षी सूते में बँध जाने पर' इत्यादि (छा० ६।८।२) वाक्यों से भेद का प्रतिपादन है, दृष्टान्त देकर यह समझाया गया है कि इनमें अभेद (अद्वैत) का उपदेश नहीं है—ऐसा तत्त्ववादरहस्य में कहा गया है।]

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में सद्विद्या का प्रकरण है। वहाँ आठवें खंड से आरम्भ करके सोलहवें खण्ड तक (कुल नव खण्डों में) प्रत्येक खण्ड में एक-एक उदाहरण देकर अंत में 'आत्मा तत्त्वमसि' निष्कर्ष निकाला गया है। वहाँ स्पष्ट रूप से ऐक्य का प्रतिपादन है, पर मध्व भेद स्वभाव के कारण दृष्टान्तों को भेद-प्रतिपादक मानते हैं। उन दृष्टान्तों का अवलोकन करें।

(१) प्रथम खण्ड में यह कहा गया कि सुषुप्ति अवस्था (Sleep) का अनुभव सभी प्राणी करते हैं। इसी अवस्था में जीव सद्रूप (Having reality as essence) ब्रह्म से संपन्न होता है। इसके लिए दृष्टान्त है—जैसे व्याध के हाथ में स्थित रस्सी में बंधा हुआ पक्षी बंधन से बचने के लिए इधर-उधर गिरकर कहीं आश्रय न पाकर फिर बन्धन में ही लौट आता है, उसी प्रकार जीव भी स्वप्न और जागृति की अवस्था में इधर-उधर गिरकर कहीं विश्रान्ति न पाने पर सुषुप्ति अवस्था में सद्रूपी ब्रह्म का ही आश्रय लेता है। मध्व कहते हैं कि इस दृष्टान्त में आश्रय-आश्रित का भेद है, यह शकुनि (पक्षी) और सूते के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। अतः ब्रह्म और जीव में भी भेद है। वही 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' कह कर दिखलाया गया है। [उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह समझाते हैं।]

(२) द्वितीय खंड में यह बतलाया गया है—'इस शरीर में जीव को आश्रय देने वाला उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि भेदरूप में किसी ऐसे पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती।' इस शंका के निवारण के लिए दृष्टान्त है—जैसे भौंरे नाना प्रकार के वृक्षों के फूलों का रस लाकर एकत्र करते हैं तब मधु बनता है। उसके रस भिन्न होने पर भी यह नहीं जानते कि मैं इस फूल का रस हूँ, वह उस फूल का—इस प्रकार वे आपसी भेद नहीं जानते। वैसे ही जीव भी अपने

आश्रय को नहीं जानते। वास्तव में आश्रय तो है ही। इस प्रकार 'जहाँ भेद नहीं दिखलाई पड़ता, वहाँ भेद है ही नहीं'— इस नियम का उल्लंघन हुआ। भेद नहीं दिखलाई पड़ने पर भी भेद की सत्ता रह सकती है। फिर भी शंका हो सकती है कि चेतन पदार्थों में तो यह नियम रहेगा ही कि भेद न दिखलाई पड़ने पर भेद नहीं हो। इसका उत्तर आगे है।

(३) तृतीय खंड में कहते हैं कि जैसे गंगा, यमुना आदि नदियों की चेतन देवियाँ समुद्र में चली जाने पर यह नहीं जानतीं, कि मैं गंगा हूँ, वह यमुना, और मेघ के द्वारा समुद्र से निकल जाने पर भी अपना अस्तित्व नहीं जानतीं, मेघ से पृथ्वी पर गिरने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं, उसी प्रकार जीव भी जागृति-सुषुप्ति में आश्रय का ज्ञान नहीं रखता। परन्तु मध्व के अनुसार भेद तो है ही। इस प्रकार चेतन पदार्थों में भी उस नियम का उल्लंघन होता है। फिर भी शंका होगी कि ईश्वर जीव से भिन्न होने पर भी जीव को अपने अधीन कैसे रखेगा ?

(४) चतुर्थ खंड में इसका उत्तर है। वृक्ष के मूल में, बीच में, आगे में या कहीं भी आघात होने पर केवल रस का स्राव (Flow) होता है, वृक्ष ही नहीं सूख जाता। कभी-कभी तो बाहरी कारण के अभाव में भी वृक्ष सूख जाता है—यह जीव के अधीन नहीं है। जीव तो सदा सुख ही चाहता है। जैसे वृक्ष के शरीर में रहने वाला जीव ईश्वर के अधीन है वैसे ही मनुष्यादि के शरीर में रहने वाला जीव भी ईश्वराधीन ही होगा। इससे भेदवादी जीव से भिन्न, जीवाश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि करते हैं। फिर भी अद्वैतवादी शंका करेंगे कि किस कारण से ईश्वर का ज्ञान जीव को नहीं होता ?

(५) पंचम खंड में इसके समाधान के लिए कहा है कि जैसे वटवृक्ष के फल को तोड़ने पर सूक्ष्म बीज दिखलाई पड़ते हैं। इन बीजों के तोड़ने पर कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि ये बीज के बीज और भी सूक्ष्म हैं। किन्तु इन सूक्ष्मतर बीजावयवों से ही विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है। ईश्वर भी जीव की अपेक्षा परम सूक्ष्म होने के कारण ज्ञात नहीं होता। सूक्ष्म अवयवों (कारण) को न देखने पर भी हम वटवृक्ष (कार्य) को देख सकते हैं। वैसे ही कार्यरूप संसार को देखने पर भी कारण-स्वरूप ईश्वर को नहीं देख सकते। पर इस पर विश्वास कैसे करें ?

(६) षष्ठ खंड में उत्तर दिया गया है कि पानी में डालने पर नमक जब विलीन हो जाता है तब कहीं दिखलाई नहीं पड़ता, त्वचा (Skin) से भी स्पर्श का अनुभव नहीं होता, हाँ, जीभ से उसे जान सकते हैं। जैसे लवण के

गुण (रस) का अनुभव करने पर भी लवण दिखलाई नहीं पड़ता वैसे ही ईश्वर की सामर्थ्य का दर्शन होने पर भी ईश्वर दिखलाई नहीं पड़ते। फिर ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म ईश्वर को जानते और पाते कैसे हैं ?

(७) सप्तम खंड में कहा है कि जैसे गान्धार देश के एक धनी निवासी को चोर मिलकर हाथ पैर बाँध दें, आँखों पर पट्टी बाँध दें और सब कुछ छीन कर जंगल में छोड़ दें—उसे ऐसी अवस्था में रोते कलपते देखकर कोई दयालु पुरुष बंधन से छुड़ा दे और कह दे कि इस दिशा में गांधार देश है, चले जाओ, वह धनी भी गाँव-गाँव घूमते हुए गान्धार पहुँच जाता है; ठीक उसी प्रकार कर्मरूपी चोरों के द्वारा जीव का सारा ज्ञान छीन लिया जाता है और वह जीव शरीररूपी जंगल में छोड़ दिया जाता है, कोई कृपालु सद्गुरु उसे उपदेश देते हैं और वह श्रवण, मनन आदि साधनों से होते हुए अपनी जन्मभूमि अर्थात् भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वृक्ष के शरीर में स्थित जीव भगवान् के अधीन है वैसे ही मनुष्य के शरीर में भी अनुमान कर लें, यह चतुर्थ खण्ड का तात्पर्य यहाँ भी कहा है। अब मनुष्य के शरीर में ही जीव की ईश्वराधीनता का अनुभव होता है इसके लिए अष्टम खण्ड में लिखते हैं।

(८) अष्टम खंड में कहा है कि मनुष्य की जब मृत्यु निकट आती है तब वाणी आदि का नाश होने से वह कुछ बोल नहीं पाता, निकट आये हुए बन्धु-बान्धवों को भी नहीं पहचानता। ईश्वराधीन होने के कारण जीव भी उसी दशा का अनुभव करता है।

(९) नवम खंड में कहा है कि जिस चोर पर राजा को सन्देह है, उसके यह कहने पर भी कि मैंने चोरी नहीं की है, राजाधिकारी लोग परीक्षा के लिए गर्म लोहा उसके हाथ पर रखते हैं। झूठ बोलने वाला चोर जल जाता है, सत्य बोलने वाला सत्य के द्वारा व्यवधान पड़ने से नहीं जलता। इसी तरह तत्त्व को जानने वाला भी मुक्त हो जाता है दूसरे लोग बन्धन में रहते हैं। परमात्मा को भेदरूप में जानने वाला ही तत्त्वज्ञानी है।

इस प्रकार नवों स्थानों में भेद का ही प्रतिपादन है। पक्षी और सूते में, विभिन्न वृक्षों के रसों में, नदी और समुद्र में, जीव और वृक्ष में, वटवृक्ष और सूक्ष्म बीजों में, नमक और पानी में, गान्धार और पुरुष में, मरणासन्न और उसके बन्धुओं में तथा चोर और वस्तु में ऐक्य हो नहीं सकता। विशेष के लिए छांदोग्योपनिषद् ही देखें।

(११ ख. उक्त नव दृष्टान्तों से भेदसिद्धि)

तथा च महोपनिषद्—

३४. यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा।

यथा नद्यः समुद्राश्च यथा जीवमहीरुहौ ॥

३५. यथाणिमा च धाना च शुद्धोदलवणे यथा ।
चोरापहार्यौ च यथा यथा पुंविषयावपि ॥

३६. यथाज्ञो जीवसंघश्च प्राणादेश्च नियामकः ।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ ॥

३७. तथापि सूक्ष्मरूपत्वान्न जीवात्परमो हरिः ।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते प्रेरकोऽपि सन् ॥

३८. वैलक्षण्यं तयोर्ज्ञात्वा मुच्यते बध्यतेऽन्यथा । इति ।

इसलिए महोपनिषद् में कहा गया है—'जैसे पक्षी और सूत्र, जैसे नाना प्रकार के वृक्षों के रस, जैसे नदियाँ और समुद्र, जैसे जीव और वृक्ष, जैसे अणुता और धारणशक्ति, जैसें शुद्ध जल और नमक, जैसे चोर और अपहरणीय वस्तु, जैसे पुरुष और उसके विषय, जैसे अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक—ये सब भिन्न हैं उसी प्रकार जीव और ईश्वर विभिन्न लक्षणों के होने के कारण सदा ही भिन्न हैं ॥ ३४-३६ ॥ फिर भी सूक्ष्मरूप होने के कारण परम (सर्वोच्च) हरि को मन्द दृष्टि वाले पुरुष जीव से भिन्न रूप में नहीं देखते हैं यद्यपि वे ही (हरि) सबों को कार्य में प्रवृत्त करते हैं ॥ ३७ ॥ इन दोनों की विलक्षणता (Difference) जानने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है, नहीं तो वह बन्धन में पड़ा रहता है ॥'

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के उक्त नव उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसमें भी क्रम में कुछ परिवर्तन किया गया है । एक ही बात—भेद—का प्रतिपादन करने से कुछ एकरसता-सी लगती है ।

३९. ब्रह्मा शिवः सुराद्याश्च शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥

४०. स्वातन्त्र्यशक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः ।
निःसीमत्वेन ते सर्वे तद्वशाः सर्वदैव च ॥ इति ।

४१. विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितः ।
निर्दुःखानन्दभुङ् नित्यं तत्समीपे स मोदते ॥

४२. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा ।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदैव स ईश्वरः ॥
इति च ।

'ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि क्षर कहलाते हैं क्योंकि इनके शरीर नाशवान् हैं, अनश्वर शरीर होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है, हरि इन दोनों से परे हैं ॥३९॥ स्वतन्त्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि सभी गुणों के ईश्वर में असीम मात्रा में होने के कारण सर्वदा सभी पदार्थ उनके वश में रहते हैं ॥ ४० ॥'

'विष्णु को सभी गुणों से परिपूर्ण जानकर, पुरुष संसार (आवागमन) से मुक्त हो जाता है, दुःख से रहित आनन्द का भोग करते हुए नित्यरूप से वह (पुरुष) परमात्मा के पास सुख-भोग करता है ॥ ४१ ॥ मुक्त पुरुषों के आश्रय विष्णु ही हैं, सर्वोच्च स्वामी वे ही हैं। उन्हीं के वश में वे सब हमेशा के लिए रहते हैं, वे ही ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥'

(१२. एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान—इसका अर्थ)

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च प्रधानत्वकारणत्वादिना युज्यते न तु सर्वमिथ्यात्वेन । न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं संभवति । यथा प्रधानपुरुषाणां ज्ञानाज्ञानाभ्यां ग्रामो ज्ञातोऽज्ञात इत्येवमादिव्यपदेशो दृष्ट एव । यथा च कारणे पितरि ज्ञाते जानात्यस्य पुत्रमिति । यथा वा सादृश्यादेकस्त्रीज्ञानाद् अन्यस्त्री-ज्ञानमिति ।

[छान्दोग्योपनिषद् (६।१।४) में एक वाक्य है—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'। इसके पूर्व में वाक्य है—एवं चाविज्ञातं विज्ञातं भवति। इन उद्धरणों में एक के ज्ञान से सभी अविज्ञात वस्तुओं के ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसका अर्थ अद्वैतवेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या मानते हुए करते हैं। जगत् ब्रह्म की शक्ति अविद्या से विवर्तरूप से उत्पन्न हुआ है, वह मिथ्या है इसीलिए वास्तव में आत्मा का ज्ञान ही सब कुछ है, उसे जानने से ही सबों का ज्ञान हो जाता है—इसी के आधार पर जगत् को मिथ्या मानते हैं। लेकिन मध्वाचार्य इस श्रुतिवाक्य का दूसरे रूप में अर्थ करते हैं, दोनों के फलों या निष्कर्षों में अन्तर है। उनका कहना है कि] एक के जानने से सबों का जानना इसलिए युक्तियुक्त है कि प्रधानता या कार्यकारण-सम्बन्ध आदि होने के कारण ऐसा कहा गया है, इसलिए नहीं कि सब कुछ मिथ्या है।

इसका कारण यह है कि सत्य वस्तु (जैसे शुक्ति, ब्रह्म आदि) के ज्ञान से मिथ्या वस्तु (रजत, जगत् आदि) का ज्ञान सम्भव नहीं है। [सीपी को जानने से चांदी को भी जान लेगा, ऐसी स्थिति कहीं नहीं है बल्कि यही ज्ञान हो सकता है कि यह चाँदी नहीं है। दोनों ज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं।][1]

[अब प्रधानता, कार्यकारणसंबंध तथा सादृश्य के कारण उक्त श्रुति कैसे युक्तियुक्त है इसका विवेचन करते हैं—] जैसे किसी गाँव के प्रधान व्यक्तियों को जानने या न जानने से गाँव को ही जानने या नहीं जानने का लौकिक-प्रयोग लोगों में साधारणतः देखा जाता है। पुनः जिस प्रकार कारण के रूप में पिता को जान लेने पर उसके पुत्र को भी जान लेते हैं अथवा जिस तरह **सादृश्य** के कारण एक स्त्री को जान लेने पर दूसरी स्त्रियों का ज्ञान हो जाता है।

विशेष—एक विज्ञान से सबों का विज्ञान स्वरूप पर आधारित नहीं है, फल पर ही निर्भर करता है। ऐसी बात नहीं है कि एक वस्तु का स्वरूप जान लेने पर सभी वस्तुओं का विधिवत् ज्ञान हो जाता है। बल्कि सबों के ज्ञान का फल एक के ज्ञान से ही मिलता है। प्रधान वस्तु के ज्ञान से सबों का ज्ञान होता है, कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है तथा किसी वस्तु के ज्ञान से उसकी तरह की अन्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। स्त्री का लक्षण है—स्तनों और केशों (कोमल) का होना,[2] इसे देखने से अन्य स्त्रियों के ज्ञान का फल मिल जाता है। दूसरी स्त्रियों को देखने पर अपने आप पहला ज्ञान चला आता है। किन्तु इस सादृश्य के आधार पर जीव और ईश्वर के बीच सादृश्य स्थापित नहीं कर सकते। कुछ बातों में ऐसा हो सकता है, पर सभी पहलुओं से नहीं। ब्रह्म और जीव में चैतन्य, सत्यता, ज्ञान आदि की तुलना हो सकती है परन्तु स्वतन्त्रता आदि कतिपय गुणों का सादृश्य नहीं है क्योंकि श्रुति प्रमाण से इसका विरोध होता है। अतः परमात्मा को सत्य रूप में जानकर जगत् को भी सत्य रूप में जान लेंगे—यह सिद्ध है।

तदेव सादृश्यमत्रापि विवक्षितं 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४) इत्यादिना। अन्यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्' इत्यत्र

---

१. इसके विरुद्ध पतंजलि महाभाष्य में कहते हैं—यो हि शब्दाञ्ज्ञानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। (पस्पशाह्निक, व्याकरणप्रयोजनप्रकरण)।

२, तुलनीय—'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः'।

एक-पिण्डशब्दौ वृथा प्रसज्येयाताम् । 'मृदा विज्ञातया' इत्येतावतैव वाक्यस्य पूर्णत्वात् ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के सम्बन्धों में सादृश्य-सम्बन्ध ही इस निम्नलिखित उदाहरण में कहना अभीष्ट है—'हे सौम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जानने से मिट्टी जाति का ही बोध हो जाता है' (छा० ६।१।४) इत्यादि । यदि ऐसा नहीं होता (= सादृश्य इसका कारण नहीं होता, बल्कि उपादानोपादेय-भाव कारण होता) तब 'सौम्य, मिट्टी के एक पिण्ड से सभी मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है' इस वाक्य में 'एक' और 'पिण्ड' शब्द व्यर्थ ही हो जाते, केवल इतना कहने से ही वाक्य पूर्ण हो जाता—'मिट्टी को जानने से······' इत्यादि ।

विशेष—जब सादृश्य के कारण एक के जानने से सबों का ज्ञान होना मानेंगे तभी मिट्टी के किसी एक पिंड की अभिव्यक्ति दिखलाकर 'दूसरी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसी ही होती हैं' ऐसा ज्ञान दूसरों के विषय में हो जायगा । इस प्रकार एक शब्द का अपना महत्व होगा । सादृश्य के लिए भी भेद की तरह ही दो पदार्थ होते हैं—एक धर्मी, दूसरा प्रतियोगी । मिट्टी के बने घट आदि को धर्मी बनाकर मिट्टी का पिंड स्वयं प्रतियोगी हो जाता है । मिट्टी का बना हुआ पिंड भी है, घट भी । पिंड के सादृश्य से ही मिट्टी के दूसरे विकार घट का ज्ञान होता है । अतः पिंड शब्द भी सार्थक है ।

दूसरी ओर, यदि उपादानोपादेय-सम्बन्ध से उक्त वाक्य की प्रामाणिकता मानें तो एक और पिंड शब्दों की आवश्यकता नहीं रहेगी । इनके बिना भी वाक्य का पूरा-पूरा अर्थ निकलता । 'मृदा विज्ञातया सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'—केवल इतना ही कहते । कहीं की थोड़ी मिट्टी का ज्ञान उपादान (Material cause) होता और सारी मिट्टियों का ज्ञान उपादेय (effect) होता । परन्तु 'एक' और 'पिंड' शब्दों का प्रयोग निरर्थक नहीं, अतः सादृश्य संबन्ध ही विवक्षित है । इसके अलावे, एक और पिंड शब्दों में विरोध भी हो जायगा । एक ही मृत्पिंड सभी मृण्मय पदार्थों (Earthen objects) का उपादान कारण नहीं हो सकता । मिट्टी मृण्मय घट आदि का उपादान है, मिट्टी का पिंड नहीं । मिट्टी का पिंड तो घट बनाने के समय रूँध दिया जाता है पर मिट्टी ज्यों की त्यों रहती है । नष्ट होने पर मिट्टी का पिंड कारण कैसे होगा ?

न च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।५) इत्येतत्कार्यस्य मिथ्यात्वमाचष्ट इत्येष्टव्यम् ।

वाचारम्भणं विकारो यस्य तदविकृतं नित्यं नामधेयं मृत्तिकेत्यादिकमित्येतद्वचनं सत्यमित्यर्थस्य स्वीकारात्। अपरथा नामधेयमितिशब्दयोर्वैयर्थ्यं प्रसज्येत। अतो न कुत्रापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः।

ऐसा नहीं समझें कि निम्नलिखित वाक्य में कार्य (संसार) का मिथ्यारूप होना कहा गया है—'(घटादि) विकार केवल शब्दों में अवस्थित (शाब्दिक) नाममात्र है, वास्तव में तो [उन विकारों में कारण के रूप में विद्यमान] मृत्तिका ही सत्य है' (छा० ६।१।५)। [शंका करने वालों का यह कथन है कि 'वाचारम्भणम्०' वाला वाक्य 'यथा सोम्यैकेन०' वाले वाक्य का पूरक है, उसका दृष्टान्त है। घट, सुराही, सिकोरा, कटोरा आदि बर्तनों का कारण एकमात्र मिट्टी है, जिसे जान लेने पर सब बर्तनों का (मिट्टी से बने हुए बर्तनों का) ज्ञान हो जाता है। कारण का ज्ञान होने पर कार्य का ज्ञान हो ही जायगा क्योंकि कार्य-कारण परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अतः कारणरूप मिट्टी सत्य है, उसके विकार मिथ्या। इस पर पूर्णप्रज्ञ-दार्शनिक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है—इसका कारण आगे देखें।]

कारण यह है कि इसका अर्थ हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वागिन्द्रिय से उच्चारण करना विकार (उत्पादन) है, [अभिव्यंजन नहीं]। यह विकार जिस पदार्थ का होता है वह (पदार्थ) अविकृत (संस्कृत) है, नित्य है, नाम है जैसे मृत्तिका इत्यादि, यह वाक्य बिल्कुल सत्य है। यदि ऐसा अर्थ नहीं रखें तो 'नामधेय' और 'इति' दोनों शब्द व्यर्थ हो जायँगे। इसलिए कहीं भी (किसी श्रुतिवाक्य से) संसार को मिथ्यारूप सिद्ध नहीं कर सकते। [शब्द के दो स्वरूप हैं—असंस्कृत (अनित्य) और संस्कृत (नित्य)। अनित्य शब्दों का वागिन्द्रिय से केवल उत्पादन होता है, ये उत्पत्ति-विनाश होने के कारण ही अनित्य (Non-eternal) कहलाते हैं। 'मृत्तिका' आदि नित्य शब्दों का उत्पादन नहीं होता, उनकी अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है क्योंकि उत्पत्ति-विनाश इनका होता ही नहीं। इस आकार में रहने वाला शब्दस्वरूप पदार्थ का वास्तविक नाम है। यही अविकृत और नित्य भी है। नामधेय संस्कृत (नित्य) और असंस्कृत (अनित्य) दोनों शब्दों से पड़ता है परन्तु योग्य नामधेय नित्य शब्द का ही है। 'विश्वविद्यालय में सत्यदेवजी ही अध्यापक हैं, दूसरे लोग छायामात्र हैं' इस वाक्य में 'अध्यापक' का अर्थ योग्य अध्यापक है। यद्यपि सभी अध्यापक ही हैं परन्तु अयोग्यता के कारण उन्हें ऐसा नहीं कहते। इसलिए उद्दालक श्वेतकेतु को कह रहे हैं कि वागिन्द्रिय से

उच्चारण करना (वाचारंभण) विकार (=विकृति, अनित्य) है, नामधेय तो मृत्तिका आदि शब्द (नित्य शब्द-स्वरूप) ही है,—यह वाक्य जो मैंने कहा यही ठीक है, झूठा नहीं। यदि शंका करने वालों के अनुसार—वाचारम्भणं विकारः, मृत्तिका सत्यम्—विकार केवल शाब्दिक या मिथ्या है, सत्य तो मृत्तिका ही है)—ऐसा अर्थ करें तो उक्त वाक्य में 'इति' और 'नामधेयम्' शब्द व्यर्थ हो जायँगे। अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा दिया गया अर्थ यहाँ देख ही चुके। हम अर्थ करते हैं—'मृत्तिका इत्येव नामधेयम्', यहाँ नामधेय शब्द विधेय हो जाता है। अद्वैत-पक्ष में इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रहती। 'इति' का हमारे यहाँ यह उपयोग है कि 'मृत्तिका' को इसी के द्वारा शब्द के रूप में लेते हैं। मृत्तिकेति = 'मृत्तिका' इति शब्दः।[1]]

विशेष—इस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारः' को पूर्ववाक्य का पूरक न मानकर स्वतन्त्र दृष्टान्त मान लेते हैं। अविकृत और नित्य होने के कारण 'मृत्तिका' शब्द संस्कृत (प्रधान) नाम है। असंस्कृत नामों के जानने का जो फल है वह संस्कृत नाम को जानने से ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार संसार को जानने का फल परमात्मा के ज्ञान से प्राप्य है। किसी रूप में संसार मिथ्या नहीं, वह सत्य (Real) ही है।

(१३. मिथ्या का खण्डन)

किं च प्रपञ्चो मिथ्येत्यत्र मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा। प्रथमे सत्याद्वैतभङ्गप्रसङ्गः। चरमे प्रपञ्चसत्यत्वापातः। नन्वनित्यत्वं नित्यमनित्यं वा। उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याक्षेपवदयमपि नित्यसमजातिभेदः स्यात्।

तदुक्तं न्यायनिर्माणवेधसा—'नित्यमनित्यभावादनित्ये

---

१. 'इति' शब्द की उपयोगिता केवल उद्धरण देने में ही नहीं है, प्रत्युत पदार्थों का विपर्यय भी यह करता है। जब किसी शब्द से शब्द का ही अर्थ निकलता है तब उसमें इति लगा देने पर अर्थपरक अर्थ हो जाता है। 'अग्नेर्ढक्' (पा० सू० ४।२।३३) कहने पर 'अग्नि' शब्द (अर्थ नहीं) से ढक् प्रत्यय विहित है। उसी प्रकार 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) कहने पर भी 'न' और 'वा' शब्दों की प्राप्ति होती है जब कि इति के प्रयोग के कारण यहाँ न = निषेध और वा=विकल्प अर्थ लेते हैं, शब्द से काम नहीं चलता। 'गवित्ययमाह, में अर्थ की प्राप्ति को इति शब्द ही रोकता है और शब्द की प्राप्ति कराता है।

नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः' (न्या० सू० ५।१।३५) इति । तार्किकरक्षायां च—

४३. धर्मस्य तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तितः ।
धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो नित्यसमो भवेत् ॥ इति ।

अस्याः संज्ञाया उपलक्षणत्वमभिप्रेत्याभिहितं प्रबोधसिद्धावन्वर्थित्वात्तूपरञ्जकधर्मसमेति । तस्मादसदुत्तरमिति चेत्— ।

इसके अतिरिक्त हम यह पूछें कि 'प्रपंच (संसार) मिथ्या है' इस वाक्य में 'मिथ्या होना' वास्तव में तथ्य (Fact) है या नहीं (= झूठा है) ? यदि प्रपंच का मिथ्या होना सत्य मानते हैं तो सत्य अद्वैत का खण्डन होता है । [वास्तव में सत्य एक होता है । अद्वैतवादी केवल ब्रह्म या अद्वैत-तत्त्व को ही सत्य स्वीकार करते हैं । यदि प्रपंच का मिथ्या होना भी सच मान लें तो पहले सत्य का भंग हो जाता है । एक साथ ही दो-दो सत्यों को मानने का प्रसंग आ पड़ेगा ।] दूसरी ओर यदि प्रपंच का मिथ्या होना झूठ समझ लें तब प्रपंच को सत्य ही मानना पड़ेगा [जिससे मायावाद का आधार ही नष्ट हो जायगा] ।

कुछ लोग ऐसा तर्क कर सकते हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त द्विविधा (Dilemma) ठीक निम्नांकित द्विविधा की तरह ही 'नित्यसम' नामक जाति (न्यायशास्त्र का एक दोष) का उदाहरण हो जायगा—अनित्य होना क्या नित्य है या अनित्य ? दोनों ही विकल्पों की असिद्धि होती है (ऐसा तर्क दोषपूर्ण हो जाता है ।) [कहने का अभिप्राय यह है कि अनित्यत्व को यदि नित्य या अनित्य के रूप में लेकर तर्क द्वारा दोनों पक्षों का खण्डन कर दिया जाय तो यह उचित ढंग नहीं है, न्यायशास्त्र में कही गयी जाति नामक दोषों की कोटि में यह आ जायगा । दूसरों के द्वारा किये गये प्रश्न का असमीचीन (गलत) उत्तर देना 'जाति' है । उत्तर इसलिए गलत माना जाता है कि दोष उसमें नहीं दिखला सकते । गौतम ने न्यायसूत्र के पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में इस जाति के २४ भेद बतलाये हैं । उनमें एक भेद 'नित्यसम' भी है । यहाँ यही जाति लगती है । यदि 'प्रपंच का मिथ्या होना' उसी प्रकार तथ्य या अतथ्य मानकर खण्डित कर दें तो नित्यसम जाति हो जायगी । अब नित्यसम जाति के विषय में कुछ विचार कर लें ।]

न्यायशास्त्र के निर्माण में ब्रह्मा बाबा की तरह पूज्य [गौतम] कहते हैं—अनित्य होने के कारण [अनित्यत्व] नित्य है, क्योंकि अनित्य में नित्यत्व की

सिद्धि होती है, इस प्रकार का तर्क करना **नित्यसम** कहलाता है (गौतमीय-न्यायसूत्र, ५।१।३५)। [अभिप्राय यह है कि स्वयं अनित्यत्व (Non-eternity) को स्थायी मान लेते हैं, वह इस आधार पर कि अनित्यत्व भले ही अस्थायी हो परन्तु अनित्यत्व के अभाव की अवस्था में शब्द अनित्य नहीं माना जा सकता ।] इसे वरदाचार्य (१०५० ई०) ने अपने तार्किकरक्षा नाम के ग्रन्थ में पल्लवित किया है—'जब धर्म का (जो शब्दगत है तथा अनित्यत्व के रूप में है) तद्रूप होना (=अनित्य होना) या अतद्रूप होना (नित्य होना), ये दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं तब धर्मी (शब्द) का उन विकल्पों के द्वारा विभूषित होने की दशाओं का खण्डन होता है, इसे ही नित्यसम कहते हैं ।' [अनित्यत्व अनित्य है या नित्य इन दोनों में कोई भी सिद्ध नहीं होता । उलटे इनसे विरुद्ध वाक्य की सिद्धि हो जाती है]

इसी संज्ञा (=नित्यसम) को आदर्श मानकर प्रबोधसिद्धि नाम के ग्रन्थ में कहा है कि अर्थ के अनुसार [प्रस्तुत प्रसंग में नित्यसम के समान ही] उपरंजकसम नाम की जाति मानें । अतः पूर्वपक्षी लोगों का यह कहना है कि मिथ्या के खण्डन के लिए आपका तर्क असंगत है ।

विशेष—मिथ्या का खण्डन करने के लिए पूर्णप्रज्ञ यही तर्क देते हैं—

'प्रपञ्च मिथ्या है' (प्रपञ्चो मिथ्या)

इस वाक्य में मिथ्यात्व तथ्य है या अतथ्य । उपर्युक्त विवेचन में दोनों विकल्पों की निस्सारता देखी जा चुकी है । अब मिथ्या को मानने वाले लोग कहते हैं कि इस तर्क से मिथ्या का खण्डन करने पर न्यायशास्त्र के अनुसार नित्यसम नामक जाति (-दोष) होगा । नित्यसम में ठीक ऐसा ही होता है—'अनित्यः शब्दः' इस वाक्य में पूछें कि यह अनित्यत्व स्वयं नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो धर्म (अनित्यः) के नित्य रहने पर धर्मी (शब्दः) को भी नित्य ही मानना पड़ेगा, क्यों न हो, धर्मी और धर्म तो एक ही तरह के रहेंगे न ? और प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत 'नित्यः शब्दः' सिद्ध हो गया । दूसरी ओर अनित्यत्व यदि सदा नहीं रहता (अनित्य होता) तो अनित्याभाव अर्थात् नित्य शब्द की ही सिद्धि होगी (अनित्यता की अनित्यता = नित्यता) किसी भी दशा में ऐसा तर्क करना नित्यसम है, यह दोष है । नित्य तक पहुँचना नित्यसम है ।

प्रबोधसिद्धि में नित्यसम की तौल का ही एक शब्द उपरंजकसम दिया गया है जिसका अर्थ है ऐसा उत्तर देना जिसमें धर्म की उपरंजकता का प्रतिपादन हो । उपरंजक उसे कहते हैं जो विकल्पों का विचार उठने के पूर्व तक ही अच्छा लगे । 'प्रपञ्चो मिथ्या' या 'अनित्यः शब्दः' आदि वाक्यों में धर्म (मिथ्या

अनित्य) तभी तक लुभा सकता है जब तक विकल्प नहीं आते। विकल्पों के आते ही ठीक उलटे अमिथ्या या नित्यकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी पूर्णप्रज्ञ के मिथ्याखण्डक तर्क को असत् कहते हैं। अब पूर्णप्रज्ञ इसका उत्तर देंगे।

अशिक्षितत्रासनमेतत् । दुष्टत्वमूलानिरूपणात् । तद् द्विविधं साधारणमसाधारणं च । तत्राद्यं स्वव्याघातकम् । द्वितीयं त्रिविधं युक्ताङ्गहीनत्वमयुक्ताङ्गाधिकत्वमविषयवृत्तित्वं चेति ।

तत्र साधारणमसंभावितमेव । उक्तस्याक्षेपस्य स्वात्मव्यापनानुलम्भात् । एवमसाधारणमपि । घटस्य नास्तितायां नास्तितोक्तौ अस्तित्ववत्प्रकृतेऽप्युपपत्तेः ।

[पूर्णप्रज्ञ उत्तर देते हैं कि इस प्रकार जाति (गलत उत्तर) का आक्षेप लगाने से] मूर्ख लोग ही डर सकेंगे (हमारा इससे कुछ होना नहीं है)। आपने दोष के मूल का तो प्रतिपादन किया ही नहीं। [दोष के बीज का निरूपण बिना किये हुए किसी उत्तर को गलत (जाति) नहीं कह सकते]। अब, दोष का मूल दो प्रकार का हो सकता है—साधारण (General) और असाधारण (Particular)। इनमें जो पहला (साधारण दोषमूल) है वह अपने आपका ही विनाशक है [क्योंकि जिसके लिए इसका प्रयोग होता है उसको व्याप्त करने के साथ-साथ अपने को भी व्याप्त कर लेता है। इसलिए यह उत्तर आत्मघातक होने से ठीक नहीं। यदि कोई विरोधी अपने अभिमत की सिद्धि के लिए कुछ तर्क उपस्थित करता है तो उसके तर्क की अप्रामाणिकता तर्क से ही सिद्ध की जा सकती है। अब यह अप्रामाणिकता केवल विरोधी के तर्क को ही नहीं व्याप्त करती, प्रत्युत उस तर्क की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले अपने तर्क को भी समेट लेती है।]

दूसरा भेद (असाधारण) तीन प्रकार का है—आवश्यक (युक्त) अंग से रहित हो सकता है या कोई अनावश्यक अंग उसमें अधिक हो सकता है या अविषय (असंगत स्थान) में उसकी वृत्ति (चाल, गति) हो सकती है। [इस प्रकार असाधारण दोषमूल भी ठीक नहीं जँचता।]

प्रस्तुत प्रसंग में 'साधारण' दोष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि यहाँ दिये गये आक्षेप में अपने आपको व्याप्त करने की शक्ति नहीं है। [साधारण वही है जो पर की तरह अपने को भी व्याप्त करे। प्रस्तुत स्थल में 'प्रपञ्चगत मिथ्या तथ्य है या अतथ्य'—इसमें प्रपंचगत मिथ्या को ही दूषित कर सकते हैं, प्रपंच की सत्यता (जिसे दूषित करना अभीष्ट है) का इससे कुछ नहीं बिगड़ता। अतः

अपने अभीष्ट दूषणीय पदार्थ—प्रपञ्च की सत्यता—को व्याप्त न कर सकने से 'साधारण'–दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रपञ्च की सत्यता पर लगाये गये आरोप व्यर्थ हैं।]

'असाधारण' दोष की भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि यदि वास्तव में [उदाहरणार्थ] घट नहीं रहे और हम कहें कि घट नहीं है तो यह निषेध-कल्पना घट पर उसी प्रकार आरोपित होती है जिस प्रकार अस्तित्व की कल्पना। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी सिद्धि होगी। [असाधारण दोष अपने अभीष्टार्थ को दूषित नहीं करता, फिर भी दूसरों की बातों को भी दूषित नहीं करता क्योंकि कहीं तो उसमें आवश्यक अंग नहीं रहता जैसे—कोई प्रतिपक्षी पहाड़ में अग्नि का अभाव सिद्ध कर चुका हो और हम अग्नि की सत्ता सिद्ध करते हुए कहें कि पहाड़ में अग्नि है जैसे रसोईघर में ; यहाँ एक आवश्यक अंग हेतु—'धूमवान् होने के कारण'—छूट गया जिससे यह उत्तर न तो अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि ही कर सकता है और न प्रतिपक्षी के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' को ही दोषपूर्ण दिखा सकता—यह युक्तांगरहित असाधारण दोष है। कहीं-कहीं उसमें अनावश्यक अंग जुड़ा रहता है जैसे—उपर्युक्त स्थल के उत्तर में यह कहें कि पहाड़ में अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है तथा प्रकाश भी है वह पार्थिव भी है जैसा कि रसोईघर। 'यहाँ प्रकाश भी है' यह अनावश्यक अंग अधिक है किन्तु यह अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि भी नहीं करता और पराभिमत 'अग्नि के अभाव' को दूषित भी नहीं करता। हाँ, यह अधिकांग अपने उत्तर में वक्ता का अविश्वास प्रकट करता है—इसमें योग्यता नहीं। कहीं-कहीं उसमें अविषय में वृत्ति होती है (अपने विषय से सम्बन्ध नहीं रहता)। उदाहरणार्थ यदि उत्तर में यह कहें कि पहाड़ पार्थिव है क्योंकि घट की तरह गन्धयुक्त है तो यह उत्तर अपने अभीष्ट (अभ्युपगत) अग्नि से संबद्ध नहीं है और न दूसरे के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' से ही असंबद्ध है। अतः न यह अग्नि की सिद्धि करता और न अग्नि के अभाव को ही दूषित कर पाता। प्रस्तुत प्रसंग में 'मिथ्या तथ्य है या अतथ्य' यह उत्तर न तो आवश्यक अंग से रहित है, न अनावश्यक अंग से युक्त और न प्रपंच की सत्यता विषय से ही असंबद्ध। तब फिर असाधारण दोष क्यों होगा ? विकल्प की उद्भावना करने से प्रपंच के मिथ्यात्व को दूषित कर देने पर प्रपंच की सत्यता की सिद्धि हो जायगी।]

ननु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमभ्युपेयते नासत्त्वमिति चेत्, तदेतत्सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छ-

तीति शाकटिकवृत्तान्तमनुहरेत्। मिथ्यात्वासत्त्वयोः पर्यायत्वादित्यलमतिप्रपञ्चेन।

अब यदि वे लोग कहें कि हम प्रपंच का मिथ्या होना सिद्ध करते हैं, असत् होना नहीं—तो यह ठीक वैसा ही हुआ जैसा कोई गाड़ीवान सिर काटे जाने पर भी सौ रुपये नहीं देता, किन्तु पाँच बीस (बीस × पाँच = १००) देने के लिए तुरत तैयार हो जाता है। मिथ्या और असत् दोनों का अर्थ एक ही तो है—अब अधिक बढ़ाकर क्या कहें ?

विशेष—शंकराचार्य के अनुसार मिथ्या और असत् में अन्तर है—जगत् मिथ्या है, किन्तु असत् नहीं क्योंकि व्यावहारिक दशा में तो उसकी सत्ता है। असत् वह है जो किसी भी दशा में न रहे जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि। पारमार्थिक दशा में जिसकी सत्ता न हो वह मिथ्या है। परन्तु मध्व दोनों को एक मानकर व्यंग्य करते हैं कि मूर्ख गाड़ीवान सौ रुपये देता नहीं, ५ × २० देने को तैयार हो जाता है—उसे १०० और पाँच-बीस में बड़ा अन्तर मालूम पड़ता है। मिथ्या और असत् को एक मानने पर फल यह होता है कि मिथ्यात्व को दूषित करके सत्ता की सिद्धि हो जाती है। अतः यह उत्तर 'जाति' (Fallacious) नहीं है, वस्तुतः 'मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा' आदि तर्क के द्वारा मिथ्या का खण्डन संभव है, (प्रपंच) संसार की सत्यता इसी से सिद्ध हो जायगी।

(१४. ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ)

तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः। तत्राथशब्दो मङ्गलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च स्वीक्रियते। अतःशब्दो हेत्वर्थः। तदुक्तं गारुडे—

४४. अथातःशब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि।
प्रारभ्यन्ते नियत्यैव तत्किमत्र नियामकम्॥
४५. कश्चार्थस्तु तयोर्विद्वन्कथमुत्तमता तयोः।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्यथा ज्ञास्यामि तत्त्वतः॥

अब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र के इस प्रथम सूत्र का यह अर्थ है—इसमें 'अथ' (इसके बाद) शब्द मंगल का द्योतक (व्यंजक) है और [ब्रह्मज्ञान के] अधिकार की प्राप्ति के बाद का वाचक है। [अथ शब्द का अर्थ मंगल नहीं है वह केवल इससे व्यक्त होता है। वास्तव में उसका वाच्यार्थ है—आनन्तर्य अर्थात् इसके बाद। पर प्रश्न उठता है किसके बाद ? ब्रह्म-ज्ञान का

अधिकार मिलने के बाद ही ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।] 'अतः' (इसलिए) शब्द का अर्थ है प्रयोजन। जैसा कि गरुड़-पुराण में कहा गया है—'सभी सूत्रग्रन्थ नियम (नियति) से 'अथ' और 'इति' शब्दों के द्वारा आरम्भ होते हैं, इसका क्या कारण है ?' [नारद ब्रह्मा से पूछते हैं]—'हे विद्वन् ! इन दोनों का क्या अर्थ है, इन दोनों की उत्तमता (श्रेष्ठता) का क्या कारण है ? हे ब्रह्मन् ! आप यह बतलावें जिससे मैं इनका रहस्य जान जाऊँ।'

४६. एवमुक्तो नारदेन ब्रह्मा प्रोवाच सत्तमः।
आनन्तर्याधिकारे च मङ्गलार्थे तथैव च॥
अथशब्दस्त्वतःशब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः। इति।

यतो नारायणप्रसादमन्तरेण न मोक्षो लभ्यते प्रसादश्च ज्ञानमन्तरेण, अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धम्।

नारद के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सज्जनों में श्रेष्ठ ब्रह्मा बोले—"आनन्तर्य, अधिकार और मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता है और 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त होता है।" चूँकि नारायण के प्रसाद के बिना मोक्ष नहीं मिलता और ज्ञान के बिना यह प्रसाद नहीं मिलता, इसलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह सिद्ध हो गया।

विशेष—किसी शास्त्र में चार अनुबन्ध होते हैं—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध। वेदान्तशास्त्र का **विषय** ब्रह्म है। ब्रह्म जीव से पृथक् और सभी गुणों से पूर्ण है, श्रुतिवाक्य 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (तै० ३।१।१) के द्वारा उसका प्रतिपादन होता है। उसके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है। सूत्र में भी जिज्ञासा का विषय ब्रह्म को ही बनाकर 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का प्रयोग किया गया है। इस शास्त्र का **प्रयोजन** है मोक्ष की प्राप्ति, क्योंकि 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० १।६) इस श्रुति में ब्रह्मज्ञान से मोक्षलाभ का वर्णन किया गया है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानियों को ब्रह्म के प्रसाद से मोक्ष मिलता है। कहा भी है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (का० २।२३)। जिस भक्त पर परमात्मा प्रसन्न होते हैं उसे अपनाते हैं, उसी भक्त को परमात्मा मिल सकते हैं। प्रेम बढ़ाने से ही कृपा होती है, परमात्मा प्रसन्न होते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर प्रेम बढ़ ही जायगा। गीता (७।१७) में कहा है—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। वेदान्त का यह प्रयोजन 'अतः' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। विषय और प्रयोजन की सत्ता होने पर **अधिकारी** की सम्भावना कठिन नहीं। इसके बाद अधिकारी और शास्त्र का **सम्बन्ध** निश्चित ही होगा।

इस प्रकार चारों अनुबन्धों के सिद्ध होने पर शास्त्र का आरम्भ करना बिल्कुल संगत है ।

ब्रह्मविद्या के अधिकारियों में देवता उत्तम, ऋषि-गन्धर्व मध्यम तथा मनुष्य मन्द या अधम हैं। अधिकारियों में (१) विष्णुभक्ति, (२) अध्ययन, (३) शमदमादियोग, (४) संसार की असारता ध्यान में रखते हुए वैराग्य लेना तथा (५) विष्णु के चरणों में एकमात्र शरण लेना—ये गुण आवश्यक हैं। प्रथम दो गुणों की अधिकता से अधम, तृतीय की अधिकता से मध्यम और अन्तिम दोनों की अधिकता से उत्तम अधिकारी होता है।

(१५. ब्रह्म का लक्षण)

जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणमुक्तं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति। सृष्टिस्थित्यादि यतो भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यार्थः। तथा च स्कान्दं वचः—

४७. उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यमात्स हरिरेकराट्॥

यतो वा इमानीत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है उसका लक्षण बतलाया गया है—'इस (संसार) के जन्म आदि जिससे हुआ करते हैं' (ब्र०सू० १।१।२) वाक्य का अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति आदि जिससे हों वही ब्रह्म है। स्कन्दपुराण की उक्ति भी है—'जिस पुरुष से उत्पत्ति, स्थिति, संहार नियंत्रण, ज्ञान, अज्ञान (आवृति), बन्ध तथा मोक्ष उत्पन्न होते हैं, वे ही एक मात्र सम्राट् हरि हैं।' यही नहीं, श्रुति का प्रमाण भी है—'जिससे सभी जीव···' (तै० ३।१।१)

विशेष—शंकर जन्मादि का अर्थ केवल सृष्टि, पालन और संहार लेते हैं। देखें—'जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः।······श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति, अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्।······अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भावः इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्।' (शारीरकभाष्य, १।१।२)। द्वैतवेदान्ती खींचखाँच करके आठ उत्पन्न पदार्थ लेते हैं। यों तो और भी संभव हैं। जो श्रुति इसका आधार है वह यह है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयत्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१)। तात्पर्य यह है कि उसी ब्रह्म से सारे पदार्थ जन्म लेते हैं, जन्म

लेने पर जीते हैं, उसी में लीन होकर प्रवेश कर जाते हैं। स्पष्टतः तीन ही विकारों का वर्णन किया गया है। पर मध्वपक्षी 'य आदित्यमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा नियमन आदि भावों का संग्रह करते हैं।

(१६. ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

तत्र प्रमाणमप्युक्तं 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तं त्वौपनिषदम्' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यानुमानिकत्वं निराक्रियते। च चानुमानस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमस्ति। तदुक्तं कौर्मे—

४८. श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च ॥
४९. श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम्।
प्रमाणपदवीं गच्छेन्नात्र कार्या विचारणा ॥ इति।

उस (ब्रह्म) के विषय में प्रमाण भी कहा गया है—'शास्त्रों में इसका स्रोत है (शास्त्रों से वह ब्रह्म ज्ञेय है)' (ब्र० सू० १।१।३)। 'उस महान् पुरुष को वेद नहीं जानने वाला व्यक्ति नहीं जान पाता (तै० ब्रा० ३।१२।९।७)', 'उपनिषदों में वर्णित उस पुरुष को (बृ० ३।९।२६)' आदि श्रुतियों से इस बात का खण्डन होता है कि वह अनुमान के द्वारा ज्ञेय है। [अशास्त्रज्ञ व्यक्ति के द्वारा ब्रह्म का अज्ञेय होना, उपनिषदों के द्वारा उसका ज्ञान आदि बातें स्पष्ट रूप से घोषित करती हैं कि ब्रह्म एकमात्र शास्त्रों के द्वारा ही समधिगम्य (जानने योग्य) है, अनुमान द्वारा इसका ज्ञान नहीं होता।]

अनुमान स्वतंत्र रूप से प्रमाण है भी नहीं। कूर्म-पुराण में तो कहा ही गया है—'श्रुति (शब्द प्रमाण) की सहायता से रहित होकर अनुमान या कोई भी दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) निश्चित रूप से [अदृष्ट विषय की] किसी वस्तु की सिद्धि नहीं कर सकता (प्रामाणिक नहीं हो सकता)। श्रुति-स्मृति की सहायता मिलने पर ही कोई दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) अच्छा हो सकता है और प्रमाण की कोटि में जा सकता है, इसमें विचार (संदेह) नहीं करना चाहिए।

शास्त्रस्वरूपमुक्तं स्कान्दे—

५०. ऋग्यजुःसामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥
५१. यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ।
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ॥ इति ।

शास्त्र का स्वरूप स्कन्दपुराण में कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद; महाभारत, पंचरात्र और मूलरामायण (वाल्मीकि रामायण का प्रथम अध्याय)—ये ही ग्रन्थ **शास्त्र** कहलाते हैं, जो ग्रन्थ इनके सिद्धान्तों के अनुकूल हैं वे भी शास्त्र ही हैं। इनके अतिरिक्त जो भी ग्रन्थों का समूह है, वह शास्त्र नहीं है। उन पर चलना कुमार्ग पर चलना है। [अपने शास्त्रों का उल्लेख इस प्रकार हुआ।]

तदनेन, 'अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन भेदस्य प्राप्तत्वेन तत्र न तात्पर्यं किन्तु अद्वैत एव वेदवाक्यानां तात्पर्यम्—इत्यद्वैतवादिनां प्रत्याशा प्रतिक्षिप्ता। अनुमानादीश्वरस्य सिद्ध्यभावेन तद्भेदस्यापि ततः सिद्ध्यभावात्। तस्मान्न भेदानुवादकत्वमिति तत्परत्वमवगम्यते। अत एवोक्तम्—

५२. सदागमैकविज्ञेयं समतीतक्षराक्षरम् ।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम् ॥
(वि० त० १) इति ।

अद्वैतवादियों का यह कहना है कि 'शास्त्र का अर्थ (प्रयोजन, आवश्यकता) वहीं है जहाँ दूसरे प्रमाणों के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती हो' इस न्याय (नियम) से केवल अद्वैत में ही शास्त्रों का तात्पर्य (अर्थ) है, भेद (द्वैत) तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है इसलिए उसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। उनकी इस धारणा का खण्डन उपर्युक्त विधि से कर दिया गया। [अद्वैत की सिद्धि प्रत्यक्षादि से नहीं होती, शास्त्र यदि है तो अद्वैत के लिए—यह अद्वैतियों की धारणा है।]

अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, फिर उसके भेद की भी तो सिद्धि उससे नहीं ही हो सकेगी। इसलिए इन श्रुतिवाक्यों में भेद का अनुवाद (व्याख्या) नहीं किया गया है, प्रत्युत ये शास्त्र ही भेदपरक हैं। ['अनन्यलभ्यः

शास्त्रार्थः' के न्याय से ही यह कहा जा सकता है कि भेद की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती इसलिए शास्त्र का तात्पर्य ही भेद-प्रतिपादन में है। अनुमान के द्वारा भेद की सिद्धि नहीं होती। बस, इतना ही पर्याप्त है! शास्त्र का तात्पर्य ही उसीमें है।]

इसीलिए कहा गया है—'जो केवल श्रेष्ठ आगमों (शास्त्रों) से जाने जाते हैं, जो क्षर (प्रकृति) और अक्षर (जीव) को अच्छी तरह पार कर चुके हैं, जो सर्वथा निर्दोष हैं एवं सभी सद्गुणों (जैसे पूर्णानन्द आदि) से युक्त हैं वैसे नारायण की मैं सदा वन्दना करता हूँ।' (विष्णुतत्त्वविनिर्णय, मङ्गलश्लोक)।

(१७. शास्त्रों का समन्वय)

शास्त्रस्य तत्र प्रामाण्यमुपपादितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति। समन्वय उपक्रमादिलिङ्गम्। उक्तं च बृहत्संहितायाम्—

५३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

ब्रह्म के विषय में शास्त्र की प्रामाणिकता भी सिद्ध की गई है—'किन्तु उसकी [प्रामाणिकता तो] समन्वय करने के बाद ही सिद्ध होती है' (ब्र० सू० १।१।४) [शास्त्र की प्रामाणिकता तभी सम्भव है जब विष्णु के अर्थ में ही उन शास्त्रों या श्रुतियों का समन्वय किया जाय। समन्वय का अर्थ है सम्यक् (ठीक) प्रकार से सम्बन्ध या अन्वय दिखलाना।] उपक्रम (आरम्भ) आदि चिह्नों के द्वारा समन्वय (शास्त्र के अर्थ का निर्णय) होता है। बृहत्संहिता में कहा गया है—'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति शास्त्र का तात्पर्य निर्णय करने के समय लिङ्ग (चिह्न Mark) के रूप में रहते हैं।'

विशेष—श्रुति के अर्थ का संशय होने पर उपक्रम आदि लिंगों के द्वारा उसका निर्णय होता है, कम से कम तात्पर्य तो समझा जा सकता है, भले ही व्याख्या न हो सके। प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ करना **उपक्रम** (Commencement) है। आरम्भ को देखकर बीच के वाक्यों का अर्थ अपने आप खुल ही जाता है। जब इसके बाद भी संशय रह जाय तो **उपसंहार** (Conclusion) का सहारा लें। विस्तारपूर्वक निरूपित बातों का सारांश करना उपसंहार है, जिससे अर्थनिर्णय में सहायता मिलती है। फिर भी यदि सन्देह रहे तो एक ही बात को एक ही प्रकार से कहे जाने वाले स्थलों अर्थात्

अभ्यास (Reiteration) का आश्रय लें। इसके बाद **अपूर्वता** (Novelty) का आग्रह है जिसमें किसी दूसरे प्रमाण से असिद्ध नई बात को दृढ़तापूर्वक कहा जाता है। संभव है कि नई बात के प्रतिपादन में ही श्रुति का अर्थ छिपा हो। प्रयोजन से युक्त होना **फल** (Result) है। इसकी आवश्यकता अपूर्वता के बाद पड़ती है। अपूर्वता में मुख्य का प्रतिपादन होता है जब कि फल में मुख्य वस्तु के उद्देश्य का वर्णन होता है। फल के बाद भी सन्देह होने पर **अर्थवाद** (Eulogy) का आश्रय लेते हैं जिसमें स्तुति या निन्दा का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन होता है। अन्त में उपपत्ति या युक्ति (Demonstration) ही सहायक होती है जिससे अर्थ का निर्णय होता है। इन लिङ्गों में पूर्वापर के क्रम से प्रबलता बढ़ती जाती है। कहा है—उपक्रमादिलिङ्गानां बलीयो ह्युत्तरोत्तरम्। मीमांसा-दर्शन में इन लिङ्गों का बड़ा महत्व है क्योंकि श्रुति में कहे गये विधिवाक्यों का अर्थ-निर्णय करना उनका प्रथम कर्त्तव्य है। विशेष विवरण के लिए लौगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह या आपदेव का मीमांसान्यायप्रकाश देखना चाहिए।

(१८. पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का उपसंहार)

एवं वेदान्ततात्पर्यवशात् तदेव ब्रह्म शास्त्रगम्यमित्युक्तं भवति। दिङ्मात्रमत्र प्रादर्शि। शिष्टमानन्दतीर्थभाष्यव्याख्यानादौ द्रष्टव्यम्। ग्रन्थबहुत्वभियोपरम्यत इति।

इस प्रकार वेदान्तों (उपनिषदों) का तात्पर्य जानकर वही ब्रह्म शास्त्र के द्वारा बोधनीय है—यही कहने का अभिप्राय है। हमने यहाँ केवल दिशा का निर्देश किया है, बाकी बातें आनन्दतीर्थ के [ब्रह्मसूत्र] - भाष्य के व्याख्यान आदि में देखनी चाहिए। ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अब हम रुकते हैं।

विशेष—आनन्दतीर्थ या पूर्णप्रज्ञ (समय ११२०—११९९ ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा था जिससे द्वैतवाद का प्रवर्तन हुआ। इस भाष्य पर जयतीर्थ (११९३–१२६८), श्रीनिवासतीर्थ (१३००), विद्याधीश आदि ने टीकायें की हैं।

एतच्च रहस्यं पूर्णप्रज्ञेन मध्यमन्दिरेण वायोस्तृतीयावतारम्मन्येन निरूपितम्।

५४. प्रथमस्तु हनूमान्स्याद् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः॥

एतदेवाभिप्रेत्य तत्र तत्र ग्रन्थसमाप्ताविदं पद्यं लिख्यते—

५५. यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने दिव्यानि रूपाण्यलं
बट् तद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत्।
वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु-
र्मध्वो यत्तु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे॥
(म० भा० ता० ३२।१८१)।

पूर्णप्रज्ञ जो अपने को वायु का तीसरा अवतार मानते हैं तथा जिनका नाम मध्य-मन्दिर भी है, उन्होंने इन सभी रहस्यों का निरूपण किया है। [वायु के तीनों अवतार ये हैं—] 'पहले हनूमान् हैं, दूसरे भीम और तीसरे पूर्णप्रज्ञ—ये सब भगवान् के कार्यों के साधक हैं।' इसी को लक्ष्य में रखकर जहाँ-तहाँ (जैसे—ब्रह्मसूत्रभाष्य, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय आदि ग्रन्थों में) ग्रन्थ की समाप्ति होने पर उन्होंने यह पद्य लिखा है—'(५५) वेद के वाक्यों में जिसके तीन रूप पर्याप्त रूप से मिलते हैं (कहे गये हैं). 'बडित्था' और 'तद्दर्शतम्' (ऋ० १।१४१।१) आदि श्रुतियों में इस रूप में ही (बट् = बलात्मक, दर्शतम् = ज्ञानपूर्ण) जिस वायु-देव के भर्ग (भरण और गमन) रूपी गुण और महत् नामक तत्त्व माने गये हैं, उस वायु का पहला शरीर वह है जो राम के सन्देश को [सीता के पास] पहुँचाने वाला है (= हनुमान् का अवतार), दूसरा शरीर पृक्ष (सेनानाशक, पृ = पृतना = सेना, क्ष = √क्षि = नाश करना, कौरव-सैन्य का विनाश करनेवाला) भीम का है और तीसरा शरीर मध्व का है जिनके द्वारा केशव के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया।' (महाभारततात्पर्यनिर्णय ३२।१८१)।

विशेष—हनुमान् का उल्लेख 'रामवचोनयम्' के द्वारा हुआ है। इसके तीन अर्थ हो सकते हैं। राम के वचनों अर्थात् संवाद को सीता तक पहुँचाने वाला; राम के विषय की बातें जैसे मूलरामायण, उसे शिष्यों तक पहुँचानेवाला; राम की वाणी द्वारा जो नय (आज्ञा) मिले उसको पालनेवाला। 'मध्व' शब्द में मधु और व हैं। मधु का आनन्द अर्थ है और व का तीर्थ, जिसका तीर्थ (शास्त्र) आनन्दकर हो। आनन्दतीर्थ नाम पड़ने का भी यही रहस्य है। कुल मिलाकर चार शब्दों से इनका बोध होता है—मध्वाचार्य, आनन्दनीर्थ, पूर्णप्रज्ञ और मध्यमन्दिर। मध्व के विषय में कहा है—

मध्वित्यानन्द उद्दिष्टो वेति तीर्थमुदाहृतम्।
मध्व आनन्दतीर्थः स्यात्तृतीया मारुती तनुः॥

बलित्था आदि मन्त्र का अर्थ आगे देखें।

एतत्पद्यार्थस्तु 'बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतोऽजनि' (ऋ० १।१४१।१) इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनयाऽवगम्यत इति। तस्मात्सर्वस्य शास्त्रस्य विष्णुतत्त्वं सर्वोत्तममित्यत्र तात्पर्यमिति सर्वं निरवद्यम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पूर्णप्रज्ञदर्शनम्।

इस पद्य का अर्थ निम्न श्रुतियों का सम्यक् मनन करने से आता है—'देव (वायु) का वह दर्शनीय तेज (भर्गः) शारीरिक व्यवहार के लिए एवं बलप्राप्ति के लिए (बट्) इस प्रकार से (इत्था=इत्थं) धारण किया जाता है क्योंकि वह बल से (सहसः) ही उत्पन्न हुआ है।' (ऋ० १।१४१।१)। इसलिए सभी शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि विष्णुतत्त्व ही सबसे अच्छा है। इस प्रकार सब कुछ ठीक (निर्दोष) है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पूर्णप्रज्ञ-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पूर्णप्रज्ञदर्शनमवसितम्॥

(६) नकुलीश-पाशुपत-दर्शनम्

कार्यं कलादि किल कारणमीश्वरोऽसौ
योगस्तयोर्विधिरथापि जपादिरूपः ।
दुःखान्त इत्यविहतं विहितं प्रपञ्चं
वन्दे तमादिशति पाशुपतं मतं यः ॥—ऋषिः ।

(१. वैष्णव-दर्शनों में दोष)

तदेतद्वैष्णवमतं दासत्वादिपदवेदनीयं परतन्त्रत्वं, दुःखाव-हत्वान्न दुःखान्तादीप्सितास्पदम् इत्यरोचयमानाः, पारमैश्वर्यं कामयमानाः, 'पराभिमता मुक्ता न भवन्ति, परतन्त्रत्वात् , पारमैश्वर्यरहितत्वात् , अस्मदादिवत्', 'मुक्तात्मानश्च परमेश्वर-गुणसंबन्धिनः, पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात्परमेश्वर-वत्'—इत्याद्यनुमानं प्रमाणं प्रतिपद्यमानाः, केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थसाधनं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयन्ते ।

वैष्णवों का यह मत तो परतन्त्रता का ही दूसरा नाम है जिसका बोध दासत्वादि शब्दों के द्वारा होता है, [किसी का दास होना] सचमुच बहुत दुःखकर है, इसमें दुःख का अन्त नहीं होता इसलिए यह कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता [क्योंकि जब परतन्त्रता रह ही गई, विष्णु के दास ही बने रह गये, तब मुक्ति किस काम की ?]—इस प्रकार माहेश्वर-सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिकों को यह मत अच्छा नहीं लगता । वे लोग [मुक्त होने पर साक्षात्] परमेश्वर ही बन जाने की कामना करते हैं । वे निम्नोक्त प्रकार से दिये गये अनुमान को प्रमाण मानते हैं—

(१) इन प्रतिपक्षियों के द्वारा वर्णित मुक्त पुरुष वास्तव में मुक्त नहीं हैं (प्रतिज्ञा), क्योंकि मुक्त होने पर भी ये परतन्त्र हैं या इनमें परमेश्वरता (अन्तिम ऐश्वर्य) का अभाव है (हेतु), जैसे हम लोगों के समान बद्धजीव होते हैं (उदाहरण) ।

(२) मुक्त आत्मायें वे ही हैं जिनमें परमेश्वर की तरह ही गुण हों (प्रतिज्ञा) क्योंकि पुरुषत्व होने पर भी ये सारे दुःखों के कारणों से रहित हैं (हेतु), जिस प्रकार साक्षात् परमेश्वर होते हैं (उदाहरण) ।

ये माहेश्वर-सम्प्रदाय वाले परम पुरुषार्थ का साधन पाशुपत-शास्त्र को ही मानते हैं जिसमें पाँच पदार्थों का विस्तार किया जाता है।

विशेष—वैष्णव-दर्शन में मुक्त पुरुष को ईश्वर का दास का रूप देते हैं। मुक्त होने पर भी दासता ही रह गई तो मुक्ति का अर्थ ही क्या रहा ? मुक्ति तो वह है जो सर्वोच्च पद पर पहुँचा दे। इसलिए माहेश्वर-दर्शन में मुक्त को साक्षात् ईश्वर ही माना जाता है।

माहेश्वर-सम्प्रदाय में बहुत से अवान्तर भेद हैं। धार्मिक दृष्टि से इनके चार भेद हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक जिनके मूलग्रन्थ शैवागम कहलाते हैं। यह आगम वैदिक और अवैदिक दोनों है। माहेश्वर-सम्प्रदाय में दार्शनिक दृष्टिकोण से भी चार भेद हैं—पाशुपतदर्शन (जिसका प्रचार गुजरात और राजपूताना में था), शैवदर्शन (तामिल देश में), वीरशैवदर्शन (कर्नाटक) तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक या स्पन्द (काश्मीर)। पाशुपत-दर्शन के संस्थापक नकुलीश (या लकुलीश) थे। शिवपुराण में 'कारवण-माहात्म्य' से पता चलता है कि भृगुकच्छ के पास कारबन नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। नकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना और गुजरात में बहुत मिलती हैं। इन मूर्तियों में सिर केश से ढँका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर का फल तथा बायें में लगुड़ (लाठी) रहता है। लगुड़ धारण करने के कारण ही इन्हें लगुड़ेश >लकुलीश >नकुलीश कहते हैं। भगवान् शंकर के १८ अवतारों में लकुलीश प्रथम हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका समय विक्रम संवत् के आरम्भ होने के समय का है। पाशुपतों और न्यायवैशेषिक में घना सम्बन्ध है। गुणरत्न ने तो नैयायिकों को शैव तथा वैशेषिकों को पाशुपत कहा भी है। भारद्वाज उद्योतकर (न्यायवार्तिक के रचयिता) अपने को 'पाशुपताचार्य' कहते हैं। पाशुपतों का मूल सूत्रग्रंथ 'माहेश्वररचित पाशुपतसूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में कौण्डिन्यरचित 'पञ्चार्थी-भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ है जिसे राशीकरभाष्य या कौण्डिन्यभाष्य भी कहते हैं।

पाशुपत-दर्शन की मूल भित्ति पांच पदार्थों—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त—के विवेचन पर आधारित है। इनका विवरण हमें आगे प्राप्त होगा। शैवदर्शन के सांगोपांग विवेचन के लिए देखें—डा० यदुवंशी का प्रबन्ध-ग्रन्थ 'शैवमत' (वि० राष्ट्र० परि० पटना से प्रकाशित)।

'पाशुपत' शब्द पशुपति (= शिव) से बना है। पशु सभी प्राणियों को कहते हैं। लिङ्गपुराण में कहा है—

> ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
> पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः॥

जिस प्रकार हमारे लिए गाय, भैंस आदि पशु हैं उसी प्रकार महेश्वर के लिए सारे प्राणिमात्र पशु हैं क्योंकि सबों में ज्ञान का अभाव है, पशु की तरह आचरण है। इन पशुओं के पति महादेव हैं, अतः वह वे पशुपति कहलाते हैं। जीवों की परवशता पर शेक्सपीयर का कहना है—

Like flies to the wanton lads, we are all to the gods,
They kill us for their sport.

'चंचल बालकों के लिये मक्खियों का जो महत्त्व है वही देवताओं के लिए हमारा है। वे खेल-खेल में हमें मार डालते हैं।' किन्तु शिव का कल्याणकारी रूप भी है।

(२. पाशुपत-सूत्र की व्याख्या—गुरु का स्वरूप)

तत्रेदमादिसूत्रम्—'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्याम' इति। अस्यार्थः—अत्राथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षः। पूर्वप्रकृतश्च गुरुं प्रति शिष्यस्य प्रश्नः। गुरुस्वरूपं गणकारिकायां निरूपितम्—

१. पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्त्ता गुरुरुच्यते ॥
२. लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥

'तिस्रो वृत्तयः' इति प्रयोक्तव्ये 'त्रीणि वृत्तयः' इति च्छान्दसः प्रयोगः।

उस (पाशुपत-शास्त्र) का यह पहला सूत्र है—'अब इसलिए पशुपति के पाशुपतशास्त्र के योग और विधि की व्याख्या करेंगे।' इसका अर्थ इस प्रकार है—यहाँ 'अथ' शब्द पहले के कुछ प्रसंग का द्योतक है। पहले का कुछ प्रसंग यही है कि गुरु के प्रति शिष्य का प्रश्न हो चुका है। [प्रश्न यही है कि त्रिविध दुःखों का सर्वथा विनाश कैसे हो ? यह दुःखान्त के विषय का प्रश्न है।] गुरु का स्वरूप गणकारिका में निश्चित किया गया है—'आठ पंचक (पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त गण) जानने योग्य हैं और एक गण तीन अवान्तर भेदों का है। इन नव गणों का ज्ञाता और जो संस्कार करनेवाला हो वह गुरु कहलाता है ॥ १ ॥ लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और

बल ये आठ पंचक (प्रत्येक के पाँच भेद) हैं। वृत्तियाँ (कार्य) तीन हैं ॥२॥ मूलश्लोक में 'तिस्रो वृत्तयः' (दोनों स्त्रीलिङ्ग शब्द) का प्रयोग करना चाहिए किन्तु 'त्रीणि (नपुं०) वृत्तयः (स्त्री०)' प्रयोग है यह वैदिक व्यत्यय का उदाहरण है। ['व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) में लिङ्ग का व्यत्यय]।

विशेष—नव गणों का ज्ञाता गुरु है। इन गणों में प्रथम आठ पंचक (Pentads) हैं अर्थात् इनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच अवान्तर भेद हैं। नवें गण को त्रिक कहते हैं क्योंकि इसके तीन ही भेद हैं। इनकी गणना करें—

(१) **लाभ** (Acquisition)—ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति, शुद्धि।

(२) **मल** (Impurity)—मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्तिहेतु, च्युति, पशुत्वमूल।

(३) **उपाय** (Expedient)—वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रपत्ति।

(४) **देश** (Locality)—गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र।

(५) **अवस्था** (Perseverence)—व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान, निष्ठा।

(६) **विशुद्धि** (Purification)—प्रत्येक मल की हानि, जैसे मिथ्याज्ञानहानि, अधर्महानि आदि।

(७) **दीक्षाकारिन्** (Initiation)—द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरु।

(८) **बल** (Power)—गुरुभक्ति, बुद्धिप्रसाद, द्वन्द्वजय, धर्म, अप्रमाद।

(९) **वृत्ति** (Functions) = जीविकोपाय—भिक्षा, उत्सृष्टग्रहण, यथालब्धग्रहण। इन गणों का संक्षिप्त वर्णन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

तत्र विधीयमानमुपायफलं लाभः। ज्ञानतपोनित्यत्वस्थितिशुद्धिभेदात्पञ्चविधः। तदाह हरदत्ताचार्यः—

ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः शुद्धिश्च पञ्चमम्।

आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। स मिथ्याज्ञानादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

३. मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः* ॥

(गणकारिका, ८) इति।

---

* हेयाधिकारतः—इति क्वचित्पाठः।

(१) उपाय के फलों को प्राप्त करने का नाम **लाभ** है। ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि के भेद से पाँच प्रकार का है, जैसा कि हरदत्ताचार्य कहते हैं—'ज्ञान, तपस्या, नित्यता, स्थिति (धैर्य) और पाँचवाँ शुद्धि (स्वच्छता, पवित्रता)-ये लाभ हैं।'

(२) आत्मा में अवस्थित दुष्ट भावों (Condition) को **मल** कहते हैं। मिथ्याज्ञान आदि के भेद से वह पाँच प्रकार का है। यह भी कहा है—'मिथ्याज्ञान, अधर्म (Demerit), सक्तिहेतु (Causes of Attachment), च्युति (सदाचार से भ्रष्ट होना) और पशुत्वमूल (जीव प्राप्त करने के अनादि संस्कार), इन पाँच मलों को तन्त्र में (इस शास्त्र में) विवेक द्वारा त्यागना चाहिए।'

साधकस्य शुद्धिहेतुरुपायो वासचर्यादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह—

४. वासचर्या जपो ध्यानं सदा रुद्रस्मृतिस्तथा।
प्रपत्तिश्चेति लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः ॥ इति।

येनार्थानुसंधानपूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः। यदाह—

५. गुरुर्जनो गुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च। इति।

(३) साधक की शुद्धि के कारणों को **उपाय** कहते है जिसके वासचर्या आदि पाँच भेद हैं। इसे भी कहा है—वासचर्या (अच्छी तरह निवास करने के नियम), जप, ध्यान, रुद्र का सदा स्मरण करना और प्रपत्ति (शरणागति)—ये लाभों के उपाय निश्चित किये गए हैं। [वासचर्या आदि पाँच प्रकार की शुद्धि करके साधक पाँच लाभों को प्राप्त करता है। उपाय=लाभ के उपाय, लाभ=उपाय के फलों की प्राप्ति]।

(४) जिनके पास रहकर अर्थों (=कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त) का अनुसन्धान करते हुए [साधक] ज्ञान और तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है वह **देश** है जैसे गुरु, जन आदि। उसे कहा है—गुरु, जन (ज्ञानियों की सभा), गुहा-देश (गुफा, एकान्त स्थान), श्मशान तथा रुद्र। [इनके पास रहकर साधक ज्ञान की वृद्धि करता है (गुरु और जन के साथ), तथा तपस्या की भी वृद्धि करता है (अवशिष्ट तीनों के साथ)]।

आ लाभप्राप्तेरेकमर्यादावस्थितस्य यदवस्थानं सावस्था व्यक्तादिविशेषणविशिष्टा। तदुक्तम्—

व्यक्ताऽव्यक्ता जया दानं निष्ठा चैव हि पञ्चमम्। इति।

मिथ्याज्ञानादीनामत्यन्तव्यपोहो विशुद्धिः। सा प्रतियोगिभेदात्पञ्चविधा। तदुक्तम्—

६. अज्ञानस्याप्यधर्मस्य हानिः सङ्गकरस्य च।
च्युतेर्हानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता॥ इति।

(५) लाभ की प्राप्ति पर्यन्त जब साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति अवस्था कहलाती है जिसमें व्यक्त आदि विशेषण लगाते हैं [तथा पाँच प्रकार की होती है]। यह कहा है—व्यक्तावस्था (जब किसी साधक के उपाय अनुष्ठान आदि प्रकाशित हों, लोगों की स्तुति-निन्दा की चिन्ता न रहे), अव्यक्तावस्था (जब साधक सब गुप्त रूप से करे), जयावस्था (मन और इन्द्रियों की विजय करके अवस्थित रहना), दानावस्था (सब कुछ त्याग देना) और निष्ठावस्था (महेश्वर में सदा अविच्छिन्न भक्ति रखना), यह पाँचवीं है।

(६) मिथ्याज्ञान आदि का बिलकुल (सर्वथा) विनाश हो जाना विशुद्धि है। प्रतियोगियों (जिनका विनाश होता है, Partner, Competitor) के पाँच भेद होने के कारण यह भी पाँच प्रकार की है। [मल पाँच प्रकार के हैं, उनमें प्रत्येक का विनाश करना अभीष्ट है, इसलिए इस विशुद्धि के पाँच भेद हैं।] कहा है—अज्ञानहानि, अधर्महानि, आसक्तिहेतु की हानि, च्युतिहानि और पशुत्वहानि—शुद्धि पाँच प्रकार की मानी गयी है।

दीक्षाकारिपञ्चकं चोक्तम्-

७. द्रव्यं कालः क्रिया मूर्तिर्गुरुश्चैव हि पञ्चमः। इति।

बलपञ्चकं च-

८. गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम्॥ इति।

पञ्चमल-लघूकरणार्थमागमाविरोधिनोऽन्नार्जनोपाया वृत्तयो भैक्ष्योत्सृष्टयथालब्धाभिधा इति। शेषमशेषमाकर एवावगन्तव्यम्।

(७) पाँच **दीक्षाकारियाँ** (दीक्षा के तत्त्वों Aspects of initiation) का कथन हुआ है—द्रव्य (दीक्षा के समय उपयोगी वस्तुएँ), काल (शुभ मुहूर्त, दीक्षा के योग्य समय), क्रिया (गुरुसेवनादि, दीक्षा की विधियाँ), मूर्ति (देवप्रतिमा) और गुरु, यह पाँचवाँ है ।

(८) पाँच **बल** हैं—गुरुभक्ति, बुद्धि की निर्मलता, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों पर विजय, धर्म और अप्रमाद (सावधान रहना), इस तरह बल पाँच प्रकार का माना गया है ।

(९) पाँच मलों को क्षीण (कम) करने के लिये, आगमों (शास्त्रों) के विरुद्ध नहीं जाने वाले (शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले) पुरुषों के अन्नार्जन (जीविका-निर्वाह) के उपायों को **वृत्ति** कहते हैं । [पाँच मलों का विनाश वासचर्या आदि उपायों से होता है । किन्तु किसी भी वस्तु का तुरत विनाश कर देना सम्भव नहीं है अतः पहले इन्हें कम करते हैं । इसी में वृत्तियाँ काम देती हैं जो तीन हैं—] भिक्षा में मिले हुए अन्न पर निर्वाह करना, लोग जिसे छोड़ दें उसे ग्रहण करना (उत्सृष्ट) तथा जो मिल जाय उसे ही लेना । (यहाँ ध्येय है कि इन सभी पदार्थों का ग्रहण करते समय शास्त्र के विरोध पर भी ध्यान दिया जाता है, नहीं तो कीटादि-दूषित अन्न या नीचादि व्यक्तियों से मिला अन्न भी ग्राह्य ही होगा । शास्त्र इस प्रकार के अन्न का विरोध करते हैं अतः इन्हें लेना वृत्ति नहीं है ।) अवशिष्ट सारी बातें आकर-ग्रंथों से ही जाननी चाहिएँ ।

विशेष—प्रथम सूत्र में स्थित 'अर्थ' शब्द की व्याख्या में ही गुरु के द्वारा ज्ञातव्य इन नव गणों का उल्लेख कर दिया गया है । अब दूसरे शब्द 'अतः' की व्याख्या में दुःखान्त का, 'पशु' के द्वारा कार्य का, 'पति' के द्वारा कारण का तथा 'योग' और 'विधि' का स्वतंत्र रूप से विचार होगा, इस प्रकार पाँचों पदार्थों का वर्णन हो जायगा ।

(२ क. सूत्र के अन्य शब्द—अतः, पति आदि)

अतःशब्देन दुःखान्तस्य प्रतिपादनम् । आध्यात्मिकादि-दुःखत्रयव्यपोहप्रश्नार्थत्वात्तस्य । पशुशब्देन कार्यस्य । परतन्त्र-वचनत्वात्तस्य । पतिशब्देन कारणस्य । 'ईश्वरः पतिरीशिता' इति जगत्कारणीभूतेश्वरवचनत्वात्तस्य । योगविधी तु प्रसिद्धौ ।

'अतः' (इसलिए) शब्द के द्वारा **दुःखान्त** का प्रतिपादन होता है क्योंकि इस शब्द से आध्यात्मिक आदि तीन दुःखों के विनाश के लिए प्रश्न करना व्यक्त

होता है। [जब शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि दुःखान्त कैसे हो तब उसका उत्तर देने के लिए गुरु तैयार हुए और बोले—'इसलिए'''। अब यहाँ 'इसलिए' के द्वारा 'दुःखान्त के लिए' का बोध हो गया। पाँच पदार्थों में दुःखान्त भी एक है। जिसकी ध्वनि प्रथम सूत्र में मिलती है। यही नहीं, अन्य पदार्थ भी इस सूत्र से ध्वनित हो जाते हैं।]

'पशु' शब्द के द्वारा **कार्य** का प्रतिपादन होता है क्योंकि वह (पशु या कार्य) परतंत्र होता है। [पशु पति के वश में रहता है और कार्य कारण के अधीन है इस समानता से दोनों की एकरूपता सिद्ध हो जाती है।] 'पति' शब्द से **कारण** का बोध होता है क्योंकि 'ईश्वर शासन करने वाला पति है' इस वाक्य में संसार के कारणस्वरूप ईश्वर का वर्णन है। [पति शब्द से ईश्वर का बोध होता है और ईश्वर संसार का कारण है। अतः पति के द्वारा कारण की ध्वनि निकलती है।] **योग** और **विधि** तो अपने आप में स्पष्ट है (शब्दों से ही व्यक्त हैं)।

विशेष—पाशुपत-दर्शन में कहे गये पाँचों पदार्थों का प्रतिपादन प्रथम सूत्र के द्वारा ही हो गया है। सूत्र का अर्थ है कि शिष्य के द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में गुरु दुःखान्त की सिद्धि के लिए महेश्वर के द्वारा प्रतिपादित महेश्वर की प्राप्ति के लिए जो योग (Union) है उसकी विधि बतलाते हैं। इस प्रकार पाशुपत शास्त्र के आरम्भ की यह प्रतिज्ञा है। पशु के द्वारा कार्य, पति के द्वारा कारण, अतः के द्वारा दुःखान्त—इस प्रकार इन तीन पदार्थों की ध्वनि है; योग और विधि तो शब्दों से ही स्पष्ट हैं।

सभी परतन्त्र पदार्थों (पशु, मनुष्य, द्रव्य) को पशु कहते हैं। जिस प्रकार पशु अपने स्वामियों के अधीन होते हैं उसी प्रकार ये पारिभाषिक 'पशु' भी अपने पति (ईश्वर) के अधीन हैं। चिदात्मक या अचिदात्मक, सभी पदार्थ पशु (कार्य) हैं जिनका कारण स्वतंत्र परमेश्वर है। परतन्त्र सदा स्वतन्त्र के अधीन रहता है। जप, ध्यान आदि को योग कहते हैं और भस्मलेपन, स्नान आदि के व्रत विधि हैं। दुःख से निवृत्त होने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति करना दुःखान्त है। ये ही पाँच तत्त्व हैं क्योंकि परम पुरुषार्थ के साधन हैं। **तत्त्व वही है जिसका ज्ञान परम-पुरुषार्थ का साधन हो।** प्रस्तुत दर्शन में इन पाँचों का ज्ञान उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। पंचम तत्त्व (दुःखान्त) तो परम-पुरुषार्थ के रूप में ही है अतः उसका ज्ञान तो आवश्यक है ही; दुःख के बीज के रूप में अस्वतंत्र (कार्य, पशु) को जानना भी नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसीकी निवृत्ति करनी है। ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र ईश्वर (कारण, पति) को जानना

अनिवार्य है, यह कौन अस्वीकार करेगा ? ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भस्म-स्नानादि विधि के साथ जप-ध्यानादि योग भी ज्ञेय हैं। इस प्रकार पाँचों का ज्ञान परमावश्यक है।

(३. दुःखान्त का निरूपण)

तत्र दुःखान्तो द्विविधः—अनात्मकः सात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुःखानामत्यन्तोच्छेदरूपः। सात्मकस्तु दृक्क्रियाशक्तिलक्षणमैश्वर्यम्। तत्र दृक्शक्तिरेकापि विषयभेदात्पञ्चविधोपचर्यते—दर्शनं श्रवणं मननं विज्ञानं सर्वज्ञत्वं चेति।

इनमें दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक। अनात्मक (Impersonal) दुःखान्त उसे कहते हैं जिसमें सभी दुःखों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाय [इसके बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति न हो]। सात्मक (Personal) दुःखान्त वह है जिसमें दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त (लक्षित) ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो। दृक्शक्ति (बुद्धि या ज्ञान की शक्ति) यद्यपि एक है किन्तु विषयों (Objects) की विभिन्नता के कारण पाँच प्रकार से व्यक्त की जाती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान (विवेचन) और सर्वज्ञता। [अब इनमें प्रत्येक की परिभाषा बतलाई जायगी।]

तत्र सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टाशेष-चाक्षुष-स्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानम्। स्वशास्त्रं येनोच्यते। उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वमिति। एषा धीशक्तिः।

दर्शन उस ज्ञान-शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों (नेत्र सम्बन्धी जैसे रूप और तदाश्रित द्रव्य), स्पर्श सम्बन्धी विषयों, [रस सम्बन्धी विषयों और घ्राण सम्बन्धी विषयों] का ज्ञान होता है चाहे वे विषय कितने ही सूक्ष्म हों (परमाणु आदि) या किसी वस्तु के द्वारा व्यवहित (Intervened) हों या दूर पर स्थित हों। [बद्ध जीव सभी चाक्षुष, स्पार्शनादि विषयों को नहीं जान सकते, वे दूरस्थ, व्यवहित या सूक्ष्म पदार्थों को भी नहीं जान सकते किन्तु मुक्त पुरुषों में यह ऐश्वर्यशक्ति आ जाती है कि वे ईश्वर की

तरह इन सारे विषयों की जानकारी कर सकते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वे नहीं जान पाते।] सभी शब्दों के विषय में (सूक्ष्म, दूरस्थ या पशु-पक्षी आदि के द्वारा किये गए शब्द) सिद्धि के रूप में उत्पन्न ज्ञान को **श्रवण** कहते है। [यद्यपि श्रवण दर्शन में अन्तर्भूत हो सकता है पर तत्त्वज्ञान में इसकी विशेष उपयोगिता होने के कारण इसे पृथक् रखा गया है। इसमें सिद्धि अर्थात् योगादि साधनों से उत्पन्न एक विशेष शक्ति के द्वारा ज्ञान होता है।] जिन-जिन विषयों का चिन्तन संभव है उन सबों का केवल चिन्तन करते ही [बिना शास्त्रादि देखे हुए ही] योग की सिद्धि द्वारा ज्ञान पा लेना **मनन** (Cogitation) कहलाता है। सिद्धि के द्वारा सभी शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और उसके अर्थ के साथ जान लेना **विज्ञान** है। [ग्रन्थ में इस तरह की पंक्ति है और उसका यह अर्थ है, यह जान लेना विज्ञान है।] इसी से अपने (पाशुपत) शास्त्र का प्रवचन होता है (शास्त्र की असंदिग्ध व्याख्या में विज्ञान ही उपयोगी है)।

[गुरु के द्वारा] उपदिष्ट या अनुपदिष्ट, सभी अर्थों (विषयों) में समास, विस्तर, विभाग और विशेष के द्वारा (इनका वर्णन इसी दर्शन में बाद में होगा) तत्त्व के रूप में संबद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि-ज्ञान को **सर्वज्ञत्व** कहते हैं। [यह वैसा ज्ञान है जो सदा उदित या प्रकाशित रहता है, कभी छिपता नहीं। तत्त्वों के रूप में यह सदा बँधा हुआ रहता है। बातें बतलाई गई हों या नहीं, सभी सर्वज्ञ को मालूम हो जाती हैं, वह भी संक्षिप्त (समास) विस्तृत, विश्लिष्ट (Analysea) तथा विशिष्ट (Specialised) रूप में। ज्ञान शक्ति की यहाँ पराकाष्ठा है।] यह (दृक्शक्ति) ज्ञान (बुद्धि intellect) की शक्ति है।

क्रियाशक्तिरेकापि त्रिविधोपचर्यते—मनोजवित्वं कामरूपित्वं विकरणधर्मित्वं चेति। तत्र निरतिशयशीघ्रकारित्वं मनोजवित्वम्। कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वेच्छया एवानन्त-सलक्षण-विलक्षण-स्वरूप-करणाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वम्। उपसंहृतकरणस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणधर्मित्वमिति। एषा क्रियाशक्तिः।

क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही होती है फिर भी परोक्षतः तीन प्रकार की कही जाती है—मन की तरह वेगवान् होना, इच्छा से रूप बदलना तथा विकरण (इन्द्रियादिहीन) होने पर भी ऐश्वर्य धारण करना (विकरणधर्मित्व)। मन

की तरह वेगवान् होने का अर्थ है कि इतनी शीघ्रता से काम करें जिससे अधिक शीघ्र और कोई न करे। कर्मफल आदि से निरपेक्ष (पृथक्) होकर, केवल अपनी इच्छा से ही अनन्त सलक्षण (समान धर्मों वाले), विलक्षण (विभिन्न लक्षणों वाले) तथा सरूप (एक तरह के) करणों (शरीरों और इन्द्रियों) में अधिष्ठित होना ही कामरूपित्व (अपनी इच्छा से रूप बदलना) है। विकरणधर्मित्व वह है जब करणों के न होने पर (या संक्षिप्त होने पर) भी सर्वोच्च (निरतिशय) ऐश्वर्य से सम्बन्ध हो जाय। यह क्रिया की शक्ति है।

विशेष—अनात्मक दुःखान्त बिल्कुल निषेधात्मक (Negative) है क्योंकि इसमें केवल दुःख की निवृत्ति ही होती है। दुःख की निवृत्ति के बाद ऐश्वर्य की प्राप्ति सात्मक दुःखान्त में होती है। ऐश्वर्य मिलने में भी दो प्रकार की शक्तियाँ मिलती हैं—दृक्शक्ति या जानने की शक्ति तथा क्रियाशक्ति या कार्य के रूप में दिखलाने की शक्ति। इनके क्रमशः पाँच और तीन भेद हैं। इस प्रकार दुःखान्त का निरूपण हुआ।

(४. कार्य का निरूपण)

अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं—विद्या कला पशुश्चेति। एतेषां ज्ञानात्संशयादिनिवृत्तिः। तत्र पशुगुणो विद्या। सापि द्विविधा—बोधाबोधस्वभावभेदात्।

बोधस्वभावा विवेकाविवेकप्रवृत्तिभेदाद् द्विविधा। सा चित्तमित्युच्यते। चित्तेन हि सर्वः प्राणी बोधात्मकप्रकाशानुगृहीतं सामान्येन विवेचितमविवेचितं चार्थं चेतयत इति।

जो कुछ भी अस्वतंत्र (परतंत्र) है वह सब कार्य कहलाता है। वह तीन प्रकार का है—विद्या, कला और पशु। [जीव-जड़-वर्ग अपने-अपने गुणों के साथ कभी स्वतन्त्र नहीं है। गुण अपने-अपने आश्रयों के अधीन हैं, जड़पदार्थ जीवों के अधीन हैं। जीवों में भी एक दूसरे की पराधीनता देखी जाती है—स्त्री पति के अधीन, नौकर अपने स्वामी के अधीन, प्रजा राजा के अधीन आदि। परमेश्वर के अधीन तो सभी हैं। पाशुपत-दर्शन में जीवों को पशु कहते हैं, जीवों के गुणों को **विद्या** और गुणसहित पृथिवी आदि जड़-द्रव्यों को **कला** कहते हैं।] इन (भेदों) के ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। इनमें पशुओं के गुण को विद्या (Sentiency) कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—बोधस्वभाव और अबोधस्वभाव वाली विद्या।

बोध स्वभाववाली या बोधात्मिका विद्या दो प्रकार की है क्योंकि उसमें विवेक या अविवेक की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इस बोधात्मिका विद्या को चित्त भी कहते हैं। चित्त के ही द्वारा सभी प्राणी बोधात्मक (वस्तुओं का ज्ञान करानेवाले) प्रकाश से अनुगृहीत (प्रकाशित) सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को जानता है (चेतयते, √चित् = जानना), चाहे वे वस्तुएँ विवेक प्रवृत्ति से पूर्ण हों या विवेक प्रवृत्ति से रहित। [जीवों में विषय का ज्ञान करने के लिए जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसी के रूप में जीव में अवस्थित एक विशेष गुण का ही नाम चित्त है। यह चित्त-गुण स्वयं बोधात्मक होने के कारण घट, पट आदि पदार्थों का बोध कराता है। जैसे सूर्य या दीपक स्वयं प्रकाशात्मक होने के कारण वस्तुओं का बोध कराते हैं उसी प्रकार चित्त के साथ भी यही बात है। चित्त नाम की यह प्रवृत्ति कभी विवेक से युक्त होती है कभी उससे रहित। अब इन दोनों की कृतियाँ व्यक्त होंगी।]

तत्र विवेकप्रवृत्तिः प्रमाणमात्रव्यङ्ग्या। पश्वर्थधर्माधर्मिका पुनरबोधात्मिका विद्या। चेतनपरतन्त्रत्वे सत्यचेतना कला। सापि द्विविधा—कार्याख्या कारणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा—पृथिव्यादीनि पञ्च तत्त्वानि, रूपादयः पञ्च गुणाश्चेति। कारणाख्या त्रयोदशविधा—ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, अध्यवसायाभिमानसंकल्पाभिधवृत्तिभेदाद् बुद्ध्यहंकारमनोलक्षणमन्तःकरणत्रयं चेति।

उनमें विवेक-प्रवृत्ति केवल प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त होती है। [इसके अतिरिक्त जो सामान्य या विवेक से रहित प्रवृत्ति है वह अतीन्द्रिय होती है। वह अपने साध्य अर्थात् सामान्यज्ञानात्मक फल से व्यक्त होती है। चित्त बोधात्मक है तथा अपने बोधरूप स्वभाव से घटादि पदार्थों को (जड़ होने पर भी इन्हें) व्यक्त कर देता है। यह चित्त-गुण बोधात्मक है अतः ज्ञान का साधन बन सकता है।]

अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति करानेवाले धर्म और अधर्म ये दोनों संस्कार रहें। [यह भी जीव का एक विशिष्ट गुण ही है किन्तु इसका उपयोग ज्ञान में कुछ नहीं। कारण यह है कि बोध कराना इसके स्वभाव में ही नहीं और ज्ञान बोध से ही होता है।]

चेतन के अधीन रहनेवाली **कला** स्वयम् अचेतन होती है। इसके भी दो भेद हैं—कार्य के रूप में कला (विषयरूपा कला) और कारण के रूप में कला

(इन्द्रियरूपा कला)। कार्याख्या कला दस प्रकार की होती है—पृथिवी आदि पाँच तत्त्व (Gross elements) और रूप आदि पाँच गुण (Subtle elements)। कारणाख्या कला के तेरह भेद हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (Sense organs), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (Motor organs) तथा अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान (अनात्मा के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करना) और संकल्प नाम की तीन वृत्तियों (Functions) के भेद के कारण तीन प्रकार के अन्तःकरण—बुद्धि (Intellect), अहंकार (Ego) और मन (Cogitant Principle)।

विशेष—दस इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण कारण के रूप में (कारणाख्या) कला हैं क्योंकि ये विषयज्ञापन के कारण हैं। दूसरी ओर पाँच महाभूतों और उनके गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) को 'कार्य के रूप में कला' कहते हैं क्योंकि ये इन्द्रियों के कार्य हैं। विषय इन्द्रियों के अधीन हैं और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन—इस प्रकार ये दोनों प्रकार की कलाएँ आपस में एक दूसरे के अधीन हैं। चेतन के अधीन तो दोनों ही हैं। इस प्रकार की गणना सिद्ध करती है कि सांख्य-दर्शन का प्रभाव इन पर पर्याप्त मात्रा में है। सांख्य में इन दस और तेरह तत्त्वों के अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति मिलाकर कुल पचीस तत्त्व दिखलाये जाते हैं।

पशुत्वसंबन्धी पशुः। सोऽपि द्विविधः—साञ्जनो निरञ्जनश्चेति। तत्र साञ्जनः शरीरेन्द्रियसम्बन्धी। निरञ्जनस्तु तद्रहितः। तत्प्रपञ्चस्तु पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः।

पशुत्व (पुनर्जन्मादि गुण) जिसमें हों वह पशु है। यह भी दो प्रकार का है—साञ्जन (शरीर और इन्द्रियों से युक्त) तथा निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय से रहित)। साञ्जन वह है जिसे शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध हो। [जिस सम्बन्ध के द्वारा एक सम्बन्धी के धर्म दूसरे सम्बन्धी में भी समझे या कहे जाते हैं उस विशेष सम्बन्ध को अञ्जन कहते हैं। जीव में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध से स्थूलत्व कारणत्व आदि धर्मों का वर्णन होता है अतः वह साञ्जन है।] निरञ्जन उस सम्बन्ध से रहित होता है। इनका विस्तार पञ्चार्थभाष्यदीपिका (राशीकरभट्ट के भाष्य पर टीका— लेखक अज्ञात) आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

(५. कारण और योग का निरूपण)

समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणम्। तस्यैकस्यापि गुणकर्मभेदापेक्षया विभागः उक्तः 'पतिः साद्यः' इत्यादिना।

तत्र पतित्वं निरतिशयदृक्क्रियाशक्तिमत्त्वं तेनैश्वर्येण नित्यसंबन्धित्वम् । आद्यत्वमनागन्तुकैश्वर्यसंबन्धित्वम्—इत्यादर्शकारादिभिस्तीर्थकरैर्निरूपितम् ।

सारी वस्तुओं की सृष्टि, संहार और अनुग्रह (कृपा) करनेवाले तत्त्व को कारण (ईश्वर) कहते हैं। यद्यपि यह एक ही है फिर भी गुण और कर्म के भेदों* की अपेक्षा रखने के कारण इसके विभाग (Kinds) भी कहे गये हैं—'पति आद्यगुण से युक्त है......' इत्यादि। इस सूत्र में पति का अर्थ है निरतिशय (सर्वोच्च) दृक्शक्ति और क्रिया शक्ति (देखें परि० ३) से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य का अर्थ है ऐसे ऐश्वर्य से संबद्ध होना जो (ऐश्वर्य) आगन्तुक या आकस्मिक न हो (प्रत्युत नित्य हो)—इसी प्रकार 'आदर्श' आदि ग्रन्थों के लेखक तीर्थंकरों (शास्त्रप्रवर्तकों) ने इसका निरूपण किया है।

चित्तद्वारेणेश्वरसंबन्धहेतुर्योगः (पाशु० सू० ५।२)। स च द्विविधः—क्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणश्चेति । तत्र जपध्यानादिरूपः क्रियालक्षणः । क्रियोपरमलक्षणस्तु निष्ठासंविद्गत्यादिसंज्ञितः ।

चित्त (जीव के बोधात्मक गुणविशेष) के द्वारा [जीव का] ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को **योग** कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है—क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति वाला। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग (जीवेश्वर सम्बन्ध करानेवाला) है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं [क्योंकि इसमें कुछ काम करना पड़ता है।] क्रिया की निवृत्तिवाला योग वह है जिसकी संज्ञायें निष्ठा (महेश्वर में अविचल भक्ति), संवित् (तत्त्वज्ञान), गति (शरणागति) आदि हैं।

(६. विधि का निरूपण)

धर्मार्थसाधकव्यापारो विधिः । स च द्विविधः—प्रधानभूतो गुणभूतश्च । तत्र प्रधानभूतः साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या । सा द्विविधा—व्रतं द्वाराणि चेति । तत्र भस्मस्नानशयनोपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम् । तदुक्तं भगवता नकुलीशेन—भस्मना

---

*गुण—सत्त्व, रजस्, तमस् । कर्म—सृष्टि, पालन, संहार ।

त्रिषवणं स्नायीत, भस्मनि शयीत (पा० सू० १।८ अग्रतः) इति ।

अत्रोपहारो नियमः । स च षडङ्गः । तदुक्तं सूत्रकारेण—हसित-गीत-नृत्य-हुडुक्कार - नमस्कार-जप्यषडङ्गोपहारेणोपतिष्ठेतेति ।

धर्म (महेश्वर) रूपी अर्थ (लक्ष्य) की सिद्धि कराने के लिए (महेश्वर के समीप पहुँचाने के लिए) जो भी व्यापार या कर्म करें वह विधि है । [विधान होने के कारण इसे विधि कहते हैं ।] इसके दो भेद हैं—प्रधान विधि और गौण विधि । प्रधान विधि वह है जो साक्षात् धर्म का कारण हो, इसे चर्या भी कहते हैं । इसके भी दो भेद हैं—व्रत और द्वार । भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा—ये व्रत हैं । भगवान् नकुलीश ने कहा है—भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या) स्नान करे (लेपन करे), भस्म में ही शयन करे, इत्यादि ।

यहाँ उपहार का अर्थ है नियमों का पालन । इसके छह अंग हैं जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार (एक प्रकार की ध्वनि), नमस्कार और जप्य—इस षडंग उपहार के द्वारा पूजा करे ।

तत्र हसितं नाम कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनपुरःसरम् अहहेत्यट्टहासः । गीतं गान्धर्वशास्त्रसमयानुसारेण महेश्वरसंबन्धिगुणधर्मादिनिमित्तानां चिन्तनम् । नृत्यमपि नाट्यशास्त्रानुसारेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणादिकमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गसहितं भावाभावसमेतं च प्रयोक्तव्यम् । हुडुक्कारो नाम जिह्वातालुसंयोगान्निष्पाद्यमानः पुण्यो वृषनादसदृशो नादः । हुडुगिति शब्दानुकारो वषडितिवत् । यत्र लौकिका भवन्ति तत्रैतत्सर्वं गूढं प्रयोक्तव्यम् । शिष्टं प्रसिद्धम् ।

हसित (Laughter) का अर्थ है कण्ठ और ओष्ठपुटों को हिला-हिलाकर 'अहह' ध्वनि करते हुए अट्टहास करना । गान्धर्व-शास्त्र (संगीत विद्या) की परम्परा (समय = प्रसिद्धि, आचार, Convention) के अनुसार महेश्वर से सम्बद्ध गुण और धर्म आदि निमित्तों का चिन्तन करना ही गीत (Song) है । नाट्यशास्त्र (Science of Dramaturgy) के अनुसार हस्त-पादादि

का ऊपर फेंकना आदि अपने अंगों, प्रत्यंगों और उपांगों के साथ करें जिसमें भाव (आन्तरिक) का अभाव (हाव या अभिव्यक्ति) भी रहे, यही नृत्य है। [नाट्यशास्त्र के नियमों से नृत्य को सीमित करना अनिवार्य है। हस्तोत्क्षेपण, पादोत्क्षेपण आदि की भी विभिन्न मुद्रायें हैं जिनमें हृदय की भावनायें बाह्य मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। इनका विस्तृत विवरण भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। नृत्य के आचार्य स्वयं महेश्वर हैं जिनका नाम नटराज भी है अतः इनकी प्रसन्नता के लिए नृत्य की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।] हुडुक्कार उस नादविशेष को कहते हैं जो वृषभ (साँड़) की आवाज की तरह का है तथा जिह्वा और तालु (चवर्ग का उच्चारणस्थान) के संयोग से उत्पन्न होनेवाला जो पुण्यप्रद शब्द है। 'हुडुक्' शब्द वास्तव में 'वषट्' की तरह ही [एक अव्यक्त] ध्वनि का अनुकरण करनेवाला शब्द है।

जहाँ पर लौकिक पुरुष (सामान्य जन) विद्यमान रहें, वहाँ पर इन सबों का प्रयोग गुप्त रूप से करना चाहिए [क्योंकि प्रत्यक्षतः लोगों के सामने करने पर लोग 'मूर्ख' कहकर उपासक को अपने व्रत से भ्रष्ट कर दे सकते हैं। इसलिए व्रतचर्या को गोपनीय रखें या एकान्त में ही ये सब किया करें। एकान्तता ही रखने के लिए क्राथनादि द्वारचर्याओं की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें हम इसके बाद देखेंगे।] अवशिष्ट [दोनों व्रतचर्यायें—जप और नमस्कार] तो प्रसिद्ध ही है।

द्वाराणि तु क्राथन-स्पन्दन-मन्दन-शृङ्गारणावितत्करणावितद्भाषणानि। तत्रासुप्तस्यैव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनम्। वाय्वभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनम् स्पन्दनम्। उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनम् मन्दनम्। रूपयौवनसम्पन्नां कामिनीमवलोक्यात्मानम् कामुकमिव यैर्विलासैः प्रदर्शयति तत् शृङ्गारणम्।

द्वारचर्यायें (बाह्य प्रदर्शन के योग्य मुद्रायें) ये हैं—क्राथन (खर्राटे भरना Snoring), स्पन्दन (देह कँपाना Trembling), मन्दन (लड़खड़ाकर चलना Limping), शृंगारण (विलास का प्रदर्शन), अवितत्करण (उलटा-सीधा काम करना) और अवितद्भाषण (अनाप-शनाप बकना Nonsense talks)।

बिना नींद आये ही (जगे हुए ही) सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टायें (आँखें बन्द करना, खर्राटे भरना आदि) प्रदर्शित करना **क्राथन** है। वायुरोग

से अभिभूत व्यक्ति की भाँति अपने शरीर के अंगों को कँपाना **स्पन्दन** कहलाता है। टूटे हुए पैर वाले व्यक्ति की तरह लड़खड़ा कर चलना **मन्दन** है। रूप (सौन्दर्य) और यौवन से संपन्न किसी कामिनी को देखकर अपने को कामुक के समान प्रदर्शित करते हुए (साधक) जब कामुकों के योग्य जिन-जिन विलासों का प्रदर्शन करता है वे **शृंगारण** हैं। (दे० पा० सू० ३।१२-१७) [वास्तव में उपासक इन दोषों से मुक्त है किन्तु लोगों को अपने पास से अलग करने के लिए वह उक्त चेष्टायें दिखलाता है। अभी भी बहुत से ऐसे साधक भारत में विद्यमान हैं।]

कार्याकार्यविवेकविकलस्येव लोकनिन्दितकर्मकरणमवितत्करणम्। व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणमवितद्भाषणमिति।

गुणभूतस्तु विधिश्चर्यानुग्राहकोऽनुस्नानादिः भैक्ष्योच्छिष्टादिनिमितायोग्यताप्रत्ययनिवृत्त्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकारेण—अनुस्नाननिर्माल्यलिङ्गधारीति।

कर्तव्य और अकर्तव्य की विवेचना करने में असमर्थ व्यक्ति की तरह लोगों के द्वारा निन्दनीय कर्म करना **अवितत्करण** है। परस्परविरोधी, निरर्थक आदि शब्दों को बकते फिरना **अवितद्भाषण** कहलाता है। [इस प्रकार प्रधान विधि का वर्णन समाप्त हुआ।]

चर्या के अनुग्राहक (सहायक) अनुस्नान आदि को गौण विधि कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न-भोजन, उच्छिष्ट-भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अयोग्यता (अपवित्रता) आ जाती है उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है। सूत्रकार ने यह भी कहा है—अनुस्नान, निर्माल्य और लिंग का धारण करनेवाला [पवित्र होता है]।

विशेष—प्रधान विधि (या चर्या) का पालन अपवित्र अवस्था में नहीं किया जाता। भोजन के अनन्तर बिना स्नान किये हुए उच्छिष्टादि अन्नजनित दोष रहते हैं। अतः अपवित्र दशा में योग्यता के अभाव में चर्या का अधिकार नहीं रहता। मल-मूत्र-त्याग के बाद भी वही बात है। यह अपवित्रता अनुस्नान आदि गौण विधियों से दूर की जा सकती है। अनुस्नान स्नान का प्रतिनिधि है जिसमें जलस्पर्श, आचमन, भस्मस्नान आदि हैं। व्रतों में पढ़ा गया भस्मस्नान तीनों कालों में विहित है, वह नित्य है जब कि यहाँ का भस्मस्नान नैमित्तिक (Occasional) है। अनुस्नान के अनन्तर पवित्र होकर निर्माल्य

और भस्म धारण करें। जब तक ये शरीर में हैं तब तक उपासक अपवित्र नहीं हो सकता। तन्त्रसार में कहा है—निर्माल्यं शिरसा धार्यं सर्वाङ्गे चानुलेपनम्।

(७. समासादि पदार्थ और अन्य शास्त्रों से तुलना)

तत्र समासो नाम धर्मिमात्राभिधानम्। तच्च प्रथमसूत्र एव कृतम्। पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः। स खलु राशीकरभाष्ये द्रष्टव्यः। एतेषां यथासम्भवं लक्षणतोऽसङ्करेणाभिधानं विभागः। स तु विहित एव।

[ऊपर सर्वज्ञत्व का लक्षण करते हुए समास, विस्तर, विभाग और विशेष जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया था। अब उन शब्दों की व्याख्या की जाती है।] केवल धर्मियों (पदार्थों) का नाम भर ले लेना **समास** कहलाता है। ऐसा प्रथम सूत्र में ही किया गया है [कि पाँचों पदार्थों का चतुराई से नाम ले लिया गया है]। पाँचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप में विस्तारपूर्वक (पञ्च = विस्तार) नाम लेना **विस्तर** है। इसे राशीकर-भाष्य (संभवतः कौण्डिन्य-भाष्य) में देखना चाहिए। इन सबों का यथासंभव लक्षण दिखलाते हुए, एक दूसरे पदार्थ से बिना मिलाये हुए (स्पष्ट रूप से), वर्णन करना **विभाग** कहलाता है। इसका विधान तो इस शास्त्र में हुआ ही है।

शास्त्रान्तरेभ्योऽमीषां गुणातिशयेन कथनं विशेषः। तथा हि—अन्यत्र दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः। इह तु पारमैश्वर्यप्राप्तिश्च। अन्यत्राभूत्वा भावि कार्यम्। इह तु नित्यं पश्वादि। अन्यत्र सापेक्षं कारणम्। इह तु निरपेक्षो भगवानेव। अन्यत्र कैवल्यादिफलको योगः। इह तु पारमैश्वर्यदुःखान्तफलकः। अन्यत्र पुनरावृत्तिरूपस्वर्गादिफलको विधिः। इह पुनरपुनरावृत्तिरूपसामीप्यादिफलकः।

दूसरे शास्त्रों (न्याय आदि) से इस शास्त्र में कथित इन पदार्थों के गुणों के पार्थक्य का वर्णन करना **विशेष** कहलाता है। [पाशुपत शास्त्र में जिन पाँच पदार्थों का वर्णन हुआ है उनके लक्षण दूसरे शास्त्रों में पृथक् रूप में दिये गये हैं। इस शास्त्र के लक्षणों से उन लक्षणों की तुलना करके अपने लक्षणों को श्रेष्ठ सिद्ध करना ही विशेष कहलाता है। स्मरणीय है कि सर्वज्ञ पाँचों पदार्थों को

समास, विस्तर, विभाग और विशेष के साथ ही जानता है। अब अन्य शास्त्रों से अपने शास्त्र की विशेषतायें बतलाई जायँगी।]

उदाहरणत:, (१) दूसरे शास्त्रों में दुःख से मुक्त हो जाना ही दुःखान्त (Liberation मोक्ष) है किन्तु अपने (पाशुपत) शास्त्र में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है। (२) दूसरे शास्त्रों में कार्य वह है जो पहले विद्यमान न हो पीछे [कारकादि के व्यापारों (प्रयासों) से] उत्पन्न हो (अर्थात् कार्य अनित्य है)। किन्तु अपने शास्त्र में पशु आदि नित्य पदार्थों को कार्य कहते हैं। (३) अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष होता है (जैसे वेदान्त में धर्माधर्म की अपेक्षा रखने वाला ईश्वर) जब कि इस शास्त्र में निरपेक्ष भगवान् ही कारण होता है। (४) दूसरे शास्त्रों में योग वह है जो कैवल्य की प्राप्ति करा दे (जैसे योगशास्त्र में कहा गया है कि जब चेतन बुद्धि आदि उपाधियों से रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तब पुरुष को कैवल्य मिलता है जो योग से संभव है)। इस शास्त्र में योग उसे कहते हैं जो परम ऐश्वर्य से युक्त दुःखान्त (मोक्ष) देता है। (५) अन्य शास्त्रों में (जैसे मीमांसा में) विधि वह है जो स्वर्ग आदि ऐसा फल प्रदान करे जिस (फल) की आवृत्ति (निवृत्ति) फिर हो जाय, लेकिन इस शास्त्र में विधि से सामीप्य आदि फल मिलता है जिसका नाश संभव नहीं। [ईश्वरसामीप्य पाकर फिर वहाँ से लौटना नहीं है, मीमांसा की विधियों के अनुसार काम करने के बाद स्वर्गफल मिलता है किन्तु वह क्षणिक होता है—पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में आना ही पड़ता है।]

विशेष—पाशुपत-शास्त्र का 'विशेष' बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शनों का विशेष व्यक्त करते तो बड़ा ही सुन्दर होता। विज्ञापन और पदार्थज्ञान दोनों का अभूत समन्वय होता। यह विशेष पाशुपत-दर्शन को विशिष्ट भूमि पर स्थापित करता है जिससे अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा पाशुपत शास्त्र की अपनी विशेषतायें स्पष्ट व्यक्त होती हैं।

(८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता)

ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः परमेश्वरः कारणमिति। तथात्वे कर्मवैफल्यं स्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्।

मैवं मन्येथाः। व्यधिकरणत्वात्। यदि निरपेक्षस्य भगवतः कारणत्वं स्यात्तर्हि कर्मणो वैफल्ये किमायातम्? प्रयोज-

नाभाव इति चेत्—कस्य प्रयोजनाभावः कर्मवैफल्ये कारणम् ? किं कर्मिणः, किं वा भगवतः ?

यह शंका होती है कि यह बहुत बड़ा इन्द्रजाल (झूठी बात, इन्द्रियों की भ्रान्ति, ईश्वर की माया) है कि निरपेक्ष (Absolute) परमेश्वर को [पाशुपत दर्शन में] कारण मानते हैं क्योंकि ऐसा करने पर दो दोष उत्पन्न होंगे—सभी कर्म निष्फल होंगे तथा सभी कार्य एक साथ ही उत्पन्न होने लग जायँगे। [यदि ईश्वर निरपेक्ष या बिल्कुल स्वतन्त्र होकर कार्य करता है तब तो प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले धर्म या अधर्म का बिना विचार ही किये फल देता होगा। ऐसी दशा में पुण्य या पाप कर्म तो व्यर्थ ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में हाथ न बँटाने के कारण सभी कार्य अपने-आप एक ही साथ उत्पन्न होने लगेंगे। दूसरी ओर यदि ईश्वर को सापेक्ष मान लें तो ये कठिनाइयाँ स्वयं सहल हो जायँ क्योंकि ईश्वर के द्वारा सुख-दुःख का संपादन होगा और कर्मों की सफलता मानी जायगी। यदि सभी कर्म एक साथ नहीं किये जायँगे तो उनकी फलप्राप्ति भी एक साथ नहीं होगी। यही कारण है कि वेदान्त में ईश्वर को धर्माधर्मापेक्षी मानते हैं। (ब्र० सू० २।१।३४)]

पाशुपत-दर्शनवाले कहते हैं कि आप लोग ऐसा न समझें क्योंकि दोनों के (ईश्वर और प्राणियों के) कार्यक्षेत्र के आधार अलग-अलग हैं। [प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट प्राणियों पर ही आधारित है। संसार की उत्पत्ति का व्यापार ईश्वर पर आधारित है। दूसरी जगह का अदृष्ट दूसरी जगह के व्यापार पर कैसे अपनी छाप दे सकता है ? संसारोत्पत्ति और कर्मफल बिल्कुल पृथक् हैं—एक को दूसरे से क्या लेना देना ? अतः निरपेक्ष ईश्वर को ही कारण बनाना ठीक है।]

यदि निरपेक्ष भगवान् को ही संसार का कारण मानें और कर्म की विफलता माननी पड़े तो क्या आपत्ति है (क्या फल पड़ेगा) ? यदि आप कहें कि ऐसा करने से कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा, तो हम फिर पूछेंगे कि कर्म को विफल मानने में कारणस्वरूप किसका प्रयोजनाभाव रहेगा ? क्या कर्म करनेवाले प्राणी के प्रयोजन का अभाव कर्म की विफलता का कारण होगा या भगवान् (संसारोत्पादक) के प्रयोजन का अभाव ?

नाद्यः। ईश्वरेच्छानुगृहीतस्य कर्मणः सफलत्वोपपत्तेः। तदननुगृहीतस्य ययातिप्रभृतिकर्मवत् कदाचिन्निष्फलत्वसंभवाच्च। न

चैतावता कर्मसु अप्रवृत्तिः। कर्षकादिवदुपपत्तेः। ईश्वरेच्छाय-त्तत्त्वाच्च पशूनां प्रवृत्तेः।

पहला विकल्प (कि कर्म करने वाले प्राणी की प्रयोजन-शून्यता कर्मवैफल्य का कारण है) तो हो ही नहीं सकता। ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत होने (Supported) पर ही कर्म की सफलता निर्भर करती है। ईश्वर की इच्छा से संपादित न होने पर कभी-कभी ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म भी निष्फल हो जा सकते हैं। [ईश्वर तो कर्म से निरपेक्ष रहकर ही जगत्कारण बनता है किन्तु कर्म को हरेक दशा में ईश्वरसापेक्ष होना पड़ता है। कृषि-कर्म में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मेघ पर निर्भर है किन्तु मेघ कृषि-कर्म से निरपेक्ष है। जीव तीन प्रकार का कर्म करता है—कुछ कर्मों से ईश्वर प्रसन्न होता है, कुछ कर्मों से क्रुद्ध होता है और कुछ कर्मों पर उदासीन रहता है। प्रथम दो कर्म तो फल देते ही हैं, भले ही वह अच्छा फल हो या बुरा। किन्तु अन्तिम कर्म निष्फल होता है। जिस कर्म को वह अनुगृहीत या स्वीकार नहीं करता उसका फल नहीं मिलता। फिर भी इससे कोई क्षति नहीं है।] इससे (कर्म के निष्फल होने पर) भी कर्मों में अप्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि किसान आदि के उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है। [आशय यह है कि जहाँ ईश्वर उदासीन रहता है उन कर्मों का फल नहीं मिलता। परन्तु यह कोई पहले से नहीं जानता कि इस कर्म के प्रति ईश्वर उदासीन है। परिणाम यह होता है कि कर्म के निष्फल होने पर लोग फिर से उसके सम्पादन में लगते हैं। खेती खराब हो जाने पर भी किसान उसमें फिर लगता है—उसे यह ज्ञान कहाँ कि खेती फिर खराब होगी। यदि कोई पहले से कर्मवैफल्य का ज्ञान रखे तब तो उसे करेगा ही नहीं। इसलिए यह कहना कि प्राणी का प्रयोजनाभाव ही कर्मवैफल्य का कारण है, ठीक नहीं। प्राणी में प्रयोजन (लक्ष्य motive) रहने पर भी तो कर्म निष्फल हो जाता है। ईश्वर की इच्छा पर ही कर्म निर्भर करते हैं। स्मरण रखना है कि फलदान के दो स्रोत हैं—ईश्वर और कर्म। ईश्वर के द्वारा दिये गये फल में कर्म की अपेक्षा नहीं है जब कि कर्म के द्वारा मिलनेवाले फल में ईश्वर की अपेक्षा रहती है। न तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही होती है और न जीव की अप्रवृत्ति ही देखी जाती।]

नापि द्वितीयः। परमेश्वरस्य पर्याप्तकामत्वेन कर्मसाध्य-प्रयोजनापेक्षाया अभावात्। यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति, तदप्ययुक्तम्। अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधा-

यिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—

९. कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम् ।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम् ॥ इति ।

दूसरा विकल्प (कि ईश्वर में प्रयोजन न होना ही कर्म की विफलता का कारण है) भी ठीक नहीं है। परमेश्वर को सारी कामनायें परिपूर्ण हैं अतः कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रयोजन को उसे अपेक्षा नहीं रहती। [ईश्वर कर्मनिरपेक्ष है, कर्म सम्बन्धी कोई भी इच्छा उसमें नहीं है। इस प्रकार कर्म की विफलता का कोई कारण नहीं है। निरपेक्ष ईश्वर की कारणता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

दूसरा आरोप जो यह लगाया गया है कि सभी कार्यों का उत्पादन एक ही साथ होने लगेगा यह भी ठीक नहीं है। परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रियाशक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। संप्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—

'चूँकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करनेवाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया है।'

(१०. ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति)

ननु दर्शनान्तरेऽपीश्वरज्ञानान्मोक्षो लभ्यत एवेति कुतोऽस्य विशेष इति चेत्—मैवं वादीः। विकल्पानुपपत्तेः। किमीश्वर-विषयज्ञानमात्रं निर्वाणकारणं किं वा साक्षात्कारः अथ वा यथा-वत्तत्त्वनिश्चयः ?

नाद्यः। शास्त्रमन्तरेणापि प्राकृतजनवद् 'देवानामधिपो महादेवः' इति ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्षसिद्धौ शास्त्राभ्यासवैफल्यप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः। अनेकमलप्रचयोपचितानां पिशितलोचनानां पशूनाम् परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्तेः।

कोई यह पूछ सकते हैं कि दूसरे दर्शनों में भी तो ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष मिलता ही है, इस पाशुपत-दर्शन में क्या विशेषता है ? हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। नीचे दिये गये विकल्पों में [किसी के द्वारा भी तुम्हारी बात] सिद्ध नहीं

होगी। निर्वाण या मोक्ष का कारण वास्तव में क्या है—ईश्वर के विषय में केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना या उसका साक्षात्कार (दर्शन) करना या यथार्थ रूप से (जैसी वस्तुस्थिति है वैसे) तत्त्वों का निर्णय करना ?

पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि बिना शास्त्र के भी साधारण व्यक्तियों की तरह, 'महादेव देवताओं के राजा हैं' केवल इसी ज्ञान की उत्पत्ति से ही मोक्ष की सिद्धि हो जायगी, शास्त्रों का अभ्यास करना निष्फल है।

दूसरा विकल्प भी नहीं ही ठीक है। अनेक प्रकार के मलों के समूह से भरे हुए तथा मांस की आँखोंवाले पशु (जीव) परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकेंगे, यह असम्भव है।

तृतीयेऽस्मन्मतापातः। पाशुपतशास्त्रमन्तरेण यथावत्तत्त्वनिश्चयानुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः—

१०. ज्ञानमात्रे वृथा शास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्त्वनिश्चयः॥ इति।

तस्मात्पुरुषार्थकामैः पुरुषधौरेयैः पञ्चार्थप्रतिपादनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयणीयमिति रमणीयम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे
नकुलीशपाशुपतदर्शनम्॥

तीसरे विकल्प को स्वीकार करने पर तो फिर हमारे ही दर्शन में आना पड़ेगा। पाशुपतशास्त्र के बिना तत्त्वों का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी बात को आचार्यों ने इस प्रकार कहा है—'यदि ज्ञान मात्र से [मोक्ष मिलता है] तो शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना दुर्लभ ही है; तत्त्वों का यथार्थ निश्चय पञ्चार्थ (पाँच पदार्थों का प्रतिपादक पाशुपत शास्त्र) के बिना हो ही नहीं सकता' इसलिए पुरुषार्थ की कामना करनेवाले उत्तम पुरुषों को पाँच पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले पाशुपत-शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए—यही अच्छा है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
नकुलीश-पाशुपत-दर्शन [समाप्त हुआ।]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां नकुलीशपाशुपतदर्शनमवसितम्॥

(७) शैव-दर्शनम्

पाशः पशुः पतिरिति त्रितयेन सर्वं
व्याप्तं स एव भगवाञ्छिव ईश्वरोऽत्र ।
कर्माद्यपेक्षत इतीह विशेषरणेन
युक्तं तमेव पतिमीश्वररूपमीडे ॥—ऋषिः ।

(१. शैवागमसिद्धान्त के तीन पदार्थ)

तमिमं 'परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति' पक्षं वैषम्य-नैर्घृण्य-दोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः, केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः, 'कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति' पक्षं कक्षीकुर्वाणाः, पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति—पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम् तन्त्रतत्त्वज्ञैः—

१. त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः ।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह विस्तरतः पुनः ॥ इति ।

कुछ माहेश्वर (महेश्वर-सम्प्रदाय के दार्शनिक) इस उपर्युक्त (पाशुपत) पक्ष को स्वीकार नहीं करते कि 'कर्मादि से पृथक् रहकर परमेश्वर संसार का कारण है' । यह पक्ष इसलिए तिरस्करणीय है कि इसे स्वीकार करने में दो दोष आते हैं—वैषम्य (अर्थात् जीवों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में ईश्वर की दृष्टि असमान या पक्षपाती रहेगी, कुछ जीव अपने-आप दुःख ही दुःख झेलेंगे, दूसरे सुखोपभोग करेंगे—ईश्वर कारण होने पर भी देखता रहेगा, लोग उसपर पक्षपात का आरोप करेंगे ही) तथा निर्दयता (ईश्वर निर्दयतापूर्वक संसार का संहार करेंगे क्योंकि प्राणियों के कर्म से तो ईश्वर को कुछ लेना देना नहीं है) । [यदि ईश्वर कर्मादिसापेक्ष रहें तो कोई दोष ही न रहे—सुख-दुःख का उपभोग अपने आप नहीं होगा, प्राणियों के कर्मों का भी फलदान के समय विचार होगा, कर्म भी असाधारण कारण रहेंगे; अतः न तो पक्षपात की भावना रहेगी क्योंकि कर्मानुसार फल मिलेगा, और न निर्दयता का आरोप ईश्वर पर लगेगा क्योंकि न्याय होने पर निर्दय और सदय कैसा ?] ये (माहेश्वर) शैवागम (सभी शैव सम्प्रदायों का मूलग्रन्थ) के सिद्धान्तों के रहस्य को यथार्थ रूप

से देखते हैं वे यह पक्ष मानते हैं कि कर्मादि से संबद्ध (सापेक्ष) परमेश्वर संसार का कारण है, इस प्रकार दूसरे पक्षों (मतों) का प्रस्ताव करते हैं—पति (ईश्वर), पशु (जीव), पाश (बन्धन) के भेद से पदार्थ तीन हैं। तन्त्र का तत्त्व जानने वाले लोगों ने कहा भी है—'संसार के गुरु ने एक सूत्र में ही तीन पदार्थों और चार पादों से निर्मित महातंत्र का संक्षेप किया, फिर उसका निरूपण विस्तार से किया।'

विशेष—शैवदर्शन के मूल ग्रन्थ हैं शैवागम जिनमें शिवसंहिता, अहिर्बुध्न्य-संहिता आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अनंतर आगम और यामल ग्रन्थ हैं जो सभी संस्कृत में हैं। इनके अतिरिक्त शैवमत का जो गढ़ तमिळ देश में है, वहाँ की परंपरा में तमिळ भाषा में शैव ग्रंथ प्राप्त हैं। ८४ संतों की बात वहाँ मिलती है जिनमें चार आचार्यों—अप्पार, ज्ञानसंबंध, सुन्दरमूर्ति तथा माणिक्कवाचक (समय ७वीं-८वीं श०)—का नाम प्रसिद्ध है। इन सबों ने इस मत का प्रवर्तन किया। इस प्रकार उत्तरी भारत में जहाँ संस्कृत के आगम-ग्रन्थ शैवमत की मूल भित्ति हैं, वहाँ भारत में उक्त आचार्यों की तमिळ रचनायें ही शैवमत का आधार हैं। इन्हें दक्षिण में लोग दक्षिणी आगमों के समान ही अत्यंत अभ्यर्हित मानते हैं। वास्तव में शैवमत अभी दक्षिण में ही जीवित है। इन ग्रंथों को दक्षिण में 'शैवसिद्धान्त' या 'शैवागम' भी कहते हैं। वहाँ प्रसिद्धि है कि शिव ने अपने पाँच मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। उनकी संख्या निम्नलिखित है—

(१) सद्योजात मुख से—कामिक, योगज, चिन्त्य, करण, अजित (५)।
(२) वामदेव मुख से—दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान् , सुप्रभेद (५)।
(३) अघोर मुख से—विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, अनल, वीर (५)।
(४) तत्पुरुष मुख से—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब (५)।
(५) ईशान मुख से—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण और वातुल (८)।

अभिनवगुप्त द्वारा रचित तन्त्रालोक की टीका करते समय जयरथ ने इन तंत्रों का उल्लेख किया है। इन तन्त्रों पर भी अनेक टीकायें हैं जिनसे शैवागम-साहित्य की विपुलता का अनुमान लग सकता है। इसके अलावे भी सद्योज्योति (८०० ई०) के द्वारा रचित नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागमवृत्ति, तत्त्वसंग्रह, तत्त्व-त्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका, **हरदत्त शिवाचार्य** (१०५० ई०) रचित श्रुतिसूक्तिमाला और चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रह, **रामकण्ठ** (११०० ई०) लिखित मातङ्गवृत्ति, नादकारिका और सद्योज्योति के ग्रन्थों की टीकायें, **श्रीकण्ठ** (११२५ ई०) का रत्नत्रय, **भोजराज** (वही समय)

की तत्त्वप्रकाशिका और रामकण्ठ के शिष्य **अघोरशिवाचार्य** रचित तत्त्व-प्रकाशिका और नादकारिका की वृत्तियाँ—ये ग्रन्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका और श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ **अष्टप्रकरण** कहलाते हैं। ये सिद्धान्तग्रंथ शैवागमसंघ से नागराक्षरों में प्रकाशित हो रहे हैं। विशेष विवरण देखें—पं० बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन' पृ० ५५०-५२।

अस्यार्थ :—उक्तास्त्रयः पदार्था यस्मिन्सन्ति तत्त्रिपदार्थं, विद्याक्रियायोगचर्याख्याश्चत्वारः पादा यस्मिँस्तच्चतुश्चरणं महातन्त्रमिति। तत्र पशूनामस्वतन्त्रत्वात्पाशानामचैतन्यात् तद्विलक्षणस्य पत्युः प्रथममुद्देशः। चेतनत्वसाधर्म्यात् पशूनां तदानन्तर्यम्। अवशिष्टानां पाशानामन्ते विनिवेश इति क्रम-नियमः।

इसका यह अर्थ है कि उपर्युक्त तीन पदार्थ (पति, पशु, पाश) जिसमें हैं वह (महातंत्र) 'त्रिपदार्थ' कहलाता है, विद्या, क्रिया, योग, और चर्या नाम के चार पाद (चरण) भी जिसमें हैं वह महातंत्र 'चतुश्चरण' है।

तीन पदार्थों में पूर्वापरक्रम—इनमें पशु तो स्वतंत्र ही नहीं हैं, पाश (संसार) अचेतन ही है, इसलिए इनसे विलक्षण (dissimilar) रहने वाले (अर्थात् स्वतन्त्र और चेतन) **पति** का पहले नाम लिया गया है। [पति से] चैतन्य धर्म समान रूप में होने के कारण उसके बाद **पशुओं** (जीवों) का नाम लेते हैं। अब बाकी बचे हुए **पाश** (जड़ पदार्थों) का नाम अंत में लेते हैं, यही इनके पूर्वापर क्रम का नियम है।

दीक्षायाः परमपुरुषार्थहेतुत्वात् तस्याश्च पशुपाशेश्वरस्वरूप-निर्णयोपायभूतेन मन्त्रमन्त्रेश्वरादिमाहात्म्यनिश्चायकेन ज्ञानेन विना निष्पादयितुमशक्यत्वात् तदवबोधकस्य विद्यापादस्य प्राथ-म्यम्। अनेकविधसाङ्गदीक्षाविधिप्रदर्शकस्य क्रियापादस्य तदा-नन्तर्यम्। योगेन विना नाभिमतप्राप्तिरिति साङ्गयोगज्ञापकस्य योगपादस्य तदुत्तरत्वम्। विहिताचरणनिषिद्धवर्जनरूपां चर्यां विना योगोऽपि न निर्वहतीति तत्प्रतिपादकस्य चर्यापादस्य चरमत्वमिति विवेकः।

चार पादों का तारतम्य—दीक्षा (गुरु से नियमपूर्वक मंत्र का उपदेश लेना[1]) से ही परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, किन्तु दीक्षा का निष्पादन (संपादन) उस ज्ञान के बिना संभव नहीं है जिस ज्ञान के द्वारा पशु, पाश और ईश्वर के स्वरूप का निर्णय होता है (= पदार्थों के निर्णय करने का जो उपाय है), तथा जो ज्ञान मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि की महिमाओं का निर्णय कराता है। [पशुओं की विशिष्ट सामर्थ्य के प्रतिबन्धक अनेक पाश हैं, भक्तों के अधिकार के अनुसार ईश्वर इन पाशों को मिटाता है। इन सबों को जानने पर ही पति, पशु और पाश पृथक् रूप में समझ में आ सकता है। इसीलिए सबसे पहले दीक्षा का उपपादक (साधक) ज्ञान या **विद्या** अपेक्षित है।]

अंगों के साथ अनेक प्रकार की दीक्षाओं की विधियों का प्रदर्शन करने वाले **क्रियापाद** का वर्णन उसके बाद हुआ है। उसके वाद **योगपाद** आता है जिसमें सांग योग का वर्णन है क्योंकि योग के बिना अभिमत वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। चर्या वह है जिसमें विहित कर्म का आचरण तथा निषिद्ध कर्म का वर्जन (त्याग) हो, इसके बिना योग परिपक्व नहीं होता, अतः योग के प्रतिपादक **चर्यापाद** को सबसे अन्त में रखा गया है। यही विचार किया जाता है। [सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता होने से विद्यापाद, फिर दीक्षाविधि के रूप में क्रियापाद, तब दीक्षा का ग्रहण करने के अधिकार की सिद्धि के लिए जपध्यानादि से युक्त योगपाद और अन्त में योग की सहायता करने वाली चर्याओं का पाद। योग औषधि है तथा चर्या पथ्य। दोनों की परस्पर अपेक्षा है। इसी क्रम से शैवागमों में चार पादों का क्रम रखा गया है।[2] अब क्रमशः तीन पदार्थों का निरूपण आरम्भ होता है।]

(२. 'पति' का निरूपण)

तत्र पतिपदार्थः शिवोऽभिमतः। मुक्तात्मनां विद्येश्वरादीनां च यद्यपि शिवत्वमस्ति, तथापि परमेश्वरपारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्यं नास्ति। ततश्च तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेशविशिष्टत्वेन

---

१ दिव्यज्ञानं बलो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः। मन्त्रों का ग्रहण दीक्षा-विधि से ही होता है—

ग्रन्थे दृष्ट्वा तु मन्त्रं वै यो गृह्णाति नराधमः। मन्वन्तरसहस्रेषु निष्कृतिर्नैव जायते।

२ इन्हें तमिल में सरियेइ, किरिकेइ, योकम् और ज्ञानम् कहते हैं।

कार्यत्वमवगम्यते। तेन च कार्यत्वेनैषां बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानवशात्परमेश्वरप्रसिद्धिरुपपद्यते।

इनमें 'पति' पदार्थ से शिव का अर्थ समझा जाता है। मुक्त आत्मावाले (तथा) विद्येश्वर आदि यद्यपि शिव हैं (उनमें शिवत्व गुण है), तथापि परमेश्वर के पराधीन होने के कारण वे स्वतन्त्र नहीं हैं। [यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत दर्शन में मुक्तों को शिवत्व-प्राप्ति के साथ स्वतन्त्रता भी मिल जाती है, परतन्त्रता नहीं रहती, किन्तु शैवदर्शन में उनकी परतन्त्रता मानी जाती है। 'मुक्त आत्मा वाले' शब्द विद्येश्वरादि के विशेषण भी हो सकते हैं और स्वतन्त्र शब्द भी। विद्येश्वरादि को परा (highest) मुक्ति नहीं मिलती। हाँ, अपरा मुक्ति के अधिकारी तो वे अवश्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह संसार के उत्पादन में परमेश्वर को प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है या नहीं, इस विषय में मतभेद है—उसी तरह मुक्तों की स्वतन्त्रता के विषय में भी मतभेद है। अब परमेश्वर की सत्ता का निरूपण होता है।]

इसीसे शरीर, इन्द्रियों और संसार आदि पदार्थों को कार्य के रूप में हम समझते हैं क्योंकि इन पदार्थों में अवयव-रचना (संनिवेश symmetry) की विशिष्टतायें हैं। [मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, पर्वत आदि पदार्थों के अवयवों की रचना में एक नियमितता देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ये कार्य हैं। किसी ने इन्हें उत्पन्न किया है।] चूँकि ये कार्य हैं इसलिए किसी बुद्धियुक्त कर्ता ने इनका निर्माण किया है, ऐसा अनुमान होता है—इसी अनुमान के बल से परमेश्वर की प्रसिद्धि की बात सिद्ध हो जाती है। [कर्त्ता वह है जो इच्छा और प्रयत्न का आधार हो—'चिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वं कर्तृत्वम्'। कार्य के पूर्व उसकी सत्ता अवश्य होगी और चूँकि कर्ता इच्छा से युक्त होता है अतः इसमें बुद्धि का होना अनिवार्य है। संसार रूपी विराट् कार्य के लिए तदनुरूप कर्ता होना चाहिए जो, और कोई नहीं, परमेश्वर ही है। नैयायिकों के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि के लिए यही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। देखिए—मंगलाचरणश्लोक—१ (सर्वदर्शनसंग्रह)।]

(२ क. ईश्वर को कर्ता मानने में आपत्ति और समाधान)

ननु देहस्यैव तावत्कार्यत्वमसिद्धम्। नहि क्वचित्केनचित् कदाचित् देहः क्रियमाणो दृष्टचरः। सत्यम्, तथापि न केनचित् क्रियमाणत्वं देहस्य दृष्टमिति कर्तृदर्शनापह्नवो न युज्यते। तस्यानुमेयत्वेनाप्युपपत्तेः।

तथा हि—देहादिकं कार्यं भवितुमर्हति संनिवेशविशिष्टत्वात् विनश्वरत्वाद्वा घटादिवत्। तेन च कार्यत्वेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमातुं सुकरमेव।

[पूर्वपक्षियों का तर्क है कि] 'देह कार्य है' यही वाक्य पहले असिद्ध है। कारण यह है कि कहीं पर, किसी ने, कभी भी देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा। हम (शैव) इसे मानते हैं, फिर भी 'किसी ने देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा' इस आधार पर कर्ता की सत्ता को अस्वीकार करना ठीक नहीं है। किसी का कर्ता होना अनुमान से भी तो सिद्ध हो सकता है [भले ही प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले]।

उदाहरण के लिए देखा जाये—देह आदि कार्य हो सकते हैं क्योंकि अवयव-रचना से ये विशिष्ट होते हैं या नश्वर हैं जैसे घटादि (कार्य) हैं। जब इन्हें कार्य मान लेंगे तो फिर किसी बुद्धिमान् पुरुष की रचना मानना और आसान ही है।

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथार्थादि। न यदेवं न तदेवं यथात्मादि। परमेश्वरानुमानप्रामाण्यसाधनमन्यत्राकारीत्युपरम्यते।

२. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इति न्यायेन प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः।

विवादग्रस्त वस्तु (= तनु, भुवनादि पदार्थ, क्योंकि इन्हीं के विषय में संदेह है कि ये सकर्तृक हैं या अकर्तृक) सकर्तृक है, क्योंकि कार्य यह है जिस प्रकार घट हुआ करता है। जो पदार्थ उक्त साधन वाले हैं (कार्य हैं), वे उक्त साध्य (सकर्तृक) वाले हैं जैसे अर्थ (घट, पट) आदि। जो इस प्रकार का नहीं (जो सकर्तृक नहीं), वह वैसा नहीं (वह कार्य नहीं) जैसे आत्मा आदि। [यहाँ पर सायणमाधव की शैली संक्षेपीकरण की चरम सीमा पर पहुँची हुई है। ऊपर विवाद है कि पदार्थों का कर्ता कोई है कि नहीं। अब अनुमान होता है—

सारे पदार्थ सकर्तृक (साध्य) हैं,
क्योंकि वे पदार्थ कार्य हैं,
जिस तरह घट होता है।

अनुमान के अनन्तर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति की स्थापना की जाती है। (**अन्वय—**) जो कुछ भी कार्य (उक्तसाधनं) है वह सकर्तृक होता

है (उक्तसाध्यम्) जैसे घट, पट आदि । (व्यतिरेक—) जो वस्तु कार्य नहीं वह सकर्तृक भी नहीं है जैसे आतमा आदि ।]

परमेश्वर के विषय में (सिद्धि के लिए) जो अनुमान दिया गया है उसकी प्रामाणिकता की सिद्धि दूसरे स्थान पर दी गई है, इसलिए यहाँ पर छोड़ देते हैं । [यदि शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि पदार्थों का कोई भी कर्त्ता नहीं होता तो अपनी इच्छा से ही सबों की उत्पत्ति माननी पड़ती । वैसी दशा में जीव को क्या पड़ा था कि दुःख के साधन ग्रहण करता ? वह केवल सुख के साधन ही खोजता किन्तु जीव का इसमें वश चले तब तो ? अतः सुख-दुःख का कोई दूसरा नियन्ता जरूर होगा । प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर संसार का कर्ता है ।]

'जीव अज्ञ है, वह अपने सुख-दुःख को नियंत्रित करने में असमर्थ है, ईश्वर से प्रेरित होकर ही या तो वह स्वर्ग जाता है या नरक (श्वभ्र) ।'[1] इस न्याय से प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर का कर्ता होना सिद्ध होता है ।

न च स्वातन्त्र्यविहतिरिति वाच्यम् । करणापेक्षया कर्तुः स्वातन्त्र्यविहतेरनुपलम्भात् । कोषाध्यक्षापेक्षस्य राज्ञः प्रसादादिना दानवत् । यथोक्तं सिद्धगुरुभिः—

३. स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता ।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता ॥ इति ॥

तथा च तत्तत्कर्माशयवशाद् भोग-तत्साधन-तदुपादानादि-विशेषज्ञः कर्तानुमानादिसिद्ध इति सिद्धम् । तदिदमुक्तं तत्रभवद्भिर्बृहस्पतिभिः—

४. इह भोग्यभोगसाधनतदुपादानादि यो विजानाति ।
तमृते भवेन्न हीदं पुंस्कर्माशयविपाकज्ञम् ॥ इति ।

ऐसा नहीं समझें कि [कर्मों की अपेक्षा रखने से ईश्वर की] स्वतंत्रता में किसी प्रकार की क्षति पहुँचेगी । क्योंकि आज तक ऐसा कभी नहीं पाया गया है कि करणों (साधनों) की अपेक्षा रखने से कर्ता की स्वतंत्रता में बाधा पहुँची

---

१ तुल० दुर्योधन की यह प्रसिद्ध उक्ति—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

हो। राजा यद्यपि कोषाध्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अपने ही प्रसाद (कृपा) से दान करते हैं। (कोषाध्यक्ष से दान दिलवाने का अर्थ यह नहीं है कि राजा से बड़ा कोषाध्यक्ष ही है और राजा को स्वतंत्रता नहीं)। जैसा कि सिद्ध गुरु ने कहा है—'किसी स्वतंत्र व्यक्ति में ही ये विशेषतायें होती हैं कि दूसरा कोई उसे प्रयोजित न करे (काम में न लगा दे वे अप्रयोज्य हों) तथा स्वयं जो करण (साधन) आदि का प्रयोग करे। इसे ही कर्त्ता की स्वतंत्रता कहते हैं, यह नहीं कि कर्मादि की अपेक्षा न रखने वाला ही स्वतंत्र है।' [यदि ईश्वर स्वतंत्र नहीं होता तो उसके प्रयोजक या उस पर आदेश चलानेवाले कुछ प्रयोजक होते। प्रयोजक दो ही काम करता है—या तो अपने अभीष्ट कार्य का विनाश करता है या अनिष्ट कार्य कराता है। यही परतंत्रता है। लेकिन प्रयोजक कोई चेतन हो तभी परतंत्रता है, इसलिए कर्मों के द्वारा ईश्वर यदि प्रयोजित हो तो भी कोई हानि नहीं। कर्मों की अपेक्षा न रखना स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्र दूसरों का उपयोग तो करता ही है, इसलिए ईश्वर भी कर्त्ता होकर करण, सम्प्रदानादि कारक-चक्र का खूब उपयोग करता है।]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भिन्न-भिन्न [पाप-पुण्य] कर्मों के समूह या आशय के फलस्वरूप मिलने वाले भोग, भोग्य वस्तुएँ (भोग-साधन) और उनके उपादान आदि को विशेष रूप से जानने वाला कर्ता (ईश्वर) अनुमान आदि (=श्रुति-प्रमाण से भी) से सिद्ध किया जाता है। पूज्यपाद बृहस्पति ने इसे इस तरह निरूपित किया है—'इस संसार में भोग्य, भोग के साधन, उनके उपादान (प्राप्ति या कारण) आदि को जो विशेषरूप से जानता है उस (ईश्वर) के अतिरिक्त पुरुषों के कर्म-समूह के परिणाम का ज्ञाता यहाँ कोई नहीं है।'

विशेष—'आशय' पाप और पुण्य-रूपी कर्मों के संघात को कहते हैं जो फल मिलने के समय तक अंतःकरण में विराजमान रहता है—आशेरते फलपाकपर्यन्तमन्तःकरण इत्याशयाः। 'भोग' का अर्थ सुख और दुःख से मिलना; भोग के साधन = सुख दुःख मिलने की वस्तुएँ—रोग, शोक, द्रव्यप्राप्ति आदि। उपादान = मिलकर फल देने वाला कारण (Material cause)।

अन्यत्रापि—

५. विवादाध्यासितं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम्।
कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा॥ इति।

सर्वकर्तृत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अज्ञस्य करणासंभवात्।

उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रैः—

६. सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात्साधनाङ्गफलैः सह ।
यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम् ॥ इति ।

दूसरी जगह भी कहा है—'संपूर्ण संसार (पक्ष) जो विवाद का विषय है, वह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित है क्योंकि यह (संसार) कार्य है । हम दोनों (पूर्वपक्षी, सिद्धान्ती) के मत से यह कार्य के रूप में सिद्ध है ही, जिस तरह घट आदि को [हम मान कर किसी कर्ता के द्वारा निर्मित मानते हैं ।]'

चूँकि इस ईश्वर ने सभी वस्तुओं का निर्माण किया है इसीलिए उसकी सर्वज्ञता सिद्ध हो गई । अज्ञ व्यक्ति किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता । [जब तक सर्वज्ञता नहीं होगी, सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं होगा । जो जिसे जानता है उसीका निर्माण कर सकता है ।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने कहा है—'सभी वस्तुओं की उत्पत्ति करने के कारण वह सर्वज्ञ है, वह वस्तुओं को साधन, अंग और उनके फल के साथ [जानता और बनाता है । दर्श-पूर्णमास यज्ञ का संपादन करने वाला व्यक्ति उसके साधनों (समिधा, पुरोडाशादि), अंगों (प्रयाज आदि) तथा फल (स्वर्गादि) को भी जानता है ।] जो व्यक्ति जिस काम को जानता है, वही काम वह करता है—यह तो अच्छी तरह निश्चित है ।'

(३. ईश्वर का शरीर-धारण)

अस्तु तर्हि स्वतन्त्रः ईश्वरः कर्ता । स तु नाशरीरः । घटादिकार्यस्य शरीरवता कुलालादिना क्रियमाणत्वदर्शनात् । शरीरवत्त्वे चास्मदादिवदीश्वरः । क्लेशयुक्तोऽसर्वज्ञः परिमितशक्तिं प्राप्नुयादिति चेत्—मैवं मंस्थाः । अशरीरस्याप्यात्मनः स्वशरीरस्पन्दादौ कर्तृत्वदर्शनात् ।

[पूर्वपक्षी कहते हैं—] अच्छा मान लिया कि ईश्वर स्वतंत्र कर्ता है किन्तु यह भी तो मानना होगा कि वह अशरीर नहीं है (शरीरधारी है) । घटादि कार्यों [के जो दृष्टान्त आप देते हैं] वे तो शरीर धारण करने वाले कुम्भकारादि के द्वारा निर्मित होते हैं । शरीरधारी ईश्वर मानने का कुपरिणाम यह होगा कि वह भी हम लोगों की तरह माना जायगा । [हमलोगों के समान] क्लेशों से युक्त, असर्वज्ञ होकर केवल एक निश्चित सीमा के ही भीतर शक्ति प्राप्त करेगा । [शैव दर्शनकारों का उत्तर है—] ऐसी बात नहीं समझें । आत्मा तो शरीर धारण नहीं करती, किन्तु [जिस शरीर के भीतर वास करती है उस] अपने शरीर का स्पंदन, संचालन आदि तो वही करती है, [इसलिए 'शरीरधारी

ही कर्ता होंगे' इस प्रकार की व्याप्ति आप नहीं सिद्ध कर सकते। शरीर की सहायता के बिना भी कोई कर्ता हो सकता है। ईश्वर भी शरीरहीन होकर कर्ता हो सकता है।]

अभ्युपगम्यापि ब्रूमहे। शरीरवत्त्वेऽपि भगवतो न प्रागुक्तदोषानुषङ्गः। परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासंभवेन प्राकृतं शरीरं न भवति, किंतु शाक्तम्। शक्तिरूपैरीशानादिभिः पञ्चभिः मन्त्रैः मस्तकादिकल्पनायाम्—ईशानमस्तकः, तत्पुरुषवक्त्रः, अघोरहृदयः, वामदेवगुह्यः, सद्योजातपादः ईश्वरः—इति प्रसिद्ध्या यथाक्रमानुग्रहतिरोभावादानलक्षणस्थितिलक्षणोद्भवलक्षणकृत्यपञ्चककारणं, स्वेच्छानिर्मितं तच्छरीरं न चास्मच्छरीरसदृशम्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः—

मलाद्यसंभवाच्छाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः॥ इति।

अब इसे स्वीकार करें (ईश्वर को शरीर मानें) तो भी कहेंगे कि शरीरधारी मानने पर भी भगवान् में पूर्वोक्त दोषों के लगने का प्रसंग नहीं है। परमेश्वर में मल, कर्म आदि पाशजालों की संभावना ही नहीं, अतः उसका शरीर प्राकृत (प्रकृति से उत्पन्न, हम लोगों की तरह का) नहीं है उसका शरीर शक्ति से बना है। [कुछ पाश हैं जैसे—मल, प्राणियों के कर्म, माया की आवरण-शक्ति। इन सबों का वर्णन इसी दर्शन में प्रायः अन्त में होगा। इन पाशों का क्षेत्र प्रकृति है। जिनके शरीर प्राकृत होते हैं उन्हीं में ये पाश रहते हैं। परमेश्वर अनादि काल से मुक्त है। यदि ऐसा न मानें तो अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। ईश्वर के मुक्त न होने पर कोई उसे मुक्ति देने वाला तो होगा, फिर उसे भी कोई मुक्त करेगा इत्यादि। इसलिए कोई न कोई तो अनादि मुक्त होगा ही, जो ईश्वर ही है। अनादि मुक्त मानने से पाश-मुक्त भी वह होगा। इसलिए ईश्वर का शरीर शक्ति (मातृका, वर्णमाला) से निर्मित मानते हैं।]

शक्ति के रूप में ईशान आदि पाँच मंत्र हैं जिनके द्वारा परमेश्वर के मस्तक आदि की कल्पना की जाती है। वे इस प्रकार हैं—ईश्वर का मस्तक 'ईशानः०' (महानारायणोपनिषद्, २१) मंत्र से बना है, मुख 'तत्पुरुषाय०' (म०, २०) से, हृदय 'अघोरेभ्यो०' (म०, १९) से, गुह्यस्थान 'वामदेवाय०' (म०, १८) से तथा पाद 'सद्योजातं०' (म०, १७) मन्त्र से बना है। इस प्रकार की प्रसिद्धि होने से, उसका शरीर स्वेच्छा से ही निर्मित हुआ है, वह क्रमशः अनुग्रह (दया)

तिरोभाव (अन्तर्धान concealment), आदान-लक्षण (संहार), स्थिति-लक्षण (पालन) और उद्भवलक्षण (सृष्टि)—इन पाँच प्रकार के कार्यों का कारण है, इसलिए हम लोगों के शरीर की तरह नहीं है। श्रीमन्मृगेन्द्र ने कहा है—'प्रभु के शरीर में मल आदि होना असंभव है, इसलिए [हम लोगों के शरीर की तरह] उनका शरीर नहीं है, किन्तु उनका शरीर शक्तिनिष्पन्न है।

विशेष—तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों को ही शक्ति माना गया है। मन्त्र का एक-एक अक्षर अनुभव शक्ति का प्रतीक है—शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका। मातृकाओं या वर्णमालाओं में ही सारे मन्त्रों की सत्ता होती है। कालिकापुराण में कहते हैं—

ये ये मन्त्रा देवतानामृषीणामथ रक्षसाम्।
ते मन्त्रा मातृकायन्त्रे नित्यमेव प्रतिष्ठिताः ॥

ईश्वर का शरीर मंत्रमय होने से उसके अवयव भी मंत्रों से ही बनते हैं।

अन्यत्रापि—

७. तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत् ॥ इति ॥

ननु पञ्चवक्त्रस्त्रिपञ्चदृगित्यादिनागमेषु परमेश्वरस्य मुख्यत एव शरीरेन्द्रियादियोगः श्रूयत इति चेत्—सत्यम्, निराकारे ध्यान-पूजाद्यसंभवेन भक्तानुग्रहकारणाय तत्तदाकारग्रहणाविरोधात्।

दूसरी जगह भी कहा है—'उसका शरीर पाँच कृत्यों (अनुग्रह, तिरोभाव, संहार, पालन, सृष्टि) के उपयोग में आने वाले पाँच मंत्रों से बना है जो ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम आदि के द्वारा मस्तकादि अवयवों का है।' [इनमें ईशान-मंत्र अनुग्रह के लिए, तत्पुरुष-मंत्र तिरोभाव के लिए अघोर-मंत्र संहार के लिए, वामदेव-मंत्र पालन के लिए तथा सद्योजात-मंत्र सृष्टि के लिए उपयोगी है।]

अब कोई प्रश्न कर सकता है कि आपके आगमों में ही तो 'पाँच मुँहों से युक्त' 'पंद्रह आँखों से युक्त' आदि विशेषणों से परमेश्वर के मुख्यतः शरीर, इन्द्रिय आदि का संबंध सुनते हैं [फिर उसे सशरीर मानने में क्या आपत्ति है ?] ठीक है, निराकार ईश्वर का ध्यान करना, पूजा करना आदि असंभव है इसलिए भक्तों पर अनुग्रह करने वाले परमेश्वर के लिए उन आकारों को धारण करने में विरोध की कोई बात नहीं।

तदुक्तं श्रीमत्पौष्करे—

८. साधकस्य तु रक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्। इति।

अन्यत्रापि—

आकारवांस्त्वं नियमादुपास्यो
न वस्त्वनाकारमुपैति बुद्धिः ॥ इति ।

कृत्यपञ्चकं च प्रपञ्चितं भोजराजेन—

९. पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति ।

जैसा कि श्रीमान् पुष्कर के ग्रंथ में लिखा है—'साधक की रक्षा के लिए ही उस परमेश्वर का ऐसा रूप माना जाता है।' दूसरी जगह भी कहा गया है—'तुम आकारवान् हो, नियम से उपासना करने के योग्य हो क्योंकि निराकार वस्तु का ग्रहण हमारी बुद्धि नहीं कर सकती।' [यह भगवान् के समक्ष की गई भक्त की प्रार्थना का खण्ड है] ।

भोजराज ने पाँच कृत्यों का निरूपण इस प्रकार किया है—'उस (परमेश्वर) के कृत्य पाँच प्रकार के होते हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह करना, ये उस निरन्तर जागरूक रहने वाले परमेश्वर के कृत्य हैं।'

विशेष—उपासना का अर्थ है सेवा। इसके कायिक, वाचिक और मानसिक तीन भेद हैं। कायिक का अर्थ है पाद्य, अर्घ्य, स्नान, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पंचोपचार या षोड़शोपचार से पूजा। वाचिक का अर्थ स्तोत्रपाठ करना है। मानसिक का अर्थ ध्यान जपादि है। निराकार का खंडन करते हुए ये लोग कहते हैं कि निराकार की सेवा मानसिक ही नहीं हो सकती, कायिक और वाचिक की तो बात ही दूर है। निराकार पदार्थ को मन (बुद्धि) अपना विषय बना ही नहीं सकता क्योंकि विषय बनाने का अर्थ है वस्तु के आकार के समान ही बुद्धि में आकार ग्रहण करना, जो निराकार वस्तु के साथ होना असंभव ही है। बुद्धि की पकड़ में न आने के कारण वाचिक स्तोत्रपाठ भी नहीं होगा। कायिक सेवा तो निराकार की हो ही नहीं सकती।

एतच्च कृत्यपञ्चकं शुद्धाध्वविषये साक्षाच्छिवकर्तृकं कृच्छ्राध्वविषये त्वन्तादिद्वारेणेति विवेकः । तदुक्तं श्रीमत्करणे—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽहिते प्रभोः ॥ इति ।

एवं च शिवशब्देन शिवत्वयोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमहेश्वरमुक्तात्मशिवानां सवाचकानां शिवत्वप्राप्तिसाधनेन दीक्षादिनो-

-पायकलापेन सह पतिपदार्थे संग्रहः कृत इति बोद्धव्यम् । तदित्थं पतिपदार्थो निरूपितः ।

इन पाँच कृत्योंका संपादन, शुद्ध-मार्ग के विषय में, साक्षात् शिव के ही द्वारा होता है, यदि कृच्छ्र (कृष्ण या अशुद्ध या अहित) मार्ग की चर्चा हो तो अनन्त आदि अधिकारियों के द्वारा इनका संपादन होता है—यही पार्थक्य है । जैसा कि श्रीमत् करण (चौथे आगम) में कहा है—'शुद्ध मार्ग में शिव ही कर्ता कहलाता है और अहित मार्ग में शिव के [प्रयोज्य रूप में विख्यात] अनन्त कर्ता हैं ।'

इस प्रकार यह समझ लें कि 'शिव' शब्द के द्वारा, शिवत्व से संबद्ध सभी पदार्थ जैसे मन्त्र, मंत्रेश्वर, महेश्वर, मुक्त आत्मा, शिव—इन सभी का, शैवदर्शन के प्रवचनकर्ताओं का तथा शिवत्व की प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे दीक्षादि उपाय समूह, का संग्रह पति-पदार्थ में ही हो जाता है । इस तरह पति पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ ।

विशेष—उपसंहार-वाक्य में 'पति' पदार्थ की व्याप्ति पर विचार किया गया है । ऊपर कह चुके हैं कि पति का अर्थ शिव है, किन्तु अब विश्लेषण करने पर उसका क्षेत्र कुछ बड़ा मालूम पड़ता है । शिवत्व-धर्म से जिन पदार्थों का संबंध है वे सभी (शिवत्वयोगी) पदार्थ पति के अंतर्गत हैं । वे हैं—पाँचों मंत्र, मण्डली आदि मन्त्रों के ईश्वर, महेश्वर अर्थात् विद्येश्वर (जिनका निरूपण तुरत ही होने वाला है), मुक्त आत्मायें तथा स्वयं शिव पदार्थ । मंत्र से जीवविशेष का भी बोध होता है जिनका वर्णन विद्येश्वरों के साथ होगा । यही नहीं, इन पदार्थों के वाचक शब्द या आचार्य भी इसी 'पति' पदार्थ के अन्तर्गत हैं । शिवत्व-प्राप्ति कराने वाले साधन, जैसे— दीक्षा आदि सारे उपाय-समूह, भी पति ही हैं । अतः पति का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उसके अनन्तर 'पशु' पदार्थ का निरूपण होगा ।

(४. 'पशु' पदार्थ का निरूपण—अन्य मतों का खण्डन)

संप्रति पशुपदार्थो निरूप्यते—अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः । न तु चार्वाकादिवद् देहादिरूपः । 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति न्यायेन प्रतिसंधानानुपपत्तेः । नापि नैयायिकादिवत्प्रकाश्यः । अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

१०. आत्मा यदि भवेन्मेयस्तस्य माता भवेत्परः ।
पर आत्मा तदानीं स्यात्स परो यदि दृश्यते ॥ इति ।

अब हम 'पशु' पदार्थ का निरूपण करते हैं। जो अणु नहीं है, 'क्षेत्रज्ञ' (शरीर का ज्ञाता) आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसका बोध हो, वह जीवात्मा **पशु** है।

(१) चार्वाक आदि मतवादियों की तरह आत्मा को **शरीर** के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में [दो अवस्थाओं की बातों में स्मृति के द्वारा] संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता—एक नियम है कि एक व्यक्ति के द्वारा देखी गई बातों का स्मरण दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। [यदि आत्मा को शरीर मान लेते हैं तो शरीर में अन्तर के साथ-साथ आत्मा भी बदल जायगी। बाल्यावस्था में जो शरीर हैं वह तरुणावस्था में नहीं—चार्वाकों के अनुसार तब तो आत्मा भी बदल गई होगी। अर्थात् दो अवस्थाओं में दो पृथक्-पृथक् जीवात्मायें हैं। फिर एक जीवात्मा के काल में होने वाली धटना का स्मरण दूसरी जीवात्मा कैसे कर लेगी? बाल्यावस्था की बात तरुणावस्था में कैसे याद आयेगी? अतः चार्वाकों का आत्म-विषयक मत ठीक नहीं है।]

(२) नैयायिकों की तरह आत्मा को प्रकाश्य (ज्ञेय knowable) भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था-दोष होने का भय है। [आत्मा यदि प्रकाश्य है तो उसका प्रकाशक या ज्ञाता कोई अवश्य होगा क्योंकि एक ही क्रिया (जानना) में एक ही साथ कोई एक पदार्थ कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। अब जो दूसरा ज्ञाता (आत्मा ही को लें) है उसका भी तो कोई ज्ञाता होगा जो उससे पृथक् ही होगा। इस प्रकार यह समस्या अनन्त काल तक चलती चलेगी।] जैसा कि कहा गया है—'आत्मा यदि मेय (ज्ञेय) है तो इसका माता (ज्ञाता, जानने वाला, √ मा) कोई दूसरा अवश्य होना चाहिए। उसी अवस्था में दूसरे ज्ञाता की सत्ता स्वीकरणीय है जब वह दूसरी आत्मा जानी जाय या देखने में आये। [पहली दशा में अनवस्था होगी, दूसरी दशा में अनुभव का विरोध होगा।]

न च जैनवदव्यापकः। नापि बौद्धवत्क्षणिकः। देशकालाभ्यामनवच्छिन्नत्वात्। तदप्युक्तम्—

११. अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥ इति।

नापि अद्वैतवादिनामिवैकः। भोगप्रतिनियमस्य पुरुषबहुत्वज्ञापकस्य संभवात्।

(३) जैनों की तरह आत्मा को अव्यापक (non-pervading) भी नहीं मान सकते और (४) न बौद्धों की तरह क्षणिक ही। देश और काल

(Space and Time) के द्वारा आत्मा की इयत्ता (अवच्छेद, limit सीमा) निर्धारित नहीं हो सकती। [जैन लोग आत्मा को अव्यापक मानते हैं अर्थात् आत्मा की सीमा देश के द्वारा निर्धारित हो जाती है। परन्तु आत्मा देश (Space) के द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती कि वह अमुक देश में है, अमुक में नहीं। स्थान से अव्याप्त रहने पर व्यापक-अव्यापक का प्रश्न नहीं उठता, वस्तुतः आत्मा विभु (All-pervading) है। अव्यापक मानने का अर्थ है कि देश के द्वारा आत्मा अवच्छिन्न (व्याप्त) हो जाती है जो अभीष्ट नहीं। दूसरी ओर, बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं अर्थात् आत्मा काल के द्वारा अवच्छिन्न है, परन्तु वास्तव में काल की सीमा में आत्मा नहीं आती—यह नित्य है।]

यह भी कहा गया है—'जो वस्तु देश और काल की इयत्ता से रहित सत्ता धारण करती है उसे नित्य और विभु मानने की इच्छा वे लोग करते हैं, इस प्रकार आत्मा की विभुता और नित्यता स्वीकार की जाती है।'

(५) अद्वैतवादियों की तरह आत्मा को **एक** (Monistic) भी नहीं माना जा सकता। विभिन्न भोगों (सुख और दुःख का साक्षात्कार) के नियम को देखकर यह मालूम होता है कि पुरुष की बहुलता है। [विभिन्न पुरुष विभिन्न भोग भोगते हैं, कोई सुख भोगता है तो कोई दुःख। जो फल राम को मिलता है वही मोहन को नहीं—भोगों के इस नियम से पुरुषों की अनेकता का अनुमान होता है। कर्मों के द्वारा इसका नियन्त्रण नहीं होता। यदि जीव को एक मानें तो अमुक ने यह कर्म किया और अमुक ने नहीं—ऐसा कहना कठिन हो जायगा, इसलिए जीवों को अनेक मानें।]

नापि सांख्यानामिवाकर्ता। पाशजालापोहने नित्यनिरतिशयदृक्क्रियारूपचैतन्यात्मकशिवत्वश्रवणात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः—'पाशान्ते शिवताश्रुतेः' इति।

१२. चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्॥ इति।

तत्त्वप्रकाशेऽपि—

१३. मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥ इति।

(६) सांख्यों की तरह हम आत्मा को अकर्ता भी नहीं मान सकते। जब पाशों का जाल (समूह) समाप्त हो जाता है, तब नित्य और निरतिशय (सबसे

ऊँची) दृष्टिशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में चैतन्यात्मक शिवत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुतियों में कहा है। [चैतन्य नित्य है, वह दृक् और क्रिया के रूप में है, अतः वह नित्य रूप से कर्ता है। बद्ध जीवात्मायें अपनी इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न क्रियायें करती हैं, यह हम रोज देखते हैं। जो जीव मोक्ष की इच्छा रखते हैं वे मल, कर्म आदि पाश-जाल का विनाश करने के लिए व्रत, चर्या आदि क्रियायें ही तो करते हैं। मुक्त आत्मायें भी शिवत्व की प्राप्ति करती हैं—यह भी तो कर्म ही है क्योंकि शिवत्व का अर्थ होता है दृक् और क्रिया के रूप में चैतन्य। क्रिया बिना कर्ता के सम्भव नहीं है इसलिए जीवात्मा कर्ता है।] श्रीमान् मृगेन्द्र ने यही कहा है—'पाशों का नाश हो जाने पर शिवत्व-प्राप्ति की बात श्रुतियों से सिद्ध है।'

'दृक् (Vision) और क्रिया (Action) के रूप में जो चैतन्य है, वह आत्मा में सब समय सब तरह से है क्योंकि मुक्ति होने पर सभी ओर मुख (द्वार, अप्रतिहत गति) वाला चैतन्य सुना जाता है।' [तात्पर्य यह है कि मुक्ति मिल जाने पर जीव की दृक्शक्ति (ज्ञान) या क्रियाशक्ति सर्वतोगामिनी बन जाती है, उसे रोक नहीं सकता।] तत्त्वप्रकाश में भी कहा है—'मुक्त आत्मायें भी शिव ही हैं, किन्तु ये जिसकी कृपा से मुक्त हुई हैं, वह अनादि काल से मुक्त परमेश्वर एक ही है जिसका शरीर पाँच मन्त्रों का बना हुआ समझें।'

(५. जीव के तीन भेद)

पशुस्त्रिविधः—विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलभेदात्। तत्र प्रथमो विज्ञानयोगसंन्यासैर्भोगेन वा कर्मक्षये सति कर्मक्षयार्थस्य कलादिभोगबन्धस्य अभावात् केवलमलमात्रयुक्तो 'विज्ञानाकल' इति व्यपदिश्यते। द्वितीयस्तु प्रलयेन कलादेरुपसंहारान्मलकर्मयुक्तः 'प्रलयाकल' इति व्यवह्रियते। तृतीयस्तु मलमायाकर्मात्मकबन्धत्रयसहितः 'सकल' इति संलिप्यते।

पशु तीन प्रकार का है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल और (३) सकल। उनमें पहला केवल मल से ही युक्त रहता है (अन्य तीन पाशों से नहीं) तथा **विज्ञानाकल** कहलाता है क्योंकि इसमें विज्ञान (परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान), योग (जप, ध्यान आदि) और संन्यास से अथवा भोग से (=कर्मफल का भोग कर लेने पर) कर्म का विनाश हो जाता है तथा कर्मक्षय के लिए बने कला (इनका वर्णन आगे होगा) आदि भोगबन्ध (शरीर) का अभाव रहता है। [जिसमें कला न हो वह अकल है। कर्म का क्षय हो जाने पर उनका फल-

भोग करने वाले शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। अतः शरीर के प्रयोजक कला आदि या इन्द्रियों का अत्यन्त अभाव हो जाता है इसलिए वह पशु अ-कल है। चूँकि विज्ञान के कारण अकलता प्राप्त होती है इसलिए इसे विज्ञानाकल कहते हैं।] दूसरा **प्रलयाकल** कहलाता है क्योंकि प्रलय (dissolution) के द्वारा इसमें कलादि (शरीर के प्रयोजक) का विनाश होता है—इसमें मल के साथ कर्म भी (=कुल दो पाश) रहता है। तीसरा **सकल** है क्योंकि इसमें मल, माया, कर्म—ये तीन बन्धन या पाश रहते हैं।

(५ क. विज्ञानाकल जीव के दो भेद)

तत्र प्रथमो द्विप्रकारो भवति—समाप्तकलुषासमाप्तकलुषभेदात्। तत्राद्यान् कालुष्यपरिपाकवतः पुरुषधौरेयानधिकारयोग्यान् अनुगृह्य अनन्तादिविद्येश्वराष्टपदं प्रापयति। तद्विद्येश्वराष्टकं निर्दिष्टं बहुदैवत्ये—

१४. अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्त्तिकः॥
१५. श्रीखण्डश्च शिखण्डी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे। इति।

उनमें पहला (विज्ञानाकल) दो प्रकार का है—जिनका कलुष (मल) समाप्त हो गया है तथा जिनका कलुष समाप्त नहीं हुआ है। जिन लोगों के कालुष्य या मल का विनाश (परिपाक) हो जाता है वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं तथा अधिकार (ईश्वरप्राप्ति) के सर्वथा योग्य हैं, उन्हें अनुगृहीत (उन पर कृपा) करके उन्हें अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों के पद पर पहुँचाया जाता है [—इन्हें ही समाप्तकलुष विज्ञानाकल जीव कहते हैं] आठ विद्येश्वरों का निर्देश बहुदैवत्य नामक ग्रन्थ में इस प्रकार हुआ है—'अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी—ये ही आठ विद्येश्वर कहे गये हैं।' [ये विद्येश्वर जीवों में सबसे ऊँचे हैं, इन्हें शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। जीव अधिक से अधिक यही पद पा सकता है, यदि जीवावस्था में हो। ये मुक्त नहीं हैं, केवल शिव का अनुग्रह प्राप्त किये हुए अधिकारी हैं। समाप्तकलुष से केवल इन विद्येश्वरों का ही बोध होता है।]

अन्या (न्त्या) न्सप्तकोटिसंख्यातान्मन्त्राननुग्रहकरणान्विधत्ते। तदुक्तं तत्त्वप्रकाशे—

१६. पशवस्त्रिविधाः प्रोक्ता विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः ।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात् ॥

१७. मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः ।
आद्यः समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषो द्वितीयः स्यात् ॥

१८. आद्याननुगृह्य शिवो विद्येशत्वे नियोजयत्यष्टौ ।
मन्त्राँश्च करोत्यपराँस्ते चोक्ताः कोटयः सप्त ॥ इति ।

असमाप्तकलुष जीवों को [शिव] अनुग्रह करनेवाले सात करोड़ मन्त्रों का रूप दे देता है । [मन्त्र तो कर्म और शरीर से मुक्त रहते हैं, केवल मल उनमें रहता है, ये ऐसे जीव-विशेष हैं । ये संख्या में सात करोड़ हैं तथा दूसरे जीवों पर दया भी करते हैं ।] तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—

'तीन प्रकार के पशु होते हैं, केवल विज्ञान, केवल प्रलय तथा सकल । उनमें पहला (विज्ञानाकल) मलयुक्त होता है, दूसरा (प्रलयाकल) मल और कर्म से युक्त रहता है । सकल में मल, माया और कर्म होते हैं । उनमें प्रथम के दो भेद हैं—समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष । प्रथम भेद में पड़नेवाले जीवों पर शिव कृपा करके विद्येश्वरों के आठ पद प्रदान करता है जब कि दूसरे भेद में आनेवाले जीवों को मन्त्रों का पद देता है जो संख्या में सात करोड़ हैं ।'

सोमशंभुनाप्यभिहितम्—

१९. विज्ञानाकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः ।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः ॥

२०. तत्राद्यो मलमात्रेण युक्तोऽन्यो मलकर्मभिः ।
कलादिभूमिपर्यन्ततत्त्वैस्तु सकलो युतः ॥ इति ।

सोम-शंभु ने भी ऐसा ही कहा है—'एक विज्ञानाकल नाम का है, दूसरा प्रलयाकल, तीसरा सकल—शास्त्र में ये तीन प्रकार के अनुग्राह्य (दया के पात्र, जीव) माने गये हैं । उनमें प्रथम केवल मल से ही युक्त रहता है, दूसरा मल और कर्म से युक्त है तथा सकल कला से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्वों (सात कलायें, तीन अन्तःकरण दस इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच तन्मात्र, आकाशादि भूमिपर्यन्त पाँच तत्त्व = कुल ३० तत्त्व) से युक्त रहता है ।'

(५ ख. प्रलयाकल जीव के दो भेद)

प्रलयाकलोऽपि द्विविधः—पक्वपाशद्वयस्तद्विलक्षणश्च। तत्र प्रथमो मोक्षं प्राप्नोति। द्वितीयस्तु पुर्यष्टकयुतः कर्मवशान्नानाविधजन्मभाग्भवति। तदप्युक्तं तत्त्वप्रकाशे—

२१. प्रलयाकलेषु येषामपक्वमलकर्मणी व्रजन्त्येते।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात्॥ इति।

प्रलयाकल जीव भी दो प्रकार का होता है—जिसके दो पाश (मल और कर्म) परिपक्व हो गये हैं तथा जिसके दो पाश परिपक्व नहीं हुए हैं। [परिपक्व का अर्थ है जो अपने कार्य को करने में असमर्थ है। दो पाशों के परिपक्व हो जाने से भोग की भी हानि हो जाती है और जीव मुक्त होता है।] इनमें पहले प्रकार का जीव मोक्ष प्राप्त करता है जब कि दूसरा पुर्यष्टक (शरीर) प्राप्त करके कर्म के वश में होकर नाना प्रकार के जन्म प्राप्त करता है। [पुर्यष्टक से 'तीस तत्त्वों से बना हुआ शरीर' अर्थ लिया जाता है। वे तत्त्व हैं—पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, सात कलादि, तीन अन्तःकरण—इनके विवरण के लिए आगे देखें।] तत्त्वप्रकाश में यह भी कहा गया है—'प्रलयाकल जीवों में जिनके मल और कर्म परिपक्व नहीं, वे कर्म के वश में होकर पुर्यष्टक (तीस तत्त्वों से बनी) देह धारण करके सभी योनियों में विचरण करते रहते हैं।'

पुर्यष्टकमपि तत्रैव निर्दिष्टम्—

स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि। इति।

विवृतं चाघोरशिवाचार्येण—पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः, सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः, पृथिव्यादिकलापर्यन्तस्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः, सूक्ष्मो देहः। तथा चोक्तं तत्त्वसंग्रहे—

२२. वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मवशाद् भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु॥ इति।

पुर्यष्टक का उल्लेख भी उसी स्थान पर हुआ है—अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार तथा सात कलादि), बुद्धि के कर्म (= ज्ञेय; पाँच भूत + पाँच तन्मात्र) और करण (साधन अर्थात् दस इन्द्रियाँ क्योंकि वे ज्ञान और कर्म के साधन हैं)—इसे पुर्यष्टक कहते हैं।

अघोरशिवाचार्य ने इसका विवरण दिया है—पुर्यष्टक उस सूक्ष्म देह को कहते हैं जो प्रत्येक पुरुष के लिए निश्चित रहती है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल्प के अन्त तक या मोक्ष के अन्त तक स्थिर रहती है और पृथिवी आदि कला-पर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित होती है। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है--'वसुधा (पृथिवी) से आरम्भ करके कला-पर्यन्त जो तत्त्वों का समूह है वह प्रत्येक पुरुष के लिए नियत है तथा कर्मसिद्धान्त के अनुसार वह भुवन में उत्पन्न होनेवाले (पशु, पक्षी, मनुष्य आदि) सभी जीवों के शरीरों में घूमता रहता है।'

तथा चायमर्थः समपद्यत—अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहंकारवाचिनाऽन्यान्यपि पुंसो भोगक्रियायामन्तरङ्गाणि कला-काल-नियति-विद्या-राग-प्रकृति-गुणाख्यानि सप्त तत्त्वान्युपलक्ष्यन्ते। धीकर्मशब्देन ज्ञेयानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च तन्मात्राणि विवक्ष्यन्ते। करणशब्देन ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं संगृह्यते।

इस प्रकार यह अर्थ संपन्न हुआ--'अन्तःकरण' शब्द से, जिससे मन, बुद्धि और अहंकार का बोध होता है, पुरुष की भोग-क्रिया में अनिवार्य (अन्तरंग) रूप से विद्यमान कला, काल, नियति (अदृष्ट Fate), विद्या, राग (Infatuation विषयासक्ति), प्रकृति और गुण--इन सात तत्त्वों को भी उपलक्षित (include) किया जाता है। 'धीकर्म' शब्द से ज्ञेय पाँच भूतों को और उनके कारणरूप पाँच तन्मात्रों को समझा जाता है। 'करण' शब्द से ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियाँ ली जाती हैं। [इस तरह कुल तीस तत्त्वों को **पुर्यष्टक** कहते हैं।]

विशेष—कलादि सात तत्त्वों से सृष्टि का क्रम समझा जाता है। समस्त सृष्टि के मूल में माया-तत्त्व है जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा प्रलय-काल में भी नष्ट नहीं होने वाला है। परमेश्वर के साथ, सृष्टि के आरंभ में, उसका संपर्क होता है और उसमें परिणाम उत्पन्न होते हैं। प्रथम परिणाम कला है जो माया की अपेक्षा कम सूक्ष्म तथा प्रलयकाल में नष्ट हो जानेवाली है। अभी भी तीन गुणों की उत्पत्ति न होने के कारण यह गुणत्रय से भी परे है। इसके बाद काल आता है जो एक ही है, बाद में आने वाली सभी चीजें काल के अधीन हैं। तदनन्तर नियति की उत्पत्ति होती है जो विभिन्न प्रकार की है क्योंकि जीव के द्वारा किये गये पूर्व कर्मों के अनुसार काल के नियम से, जीवों से यह संबद्ध रहती है। नियति से विद्या उत्पन्न होती है जिसे चित्त के रूप में जीव का गुण भी मानते हैं। उसके बाद राग (विषयासक्ति) आता है। यह द्वेष का विरोधी है तथा जीव का एक गुण ही है। उपर्युक्त ‥ नों तत्त्व (विद्या और राग) प्रत्येक जीव

के लिए भिन्न-भिन्न हैं। तब प्रकृति (स्वभाव) का तत्त्व उत्पन्न होता है, तब तीन गुण आते हैं।

इन सात तत्त्वों की उत्पत्ति के बाद ही तीन अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। अन्तःकरण के पश्चात् पाँच सूक्ष्म-तत्त्व (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श--ये तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं तथा पाँच स्थूल-तत्त्व (पृथ्वी आदि पाँच महाभूत) उसके बाद आते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति उसके बाद होने पर स्थूल देह बनती है। यह सृष्टिक्रम सांख्यदर्शन से बहुलांश में समान है। यहाँ इन तीस तत्त्वों को पुर्यष्टक कहते हैं।

ननु श्रीमत्कालोत्तरे—

२३. शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम् ॥

इति श्रूयते। तत्कथमन्यथा कथ्यते? अद्धा, अत एव च तत्रभवता रामकाण्डेन तत्सूत्रं त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यायीत्यल-मतिप्रपञ्चेन।

अब कोई पूछ सकता है कि श्रीमत् कालोत्तर नामक आगम में ऐसा सुनते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों का समूह तथा बुद्धि, मन और अहंकार, ये मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं।' तो फिर आप लोग यहाँ अन्य प्रकार से (तीस तत्त्वों का पुर्यष्टक) कैसे कहते हैं? ठीक है, इसीलिए तो आदरणीय रामकाण्ड ने उपर्युक्त उद्धृत सूत्र (श्लोकात्मक) की व्याख्या इस तरह की है कि तीस तत्त्वों का अभिप्राय निकले--अधिक विस्तार क्या करें?

विशेष—पुर्यष्टक में दो शब्द हैं 'पुरि = शरीरे, अष्टकम्।' शरीर में आठ चीजों का ही वास्तव में ग्रहण करना चाहिए किन्तु मूल-शब्द को कौन पूछता है? शब्द पड़ा रह जाता है और अर्थ कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता है--पुर्यष्टक = तीस तत्त्वों से निर्मित शरीर! कोई आठ तत्त्वों का निर्देश भी करे तो उसकी व्याख्या में ३० तत्त्वों को समाहित करना ही है।

तथापि कथमस्य पुर्यष्टकत्वम्? भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैः तत्कारणेन प्रधानेन कलादि-पञ्चकात्मना वर्गेण चारब्धत्वादित्यविरोधः। तत्र पुर्यष्टकयुतान्वि-शिष्टपुण्यसंपन्नान् कांश्चिदनुगृह्य भुवनपतित्वमत्र महेश्वरोऽनन्तः प्रयच्छति। तदुक्तम्—

काँश्चिदनुगृह्य वितरति भुवनपतित्वं महेश्वरस्तेषाम् ॥ इति ।

फिर भी इसे पुर्यष्टक कैसे कहते हैं ? ['पुर्यष्टक' में 'आठ' शब्द है जिसका तात्पर्य कुछ न-कुछ तो होगा ही। तीस तत्त्वों वाले पुर्यष्टक में 'अष्ट' संख्या आई कैसे ?]

इस प्रकार यदि अवान्तर वर्गों के द्वारा हम गिनायें तो विरोध नहीं होगा--पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण--ये पाँच वर्ग हुए; अब इनके कारणस्वरूप तीन गुण, प्रधान (= समस्त संसार का मूल कारण, प्रकृति) तथा कलादि पाँच तत्त्वों (कला, काल, नियति, विद्या, राग) का वर्ग--ये तीन वर्ग हुए। [सब मिलकर आठ वर्ग हो जाते हैं। फिर विरोध कैसे ?] पुर्यष्टक से युक्त तथा विशेष पुण्य करने वाले कुछ लोगों पर अनुग्रह (दया) करके महेश्वर अनन्त उन्हें इसी संसार से भुवनपति का पद देते हैं। जैसा कि कहा गया है--'इन लोगों में कुछ पुरुषों पर दया करके महेश्वर उन्हें भुवनपति का पद दे देते हैं।' [यहाँ महेश्वर का अर्थ विद्येश्वर है।]

(५. ग. 'सकल' जीव के भेद)

सकलोऽपि द्विविधः। पक्वकलुषापक्वकलुषभेदात्। तत्राद्यान्परमेश्वरस्तत्परिपाकपरिपाट्या तदनुगुणशक्तिपातेन मण्डल्याद्यष्टादशोत्तरशतमन्त्रेश्वरपदं प्रापयति। तदुक्तम्—

२४. शेषा भवन्ति सकलाः कलादियोगादहर्मुखे काले।
शतमष्टादश तेषां कुरुते स्वयमेव मन्त्रेशान् ॥

२५. तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः।
श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम् ॥ इति।

सकल भी दो प्रकार का है—पक्वकलुष (जिनके कलुष पक्व हो गये हैं) तथा अपक्वकलुष। उनमें पक्वकलुष जीवों को, परमेश्वर, उनके परिपाक की प्रणाली को देखकर, उसके अनुसार ही [दृक् और क्रिया को आच्छादित करने वाली] शक्ति का ह्रास होने पर, मण्डली आदि एक सौ अठारह मन्त्रेश्वरों (एक प्रकार के जीव) का पद प्रदान करता है। [तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे मल आदि पाशों का परिपाक बढ़ते जाता है वैसे-वैसे ही उन पाशों में विद्यमान ज्ञान और क्रिया की आच्छादन-शक्ति भी क्षीण होती जाती है। शक्ति क्षीण हो जाने से पाश बेचारे कुछ नहीं कर पाते—रहकर भी नहीं रहते। ऐसी दशा में ही

जीव मन्त्रेश्वर का पद प्राप्त करता है। इसके पहले सात करोड़ मन्त्रों का वर्णन हो चुका है, जो जीव ही हैं—उस पद को प्राप्त करने के अधिकारी ये मन्त्रेश्वर ही हैं।]

जैसा कि कहा गया है—'अवशिष्ट जीव सकल कहलाते हैं क्योंकि सृष्टि के आरंभ के समय में इनका संबंध कला आदि के साथ रहता है। इनमें एक सौ अठारह जीवों के शिव स्वयं मन्त्रेश्वर बना देते हैं॥ २४॥ इनमें आठ तो मण्डली कहलाते हैं, फिर उतने ही क्रोधादि तत्त्व हैं (=आठ), वीरेश और श्रीकण्ठ के बाद एक सौ रुद्र—इस प्रकार कुल ११८ मन्त्रेश्वर हैं॥ २५॥'

विशेष—अहर्मुख काल = सृष्टि के आरंभ का समय। सृष्टि को दिन कहते हैं तथा प्रलय को रात्रि। दिन का मुख अर्थात् सृष्टि का आरंभ।

तत्परिपाकाधिक्यानुरोधेन शक्त्युपसंहारेण दीक्षाकरणेन मोक्षप्रदो भवत्याचार्यमूर्तिमास्थाय परमेश्वरः। तदप्युक्तम्—

२६. परिपक्वमलानेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः॥ इति।

श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति॥ इति।

उन पाशों का परिपाक इतना अधिक हो जाता है कि उन्हीं के आग्रह से, रोध-शक्ति का सर्वथा विनाश हो जाने पर, उन जीवों के लिए, आचार्य की मूर्ति में प्रवेश करके, परमेश्वर दीक्षा के द्वारा मोक्षप्रद बनता है। यह भी कहा गया है—'जिनके मल पूर्णतः परिपक्व हो जाते हैं, उनकी विनाशक (उत्सादनहेतु = ज्ञान की विनाशक) शक्ति को समाप्त करके, वह परमेश्वर आचार्य की मूर्ति (शरीर) में अवस्थित होकर दीक्षा-दान करके परम तत्त्व से मिला देता है।'

श्रीमत् मृगेन्द्र में भी यही कहा है—'पहले व्यत्यासित (अनादि संस्कार से मुक्त किये गये) जीव (अणु) के पाश-जाल को ही वह दूर करता है।'

व्याकृतं च नारायणकण्ठेन। तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अस्माभिस्तु विस्तरभिया न प्रस्तूयते। अपक्वकलुषान्बद्धानणून्भोगभाजो विधत्ते परमेश्वरः कर्मवशात्। तदप्युक्तम्—

२७. बद्धाञ्छेषानपरान् विनियुङ्क्ते भोगभुक्तये पुंसः।
तत्कर्मणामनुगमादित्येवं कीर्तिताः पशवः॥ इति।

नारायणकण्ठ ने इसकी व्याख्या भी की है। सब कुछ वहीं से देख लेना चाहिए। हम यहाँ केवल विस्तार के भय से नहीं दे रहे हैं।

जिन जीवों (अणुओं) के कलुष परिपक्व नहीं हुए हैं वे बद्ध हैं। उन्हें परमेश्वर कर्म के कारण भोग भोगने देता है। यह भी कहा है--'अवशिष्ट बचे हुए दूसरे पुरुषों को, जो अपने कर्मों में बँधे हैं, परमेश्वर उनके कर्मों के अनुसार भोग भोगने का विधान करता है; इस प्रकार पशुओं या जीवों का निरूपण समाप्त हुआ।'

(६. 'पाश' पदार्थ का निरूपण)

अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः—मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्। ननु—

२८. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः॥

इति पाशः पञ्चविधः कथ्यते। तत्कथं चतुर्विध इति गण्यते?

अब पाश पदार्थ के विषय में कहा जाता है। पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। कुछ लोग आशंका करते हैं कि निम्नलिखित श्लोक में पाँच प्रकार के पाश बतलाये गये हैं, फिर आप लोग चार ही प्रकार कैसे गिनाते हैं?—'शैवागमों में मुख्यरूप से पति, पशु और पाश ये क्रमशः तीन पदार्थ हैं। उनमें पति शिव को कहते हैं, अणु अर्थात् जीव पशु हैं और पाँच पदार्थ पाश, में हैं।' [इस आशंका का उत्तर अब दिया जायगा।]

उच्यते—बिन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादिपदप्राप्तिहेतुत्वेन अपरमुक्तित्वात्पाशत्वेनानुपादानम् इत्यविरोधः। अत एवोक्तं तत्त्वप्रकाशे—'पाशाश्चतुर्विधाः स्युः' इति। श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

२९. प्रावृतीशो बलं कर्म मायाकार्यं चतुर्विधम्।
पाशजालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥ इति।

आशंका का उत्तर दिया जाता है—माया के रूप में जो बिन्दु है, जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं [यही पंचम पाश है]। जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति हो जाय वही परम-मुक्ति है। इसकी अपेक्षा करने से तो बिन्दु पाश ही है किन्तु इससे संम्बन्ध होने पर केवल विद्येश्वर आदि के पदों की प्राप्ति होती है।

इसलिए इससे केवल अपर-मुक्ति ही होती है—यही कारण है कि इसे पाश के रूप में नहीं लिया जाता है, इस प्रकार दोनों मतों में कोई विरोध नहीं। [तात्पर्य यह है कि पाँचवाँ पाश मायात्मक बिन्दु को मानते हैं, जिसका दूसरा नाम शिवतत्त्व भी है ; इस पाश से बद्ध जीव को परामुक्ति, जिसमें शिवपद की प्राप्ति होती है, नहीं मिलती; हाँ, अपरा या गौण मुक्ति मिलती है क्योंकि यह पाश केवल विद्येश्वर आदि पद ही दे सकता है। मलादि की तरह इसकी गति सर्वत्र नहीं है इसलिए इसे पाश नहीं माना जाता।]

इसीलिए तत्त्व-प्रकाश में कहा गया है—'पाश चार प्रकार के हैं।' श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—'आवरण का स्वामी (आवृति + ईश = मल), बलवान् (रोधशक्ति), कर्म तथा माया के कार्य—ये पाशजाल हैं, इनके धर्म इनके अपने-अपने नाम (निर्वचन करके) से ही स्पष्ट हैं [व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।]

अस्यार्थः—आवृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविक्यौ दृक्क्रिये इति आवृतिरशुचिर्मलः। स च ईष्टे स्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम्—

३०. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वा ॥ इति।

इसका यह अर्थ है—(१) आवरण अर्थात् अच्छी तरह (आ) आत्मा की स्वभाविक दृक् (ज्ञान) और क्रिया की शक्तियों को आच्छादित (आवरण) करे वह आवृति या अपवित्र **मल** है। साथ-ही-साथ जो स्वतन्त्रतापूर्वक शासन (√ईश्) करे वह ईश है (अर्थात् शासक मल ही आवृतीश है)। कहा है—'जो एक होने पर भी अनेक शक्तियों (अनेक प्रकार की आच्छादनशक्ति तथा नियामकशक्ति) से युक्त है तथा पुरुष के ज्ञान और क्रिया को ढँकने वाला है, वही मल है। इसका ज्ञान तुष-तण्डुल के संबन्ध की तुलना से करें (आच्छादक और आच्छाद्य का संबन्ध, या ताम्र-धातु में स्थित कालिका (जंग या मोरचा लगना rust) की तुलना से करें।'

बलं रोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम्—

३१. तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते ॥ इति।

(२) वल का अर्थ रोधशक्ति है। यह शिवशक्ति (वस्तु की अपनी सामर्थ्य, जैसे अग्नि में दहनशक्ति, जल में शैत्योत्पादनशक्ति आदि) पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष (आत्मा) के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिए इसे औपचारिक (आलंकारिक) विधि से पाश मानते हैं। कहा गया है—'इनमें मैं सर्वश्रेष्ठ शक्ति हूँ और सबों पर दया करने वाली शिवा (कल्याणमयी) हूँ। धर्म (आश्रय की वस्तुओं के धर्म) के अनुसार चलने के कारण इसे पाश कहते हैं।' [ज्ञान और क्रिया की शक्तियों को ढँक देने की सामर्थ्य ही रोधशक्ति है जो मल में स्थित है।]

क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। यथोक्तं श्रीमत्किरणे—

३२. यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादि न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना॥ इति।

(३) फल के इच्छुक व्यक्ति जो कुछ करें वह कर्म है जिसमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। बीज और अंकुर की तरह प्रवाह के रूप में यह अनादि काल से चला आ रहा है। श्रीमत् किरण में कहा गया है—'जिस प्रकार मल अनादि है उसी प्रकार जीव के जो थोड़े से कर्म हैं वे भी अनादि ही हैं। यदि कर्म को अनादि सिद्ध नहीं करें तो कर्मों की विचित्रता कैसे सिद्ध कर सकेंगे? [इस समय जैसा विचित्र कर्म देखते हैं वैसा ही वह अनादि भी सिद्ध होता है। यदि कर्म को आदियुक्त मान लें तो उसकी विचित्रता का प्रारंभ में कोई कारण जरूर देना पड़ेगा। किन्तु कोई भी हेतु दिखलाया नहीं जा सकता इसलिए कर्म अनादि ही हैं।]

मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत्सृष्टौ व्यक्तिमायातीति माया। यथोक्तं श्रीमत्सौरभेये—

३३. शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना॥ इति।

(४) प्रलयकाल में शक्ति के रूप में जिसमें समूचा संसार परिमित रहता है (√ मा) तथा सृष्टिकाल में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है (आ + √ या) वही **माया** है। जैसा कि श्रीमत् सौरभेय में कहा गया है—'महाक्षय (प्रलय) होने पर शक्ति के रूप में सारे कार्य (जगत् के पदार्थ) उसीमें विलीन हो जाते हैं और विकृति (सृष्टि) की अवस्था में कलादि कार्य के द्वारा अभिव्यक्त

हो जाते हैं। [अतः 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति है √मा + आङ् उपसर्गसहित √या + घञ् के अर्थ में क प्रत्यय + टाप् स्त्रीलिंग प्रत्यय। अर्थ होगा—लीन होना और अभिव्यक्ति में आना।]

(७. उपसंहार)

यद्यप्यत्र बहु वक्तव्यमस्ति तथापि ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते। तदित्थं पतिपशुपाशपदार्थास्त्रयः प्रदर्शिताः।

३४. पतिविद्ये तथाविद्या पशुः पाशश्च कारणम्।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः॥

इत्यादिना प्रकारान्तरं ज्ञानरत्नावल्यादौ प्रसिद्धम्। सर्वं तत एवावगन्तव्यमिति सर्वं समञ्जसम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे शैवदर्शनम्॥

यद्यपि यहां पर बहुत कुछ कहना है तथापि ग्रन्थ बड़ा हो जाने के भय से अब हम यहीं रुकें। तो इस प्रकार पति, पशु और पाश के तीन पदार्थ दिखलाये गये। ज्ञानरत्नावली आदि ग्रन्थों में पदार्थों की गणना दूसरे ढंग से प्रसिद्ध है—'पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण, उस (कारण) की निवृत्ति के लिए ये छह पदार्थ संक्षिप्त रूप से कहे गये हैं।' ये सब बातें वहीं से जानी जायँ, इस तरह सारी बातें ठीक हैं।

इस प्रकार श्रीमान् सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में
शैव-दर्शन [समाप्त हुआ]।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां शैवदर्शनमवसितम्॥

(८) प्रत्यभिज्ञा-दर्शनम्

स्वच्छन्दतः सृजति संसृतिमीश्वरोऽयं,
भावान्विभासयति चात्मनि विम्बरूपान्।
अद्वैतरूपविदितं नवतत्त्वमत्र
साक्षात्कृतिं दिशति तत्परमं समीहे ॥—ऋषिः

(१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप)

अत्रापेक्षाविहीनानां जडानां कारणत्वं दुष्यतीत्यपरितुष्यन्तो, मतान्तरमन्विष्यन्तः, परमेश्वरेच्छावशादेव जगन्निर्माणं परिघुष्यन्तः, स्वसंवेदनोपपत्त्या आगमसिद्धप्रत्यगात्मतादात्म्ये नानाविधमानमेयादिभेदाभेदशालिपरमेश्वरोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणस्वातन्त्र्यभाक् स्वात्मदर्पणे भावान्प्रतिविम्बवद् अवभासयतीति भणन्तो, बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामादिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसुलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्ध्युपायमभ्युपगच्छन्तः, परे माहेश्वराः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमभ्यस्यन्ति ।

महेश्वर-संप्रदाय के ही कुछ दूसरे दार्शनिक हैं जो उपर्युक्त शैव-दर्शन से असंतुष्ट हैं क्योंकि उस दर्शन के अनुसार अपेक्षारहित (प्रयोजनशून्य motiveless) जड़ पदार्थों को कारण माना गया है जो दोषपूर्ण है। [लौकिक व्यवहार में लोग कहते हैं कि घट-निर्माण के कारण हैं मिट्टी, डंडा, चाक आदि। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। न तो केवल मिट्टी से घट बनता है, न केवल चाक से, न डंडे से। अब यदि यह मानें कि ये सब मिलकर घट बनाते हैं तब प्रश्न होगा कि घट-निर्माण में किसकी अपेक्षा हुई ? मिट्टी, डंडे या चाक की तो अपेक्षा नहीं है क्योंकि अपेक्षा किसी चेतन पदार्थ में ही होती है, यह चेतन का धर्म है। अब यदि कुम्भकार को घट का कारण मानें कि वह मिट्टी आदि की अपेक्षा रखते हुए घट बनाता है तो ठीक होगा। ठीक यही उदाहरण संसार के निर्माण में दिया जा सकता है। कर्म तो जड़-पदार्थ है, उससे संसार का निर्माण कैसे हो सकेगा ? अब यदि इसी उदाहरण के बल पर, कर्मों की अपेक्षा रखनेवाले ईश्वर को संसार का कारण मानें तो ठीक

नहीं है क्योंकि ऐसा होने से संसार के निर्माण में ईश्वर पूर्णतः स्वतंत्र नहीं रहेगा। पूर्ण स्वातंत्र्य का अभिप्राय है कि किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा न रहे। किसी रूप में दूसरे का सहारा न ले।]

इसीलिए ये लोग किसी दूसरे मत की खोज में हैं। ये घोषणा करते हैं कि परमेश्वर की इच्छामात्र से संसार का निर्माण होता है। अपने संवेदन (अनुभव) के द्वारा अनुमान करने से (उपपत्ति=अनुमान) और शैवागमों से सिद्ध होने वाली, प्रत्यक् (सबों के ऊपर Transcendent) आत्मा के साथ तादात्म्य (एकरूपता identity) होने पर नाना प्रकार के मान (ज्ञान Cognitions) और मेय (ज्ञेय Knowable) आदि के भेदों और अभेदों को धारण करने वाला परमेश्वर ही है; वह ऐसी स्वतन्त्रता धारण करता है जिसमें किसी दूसरे की मुखापेक्षिता (हस्तक्षेप, आवश्यकता) नहीं रहती; वह अपनी आत्मा पर आकाशादि भावों को उसी प्रकार अवभासित (व्यक्त) करता है जिस प्रकार किसी दर्पण पर प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है--इन लोगों का यही मत है। [आशय यह है--जिस प्रकार दर्पण पर प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार परमेश्वर अपने ही स्वरूप में सृष्टि, स्थिति संहार आदि संसार की सभी क्रियाओं को व्यक्त करता है[1] क्योंकि चेतन-अचेतन सभी पदार्थ परमेश्वर के अन्तर्गत ही हैं, कोई उससे पृथक् नहीं—यही अद्वैत तत्त्व है। किन्तु यहां माया न मान कर सब पदार्थों का ईश्वर में अवभास मानते हैं इसीलिए यह दर्शन वस्तुवादी प्रत्ययवाद था Realistic Idealism कहलाता है। अब परमेश्वर के अन्तर्गत देखें—वहां विद्यमान पदार्थों में भेद और अभेद दोनों हैं। वस्तुओं में पारस्परिक भेद है, संसार में नाना प्रकार के ज्ञेय पदार्थ हैं जिसके ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु यह संसार परमेश्वर से थोड़ा भी भिन्न नहीं है। वृक्ष एक है, शाखायें भिन्न-भिन्न हैं—वैसे ही ईश्वर में भी भेद और अभेद दोनों है। यह परमेश्वर प्रत्यगात्मा के साथ तादात्म्य रखता है पर इसे जानते कैसे हैं? या तो अनुमान से या शैवागमों के बल पर। 'मैं ही ईश्वर हूँ दूसरा कोई नहीं' इसे ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं क्योंकि यहां साक्षात्कार होता है—जीव और ईश्वर का तादात्म्य स्थिर होता है। यही स्वानुभाव

१. अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रकाशकः॥
निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥

तन्त्रालोक (२।३-४)।

('मैं ईश्वर हूँ') अनुमान का आधार है। ईश्वर की स्वतंत्रता भी मानी जाती है, वह अपनी इच्छा से ही संसार को बना और मिटा सकता है।]

बाह्य-चर्या (भस्मस्नानादि), आभ्यन्तर-चर्या (क्राथनादि), प्राणायाम आदि क्लेशप्रद प्रयासों से दूर रह कर, सब लोगों के लिए सुलभ, बिल्कुल नवीन, प्रत्यभिज्ञा मात्र को ही परसिद्धि (मुक्ति) और अपरसिद्धि (अभ्युदय, स्वर्गप्राप्ति आदि) मानते हुए ये महेश्वर-सिद्धान्त वाले प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अभ्यास करते हैं।

(२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का साहित्य)

तस्येयत्तापि न्यरूपि परीक्षकैः—

१. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ॥

परीक्षकों (अधिकारियों) ने इस शास्त्र की सीमा (इयत्ता) का भी विचार किया है--'सूत्र (संक्षेप में अर्थ को समझाना), वृत्ति (सम्बद्ध अर्थ का कथन) विवृति (विवरण, दूसरे शब्दों के द्वारा अर्थ-वर्णन), लघु और बृहत् दो प्रकार की विमर्शिनी (कुछ और अधिक विचार करना), ये पाँच प्रकार के प्रकरण (प्रसंगबोधक या एकार्थप्रतिपादक ग्रंथांश) और विवरण (व्याख्यानग्रंथ की व्याख्या) प्रत्यभिज्ञा के शास्त्र (साहित्य) हैं।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का वास्तव में त्रिक-दर्शन नाम होना चाहिए क्योंकि इसीसे पूरे दर्शन का बोध हो जाता है। 'स्पन्द' और 'प्रत्यभिज्ञा' तो इसके केवल अंगमात्र हैं, भले ही वे आवश्यक ही क्यों न हों। **त्रिक** नाम पड़ने में यह कहा जाता है कि ९२ आगमों में केवल तीन—सिद्धा, नामक और मालिनी—की प्रधानता होने के कारण (तंत्रालोक १।३५), या पर, अपर और परापर के त्रिकों का वर्णन करने के कारण (वही, १।७–२१), या अभेदवाद के आलोक में अभेद, भेद और भेदाभेद तीनों का वर्णन करने के कारण इसका नाम त्रिक पड़ा हो। काश्मीर में ही सभी ग्रंथकारों के उत्पन्न होने के कारण इसे काश्मीरी शैव-सिद्धान्त भी कहते हैं। काश्मीर में इस दर्शन का बहुत प्रचार था, किन्तु गत १०० वर्षों से इसकी परंपरा वहाँ भी समाप्त हो गई है। स्मरणीय है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' के परिवार में भी इसी त्रिक-दर्शन का प्रचार था जिसे उन्होंने अपने युग-प्रवर्तक महाकाव्य 'कामायनी' में अमर कर दिया है।

त्रिक-दर्शन शैव सिद्धान्त का ही एक भेद है किन्तु अद्वैतवादी विचारों से परिपूर्ण है। ऐसी मान्यता है कि परम शिव ने अपने पाँच मुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतवादी व्याख्या देखकर अद्वैत तत्त्व के प्रचार के लिए दुर्वासा ऋषि को अपना कार्य-भार सौंपा। दुर्वासा ने अपने तीन मानस पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें तीन उपदेश दिये—त्र्यम्बक को अद्वैत दर्शन का, आमर्दक को द्वैत का तथा श्रीनाथ को द्वैताद्वैत दर्शन का उपदेश दिया। त्र्यम्बक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन (अद्वैतवादी त्रिक) को त्रैयम्बक दर्शन भी कहते हैं जिससे सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक से १९ वीं पीढ़ी में रखता है। बहुत संभव है त्रिक-दर्शन का आविर्भाव पंचम शतक में हुआ हो।

दोनों की विचारधारा एक होने पर भी स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा के साहित्य पृथक्-पृथक् हैं परन्तु दोनों को प्रायः मिला कर ही रखते हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के पांच प्रकरण विवरण ग्रंथों में ये हैं—सूत्र, वृत्ति, विवृति, लघुविमर्शिनी, बृहद्विमर्शिनी। प्रथम तीन की रचना **उत्पल** ने की और अंतिम दोनों **अभिनवगुप्त** की रचनाएँ हैं। इस प्रकार संक्षेपतः दो आचार्य ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सर्वस्व हैं। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय (अभिनवगुप्त—ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन, पृ० ८३) का कहना है कि दोनों के पूर्वज काश्मीर के बाहर के निवासी थे। सोमानन्द की चौथी पीढ़ी के पूर्वज इसे काश्मीर में अष्टम शतक के मध्य में ले आये थे तथा अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त को ललितादित्य नामक काश्मीर-नरेश प्रायः ७४० ई० के बाद काश्मीर ले गये थे। तब से दोनों के पूर्वज वहीं बस गये थे। उक्त दोनों आचार्यों के पूर्व त्रिक का प्रवर्तन वसुगुप्त (८२५ ई०) ने किया था जिनसे स्पन्द-शाखा का आरंभ होता है।

वसुगुप्त (८२५ ई०) ने अपने 'शिवसूत्र' में तांत्रिक शैवमत को अद्वैतवादी रूप दिया। राजतरंगिणी (५।६६) में इन्हें सिद्ध कहा गया है तथा इनके शिष्य कल्लट को अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) का समकालिक माना गया है। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है कि वसुगुप्त को स्वप्न हुआ था कि वह महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखंड पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करे। ये ७७ शिवसूत्र ही इस दर्शन के मूल हैं जो तीन खंडों में बँटे हैं। इसने और भी कई पुस्तकें लिखीं जैसे—स्पन्दकारिका, स्पन्दामृत, गीता की वासवी टीका तथा सिद्धान्त-चन्द्रिका। **कल्लट** (८५५ ई०) ने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व टीका लिखी तथा तत्त्वार्थचिन्तामणि और स्पन्दसूत्र भी इसके लिखे ग्रंथ हैं। **रामकण्ठ** (९५० ई०) ने स्पन्दविवरणसारमात्र नामक ग्रंथ लिखा जो स्पन्दकारिका की टीका है। भास्कराचार्य (अभिनव के समकालिक) के साथ स्पन्द शाखा का

इतिहास समाप्त होता है यद्यपि अभिनव के बाद भी कुछ न कुछ टीकायें लिखी गईं।

प्रत्यभिज्ञा शाखा का प्रवर्तन **सोमानन्द** (८५० ई०) ने अपनी 'शिवदृष्टि' के द्वारा किया। इसमें सात अध्यायों में ७०० श्लोक हैं। स्पन्द-शाखा में प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध इसमें तर्कवाद की प्रतिष्ठा हुई है। इनके पुत्र और शिष्य **उत्पल** (९०० ई०) थे जिन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-टीका, स्तोत्रावली आदि प्रायः ११ ग्रंथ लिखे। प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विवेचन सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। **लक्ष्मणगुप्त** उत्पल के पुत्र और शिष्य भी थे जिन्हें **अभिनवगुप्त** (९५०-१०२० ई०) के समान बहुमुखी प्रतिभा वाले शिष्य को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। अभिनवगुप्त का नाम दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था जिनसे इन्होंने व्याकरण पढ़ा था।

अभिनवगुप्त ने प्रायः पचास ग्रन्थ विभिन्न विषयों के लिखे। साहित्यिक ग्रन्थों में ध्वन्यालोक की टीका लोचन तथा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। त्रिक-दर्शन पर इनके ये सुप्रसिद्ध ग्रंथ है—मालिनीविजय-वार्तिक, परात्रिंशिका विवृति, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी इत्यादि। अभिनवगुप्त पर विशेष ज्ञान के लिए डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की पुस्तक (चौखम्बा से प्रकाशित) देखें। अभिनव के शिष्य **क्षेमराज** (९७५-१०५०) ने भी गुरु की तरह ही तंत्र, काव्यशास्त्र और शैवदर्शन पर ग्रंथ लिखे। शैव-दर्शन पर स्पन्द-सन्दोह, स्पन्द-निर्णय, प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवसूत्रविमर्शिनी आदि इनमें विख्यात ग्रन्थ हैं। इनके शिष्य **योगराज** (१०७५) ने अभिनव के परमार्थ-सार पर विवृति लिखी। तन्त्रालोक पर सर्वप्रथम टीका **सुभटदत्त** (१२००) ने लिखी थी यद्यपि **जयरथ** (१२२५ ई०) की सुविशाल टीका 'विवेक' के समक्ष उसकी कीर्ति मन्द पड़ गई। **भास्करकण्ठ** (१७५० ई०) ने अभिनव की प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी पर एकमात्र उपलब्ध टीका लिखी जिसका नाम भास्करी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने १४ वीं शती में किसी स्त्री के द्वारा प्राचीन काश्मीरी भाषा में लिखित लल्ला वाक्य का संस्कृत मे अनुवाद किया और योगवासिष्ठ पर टीका लिखी। **वरदराज** ने वसुगुप्त के शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा है।

इस प्रकार काश्मीरी शैव-दर्शन में विपुल साहित्य है जो अपने आलोडन के लिए विद्वानों का निरन्तर आवाहन करता है।

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या)

तत्रेदं प्रथमं सूत्रम्—

२. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥ इति ।

उनमें यही प्रथम सूत्र है (वास्तव में प्रत्यभिज्ञासूत्र पर अभिनवगुप्त की टीका का मंगलाचरण है)—'किसी प्रकार महेश्वर के दास का पद पाकर और लोगों का उपकार करने की इच्छा से सारी संपत्तियों की प्राप्ति करानेवाले प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का मैं आरंभ कर रहा हूँ।'

विशेष—अभिनवगुप्त बहुत बड़े तांत्रिक भी थे और उनका महेश्वर की दासता स्वीकार करना सर्वथा उचित है। तांत्रिक और संन्यासी के रूप में उन्होंने संसार का बड़ा भारी कल्याण किया था। प्रत्यभिज्ञा सूत्र पर विमर्शिनी के आरंभ में ही यह श्लोक दिया गया है। यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत-दर्शन में जहाँ वैष्णवों की ईश्वर-दासता का उपहास किया गया है वहाँ एक माहेश्वर ईश्वर की दासता प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं तथा पा लेने पर गर्वपूर्वक इसका उल्लेख करते हैं। इसके बाद इसी सूत्र की व्याख्या में सारे दर्शन का विपुलांश समझाया जायगा।

कथंचिदिति—परमेश्वराभिन्नगुरुचरणारविन्दयुगलसमाराधनेन परमेश्वरघटितेन एवेत्यर्थः। आसाद्येति—आ समन्तात्परिपूर्णतया सादयित्वा, स्वात्मोपभोग्यतां निरर्गलां गमयित्वा। तदनेन विदितवेद्यत्वेन परार्थशास्त्रकरणेऽधिकारो दर्शितः। अन्यथा प्रतारणमेव प्रसज्येत।

कथंचित् का यह अर्थ है—गुरु जो परमेश्वर से भिन्न नहीं है, उनके दोनों चरणकमलों की आराधना करके; यह आराधना भी परमेश्वर के स्वीकार करने पर ही होती है। **आसाद्य** का अर्थ है—आ अर्थात् चारों ओर से या पूर्णरूप से पाकर (√सद् + णिच्), या निर्बन्ध रूप से अपनी आत्मा के उपभोग करने की योग्यता पाकर। [अभिप्राय यह है कि आत्मा को बन्धनरहित उपभोग प्राप्त होता है। यह उपभोग है प्रत्यभिज्ञा के प्रकाशन और परोपकार के द्वारा प्राप्त मानसिक संतोष। अभिनवगुप्त आत्मा की उपभोग्यता या संतुष्टि प्राप्त कर चुके

हैं इसीलिए प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिखने का उपक्रम कर रहे है। संतोष तभी होगा जब जानने लायक सारी वस्तुएँ जान चुके हों, ज्ञान के विषय में कोई बन्धन नहीं हो।] इस प्रकार इस शब्द से यह दिखलाया जाता है कि सारी ज्ञेय वस्तुएँ जान लेने के बाद ही परोपयोगी (परार्थ) शास्त्र निर्माण करने का अधिकार मिलता है। नहीं तो (ज्ञान के अभाव में) लोगों को ठगना ही भर हो सकता है। [यह आशय है—राजा के द्वारा अधिकार मिल जाने पर नौकर अपनी नौकरी के अधिकार का इच्छापूर्वक उपभोग करता है। सूत्रकार ने भी अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की दासता प्राप्त की है जो उनके उपभोग के योग्य है और जिसमें कहीं कोई रुकावट नहीं। वे सारे ज्ञेय पदार्थ जान चुके हैं, इससे अपने अधिकार का उपभोग अच्छी तरह कर सकते हैं,—परोपकार का काम कर सकते हैं, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिख सकते हैं इत्यादि। जो अपना अधिकार नहीं जानते, वे केवल दूसरों को ठगते हैं, वास्तव में उन्हें ग्रंथ लिखना नहीं चाहिए। यदि ग्रन्थ लिखते हैं तो गलत बातों का भी तो प्रदिपादन कर सकते हैं और इस प्रकार वे शास्त्र पढ़नेवालों को मार्ग से भ्रष्ट करेंगे।]

मायोत्तीर्णा अपि महामायाधिकृता विष्णुविरिञ्च्याद्या यदीयैश्वर्यलेशेन ईश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्द-स्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः। तस्य दास्यम्। दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासः। परमेश्वरस्वरूपस्वातन्त्र्यपात्र-मित्यर्थः।

विष्णु, विरिञ्चि (ब्रह्मा) आदि देवता यद्यपि माया को पार कर चुके हैं, परन्तु महामाया (अनन्त माया) के अधीन हैं। जिस शक्ति के ऐश्वर्य के केवल लेश (अल्पांश) से ये देवता ईश्वर के रूप में माने जाते हैं वही भगवान् (ऐश्वर्य से युक्त) **महेश्वर** है जो असीम (अनवच्छिन्न) प्रकाश, आनन्द तथा स्वातन्त्र्य के रूप में है तथा परमतत्त्व भी यही है। उस महेश्वर की दासता (पाकर···)। दास उसे कहते हैं जिसे स्वामी की ओर से सारी अभीष्ट वस्तुएँ दी जाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहेंगे कि दास परमेश्वर के ही स्वरूप—स्वतंत्रता—का पात्र होता है। [परमेश्वर की स्वतंत्रता का थोड़ा अंश दास को भी प्राप्त होता है। परमेश्वर के स्वरूप में ये हैं—प्रकाश, आनन्द, स्वातंत्र्य। यही परमतत्त्व या परमार्थ (Ultimate Reality) है। ये किसी भी पदार्थ के द्वारा व्याप्त नहीं है।]

जनशब्देनाधिकारिविषयनियमाभावः प्रादर्शि। यस्य यस्य

हीदं स्वरूपकथनं तस्य तस्य महाफलं भवति। प्रज्ञानस्यैव परमार्थफलत्वात्। तथोपदिष्टं शिवदृष्टौ परमगुरुभिर्भगवत्सोमानन्दनाथपादैः—

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ॥
४. करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत् ॥ इति।

'जन' शब्द से अधिकारी बनने के विशेष नियमों का अभाव व्यक्त होता है। [जन का अर्थ है सामान्य व्यक्ति। अन्य दर्शनों में जहाँ शास्त्र सुनने के लिए कड़े-कड़े नियम बनाये गये हैं, वहीं प्रत्यभिज्ञा का द्वार जनसाधारण के लिए खुला है। मुमुक्षु कोई भी हो प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र सुने। भस्म में स्नान, व्रत आदि किसी नियम की आवश्यकता नहीं।[1]] जिस किसी व्यक्ति को महेश्वर के इस स्वरूप का ज्ञान कराया जाय महान् फल की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि प्रकृष्ट ज्ञान (प्रत्यभिज्ञा) मे ही परमार्थ का फल प्राप्त होता है। [महेश्वर के स्वरूप का कथन इस प्रकार होता है—'यह सब कुछ महेश्वर ही है', जिस व्यक्ति को ऐसी वात बतलायी जाती है वह जान लेता है कि 'मैं ही महेश्वर हूँ'। इस अद्वैत-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेना ही परमार्थ है, महाफल है जो मुमुक्षुओं को प्राप्त होता है।

शिवदृष्टि नामक अपने ग्रन्थ में परम-गुरु (शास्त्र-प्रवर्तक) भगवान् पूज्य श्री सोमानन्दनाथ ने यही कहा है—'जब एक बार प्रमाणों के द्वारा, शास्त्र (प्रत्यभिज्ञा) के द्वारा या गुरुओं की वाणी के द्वारा दृढ़ आत्मा से प्रतिपत्तिपूर्वक (विश्वासपूर्वक) सर्वत्र स्थित शिव-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब न

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२।२७६) से सूचित होता है कि शास्त्राध्ययन के लिए जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं। फिर भी अध्ययन के लिए छह वैदिक दर्शनों और वेदाङ्गों का अध्ययन पहले से हो क्योंकि इस दर्शन में सबों की आलोचना है। इसके अतिरिक्त भी कहा है—

योऽधीती निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमी,
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन्स्यादधिकारवान्कलकलप्रायः परेषां रवः ॥

Dr. K. C. Pandey, Abhinavagupta, pp. 171–2.

तो किसी करण (प्रमाणादि साधन) का कोई काम (आवश्यकता) है और न भावना का ही। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर करण और भावना को लोग छोड़ ही देते हैं।'

विशेष—भावना का अर्थ है—पर्यालोचना या विशेष गुणों का चिन्तन। इस स्थान पर 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करना भावना है। जब शिव का सर्वस्वरूप में ज्ञान हो जाता है तब उसके ज्ञान के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती और न उक्त चिन्तन या भावना-व्यापार की ही। जब तक 'यह सुवर्ण है' इस रूप में सुवर्ण का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसके ज्ञान के साधन कसौटी-पत्थर (touch-stone) आदि चीजें ले आते हैं। कोई व्यक्ति किसी चीज को अ-सुवर्ण समझ कर त्यागना चाहता हो और हम उसे कहें कि यह सुवर्ण ही के रूप में भावनीय है तो यह भावना हुई। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर न तो कसौटी की जरूरत है और न सुवर्ण-भावना की। रोगमुक्ति के बाद औषधि का क्या काम ?

(३ क. 'अपि' और 'उप' शब्दों के अर्थ)

अपिशब्देन स्वात्मनस्तदभिन्नतामाविष्कुर्वता पूर्णत्वेन स्वात्मनि परार्थसंपत्त्यतिरिक्तप्रयोजनान्तरावकाशश्च पराकृतः। परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव। तल्लक्षणयोगात्। न ह्ययं देवशापः 'स्वार्थ एव प्रयोजनं न परार्थ' इति। अत एवोक्तमक्षपादेन— 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' (गौ० सू० १।१।२४) इति।

'अपि' शब्द के द्वारा, अपनी आत्मा की अभिन्नता उस महेश्वर से स्थापित करने वाले पूर्णत्व के कारण, अपनी ही आत्मा में परोपकार का कार्य संपादित करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन की संभावना समाप्त हो जाती है। [अभिप्राय यह है कि आत्मा और महेश्वर एक ही है। अभिनवगुप्त सभी लोगों को महेश्वर के समीप पहुँचाना चाहते हैं (उपकार = समीप ले जाना) अर्थात् दास का पद देना चाहते हैं। स्वयं तो दास्य पा ही चुके हैं, लोगों को भी देना चाहते हैं। इस प्रकार 'अपि' के द्वारा उनकी अपनी प्रत्यभिज्ञा या साक्षात्कार का अर्थ समझा जाता है। दास्य-प्राप्ति के लिए सूत्रकार ने परमेश्वर के साथ अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार किया है—उस अर्थ की प्राप्ति इस 'अपि' के द्वारा हो जाती है। फलतः अब सूत्रकार को केवल परोपकार ही सूझता है अब स्वार्थ की भावना तो रही नहीं—इसलिए परोपकार के

अतिरिक्त सारे प्रयोजनों का खण्डन ही 'अपि' के द्वारा होता है। 'अपि' से एक ही साथ कई चीजें ज्ञात हो जाती हैं।]

[शास्त्र का] प्रयोजन परोपकार तो हो ही सकता है क्योंकि परोपकार के लक्षणों की प्राप्ति प्रस्तुत स्थल में हो जाती है। यह किसी देवता का शाप नहीं है कि मनुष्य का प्रयोजन जब होगा तब स्वार्थ ही, परमार्थ नहीं। [बहुत से व्यक्ति निस्वार्थ-भाव से परमार्थ (परोपकार) में लगे हैं।] प्रयोजन का लक्षण करते हुए अक्षपाद (गौतम) अपने न्यायसूत्र में कहते हैं—'जिस (उपादेय या त्याज्य) वस्तु को लक्षित करके [उसकी प्राप्ति या त्याग के लिए मनुष्य] उपाय करता है वही उसका प्रयोजन कहलाता है।' (न्यायसूत्र १।१।२४)। [ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य का अभीष्ट—उपादेय—परोपकार हो तो वही प्रयोजन है, इसमें सन्देह की क्या बात है ?]

उपशब्दः सामीप्यार्थः। तेन जनस्य परमेश्वरसमीपताकरणमात्रं फलम्। अत एवाह—समस्तेति। परमेश्वरतालाभे हि सर्वाः संपदस्तन्निष्यन्दमय्यः संपन्ना एव, रोहणाचललाभे रत्नसंपद इव। एवं परमेश्वरतालाभे किमन्यत्प्रार्थनीयम् ?

'उप' शब्द का अर्थ है समीप आना। इसलिए यह ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का फल केवल परमेश्वर के समीप कर देना ही है, और कुछ नहीं। इसीलिए आगे कहा है—**'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुम्'**। परमेश्वर का पद पा लेने पर ही सारी संपत्तियाँ उस (परमेश्वर) के निष्यन्द (प्रवाहित वस्तु) के रूप में निकल कर प्राप्त हो जाती हैं जिस प्रकार रोहणाचल (मेरुपर्वत जिसमें रत्न के मैदान हैं और जो स्वयं स्वर्ण का ही है) के मिल जाने पर रत्न-संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार परमेश्वर का पद मिल जाने पर और कौन सी ऐसी वस्तु है जिसके लिए प्रार्थना की जाये ?

तदुक्तमुत्पलाचार्यैः—

६. भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥ इति।

इत्थं षष्ठीसमासपक्षे प्रयोजनं निर्दिष्टम्। बहुव्रीहिपक्षे तूपपादयामः।

जैसा कि उत्पलाचार्य ने कहा है—'भक्ति-रूपी लक्ष्मी से समृद्ध पुरुषों के लिए कौन-सी दूसरी चीज है जिसके लिए वे प्रार्थना करें ? और जो व्यक्ति उस

(भक्ति रूपी धन) से रहित हैं उनके लिए कौन सी वस्तु त्याज्य है ? [भक्ति से रहित व्यक्ति की याचना सभी वस्तुओं के लिए होती है—याचना की इयत्ता तो कहीं है ही नहीं। Demands are never fulfilled.]

इस प्रकार 'समस्त···समवाप्तिहेतु' में षष्ठी तत्पुरुष समास मानने पर प्रयोजन दिखलाया गया। [षष्ठीसमास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति का कारण'। बहुव्रीहि समास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति ही जिसका हेतु (लक्ष्य) है।] बहुव्रीहि-समास मान लेने पर जो स्थिति होगी उसका निर्णय अब करते हैं।

समस्तस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नित्यसुखादेर्या संपत्सिद्धिः तथात्वप्रकाशः, तस्याः सम्यगवाप्तिर्यस्याः प्रत्यभिज्ञायाः हेतुः सा तथोक्ता। तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा, प्रति आभिमुख्येन, ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धागमानुमानादिज्ञातपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मनि अभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसंधानेन ज्ञानमुदेति नूनं स एवेश्वरोऽहमिति।

[बहुव्रीहि-पक्ष में अर्थ—] बाहरी या भीतरी सभी प्रकार के नित्य-सुख आदि संपदाओं की सिद्धि अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता है। उक्त सिद्धि या प्रकाशन को अच्छी तरह से प्राप्त कर लेना ही जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु (लक्ष्य) है वह [प्रत्यभिज्ञा ही 'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुः' के द्वारा व्यक्त होती है]। उस महेश्वर की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—प्रति अर्थात् अभिमुख होकर ज्ञान प्राप्त करना। लौकिक व्यवहार में 'यह वही चैत्र है' इस प्रकार प्रतिसंधान (बीती बात का संबन्ध जोड़ना) करके सम्मुख आई हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने को 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition पहचानना) कह कर पुकारते हैं।

यहाँ भी परमेश्वर की सत्ता मानते हैं जिस (परमेश्वर) की परिपूर्ण शक्ति को प्रसिद्ध पुराणों, सिद्ध आगमों और अनुमानादि प्रमाणों से जानते हैं। जब आत्मा हमारे सम्मुख आती है तब परमेश्वर की शक्ति का संबन्ध इससे जोड़ लेते हैं (प्रतिसंधान), इससे ज्ञान उत्पन्न होता है कि सचमुच मैं भी वही ईश्वर हूँ। [प्रत्यभिज्ञा किसी बीती बात के आधार पर होती है। यहाँ वह बीती बात है ईश्वर की आगमानुमानसिद्ध सत्ता। इसी के आधार पर आत्मा में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) कर लेते हैं। यही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन नाम पड़ने का कारण है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रत्यभिज्ञा केवल एक आवश्यक तत्त्व मात्र है, पूरे दर्शन का नाम इस पर पड़ जाना ठीक नहीं।]

तामेतां प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि। उपपत्तिः संभवः। संभवतीति तत्समर्थाचरणेन प्रयोजकव्यापारेण संपादयामीत्यर्थः।

[सूत्र की व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि] उक्त गुणों से युक्त प्रत्यभिज्ञा का आरंभ कर रहा हूँ। उपपत्ति का यहाँ अर्थ है संभव (उत्पत्ति करना)। संभव हो रहा है = मैं [प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की रचना की] सामर्थ्य व्यक्त करने वाने वाले आचरण से युक्त प्रयोजक (सूत्रकार, काम कराने वाला) की क्रिया के द्वारा इसकी स्थापना कर रहा हूँ। [सूत्रकार यहाँ पर प्रयोजक है, अपने व्यापार में वह लगा है कि लोग इस शास्त्र को पढ़ें। उसका व्यापार यही है कि प्रत्यभिज्ञा के उपपादन के अनुकूल आचरण करे। प्रत्यभिज्ञा तभी संभव है जब इसकी प्रतिबन्धक विपरीत भावनाओं का विनाश कर दिया जाय। दृष्टान्त के लिए अग्नि को लें। शीतकाल में ठंढक बढ़ जाने पर अध्ययन करने में असमर्थ छात्र आग पास में रखकर अध्ययन करते हैं। तब ऐसा कहा जाता है कि आग ही उन्हें पढ़ा रही है। अग्नि यहाँ प्रयोजक कर्ता है इसका व्यापार यही है कि अध्ययन करने में छात्रों को समर्थ बना दे जिसमें उसे शीत का निवारण करना पड़ता है। उसी प्रकार प्रयोजक सूत्रकार प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को अपने व्यापार से अभिव्यक्ति के समर्थ बनाता है और विरोधी भावनाओं का बहिष्कार करता है।]

(४. प्रत्यभिज्ञा के प्रदर्शन की आवश्यकता)

यदीश्वरस्वभाव एवात्मा प्रकाशते, तर्हि किमनेन प्रत्यभिज्ञाप्रदर्शनप्रयासेनेति चेत्—तत्रायं समाधिः। स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते।

[यह प्रश्न हो सकता है कि] यदि ईश्वर के स्वरूप (= चैतन्य) के रूप में ही आत्मा प्रकाशित होती है (अर्थात् यदि चैतन्य ही आत्मा के रूप में व्यक्त होता है) तो प्रत्यभिज्ञा (आत्मा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार) को प्रदर्शित करने का यह इतना परिश्रम व्यर्थ किया जा रहा है। [आशय यह है कि आत्मा और ईश्वर में एकता यदि पहले ही से सिद्ध है और आत्मा ईश्वर का अपना रूप ही है तो अपने आप वह व्यक्त हो जायगी, उसके द्वारा ईश्वर को पहचाने जाने की बात तो बिल्कुल व्यर्थ है।]

इसका यह समाधान है—आत्मा अपनी प्रकाशन शक्ति के कारण निरंतर अवभासित (व्यक्त) होती रहती है, फिर भी माया के कारण उसका यह प्रकाशन अंशतः ही होता है। [आत्मा में चैतन्य का प्रकाशन होता है किन्तु पूर्ण चैतन्य का नहीं; पूर्ण चैतन्य ईश्वर में है। आत्मा में माया के कारण ही पूर्ण चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता। साधारण व्यक्तियों को आंशिक चैतन्य का अवभास होता है] इसलिए पूर्णता के अवभास की सिद्धि के लिए दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति का आविष्कार करके प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। [प्रत्यभिज्ञा निष्फल नहीं है। जिस समय ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार की शक्तियाँ मिल जाती हैं तब प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'मैं वही ईश्वर हूँ'। तभी पूर्णतः ईश्वर का साक्षात्कार या आत्मा से एकीकरण संभव है। वस्तुतः त्रिक-दर्शन अद्वैतवादी है इसीलिए जीव और ईश्वर का ऐक्य स्थापित किया जाता है। ऐक्य होने पर पार्थक्य की जो प्रतीति होती है वह मायाजनित है। वह माया अद्वैतवेदान्तियों के पक्ष में रहकर स्वीकृत होती है। अवभास या आभास प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अपना शास्त्रीय शब्द है जिसका प्रयोग ये लोग प्रकाशन (Manifestation) के अर्थ करते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए जीव भागतः चैतन्य से युक्त है, प्रज्ञों के लिए पूर्णतः चैतन्ययुक्त। प्रत्यभिज्ञा ही यह ज्ञान दे सकती है।]

तथा च प्रयोगः 'अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वरवद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाता कर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम्' इति। अवयवपञ्चकस्याश्रयणं मायावदेव नैयायिकमतस्य कक्षीकारात्।

उसे सिद्ध करने के लिए यह प्रयोग (अनुमान) है—(१) यह आत्मा परमेश्वर बनने में समर्थ है (२) क्योंकि इसके पास ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ हैं। (३) जो जितनी चीजों का ज्ञाता और कर्ता होता है वह उतनी चीजों के लिए ईश्वर (स्वामी) है, जैसे संसार-प्रसिद्ध ईश्वर (मंडलेश्वर, नरेश आदि) हैं या राजा लोग होते हैं। (४) आत्मा संसार का ज्ञाता और कर्ता है; (५) इसलिए यह आत्मा ईश्वर है।[1] इन पांच अवयवों वाले (परार्था-

---

१. इन पाँच वाक्यों में क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के वाक्य हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार ही ये पाँचों वाक्य दूसरे शास्त्रों में भी प्रयुक्त होते हैं। कहा है—न्यायमूलं सर्वशास्त्रम्।

नुमान) का आश्रय लेते समय नैयायिकों के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया है (या नैयायिकों से पंचावयव अनुमान लिया है) जिस प्रकार माया का विचार [हमने अद्वैतवेदान्त से लिया है]।

तदुक्तमुदयाकरसूनुना—

७. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ॥
८. किं तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥

जैसा कि उदयाकर के पुत्र ने कहा है—(प्रश्न है कि) जब हम जानते हैं कि कर्त्ता और ज्ञाता के रूप में जो यह जीवात्मा है वह आदि-सिद्ध महेश्वर ही है, तो फिर कौन ऐसा विवेकशील (अजडात्मा) व्यक्ति है जो इस ईश्वर का [जीवात्मा में] निषेध करे या सिद्धि करे ? [तात्पर्य यह है कि जब स्वात्मा और महेश्वर की एकता अनादि काल से सिद्ध है तब हमें इस प्रश्न पर तनिक भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं—न तो हम जीवात्मा में ईश्वर का निषेध कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने से सिद्ध वस्तु का खण्डन होगा, और न ही इसकी सिद्धि की आवश्यकता है क्योंकि स्वयंसिद्ध वस्तु को पुनः सिद्ध करना निरर्थक है, कम से कम विवेकी व्यक्ति तो ऐसा नहीं करते ।] ॥ ७ ॥

[इसका उत्तर यह होगा—] 'यद्यपि स्वात्मा में ईश्वर के दर्शन होते हैं (ईश्वर का स्वरूप—चैतन्य कुछ दृष्टिगोचर होता है) किन्तु मोह या माया के कारण यह स्पष्टतः उपलक्षित (दिखलाई) नहीं होता । इसलिए शक्ति का (ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का) प्रतिसंधान (संबंध-स्थापना) करने के लिए इस प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है । [प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही जीवात्मा में विद्यमान ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का संबंध ईश्वर की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के साथ कर लेते हैं तथा दोनों के बीच अद्वैत-तत्त्व की स्थापना संभव होती है । इसीलिए प्रत्यभिज्ञा आवश्यक है ।]' ॥ ८ ॥

विशेष—सायण-माधव की पुरानी बीमारी फिर उत्पन्न हो गई है । शैव-दर्शन में जिस प्रकार एक-एक बात कहकर उसकी पुष्टि के लिए प्रमाणों का अम्बार लगा रहे थे, अब यहाँ भी अनेक उद्धरणों के द्वारा अपनी सुप्रतिपादित बातों का पुनः प्रतिपादन करते हैं । क्यों न हो—द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति = दो बार बाँध देने पर अच्छी तरह बँध जाता है ।

(५. ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति)

तथा हि—

९. सर्वेषामिह भूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया ।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥

१०. तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं क्रिया कार्याश्रिता सती ।
परैरप्युपलक्ष्येत तथान्यज्ञानमुच्यते ॥ इति ।

११. या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥ इति च ।

जैसा कि इन श्लोकों से प्रकट है—'इस लोक में सभी प्राणियों की प्रतिष्ठा (स्थिति) जीव पर ही आश्रित है; जीवित प्राणियों का जीवन भी उनके ज्ञान और क्रिया पर निर्भर करता है ॥ ९ ॥ अब उन दोनों शक्तियों में ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है (ज्ञान का अनुभव अपने आप में ही व्यक्ति करता है, दूसरे लोग किसी के ज्ञान को नहीं जान पाते) । किन्तु क्रिया कार्यों पर निर्भर करती है इसलिए दूसरे लोग भी इसे जान लेते हैं (स्वयं को तो क्रिया मालूम रहती ही है) । इसी प्रकार दूसरों के ज्ञान को भी जाना जा सकता है (जब कि वह कार्य के रूप में परिणत हो) ॥ १० ॥'

और भी कहा है—'इन जीवों में जो यह ज्ञानशक्ति (प्रतिभा) है [वह देश, काल और वस्तु की उपाधियों के द्वारा सीमित है] वह विभिन्न ज्ञेय पदार्थों का पता लगाने पर उसी क्रम से निरूपित है। यही ज्ञानशक्ति प्रमाता (सर्वज्ञ) महेश्वर है जब कि [उपाधियों से रहित होने पर] क्रम से रहित, आनन्द और चित् के रूप में यह प्रकट होती है। [जीव के ज्ञान में उपाधियाँ हैं, ईश्वर की ज्ञानशक्ति निरुपाधिक है, आनन्दस्वरूप है और चिद्रूप है। यह शुद्ध ज्ञानशक्ति है।]' ॥ ११ ॥

सोमानन्दनाथपादैरपि—

सदा शिवात्मना वेत्ति सदा वेत्ति मदात्मना । इत्यादि ।

ज्ञानाधिकारपरिसमाप्तावपि—

१२. तदैक्येन विना नास्ति संविदां लोकपद्धतिः ।
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः ॥

१३. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥ इति।

पूज्यपाद श्री सोमानन्दनाथ ने भी कहा है—'[महेश्वर का दास अपनी आत्मा को] सदैव शिव के रूप में जानता है, वह उसे आत्मा अर्थात् शिव-शक्ति के रूप में जानता है।' इत्यादि। (मत् = मैं, आत्मा)।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में जहाँ ज्ञान का अधिकार (अध्याय, topic) समाप्त हुआ है, वहाँ पर भी कहा गया है—'उस महेश्वर के साथ एकता स्थापित हुए बिना प्रकाश या ज्ञान (संवित्) का लौकिक व्यवहार नहीं हो सकता। सभी प्रकार के प्रकाशों में एकता होने के कारण महेश्वर-विषयक एकता को जानने वाला वह एक ही तत्त्व है—ऐसी वस्तुस्थिति है। [तात्पर्य यह है कि सूर्यादि के प्रकाश से बहुत सी चीजें प्रकाशित होती हैं, उनका ज्ञान हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार सांसारिक ज्ञान की प्रणाली या पद्धति है। इस प्रकार के प्रकाशन और महेश्वर के प्रकाशन में एकता है—महेश्वर उसी प्रकार आभासित होता है, मोहवश हमें दिखलाई नहीं पड़ता। यह एकता तभी सिद्ध होगी जब हम उपाधिहीन प्रकाशों में भेद न मानें। यह एकमात्र प्रकाश ही सभी वस्तुओं का प्रमाता (ज्ञाता) है।] वही (प्रकाश, ज्ञान) एक निश्चित विमर्श (ज्ञान-क्रिया शक्ति) के कारण महेश्वर कहलाता है क्योंकि देवदेव महेश्वर के विमर्श का अर्थ ही है शुद्ध (उपाधिहीन) ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का होना।

विशेष—ईश्वर के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है; निरुपाधिक ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में ही संपूर्ण जगत् निहित है। ईश्वर के प्रकाशन और वस्तुओं का प्रकाशन प्रायः एक ही है। प्रायः इसलिए कि वस्तुओं में देश-काल आदि उपाधियाँ लगी हैं। इन के हट जाने पर तो अद्वयतत्त्व ही बच रहता है। यह ऐक्य या अद्वयतत्त्व ही महेश्वर है।

(६. वस्तुओं का प्रकाशन—आभासवाद)

विवृतं चाभिनवगुप्ताचार्यैः। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (काठक० २।२) इति श्रुत्या प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्वस्य भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते। ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाशः पीतप्रकाश इति विषयोपराग-भेदाद्भेदः। वस्तुतस्तु देशकालाकारसंकोचवैकल्यादभेद एव। स एव चैतन्यरूपः प्रकाशः प्रमातेत्युच्यते।

आचार्य अभिनवगुप्त ने व्याख्या भी की है। एक श्रुतिवाक्य है—'उस प्रकाशमान पुरुष के पीछे-पीछे सारी चीजें प्रकाशित होती हैं, उसी के प्रकाश से ये सारी चीजें प्रकाशित होती हैं।' (काठक०. २।२) [इस श्रुति का तात्पर्य है कि महेश्वर के प्रकाशित होने पर सूर्यादि का प्रकाश होता है। जैसे जाते हुए पुरुष के पीछे-पीछे चलने वाले पुरुष की गति स्वतंत्र नहीं होती, उसी प्रकार सूर्यादि का प्रकाश स्वतंत्र नहीं होता—उसी महेश्वर के अधीन इनका प्रकाश स्फुरित होता है।] इस श्रुति से सिद्ध होता है कि उस प्रकाशस्वरूप, चिद्रूप अर्थात् बुद्धिस्वरूप (महेश्वर) की महिमा से सारे पदार्थ (= प्रकाश देनेवाले, सूर्यचन्द्रादि) प्रकाशक कहलाते हैं। इसके बाद विषयों के प्रकाशन में नीला प्रकाश (= नीली वस्तु), पीला प्रकाश (वस्तु) इस प्रकार के भेद इसलिए होते हैं कि स्वयं विषयों (objects) में ही रंग (colour) का भेद है [और ये ही रंग प्रकाश पर पड़कर वस्तु को नीली, पीली बना कर प्रकाशित कराते हैं—वस्तुओं में भेद का यही कारण है।]

वास्तव में देश, काल और आकार की सीमा (संकोच) न होने के कारण तत्त्व तो एक ही है। वही चैतन्य (बुद्धि) के रूप में प्रकाश है जिसे हम प्रमाता या ज्ञाता भी कहते हैं। [ईश्वर प्रकाश है तथा चैतन्यरूप है। वही अपनी आत्मा के दर्पण पर प्रतिबिम्ब की तरह सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसी सिद्धान्त को **आभासवाद** कहते हैं।]

तथा च पठितं शिवसूत्रेषु—'चैतन्यमात्मा' (१।१) इति। तस्य चिद्रूपत्वमनवच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वमानन्दैकघनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः। स एव ह्ययं भावात्मा विमर्शः शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। तत्र प्रकाशरूपता ज्ञानम्। स्वतो जगन्निर्मातृत्वं क्रिया।

जैसा कि शिवसूत्रों का आरंभ हुआ करता है—'चैतन्य ही आत्मा है' (शि० सू० १।१)। उसके बहुत से पर्याय भी हैं—चित् (Intelligence) के रूप में होना, विमर्श अर्थात् ज्ञान-क्रिया-शक्ति का अव्यवहित (उपाधिहीन) होना, दूसरे पर निर्भर न करना (= स्वतंत्रता), आनन्द के एकमात्र घन-पिण्ड के रूप में होना तथा सबसे अधिक ऐश्वर्य होना (महेश्वर होना)। [ये सभी ईश्वर के गुण के पर्यायवाची शब्द हैं।] इसी को भाव (धर्म, शक्ति) के रूप में विमर्श मानते हैं, जिसका अर्थ है विशुद्ध (उपाधिहीन) पारमार्थिक ज्ञान और क्रिया।

इनमें **ज्ञान** उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुओं का प्रकाशन हो। अपने आप से ही समूचे संसार का निर्माण करना **क्रिया** है। [ईश्वर के गुणों के पर्यायों में 'विमर्श' शब्द आया है। पूरा शब्द है—ईश्वर के विमर्श का अनवच्छिन्न होना। विमर्श अवच्छिन्न तभी होता है जब भ्रांतिवश हम विमर्श (ज्ञान और क्रिया) में देश, काल, आकार, वर्ण आदि अवच्छेदक या सीमित करनेवाली उपाधियाँ लगा दें। यदि इन उपाधियों का अभाव हो तो विमर्श अनवच्छिन्न अर्थात् अव्यवहित होता है। ईश्वर का विमर्श ऐसा ही होता है। अच्छा, यह बार-बार उच्चरित **'विमर्श'** है क्या ? इसका अर्थ ज्ञान और क्रिया है। ईश्वर के पास शुद्ध विमर्श यानी शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया है। अपने ज्ञान से वे सारी वस्तुओं का प्रकाशन करते हैं—सारी वस्तुएँ उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार स्वयम् ईश्वर। सारी वस्तुएँ ईश्वर के आभास से आती हैं, अतः इस दर्शन को वस्तुवादी प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) करते हैं। अब रही ईश्वर की क्रिया-शक्ति ! तो उससे सारे संसार का निर्माण ही होता है। शक्ति की व्याख्या आगे की जायगी।]

तच्च निरूपितं क्रियाधिकारे—

१४. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषां क्रिया निर्मातृतास्य सा॥ इति।

उपसंहारेऽपि—

१५. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥ इति।

इस दर्शन के क्रिया-परिच्छेद में उसका निरूपण भी हुआ है—'वह (महेश्वर) अपनी अपरिमित शक्ति होने के कारण उन भावों (पदार्थों) को प्रकाशित (आभासित) करता है [—यह उसकी ज्ञानशक्ति है]। उसी प्रकार अपनी इच्छा से ही वह उक्त पदार्थों का निर्माण करता है जो उसकी क्रिया-शक्ति है॥ १४॥'

उपसंहार करते हुए भी कहा गया है—'इस प्रकार घट, पट आदि आकारों (पदार्थों) से भरे हुए संसार के रूप में स्थिर रहने के इच्छुक, हेतुकर्ता (प्रयोजक कर्ता = महेश्वर) में उत्पन्न जो इच्छा है, वही **क्रिया** है॥ १५॥'

विशेष—हेतु का अर्थ प्रयोजक-कर्ता है क्योंकि पाणिनि-मुनि कहते हैं—**तत्प्रयोजको हेतुश्च** (पा० सू० १।४।५५)। प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग होने पर दो कर्ता होते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। रामः पठति। अध्यापकः

रामं पाठयति। इन वाक्यों में 'अध्यापक' और 'राम' दोनों ही कर्ता हैं, अध्यापक प्रयोजक या हेतु कर्ता है जब कि राम प्रयोज्य कर्ता। उसी प्रकार इस स्थान में, 'भावा आभासन्ते, महेश्वरो भावानाभासयति' के साथ भी बात है—महेश्वर प्रयोजक कर्ता है। महेश्वर को इच्छा होती है—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'। उसकी यह इच्छा ही क्रिया कहलाती है।

(७. ईश्वर की इच्छा से संसारोत्पत्ति)

१६. तस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणताऽपि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते॥

इति न्यायेन यतो जडस्य न कारणता न वाऽनीश्वरस्य चेतनस्यापि, तस्मात्तेन तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकार-तत्तद्भेदक्रियासहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यत इति।

'एक वस्तु (बीज) के होने पर दूसरी वस्तु (अंकुर) की सत्ता होगी—इस प्रकार का जो कार्य-कारण संबंध है वह भी अपेक्षारहित जड़ (insentient) पदार्थों में नहीं रह सकता॥ १६॥'

उपर्युक्त नियम से यह सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थ (परमाणु आदि) संसार के कारण नहीं हो सकते [क्योंकि इनमें अपेक्षा नहीं है, अपेक्षा किसी चेतन में ही रहती है]। दूसरो ओर, ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा चेतन (जैसे जीव) भी [संसार का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें संसार उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए घटादि का कारण होने पर भी जीव संसार को नहीं उत्पन्न कर सकते]। इसलिए संसार के जन्म, स्थिति आदि भाव-विकारों के रूप में तथा उनके भेदों के रूप में हजारों क्रियाओं के द्वारा भगवान् ठहरना चाहता है। उस स्वतंत्र महेश्वर भगवान् की इच्छा, जो क्रमशः बढ़ती ही जाती है, ही **क्रिया** है। दूसरे शब्दों में उसे विश्व का उत्पादन (रचना) भी कहते हैं।

विशेष—संसार की रचना ईश्वर की इच्छा से ही होती है। जब ईश्वर चाहता है कि अपनी क्रियाओं के रूप में अवस्थित रहूँ—एक होकर भी बहुत से रूपों में रहूँ, तब भाव के छह विकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—देखें निरुक्त १।२) और उनके नाना प्रकार के भेदों

के रूप में संसार की रचना हो जाती है। वस्तुतः क्रिया तो एक ही है—ईश्वर की इच्छा, परन्तु उसके विकार इतने प्रकार के हो जाते हैं कि क्रियायें हजारों-हजार हो जाती हैं। महेश्वर की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है (उच्छून-स्वभावा)—इसीसे विकास होता है जिसका अन्त विनाश में है। इस प्रकार संसार की रचना के लिए किसी उपादान की आवश्यकता नहीं। वह केवल ईश्वर की एक शक्ति— क्रिया अर्थात् इच्छा—से ही उत्पन्न हो जाता है। इसे इस दर्शन के आरंभ में भी कह चुके हैं। केवल इच्छा से संसार की रचना मानने के लिए सांसारिक बुद्धि प्रस्तुत नहीं होती। इसी के कारण त्रिक-दर्शन की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक-मत है। तंत्र के प्रभाव से इच्छामात्र से क्षण भर में बहुत सी चीजें उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनवगुप्त स्वयं भी एक बड़े तान्त्रिक थे। इसके बिना कोई लौकिक दृष्टान्त देना असंभव है।

इच्छामात्रेण जगन्निर्माणमित्यत्र दृष्टान्तोऽपि स्पष्टं निर्दिष्टः—

१७. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरभावक्रियाकरम्॥ इति।

यदि घटादिकं प्रति मृदाद्येव परमार्थतः कारणं स्यात्तर्हि कथं योगीच्छामात्रेण घटादिजन्म स्यात्? अथोच्येत—अन्य एव मृद्बीजादिजन्या घटाङ्कुरादयो, योगीच्छाजन्यास्त्वन्य एवेति। तत्रापि बोध्यसे—सामग्रीभेदात्तावत्कार्यभेद इति सर्व-जनप्रसिद्धम्।

केवल इच्छा करने से ही संसार का निर्माण हो जाता है, इस विषय में लौकिक दृष्टान्त भी तो स्पष्टरूप से ही दिया गया है—'योगी लोग भी मिट्टी और बीज के बिना ही केवल इच्छा करके घट और अंकुर उत्पन्न कर देते हैं जो [इन्द्रजाल या आभासमात्र नहीं, प्रत्युत] लौकिक घट और अंकुर की तरह स्थिर तथा अपनी-अपनी आवश्यक क्रियाओं (जैसे जल लाना, पेड़ बनाना) के संपादन में भी समर्थ हैं—[ऐसा बहुधा सुना जाता है]॥ १७॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि से) घटादि के कारण मृत्तिकादि ही होते हैं। यह कैसी बात है कि योगियों की इच्छा करने से ही घटादि पदार्थों का जन्म हो जाता है? यहाँ उत्तर यह होगा—जो घट और अंकुर मिट्टी और बीज से उत्पन्न होते हैं वे कुछ दूसरे ही हैं। [योगियों की इच्छा से उत्पन्न होने पर भी दूसरे घड़ों और अंकुरों का संबंध

मिट्टी-बीज से टूटता नहीं। उनका वास्तविक संबंध रहेगा ही।] इसमें भी आपको जानना चाहिए कि सामग्री के भेद से कार्य में भेद पड़ता ही है। यह तो समूचे संसार में प्रसिद्ध है। [जिन घटों का निर्माण मिट्टी से होता है उनमें भी तो सामग्री के भेदके कारण भेद दिखलाई पड़ता है। कम मिट्टी लगाने पर छोटा या पतला घड़ा बनता है, दूसरी मिट्टी का दूसरा ही घड़ा होता है इत्यादि। सामान्य रूप से घट मिट्टी से ही बनता है। विशेष स्थितियों में योगी लोग भी बनाते हैं और ऐसे घटों में पर्याप्त भेद रहता है।]

(८. उपादान कारण और पदार्थों की उत्पत्ति)

ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिरिति, योगी त्विच्छया परमाणून्व्यापारयन् संघटयतीति तेऽपि बोधनीयाः। यदि परिदृष्टकार्यकारणभावविपर्ययो न लभ्येत तर्हि घटे मृद्दण्डचक्रादि देहे स्त्रीपुरुषसंयोगादि सर्वमपेक्ष्येत। तथा च योगीच्छासमनन्तरसंजातघटदेहादिसंभवो दुःसमर्थ एव स्यात्।

जो लोग कहते हैं कि उपादान (material) कारण के बिना घट आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती और उधर योगी अपनी इच्छा से परमाणुओं का संचालन करके उनका नवीन संघटन (Organisation) करता है, ऐसे लोगों को भी यह जानना चाहिए कि यदि कार्य-कारण-संबन्ध (Causal relation) का सुस्पष्ट उल्लंघन (विपर्यय Violation) नहीं हो रहा हो (अर्थात् योगियों की इच्छा के बाद ही कार्य संपादित नहीं होकर विलम्ब से हो) तब तो कार्य के उत्पादन के लिए सभी कारणों के व्यापारों की अपेक्षा रहेगी ही; घट के लिए मिट्टी, डंडा, चाक आदि की आवश्यकता होगी, शरीर-निर्माण के लिए स्त्री-पुरुष के संयोग आदि की आवश्यकता होगी। ऐसा करने पर योगी की इच्छा के तुरत बाद में उत्पन्न होने वाले घट, देहादि की संभावना करना बिल्कुल असंगत ही हो जायगा।

विशेष—इस संदर्भ में उन मतवादियों का उल्लेख किया गया है जो योगियों के कार्य में भी सामान्य-नियम के समान कार्य-कारण-संबंध ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। वे बिना उपादान के कार्योत्पत्ति मानते ही नहीं। यदि योगियों की क्रियाओं में कार्य-कारण संबंध नहीं मिला, तो कार्योत्पत्ति को ये असंगत (baseless) सिद्ध कर देंगे। योगी जो अपनी इच्छा से कार्य उत्पन्न किया करते हैं उनमें भी परमाणुओं का संघटन होता ही होगा। किसी

निर्धन व्यक्ति को योगी आशीर्वाद देकर धनाढ्य बना दें तथा वह व्यक्ति घर आकर देखे कि उसके यहाँ मिट्टी के स्थान पर सोने की दीवाल है तो इस इच्छात्मक आशीर्वाद में भी स्वर्ण के परमाणुओं की क्रिया हुई होगी--किसी भी अवस्था में कार्य लिए कारणसामग्री अपेक्षित ही है, वह चाहे सामान्य कार्य हो या योगी की इच्छा से उत्पन्न कार्य हो।

अब योगियों की इच्छा से उत्पन्न कार्य के भी दो भेद संभव हैं--एक तो वह जब योगियों की इच्छा (आशीर्वाद) के बाद ही कार्य हो जाय और दूसरा वह जब इच्छा के बहुत देर के बाद कार्य उत्पन्न हो। पहली स्थिति में तो कार्य-कारण का संबंध स्थिर करना बड़ा ही कठिन है क्योंकि बेचारे परमाणुओं को संघटित होने का समय कहाँ मिलता है कि उपादान बनकर कार्य उत्पन्न करें। हाँ, दूसरी स्थिति में कल्पना कर सकते हैं कि योगियों की इच्छा के बाद परमाणुओं को संघटित होने का पर्याप्त अवसर मिलता है जिससे वे कार्य उत्पन्न करते हैं। योगी लोग दोनों तरह के कार्य उत्पन्न करते देखे जाते हैं। किसी को देखते ही रोगमुक्त कर देते हैं तथा यथासमय पुत्र होने का भी आशीर्वाद देते हैं। शीघ्र कार्य करने वाले योगियों की इच्छा से कार्य उत्पन्न होने पर कार्य-कारण-भाव की रक्षा तो किसी भी मूल्य पर नहीं हो सकती। देर से होने वाले कार्य में भी अलक्षित परमाणु-व्यापार की कल्पना व्यर्थ ही है। किसी भी स्थिति में योगियों के कार्य में कार्य-कारण-भाव का बड़ा भारी अपमान होता है जो न्यायशास्त्र की दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध है। यही उन मतवादियों का कथन है।

अब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन वाले अपने पक्ष की रक्षा करते हुए, भगवान् की दुहाई देते हुए तथा उनके समक्ष कार्य-कारण-भाव की असंगति को गौण बतलाते हुए उत्तर देंगे।

चेतन एव तु तथा भाति, भगवान् भूरिभगो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लङ्घनघनतरस्वातन्त्र्य इति पक्षे न काचिदनुपपत्तिः। अत एवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः—

१८. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥ इति।

उपर्युक्त असंगति सामान्य चेतन पदार्थों के साथ ही हो सकती है [अर्थात् योगियों के कार्य में आप भले ही असंगति दिखा दें] किन्तु विपुल ऐश्वर्य वाले भगवान् महादेव तो नियति (Nature) का अनुवर्तन या उल्लंघन करने

में बिल्कुल स्वतंत्र हैं, उनके पक्ष में कार्यकारणभाव के विषय में कोई भी असंगति (Difficulty, Impropriety) नहीं होती। [ब्रह्मा नियति या अदृष्ट या सांसारिक नियमों का केवल अनुवर्तन कर सकते हैं, उल्लंघन नहीं। पर ईश्वर के लिए नियति का खंडन बायें हाथ का खेल है---अपनी लीला से ही वे नियति (जैसे---कार्यकारणभाव) को काट सकते हैं। बड़े लोगों के लिए कोई अनुचित कार्य नहीं।]

इसीलिए आचार्य वसुगुप्त ने कहा है--'जो बिना किसी भित्ति (आधार) के [शून्य प्रदेश में] बिना उपकरणों के समूह का सहारा लिए, इस विचित्र संसार की रचना करता है कलाओं के उस स्वामी शूलधारी भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ।'

विशेष—इस मंगल-श्लोक में यह प्रदर्शित है कि महेश्वर को संसार की रचना करने में न किसी आधार की आवश्यकता पड़ती है और न किसी सामग्री की ही। उसकी इच्छा ही क्रिया है, विश्व की रचना है।

(९. विभिन्न प्रश्न—जीव और संसार का संबंध)

ननु प्रत्यगात्मनः परमेश्वराभिन्नत्वे संसारसंबन्धः कथं भवेदिति चेत्—तत्रोक्तमागमाधिकारे—

१९. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते॥ इति।

अब प्रश्न है कि जब प्रत्यगात्मा (जीव Individual self) को परमेश्वर से अभिन्न ही मानते हैं तो जीव का संबन्ध संसार से कैसे होगा ? इसका उत्तर उसी दर्शन में आगमों का वर्णन करनेवाले परिच्छेद में हुआ है—'यह प्रमाता (ज्ञाता जीव) माया से अंधा होकर (ईश्वर के स्वरूप के विषय में ज्ञान न रहने के कारण) कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ संसार में ही रहता है। विद्या (प्रत्यभिज्ञा) आदि के द्वारा जब उसे ऐश्वर्य (ईश्वर के स्वरूप) का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है [कि वह ईश्वर ही है] तब चित् की मूर्ति बनकर [दृक्-शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होकर] वह मुक्त कहलाता है॥ १९॥' [यही जीव और संसार का संबन्ध है कि मुक्ति के पूर्व तक जीव इस संसार में ही विचरण करता रहता है।]

(९. क. प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त में भेद)

ननु प्रमेयस्य प्रमात्रभिन्नत्वे बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को विशेषः ? अत्राप्युत्तरमुक्तं तत्त्वार्थसंग्रहाधिकारे—

२०. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥ इति ।

दूसरा प्रश्न है कि प्रमेय (Knowable) पदार्थ प्रमाता (Knower) से अभिन्न होता है तब प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त जीवों में क्या अन्तर होगा ? [इस प्रश्न का यह आशय है—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट है कि ईश्वर अपनी 'बहु स्याम्' की इच्छा से संपूर्ण जगत् के रूप में स्वयं ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार जीव तो परमेश्वर से अभिन्न हैं ही, पृथ्वी आदि प्रमेय पदार्थ भी ईश्वर से अभिन्न ही हैं। किसी में कोई भेद-भाव नहीं। परिणाम यह होगा कि प्रमेय (पृथ्वी आदि पदार्थ) और प्रमाता (जीव) में भी एकता या अभिन्नता हो जायगी। जीव के दोनों भेद (बद्ध और मुक्त) एक ही प्रकार से प्रमेय का प्रयोग करेंगे। बद्ध और मुक्त जीवों में फिर अन्तर ही क्या रहा ?]

इसका भी तत्त्वार्थों का संग्रह (संकलन) करनेवाले परिच्छेद में दिया गया है—'मुक्त जीव महेश्वर के समान ही सभी प्रमेय पदार्थों (अच्छा-बुरा, सुन्दर-कुरूप, अमृत-विष) को अपनी आत्मा से अभिन्न समझते हुए समान-रूप से देखता है (अर्थात् विषयों में वह भेद-भाव नहीं करता है)। दूसरी ओर, बद्ध जीव [अभेद का ज्ञान न होने के कारण] प्रमेय पदार्थों में कई प्रकार के भेद देखता है (अमृत और विष को एक दृष्टि से नहीं देखता है) ॥ २० ॥'

(१०. प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता—अर्थक्रिया में भेद)

ननु आत्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञा-प्रार्थनया। न हि बीजमप्रतिज्ञातं सति सहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। तस्मात्कस्माद्वात्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्ध इति चेत्—

उच्यते। शृणु तावदिदं रहस्यम्। द्विविधा ह्यर्थक्रिया—बाह्याङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते। द्वितीया तु तदपेक्षत एव।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर हो जाना यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण ही है तो प्रत्यभिज्ञा की प्रार्थना करना तो निरर्थक ही न है ? यदि सारी सहकारी सामग्रियाँ तैयार हों और बीज का प्रत्यक्षीकरण नहीं भी हुआ हो (गुप्त रूप से बीज छीट दिया गया हो) तो क्या अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता ? [बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, अन्य सामग्रियाँ (खेत, पानी, हवा, धूप आदि) तैयार रहें तो वह अवश्य अङ्कुरित होगा। उसी प्रकार, 'मैं ईश्वर हूँ' यह बात जीव को मालूम रहे या नहीं, यदि वह सचमुच ईश्वर का स्वरूप है, जैसा कि आप स्वीकार करते हैं, तो सदा ही मुक्त रहेगा।] तो, किस लिए आप लोग आत्मा की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) के लिए आग्रह (निर्बन्ध) कर रहे हैं ? [इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा को आवश्यकता ही नहीं]।

इस शंका का समाधान हम करते हैं। पहले सुनो, रहस्य यह है। अर्थक्रिया (फल देने वाली क्रिया)* दो प्रकार को होती है—एक तो बाह्य (External) जिसमें अङ्कुर आदि आते हैं, दूसरी [आन्तरिक (Internal)] जिससे ज्ञाता को विश्राम मिल जाने के कारण अपूर्व आनन्द मिलता है तथा जो प्रीति, सन्तोष आदि के रूप में प्रकट होती है। [जब बीज अंकुर उत्पन्न करता है तब भी एक अर्थक्रिया (सफल कार्य) होती है किन्तु यह बाह्य जगत् से बँधी होने के कारण बाह्य अर्थक्रिया है। जब पुत्रजन्म का समाचार सुनने पर आनन्द उत्पन्न होता है तब आभ्यन्तर अर्थक्रिया होती है—यह क्रिया सफल हुई किन्तु अन्तर्जगत् में। ज्ञाता जीव जब बाहरी-भीतरी कामों से छुट्टी पा लेता है तब इससे उत्पन्न चमत्कार या आनन्द आन्तरिक क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण है।]

उनमें पहली अर्थक्रिया को तो प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार, ज्ञान) की आवश्यकता नहीं किन्तु दूसरी (आन्तरिक) अर्थक्रिया को तो ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। [पूर्वपक्षियों ने जो बीज और अंकुर को शिखण्डी बना कर खड़ा किया है वह वास्तव में बाह्य अर्थक्रिया का उदाहरण है। बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, उसका फल मिल ही जायगा, 'अंकुर उत्पन्न हो जायगा' ?। डॉक्टर के यहाँ ली गई दवा ज्ञात रहे या अज्ञात, उसकी अर्थक्रिया (रोगनिवृत्ति) होकर रहेगी। आप जानकर विष खायें या अनजाने, इसका फल मिलकर रहेगा। निष्कर्ष यह है कि बाह्य अर्थक्रिया को प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। रहे तो, नहीं रहे तो—दोनों स्थितियों में फल मिलेगा। किन्तु, पुत्रजन्म की बात, सुनने पर ही, कार्य में लगे हुए मन को भी तुरत विरत करके कुछ देर तक आनन्द नहीं

* देखें सर्वदर्शनसंग्रह में बौद्ध-दर्शन, क्षणिकवाद का प्रसंग, पृ० ३८-५६।

मिल सकता। इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि आन्तरिक अर्थक्रिया उत्पादक का प्रत्यभिज्ञान (Knowledge) होने पर ही उत्पन्न होती है। आत्मा का साक्षात्कार भी आन्तरिक अर्थक्रिया ही है जिसमें ज्ञान होने पर ही फल मिल सकता है। यही आगे सिद्ध किया जायगा।]

इहाप्यहमीश्वर इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षण-जीवात्मैकत्वशक्तिविभूतिरूपार्थक्रियेति स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमपेक्षणीयम्।

ननु प्रमातृविश्रान्तिसाराऽर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना अदृष्टा सती तस्मिन्दृष्टेति क्व दृष्टम्? अत्रोच्यते—नायकगुण-गणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा काचन कामिनी मदनविह्वला विरह-क्लेशमसहमाना मदनलेखावलम्बनेन स्वावस्थानिवेदनानि विधत्ते। तथा वेगात्तन्निकटमटन्त्यपि तस्मिन्नवलोकितेऽपि तदव-लोकनं तदीयगुणपरामर्शाभावे जनसाधारणत्वं प्राप्ते हृदयङ्गम-भावं न लभते। यदा तु दूतीवचनात् तदीयगुणपरामर्शं करोति तदा तत्क्षणमेव पूर्णभावमभ्येति।

यहाँ भी (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में), 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण, परसिद्धि (मोक्ष) और अपरसिद्धि (अभ्युदय) के लक्षण से युक्त, जीवात्मा के साथ [महेश्वर की] एकतारूपी शक्ति (ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति) की विभूति (आनन्द) के रूप में अर्थक्रिया प्राप्त होती है (अर्थात् यह अर्थक्रिया भी आन्तरिक ही है), इसलिए आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना आवश्यक है। [यही कारण है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के द्वारा आत्मा को एकत्व ज्ञान कराया जाता है।]

अब यह प्रश्न है कि वह अर्थ क्रिया जो प्रमाता को विश्राम प्रदान करके आनन्द देने वाली है, वह प्रत्यभिज्ञान (साक्षात्कार Knowledge) के बिना तो अदृष्ट ही रहेगी, प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर उसे देख लेते हैं—ऐसा कहीं किसी ने देखा है क्या? (यह कैसे जानते हैं?)

इसका यह उत्तर होगा। कोई कामिनी किसी नायक के गुण-समूह को केवल सुनकर उससे प्रेम करने लगती है, वह मदनाग्नि से पीड़ित होकर विरह-वेदना को सहने में असमर्थ हो जाती है। किसी प्रकार मदन-लेख (प्रेम-पत्र

Love-letter) भेज कर अपनी अवस्था का निवेदन उस नायक से करती है। यही नहीं, झटपट वह उसके पास दौड़ भी जाती है और उसे देखने लगती है। किन्तु, उसके गुणों के परामर्श (प्रत्यभिज्ञा Recognition) के अभाव में वह स्त्री उस नायक को साधारण आदमी की तरह ही देखती है। फल यह होता है कि उसके हृदय को वह ठीक नहीं लगता (वह आनन्द या संतोष नहीं पाती)। लेकिन जब कोई दूती आकर उसे अपने वाक्यों के द्वारा नायक के गुणों की पहचान करा देती है तब तो वह नायिका तुरत ही पूर्णरूप से प्रेम करने लगती है। [इस दृष्टान्त में यह दिखाया गया कि बिना पहचान कराये कोई किसी में रुचि नहीं ले सकता। इसी दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के द्वारा ही कोई ईश्वर को पहचान सकता है।]

एवं स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये पूर्णभावं न संपादयति। यदा तु गुरुवचनादिना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिलक्षणपरमेश्वरोत्कर्षपरामर्शो जायते तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मतालाभः।

उसी तरह यद्यपि अपनी आत्मा में विश्वेश्वर की आत्मा (स्वरूप) का आभास होता है, किन्तु यह आभास भी ईश्वर के गुणों की पहचान नहीं होने की स्थिति में पूर्णभाव (पूरा संतोष, पूर्णत्व) नहीं दे सकता। लेकिन जब गुरु के वचन आदि से सब कुछ जानने वाले, सब कुछ उत्पन्न करने वाले तथा अन्य गुणों से युक्त परमेश्वर के उत्कृष्ट गुणों की प्रत्यभिज्ञा होती है उसी समय पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की निरर्थकता का खण्डन हो रहा है। यद्यपि आत्मा में ईश्वर का स्वरूप निसर्गतः आभासित होता है तथापि उसकी पहचान कराने के लिए कोई माध्यम (Mediator) तो हो। गुरु की बातों से प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अध्ययन करके परमेश्वर को पहचान लें तभी आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष हो सकता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की आवश्यकता रहेगी ही। इसके बिना मूलतः और परमात्मा एक होने पर भी एक-से नहीं लगेंगे।

(११. उपसंहार)

तदुक्तं चतुर्थे विमर्शे—

२१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।

लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

(ई० प्र० ४।२।२) इति ।

अभिनवगुप्तादिभिराचार्यैर्विहितप्रतानोऽप्ययमर्थः संग्रहमुपक्रममाणैरस्माभिर्विस्तरभिया न प्रतानित इति सर्वं शिवम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे प्रत्यभिज्ञादर्शनम् ॥

जैसा कि चतुर्थ विमर्श में कहा है—'विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के कारण [जो नायक नायिका के] पास आ गया है, उसके पास ही खड़ा भी है किन्तु बिना पहचाने हुए वह (नायिका) अपने प्रिय नायक को दूसरे लोगों के समान ही साधारण व्यक्ति समझ लेती है तथा उसके साथ रमण नहीं करती। उसी प्रकार इस संसार में लोगों की आत्मा में यदि विश्वेश्वर (महेश्वर) के गुणों को जाना नहीं जा सका तो यह (महेश्वर) अपने पूर्ण वैभव (ऐश्वर्य) को नहीं पा सकता। यही कारण है कि इस प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की व्याख्या की जाती है। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्श ४।२।२)।

अभिनवगुप्त तथा दूसरे आचार्यों ने इस दर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किन्तु हम तो यहाँ केवल संकलन (सारांश Summary) कर रहे हैं इसलिए विस्तार के भय से ग्रन्थ को आगे नहीं बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार सब कुछ शिव (कल्याणकारी) हो।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन [समाप्त हुआ]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां प्रत्यभिज्ञादर्शनमवसितम् ॥

(९) रसेश्वर-दर्शनम्

माहेश्वरः कलितकाञ्चनचारुरूपो
रोगक्षपाक्षरणदीप्तदिनेशरश्मिः ।
मोक्षं च जीवति जने तनुतेऽक्षरं यः
पायादपायनिचयात्परपारदोऽसौ ॥—ऋषिः

(१. रस से जीवन्मुक्ति—पारद और उसका स्वरूप)

अपरे माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि, पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय, पिण्डस्थैर्योपायं पारदादिपदवेदनीयं रसमेव संगिरन्ते ।

[उपर्युक्त] महेश्वर-सम्प्रदायों में (= नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा तथा रसेश्वर में) कुछ दूसरे [दार्शनिक] (= रसेश्वर सम्प्रदाय को माननेवाले) यद्यपि परमेश्वर (परमात्मा) के साथ [जीव का] तादात्म्य (एक रूप होना) स्वीकार करते हैं, तथापि सभी [दर्शनकारों से सम्मत जीवन्मुक्ति (= शरीर के रहते हुए जरामरणादि से छूट जाना) शरीर (पिण्ड) की स्थिरता होने से ही मिलेगी—ऐसी आस्था (विश्वास) रखकर, शरीर को स्थिर करने का उपाय रस को, जिसको 'पारद'—आदि शब्दों से भी जानते हैं (पारद = रस), बतलाते हैं ।

विशेष—महेश्वर (शिव) को परम-तत्त्व के रूप में स्वीकार करनेवाले दार्शनिक माहेश्वर कहलाते हैं । सर्वदर्शन-संग्रह में चार माहेश्वरों का वर्णन है—नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर । वे सभी जीवात्मा का परमात्मा से ऐकरूप्य मानते हैं । रसेश्वर-दर्शन इन सबों से इसलिए पृथक् है कि इसमें जीवन्मुक्ति के लिए रस अर्थात् पारद-रस का प्रयोग अनिवार्य माना गया है । पारदरस से शरीर को अजर-अमर कर देते हैं, बिना वैसा किये जीवन्मुक्ति नहीं मिल सकती है । जीवन्मुक्ति वह है जिसमें आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाय, अभ्यास के आधिक्य से मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाय किन्तु प्रारब्ध-कर्म को भोगने के लिए जीव-धारण किया जाय । इसे अपर-मुक्ति भी कहते हैं । सभी दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं, रामानुज आदि नहीं मानते यह दूसरी बात है । रसेश्वर के अनुयायियों का कहना है कि जीवन्मुक्ति का वास्तविक

आनन्द हम लोग ही जानते हैं क्योंकि शरीर को बिना अमर किये अनन्त जीवन्मुक्ति हो नहीं सकती। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार पारद का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है।

रसस्य पारदत्वं संसारपरप्रापणहेतुत्वेन। तदुक्तम्—

१. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः। इति।

रसार्णवेऽपि—

पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः।
२. सुप्तोऽयं मत्समो देवि! मम प्रत्यङ्गसम्भवः।
मम देहरसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते॥ इति॥

संसार [के कष्टों] से [बचाकर] मोक्ष दिलाने के कारण ही रस को पारद (पार + द = मोक्ष देनेवाला) कहते हैं। कहा भी है—'जो संसार (पुनर्जन्म) के दूसरे पार (मोक्ष) की ओर पहुँचा दे वही पारद कहलाता है।' रसार्णव (ई० पू० का एक प्राचीन ग्रन्थ) में भी [कहा है]—इसे पारद कहते हैं क्योंकि उत्तम साधक लोग मोक्ष (चरम लक्ष्य, पर-प्राप्ति) के लिए [इसका प्रयोग करते हैं]। [शिव पार्वती से कहते हैं कि] हे देवि, यह (पारद-रस) मेरे अन्तरङ्ग (प्रत्यङ्ग) से उत्पन्न है, सुप्तावस्था में रहने पर यह मेरे समान ही है, चूँकि यह मेरे शरीर का रस (द्रव-पदार्थ) है इसलिए रस कहा जाता है।'

विशेष—पारद (पारे) को रसशास्त्र में रुद्र का वीर्य माना गया है, इसलिए रसार्णव में शिव-पार्वती-संवाद के अन्तर्गत पारद को शिव अपना देहरस, प्रत्यंगसंभव आदि कह रहे हैं। पारद की उत्पत्ति के लिए देखें—"शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले। तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत्॥ अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्। श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत् क्रमात्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः॥" पारद की सुप्त अवस्था का अर्थ है जब वह मूल रूप में हो, शुद्ध नहीं किया गया हो। ऐसी ही अवस्था में उसकी तुलना शिव से की जाती है।

(२. जीवन्मुक्ति की आवश्यकता)

ननु प्रकारान्तरेणापि जीवन्मुक्तियुक्तौ नेयं वाचोयुक्तिर्युक्तिमतीति चेन्न, षट्स्वपि दर्शनेषु देहपातानन्तरं मुक्तेरुक्ततया तत्र विश्वासानुपपत्त्या निर्विचिकित्सप्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तदप्युक्तं तत्रैव—

३. षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने ।
करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते ।
तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः ॥ इति ।

यदि यह शंका करें कि दूसरे प्रकारों से भी तो जीवन्मुक्ति के उपाय [बतलाये गये] हैं इसलिए यह कथन (= पारद सेवन से शरीर को स्थिर करके जीवन्मुक्त होना) ठीक नहीं है—[तो समाधान यह होगा कि] ऐसी शंका न करें क्योंकि छह दर्शनों में देहपात के बाद मुक्ति का कथन होने से, विश्वास (= ऐसी मुक्ति में) न होकर, [लोगों की] असंदिग्ध (विश्वासपूर्वक) प्रवृत्ति [छह दर्शनों में कहे गये उपायों के प्रति] नहीं हो सकती । यह बात भी वहीं पर (रसार्णव में) कही गई है—'छह दर्शनों में शरीरनाश के बाद ही मुक्ति का निर्देश हुआ है, वह (मुक्ति) हाथ में रखे हुए आँवले की भाँति प्रत्यक्ष-रूप से नहीं मिलती; अतः इस शरीर की रक्षा रसों और रसायनों से करनी चाहिए ।'

विशेष—वाचोयुक्ति=घोषणा, कथन (अलुक् समास) निर्विचिकित्स= निःसंशय, विश्वासपूर्ण । करामलकवत्=हाथ में रखे आँवले की तरह; यह एक लौकिक-न्याय है । जब कोई बात प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो जाती है, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती तब इसका प्रयोग होता है जैसे—शरीरस्य विनाशः करामलकवत् । रस=पारद से बने हुए योग (औषधियाँ) । रसायन=ऐसी औषधि जिससे वृद्धावस्था न आवे । रसेश्वर-दर्शन के विरोध में शंका यह की गई है कि छह दर्शनों में भी जीवन्मुक्ति का वर्णन है, मिथ्याज्ञान के विनाश के बाद सद्ज्ञान से होने वाली मुक्ति का निर्देश सभी लोग करते हैं (रामानुज-आदि इसे नहीं मानते) । तब रसेश्वर-दर्शन का उपक्रम व्यर्थ है । इसके उत्तर में ये कहते हैं—छह दर्शनों में जीवन्मुक्ति का निर्देश होने पर भी वहाँ शरीरनाश के बाद ही वास्तविक मुक्ति का कथन है । इससे मालूम पड़ता है कि जीवन्मुक्ति के प्रति वे लोग विरसता दिखलाते हैं । लोगों में यह भ्रम हो जायगा कि दो प्रकार की मुक्तियाँ कैसी हैं, वे जीवन्मुक्ति या परा-मुक्ति (मृत्यु के बाद) में भी सन्देह करने लग जायँगे और विश्वास के साथ मुक्ति प्राप्त करने में प्रवृत्ति नहीं दिखलायेंगे । सबसे अच्छा है कि रस-रसायन का सेवन करके शरीर को अजर-अमर कर लें और संसार को विश्वास दिलायें । सच तो यह है कि सभी लोग अपनी प्रशंसा करते हैं, दूसरे को निकृष्ट ही समझते हैं । कुलाचार (तांत्रिक-मत) में भी कहा है—

'जीवन्मुक्तावुपायस्तु कुलमार्गो हि नापरः ।'

(३. हर-गौरी की सृष्टि—पारद, अभ्रक)

गोविन्दभगवत्पादाचार्यैरपि—

४. इति धनशरीरभोगान्मत्वानित्यान्सदैव यतनीयम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ॥इति।

ननु विनश्वरतया दृश्यमानस्य देहस्य कथं नित्यत्वमवसीयत इति चेत्—मैवं मंस्थाः। षाट्कौशिकस्य शरीरस्यानित्यत्वेऽपि रसाभ्रकपदाभिलप्यहरगौरीसृष्टिजातस्य नित्यत्वोपपत्तेः।

पूज्य गोविन्द-भगवान् आचार्य जी भी [कहते हैं]—'इस प्रकार धन, शरीर और विलास को अनित्य (क्षणिक) समझ कर मुक्ति के लिए सदा यत्न करना चाहिए, वह (मुक्ति) ज्ञान से होती है, वह (ज्ञान) भी अभ्यास से होता है, अभ्यास तभी सम्भव है जब शरीर स्थायी (नीरोग) हो।' यदि कोई पूछे कि जो देह नश्वर के रूप में दिखाई पड़ती है वह कैसे नित्य बन सकती है; तो [यह शंका] ठीक नहीं–ऐसा मत समझो क्योंकि यद्यपि छह कोशों (त्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि और मज्जा) का बना शरीर अनित्य है तथापि रस और अभ्रक के नामों से अभिहित क्रमशः शिव और पार्वती की सृष्टि से उत्पन्न [देह तो] नित्य हो सकती है।

विशेष—षट्कोश = त्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि और मज्जा जो शरीर को ढँके रहते हैं। इनमें प्रथम तीन माता से तथा बाद के तीन पिता से प्राप्त होते हैं। ये छहों कोश आत्मा के आवरक (ढँकनेवाले, छिपानेवाले) हैं। वेदान्तशास्त्र में भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों की मान्यता है। देखिये—पञ्चदशी (३।१–११)। आयुर्वेदोक्त षट्कोशों से बना शरीर भले ही अनित्य हो परन्तु जब इसमें हर-गौरी की सृष्टि रस (पारद) और अभ्रक का संयोग हो जायगा तब उसे (शरीर को) हम नित्य बना देंगे। पारद शिव की सृष्टि है तथा अभ्रक पार्वती की। इस तरह शरीर नित्य हो जाने पर छह कोशों वाले शरीर का त्याग भी नहीं होगा और उसे दिव्य तथा दृढ़ भी बना दिया जायगा। तब मृत्युभय मिट जायेगा।

तथा च रसहृदये—

५. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येषाम् ॥(१।७)इति।

तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमं दिव्यतनुर्विधेया। हरगौरीसृष्टिसंयोगजनितत्वं च रसस्य हरजत्वेनाभ्रकस्य गौरीसंभवत्वेन तत्तदात्मकत्वमुक्तम्—

६. अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम् ॥ इति।

उसी प्रकार रसहृदय में [कहा गया है]—'जो लोग शरीर को बिना त्यागे हुए ही हर-गौरी की सृष्टि (पारद-अभ्रक) से बना हुआ शरीर पाये हुए हैं, वे रससिद्ध (रसों को सिद्ध करनेवाले) लोक मुक्त हैं, मन्त्रों का समूह तो उनका किंकर (दास) है।' इसलिए जीवन्मुक्ति की कामना करने वाले योगी को पहले दिव्य-शरीर कर लेना चाहिए। रस (पारद) हर से उत्पन्न है, अभ्रक गौरी से; हर-गौरी-सृष्टि के संयोग से उत्पन्न होना तथा उन देवताओं रूप होना [इस श्लोक में] कहा गया है—[शिव पार्वती से कहते हैं]—'अभ्रक तुम्हारा बीज है और मेरा बीज पारद है; हे देवि, इन दोनों का मिलना मृत्यु और दरिद्रता का नाशक है।'

विशेष—रस-हृदय गोविन्द भगवत्पादाचार्य का लिखा हुआ ग्रन्थ है ये आद्य शंकराचार्य के गुरु थे। इनका समय प्रायः ७८० ई० है। यह आयुर्वेद-रसायन-शास्त्र का सुविख्यात ग्रन्थ है। अभ्रक-पारद मेलन से दिव्यशरीर धारण करके मृत्यु का नाश कर सकते हैं, सिद्ध-पारद से विद्ध होने पर लोहा सुवर्ण बन जाता है—इसीसे इसे दरिद्रता का नाशक कहा गया है। 'रससिद्ध' शब्द में श्लेष दिखलाते हुए भर्तृहरि ने नीतिशतक में ऐसे ही मुक्त पुरुषों का संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

(४. रस की सामर्थ्य से दिव्य-देह की प्राप्ति)

अत्यल्पमिदमुच्यते। देवदैत्यमुनिमानवादिषु बहवो रससामर्थ्याद्दिव्यं देहमाश्रित्य जीवन्मुक्तिमाश्रिताः श्रूयन्ते रसेश्वरसिद्धान्ते—

७. देवाः केचिन्महेशाद्या दैत्याः काव्यपुरस्सराः।
मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः ॥

८. गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः ।
चर्वटिः कपिलो व्यालिः कापालिः कन्दलायनः ॥
९. एतेऽन्ये बहवः सिद्धा जीवन्मुक्ताश्चरन्ति हि ।
तनुं रसमयीं प्राप्य तदात्मककथाचणाः ॥ इति ।

यह तो बहुत थोड़ा ही कहा है । रसेश्वर सिद्धान्त में कहा गया है कि देवों, दैत्यों, मुनियों और मनुष्यों में, बहुत लोगों ने, रस की शक्ति से, दिव्य शरीर धारण करके जीवन्मुक्ति पाई है । [वे हैं—] कुछ देवतागण जैसे—महेश इत्यादि, काव्य (शुक्राचार्य) इत्यादि दैत्य; बालखिल्य आदि मुनि, सोमेश्वर आदि राजा, गोविन्द-भगवत्पादाचार्य, गोविन्दनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन—ये तथा दूसरे भी बहुत-से सिद्ध लोग, जीवन्मुक्त होकर [पारद-] रस से बना शरीर पाकर, उस (रस की प्रशंसा) से परिपूर्ण आख्यानों से प्रसिद्ध होकर, विचरण करते हैं ।

विशेष—रसेश्वरसिद्धान्त सोमदेव का लिखा हुआ ग्रन्थ है जिनका समय निर्धारित नहीं हो सका है । महेशाद्याः से अभिप्राय है शैवदर्शन में उक्त विद्येश्वरों का—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्तिक, श्रीकण्ठ शिखण्डी । कथाचणाः = कथाओं से प्रसिद्ध । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (पा० सू० ५।२।२६) से 'कथाभिः वित्तः प्रसिद्धः' इस अर्थ में चणप् प्रत्यय हुआ है । अर्थ होगा—सदा रस की कथा कहने वाले, कथाओं से प्रसिद्ध ।

(५. दो प्रकार के कर्म-योग)

अयमेवार्थः परमेश्वरेण परमेश्वरीं प्रति प्रपञ्चितः—
१०. कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम् ।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः ॥
११. मूर्च्छितो हरति व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि ॥ इति ।

यही अर्थ परमेश्वर (शिव) ने पार्वती को विस्तारपूर्वक समझाया है—'हे देवियों की देवि ! कर्मयोग (क्रियाविधि) से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है, यह कर्मयोग दो प्रकार का है रस (पारद) और वायु (= प्राणवायु) । हे भैरवि ! पारद और पवन मूर्च्छित होने पर रोगों का हरण करते हैं; स्वयं मृत होने पर जिलाते हैं और बद्ध होने पर आकाश में चलने की शक्ति देते हैं ।'

विशेष—कर्मयोग = शरीर के कर्मों को स्थिर करने वाले पदार्थ—पारा और प्राणवायु। प्राणवायु शरीर के अन्दर संचरण करती है। प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को रोक देते हैं जिससे उसमें विशेष गति उत्पन्न हो जाती है तथा यह 'मूर्च्छित' कहलाती है। मूर्च्छित होने से ही रोगनिवारण की शक्ति इसमें आ जाती है। रससिद्ध योगी के रोग नष्ट होते हैं। अधिक निरोध होने पर यह स्वयं मृत हो जाती है तथापि योगियों को अपने से अलग होने नहीं देती—शरीर नित्य हो जाता है। स्तम्भित होने पर आकाश में चलने की शक्ति भी देती है। इस प्रकार न केवल पारद, प्रत्युत प्राणवायु पर भी रससिद्ध योगियों का अधिकार देखा जाता है।

(६. पारद के तीन स्वरूप—मूर्छित, मृत और बद्ध)

मूर्च्छितस्वरूपमुक्तम्—

१२. नानावर्णो भवेत्सूतो विहाय घनचापलम्।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि॥
१३. आर्द्रत्वं च घनत्वं च तेजो गौरवचापलम्।
यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम्॥ इति।

अन्यत्र बद्धस्वरूपमप्यभ्यधायि—

१४. अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम्॥ इति।

मूर्छित [पारद] का स्वरूप यों कहा गया है—"जब पारद (सूत) कई वर्णों का हो और उसमें घनत्व और चंचलता (तरलता) न हो, इस प्रकार के लक्षण दिखलाई पड़ने पर उसे **मूर्छित** (-पारद) कहते हैं। आर्द्र होना, घनत्व, चमक, गुरुत्व और तरलत्व, ये (लक्षण) जिसमें नहीं दिखलाई पड़ें उसे **मृत** सूतक (पारद) समझना चाहिए।" दूसरी जगह (अन्य पुस्तक में) बद्ध (पारद) पारद का स्वरूप भी कहा गया है—"जो क्षयरहित; थोड़ा द्रवित होनेवाला, तेजोमय (चमकीला), स्वच्छ, गुरु (भारी) तथा पुनः आवृत्तिकाल (संस्कार करने के समय) में विकसित होनेवाला—यह बद्ध-पारद का लक्षण है।

(७. रस के अष्टादश संस्कार)

ननु हरगौरीसृष्टिसिद्धौ पिण्डस्थैर्यमास्थातुं पार्यते, तत्सिद्धिरेव कथमिति चेत्—न। अष्टादशसंस्कारवशात्तदुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः—

१५. तस्य प्रसाधनविधौ सुधिया प्रतिकर्मनिर्मलाः प्रथमम् ।
अष्टादश संस्कारा विज्ञातव्याः प्रयत्नेन ॥ इति ।

[ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं कि] यदि [पारद को] हर और गौरी की सृष्टि सिद्ध कर देने पर शरीर को स्थिर करना संभव है, लेकिन इसे सिद्ध कर कैसे सकते हैं ? यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि [पारद] के अष्टादश संस्कारों से ही उसकी उपपत्ति (सिद्धि) हो जाती है। आचार्यों ने कहा है--'उस (पारद) के साधन की विधि में, पहले विद्वानों को, प्रयत्नपूर्वक, प्रत्येक कर्म में निर्मल करने वाले, [पारद के] अठारह संस्कारों को जानना चाहिए।'

विशेष—उपर्युक्त शंका का अभिप्राय यह है—रस और अभ्रक हर-गौरी की सृष्टि है सही, यह भी ठीक है कि उन दोनों को सिद्ध कर लेने पर शरीर अजर-अमर हो जायगा किन्तु हमारा भौतिक शरीर तो रसाभ्रक की तीव्रता को सहन नहीं कर सकेगा—इसीलिए पारद को अठारह कर्मों से संस्कृत करते हैं। इसके बाद वह शरीर के लिए सह्य बन सकता है। प्रतिकर्मनिर्मलाः=अठारह संस्कारों में एक के बाद दूसरे में पारद निर्मल से निर्मलतर होते जाता है।

ते च संस्कारा निरूपिताः—

१६. स्वेदनमर्दनमूर्च्छनस्थापनपातननिरोधनियमाश्च ।
दीपनगमनग्रासप्रमाणमथ जारणपिधानम् ॥
१७. गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिक्षारणसंरागसारणाश्चैव ।
क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म ॥इति ।

तत्प्रपञ्चस्तु गोविन्दभगवत्पादाचार्य-सर्वज्ञरामेश्वरभट्टारक-प्रभृतिभिः प्राचीनैराचार्यैर्निरूपित इति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुदास्यते।

[रस के] उन [अष्टादश] संस्कारों (शुद्ध करने के उपायों) का वर्णन इस प्रकार हुआ है—(१) स्वेदन, (२) मर्दन, (३) मूर्छन, (४) स्थापन, (५) पातन, (६) निरोध, (७) नियम, (८) दीपन, (९) गमन, (१०) ग्रासप्रमाण, (११) जारण, (१२) विधान, (१३) गर्भद्रुति, (१४) बाह्यद्रुति, (१५) क्षारण, (१६) संराग, (१७) सारण तथा (१८) क्रामण और वेध करके भक्षण करना—ये रस के अठारह कर्म हैं। इनकी व्याख्या गोविन्दभगवत्पादाचार्य तथा सर्वज्ञ रामेश्वर आदि प्राचीन आचार्यों ने की है, अतः यहाँ ग्रंथ बढ़ जाने के भय से उसे छोड़ दिया जाता है।

विशेष--पारद के अठारह संस्कारों का वर्णन किसी रसायन-शास्त्र की पुस्तक में देखें। इनमें कितनी प्रक्रियायें तो वैज्ञानिक हैं, आधुनिकता से पूरा मेल रखती हैं। इनका सामान्य अर्थ इस प्रकार है—(१) स्वेदन=आर्द्रता निकाल देना, (२) मर्दन = मसलना, घिसना, (३) मूर्च्छन = घनत्व और तरलता निकाल देना, (४) स्थापन = स्थिर आकार का करना, (५) पातन = गिराना (६) निरोधन = रोकना, (७) नियमन = सीमित करना, (८) दीपन = जलाना (९) गमन = चलना या उड़ाना, (१०) ग्रासप्रमाण = गोली बनाना, (११) जारण = चूर्ण बनाना, (१३) पिधान = ढँक देना, (१३) गर्भद्रुति = आंतरिक परिवर्तन, (१४) बाह्यद्रुति = बाह्य परिवर्तन, (१५) क्षारण = क्षार के रूप में कर देना, (१६) संराग=रँगना, (१७) सारण=छिड़कना, तथा (१८) क्रामण (टुकड़े करके) और वेधन (चीर कर) करके भक्षण करना।

(८. देहवेध और उसकी आवश्यकता

न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यम्। देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

१८. लोहवेधस्त्वया देव यदर्थमुपवर्णितः।
तं देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात्खेचरी गतिः॥
१९. यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता।
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः॥
पूर्वं लोहे परीक्षेत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत्॥ इति।

यह न समझें कि रस-शास्त्र केवल धातुओं के अर्थवाद (स्तुतिपरक लाक्षणिक वाक्य = प्रशंसा) के लिए है क्योंकि परम लक्ष्य तो देहवेध (शरीर में पारे का प्रयोग) से होनेवाली मुक्ति ही है। यह रसार्णव में कहा है--'[पार्वती शिव से पूछती हैं कि] हे देव, जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आपने लोहवेध का वर्णन किया हैं उस देहवेध का वर्णन कीजिए जिससे आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त होती है। [शिव ने कहा]--हे देवि, सज्जनों को चाहिए कि जिस प्रकार लोह में (= रक्त में) पारद का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार देह में भी करें [क्योंकि] शरीर और रक्त दोनों में इसका एक ही रूप रहता है। पहले रक्त में परीक्षा करे फिर देह में प्रयोग करे।

विशेष--अर्थवाद = स्तुति या निन्दा के लिए प्रयुक्त लक्ष्यार्थयुक्त वाक्य, जैसे अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात् = ऐसा करने पर पहाड़ को भी सिर से तोड़ दे

सकता है। इसका लक्ष्यार्थ है कि उसके पास काफी शक्ति हो जायगी। अभिप्राय यह है कि रसशास्त्र में धातुओं की प्रशंसा ही है, सो बात नहीं— उसका अंतिम लक्ष्य है मुक्ति (जीवन्मुक्ति) जो देहवेध से होती है। देहवेध = शरीर को नित्य करना, पारे का शरीर में प्रयोग। लोहवेध = लोह (लहू) पर रस का प्रयोग। जैसे रक्त में प्रविष्ट होने पर पारा रक्त को कांचनवत् दिव्य कर देता है उसी प्रकार देह में प्रविष्ट हो जाने पर उसे भी दिव्य कर देगा।

(९. जीवितावस्था में मुक्ति–देहवेध के विषय में शंका)

ननु सच्चिदानन्दात्मकपरतत्त्वस्फुरणादेव मुक्तिसिद्धौ किमनेन दिव्यदेहसंपादनप्रयासेनेति चेत्—तदेतद्वार्तम्। अवा-र्तशरीरालाभे तद्वार्ताया अयोगात्। तदुक्तं रसहृदये—

२०. गलितानल्पविकल्पः सर्वाध्वविवक्षितश्चिदानन्दः।
स्फुरितोऽप्यस्फुरिततनोः करोति किं जन्तुवर्गस्य॥
(र० हृ० १।२०) इति।

२१. यज्जरया जर्जरितं कासश्वासादिदुःखविशदं च।
योग्यं यन्न समाधौ प्रतिहतबुद्धीन्द्रियप्रसरम्॥
(र० हृ० १।२९) इति।

२२. बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः।
यातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम्॥ इति।

कोई यह पूछ सकता है कि सत् , चित् और आनन्द के रूप में परम-तत्त्व के स्फुरण (साक्षात्कार) से ही जब मुक्ति मिल जाती है तब दिव्य-देह बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयास से क्या लाभ है ? [उत्तर होगा कि] यह तर्क व्यर्थ (वार्त) है क्योंकि वास्तविक (सत्य) शरीर बिना पाये हुए ऐसी बात (आत्मसाक्षात्कार से मुक्ति की बात) हो ही नहीं सकती है। वैसा रसहृदय में कहा है—'सभी विकल्पों को नष्ट करनेवाला तथा सभी प्रस्थानों (दर्शनों) से सम्मत चिदानन्द स्फुरित (प्रकट) होने पर, अप्रकट (अस्थिर) शरीरवाले जीवों पर क्या कर सकता है ? (रसहृदय, १।२०)। जो (शरीर) वृद्धावस्था से जर्जरित (जीर्ण-शीर्ण) हो गया है, जिसमें खाँसी और दमा आदि दुःख पूर्णतया व्याप्त हों, जिसमें ज्ञानेन्द्रियों का प्रसार (गति) कुण्ठित हो जाता हो, वह समाधि के योग्य (शरीर) नहीं है। (र० हृ० १।२९)। मनुष्य

सोलह वर्षों तक तो बालक रहता है, बाद में विषय-रस के आस्वाद में लिपटा रहता है, वृद्ध होने पर विवेक-शून्य हो जाता है, वह मुक्ति कैसे पा सकता है ?'*

(१२. जीवितावस्था में मुक्ति—एक वाद)

ननु जीवत्वं नाम संसारित्वम् । तद्विपरीतत्वं मुक्तत्वम् । तथा च परस्परविरुद्धयोः कथमेकायतनत्वमुपपन्नं स्यादिति चेत्—तदनुपपन्नम् । विकल्पानुपपत्तेः । मुक्तिस्तावत्सर्वतीर्थ-करसंमता । सा किं ज्ञेयपदे निविशते न वा । चरमे शशविषाण-कल्पा स्यात् । प्रथमे न जीवनं वर्जनीयम् । अजीवतो ज्ञातृत्वा-नुपपत्तेः । तदुक्तं रसेश्वरसिद्धान्ते—

२३. रसाङ्कमेयमार्गोक्तो जीवमोक्षोऽन्यथा तु न ।
प्रमाणान्तरवादेषु युक्तिभेदावलम्बिषु ॥

२४. ज्ञातृज्ञेयमिदं विद्धि सर्वतन्त्रेषु संमतम् ।
नाजीवञ्ज्ञास्यति ज्ञेयं यदतोऽस्त्येव जीवनम् ॥ इति ।

कोई पूछ सकता है कि जीव होने का अभिप्राय है संसार के साथ रहना, उससे पृथक् रहने में मुक्ति है। तब परस्पर विरुद्ध [वस्तुओं—जीव और मुक्ति—] का एक आयतन (आधार) में रहना कैसे सिद्ध हो सकता है ? [उत्तर होगा कि] यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि इसमें होनेवाले दोनों विकल्प असिद्ध हो जायँगे । मुक्ति को तो सभी तीर्थंकर (दार्शनिक-सम्प्रदाय के आचार्य) मानते हैं । क्या वह मुक्ति (१) ज्ञेय है या (२) नहीं ? यदि अज्ञेय मानते हैं तो 'खरहे की सींग' जैसे शब्दों की तरह असंभव (कल्पना का विषय) हो जायगी, और यदि पहला विकल्प (मुक्ति को ज्ञेय) मानते हैं तो जीवन को त्याग नहीं सकते क्योंकि बिना जीवन के कोई ज्ञाता बन जायगा—ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते । रसेश्वर सिद्धान्त में कहा है—'रस-शास्त्र (रसेश्वर-दर्शन) में कथित नियम के अनुसार ही जीवन्मुक्ति संभव है, दूसरे किसी प्रकार से नहीं । विभिन्न युक्तियों का अवलम्बन करनेवाले [विभिन्न दर्शनों में] जहाँ [जीवन्मुक्ति को सिद्ध करने के लिए] दूसरे प्रमाण दिये गये हैं, वहाँ भी समझ लो कि सभी

---

* तुलनीय—चर्पटपंजरिका स्तोत्र में—
बालस्तावत्क्रीडासक्तः······।

तंत्रों से सम्मत ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध रहता ही है। ज्ञेय (मुक्ति) को चूँकि जीवन से रहित व्यक्ति नहीं जान सकता, अत: जीवन की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी ही।'

विशेष—ऊपर जीवन्मुक्ति को सिद्ध करने की बड़ी सुन्दर युक्ति है। पूर्व-पक्षियों का कहना है कि जीवित होना (संसार में रहना) और मुक्त होना दोनों विरोधी धारणायें हैं—एक स्थानपर दोनों की सत्ता हो ही नहीं सकती। इसपर उत्तर पक्षी दूसरी ही युक्ति का आश्रय लेते हैं कि मुक्ति की सत्ता यदि है तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध भी रहेगा—मुक्ति ज्ञेय रहेगी, इसका ज्ञाता कोई जीवधारी व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि निर्जीव या मृत व्यक्ति इसे कैसे जान सकेंगे। इसलिए जीवित होना और मुक्त होना—दोनों की सत्ता एक साथ स्वीकार करने में ही कुशल है, नहीं तो ज्ञानमीमांसाविषयक (Epistemo-logical) आपत्तियाँ उठेंगी। यदि मुक्ति को अज्ञेय मानते हैं तब तो यह बिल्कुल कल्पना की वस्तु हो जायगी, दूसरी सत्ता ही नहीं रहेगी। मुक्ति की सत्ता मानने पर जीवन्मुक्ति ही एकमात्र माननी पड़ेगी, विदेह मुक्ति के लिए कोई स्थान नहीं।

(११. शरीर की नित्यता—इसके प्रमाण)

न चेदमदृष्टचरमिति मन्तव्यम्। विष्णुस्वामिमतानुसारिभिर्नृपञ्चास्यशरीरस्य नित्यत्वोपपादनात्। तदुक्तं साकारसिद्धौ—

२५. सच्चिन्नित्यनिजाचिन्त्यपूर्णानन्दैकविग्रहम्।
नृपञ्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसंमतम्॥ इति।

ऐसा भी न समझें कि यह (देह का नित्यत्व) पहले से देखा नहीं गया है। विष्णुस्वामी के मत पर चलने वाले लोग नरसिंह (नृ + पंचास्य = पंचानन) के शरीर को नित्य सिद्ध करते हैं। जैसा कि साकारसिद्धि में कहा गया है—सत्, चित्, नित्य के स्वरूप में, निज (अपना), अचिंतनीय, और पूर्ण आनन्द ही के रूप में जिनका एकमात्र शरीर (विग्रह) है, वैसे नरसिंह की वन्दना करता हूं जो श्रीविष्णुस्वामी से संमत हैं।

विशेष—सत्=जिसकी सत्ता है, सदा प्रकाशित है। चित् = शुद्ध ज्ञान स्वरूप। नित्य = सदा संसार में विद्यमान, त्रिकाल में अबाधित। निज = आत्मस्वरूप। पूर्णानन्द = आत्म-साक्षात्कार के समय-जैसा आनन्द जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैध मिट जाय। विग्रह = शरीर। यह ध्येय है कि वे सारे विशेषण ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के लिए अद्वैत-मत में युक्त होते हैं।

नन्वेतत्सावयवं रूपवदवभासमानं नृकण्ठीरवाङ्गं सदिति न संगच्छत इत्यादिनाक्षेपपुरःसरं सनकादिप्रत्यक्षं, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (श्वे० ३।१४) इत्यादि श्रुति,—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् ।
(भाग० १०।३।९),

इत्यादिपुराणलक्षणेन प्रमाणत्रयेण सिद्धं नृपञ्चाननाङ्गं कथमसत्स्यादिति सदादीनि विशेषणानि गर्भश्रीकान्तमिश्रैर्विष्णुस्वामिचरणपरिणतान्तःकरणैः प्रतिपादितानि । तस्मादस्मदिष्टदेहनित्यत्वमत्यन्तादृष्टं न भवतीति पुरुषार्थकामुकैः पुरुषैरेष्टव्यम् । अत एवोक्तम्—

२६. आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥ इति ।

[अब प्रश्न हो सकता है कि] नरसिंह के दिखलाई पड़ने वाले शरीर को जिसमें अवयव (अंग-प्रत्यंग) तथा रूप (आकृति या रंग) भी हैं, सत्तायुक्त कहना संगत नहीं है। इस आक्षेप के बाद—(१) सनकादि ऋषियों के प्रत्यक्ष के आधार पर, (२) 'सहस्र सिर वाले पुरुष' —इस वैदिक प्रमाण के आधार पर तथा (३) 'उस विचित्र, कमलनयन, चारभुजाओंवाले, तथा शंख, गदा आदि आयुधों वाले बालक को' (कृष्ण के वर्णन में, भागवत १०।३।९)—इस प्रकार के पौराणिक-लक्षणों के आधार पर, तीन प्रमाणों से सिद्ध होने पर भी नरसिंह का शरीर कैसे असत् होगा। यही कारण है कि सत् आदि (चित्, नित्य, निज आदि) विशेषणों का प्रतिपादन, विष्णुस्वामी के चरणों में अपने अन्तःकरण को लगाने वाले उनके शिष्य श्रीकान्त मिश्र ने किया है। इसलिए हमारा प्रतिपाद्य विषय जो देह का नित्यत्व है वह बिल्कुल नहीं देखा गया, ऐसी बात नहीं—यह पुरुषार्थ की कामना करने वाले व्यक्ति खोज लें। इसीसे कहा है—'सभी विद्याओं का समूह तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल एक मात्र अजर और अमर शरीर को छोड़ कर, दूसरा क्या [हो सकता है] ?*

* तुल० कालिदास, कुमार०—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (५।३३)।

(१२. पारद-रस के सेवन से जरामरण से मुक्ति)

अजरामरीकरणसमर्थश्च रसेन्द्र एव। तदाह—

एकोऽसौ रसराजः शरीरमराजमरं कुरुते। इति।
किं वर्ण्यते रसस्य माहात्म्यम्।
दर्शनस्पर्शनादिनापि महत्फलं भवति।

अजर और अमर करने की सामर्थ्य रसराज (पारद) में ही है। उसे कहा है—'एक रसराज ही शरीर को अजर, अमर करता है।' रस की महिमा क्या कही जाय ? देखने और छूने से भी बड़ा फल मिलता है।

(१३. पारद-लिंग की महिमा)

तदुक्तं रसार्णवे—

२७. दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य भक्षणात्स्मरणादपि।
पूजनाद्रसदानाच्च दृश्यते षड्विधं फलम्॥

२८. केदारादीनि लिङ्गानि पृथिव्यां यानि कानिचित्।
तानि दृष्ट्वा तु यत्पुण्यं तत्पुण्यं रसदर्शनात्॥

इत्यादिना।

अन्यत्रापि—

२९. काश्यादिसर्वलिङ्गेभ्यो रसलिङ्गार्चनाच्छिवः।
प्राप्यते येन तल्लिङ्गं भोगारोग्यामृतप्रदम्॥ इति।

वैसा ही रसार्णव में कहा गया है—'उसके देखने से, छूने से, खाने से या केवल स्मरण से भी, इसकी पूजा करने से या स्वाद लेने से छह प्रकार के फल मिलते हैं। पृथ्वी में केदार आदि या दूसरे जो भी लिंग (शिवलिंग) हैं, उन्हें देखने से जो पुण्य होता है, वह रस (पारद) के दर्शन से भी मिलता है।' दूसरी जगह भी—'काशी-आदि [सभी तीर्थों] के लिङ्गों से बढ़कर रसरूपी लिंग की अर्चना से शिव (देवता या कल्याण) की प्राप्ति होती है क्योंकि वह लिंग भोग, आरोग्य और अमरता प्रदान करनेवाला है।*

---

* तुलनीय—पारदं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
यो यजेत्पारदं लिङ्गं स एष शम्भुरव्ययः॥
(अभ्यंकरटीका में उद्धृत)।

रसनिन्दायाः प्रत्यवायोऽपि दर्शितः—

३०. प्रमादाद्रसनिन्दायाः श्रुतावेनं स्मरेत्सुधीः ।
द्राक्त्यजेन्निन्दकं नित्यं निन्दया पूरिताशुभम् ॥ इति ।

[पारद-] रस की निन्दा करने का कुपरिणाम दिखलाया गया है—'विद्वान् यदि प्रमादवश रस की निन्दा कर दे तो अपने मन में [उसके परिहार के लिए] इस (पारद) का स्मरण कर ले । निन्दक को सदा के लिए तुरत छोड़ दे क्योंकि वह अपनी निन्दा के चलते पापपूर्ण है ।'

(१४. पुरुषार्थ और ब्रह्म-पद)

तस्मादस्मदुक्तया रीत्या दिव्यं देहं संपाद्य योगाभ्यासवशात्परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थप्राप्तिर्भवति । तदा—

३१. भ्रूयुगमध्यगतं यच्छिखिविद्युत्सूर्यवज्जगद्भासि ।
केषांचित्पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं ज्योतिः ॥
३२. परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिःस्वभावमविकल्पम् ।
विगलितसकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्वसंवेद्यम् ॥
३३. तस्मिन्नाधाय मनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत्पश्यन् ।
उत्सन्नकर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाप्नोति ॥
(र० हृ० १।२१-२३) ।

इस प्रकार हमारे संप्रदाय में कही गई विधि से दिव्य-शरीर बनाकर, योग (ब्रह्म के साथ एकता की स्थापना) के अभ्यास के द्वारा परमतत्त्व देख लेने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । तब—'दोनों भौंहों के बीच में स्थित रहने वाली तथा जो अग्नि विद्युत् तथा सूर्य की तरह संसार को प्रकाशित करती है वह चित् (चेतनता) के स्वरूप में वर्त्तमान ज्योति किन्हीं-किन्हीं ही पुण्य (पवित्र) दृष्टि वाले (व्यक्तियों) के समक्ष खुलती (प्रकाशित होती) है (३१) । परम आनन्द की प्राप्ति कराने वाला, एक (अद्वैत) रस से परिपूर्ण, परमतत्त्व-के रूप में, ज्योति ही जिसका स्वरूप है, जिसमें किसी विकल्प (पक्षान्तर) का स्थान नहीं जिससे सभी क्लेश (कष्ट) निकल जाते हैं, जो ज्ञान का विषय है, शान्त है, अपने में ही अनुभव की वस्तु है (३२)—उसमें अपने मन को लगाकर, प्रकाशित होने वाले समस्त चिन्मय संसार को देखते हुए मनुष्य, सभी कर्म-बन्धनों के नष्ट हो जाने पर यहीं (पृथ्वी में) ब्रह्मत्व प्रात कर लेता है (३३) ।' (रसहृदय १।२१–२३) ।

(१५. रस और परब्रह्म में समता—रसस्तुति)

श्रुतिश्च—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।७।१) इति। तदित्थं भवदैन्यदुःखभरतरणोपायो रस एवेति सिद्धम्। तथा च रसस्य परब्रह्मणा साम्यमिति प्रतिपादकः श्लोकः—

३४. यः स्यात्प्रावरणाविमोचनधियां साध्यः प्रकृत्या पुनः
संपन्नः सह तेन दीव्यति परं वैश्वानरे जाग्रति ॥
ज्ञातो यद्यपरं न वेदयति च स्वस्मात्स्वयं द्योतते
यो ब्रह्मेव स दैन्यसंसृतिभयात्पायादसौ पारदः ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रसेश्वरदर्शनम्।

वैदिक प्रमाण भी है—'वह (परमातमा) रस ही है। वह (पुरुष) रस (पारद) को पाकर आनन्दी (मुक्त) होता है' (तैत्तिरीय० २।७।१)। तो इस प्रकार भव (आवागमन) तथा दैन्य-दुःख के भार से बचने का उपाय रस ही है, यह सिद्ध हुआ। उसी प्रकार 'रस की समता परब्रह्म से है' यह सिद्ध करनेवाला श्लोक [देखें]—'प्रावरण [भ्रान्ति] से मुक्ति पाने की इच्छावाले व्यक्ति स्वभावतः जिसकी साधना करते हैं, फिर [यह पारद] पूर्ण हो जाने से, वैश्वानर के जागृत होने पर उसी के साथ खेलता भी है, जो स्वयं ज्ञात होने पर भी दूसरों को ज्ञात नहीं कराता, अपने आप प्रकाशित होता है, जो ब्रह्म के समान है वह पारद दीनता और संसार के आवागमन के भय से हमें बचावे।'

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वर-दर्शन [समाप्त हुआ]।

विशेष—उपर्युक्त श्लोक में पारद की स्तुति की गई, जिसमें इसे ब्रह्म के सारे रहस्य-वादी विशेषण दे दिये गये हैं। गफ ने अपने अनुवाद में दूसरी पंक्ति यों रखी है—संपन्नः सहते न दीव्यति० अर्थात् पारद सम्पन्न होने पर सहता नहीं और जागृत वैश्वानर होने पर खेलता भी नहीं।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य
प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां रसेश्वरदर्शनमवसितम्।

---

(१०) औलूक्य-दर्शनम्

भावाः षडेव मुनिना विहितास्तदन्ते
चान्योऽप्यभाव इति सप्तपदार्थशास्त्रम् ।
सामान्यवर्णनपरोऽपि विशेषरूपो-
ऽसौ नित्यमेव जयति प्रथितः कणादः ॥

—ऋषिः ।

(१. दुःखान्त के लिए परमेश्वर का साक्षात्कार)

इह खलु निखिलप्रेक्षावान् निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारमुपायमाकलयति ।

१. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात् ।

इस संसार में जितने बुद्धिमान् लोग हैं वे दुःख का त्याग करना चाहते हैं क्योंकि दुःख का अनुभव करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है और इस दुःख की सत्ता का अनुभव सभी लोग अपनी आत्मा में करते ही हैं। उस दुःख के विनाश के लिए कोई उपाय जानना चाहते हैं और निदान उन्हें परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही उपाय के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिए निम्नलिखित रूप में प्राप्त वचन प्रमाण होते हैं—'जब चमड़े की तरह आकाश को भी लोग ढँकने लग जायँगे तभी शिव (परमेश्वर) को जाने बिना ही दुःख का अन्त भी होने लगेगा। (श्वेता० ६।२०)। [जिस प्रकार चमड़े को ढँकते हैं उसी प्रकार आकाश को नहीं ढँक सकते। शिव के ज्ञान के बिना मुक्ति पाना और आकाश को ढँकना तुल्य है। दोनों ही असंभव कार्य हैं।]*

---

* इस ढंग से कहना अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद है। यदि ऐसी-ऐसी (असंभव) बातें हों तभी इस तरह का कार्य संभव है। कालिदास पार्वती के स्मित का वर्णन करते हैं—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

विशेष—औलूक्य-दर्शन को मुख्यतया लोग वैशेषिक के रूप में जानते हैं। इसके प्रवर्तक कणाद ऋषि थे जो रास्ते पर गिरे हुए अन्न-कणों को चुनकर उन्हें ही खाकर अपनी जीविका चलाते थे। इनके कणाद या कणभक्ष (कण + अद् या भक्ष् = खाना) नाम पड़ने का यही रहस्य है। उदयनाचार्य की किरणावली के अनुसार ये कश्यप-गोत्र के ब्राह्मण थे। वायु पुराण में इन्हे प्रभास तीर्थ का निवासी, सोमशर्मा का पिता एवं शिव का अवतार माना गया है। परम्परा है है कि ये उलूक ऋषि के पुत्र थे इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूक के पुत्र का) दर्शन कहते हैं। यह भी जनश्रुति है कि कणाद तपस्या कर रहे थे जब कि उन्हें स्वयम् ईश्वर ने उलूक का रूप धारण करके छह पदार्थों का उपदेश दिया था इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूकेन प्रोक्तम्) कहते हैं।

इस दर्शन के 'वैशेषिक' नाम पड़ने के बहुत–से मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अन्य शास्त्रों से, विशेषतया सांख्य से, विशेषता होने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। दूसरे कहते हैं कि गौतम के प्रतिपादित १६ पदार्थों में धर्म और धर्मी का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण उनका परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाते हुए सुव्यवस्थित रूप से द्रव्य, गुण आदि ७ पदार्थों का ही वर्णन कणाद ने किया है। इस विशेष उद्देश्य से आगे बढ़ने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। किन्तु ये सारे कारण कपोल-कल्पनायें हैं। सच तो यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ पर अधिक जोर देकर इसका समीचीन विवेचन करने के कारण ही इसे वैशेषिक-दर्शन कहते हैं (व्यासभाष्य १।४९ योगसूत्र)।

वैशेषिक-दर्शन और न्याय-दर्शन समानतंत्र कहलाते हैं क्योंकि दोनों में सिद्धान्त की अत्यधिक समता है। दोनों का साहित्य भी समान रूप से ही चलता है। जो लोग न्याय के विद्वान् हैं वे वैशेषिक के भी हैं। एक का भी नाम लेना होता है तो न्याय-वैशेषिक ही कहते हैं। फिर भी वैशेषिक साहित्य की विपुलता अपना स्वतंत्र स्थान रखती है।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

(कु० १।४४)

इसी तरह शिशुपाल वध में कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥

। (शि० व० ३।८)

इस दर्शन का आरंभ **कणाद** से वैशेषिक सूत्रों से होता है जिसमें १० अध्याय (प्रत्येक के दो-दो आह्निक) और ३७० सूत्र हैं। इस पर **प्रशस्तपाद** का तथाकथित भाष्य है जो एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही है। इसे **पदार्थधर्मसंग्रह** भी कहते हैं। वैशेषिक सिद्धान्तों की स्पष्टतर विवेचना होने के कारण इस ग्रन्थ का बहुत अधिक प्रचार हुआ। इसका वही स्थान है जो पाणिनि व्याकरण में सिद्धान्त-कौमुदी का या सांख्य दर्शन में सांख्यकारिका का। बाद की सारी टीकायें इसी पर लिखी गई (प्रशस्तपाद का समय ४५० ई० है)। इसकी टीकाओं में **व्योमशिवाचार्य** (९८०) की **व्योमवती, उदयनाचार्य** (९८४) की **किरणावली, श्रीधर** की **न्यायकन्दली, श्रीवत्स** (१०२५) की **लीलावती** मुख्य हैं। इन टीकाओं पर भी एकाधिक टीकायें हैं।

कणाद के सूत्रों पर एक रावणभाष्य भी मिलता है किन्तु सबसे प्रौढ टीका है **शंकरमिश्र** की। शंकर (१४२५) मिथिला के बहुत बड़े विद्वान् तथा सुप्रसिद्ध भवनाथ मिश्र (अयाची मिश्र) के पुत्र थे। इनका निवासस्थान सरिसव (दरभंगा) में था। इन्होंने कणादसूत्र पर **उपस्कार**-टीका, प्रशस्तपाद-भाष्य पर **कणादरहस्य**-टीका, आमोद (न्याय-कुसुमांजलि की टीका), कल्प-लता (आत्मतत्त्वविवेक की टीका), आनन्दवर्धन (खण्डनखण्डखाद्य की टीका), भेदरत्नप्रकाश (श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने वाला ग्रन्थ) इत्यादि अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त भरद्वाज, जयनारायण, नागेश (१७१४) तथा चन्द्रकान्त (१८८०) ने कणादसूत्र की वृत्तियाँ भी लिखीं।

वैशेषिक-दर्शन पर स्वतंत्र ग्रंथों में ज्ञानचन्द्र (६००) की **दशपदार्थी,** उदयन की **लक्षणावली, शिवादित्य** (१०५०) की **सप्तपदार्थी, वल्लभन्यायाचार्य** (११५०) की **न्यायलीलावती** तथा **लौगाक्षिभास्कर** (१३२५) की तर्ककौमुदी हैं। इन पर कई टीकायें अन्य आचार्यों की हैं।

प्रसिद्धि की दृष्टि से **विश्वनाथ न्यायपञ्चानन** का **भाषा-परिच्छेद** तथा **अन्नंभट्ट** का **तर्कसंग्रह** अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा-परिच्छेद पर लेखक (१६३४) की ही टीका **न्यायसिद्धांतमुक्तावली** है जिस पर रुद्र, दिनकर, त्रिलोचन आदि आचार्यों की टीकायें हैं। रामरुद्र ने तो दिनकरी पर भी टीका लिखी है। अन्नंभट्ट (१६९०) ने अपने तर्कसंग्रह पर स्वयं दीपिका टीका लिखी जिस पर नीलकंठ की प्रकाश-टीका और उस पर भी लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया टीका है! तर्कसंग्रह पर बहुत-सी दूसरी टीकायें भी हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं। तर्कसंग्रह न्यायवैशेषिक के अध्ययन का प्रथम सोपान है। इसकी शैली अत्यन्त सुबोध, सरल और संक्षिप्त है। इस प्रकार वैशे-षिक-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख करने से इसकी 'विशेषता' प्रकट होती है।

परमेश्वरसाक्षात्कारश्च श्रवणमननभावनाभिर्भावनीयः। यदाह-

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ इति।

तत्र मननमनुमानाधीनम्। अनुमानं च व्याप्तिज्ञानाधीनम्। व्याप्तिज्ञानं च पदार्थविवेकसापेक्षम्। अतः पदार्थषट्कम् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै० सू० १।१।१) इत्यादिकायां दशलक्षण्यां कणभक्षेण भगवता व्यवस्थापितम्।

परमेश्वर का साक्षात्कार (ज्ञान), श्रवण (शास्त्र का), मनन (चिन्तन) तथा भावना (अन्तःकरण में ध्यान करना, निदिध्यासन, Meditation) के द्वारा पाया जा सकता है। जैसा कि कहा गया है—'आगम से, अनुमान से तथा ध्यानाभ्यास के बल से—इस प्रकार तीन तरह से अपनी बुद्धि को परमेश्वर के विषय में लगाकर साधक उत्तम योग प्राप्त करता है।' [आगम और श्रवण समानार्थक (अनर्थान्तर) हैं। गुरु के पास से परमेश्वर के स्वरूप तथा उसके गुणों के विषय में श्रवण करना परमेश्वर-ज्ञान का प्रथम सोपान है। इस श्रवण में आप्त (प्रामाणिक) वाक्य या आगम की आवश्यकता पड़ती है इसलिए इसे **आगम** भी कहते हैं। जो बात सुन चुके हैं उनमें दृढ़ता लाने या अच्छी तरह उनपर विश्वास करने के लिए अनुमान के नियमों के अनुसार युक्तिपूर्वक चिन्तन करना भी आवश्यक ही है। यही चिन्तन मनन कहलाता है। चूँकि इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए इसे **अनुमान** भी कह देते हैं। श्रवण और मनन के पश्चात् उस अर्थ का बार-बार ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से वह बात हृदय में बैठ जाती है। यही **भावना** है। जिस मार्ग से सामान्यपदार्थ का श्रवणादि होता है उसी मार्ग से ईश्वर के विषय का भी। जब बुद्धि ईश्वरविषयिणी हो जाती है उसी समय उत्तम योग अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त होता है।]

[अब इन तीनों उपायों में] मनन अनुमान पर निर्भर करता है और स्वयम् अनुमान व्याप्ति (Universal relation) के ज्ञान पर। व्याप्ति का ज्ञान भी पदार्थों की पारस्परिक विवेचना (Discussion) की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि छह पदार्थों की व्यवस्था भगवान् कणाद ने दस लक्षणों (अध्यायों) से युक्त [अपने वैशेषिकदर्शन में] की है जिस (दर्शन) का आरम्भ-सूत्र है—अब इसलिए (हम) धर्म की व्याख्या करेंगे (वैशेषिक सूत्र १।१।१)।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक वाक्य आया है—'तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (३।८) अर्थात् उस परमेश्वर को इस रूप में जानकर लोग मृत्यु (दुःख) के बन्धन से छूट जाते हैं, कोई दूसरा मार्ग इससे निकलने का नहीं है। इस श्रुति को ही आधार मानकर वैशेषिक लोग परमेश्वर-साक्षात्कार को ही एकमात्र उपाय बतलाते हैं जिससे मृत्यु से निकल जा सकते हैं। इस साक्षात्कार (Knowledge) के लिए तीन परस्पर क्रमबद्ध उपाय हैं—श्रवण, मनन और भावना। प्रस्तुत दर्शन का सम्बन्ध न तो श्रवण से है न भावना से। मनन और विशेषतया उसकी पद्धति का निरूपण करना ही न्याय-वैशेषिक का लक्षण है। मनन के लिए अनुमान और अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान आवश्यक है। व्याप्तिज्ञान के लिए पदार्थों का विवेचन महर्षि कणाद करते हैं। न्याय में मनन की पद्धति—अनुमान—का विशद विचार होता है जब कि वैशेषिक-दर्शन में उस अनुमान की सफलता के लिये पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। दोनों इस दृष्टि से एक दूसरे की सहायता करते हैं। इन दर्शनों के द्वारा ईश्वर की उपासना ही होती है क्योंकि इनकी सारी चर्चायें मनन के अन्तर्गत आती हैं। उदयनाचार्य अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि (१।१३) में कहते हैं—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥

अर्थात् 'मनन' (Thought) शब्द से अभिहित यह न्यायचर्चा श्रवण के अनन्तर आती है तथा इससे ईश्वर की उपासना ही होती है। यहाँ न्यायचर्चा का अर्थ है अनुमान क्योंकि वही न्याय में विशेष रूप से चर्चित होता है।

कणाद ने अपने सूत्रों में केवल छह पदार्थों का निरूपण किया है। वे हैं—द्रव्य (Substance), गुण (Quality), कर्म (Action), सामान्य (Generality), विशेष (Particularity) और समवाय (Inherence)। प्रशस्तपाद में अभाव (Non-existence) को भी सप्तम पदार्थ (Category) के रूप में स्वीकार किया गया है। तबसे पदार्थ सात माने गये हैं। भावात्मक (Positive) पदार्थ छह ही हैं। इसकी संख्या पर आगे मूल में ही विचार करेंगे। कणाद के दस अध्यायों वाले सूत्र-ग्रन्थ को 'दशलक्षणी' (= दशाध्यायी) कहा गया है। कणाद के पास कुछ ऐसे शिष्य आये जो विधिवत् वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन कर चुके थे, असूया (दोषान्वेषण की प्रवृत्ति) से शून्य थे और इस प्रकार 'श्रवण' कर चुके थे। मनन के लिए आये हुए इन शिष्यों पर परम कारुणिक भगवान् कणाद प्रसन्न हो गये और उन्होंने वैशेषिक-

दर्शन की रचना की। उसका प्रथम सूत्र यही है—**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**। इस सूत्र में 'अथ' शब्द के द्वारा मंगल या आनन्तर्य (Subsequence) का बोध होता है अर्थात् शिष्यों की जिज्ञासा के पश्चात्। अतः = इसलिए। चूँकि श्रवणादि में निपुण, असूया रहित शिष्य लोग आये हैं इसलिए ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप में जो धर्म है उसकी व्याख्या अब करेंगे। धर्म का लक्षण दूसरे ही सूत्र में दिया गया है—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (१।१।२)। जिससे अभ्युदय (स्वर्ग, तत्त्वज्ञान, लौकिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो वही धर्म है। यहाँ 'धर्म' शब्द अपने शास्त्रीय विषय के अर्थ में लिया गया है!

अब कणाद-सूत्रों की विषय-वस्तु पर विचार आरम्भ होता है।

(२. वैशेषिक-सूत्र की विषय-वस्तु)

तत्राह्निकद्वयात्मके प्रथमेऽध्याये समवेताशेषपदार्थकथनमकारि। तत्रापि प्रथमाह्निके जातिमन्निरूपणम्। द्वितीयाह्निके जातिविशेषयोर्निरूपणम्।

आह्निकद्वययुक्ते द्वितीयेऽध्याये द्रव्यनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमेऽध्याये भूतविशेषलक्षणम्। द्वितीये दिक्कालप्रतिपादनम्।

आह्निकद्वययुक्ते तृतीय आत्मान्तःकरणलक्षणम्। तत्राप्यात्मलक्षणं प्रथमे। द्वितीयेऽन्तःकरणलक्षणम्। आह्निकद्वययुक्ते चतुर्थे शरीरतदुपयोगिविवेचनम्। तत्रापि प्रथमे तदुपयोगिविवेचनम्। द्वितीये शरीरविवेचनम्।

प्रथम अध्याय में, जिसमें दो आह्निक (एक दिन का पाठ = आह्निक) हैं, उन सभी पदार्थों का वर्णन है जो समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से युक्त हैं। [समवाय-सम्बन्ध का अर्थ है नित्य-सम्बन्ध, जो कभी भिन्न न हो। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इतने पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध होता है। द्रव्य अपने अवयवों में समवेत रहता है, गुणों और कर्मों का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य के साथ रहता है, क्योंकि गुण और कर्म से युक्त होना द्रव्य-सामान्य का लक्षण ही है। सामान्य तो जाति को ही कहते हैं, जिसका समवाय-सम्बन्ध उपर्युक्त तीनों से है। विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत रहते हैं। अवयवहीन परमाणुओं को तथा आकाश आदि को भी यद्यपि समवेत नहीं कह सकते हैं किन्तु नित्य द्रव्यों के साथ उनका समवाय-सम्बन्ध होता है। इसी अर्थ में वे समवेत हैं। षष्ठ पदार्थ समवाय

समवेत नहीं होता है क्योंकि यदि उसे समवेत मानें तो किसी में समवेत होगा। उसका किसी के साथ समवाय होगा—फिर उसका भी दूसरा समवाय होगा। ऐसा करते-करते कहीं अन्त नहीं होगा, अनवस्था हो जायगी। इसलिए प्रथम पाँच पदार्थ ही समवेत होते हैं।]

उसमें भी प्रथम आह्निक में उन पदार्थों का निरूपण हुआ है जिनकी जाति (सामान्य, Class) होती है (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म का)। द्वितीय आह्निक में सामान्य (जाति) और विशेष का निरूपण किया गया है।

दो आह्निकों वाले द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में भूतों (क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के लक्षण हैं और दूसरे में दिशा तथा काल का निरूपण है। [स्मरणीय है कि द्रव्य नव हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। इनमें प्रथम सात का वर्णन द्वितीय अध्याय में ही हो गया है।]

तृतीय अध्याय में जिसमें दो आह्निक हैं, आत्मा और अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय = मन) के लक्षण हैं। इनमें भी प्रथम आह्निक में आत्मा का लक्षण है, द्वितीय में अन्तःकरण का। [इस प्रकार द्रव्यों की विवेचना समाप्त होती है।] दो आह्निकों वाले चतुर्थ अध्याय में शरीर और उसके उपयोगी तत्त्वों (Adjuncts, जैसे—परमाणुकारणता आदि) का वर्णन है। प्रथम आह्निक में शरीर के उपयोगियों का ही वर्णन है और दूसरे आह्निक में शरीर का विवेचन है।

आह्निकद्वयवति पञ्चमे कर्मप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे शरीरसंबन्धिकर्मचिन्तनम्। द्वितीये मानसकर्मचिन्तनम्। आह्निकद्वयशालिनि षष्ठे श्रौतधर्मनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमे दानप्रतिग्रहधर्मविवेकः। द्वितीये चातुराश्रम्योचितधर्मनिरूपणम्।

दो आह्निकों वाले पंचम अध्याय में कर्म का प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रथम आह्निक में शरीर से निष्पन्न होने वाले कर्मों का विचार हुआ है, दूसरे आह्निक में मानसिक कर्मों का चिन्तन (विचार) किया गया है। दो ही आह्निकों से विभूषित षष्ठ अध्याय में श्रुतियों में प्रतिपादित धर्म का निरूपण किया गया है। जिसमें प्रथम आह्निक में दान (दान करना) और प्रतिग्रह (दान लेना)—इन दो धर्मों पर विचार किया गया है। द्वितीय आह्निक में चारों आश्रमों के लिए उचित धर्म का निरूपण हुआ है।

तथाविधे सप्तमे गुणसमवायप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे बुद्धिनिरपेक्षगुणप्रतिपादनम्। द्वितीये तत्सापेक्षगुणप्रतिपादनं समवायप्रतिपादनं च।

अष्टमे निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षप्रमाणचिन्तनम्। नवमे बुद्धिविशेषप्रतिपादनम्। दशमेऽनुमानभेदप्रतिपादनम्।

उसी प्रकार के विभाजनवाले सप्तम अध्याय में गुणों और समवाय का प्रतिपादन हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में उन गुणों का प्रतिपादन हुआ है जो बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते (रूप, रस, गंध आदि)। द्वितीय आह्निक में बुद्धि की अपेक्षा रखने वाले गुणों (द्वित्व, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि) का तथा इसीमें सामान्य का भी प्रतिपादन हुआ है। [द्वित्व, एकत्व, बहुत्व आदि को संख्या कहते हैं, वह भी बुद्धि पर निर्भर करती है। इसका विशद विचार आगे करेंगे।]

अष्टम अध्याय में निर्विकल्पक (Indeterminate) तथा सविकल्पक (Determinate) प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण हुआ है। नवम अध्याय में बुद्धि के विशेषों (भेदों) का वर्णन है। दशम अध्याय में अनुमान के भेदों का वर्णन है। [यह आश्चर्य है कि नवम और दशम अध्यायों के विषय में माधवाचार्य इतने भ्रम में हैं। वास्तव में नवम अध्याय में अतीन्द्रिय संयोगादि से होने वाले प्रत्यक्ष का तथा अनुमान का वर्णन है। दशम में सुख-दुःखादि आत्मा के गुणों का वर्णन एवं त्रिविध कारण का भी प्रतिपादन हुआ है। माधव के भ्रम का कारण समझ में नहीं आता !]

(३. शास्त्र की प्रवृत्ति—उद्देश, लक्षण, परीक्षा)

तत्रोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः (वात्स्यायन० १।१।१)। ननु विभागापेक्षया चातुर्विध्ये वक्तव्ये कथं त्रैविध्यमुक्तमिति चेत्—मैवं मंस्थाः। विभागस्य विशेषोद्देशरूपत्वात् उद्देश एवान्तर्भावात्। तत्र द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया इति षडेव ते पदार्था इत्युद्देशः।

[वात्स्यायन का कहना है कि] इस शास्त्र (न्याय-वैशेषिक) की प्रवृत्ति (प्रतिपादन) तीन प्रकार से होती है—उद्देश (Enumeration, गणना) लक्षण (Definition) और परीक्षा (लक्षणों का आरोपण, Exami-

nation)। [वस्तु का केवल नाम ले लेना या गिना देना ही **उद्देश** कहलाता है जैसे यह कहना कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, ये छह पदार्थ हैं। **लक्षण** में वस्तु के उस धर्म का उल्लेख करते हैं जिसके द्वारा वह वस्तु अन्य सजातीय वस्तुओं से पृथक् की जाय जैसे—द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण हों। **परीक्षा** के द्वारा यह विचार होता है कि उक्त प्रकार से दिये गये लक्षण प्रस्तुत वस्तु में ठीक हैं कि नहीं। न्याय-वैशेषिक के प्रतिपादन की एक अपनी विशेषता है कि इन तीन विधियों से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसमें भी परीक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है जिसके कारण ये दर्शन अत्यन्त तार्किक माने जाते हैं। यही नहीं, अन्य शास्त्रों पर भी जब विपत्ति आती है तब वे अपनी सुरक्षा के लिए तर्क-शास्त्र का ही आश्रय लेते हैं और पूर्वपक्षियों की खबर इसी परीक्षा के द्वारा लेते हैं।]

[अब प्रश्न यह है कि इन तीन विधियों के अतिरिक्त इनमें] विभाग को भी रखकर चार प्रकार की शास्त्रप्रवृत्ति का वर्णन करना उचित था, आप तीन ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ क्यों मानते हैं? ऐसा न समझें क्योंकि विभाग भी एक तरह का उद्देश ही तो है। [जब वस्तुओं का नाम-ग्रहण करते हैं तब विभाजन या वर्गीकरण (Classification) करके ही तो नाम लेते हैं, यों ही मनमाने ढंग से तो नहीं।]* इसलिए विभाग को उद्देश के अन्दर ही रख लेते हैं। वैशेषिक-दर्शन में उद्देश यही है—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इस प्रकार ये छह ही पदार्थ हैं।'

किमत्र क्रमनियमे कारणम् ? उच्यते। समस्तपदार्थायतनत्वेन प्रधानस्य द्रव्यस्य प्रथममुद्देशः। अनन्तरं गुणत्वोपाधिना सकलद्रव्यवृत्तेर्गुणस्य। तदनु सामान्यवत्त्वसाम्यात्कर्मणः। पश्चात्त्रितयाश्रितस्य सामान्यस्य। तदनन्तरं समवायाधिकरणस्य विशेषस्य। अन्तेऽवशिष्टस्य समवायस्येति।

यहाँ पदार्थों की गणना कराते समय एक विशेष क्रम देखते हैं उसका क्या कारण है? कहते हैं—सारे पदार्थों का आधार होने के कारण प्रमुख रूप से

---

* उद्देश दो प्रकार का है—**सामान्य** जैसे, द्रव्य गुण कर्मादि पदार्थों की गणना तथा **विशेष** जैसे, पृथ्वी, जल, तेज आदि द्रव्य के भेदों की गणना। गुणों की गणना कराते समय 'विभाग' नाम आता है इसलिए विशेष उद्देश (अवान्तर भेद के अन्तर्गत) होने से विभाग को पृथक् नहीं लेते। उद्देश में ही इसे समझ लेते हैं।

विद्यमान द्रव्य का उद्देश (नामग्रहण) पहले हुआ है। [नींव का ज्ञान पहले करके तब भवन का निर्माण होता है, मनुष्य को जानने पर ही उसके धर्मों का, जैसे स्थूलता आदि का, ज्ञान प्राप्त करते हैं। धर्म का ज्ञान पीछे होता है, धर्मी का पहले। इसी प्रकार सभी पदार्थों का साक्षात् या परंपरा से आधार द्रव्य ही है। गुण और कर्म का तो वह साक्षात् आधार है। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि के रूप में जो सामान्य है उसका भी वह सीधा आधार है। हाँ, गुण और कर्म की जाति (सामान्य) अर्थात् गुणत्व और कर्मत्व आदि के लिए उसे (द्रव्य को) गुण-कर्म का सहारा लेना पड़ता है—गुणत्व और कर्मत्व क्रमशः गुण और कर्म में हैं और द्रव्य इन दोनों का आधार है। विशेषों का भी साक्षात् आधार द्रव्य ही है। समवाय का कहीं तो वह साक्षात् आधार होता है कहीं गुणादि के द्वारा। तात्पर्य यह है कि द्रव्य या तो सभी पदार्थों का साक्षात् आधार है या परंपरा से आधार है। प्रमुख होने के कारण द्रव्य को पहले रखते हैं।]

इसके बाद गुणत्व उपाधि के रूप में सभी द्रव्यों में पाये जानेवाले **गुण** का नाम है। [गुण का अर्थ अप्रधान होता है इसलिए द्रव्य की अपेक्षा अप्रधान रूप से विद्यमान रहनेवाले गुणों को द्रव्य के बाद रखते हैं। यद्यपि गुण, कर्म आदि पाँचों पदार्थों को समान रूप से अप्रधान (गुण) कहा जा सकता है किन्तु वैशेषिक लोग रूप, रस आदि को ही सांकेतिक रूप से गुण कहते हैं। गुण का सामान्य अर्थ बहुत व्यापक होने पर भी शास्त्रीय-दृष्टि से एक विशेष पदार्थ को ही गुण कहते हैं जो सभी द्रव्यों में रहता है। इसका यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि सभी द्रव्यों में सभी गुण रहते हैं—पृथ्वी में रूप, रस आदि नहीं है, न बुद्धि ही है। किन्तु कोई-न-कोई गुण सभी द्रव्यों में रहता ही है। यह सौभाग्य अन्य पदार्थों को नहीं। यही कारण है कि द्रव्य के पश्चात् और अन्य पदार्थों के पहले गुण का नाम लिया जाता है।]

इसके बाद **कर्म** का उद्देश होता है क्योंकि [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में) सामान्य की सत्ता रहती है, यही समानता है। [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में जाति (Class) रहती है। इसलिए तीनों को एक साथ ही रखना चाहिए ; द्रव्य, गुण अपने विशिष्ट कारणों से पहले आ चुके हैं। अवशिष्ट कर्म ही है इसलिए गुण के बाद उसे रखते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्येय है कि गुण, कर्म के बीच गुण को प्रधानता मिलती है क्योंकि गुणों की पहुँच (वृत्ति) सभी द्रव्यों तक रहती है, कर्म बेचारे कुछ ही द्रव्यों तक पहुँच पाते हैं—आकाश, काल, दिशा, आत्मा इन विभु द्रव्यों में कर्म पहुँच नहीं सकते। गुणों की

अपेक्षा कर्म द्रव्य के पास पैरवी पहुँचाने में पिछड़ जाते हैं इसलिए गुणों के उपरान्त ही इनका स्थान होता है।]

इसके बाद इन तीनों में आश्रय लेनेवाले **सामान्य** या जाति का उद्देश होता है। [ऊपर कह चुके हैं कि आधार के बाद ही आधेय पदार्थ आते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों ही सामान्य के लिए आधार हैं। इसलिए वे सामान्य की अपेक्षा प्रधान हैं। दूसरों के भरोसे जीनेवाला पहले नहीं रह सकता। पहले उसके आश्रयदाता का नाम रहेगा—तभी उसका नाम रहेगा। यही कारण है कि सामान्य इन तीनों के अन्त में आता है।]

इसके अनन्तर समवाय के आधार के रूप में अवस्थित **विशेष** का नाम लेते हैं और अन्त में बचे हुए **समवाय** का नाम आता है—यही क्रम है। [विशेष और समवाय को सबसे पीछे डालने का यह कारण है कि इनका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थों से अप्रत्यक्ष पदार्थ पीछे रहेंगे ही। अब ये दोनों निर्णय करें कि कौन पहले रहेगा, कौन पीछे ? फिर आधार-आधेय का संबंध हो गया। समवाय आधेय है, विशेष आधार। आधार पहले होता है, आधेय पीछे। बस, विशेष के बाद समवाय का नाम है।]

(४. पदार्थों की संख्या—छह या सात ?)

ननु षडेव पदार्था इति कथं कथ्यते ? अभावस्यापि सद्भावात् इति चेत्—मैवं वोचः। नञर्थानुल्लिखितधीविषयतया भावरूपतया षडेवेति विवक्षितत्वात्। तथापि कथं षडेवेति नियम उपपद्यते ? विकल्पानुपपत्तेः। नियमव्यवच्छेद्यं प्रमितं न वा ? प्रमितत्वे कथं निषेधः ? अप्रमितत्वे कथंतराम् ?

अब यह प्रश्न है कि आप कैसे कहते हैं कि पदार्थ छह ही हैं ? अभाव की भी तो सत्ता है [जिसे सातवाँ पदार्थ मानते हैं]। इस प्रश्न पर हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। निषेधात्मक (नञर्थ के द्वारा उल्लिखित या बोधित) प्रतीति (ज्ञान, धी, प्रत्यय, Knowledge) को हम अपना विषय नहीं मानते तथा भाव-रूप (भावात्मक Positive) [प्रतीति को ही हम विषय] मानते हैं इसलिए हमारी विवक्षा (कहने की इच्छा) से ही छह पदार्थ माने गये हैं। [नञर्थ के रूप में निषेध को समझ लेने के लिए अभाव भी एक पृथक् पदार्थ रहे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इस अभाव के द्वारा किसी वस्तु की असत्ता का ही तो बोध होगा, सत्ता का तो नहीं। हम सत्ता का विश्लेषण करना चाहते

हैं इसलिए अभाव नहीं स्वीकार करके छह ही पदार्थ मानते हैं जो सब के सब भावात्मक हैं।]

फिर भी प्रश्न हो सकता है कि यह नियम आप कहाँ से लाते हैं कि पदार्थ केवल छह ही हैं। [इसकी सिद्धि के लिए दिये गये] दोनों विकल्प असिद्ध हो जायँगे। देखिए—इस नियम से [कि पदार्थ छह ही हैं] व्यावृत्त किया जाने वाला (being excluded) [सप्तम पदार्थ] प्रमाणों से सिद्ध है कि नहीं? [तात्पर्य यह है कि जब आप 'छह ही' में 'ही' का प्रयोग करते हैं तब अवश्य किसी आगामी पदार्थ को निकाल बाहर (व्यावृत्त) करते हैं, यह बहिष्करण जिसका हो रहा है उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण है या नहीं। या तो सप्तम पदार्थ प्रमाणसिद्ध होगा या असिद्ध। दोनों ही अवस्थाओं में आप पकड़े जाते हैं।]

यदि वह (सप्तम पदार्थ) प्रमाणों से सिद्ध है तब उसका निषेध क्यों कर रहे हैं? [प्रमाण से सिद्ध पदार्थ तो सदा स्वीकार्य है, उसका निषेध नहीं हो सकता।] यदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि नहीं हो रही हो तब तो निषेध करना और भी कठिन है। [असिद्ध या असत् वस्तु का निषेध करने में अपना समय कौन मूर्ख नष्ट करेगा?]

न हि कश्चित्प्रेक्षावान्मूषिकविषाणं प्रतिषेद्धुं यतते। ततश्चानुपपत्तेर्न नियम इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः। सप्तमतया प्रमितेऽन्धकारादौ भावत्वस्य, भावतया प्रमिते शक्तिसादृश्यादौ सप्तमत्वस्य च निषेधादिति कृतं विस्तरेण।

कोई भी ऐसा विचारशील व्यक्ति नहीं होगा जो चूहे की सींग (असिद्ध वस्तु) का निषेध करने में अपने सारे पाण्डित्य का खर्च करे। [मूषिक-विषाण प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही असिद्ध है दूसरों की तो बात ही क्या? इसलिए असिद्ध वस्तु का निषेध करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?] इस प्रकार दोनों विकल्पों की असिद्धि के कारण 'छह ही' पदार्थ होने का नियम आप नहीं लगा सकते।

[इस प्रश्न का उत्तर यह होगा—] ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि आप लोग अन्धकार या किसी ऐसी ही अभावात्मक चीज में सप्तम पदार्थ की कल्पना करते हैं तब तो हम अपने भावात्मक पदार्थों में इसे ले ही नहीं सकते [क्योंकि भावात्मक पदार्थ में अन्धकार नहीं आ सकता, वह निषेधात्मक है। और हम केवल भावपदार्थों को ही स्वीकार कर रहे हैं]। यदि दूसरी ओर आप लोग भाव के रूप में सिद्ध शक्ति, सादृश्य आदि को ही सप्तम पदार्थ मानते हैं तो यह सप्तम पदार्थ नहीं, [वास्तव में हमारे भावात्मक पदार्थों में ही उसकी सत्ता है।] अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

विशेष—पदार्थों की संख्या छह मानने का कारण वे यह बतलाते हैं कि भावात्मक पदार्थ छह ही होंगे। यदि किसी अभावात्मक वस्तु को सातवाँ पदार्थ मानते हैं तो भाव का प्रतियोगी होने के कारण हमारी परिभाषा (भावरूप पदार्थ) में वह पदार्थ नहीं होगा, यदि किसी भावात्मक वस्तु को ही सातवाँ पदार्थ मानते हैं तब तो वह हमारे भावात्मक पदार्थों के बीच ही कहीं-न-कहीं स्थान पा सकेगा। हमारा वर्गीकरण इतना व्यापक (exhaustive) है कि सभी भाव इसमें आ जायँगे, फिर सप्तम पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। किसी प्रकार छह से अधिक भाव-पदार्थ नहीं होंगे।

'षडेव' (छह ही) कहने से न केवल सप्तम पदार्थ का निषेध होता है, न केवल भाव का, प्रत्युत सप्तमत्व से विशिष्ट भाव का निषेध होता है। दूसरे शब्दों में यह कहें कि सातवाँ भाव पदार्थ ही नहीं है। केवल सप्तम पदार्थ तो अन्धकार आदि हैं ही, पर ये भाव तो नहीं हैं। अन्धकार का अर्थ है तेज का अभाव। शक्ति और सादृश्य यद्यपि भाव हैं, पर ये केवल भाव हैं, सातवें नहीं है। छह में ही इन्हें स्थान मिलता है। शक्ति के विषय में लोग प्रश्न करते हैं कि जब हथेली पर दाहशक्ति को रोकने वाले मणि आदि पदार्थ रखे रहते हैं तब अग्नि का संयोग होने पर भी हाथ नहीं जलता। यदि खाली हाथ रहे तो जल जाय। इस नियम से लगता है कि शक्ति भी कोई अतिरिक्त पदार्थ है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अग्नि का दाह-कारण होना ही **शक्ति** है (अग्नेर्दाहं प्रति कारणतैव शक्तिः)। प्रतिबन्धक का अभाव तो सभी कार्यों में कारण रहता है जिसे पाश्चात्त्य तर्कशास्त्र में Negative Condition कहते हैं इसलिए अग्नि में ही शक्ति है अतिरिक्त तो कुछ नहीं। आधुनिक विज्ञान में शक्ति को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। **सादृश्य** भी भिन्न पदार्थ नहीं है इसका अर्थ है—किसी पदार्थ से भिन्न रहने पर उसमें वर्तमान धर्मों को धारण करना (तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम्)। वैशेषिक लोग भाव पदार्थों का विचार करते समय इन वस्तुओं को कभी नहीं भूलते।

(५. छह पदार्थों के लक्षण—द्रव्यत्व और गुणत्व)

तत्र द्रव्यादित्रितयस्य द्रव्यत्वादिजातिर्लक्षणम्। द्रव्यत्वं नाम गगनारविन्दसमवेतत्वे सति, नित्यत्वे सति, गन्धासमवेतत्वम्। गुणत्वं नाम समवायिकारणासमवेतासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः।

उनमें द्रव्य आदि प्रथम तीन पदार्थों के लक्षण हैं द्रव्यत्व आदि के सामान्य (जाति) से युक्त होना। [द्रव्य उसे कहते हैं जो द्रव्यत्व-जाति का हो, गुण गुणत्व-जाति का होता है तथा कर्म कर्मत्व-जाति का। इस प्रकार अपने-अपने सामान्य के द्वारा ये लक्षित होते हैं। अब इनके सामान्यों के लक्षण पृथक्-पृथक् नैयायिक-भाषा में दिये जायँगे जिसमें प्रत्येक शब्द और विशेषण साभिप्राय रहेगा, उसके अभाव में लक्षण के अशुद्ध हो जाने की संभावना है।]

द्रव्यत्व का लक्षण—जब आकाश के साथ तथा अरविन्द के साथ अलग-अलग कोई पदार्थ समवेत हो, वह नित्य भी हो तथा गन्ध के साथ समवेत (नित्यरूप से सम्बद्ध, inherent) न हो तो उसे ही द्रव्य-सामान्य कहते हैं।

[अब इस लक्षण की व्याख्या करें। द्रव्य-सामान्य (द्रव्यत्व) से द्रव्य का लक्षण किया जाता है। इसलिए इस द्रव्य-सामान्य को समझना आवश्यक है। द्रव्य-सामान्य के लक्षण में तीन टुकड़े हैं—(१) गगन तथा अरविन्द के साथ समवेत होना, (२) नित्य होना तथा (३) गन्ध के साथ समवेत न होना। गगनारविन्द को वेदान्तियों के समान आकाश का कमल न समझें। यहाँ द्वन्द्व-समास है। द्वन्द्व होने के कारण 'समवेत' शब्द का सबन्ध दोनों पदों के साथ होगा। (द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते)। द्रव्य का समवाय (अपरिहार्य, नित्य) सबन्ध गगन-जैसे नित्य द्रव्य से तथा कमल जैसे क्षणिक द्रव्य के साथ भी है, भले ही सम्बन्ध नित्य है। आकाश तो द्रव्य में है ही, कमल की गणना पृथ्वी में होती है। समूह का सम्बन्ध अपने प्रत्येक व्यक्ति से रहता ही है। दूसरे, द्रव्य का सामान्य नित्य भी है क्योंकि जाति या सामान्य नित्य होता है। व्यक्ति के विनाश के बाद भी जाति की सत्ता रहती है। अन्त में, यह द्रव्य-सामान्य गन्ध से अ-समवेत रहता है क्योंकि गन्ध गुण है। द्रव्यत्व की वृत्ति गुणों में नहीं होती, द्रव्यों में ही होती है।

अब हम लक्षण के शब्दों की अनिवार्यता पर विचार करें। (१) यदि लक्षण से **'गगन से समवेत रहना'** यह विशेषण हटा दें तो पृथिवी-जाति (पृथिवीत्व) का भी लक्षण बन जायगा, केवल द्रव्यत्व का लक्षण नहीं रहेगा। दूसरे शब्दों में, पृथिवीत्व में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। पृथिवी-सामान्य अरविन्द से समवेत होता है तथा नित्य भी होता है (सामान्य होने के कारण)। पुनः गन्ध का समानाधिकरण (पृथिवी-सामान्य) गन्ध में होगा ही नहीं जिससे यह गन्धासमवेत भी है। पृथिवी-सामान्य गगन से समवेत नहीं होता (जो हमने हटा ही दिया है), केवल पृथिवी में पृथिवीत्व की वृत्ति

रहती है। इसलिए 'पृथिवीत्व' का ही लक्षण हो गया। (२) यदि लक्षण से **'अरविन्द से समवेत रहना'** हटा दें तो यह गगन में वर्तमान एकत्व-संख्या का भी लक्षण हो जायगा। एकत्व-संख्या गगन से समवेत रहती है, नित्य भी है। एकत्व-संख्या नित्य द्रव्य में रहने पर नित्य है, अनित्य में रहने पर अनित्य होती है—यहाँ आकाशगत है इसलिए नित्य है। गन्ध से इसे कुछ लेना-देना है ही नहीं क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण आ नहीं सकता। अरविन्द से भी यह समवेत नहीं होती। अरविन्द में भी एकत्व है पर वह एकत्व आकाश के एकत्व की अपेक्षा भिन्न है। इस प्रकार ऐसी स्थिति में एकत्व-संख्या का लक्षण हो गया। (३) यदि लक्षण से **'नित्य होने पर'** यह विशेषण निकाल दें तो गगन और अरविन्द दोनों में विद्यमान द्वित्वसंख्या का भी लक्षण बन जायगा। द्वित्व-संख्या गगन और अरविन्द दोनों में समवेत है, गुण होने के कारण दूसरे गुण गन्ध से इसका सम्बन्ध ही नहीं। हाँ, यह नित्य नहीं है। द्वित्व आदि संख्याएँ सर्वत्र अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती हैं इसलिए अनित्य हैं। (इसके विचार के लिए आगे देखें।) निदान, यह लक्षण द्वित्व-संख्या का हो गया। (४) अन्त में यदि लक्षण से **'गन्ध से समवेत न रहना'** यह विशेषण निकाल दें तो यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में अधिष्ठित सत्ता का भी लक्षण हो जायगा। सत्ता गगन और अरविन्द में तो है ही, नित्य भी है। लेकिन यह गुणों में भी है, अतः गन्ध से असमवेत नहीं हो सकती। लक्षण से वह पद निकल जाने पर इसकी प्राप्ति हो ही जायगी।

लक्षण ऐसा हो जो लक्ष्य से न तो अधिक को व्याप्त करे, न कम को। अधिक को व्याप्त करने पर अतिव्याप्ति-दोष (Too-wide definition) होता है, कम को व्याप्त करने पर अव्याप्ति-दोष (Fallacy of too-narrow definition) होता है। उपयुक्त पदों को निकाल देने से लक्षण सदैव अपने लक्ष्य से अधिक को समेट लेता है—द्रव्यत्व के साथ-साथ कभी तो पृथिवीत्व का, कभी एकत्व का, कभी द्वित्व का और कभी सत्ता का भी लक्षण यह बन जाता है, अर्थात् अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। इससे बचने के लिए प्रत्येक पद रखना अनिवार्य है।]

गुणत्व का लक्षण—गुण-सामान्य उस जाति को कहते हैं जो [द्रव्य, गुण, कर्म में अधिष्ठित] सत्ता के द्वारा सीधे ही व्याप्त हो सके, समवायि-कारण (द्रव्य) से समवेत नहीं रहे तथा असमवायि-कारण से भिन्न किसी भी पदार्थ (जैसे—आत्मा के गुण) से समवेत हो।

[गुणत्व के लक्षण में भी तीन विशेषण हैं—(१) ऐसी जाति जो समवायि-कारण से समवेत न हो, (२) जो असमवायि-कारण से भिन्न किसी

पदार्थ से समवेत हो तथा (३) जो सत्ता के द्वारा सीधे (साक्षात्, परंपरा से नहीं) व्याप्त हो सके। **समवायि-कारण** उसे कहते हैं जिसके समवेत होने या मिलने पर कार्य उत्पन्न होता है, जैसे—पट के लिए तन्तु, घट के लिए मिट्टी आदि। समवायि-कारण कोई द्रव्य ही होता है। द्रव्य में गुणत्व नहीं रहता, वह किसी गुण में ही रह सकता है अर्थात् गुणत्व द्रव्य से समवेत नहीं होता है। **असमवायि-कारण** उसे कहते हैं जो कार्य या कारण के साथ किसी वस्तु के मिल जाने पर कारण के रूप में आवे, जैसे—पट में तन्तुओं के मिलने (समवेत होने) पर उन तन्तुओं का संयोग पटरूपी कार्य के लिए कारण है।* असमवायि-कारण से भिन्न आत्मा के विशेष गुण होते हैं क्योंकि आत्मा के गुण कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकते। इन गुणों से गुणत्व समवेत रहता है। सत्ता तीन पदार्थों में है—द्रव्य, गुण, कर्म। इसके द्वारा साक्षात् तीन जातियों को व्याप्त किया जा सकता है—द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व। पृथिवीत्व आदि द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त होते हैं, सत्ता के द्वारा परंपरा से। सत्ता पहले द्रव्यत्व को व्याप्त करती है, फिर द्रव्यत्व पृथिवीत्व को व्याप्त करता है। इसीको 'परंपरया व्याप्तिः' कहते हैं। इसीलिए गुण-सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् व्याप्य है। और भी पदार्थ—द्रव्यत्व, कर्मत्व—सत्ता से व्याप्त होते हैं पर अन्य विशेषण गुण-सामान्य को उनसे पृथक् कर देते हैं। लक्षण में दो चीजें दी जाती हैं—एक तो सामान्य-धर्म (Genus), दूसरा विशेष-धर्म (Differentia)। तीसरा विशेषण सामान्य-धर्म है, प्रथम दोनों विशेषण विशेष-धर्म हैं।

अब विशेषणों की उपयोगिता पर दृष्टिपात करें। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस लक्षण में जो सामान्य-धर्म है वह गुणत्व, द्रव्यत्व और कर्मत्व तीनों के लिए समान है। यह तो इसका विशेष-धर्म है जो उन दोनों से गुणत्व को पृथक् करता है। इसलिए यदि विशेष धर्मों में से कोई हटता है तो लक्षण द्रव्यत्व या कर्मत्व को व्याप्त कर लेगा। (१) यदि लक्षण से हम यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुणसामान्य) समवायि-कारण अर्थात् द्रव्य से असमवेत रहता है', तो यह लक्षण द्रव्यत्व को अतिव्याप्त कर लेगा। द्रव्य का सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप से व्याप्य होता है तथा असमवायि-कारण से भिन्न द्रव्य में समवेत भी होता है। द्रव्य कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकता इसलिए द्रव्य में समवेत होने के कारण द्रव्यत्व 'असमवायिकारणभिन्न-समवेत' है ही। हाँ, यह समवायिकारण (द्रव्य) से असमवेत नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यत्व

* इनके अतिरिक्त, इन दोनों से भिन्न निमित्त-कारण (Efficient Cause) भी होता है जैसे— पट-कार्य के लिए जुलाहा, करघा, डंडा आदि।

द्रव्य (समवायि-कारण) में अवस्थित रहता है इस प्रकार यदि पहला विशेषण उक्त लक्षण से हटा दें तो यह द्रव्यत्व का भी लक्षण बन जायगा। (२) यदि उक्त लक्षण से यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुण-सामान्य) असमवायिकारण से भिन्न (आत्मा के विशेष-गुण जैसे--ज्ञान, बुद्धि) वस्तुओं से समवेत होता है', तो यह कर्मत्व को अतिव्याप्त (include) कर लेगा। कर्म का सामान्य सत्ता के द्वारा तो साक्षाद् व्याप्त होता ही है, समवायि-कारण (द्रव्य) से असमवेत भी रहता है। कर्म और द्रव्य में समवाय-संबंध तो है नहीं। केवल एक बात है कि कर्मत्व असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु से समवेत नहीं रहता। सभी कर्म असमवायि-कारण हैं क्योंकि उनका संबन्ध संयोग या विभाग से अनिवार्यतः होता है असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में कर्म की कल्पना ही असंभव है। (३) अब यदि अंतिम विशेषण कि 'यह सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप में व्याप्य होता है', हटा दें, तो ज्ञानत्व आदि में ही अतिव्याप्ति हो जायगी। ज्ञानत्व की वृत्ति ज्ञान में रहती है, समवायि-कारण (द्रव्य) में नहीं। इसलिए ज्ञानत्व समवायि-कारण से असमवेत है। यह असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में समवेत भी है क्योंकि ज्ञान आदि आत्मा के विशेष गुण हैं, ये असमवायि-कारण नहीं हो सकते—असमवायि-कारण से भिन्न स्थान में, जैसे-ज्ञान में इनकी वृत्ति होती है। किन्तु इस ज्ञान को सत्ता साक्षात् रूप से व्याप्त नहीं करती। गुण के द्वारा ज्ञान सीधे व्याप्त होता है, सत्ता के द्वारा परम्परा से। इस प्रकार गुणत्व का शुद्ध लक्षण यदि चाहते हैं, कोई पद हटा नहीं सकते।]*

(५ क. कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय)

कर्मत्वं नाम नित्यासमवेतत्वसहितसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः। सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम्। विशेषो नामान्योन्याभावविरोधिसामान्यरहितः समवेतः। समवायस्तु समवायरहितः संबन्धः इति षण्णां लक्षणानि व्यवस्थितानि।

---

* गुणत्व के लक्षण में एक दूसरा पाठ भी है—**समवायिकारणासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः** अर्थात् गुणत्व वह है जो सत्ता के द्वारा साक्षाद् व्याप्य हो, समवायि-कारण या असमवायि-करण से भिन्न पदार्थों से समवेत हो। द्रव्य समवायि-कारण है, उससे गुण भिन्न है। संयोग-विभाग असमवायि-कारण हैं, गुण उनसे भी भिन्न है। दोनों पाठ एक ही अर्थ पर आते हैं।

कर्म की जाति वह है जो नित्य पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध के साथ विद्यमान न हो तथा सत्ता के द्वारा सीधे-सीधे व्याप्त होती हो। [यह स्मरणीय है कि द्रव्यत्व या गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत होते हैं—द्रव्यत्व जाति परमाणु, आकाश आदि नित्य पदार्थों में समवेत होती है ; गुणत्व-जाति भी जलादि परमाणुओं में स्थित रूप आदि गुणों में तथा परमात्मा में स्थित ज्ञानादि गुणों में रहती है। ये गुण नित्य हैं तथा इनमें गुण की जाति समवाय-संबंध से रहती है। द्रव्यत्व और गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत हैं, असमवेत नहीं हैं—इसीलिए उन दोनों से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए कर्मत्व को नित्य से असमवेत कहा गया है। सभी **कर्म अनित्य** होते हैं। इसीलिए नित्य से उसकी जाति को कभी कोई मतलब ही नहीं रहता। ऊपर कह चुके हैं कि सत्ता द्रव्य गुण, कर्म तीनों में रहती है। इसलिए सत्ता के द्वारा सीधा सम्बन्ध कर्मत्व का है। कर्म के भेदों—आकुंचन, प्रसारण आदि—को सत्ता परम्परा से व्याप्त करती है, पहले कर्मत्व को व्याप्त करती है, तब भेदों को।]

सामान्य—(Generality) उसे कहते हैं जो प्रध्वंस (विनाश) का प्रतियोगी (अर्थात् विनाशी Destructible) न हो तथा अनेक पदार्थों में समवेत (Inherent) हो। [नाश का प्रतियोगी (साथ देनेवाला, सामने पड़ने वाला) विनाशी पदार्थ होता है, इसलिए प्रध्वंस का प्रतियोगी = विनाशी, प्रध्वंस-प्रतियोगित्व = विनाशित्व, उससे रहित = अविनाशी। तात्पर्य यह है कि सामान्य का विनाश नहीं होता। जिस वस्तु की जाति मानी जाती है उसके पदार्थों के नष्ट होने पर भी जाति यथापूर्व स्थित रहती है—उसका विनाश नहीं होता। भारतीयों के मरने पर भी भारतीयता ज्यों की त्यों रहती है, घट के नष्ट होने पर भी घटत्व रहता है। दूसरे, जाति या सामान्य की स्थिति समवाय-सम्बन्ध से अनेक पदार्थों में रहती है, एक ही पदार्थ में नहीं। केवल अविनाशी होने से तो दिक्, काल आदि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी। इन्हें व्यावृत्त (Exclude) करने के लिए ही 'अनेक-समवेत' विशेषण लगाया गया है। दिक्, काल अनेक पदार्थों में नहीं रहते जब कि घटत्व एक ही साथ संसार के सारे घटों में है।]

विशेष—(Particularity) वह है जो समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करनेवाले सामान्य से रहित हो। [अन्योन्याभाव उस अभाव को कहते हैं जब एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव होता है, घट और पट का पारस्परिक भेद अन्योन्याभाव है। परमाणुओं में जो आपस में भेद है वह भी अन्योन्याभाव है। इस भेद को समझने के लिए

विशेष की आवश्यकता है। अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य इसमें नहीं रहते। सामान्य से रहित होने से द्रव्य गुण और कर्म से इसका पार्थक्य प्रकट होता है। अन्योन्याभाव का विरोधी कहने से सामान्य से व्यावृत्ति होती है। सामान्य का सामान्य नहीं होता, यह सर्वविदित है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि सामान्य में सामान्य का अभाव इसलिए मानते हैं कि अनवस्था दोष न प्राप्त हो जाय, इसलिए नहीं कि वह अन्योन्याभाव का विरोध करेगा। विशेषों में एक दूसरे के साथ अन्योन्याभाव रहता है. कोई विशेष समान नहीं होता कि एक जाति में उन्हें रखें। प्रत्येक विशेष विशेष है (Type in itself)। यदि विशेषों की जाति होने लगे तो विशेषता उनसे छिन जायगी, समानता होने लगेगी। सामान्य और विशेष में सम्बन्ध कैसा? सभी विशेष अन्योन्याभाव की प्रतीति कराते हैं। इसमें सामान्य लेने से उनके इस स्वभाव की हानि होगी। इसलिए विशेषों में सामान्य का अभाव इसी से सिद्ध होता है कि इनमें सामान्य मानने से अन्योन्याभाव की प्रतीति नहीं होगी। यही कारण है कि विशेष अन्योन्याभाव का विरोध होने के कारण सामान्य से रहित होता है। विशेष को समवेत मानने से इसका पार्थक्य समवाय-नामक पदार्थ से स्पष्ट होता है। समवाय में दूसरा समवाय नहीं होता जिससे वह समवेत भी नहीं हो सकता।]*

समवाय से रहित सम्बन्ध को **समवाय** (Inherence) कहते हैं, इस प्रकार छहों पदार्थों के लक्षण पृथक्-पृथक् कहे गये। [जिस सम्बन्ध का समवाय नहीं हो वही समवाय है। इसके द्वारा संयोग-सम्बन्ध का विभेद किया जाता है। संयोग गुण है, संयोगी पदार्थों में वह समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो सकता है। वास्तव में समवाय वह है जब दो पदार्थों में नित्य सम्बन्ध हो, जैसे पृथिवी और गन्ध में समवाय है। अब इस समवाय में कोई दूसरा समवाय नहीं होगा। दूसरी ओर दो वस्तुओं में संयोग (थोड़ी देर के लिए) सम्बन्ध हुआ है। संयोग और उन वस्तुओं के बीच समवाय हो सकता है। अब आगे नहीं बढ़ सकेंगे कि फिर समवाय का समवाय होगा।]

---

* जिन वस्तुओं में अवयव होते हैं उनके व्यक्तियों (Individuals) को अवयवों का अन्तर देखकर पहचाना जा सकता है। किन्तु ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके अवयव नहीं हैं जैसे—आकाश, काल, दिक्, परमाणु (पृथिवी, जल आदि के), जीव आदि। इनके व्यक्तियों को जानने के लिए ही विशेष की आवश्यकता पड़ती है। विशेष का विवेचन वैशेषिकों का अपूर्व प्रयास है जिससे दर्शन का नाम ही पड़ा है।

(६. द्रव्य के भेद और उनके लक्षण)

द्रव्यं नवविधं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि इति । तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयस्य पृथिवीत्वादिजातिर्लक्षणम् ।

पृथिवीत्वं नाम पाकजरूपसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिः । अप्त्वं नाम सरित्सागरसमवेतत्वे सति ज्वलनासमवेतं सामान्यम् ।

द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथिवी, अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मन् और मनस् । उनमें पृथिवी आदि प्रथम चार द्रव्यों के लक्षण हैं पृथिवीत्व आदि की जाति । [पृथिवी का लक्षण पृथिवीत्व की जाति, अप् का लक्षण अप्त्व-जाति, तेजस् का लक्षण है-तेजस्त्व-जाति, वायु का लक्षण वायुत्व-जाति । जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म के लक्षणों में उनके सामान्यों का उल्लेख होता है उसी प्रकार इन द्रव्यों के लक्षण में भी इनके सामान्य के द्वारा ही इन्हें लक्षित (Define) किया जाता है । अब इनके सामान्यों के लक्षण दिये जाते हैं । यह द्रविड़-प्राणायाम न्याय-वैशेषिकों की विशेषता है । किसी बात को सीधे कहने में नाना प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं, इसलिए तौल-तौल कर एक एक शब्द पर ध्यान रखते हुए वे लक्षण देते हैं । इसके लिए चाहे जितना पर्यटन करना पड़े ।]

पृथिवी-सामान्य का लक्षण—जो पाक (अग्नि-संयोग) से उत्पन्न रूप के समानाधिकरण (Identical) हो तथा द्रव्य-सामान्य के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके, उसी जाति को पृथिवी-जाति कहते हैं । [पाक = तेज का संयोग । इसी से पृथिवी में रूपादि गुणों का परावर्तन (Reflection) होता है । जिस प्रकार पके हुए आम के फल में पीत-रूप आदि परावृत्त होते हैं उसी प्रकार पृथिवी में भी उक्त क्रिया होती है । यह बात जलादि द्रव्यों में नहीं पायी जाती । जल में अग्नि-संयोग होने पर भले ही उष्ण-स्पर्श का अनुभव होता है किन्तु जल में स्वतः विद्यमान शीत-स्पर्श का परावर्तन नहीं होता । जल में प्रविष्ट होने वाले अग्नि-कणों के साथ-साथ ही उष्णता स्थित है, जल के साथ नहीं । उष्णता की प्रतीति होने के समय भी जल वास्तव में शीतल ही है । उस समय शीतस्पर्श का भान नहीं हो रहा है, यह दूसरी बात है । उक्त लक्षण में 'पाकज-रूप-समानाधिकरण' यह विशेषण लगाने से जलत्व आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती । यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस जाति का लक्षण

करना अभीष्ट हो उससे भिन्न सभी जातियों को पृथक् कर देना चाहिए। ये पृथक् करने योग्य जातियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—या तो लक्ष्य (Defined) जाति के समानाधिकरण हो या उससे व्यधिकरण हो। सजातीय-विजातीय पदार्थों से पृथक् करके लक्ष्य को लक्षित करना ही लक्षण का काम है। समानाधिकरण जातियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—कुछ ऐसी हैं जो लक्ष्य की जाति के द्वारा व्याप्त होती हैं और कुछ उन्हें ही व्याप्त करती हैं। अस्तु, यहाँ 'पाकजरूप-समानाधिकरण' के पृथिवीत्व से व्यधिकरण में पड़ने वाली जलत्व आदि सारी जातियों की व्यावृत्ति होती है। जो दो प्रकार की (व्याप्य + व्यापक) समानाधिकरण जातियाँ हैं उनकी व्यावृत्ति (Exclusion) 'द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्य' इस विशेषण से होती है। पृथिवीत्व को व्याप्त करने वाली जातियाँ हैं—द्रव्यत्व (जो सीधे व्याप्त करती है) और सत्ता (जो परम्परा से व्याप्त करती है)। ये दोनों ही द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त नहीं होतीं क्योंकि व्याप्त करने के लिए अधिक क्षेत्र होना चाहिए। दूसरी ओर, पृथिवीत्व के द्वारा व्याप्त होने वाली घटत्व आदि जातियाँ हैं जो द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती तो हैं पर सीधे नहीं। द्रव्यत्व पहले पृथिवीत्व को व्याप्त करता है फिर घटत्व को। इस प्रकार लक्षण के पद अन्य जातियों को व्यावृत्त करते हैं।]

अप्-सामान्य का लक्षण—जलत्व ऐसा सामान्य है जो सरिताओं और सागरों में समवेत हो किन्तु ज्वलन से समवेत न हो। [सरिताओं और सागरों के साथ जल का समवाय-सम्बन्ध होता है। इस विशेषण का प्रयोग होने से उन जातियों की व्यावृत्ति होती है जो जलत्व से व्यधिकरण में हैं जैसे पृथिवीत्व आदि। इसके साथ सरिताओं-सागरों का संयोग भले ही हो समवाय नहीं हो सकता। इसी विशेषण से उन जातियों की भी व्यावृत्ति (निरास exclusion) होती है जो जलत्व के द्वारा व्याप्त हो सकती हैं जैसे सरित्त्व, सागरत्व आदि। सरित् से सरित्त्व भले ही सतवेत हो क्योंकि वह उसकी जाति है किन्तु सागरत्व तो नहीं होगा। उसी प्रकार सागर से सरित्त्व समवेत नहीं हो सकता। जलत्व-जाति सरित्-सागर दोनों से एक ही साथ समवेत है जबकि सरित्त्व और सागरत्व की जातियाँ सरित् और सागर से क्रमशः (Respectively) समवेत होती हैं। यही कारण है कि इस विशेषण से उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। यही नहीं, कूपत्व-तड़ागत्व आदि जातियों के लिए तो किसी में चारा नहीं—न सरित् में, न सागर में। अब बचीं वे जातियाँ जो जलत्व को ही व्याप्त करती हैं जैसे द्रव्यत्व और सत्ता। जिस समय 'ज्वलन से समवेत न होना' कहते हैं, उसी समय इनकी व्यावृत्ति हो जाती है, द्रव्यत्व भी ज्वलन से समवेत होता है, सत्ता भी ज्वलन से समवेत है क्योंकि सत्ता या द्रव्यत्व में तेजस् या ज्वलन आता है

तो परम्परया या सीधे वह उक्त दोनों से भी समवेत ही है। जलत्व में ज्वलन नहीं होता, होता है तो समवाय-रूप में नहीं। अग्निकणों का प्रवेश और निस्सरण क्षणिक है।]*

तेजस्त्वं नाम चन्द्रचामीकरसमवेतत्वे सति सलिलासमवेतं सामान्यम्। वायुत्वं नाम त्वगिन्द्रियसमवेतद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिः।

आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति। आकाशं कालो दिगिति।

तेजस्त्व—ऐसा सामान्य है जो चन्द्र और स्वर्ण (चामीकर) के साथ समवेत हो किन्तु जल से समवेत न हो। [उपर्युक्त जलत्व की तरह इसकी भी व्याख्या होगी। तेजस्त्व और चन्द्र-चामीकर में समवाय-सम्बन्ध होता है, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व से व्यधिकरण में स्थित पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियों का निरास होता है। पृथिवी से चन्द्र या स्वर्ण का संयोग-सम्बन्ध हो जाय (यदि इनमें गन्ध का प्रवेश हो) तो हो जाय पर समवाय-सम्बन्ध संभव नहीं। पुनः, तेजस्त्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली चन्द्रत्व, स्वर्णत्व आदि जातियों का भी निरसन इसी से होता है क्योंकि चन्द्र चन्द्रत्व से समवेत हो सकता है, स्वर्णत्व से नहीं। स्वर्ण भी स्वर्णत्व से समवेत हो सकता है, चन्द्रत्व से नहीं। दीपक बेचारा किसी से समवेत नहीं होगा। किन्तु तेजस् दोनों से एक ही साथ समवेत रहता है। तेजस्त्व जल से समवेत नहीं होता, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व को ही व्याप्त करनेवाली जातियों—जैसे सत्ता, द्रव्यत्व—की व्यावृत्ति होती है। ये दोनों जातियाँ परम्परया या सीधे ही सलिल के साथ समवाय-संबंध रखती हैं। तेजस्त्व (ज्वलनत्व) का अस्थायी रूप में जल से संबंध होता है समवाय नहीं।]

वायुत्व—ऐसी जाति है जो त्वचा की इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) से समवेत हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके। [वायु के साथ स्पर्शेन्द्रिय संबद्ध है।

* यह ध्येय है कि वैशेषिकों की ये सारी परिभाषायें निषेधात्मक हैं—दूसरों की व्यावृत्ति ही मुख्य ध्येय है, स्वरूप का प्रकाशन नहीं। दूसरे शब्दों में ये ऐसा भवन बनाते हैं जिसमें प्रतिरक्षा पर ही विशेष ध्यान रहता है, निवास की सुख-सुविधाओं पर नहीं। भय जो न कराये। कोई चढ़ाई कर दे तो? उस समय सारी सुविधायें व्यर्थ हो जायँगी।

वायु के कारण ही स्पर्श का अनुभव होता है। द्रव्यत्व में वायु भी आता है इसलिए साक्षाद्व्याप्त होता है।]

आकाश, काल और दिक्—ये तीनों अकेले-अकेले हैं। इसलिए इनके ऊपर कोई जाति नहीं। यही कारण है कि पारिभाषिक संज्ञायें ये तीनों स्वयं हैं—आकाश, काल और दिक्। [उपर्युक्त द्रव्यों में पारिभाषिक संज्ञायें उनकी जातियाँ थीं जैसे—पृथिवी का पृथिवीत्व, जल का जलत्व। परन्तु यहाँ सीधे आकाश का ही लक्षण होगा—आकाशत्व का नहीं। आकाश एक होता है। जाति तभी होती है जब अनेकता हो। अनेक गौ होने पर ही गोत्व का प्रयोग होता है। सामान्य (समानता, जाति) के लिए न्यूनतम दो व्यक्ति रहने ही चाहिएँ अन्यथा समानता किसमें ?]

संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम्। विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वासमवायिकारणाधिकरणः कालः। अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक्।

आकाश का लक्षण—संयोग से उत्पन्न न होने वाले (संयोगाजन्य) तथा अनित्य (जन्य) [आकाश के] विशिष्ट गुण के साथ जो विशेष समानाधिकरण (समान) हो उसी विशेष का आधार आकाश है। [ऊपर देख चुके हैं कि विशेष नामक पदार्थ केवल नित्य द्रव्यों के साथ अवस्थित रहता है। आकाश भी नित्य है, इसीलिए इसमें कोई विशेष अवश्य ही होगा। दूसरे शब्दों में, आकाश विशेष का आधार या अधिकरण है। आकाश में एक विशिष्ट गुण (Special quality) है शब्द। इस शब्द के साथ ही आकाश में अवस्थित विशेष समानाधिकरण है। कारण यह है कि शब्द का आधार भी आकाश है, उस विशेष का भी आधार आकाश है। आधार या अधिकरण की समानता के कारण दोनों समानाधिकरण हैं। इस लक्षण में उस विशिष्ट गुण (शब्द) के दो विशेषण हैं—संयोगाजन्य तथा जन्य। शब्द जन्य अर्थात् अनित्य है, उत्पन्न किया जाता है इसलिए अनित्य है। यह ध्येय है कि मीमांसक और वैयाकरण लोग शब्द को नित्य मानते हैं, जब कि नैयायिक और वैशेषिक उसे अनित्य स्वीकार करते हैं। संयोग से उत्पन्न न होना भी शब्द का धर्म है। वैशेषिकों के यहाँ विभाग से उत्पन्न तथा शब्द से उत्पन्न शब्द की सत्ता मानी जाती है।

अब हम लक्षण के तार्किक पक्ष पर चलें। 'विशेषाधिकरण' कहने से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि, गुण, कर्म आदि तथा सभी अनित्य द्रव्यों की व्यावृत्ति होती है। विशेष केवल नित्य पदार्थ में ही रह सकते हैं। विशेष गुण को संयोग

से अजन्य तथा जन्य (अनित्य) भी होना चाहिए। देखिए, पृथ्वी के परमाणुओं में स्थित रूपादि गुण यद्यपि जन्य (उत्पन्न होने के कारण अनित्य) हैं किन्तु संयोग से उत्पन्न न होते हों, ऐसी बात नहीं है। ये विशेष गुण पाकज अर्थात् तेज के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जल, तेज और वायु के परमाणुओं में जो विशेष गुण हैं वे जन्य ही नहीं हैं, प्रत्युत नित्य हैं। दिक्, काल और मन में कोई विशेष गुण है ही नहीं। परमात्मा में अवस्थित जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं वे नित्य हैं, जन्य नहीं। जीवात्मा के बुद्धि आदि गुण जन्य हैं पर संयोगाजन्य नहीं क्योंकि वे मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं (तो संयोगजन्य ही हुए, संयोगाजन्य नहीं)। तो, सभी दशाओं में आकाश ही ऐसा बचता है जो संयोगाजन्य तथा जन्य विशेष गुण को धारण करता है तथा उस गुण के समानाधिकरण विशेष का भी आधार है।

इस लक्षण में कहना केवल इतना ही था कि शब्द जिसका गुण हो वही आकाश है। इतना घटाटोप वैचित्र्य का प्रदर्शन करने के लिए ही हुआ है। हाँ, यह कह सकते हैं कि विशेष का आधार होने पर किन-किन में परस्पर साधर्म्य होगा या विशेष गुण के समानाधिकरण विशेष का आधार होने पर किन में साधर्म्य होगा—इस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता तब पड़ती है जब इसी लक्षण के अनुमान में हम व्याप्ति के उदाहरण दिखलाने लगते हैं। आकाश का लक्षण वास्तव में संसृष्ट (Complicated) हो गया है।]

काल का लक्षण—काल वह द्रव्य है जो व्यापक (विभु pervasive) हो तथा दिक् (Space) से असमवेत परत्व के असमवायि-कारण का अधिकरण हो। [परत्व (Distance) दो प्रकार का होता है—स्थानगत अर्थात् समीप की वस्तु की अपेक्षा दूरस्थ वस्तु में विद्यमान परत्व (Spatial distance) तथा कालगत अर्थात् छोटी अवस्थावाले पदार्थ की अपेक्षा बड़ी अवस्था वाले पदार्थ में विद्यमान परत्व (Temporal distance)। **स्थानगत परत्व** का असमवायि-कारण होता है दिक् (स्थान) और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् समवेत रहता है और काल असमवेत, क्योंकि संयोग दो ही पदार्थों का हो सकता है। **कालगत परत्व** का असमवायी कारण है काल और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् असमवेत रहता है, काल समवेत। काल इसी का आधार है अर्थात् काल में ही काल-वस्तु-संयोग होता है। 'विभु' का प्रयोग करने से ज्येष्ठ में अतिव्याप्ति नहीं होती। संयोग चूँकि दो वस्तुओं का होता है इसलिए काल और ज्येष्ठ वस्तु दोनों में उसकी सत्ता रह सकती है। अन्तर यही है कि काल विभु होता है, ज्येष्ठ वस्तु विभु नहीं हो तकती। 'परत्व' का प्रयोग करने

से आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रुकती है क्योंकि आकाश या आत्मा परत्व का असमवायी कारण नहीं हो सकती। 'दिक् से असमवेत' कहने से दिशा में अतिव्याप्ति रुकती है।]

दिक् का लक्षण—जो काल न हो, किसी विशेष गुण से रहित हो तथा महती (विभु, व्यापक) हो वही दिक् है। [काल में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'अकाल' कहते हैं। काल भी विशेष गुण से शून्य तथा विभु होता है। दिक् उक्त विशेषणों से युक्त होने पर भी काल नहीं है। आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विशेष गुण से रहित' ऐसा विशेषण लगाया गया है। आकाश का विशेष गुण शब्द है, आत्मा का बुद्धि आदि। ये दोनों अकाल हैं तथा विभु हैं किन्तु विशेष गुण से रहित नहीं हैं। मन में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'महती' कहा गया है। मन अकाल भी है, विशेष गुण से रहित भी, किन्तु विभु नहीं है। इसीलिए यह लक्षण केवल दिक् का ही हुआ।]

आत्ममनसोरात्मत्वमनस्त्वे। आत्मत्वं नामामूर्तसमवेत-द्रव्यत्वापरजातिः। मनस्त्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताणु-समवेतद्रव्यत्वापरजातिः।

आत्मन् और मनस् के लक्षण हैं आत्मत्व अर्थात् आत्मा का सामान्य तथा मनस्त्व अर्थात् मन का सामान्य। [अब इन दोनों सामान्यों के लक्षण दिये जायँगे।]

आत्मत्व का लक्षण—आत्मत्व ऐसी जाति है जो मूर्त द्रव्यों में समवेत न हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—ये पाँच मूर्त द्रव्य हैं। उनमें उन-उन द्रव्यों की जातियाँ समवेत रहती हैं। उन सबों का निरसन इसी विशेषण से होता है—अमूर्तसमवेत। आकाश, काल और दिक् एक-एक ही हैं, इसलिए उनमें तो जाति का ही प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार आत्मत्व-जाति ही लक्षित होती है।]

मनस्त्व का लक्षण—जो अणु (Atoms) द्रव्य का समवायि-कारण नहीं हो सकते उन अणुओं में समवेत (Eternally connected) तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली जाति को मनस्त्व-जाति कहते हैं। [मन के परमाणु ऐसे हैं जो किसी द्रव्य का समवायि-कारण नहीं बन सकते। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं का संयोग होने पर उन द्रव्यों के द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि बनते हैं। इस प्रकार वे परमाणु द्व्यणुकादि के समवायि-कारण होते हैं। मन इनसे पृथक् है क्योंकि इसके अणु समवायि-कारण

नहीं हैं। अणु कहने से उन पदार्थों की व्यावृत्ति होती है जो विभु है जैसे—आकाश, काल, दिक् आत्मा। मन अणु होता है।

इस प्रकार नौ द्रव्यों के लक्षण समाप्त हुए। उन द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आत्मा, मन की जातियाँ हैं, जब कि आकाश, काल और दिक् अकेले हैं।]

(७. गुण के भेद और उनके लक्षण)

रूप-रस-गन्ध - स्पर्श-संख्या - परिमाण -पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-बुद्धि-सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिता गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्ट-शब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः।

तत्र रूपादिशब्दान्तानां रूपत्वादिजातिर्लक्षणम्। रूपत्वं नाम नीलसमवेतगुणत्वापरजातिः। अनया दिशा शिष्टानां लक्षणानि द्रष्टव्यानि।

गुण चौबीस होते हैं। उनमें सत्रह तो साक्षात् कणाद के मुख से ही कहे गये हैं—रूप (Colour), रस (Taste), गन्ध (Smell), स्पर्श (Touch), संख्या (Number), परिमाण (Magnitude), पृथक्त्व (Distinctness), संयोग (Conjunction), विभाग (Disjunction), परत्व (Remoteness), अपरत्व (Nearness), बुद्धि (Cognition), सुख (Pleasure), दुःख (Pain), इच्छा (Desire), द्वेष (Aversion), प्रयत्न (Effort)। जिस सूत्र में कणाद ने इनका उल्लेख किया है उसमें 'च (और)' शब्द आया है, इससे सात और गुणों का भी समुच्चय (Addition) होता है—गुरुत्व (Heaviness), द्रवत्व (Fluidity), स्नेह (Viscidity), संस्कार (Tendency), अदृष्ट अर्थात् धर्म (Merit), और अधर्म (Demerit), शब्द (Sound)। [कणाद ने अपने वैशेषिक-सूत्र १।१।५ में सत्रह गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। ये सत्रह गुण कणाद के कण्ठ से कहे गये हैं। 'च' (भी) का प्रयोग बतलाया है कि कुछ गुण और भी उन्हें कहने को हैं। उन सात गुणों का समुच्चय होता है। मेरी समझ में वास्तव में 'च' के द्वारा सात

गुणों का समुच्चय नहीं होता। सूत्र में पृथक्-पृथक् गुणों का निर्देश किया गया है। प्रयत्न अंतिम गुण है उसी का सम्बन्ध शेष गुणों के साथ दिखलाना 'च' को अभीष्ट है। बाद में टीकाकारों ने चौबीस गुण बनाये तथा 'च' की नई व्याख्या की।]

उनमें रूप से लेकर शब्द पर्यन्त जितने गुण हैं (अर्थात् चौबीस) उनके लक्षण हैं रूपत्व आदि की जाति। [जिस प्रकार द्रव्यों के लक्षण में जाति द्वारा लक्षण दिया जाता है उसी प्रकार गुणों के लक्षण में भी जाति का प्रयोग होता है।] **रूपत्व-जाति** वह है जो नील से समवेत हो और गुणत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [रसत्व, गन्धत्व आदि जातियाँ नील से समवेत नहीं रहतीं]।

इसी रीति से अवशिष्ट गुणों के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। [विशेष ज्ञान के लिए तर्कसंग्रह, सिद्धान्तमुक्तावली या वैशेषिकसूत्र ही देखे जायँ।]

(८. कर्म आदि के भेद)

कर्म पञ्चविधम्। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्। भ्रमणरेचनादीनां गमन एवान्तर्भावः। उत्क्षेपणादीनामुत्क्षेपणत्वादिजातिर्लक्षणम्। तत्रोत्क्षेपणत्वं नामोर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणसमवेतकर्मत्वापरजातिः। एवमपक्षेपणत्वादीनां लक्षणं कर्तव्यम्।

कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण (Throwing upwards), अपक्षेपण (Throwing downwards), आकुंचन (सिकुड़ना Contraction), प्रसारण (Expansion) तथा गमन (Motion)। भ्रमण (घूमना), रेचन (खाली करना) आदि कर्मों को गमन में ही समाहित कर लेते हैं। उत्क्षेपण आदि कर्मों का लक्षण है उत्क्षेपणत्व आदि की जाति। तो उत्क्षेपणत्व का अर्थ है वैसी जाति जो कर्मत्व के द्वारा व्याप्त होती है तथा ऊपरी स्थानों के साथ संयोग के असमवायी कारण (अर्थात् कर्मविशेष) से समवेत रहती है। [तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग करने का हेतु ही **उत्क्षेपण** नामक कर्म है।] इसी प्रकार अपक्षेपण आदि की जातियों के भी लक्षण कर लेना चाहिए।

विशेष—उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर फेंकना, अपक्षेपण = नीचे फेंकना (अधोदेश से संयोग का कारण)। आकुंचन = वस्तुओं का वक्र होना या वस्तु

के अवयवों का निकटतर आ जाना। प्रसारण = वस्तुओं का सीधा हो जाना या उनके अवयवों का दूर हो जाना। इन कर्मों के अतिरिक्त सारे कर्म गमन में आते हैं। भाषा-परिच्छेद (७) में कहा गया है—

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥

घूमना-फिरना, खाली करना, प्रवाहित होना, ऊपर की ओर जलना, तिरछा चलना आदि सारी क्रियायें गमन में ही समझी जाती हैं। गमन का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि हमें उत्क्षेपण आदि प्रथम चार कर्मों की पृथक् सत्ता पर भी संदेह होने लगता है। पर सूत्रकार की स्वतंत्र इच्छा पर कौन प्रश्न करे ?

सामान्यं द्विविधं परमपरं च। परं सत्ता द्रव्यगुणसमवेता। अपरं द्रव्यत्वादि। तल्लक्षणं प्रागेवोक्तम्।

विशेषाणामनन्तत्वात् समवायस्य चैकत्वाद् विभागो न संभवति। तल्लक्षणं च प्रागेवावादि।

सामान्य दो प्रकार का है—पर (Highest) और अपर (Lower)। पर सामान्य (Summum Genus) तो सत्ता ही है जो द्रव्य और गुण से समवेत है। [केवल द्रव्य का नाम लेने से द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति हो जाती, केवल गुण का नाम लेने से गुणत्व में। इसलिए दोनों में समवेत कहा गया है। यह भी कह सकते हैं कि कर्म में भी समवेत होती है किन्तु दो से ही काम चल जाता है—लक्षण में तो कम से कम शब्द न होने चाहिएँ ?] अपर सामान्य तो द्रव्यत्व आदि हैं जिनके लक्षण पहले ही दिये जा चुके हैं। [कितने लोग पर, अपर और परापर ये तीन सामान्य मानते हैं। पर तो सर्वोच्च सामान्य है जैसे-सत्ता। अपर नीचे का सामान्य है जैसे-पृथिवीत्व। परापर वह है जो किसी सामान्य की अपेक्षा पर हो, किसी की अपेक्षा अपर, जैसे—द्रव्यत्व पृथिवीत्व की अपेक्षा पर (ऊपर) है किन्तु सत्ता की अपेक्षा तो अपर (नीचे) है।]

विशेष अनन्त प्रकार के हैं और **समवाय** तो एक ही तरह का है, इसलिए इनका विभाजन करना संभव ही नहीं है। जहाँ तक इनके लक्षणों का प्रश्न है, हम उन्हें पहले ही देख चुके हैं।

विशेष—यहाँ पर वैशेषिक-दर्शन के आधारभूत पदार्थों का विवेचन समाप्त हो गया। अब इसके कुछ गम्भीर विषयों में माधवाचार्य प्रवेश कर रहे हैं। वे विषय हैं—द्वित्व की उत्पत्ति, पाकज की उत्पत्ति, विभागज विभाग

इत्यादि। इनका विचार कर लेने पर अभाव का निरूपण होगा और वहीं इस दर्शन का अन्त हो जायगा।

(९. द्वित्व आदि की उत्पत्ति का विवेचन)

३. द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥
इत्याभाणकस्य सद्भावाद् द्वित्वाद्युत्पत्तिप्रकारः प्रदर्श्यते।

"पक्का वैशेषिक उसी को कहते हैं जिसकी बुद्धि द्वित्व (Duality) की संख्या के विषय में, पाकज उत्पत्ति (अग्नि-संयोग के कारण होने वाले परिवर्तन) के विषय में तथा विभाग (Disjunction) से उत्पन्न होने वाले विभाग के विषय में स्खलित (च्युत) नहीं होती। (तात्पर्य यह है कि वैशेषिक-दर्शन में इन तीनों की विवेचना विशेष रूप से की जाती है।)'' ऐसी लोकोक्ति संसार में प्रचलित है, इसलिए अब यहाँ द्वित्व आदि की उत्पत्ति की विधि दिखलाई जायगी।

विशेष—गुणों में एक गुण संख्या भी है, जिससे हम एक-दो-तीन आदि का व्यवहार करते हैं। इनमें एकत्व ही मुख्य नैसर्गिक संख्या है जो आधार वस्तु की प्रकृति के अनुसार नित्य या अनित्य होती है—यदि नित्य पदार्थ में (जैसे आकाश में) एकत्व हो तो वह नित्य होता है, यदि अनित्य वस्तु में रहे तो यही एकत्व अनित्य हो जाता है। एकत्व के अतिरिक्त सारी संख्यायें कृत्रिम तथा अनित्य हैं। हम अपनी बुद्धि के कारण द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि की कल्पना करते हैं क्योंकि व्यावहारिक दशा में उसकी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार एकत्व जहाँ वस्तु में स्वभावतः स्थित है, द्वित्व बुद्धि (= अपेक्षाबुद्धि) पर निर्भर करता है, बुद्धि के द्वारा ही वस्तुओं पर द्वित्व-त्रित्वादि का आरोपण होता है। अपेक्षाबुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान होता है कि यह एक है, यह दूसरा है। अनेक पदार्थों में एक-एक का बोध इसी से होता है (अनेकैकत्व-विषयिणी बुद्धिः)।

अपेक्षाबुद्धि और द्वित्व के सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों और वैशेषिकों में मतभेद है। मीमांसक कहते हैं कि जिस समय दो घट एक साथ होते हैं उसी समय द्वित्व संख्या उत्पन्न हो जाती है। बाद में इन्द्रियों के साथ घटों का संनिकर्ष (contact) होने पर 'यह एक घट है, वह दूसरा' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व का ज्ञान होता है। द्वित्व पहले से वर्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति (manifestation) अपेक्षाबुद्धि के द्वारा होती है। अपेक्षाबुद्धि

द्वित्व को उत्पन्न नहीं करती। वैशेषिकों का विचार ठीक उलटा है। वे कहते हैं कि जब द्वित्व संख्या अज्ञात है (जैसा कि मीमांसक अपेक्षाबुद्धि के पहले उसे मानते हैं) तब उसे स्वीकार करना ही निरर्थक है। इसलिए उसकी सत्ता (ज्ञात या अज्ञात भी) तभी होती है जब अपेक्षाबुद्धि उसे उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व संख्या की **उत्पत्ति** होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

द्वित्व के नाश के विषय में भी दोनों के मत विरोधी ही हैं। मीमांसकों के अनुसार दो घटों के वियुक्त होने पर द्वित्व का नाश होता है, जब कि वैशेषिक अपेक्षाबुद्धि को भी लगाकर कई अवस्थाओं के बाद विनाश मानते हैं। वैशेषिकों की द्वित्वोत्पत्ति और द्वित्व-निवृत्ति अभी आगे मिलती है। आठ क्षणों में उत्पत्ति और उतने ही क्षणों में निवृत्ति (नाश) भी होती है। इनका वर्णन देखें।

(९ क. द्वित्व की उत्पति का क्रम)

तत्र प्रथमिन्द्रियार्थसंनिकर्षः (१)। तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम् (२)। ततोऽपेक्षाबुद्धिः (३)। ततो द्वित्वोत्पत्तिः (४)। ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम् (५)। तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम् (६)। ततो 'द्वे द्रव्ये' इति धीः (७)। ततः संस्कारः (८)। तदाह—

४. आदाविन्द्रियसंनिकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥इति।

सबसे पहले इन्द्रियों के साथ वस्तु (object) का संनिकर्ष (संबंध) होता है (**प्रथम क्षण** में दो घटों के साथ चक्षुओं का संबंध होता है)। उसके बाद **दूसरे क्षण में** एकत्व की जाति का ज्ञान होता है। **तीसरे क्षण** में अपेक्षाबुद्धि होती है [कि यह एक घट है, यह दूसरा]। **चौथे क्षण** में द्वित्व की उत्पत्ति होती है (= वस्तु में द्वित्व संख्या का बोध होता है)। **पाँचवें क्षण** में द्वित्वत्व की जाति का ज्ञान होता है। [चूँकि जाति का ज्ञान होने पर व्यक्ति का ज्ञान होता है इसीलिए अब] **छठे क्षण** में द्वित्व संख्या (गुण के रूप में) का ज्ञान होता है। इसके बाद, **सातवें क्षण** मे 'ये दो द्रव्य हैं' इस

प्रकार [द्वित्व-संख्या से विशिष्ट द्रव्य] का ज्ञान होता है। अन्त में आत्मा में उक्त ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है। [इन आठों क्षणों में उत्पन्न पदार्थों में पहलेवाला पदार्थ दूसरे का कारण होता है। बौद्धों के द्वादश निदान की तरह ये शृंखलाबद्ध हैं। इसीलिए इन्हें इस क्रम में बाँधा गया है।]

यही कहा गया है—"सबसे पहले इन्द्रियों के साथ [वस्तु का] संनिकर्ष होना, फिर एकत्व की जाति की बुद्धि (ज्ञान) होना, फिर दोनों वस्तुओं में एकत्व का अलग-अलग बोध कराने वाली बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) की उत्पत्ति, फिर द्वित्व की उत्पत्ति, उसके बाद द्वित्वत्व का ज्ञान, उसके बाद द्वित्व का ज्ञान, तब दो द्रव्यों की बुद्धि होना, [फिर द्वित्व का संस्कार]—इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति की विधि बतलाई गई है।"

द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे किं प्रमाणम्? अत्राहुराचार्याः—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति। वयं तु ब्रूमः—द्वित्वादिकमेकत्वद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यङ्ग्यं न भवति। अनेकाश्रितगुणत्वात् पृथक्त्वादिवदिति।

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रमाण है कि द्वित्व आदि की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है? इसके उत्तर में आचार्य (उदयन) कहते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि को उत्पन्न करने में समर्थ है। जब अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि का व्यंजक सिद्ध नहीं कर पाते तब इस द्वित्वादि के द्वारा ही अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा (अनुविधान) की जाती है। जिस प्रकार शब्द के द्वारा अपेक्षित कंठादि स्थानों में संयोग होने से शब्द की उत्पत्ति होती है। [इस अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर को यों समझें—जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ व्यंजक शब्द की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार उत्पाद्य अर्थ भी उत्पादक की अपेक्षा करता है। यहाँ पर द्वित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा रखती है। पहले ही आघात में मीमांसकों की यह मान्यता काट देते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि का व्यंजक है। ऐसा तभी होता जब अपेक्षाबुद्धि के पूर्व द्वित्वादि की सत्ता सिद्ध होती, परन्तु उसके लिए तो कोई प्रमाण ही नहीं है। तो, अपेक्षाबुद्धि की व्यंजकता सिद्ध नहीं होती। अब अपेक्ष्यमाणता (अपेक्षा) माननी पड़ेगी।* जहाँ-जहाँ अपेक्षा होती है वहाँ-वहाँ उत्पादकता रहती है (जिसकी अपेक्षा होगी, वह उत्पादक होगा)। उदा-

---

* सभी कारण या तो ज्ञापक होते हैं या जनक। अपेक्षाबुद्धि यदि ज्ञापक नहीं है, तो जनक है।

हरणार्थं शब्द के द्वारा संयोग की अपेक्षा की जाती है कि कंठ-तालु आदि स्थानों में वायु का संयोग हो तो शब्द उत्पन्न होगा। यहाँ संयोग शब्द का उत्पादक है। इसी अनुमान से, द्वित्वादि संख्या के लिए अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता होने के कारण, द्वित्वादि की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि की सिद्धि होती है। अभिप्राय स्पष्ट है, अब दूसरे तर्कों से उसी बात की सिद्धि की जायगी।]

हमारा यह कहना है—द्वित्व आदि की **अभिव्यक्ति** उस अनित्य बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) के द्वारा नहीं हो सकती जिसमें दो या उससे अधिक एकत्व ही विषय के रूप में आते हैं क्योंकि ये (द्वित्वादि) अनेक पदार्थों में आश्रित रहने वाले गुण हैं जिस तरह पृथक्त्व गुण [अनेक पदार्थों में ही रहता है।]

विशेष—इस दूसरे तर्क का यह अभिप्राय है। दो एकत्वों के विषय में अपेक्षाबुद्धि होती है कि एक यह है, एक यह। यह अपेक्षाबुद्धि अनित्य है। चूँकि द्वित्व अनेक पदार्थों में रहनेवाला गुण है इसलिए अपेक्षाबुद्धि के द्वारा इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए वस्तु का एकाश्रित रहना जरूरी है। द्वित्व-संख्या दो पदार्थों में रहती है, त्रित्व-संख्या तीन पदार्थों में रहती है इत्यादि। जैसे पृथक्त्व-गुण के लिए अनेक पदार्थों में रहना आवश्यक है—'हरि से श्याम पृथक् है, श्याम से शंकर।' इन उदाहरणों में पृथक्त्व (Separateness) की वृत्ति अनेक व्यक्तियों में है। इस प्रकार पृथक्त्व के विषय में होनेवाली अपेक्षाबुद्धि के द्वारा पृथक्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। जब कोई वस्तु व्यंग्य नहीं है, तो जन्य होगी। निष्कर्ष यह हुआ कि **अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व आदि की उत्पत्ति होती है।**

(९ ख. द्वित्व की निवृत्ति का क्रम)

निवृत्तिक्रमो निरूप्यते—अपेक्षाबुद्धित एकत्वसामान्यज्ञानस्य द्वित्वोत्पत्तिसमकालं निवृत्तिः। अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वसामान्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धिसमसमयम्। द्वित्वस्यापेक्षाबुद्धिनिवृत्तेर्द्रव्यबुद्धिसमकालम्। गुणबुद्धेर्द्रव्यबुद्धितः संस्कारोत्पत्तिसमकालम्। द्रव्यबुद्धेस्तदनन्तरं संस्कारादिति।

अब द्वित्व की निवृत्ति का क्रम निरूपित किया जाता है। [तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाली] अपेक्षाबुद्धि से जो [**चतुर्थ क्षण में**] द्वित्व की उत्पत्ति होती है उसी के साथ-साथ [द्वितीय क्षण में उत्पन्न हुए] एकत्व के सामान्य के ज्ञान की निवृत्ति (विनाश) हो जाती है (अर्थात् अपेक्षाबुद्धि एक ओर द्वित्व

की उत्पत्ति करती है और दूसरी ओर एकत्व-जाति के ज्ञान का विनाश करती है।)

[पंचम क्षण में उत्पन्न होनेवाली] द्वित्वत्व की जाति के ज्ञान से जब [**षष्ठ क्षण में**] द्वित्व संख्या का ज्ञान उत्पन्न होता है ठीक उसी समय [तृतीय क्षण में उत्पन्न हुई] अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जाता है। अपेक्षाबुद्धि के विनाश (षष्ठ क्षण) के बाद [**सप्तम क्षण में**] जो 'ये दो द्रव्य हैं' ऐसा ज्ञान होता है उसी के साथ द्वित्व-संख्या का विनाश होता है (क्योंकि द्वित्व संख्या के कारणस्वरूप अपेक्षाबुद्धि का विनाश इसके पूर्व ही हो चुका रहता है)। द्रव्य का ज्ञान हो जाने (सप्तम क्षण) के बाद जब [**अष्टम क्षण में**] संस्कार की उत्पत्ति होती है ठीक उसी समय **द्वित्व-संख्या के ज्ञान का भी विनाश** हो जाता है। इसके बाद [अष्टम क्षण में उत्पन्न] संस्कार के बाद (= **नवें क्षण में**) **दो द्रव्यों का ज्ञान भी नष्ट** हो जाता है। (इस प्रकार द्वित्वादि का क्रमशः विनाश होता है।]

तथा च संग्रहश्लोकाः—

५. आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
द्वित्वोदयसमं, पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः॥
६. द्वित्वाख्यगुणधीकाले, ततो द्वित्वं निवर्तते।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः॥
७. गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः॥ इति।

उपर्युक्त बातों का संग्रह इन श्लोकों में हुआ है—"सबसे पहले अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होने के साथ-ही-साथ एकत्व-जाति का ज्ञान नष्ट हो जाता है। उसके बाद उस द्वित्व की जाति (अर्थात् द्वित्वत्व) के ज्ञान से जिस समय द्वित्व नामक गुण (संख्या) का ज्ञान होता है उसी समय उस (अपेक्षाबुद्धि) का भी विनाश हो जाता है। तदनन्तर अपेक्षाबुद्धि के नाश के बाद दो द्रव्यों के ज्ञान के उत्पन्न होने के ही समय द्वित्व की निवृत्ति हो जाती है। द्रव्यों की बुद्धि (ज्ञान) के बाद संस्कार की उत्पत्ति के समय ही द्वित्व-संख्या (गुण) की बुद्धि का नाश होता है और संस्कार के अनन्तर दो द्रव्यों की बुद्धि का नाश होता है—यही नाश का क्रम निरूपित किया गया है।"

विशेष—निम्नलिखित पाटी से द्वित्वों के उदय और विनाश का क्रम अच्छी तरह समझा जा सकता है।—

क्षण	उदय	विनाश	(उदय क्षण)
प्रथम	इन्द्रियार्थसंनिकर्ष	×	
द्वितीय	एकत्व-जाति का ज्ञान	×	
तृतीय	अपेक्षाबुद्धि	×	
चतुर्थ	द्वित्व की उत्पत्ति	एकत्वजाति का ज्ञान	(२)
पंचम	द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान	×	
षष्ठ	द्वित्व-संख्या का ज्ञान	अपेक्षाबुद्धि	(३)
सप्तम	दो द्रव्यों का ज्ञान	द्वित्वसंख्या	(४)
अष्टम	संस्कार	द्वित्वसंख्या का ज्ञान	(६)
नवम	×	द्रव्यों का ज्ञान	(७)

अब इन ज्ञानों के विनाश के लिए प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे द्वित्व की निवृत्ति की पुष्टि हो सके।

बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरविनाश्यत्वे संस्कारविनाश्यत्वे च प्रमाणम्—विवादाध्यासितानि ज्ञानान्युत्तरोत्तरकार्यविनाश्यानि क्षणिकविभुविशेषगुणत्वाच्छब्दवत्। क्वचिद् द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मसमकालमेकत्वसमकालचिन्तयाऽऽश्रयनिवृत्तेरेव द्वित्वनिवृत्तिः। कर्मसमकालमपेक्षाबुद्धिचिन्तनादुभाभ्यामिति संक्षेपः।

अब इसके लिए प्रमाण दिया जा रहा है कि एक बुद्धि (ज्ञान) का विनाश दूसरी बुद्धि (ज्ञान) से या संस्कार के द्वारा होता है। इस स्थान पर जिनकी बात चल रही है वे (प्रस्तुत, विवादग्रस्त, under question) ज्ञान उत्तरोत्तर कार्यों के द्वारा क्रमशः नष्ट होते जाते हैं। कारण यह है कि शब्द की भाँति, विभु द्रव्यों के विशेष गुण क्षणिक हुआ करते हैं। [आकाश विभु द्रव्य है, इसका विशेष गुण शब्द है जो क्षणिक है। यह क्षणिक शब्द अपनी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में अपने ही सदृश दूसरे शब्द को उत्पन्न करके स्वयं तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रथम क्षण वाले शब्द के द्वारा द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द कार्य हुआ, प्रथम क्षण वाला शब्द कारण है—वही कार्यरूप में विद्यमान द्वितीय क्षण वाला शब्द प्रथम क्षण वाले

कारणभूत शब्द का विनाशक हो जाता है। कारण का नाश कार्य ही करता है, पिता का वध पुत्र के ही हाथों से होता है। ठीक इसी प्रकार प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान द्वितीय क्षण में दूसरे ज्ञान को या संस्कार को उत्पन्न करता है और बदले में उत्तरवर्ती कार्यरूप ज्ञान या संस्कार अपने उत्पादक का ही विनाश कर डालता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान ही खा जाता है।]

[ऊपर यह कह चुके हैं कि अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने पर द्वित्व का नाश हो जाता है। अब द्वित्वनाश की एक दूसरी विधि भी देखें—] कहीं-कहीं किसी द्रव्य (जैसे घट) को आरंभ करने वाले संयोग (= अवयवों का संयोग) के विनाशक (प्रतिद्वन्द्वी) विभाग (Disjunction) को उत्पन्न करने वाले कर्म के आने के समय में ही एकत्व-जाति की चिन्ता (ज्ञान) होती है और तब आश्रय घट का विनाश हो जाने से द्वित्व का भी नाश हो जाता है। [वस्तु] के अवयवों का विभाग करने वाला कर्म अपनी उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में वस्तु का नाश करता है। प्रथम क्षण में वह कर्म उत्पन्न होता है। उसी कर्म से दूसरे क्षण में वस्तु के अवयवों का विभाग होता है। तीसरे क्षण में अवयवों के संयोग का विनाश होता है। चौथे क्षण में वस्तु (घट) का ही विनाश हो जाता है। द्वित्व की उत्पत्ति का विचार करते हुए हमने आठ क्षण देखे थे जिनमें द्वितीय क्षण में एकत्व की जाति का ज्ञान उत्पन्न होता है जो अपेक्षाबुद्धि को तृतीय क्षण में उत्पन्न करता है। यह एकत्वजातिज्ञान यदि घट का विनाश करने वाले चार क्षणों के मध्य प्रथम क्षण में हो तब स्वभावतः द्वितीय क्षण में अर्थात् विभाग के समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होगी। उसके बाद तृतीय क्षण में संयोग का नाश होने के समय द्वित्व की उत्पत्ति होगी। चतुर्थ क्षण में (वस्तु का नाश होने के क्षण में) द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। इसी क्षण में घट-रूपी **आश्रय (आधार) के नाश के कारण** इसके बाद वाले क्षण में दो घटों में विद्यमान **द्वित्व का विनाश हो जाता है** क्योंकि घट (द्रव्य) के नाश के अनन्तर उसमें स्थित द्वित्व (गुण) का स्थित रहना असंभव है। इस प्रक्रिया में अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वनाश नहीं होता, क्योंकि द्वित्वनाश के पूर्व अपेक्षाबुद्धि के विनाश की कोई बात ही नहीं चलती।]

[मूल में जो 'एकत्वसामान्यचिन्ता' पद है, उसका अर्थ है एकत्व-जाति का ज्ञान। अब इस एकत्वजातिज्ञान को यदि आप पहले ही रख लें—विभाग-जनक कर्म के पहले ही एकत्व जाति का ज्ञान हो जाय तब स्वभावतः उसके बाद आने वाली अपेक्षाबुद्धि प्रथम क्षण में ही (विभागोत्पादक कर्म के समय में ही) उत्पन्न होगी। द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) द्वित्व की उत्पत्ति

तथा तृतीय क्षण में (संयोगनाश के समय) द्वित्वजाति का ज्ञान होगा ; चतुर्थ क्षण में (घटनाश के समय) अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा। इस क्षण में (चतुर्थ क्षण में) घट-रूपी आश्रय का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश दोनों कारणों से उसके उत्तर क्षण में द्वित्व का नाश होता है। इसे ही कहा जा रहा है—] और यदि विभागजनक कर्म के क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि की चिन्ता (उत्पत्ति) करें तो दोनों कारणों से द्वित्व का नाश हो सकता है—यही संक्षेप में [द्वित्व का विचार हो गया।]

विशेष—उपर्युक्त दोनों कारणों का अन्तर इतना ही है कि अपेक्षाबुद्धि की सत्ता कहाँ मानें। यदि अपेक्षाबुद्धि द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) मानते हैं तो अपेक्षाबुद्धि के नाश के ही समय द्वित्व का नाश हो जाता है उस समय अपेक्षाबुद्धिनाश कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण को कार्य के पूर्व ही रहना चाहिए, समकाल नहीं। निदान हमें आधारनाश से द्वित्वनाश मानना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि सारी प्रक्रिया एक सीढ़ो ऊपर खिसक जाय तथा अपेक्षाबुद्धि को द्वितीय क्षण में न मानकर प्रथम क्षण में स्वीकार कर लें तो चतुर्थ क्षण में उसका नाश हो जायगा और वह नाश आराम से उत्तरवर्ती क्षण में होने वाले द्वित्वनाश का कारण बन जायगा। इसे निम्न पाटी से समझ सकते हैं :—

क्षण	कार्यचतुष्टय	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (१)	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (२)
१.	विभागजनक कर्म	एकत्वजातिज्ञान (२)	अपेक्षाबुद्धि (३)
२.	विभाग	अपेक्षाबुद्धि (३)	द्वित्वोत्पत्ति (४)
३.	संयोगनाश	द्वित्वोत्पत्ति (४)	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)
४.	घटनाश	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)	अपेक्षाबुद्धिनाश (६)
५.	(आधारनाश से)	द्वित्वनाश, अपेक्षाबुद्धिनाश (६)	द्वित्वनाश (७)

कोष्ठकों में निर्दिष्ट अंक यह सूचित करते हैं कि पूर्वोक्त आठ क्षणोंवाली प्रक्रिया में इन कार्यों का कौन-सा स्थान था। प्रस्तुत प्रक्रिया सं० १ में द्वित्व-नाश का कारण घटनाश अर्थात् आधारनाश है जब कि प्रक्रिया सं० २ में पहले की भाँति अपेक्षाबुद्धि के विनाश से ही द्वित्व का विनाश माना जाता है। वास्तव में नवीनता प्रक्रिया सं० १ में ही है।

अब अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देकर द्वित्व का प्रकरण समाप्त किया जायगा।

(९ ग. अपेक्षाबुद्धि का लक्षण)

अपेक्षाबुद्धिर्नाम विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धिरिति बोद्धव्यम् ।

अपेक्षाबुद्धि उस बुद्धि को कहते हैं जिसका विनाश [द्वित्व संख्या का] विनाशक हो। [तात्पर्य यह है कि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है—दोनों के विनाशों में कार्यकारण का सम्बन्ध है। अब, यदि अपेक्षा-बुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है तब तो अपेक्षाबुद्धि अपने नाश की प्रतियोगिनी हुई। नाश धर्मी है, अपेक्षाबुद्धि प्रतियोगिनी है। इसी को कहा गया है कि **अपेक्षाबुद्धि द्वित्वसंख्या को नष्ट करने वाले विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि है।**]

विशेष—इसमें अन्तर्भूत पदों पर विचार करने से यह मालूम होता है कि यदि लक्षण से 'विनाशक' पद हटा दें तो जीव की बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह है कि जब हम कहते हैं 'यह घट है' तो इस बुद्धि का भी तृतीय क्षण में विनाश हो ही जाता है—यह बुद्धि भी विनाश की प्रतियोगिनी है, इसलिए 'यह घट है' इस ज्ञान को भी अपेक्षाबुद्धि कहने लगेंगे। इसलिए अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विनाशक' पद का प्रयोग हुआ है। वैसा करने से घट-ज्ञान का नाश होने पर किसी दूसरे का विनाश नहीं होता—इसलिए घट-ज्ञान का नाश किसी का विनाशक नहीं है। द्वित्व का नाश अपेक्षाबुद्धि के ही नाश से सम्भव है।

वैशेषिकों का यह मत दिखलाया गया है कि द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है। नैयायिक भी इसी को स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें उनकी विशेष रुचि नहीं, विशेष पर वैशेषिक का ही आग्रह है। कुछ लोग जो यह शंका करते हैं कि वैशेषिकों का द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से व्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं—यह बिल्कुल निरर्थक है।

भाषा-परिच्छेद (गुणखंड, १०९) में अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देते हुए विश्वनाथ कहते हैं—**अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते** अर्थात् अपेक्षा-बुद्धि उसे कहते हैं जो अनेकत्व में एकत्व का अवगाहन कराये जैसे 'अयम् एकः, अयम् एकः'। मुक्तावली में प्रस्तुत प्रसंग को इस रूप में व्यक्त किया गया है—'न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम्। कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात् अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशस्तन्नाशक इति कल्पनात्।' पूर्व पक्षवाले शंका करते हैं कि अपेक्षाबुद्धि के विनाश के बाद द्वित्व का नाश कैसे होता है? उत्तर

यह है कि जब अपेक्षाबुद्धि नहीं रहती तब द्वित्व आदि धर्मों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि अपेक्षाबुद्धि ही उन्हें उत्पन्न करती है और अपेक्षाबुद्धि के विनाश से उन द्वित्वादि धर्मों का भी विनाश हो जाता है।

द्वित्वादि के कारण के रूप में अपेक्षाबुद्धि किस प्रकार की कब होती है, इस पर विचार करते हुए मुक्तावली में लिखा है कि द्व्यणुकादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। उनमें द्वित्व के ज्ञान के लिए योगियों की अपेक्षा-बुद्धि काम देती है। सृष्टि के आदि-काल में जो परमाणु आदि हैं उनमें द्वित्व के कारण के रूप में या तो ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि काम में आती है या दूसरे ब्रह्माण्ड (जिस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हो रही है उससे किसी भिन्न ब्रह्माण्ड) में विद्यमान योगियों की अपेक्षाबुद्धि काम देती है। (मुक्तावली, वहीं)।

(१०. पाकज पदार्थ की उत्पत्ति)

अथ द्व्यणुकनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरन्यद् द्व्यणुकमुत्पद्य रूपादिमद्भवतीति जिज्ञासायामुत्पत्तिप्रकारः कथ्यते— नोदनादिक्रमेण द्व्यणुकनाशः। नष्टे द्व्यणुके परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादीनां निवृत्तिः। निवृत्तेषु श्यामादिषु पुनरन्यस्मादग्निसंयोगाद् रक्तादीनामुत्पत्तिः।

अब यह प्रश्न होता है कि एक द्व्यणुक का नाश होने पर, कितने क्षणों के बाद फिर दूसरा द्व्यणुक उत्पन्न होकर रूप-रस आदि से युक्त होता है। इस जिज्ञासा के उत्तर में अब हम द्व्यणुक की उत्पत्ति की रूपरेखा (प्रकार) प्रस्तुत करते हैं।

(१) सबसे पहले नोदन (संयोग, अग्नि-संयोग, √नुद् = प्रेरणा, Motion) आदि के क्रम से* द्व्यणुक (दो अणुओं के सम्मिलित रूप) का नाश होता है। (२) द्व्यणुक के नष्ट हो जाने पर परमाणु में अग्नि-संयोग होता है जिससे श्याम आदि गुणों की निवृत्ति (नाश) होती है। (३) अब श्याम आदि

---

* अग्निसंयोग (नोदन) से घट के अणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तब एक अणु से दूसरे अणु का पृथक्करण (Separation) होता है। फिर कृष्ण (कच्चा) घट का निर्माण करने वाले अणुओं के संयोग का नाश होता है और अन्त में द्व्यणुक का विनाश होता है। यह द्व्यणुक नष्ट होने पर पुनः नवम क्षण में दूसरा द्व्यणुक दूसरे रूप का उत्पन्न करता है।

भूतपूर्व गुणों के हट जाने पर उस परमाणु में पुनः अग्नि-संयोग होता है जिससे रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

विशेष—'पाक' का अर्थ है तेजःसंयोग। अग्नि के साथ संयोग होने पर द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अन्तर या परिवर्तन होता है। कच्चा घड़ा काला है किन्तु जब उसमें अग्नि का संयोग होगा तब वह लाल हो जायगा। आम, अमरूद आदि के हरे फलों में तेज के संयोग से पीलापन आ जाता है—यह रूप का परिवर्तन है। कच्चा फल स्वाद (रस) में खट्टा, गन्ध में दूसरी तरह का तथा स्पर्श में कड़ा लगता है जब कि अग्नि-संयोग (धूप से) हो जाने पर जब वह पक जाता है तब उसमें मधुरता, सुगन्ध तथा कोमलता आ जाती है। इसी तरह से द्रव्यों में रूपादि चार गुणों का पाकजत्व देखा जाता है, किन्तु स्मरणीय है कि नव द्रव्यों में केवल पृथ्वी में ही यह पाकजत्व होता है—'एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्' (भा० प० १०५)। जलादि द्रव्यों में पाकजत्व नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि पाक होता किसका है—परमाणुओं का या पूरे द्रव्य (पिण्ड) का ? वैशेषिक कहते हैं कि परमाणुओं में ही पाकज गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का परावर्तन होता है—तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये (भा० प० १०५)। उनके सिद्धान्त को **पीलुपाक-प्रक्रिया** कहते हैं क्योंकि 'पीलु' का अर्थ परमाणु होता है। दूसरी ओर, नैयायिकों की मान्यता है कि पिण्ड में ही रूपादि का परावर्तन होता है। अवयव और अवयवी (जैसे घट) का नित्य संबंध होने के कारण दोनों का एक साथ विनाश और एक ही साथ उदय होता है। अतः पूर्वरूप आदि का नाश या विकास अवयवी (पिण्ड) से संबद्ध है। नैयायिकों का सिद्धान्त **पिठरपाक-प्रक्रिया** के नाम से प्रसिद्ध है (पिठर=पिण्ड या अवयवी जैसे घट)।

प्रस्तुत प्रसंग में वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण है। अतः उसीका विश्लेषण समीचीन है। सामान्यतः तेजःसंयोग के कारण घट के अवयवों या कपालों (घट के टुकड़ों) के पारस्परिक वियोग से घट (अवयवी) का नाश होता है। इन कपालों के भी अवयवों के वियोग या विनाश से इनका नाश होता है। इस प्रकार का नाश त्र्यणुक तक ही होता है। द्व्यणुक का नाश इसके अवयवों के नाश से नहीं होता, प्रत्युत दो परमाणुओं के पारस्परिक वियोग से होता है क्योंकि परमाणु नित्य होने के कारण नष्ट नहीं हो सकते। हाँ, एक दूसरे से वे पृथक् हो सकते हैं। अब इन परमाणुओं के पृथक् होने से इनके पहले के रूप, रस आदि गुण नष्ट हो जाते हैं तथा दूसरे

ही रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं। अब इन परमाणुओं से क्रमशः द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से नवीन घट उत्पन्न होता है।

मुक्तावली (भा० प० १०५ की टीका) में इस प्रकार कहा गया है— 'पृथिवी-द्रव्य में भी केवल परमाणु में ही पाक होता है, ऐसा वैशेषिक लोग कहते हैं। उनका यह अभिप्राय है—अवयवी (घट) के द्वारा निरुद्ध (संबद्ध) अवयवों में पाक का होना [संभव] नहीं। हाँ, अग्नि के संयोग से अवयवियों के नष्ट हो जाने पर प्रत्येक अवयव के स्वतंत्र परमाणुओं में पाक होता है। फिर पक्व (पाक होने के बाद, तेजःसंयोग से रूपादि-परावृत्ति होने पर) परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि के क्रम से महान् अवयवी (= घट) पर्यन्त उत्पत्ति होती है। अग्नि-पदार्थ में अतिशय वेग होने के कारण पहले के व्यूह (अवयव-समूह के रूप में घट) का नाश होकर तुरन्त दूसरे व्यूह की उत्पत्ति हो जाती है।'

एक द्व्यणुक का नाश होने पर दूसरा द्व्यणुक कितने क्षणों में उत्पन्न होता है, इस प्रश्न को लेकर वैशेषिकों के यहाँ **क्षणप्रक्रिया** चलती है। विभागज विभाग को स्वीकार करने पर इसमें दस क्षण लगते हैं किन्तु उसे अस्वीकार करें तो केवल नव क्षणों में काम हो जाता है। कुछ दूसरे मतों से इसमें पाँच, छह, सात, आठ या ग्यारह क्षण भी होते हैं। उन सबों का विवेचन मुक्तावली के उपर्युक्त स्थल पर हुआ है।

इस स्थान पर नवक्षण प्रक्रिया की चर्चा चल रही है। ऊपर तीन क्षण हम देख चुके हैं। चौथे क्षण के लिए आगे देखें।

उत्पन्नेषु रक्तादिषु अदृष्टवदात्मसंयोगात्परमाणौ द्रव्यारम्भणाय क्रिया। तया पूर्वदेशाद्विभागः। विभागेन पूर्वदेशसंयोगनिवृत्तिः। तस्मिन्निवृत्ते परमाण्वन्तरेण संयोगोत्पत्तिः। संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भः। आरब्धे द्व्यणुके कारणगुणादिभ्यः कार्यगुणादीनां रूपादीनामुत्पत्तिरिति यथाक्रमं नव क्षणाः।

दशक्षणादिप्रकारान्तरं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते। इत्थं पीलुपाकप्रक्रिया। पिठरपाकप्रक्रिया नैयायिकधीसंमता।

(४) रक्त आदि गुणों के उत्पन्न हो जाने पर अदृष्ट (धर्म-अधर्म) से युक्त आत्मा के साथ संयोग होने पर परमाणु में द्रव्य का आरम्भ (उत्पादन)

करने के लिए क्रिया होती है। [चूँकि निर्गुण द्रव्य में क्रिया का रहना असंभव है इसलिए रक्तादि गुणों की उत्पत्ति के अनन्तर ही द्रव्यारम्भक क्रिया उत्पन्न होती है। अदृष्ट अर्थात् धर्म या अधर्म ही सभी पदार्थों का साधारण कारण है क्योंकि अदृष्ट के आश्रय जीव हैं जो विभु होने के कारण सभी कार्यों में अदृष्ट के साथ रहते हैं।] (५) इस क्रिया के द्वारा परमाणु का अपने पूर्व स्थान से विभाग (Disjunction) होता है। (६) विभाग होने पर परमाणु के पूर्व स्थान के साथ विद्यमान संयोग का विनाश होता है। (७) जब संयोग की निवृत्ति हो जाती है तब उस परमाणु का संयोग दूसरे परमाणु के साथ होता है। (८) दो परमाणुओं के संयुक्त होने से द्वयणुक (दो परमाणुओं का समाहार) का आरम्भ होता है और अन्त में (९) द्वयणुक का आरम्भ होने पर कारण के रूप में स्थित गुण आदि से कार्य के रूप में स्थित गुणादि, जैसे रूप, रस, गन्धादि, की उत्पत्ति होती है—इस प्रकार क्रमशः ये नौ क्षण होते हैं।

दस क्षण में होनेवाली या दूसरे प्रकार से (पाँच, छह आदि क्षणों में) होनेवाली प्रक्रियाओं का वर्णन विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है। अस्तु, इस प्रक्रिया को पीलुपाक-प्रक्रिया कहते हैं। नैयायिकों के द्वारा पिठर-पाक-प्रक्रिया स्वीकृत है। [इसकी रूपरेखा ऊपर की टिप्पणी में दी गई है।]*

(११. विभागज विभाग का विवेचन)

विभागजविभागो द्विविधः—कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्च। तत्र प्रथमः कथ्यते—कार्यव्याप्ते कारणे कर्मोत्पन्नं यदाऽवयवान्तराद्विभागं विधत्ते, न तदाऽऽकाशादिदेशाद्विभागः। यदा त्वाकाशादिदेशाद्विभागः, न तदाऽवयवान्तरादिति स्थितिनियमः।

विभाग से उत्पन्न होनेवाला विभाग दो प्रकार का है—(१) जो केवल

---

* पीलुपाक-प्रक्रिया में कच्चा घट जब पकाया जाता है तब उसका नाश ही हो जाता है क्योंकि इसके द्वयणुक आदि नष्ट हो जाते हैं। पाक (अग्नि-संयोग) से परमाणुओं में लाली आती है तथा घट पक कर लाल हो जाता है। क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि घट के परिवर्तन को आँखें नहीं समझ पातीं। घट बदल जाता है। पिठरपाक-प्रक्रिया में अग्नि द्रव्य के अणुओं में सीधे प्रविष्ट हो जाती है तथा कच्चे घट का विनाश बिना किये ही अपना प्रभाव उन अणुओं पर व्यक्त करके उसी घट में गुण-परिवर्तन कर देती है।

कारण (उपादान कारण) के विभाग से उत्पन्न हो तथा (२) जो कारण और अकारण (स्थान) के विभाग से उत्पन्न हो। पहले हम प्रथम भेद का वर्णन करें।

कार्य (द्व्यणुक) के द्वारा व्याप्त कारण (परमाणु) में जो कर्म (क्रिया) उत्पन्न होता है वह जब दूसरे अवयवों से विभाग धारण करता है, उस समय आकाश आदि देशों (Place) से विभाग नहीं होता। दूसरी ओर जब उसमें आकाश आदि देशों से विभाग किया जाता है तब दूसरे अवयवों से विभाग नहीं होता—यह एक स्थिर नियम है।

विशेष—वैशेषिकों के द्वारा प्रदर्शित गुणों में एक गुण विभाग (Disjunction) है। यह तीन प्रकार से होता है—एक पदार्थ की क्रिया से उत्पन्न होने वाला विभाग, दोनों की क्रियाओं से होने वाला विभाग तथा विभाग से ही उत्पन्न होने वाला विभाग। इनके उदाहरण क्रमश यों हैं—श्येन पक्षी से पर्वत का विभाग (एक-क्रियाजन्य विभाग), दो मेषों (भेंड़ों) का विभाग (उभयक्रियाजन्य) तथा कपाल (घड़े के टुकड़े) और वृक्ष का विभाग करने से घट और वृक्ष का विभाग करना (विभागज विभाग)। विभागज विभाग में भी दो द्रव्यों का पृथक्करण होता है किन्तु उनमें पहले एक और विभाग हो जाता है। एक वस्तु (धर्मी) के अवयवों के साथ दूसरी वस्तु (प्रतियोगी) का विभाग कर लेने पर उसी के आधार पर पूरे धर्मी के साथ प्रतियोगी का विभाग मानते हैं। नैयायिक इस प्रकार का विभाग स्वीकार नहीं करते।

इस विभागज विभाग के दो भेद हैं—

विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत्।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ (भा० प० १२०)।

सिद्धान्तमुक्तावली में इसकी विवेचना बहुत सरल और संक्षिप्त रूप से हुई है।

१. कारणमात्र विभागजन्य—पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है, फिर दो कपालों का विभाग होता है, फिर घट का आरंभ करने वाले संयोग का नाश होता है, फिर घट का नाश होता है। अब उसी कपाल-विभाग के द्वारा पूर्वोक्त क्रियायुक्त कपाल का आकाश के साथ विभाग उत्पन्न होता है। पुनः आकाशसंयोग का नाश और तब उत्तर देश के साथ कपाल के संयोग का नाश होकर अंत में कर्म का नाश होता है। तात्पर्य यह निकला कि कर्म पहले एक प्रकार का विभाग (कपालद्वय-विभाग) उत्पन्न कर देता है—तब इस विभाग के द्वारा दूसरा विभाग (आकाश अर्थात् स्थान से कपाल का विभाग) उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में दो विभाग हुए—१. अवयवों से विभाग तथा

२. देशान्तर (दूसरे स्थान) से विभाग। ये दोनों एक साथ नहीं रहते। केवल पूर्वापर का ही नहीं, इन दोनों के बीच कुछ क्षणों का भी अन्तर है।

हम ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जिस पहले कर्म से दो अवयवों का विभाग किया गया है उसीसे कपाल का आकाश या देशान्तर के साथ विभाग उत्पन्न होना क्यों नहीं मान लेते हैं? कारण यह है कि एक ही कर्म आरंभक (उत्पादक) संयोग के विरोध में खड़े होने वाले विभाग को तथा अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को—दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि दोनों प्रकार के विभागों को उत्पन्न करने वाली क्रिया को हम एक ही समझने की भूल करें तो खिलते हुए कमल की कलिका के टूट जाने की भी संभावना करनी पड़ेगी (विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्)। कमल के खिलने के समय जो कर्म उसमें उत्पन्न होता है, वह उस विभाग को उत्पन्न करता है जो कमल के अनारंभक आकाश-प्रदेश के साथ उसके संयोग का विरोधी है। यदि वह कर्म अब कमल के आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करे तो कमल का विनाश निश्चित है। आरंभक संयोग विनाश पर ही आधारित होता है। फल यह निकला कि जो कर्म अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, वह आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करता। जो कर्म दूसरे अवयवों से अर्थात् **परमाणुओं से विभाग** (आरंभकसंयोगप्रतिद्वन्द्विभूतं विभागम्) उत्पन्न करता है, वह कर्म द्व्यणुकों का आरंभ न करने वाले **आकाश-प्रदेश के साथ** होने वाले संयोग का विरोधी **विभाग** उत्पन्न नहीं करता। दोनों में से कोई एक ही क्रिया संभव है—दोनों प्रकारों के विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रियायें दो हैं।

ऐसी भी शंका नहीं की जा सकती कि कारण-विभाग (अवयवों से विभाग) से ही, द्रव्य-नाश के पहले ही, देशान्तर (आकाश)-विभाग क्यों नहीं उत्पन्न होता? कारण यह है कि अवयव आरंभक-संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, द्रव्य के होने पर (विना द्रव्य-नाश के) देशान्तर से इसका विभाग होना असंभव है। अतः किसी भी दशा में अवयव-विभाग (कारण-विभाग) के होने के बाद ही देशान्तर-विभाग होता है।

२. कारणाकारण-विभागजन्य—हाथ में क्रिया उत्पन्न होने से हाथ और वृक्ष के बीच विभाग होता है, इसी से शरीर में भी 'विभक्त' (पृथक्) होने का ज्ञान होता है (स्मरणीय है कि विभाग के द्वारा दो द्रव्यों में विभक्त होने की प्रतीति होती है)। इस प्रकार हस्त-वृक्ष-विभाग (कार्य) के लिए हस्त-क्रिया कारण है। किन्तु यही हस्त-क्रिया शरीर और वृक्ष के विभाग का

कारण नहीं हो सकती क्योंकि दोनों का एक अधिकरण नहीं है। कार्य-कारण का संबंध समानाधिकरण पदार्थों का ही होता है। शरीर-क्रिया को भी शरीर और वृक्ष के विभाग का कारण नहीं मान सकते क्योंकि शरीर में क्रिया तो उस समय हुई ही नहीं। अवयवी (शरीर) के कर्म अवयवों (हाथ, पैर आदि) पर ही निर्भर करते हैं। सभी अवयवों में क्रिया होने पर ही शरीर की क्रिया मानी जाती है। ऐसे स्थलों में कारणाकारण-विभाग से कार्याकार्य-विभाग उत्पन्न होता है। हस्त-वृक्ष का विभाग (कारण) होने के बाद शरीर-वृक्ष का विभाग होता है—हस्त-वृक्ष का विभाग होने से शरीर में भी विभक्त प्रत्यय होता है।

इन सबों का विवेचन मुक्तावली के आधार पर किया गया है। सर्वदर्शन-संग्रह में भी प्रस्तुत प्रसंग में यह विषय आवेगा।

कर्मणो गगनविभागाकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधि-विभागारम्भकत्वेन धूमस्य धूमध्वजवर्गेणेव व्यभिचारानुपल-म्भात्। ततश्चावयवकर्मावयवान्तरादेव विभागं करोति नाका-शादिदेशात्। तस्माद्विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः। ततः कारणाभावात्कार्याभाव इति न्यायादवयवनिवृत्तिः।

जिस प्रकार धूम का व्यभिचार धूमध्वज (अग्नि) के साथ कहीं प्राप्त नहीं होता (अग्नि के बिना धूम नहीं मिलता), ठीक उसी प्रकार कर्म (= घटध्वंस-कर्म) जिसे हम स्थान (space) के विचार से होनेवाले विभाग का कर्ता नहीं मानते (= स्थानजन्य विभाग का अनारंभक कर्म), द्रव्य का आरंभ करने वाले संयोग के विरोधी विभाग के उत्पादक के रूप में ही सदा रहता है, व्य-भिचरित नहीं होता। [ऊपर कही गई बातों को ही इसमें फैलाया जा रहा है। स्थानगत विभाग को जो कर्म उत्पन्न नहीं करता, वही कर्म द्रव्यारंभक संयोग का विरोध करने वाले विभाग को उत्पन्न करता है—दोनों कर्मों में कार्य-कारण संबंध है। चूँकि संयोग और विभाग में सीधा विरोध है इसीलिए स्थान-स्थान पर 'संयोगप्रतिद्वन्द्विविभाग' की तरह की उक्तियाँ दी जाती हैं।]

इसलिए अवयवों का [घटध्वंस-रूपी] कर्म अपना विभाग दूसरे अवयवों से ही उत्पन्न करता है, आकाश आदि देशों (space) से नहीं। इस विभाग के बाद द्रव्य (घट) का आरंभ करने वाले संयोग की निवृत्ति होती है। उसके बाद, 'कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव होता है'—इस नियम से

[द्रव्यारंभक-संयोग-रूपी कारण के नष्ट हो जाने से उसके कार्य अर्थात्] अवयवी (घट) की भी निवृत्ति हो जाती है।

निवृत्तेऽवयविनि तत्कारणयोरवयवयोः वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वाऽवयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवाव-यवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशदेशाद्विभागमारभते न निष्क्रियस्य। कारणाभावात्।

इस प्रकार जब अवयवी (घट) का विनाश हो जाता है तब उस (विनाश) के कारणस्वरूप जो दोनों अवयव (टुकड़े) हैं उनके बीच विद्यमान विभाग या तो कार्य के विनाश से संबद्ध काल (Time) की अपेक्षा रखता है या किसी स्वतंत्र अवयव की अपेक्षा करके ही केवल **सक्रिय** अवयव का ही विभाग कार्य-संबद्ध आकाश-देश से आरंभ करता है, निष्क्रिय अवयव का विभाग वह इसलिए आरंभ नहीं करता कि उसका कोई कारण ही नहीं दिखलाई पड़ता। [अभिप्राय यह है कि दो अवयवों का विभाग होने से घट की निवृत्ति होती है। उन दोनों अवयवों में एक को सक्रिय मानते हैं, दूसरे को निष्क्रिय। हम ऊपर देख चुके हैं कि अवयवों का पारस्परिक विभाग होने के बाद उनका विभाग आकाश देश (स्थान Space) से भी होता है। इसलिए अब प्रथम विभाग आकाशदेशविभाग को उत्पन्न करता है। किन्तु यहाँ भी निष्क्रिय अवयव से आकाश-विभाग नहीं माना जा सकता क्योंकि शक्ति के अभाव में वह कारण नहीं बन सकता। सक्रिय अवयव से ही आकाश-विभाग माना जा सकता है। 'स्वतंत्र अवयव' का यहाँ अर्थ है अपने विनाश के पश्चात् आने वाला काल का कोई विशेष अवयव।]

विशेष—विभागज विभाग को स्वीकार करने पर द्व्यणुकोत्पत्ति की दशक्षणा या एकादशक्षणा प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है। जब हम विभागज विभाग को स्वीकार करते हैं तो साथ-ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि एक विभाग बिना किसी की अपेक्षा रखे हुए दूसरे विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि निरपेक्ष होकर विभाग दूसरे विभाग का उत्पादन करता है तब उस पहले विभाग को विभाग समझना भूल है। वस्तुतः वह कर्म है, क्योंकि कणाद ने वैशेषिक सूत्र (१।१।१७) में कहा है—**संयोगविभाग-योरनपेक्षं कारणं कर्म**। इसका अर्थ है कि संयोग और विभाग को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ जो अपने बाद किसी की अपेक्षा नहीं रखे वह कर्म है। विभाग (आकाशविभाग) यदि किसी निरपेक्ष विभाग (अवयवविभाग) से

उत्पन्न होने लगे तो वह उत्पादक विभाग कर्म के लक्षण में आने के कारण कर्म ही हो जायगा। इस प्रकार कर्म के लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष होता है। दूसरी ओर यदि कर्म के लक्षण में कुछ परिवर्तन करें कि उत्तरसंयोगोत्पत्ति के समय पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा है तो अव्याप्ति-दोष होगा। अन्ततः यह मानना पड़ा कि विभागज विभाग में विभागारंभ के लिए सापेक्ष विभाग ही कारण हो सकता है।

अब प्रश्न है कि अपेक्षा हो तो किसकी ? यदि द्रव्यारंभ करनेवाले संयोग की निवृत्ति करनेवाले काल की अपेक्षा करके विभागज विभाग मानते हैं तो दशक्षण (Ten-moment process) प्रक्रिया होगी। यदि द्रव्यनाश करनेवाले काल की अपेक्षा करेंगे तो एकादशक्षण प्रक्रिया होगी। दोनों की तुलना निम्न चित्र द्वारा की जा सकती है—

दशक्षणा

अग्निसंयोग से द्व्यणुक का आरंभ करने वाले परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब आरंभक के संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश और विभागज-विभाग।

(२) श्यामनाश और पूर्वसंयोग का नाश;

(३) रक्तोत्पत्ति और उत्तरसंयोग;

(४) अग्निनोदन से उत्पन्न हुई परमाणुगत क्रिया का नाश;

(५) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्य के आरंभ के अनुकूल क्रिया;

(६) विभाग;

(७) पूर्वसंयोग का नाश;

(८) आरंभक-संयोग;

(९) द्व्यणुक की उत्पत्ति;

(१०) अंत में रक्तादि की उत्पति।

एकादशक्षणा

अग्निसंयोग से परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब द्रव्यारंभक संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश;

(२) द्व्यणुकनाश से संबद्ध काल की अपेक्षा रखते हुए विभागज विभाग तथा श्याम का नाश;

(३) पूर्वसंयोग का नाश और रक्तोत्पत्ति;

(४) उत्तरसंयोग;

(५) अग्निनोदन से उत्पन्न परमाणुगत क्रिया का नाश;

(६) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्यारंभ के अनुकूल क्रिया;

(७) विभाग;

(८) पूर्वसंयोग का नाश;

(९) द्रव्यारंभक-संयोग;

(१०) द्व्यणुक की उत्पत्ति;

(११) अंत में रक्तादि की उत्पत्ति।

(११ क. विभागज विभाग का दूसरा भेद)

द्वितीयस्तु हस्ते कर्मोत्पन्नम् अवयवान्तराद्विभागं कुर्वत् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभते । ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं, तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागमारभन्ते । यथा हस्ताकाशविभागाच्छरीराकाशविभागः ।

विभागज विभाग का दूसरा भेद (कारणाकारण विभाग से उत्पन्न विभाग) वह है जिसमें हाथ में उत्पन्न होने वाली क्रिया दूसरे अवयवों से विभाग करती हुई आकाशादि देशों से विभाग आरम्भ करती है। [हाथ का सम्बन्ध घट, पट, तरु आदि से होता है, इन पदार्थों से विभाग उत्पन्न होता है। हाथ शरीर का अवयव होने के कारण शरीर का कारण है किन्तु आकाश आदि शरीर के कारण नहीं हैं। हाथ से विभाग होना **कारण विभाग** है, आकाश से विभाग होना **अ-कारण विभाग** है, दोनों का—कारण और अकारण का—पारस्परिक विभाग ही शरीर का आकाशादि से विभाग उत्पन्न करता है।]

जिस दिशा में क्रिया कार्यारंभ के लिए अभिमुख दिखलाई पड़ती है उसी दिशा की अपेक्षा रखते हुए कारण और अकारण के ये विभाग कार्य और अकार्य के विभाग उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए हाथ और आकाश का विभाग उत्पन्न होने पर शरीर और आकाश का विभाग उत्पन्न होता है।

विशेष—हाथ कारण और शरीर कार्य है। उसी प्रकार आकाश अकारण तथा अकार्य है। इसलिए—

कारण + अकारण का विभाग > कार्य + अकार्य का विभाग,

जैसे, हस्त + आकाश का विभाग > शरीर + आकाश का विभाग।

ये विभाग कर्म के अनुरूप ही होते हैं। उत्तर में चला हुआ हाथ दक्षिण आकाश-देश से विभाग उत्पन्न करता है। वैसे ही पूर्व में चला हुआ हाथ पश्चिम-आकाश से विभाग उत्पन्न करता है।

न चासौ शरीरक्रियाकार्यः । तदा तस्य निष्क्रियत्वात् । नापि हस्तक्रियाकार्यः व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागकर्तृत्वानुपपत्तेः । अतः पारिशेष्यात् कारणाकारणविभागस्तस्य कारणमङ्गीकरणीयम् ।

शरीर और आकाश का विभाग शरीर-गत क्रिया का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उस समय शरीर निष्क्रिय ही रहता है। [तात्पर्य यह है कि

शरीर और आकाश का विभाग हस्ताकाशविभाग से ही उत्पन्न होता है। शरीरस्थित क्रिया से इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। हस्ताकाशविभाग होने पर हाथ ही सक्रिय रहता है शरीर तो निष्क्रिय ही रहता है क्योंकि अवयवी (शरीर) तभी सक्रिय होता है जब सभी अवयव सक्रिय होते हैं। देखिये पहले की टिप्पणी।]

शरीराकाश-विभाग को हस्त-कर्म का भी कार्य नहीं कह सकते। [जिस प्रकार हस्ताकाश-विभाग हस्त की क्रिया के कारण होता है वैसे ही हस्तक्रिया से ही शरीराकाश-विभाग क्यों नहीं हो जाता ? यही शंका है।] दूसरे आधार में रहनेवाला (व्यधिकरण) कर्म किसी दूसरे स्थान में विभाग उत्पन्न नहीं कर सकता। [अभिप्राय यह है कि क्रिया अपने आश्रय में ही अपना कार्य करती है दूसरे के आश्रय में नहीं। नहीं तो अतिप्रसंग नामक दोष होगा। यहाँ पर क्रिया हाथ में रहे और उसका कार्य—विभाग—शरीर में रहे, ऐसा कहना कठिन है। कार्य और कारण का समानाधिकरण रहना परमावश्यक है।]

इस प्रकार केवल एक ही विकल्प बच रहने से कारणाकारण विभाग को ही हम उस (शरीराकाश-विभाग) का कारण मान सकते हैं।

(१२. अन्धकार का विवेचन)*

यदवादि—'अन्धकारादौ भावत्वं निषिध्यते' इति तदसंगतम्। तत्र चतुर्धा विवादसंभवात्। तथाहि—द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति। आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभावः इति प्राभाकरैकदेशिनः। आलोकाभाव इति नैयायिकादय इति चेत्—

ऊपर जो आपने कहा कि अन्धकार आदि को भाव नहीं मानते (देखिये— इसी दर्शन के अनु० ४ का अन्तिम भाग)—यह बिल्कुल असंगत है क्योंकि

---

* अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत की श्रेष्ठता श्रीहर्ष ने भी नैषधचरित में शब्दच्छल से स्वीकार की है। नारायणी टीका में इसका व्याख्यान देखें। श्लोक है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।

औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥ (२२।३६)

चूँकि उलूक ही अन्धकार का विश्लेषण करने में समर्थ होता है इसलिए दर्शन का ही नाम 'औलूक' हो गया।

अन्धकार के प्रश्न पर चार प्रकार के विवाद सम्भव हैं। उदाहरणतः (१) भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों का यह कथन है कि अन्धकार एक द्रव्य है [स्वाभाविक नीलरूप से विशिष्ट द्रव्य ही अन्धकार है जैसे कज्जल, कालिख आदि हैं।] दूसरी ओर (२) श्रीधराचार्य कहते हैं कि अन्धकार वह है जिस पर नील रूप का आरोपण हुआ हो। [वास्तव में अन्धकार द्रव्य ही है किन्तु नीला रूप वास्तविक नहीं है आरोपित किया जाता है, जैसे जल पर श्वेत रूप या आकाश पर नील रूप का आरोपण होता है।] (३) तीसरा पक्ष प्रभाकर-मीमांसकों के दल के कुछ लोगों का है जो कहते हैं कि प्रकाश के ज्ञान के अभाव को अन्धकार कहते हैं। (४) अन्त में नैयायिकों का सिद्धान्त है कि प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। [इसे कुछ दूसरे लोग भी मानते हैं।]

उपर्युक्त शंका होने पर इसका उत्तर निम्नलिखित रूप से देंगे।

तत्र द्रव्यत्वपक्षो न घटते। विकल्पानुपपत्तेः। द्रव्यं भवदन्धकाराख्यं पृथिव्याद्यन्यतममन्यद्वा। नाद्यः। यत्रान्तर्भावोऽस्य तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। निर्गुणस्य तस्य द्रव्यत्वासंभवेन द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामसंभवात्।

(१) इनमें अन्धकार को द्रव्य मानने वाला पक्ष संभव नहीं है क्योंकि निम्नलिखित दोनों ही विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। प्रश्न है कि यह अन्धकार नामक द्रव्य पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में ही किसी के अन्तर्गत है या इनके अतिरिक्त दशम द्रव्य है? पहला पक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि जिस द्रव्य में अन्धकार का अन्तर्भाव (Inclusion) करेंगे उस द्रव्य के सभी गुण अन्धकार के भी अपने गुण होंगे, ऐसी स्थिति हो जायगी। दूसरा पक्ष, कि अन्धकार दशम द्रव्य है, भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अन्धकार निर्गुण होने के कारण पहले तो द्रव्य ही नहीं हो सकता (∵ द्रव्य सगुण होता है), द्रव्यान्तर होना तो दूर की बात है।

विशेष—अन्धकार को यदि पृथिवी में लेते हैं तो पृथिवी की तरह ही उसमें भी चौदह गुण मानने पड़ेंगे। फिर तो अंधकार में भी शुक्ल, पीत आदि नाना प्रकार के रूप और रस, गन्ध आदि गुण होने लगें। लेकिन बात ऐसी नहीं है! इसी प्रकार जल में अन्धकार का ग्रहण करने से शीतस्पर्श, रस, द्रवत्व आदि गुणों की उपलब्धि होने लगेगी। तेजस् में अन्तर्भाव करने पर

उष्णस्पर्श आदि की उपलब्धि होगी। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहने वाले गुणों का निदर्शन भाषा-परिच्छेद (३०-३४) में किया गया है—

१. **वायु**—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार (९ गुण)।

२. **तेजस्**—स्पर्शादि आठ, रूप, वेग, तथा द्रवत्व (११ गुण)।

३. **जल**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह (१४ गुण)।

४. **पृथिवी**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा गन्ध (१४ गुण)।

५. **जीवात्मा**—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना नामक संस्कार, धर्म तथा अधर्म (१४ गुण)।

५ क. **ईश्वर**—संख्यादि पाँच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न (८ गुण)।

६. **आकाश**—संख्यादि पाँच, शब्द (६ गुण)।

७-८. **काल और दिशा**—संख्यादि पाँच (५ गुण)।

९. **मनस्**—परत्व, अपरत्व, संख्यादि पाँच तथा वेग (८ गुण)।

दूसरे विकल्प में यह कहा गया है कि गुण द्रव्यों में रहता है जब कि अन्धकार में कोई गुण नहीं। फिर अन्धकार को किस आधार पर द्रव्य मानेंगे ? जब द्रव्य ही नहीं तो दशम द्रव्य होने की बात कहाँ से आयेगी ? दरवाजे के भीतर ही आना कठिन है, सभापति होने का स्वप्न कहाँ से देख रहे हैं ?

ननु तमालश्यामलत्वेनोपलभ्यमानं तमः कथं निर्गुणं स्यादिति चेत्—तदसारम्। गन्धादिव्याप्तस्य नीलरूपस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः।

अथ नीलं तम इति गतेः का गतिरिति चेत्—नीलं नभ इतिवद् भ्रान्तिरेवेत्यलं वृद्धवीवधया। अत एव नारोपितरूपं तमः। अधिष्ठानप्रत्ययमन्तरेणारोपायोगात्। बाह्यालोकसहकारिरहितस्य चक्षुषो रूपारोपे सामर्थ्यानुपलम्भाच्च।

अब आप यह पूछ सकते हैं कि तमालवृक्ष के समान श्यामल-रूप में पाये जाने वाले अन्धकार को आप निर्गुण कैसे कहते हैं ? यह प्रश्न निस्सार है क्योंकि गन्ध, रस आदि गुणों से व्याप्त जो नीलरूप है वह व्यापक (गन्धादि गुणों) के नष्ट होते ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है। [जहाँ-जहाँ नीलरूप है

वहाँ-वहाँ गन्ध, रस आदि गुण हैं जैसे प्रियंगु की कलिका आदि। यह व्याप्ति हुई। यहाँ नीलरूप व्याप्य है, गन्धादि व्यापक। व्यापक का यदि अभाव हो तो उस स्थान पर या उस द्रव्य में व्याप्य का भी तो अभाव होगा। अन्धकार में व्यापक (गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुण) मिलते ही नहीं, इसलिए व्याप्य अर्थात् नीलरूप भी अन्धकार में नहीं ही है---यह सिद्ध हुआ।]

अब यह पूछा जा सकता है कि [यदि 'नीलरूपं तमः' नहीं कहकर 'नीलं तमः' अर्थात्] अन्धकार नीला होता है, ऐसा कहें तो क्या हानि है ? यह वाक्य ठीक उस वाक्य की तरह भ्रान्तिपूर्ण है जब हम कहते हैं कि आकाश नीला है। [वस्तुतः आकाश शून्य है किन्तु भ्रम से नीला प्रतीत होता है] वृद्धों (भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों) के दोषों की अधिक आलोचना (वीवधा = दोषा-लोचन) करना व्यर्थ है।

(२) इसीलिए [श्रीधराचार्य की यह मान्यता कि] 'अन्धकार वह है जिस पर रूप का आरोपण (Imposition) हुआ है' भी ठीक नहीं। [इसी-लिए = चूँकि अन्धकार द्रव्य ही नहीं है इसलिए।] कारण यह है कि अधिष्ठान (आधार Substratum) का ज्ञान हुए बिना किसी का आरोपण नहीं किया जा सकता। [रस्सी देखने के बाद ही उस पर साँप का आरोपण होता है, शंख देखने के बाद ही पित्त दोष के कारण उस पर पीतत्व आदि गुणों को आरोपित करते हैं। अन्धकार पर नीलरूप का आरोपण तभी सम्भव है जब कोई आधार हो।] दूसरा कारण यह है कि बाहरी प्रकाश की सहायता जब आँख को नहीं मिलती है तब वह रूप के आरोप में समर्थ नहीं हो सकती। [अन्धकार में कोई प्रकाश तो है नहीं कि आँख उसे देखकर उसपर नील या किसी रूप का आरोप कर सके। बाह्य प्रकाश की सहायता लेने पर ही आँख किसी पदार्थ को पीला, नीला या हरा समझती है, प्रकाशाभाव में किसी भी रूप का आरोप करना उसके लिए नितान्त असम्भव है।]

न चायमचाक्षुषः प्रत्ययः। तदनुविधानस्यानन्यथासिद्धत्वात्। अत एव नालोकज्ञानाभावः। अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात्।

अंधकार के ज्ञान को अचाक्षुष (नेत्रेन्द्रिय से असंबद्ध, मानस) ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा तम का ज्ञान होता है, यह विधान निरर्थक (अन्यथासिद्ध) हो जायगा। [भाव यह है कि अन्धकार

का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। यह अपेक्षा तब असिद्ध हो जायगी जब हम अन्धकार-ज्ञान को अचाक्षुष मान लेंगे।]

(३) इसलिए (अन्धकार चूँकि चाक्षुषज्ञान से ज्ञेय है इसलिए) आलोक के ज्ञान के अभाव को अन्धकार नहीं कह सकते। यह एक नियम है कि अभाव उसी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हो सकता है जो इन्द्रिय उसके प्रतियोगी (विरोधी) का ग्रहण कर सके। इसलिए अभाव मानस ज्ञान है [क्योंकि अभाव का प्रतियोगी यहाँ आलोक-ज्ञान है जिसे मन के द्वारा ग्रहण करते हैं। जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी समझी जाती है। अभाव को धर्मी कहेंगे। आलोकज्ञानाभाव धर्मी है, आलोक-ज्ञान प्रतियोगी। जो इन्द्रिय प्रतियोगी का ग्रहण कर सकती है वही धर्मी का भी ग्रहण कर सकती है। आलोकज्ञान चाक्षुष नहीं है, मन के द्वारा ही ग्राह्य होता है इसलिए आलोकज्ञानाभाव भी मानस होगा। यदि मानस है तो अन्धकार का लक्षण आलोकज्ञानाभाव कैसे होगा ? अन्धकार तो चाक्षुष पदार्थ है न ?] इस प्रकार अन्धकार के विषय में प्रभाकर का सिद्धान्त भी समाप्त हुआ।]

(१३. अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत)

तस्मादालोकाभाव एव तमः। न च विधिप्रत्ययवेद्यत्वेनाभावत्वायोग इति सांप्रतम्। प्रलयविनाशावसानादिषु व्यभिचारात्। न चाभावे भावधर्माध्यारोपो दुरुपपादः। दुःखाभावे सुखत्वारोपस्य संयोगाभावे विभागत्वाभिमानस्य च दृष्टत्वात्।

इसलिए प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। यहाँ ऐसा संदेह नहीं किया जा सकता कि अंधकार विधानात्मक (Affirmative) शब्द के द्वारा ज्ञेय है और इसीलिए उसमें अभाव-शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं है। [भावात्मक शब्दों के द्वारा ही अंधकार का बोध कराना ठीक है।] प्रलय (सृष्टि का अभाव), विनाश (सत्ता का अभाव), अवसान (समाप्ति) आदि शब्द यद्यपि अभाव के द्योतक हैं किन्तु इनका प्रयोग विधानार्थक रूप से (जैसे—प्रलयः अस्ति) भी होता है—संदेह करने से इन शब्दों में व्यभिचार (असिद्धि) होगा। [इस प्रकार यह अनुमान गलत हो गया कि जिन शब्दों में नकार का उल्लेख नहीं भाव-रूप ज्ञान के विषय ही हैं। वस्तुतः नञ् न रहने पर भी अभावार्थ

हो सकता है इसलिए अन्धकार स्वरूपतः भावात्मक होने पर भी अर्थतः अभावात्मक है।]

ऐसा उदाहरण मिलना कठिन नहीं है कि अभावात्मक पदार्थ (जैसे अन्धकार) पर भावात्मक पदार्थ (जैसे—नीलपुष्प आदि) के धर्मों (जैसे—नीलत्व) का आरोपण हो। दुःख का अभाव होने पर सुखत्व का आरोप देखते हैं तथा संयोग का अभाव होने पर विभाग का बोध होता है। [उसी प्रकार प्रकाशाभाव होने पर अन्धकार का बोध होता है।]

न चालोकाभावस्य घटाद्यभाववद् रूपवदभावत्वेनालोकसापेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वं स्यादित्येषितव्यम्। यद्ग्रहे यदपेक्षं चक्षुः, तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षत इति न्यायेनालोकग्रहं आलोकापेक्षाया अभावेन तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षाया अभावात्।

ऐसा भी कहना नहीं चाहिए कि जैसे [रूप से युक्त] घटादि पदार्थों का अभाव, आलोक की सहायता से, आँखों के ज्ञान का विषय होता है (=प्रकाश की सहायता पाकर आँखें देख सकती हैं) उसी प्रकार आलोक का अभाव भी, रूपयुक्त पदार्थ का अभाव होने के कारण, प्रकाशयुक्त आँखों के ज्ञान का विषय होगा। जिस पदार्थ का ग्रहण करने में जिसकी अपेक्षा आँखों को होती है, उस पदार्थ के अभाव का ग्रहण करने के समय भी आँखें उसी की अपेक्षा करती हैं—इस नियम से आलोक का ग्रहण करने में यदि आँखों को किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है तो आलोक के अभाव का ग्रहण करने के समय भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहेगी।

न चाधिकरणग्रहणावश्यंभावः। अभावप्रतीतावधिकरणग्रहणावश्यंभावानङ्गीकारात्। अपरथा, 'निवृत्तः कोलाहलः' इति शब्दप्रध्वंसः प्रत्यक्षो न स्यात्—इति अप्रामाणिकं परवचनम्। तत्सर्वमभिसंधाय भगवान्कणादः प्रणिनाय सूत्रं—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' (वै० सू० ५।२।१९) इति।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अन्धकार (प्रकाशाभाव) का ग्रहण करने के लिए अधिकरण (स्थान, आधार) का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है,

क्योंकि अभाव की प्रतीति (ज्ञान) के लिए अधिकरण का ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना जाता। यदि ऐसा नहीं होता तो 'कोलाहल समाप्त हो गया।' इस वाक्य में जो शब्द (आवाज) का प्रध्वंस समझा जाता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता [क्योंकि शब्द का आश्रय आकाश है, वह आकाश प्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं—इस तरह शब्द और शब्दाभाव दोनों ही आधार के अप्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षीकृत नहीं होते। किन्तु यह बात लोकसिद्ध है कि दोनों का प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः अन्धकार आलोक का ही अभाव है, यह सिद्ध हो गया।] इस प्रकार दूसरे मतवादियों (जैसे—भाट्ट, वेदान्ती आदि) के सिद्धांत अप्रामाणिक हैं।

अतः इन सारी समस्याओं पर विचार करते हुए भगवान् कणाद ने सूत्र लिखा है—'अन्धकार एक अभाव है जो द्रव्य, गुण और कर्म की निष्पत्ति (उत्पत्ति) से विलक्षण होता है।' (वैशेषिक सूत्र ५।२।१९)।

विशेष—अन्धकार की उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। इसलिए सामान्य, विशेष और समवाय में तो इसका अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ये पदार्थ नित्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है परन्तु इनमें भी अन्धकार खपाया नहीं जा सकता क्योंकि अन्धकार की उत्पत्ति इनकी उत्पत्ति से बिल्कुल ही भिन्न है। उत्पन्न होनेवाला द्रव्य अवयवों से आरंभ होता है। अंधकार की अनुभूति अकस्मात् ही हो जाती है जब कि प्रकाश का अपसरण होता है। गुण और कर्म की उत्पत्ति द्रव्य को आधार लेकर ही होती है, अन्धकार के साथ ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि अन्धकार अभाव है। परन्तु किसका अभाव ? तो उत्तर होगा कि आलोक का अभाव ही अन्धकार है। अब प्रसंगतः अभाव को सप्तम पदार्थ मानकर इसका विवेचन करना अपेक्षित है।

(१४. अभाव का विवेचन)

अभावस्तु निषेधमुखप्रमाणगम्यः सप्तमो निरूप्यते। स चासमवायत्वे सत्यसमवायः।

संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावान्योन्याभावभेदात्। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः—प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावभेदात्। तत्रानित्योऽनादितमः प्रागभावः। उत्पत्तिमानविनाशी प्रध्वंसः। प्रतियो-

ग्याश्रयोऽभावोऽत्यन्ताभावः। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वे सति अनवधिरभावोऽन्योन्याभावः।

अभाव निषेधात्मक प्रमाणों से जाना जाता है तथा यह सप्तम पदार्थ माना गया है। अभाव उस पदार्थ को कहते हैं जो समवाय-संबन्ध से रहित होकर समवाय से भिन्न हो। [स्मरणीय है कि द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष में समवाय-संबन्ध रहता है। प्रथम विशेषण (असमवायत्वे सति) के द्वारा इन सभी पदार्थों से अभाव के पार्थक्य या व्यावर्तन का प्रदर्शन हुआ है। द्रव्यों का समवाय-संबन्ध अपने पर आश्रित गुणादि के साथ होता है। गुण और कर्म अपने आश्रय द्रव्य के साथ या अपने पर आश्रित सामान्य के साथ समवाय-संबन्ध रखते हैं। सामान्य का भी अपने आश्रयस्वरूप द्रव्य, गुण और कर्म के साथ समवाय-संबन्ध रहता है। विशेष भी किसी से पीछे नहीं। वे आश्रयस्वरूप नित्य द्रव्यों के साथ ही समवाय-संबन्ध रखते हैं। और तो और, अनित्य द्रव्य तक अपने-अपने अवयवों से समवेत रहते ही हैं। समवाय का तो समवाय इसलिए नहीं होता है कि अनवस्था-दोष होगा। 'असमवायत्वे सति' कहने से और पदार्थों की व्यावृत्ति तो हो गई किन्तु समवाय की व्यावृत्ति कैसे हो? इसलिए साफ कहते हैं कि अभाव समवाय नहीं है (असमवायः); यदि ऐसा नहीं कहें तो समवाय-पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी अर्थात् अभाव का लक्षण समवाय को भी व्याप्त कर लेगा।]

संक्षेप में अभाव दो प्रकार का होता है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। [संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध। संसर्ग को प्रतियोगी (विरोधी) मानकर जो निषेध किया जाता है उसे संसर्गाभाव कहते हैं—एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध संसर्गाभाव है। प्रागभाव का जो उदाहरण देते हैं कि घटोत्पत्ति के पहले यहाँ घट नहीं था, तो यहाँ मिट्टी के पिंड में घट के सम्बन्ध का ही निषेध होता है। उसी प्रकार प्रध्वंसाभाव के उदाहरण में कहते हैं कि घटनाश के बाद यहाँ घट नहीं है। यहाँ मिट्टी के टुकड़ों में घट के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। अत्यन्ताभाव के उदाहरण में कहते हैं कि भूतल में घट नहीं है—इसमें भूतल में ही घट के सम्बन्ध का निषेध होता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्रमशः विनाशशील और उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं—उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं। संसर्गाभाव जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध करता है, अन्योन्याभाव एक वस्तु को दूसरी वस्तु मानने का निषेध करता है।

पहले का उदाहरण है—क में ख नहीं है। दूसरे का उदाहरण है—क ख नहीं है।]

संसर्गाभाव तीन तरह का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। उनमें **प्रागभाव** अनित्य तथा सबसे अधिक अनादि होता है। [अनादितम का अर्थ है वैसा अनादि जिसका आदि हो ही नहीं। यों तो किसी पुराने मन्दिर को देख कर यह कह देते हैं कि यह अनादि काल का है। यहाँ पर यद्यपि मन्दिर अनादि नहीं है, कभी-न-कभी उसका आरम्भ हुआ ही होगा, पर ज्ञान न होने के कारण उसे अनादि कहा करते हैं। प्रागभाव वैसा अनादि नहीं है। घटोत्पत्ति के पूर्व घट का अभाव कब से है, ब्रह्मा भी नहीं बतला सकते, औरों की तो बात ही क्या है ? इस प्रकार प्रागभाव की उत्पत्ति का काल किसी के लिए भी अज्ञेय है।]

प्रध्वंसाभाव वह है जिसकी उत्पत्ति होती है किन्तु जिसका विनाश नहीं होगा। [दूसरे शब्दों में जिसका आरंभ हो किन्तु अन्त नहीं हो वही प्रध्वंसाभाव है। घट के फूट जाने पर अभाव का आरंभ तो हुआ किन्तु इसका अन्त नहीं हो सकता—ब्रह्मा भी घटाभाव की इयत्ता नहीं बतला सकते।] **अत्यन्ताभाव** वह अभाव है जो अपने प्रतियोगी में आश्रय ग्रहण करे। [प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का आश्रय कभी प्रतियोगी (विरोधी) नहीं होता क्योंकि प्रतियोगी (घट) के साथ इनका सम्बन्ध-भेद नहीं होता—हम नहीं कह सकते कि घट में घट का अभाव है (यह उदाहरण अत्यन्ताभाव का होगा जो अनादि और अनन्त होता है)। घटोत्पत्ति के पूर्व जिस समय प्रागभाव रहता है उस समय घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता। उसी तरह घटनाश के पश्चात् (प्रध्वंसाभाव के समय में) भी घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता है। अन्योन्याभाव में भी यह बात है। घट घटाभाव है—ऐसा हम नहीं कह सकते। केवल अत्यन्ताभाव में ही आश्रय प्रतियोगी होता है। भूतल में घट का अभाव है—इस वाक्य में भूतल आश्रय है, घटाभाव धर्मी जिसका प्रतियोगी घट होता है। अब यह घटाभाव अपने प्रतियोगी में भी रह सकता है—घट में घटाभाव है। कोई पदार्थ अपने में नहीं रह सकता है—घट में घट नहीं रहेगा। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का पृथक्करण होता है। अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के समानाधिकरण होने पर कभी भी प्रतीत नहीं होता—भूतल में घट की सत्ता होने पर उसमें घटात्यन्ताभाव होता है फिर भी प्रतीत नहीं होता। दूसरी ओर अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रतियोगी (घट) के समानाधिकरण होने पर भी होती है। घटयुक्त भूतल में भी घटभेद की प्रतीति होती है। अत्यन्ताभाव के उपर्युक्त

लक्षण में 'अभाव' शब्द नहीं रखें, केवल 'प्रतियोग्याश्रयः' ही कहें तो प्रकाश में अतिव्याप्ति होगी। आकाश के समान सूर्यप्रकाश व्यापक है—इस वाक्य में सादृश्यसम्बन्ध का अनुयोगी प्रकाश है। प्रतियोगी आकाश है! प्रकाश आकाश में आश्रित है अतः यह भी प्रतियोगी में आश्रित होने के कारण अत्यन्ताभाव के लक्षण से ही लक्षित हो जायगा। 'अभाव' कहने से ऐसी समस्या नहीं उठेगी क्योंकि प्रकाश अभाव नहीं है।]

अन्योन्याभाव वह अभाव है जो अत्यन्ताभाव से पृथक् है तथा [कालगत] अवधि से रहित है। [अभाव शब्द का प्रयोग करने से नित्य परमाणुओं तथा आकाशादि भावों में अतिव्याप्ति रोकी जाती है। अनवधि का अर्थ है नित्य।]

ननु अन्योन्याभाव एवात्यन्ताभाव इति चेत्—अहो राजमार्ग एव भ्रमः। अन्योन्याभावो हि तादात्म्यप्रतियोगिकः प्रतिषेधः। यथा घटः घटात्मा न भवतीति। संसर्गप्रतियोगिकः प्रतिषेधोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपसम्बन्धो नास्तीति।

न चास्य पुरुषार्थौपयिकत्वं नास्तीत्याशङ्कनीयम्। दुःखात्यन्तोच्छेदापरपर्यायनिःश्रेयसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात्॥

इति श्रीमत्सायाणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे औलूक्यदर्शनम्॥

अब यदि कोई यह सोचे कि अन्योन्याभाव ही अत्यन्ताभाव है तो हम कहेंगे कि आप लोगों को राजमार्ग (चौड़ी सड़क) पर भी रास्ता भूलना पड़ रहा है। तादात्म्य के विरोधी प्रतिषेध (Negation) को अन्योन्याभाव कहते हैं जैसे—घट पट की आत्मा नहीं है [यहाँ घट और पट के तादात्म्य (एकरूपता Identity) का प्रतिषेध होता है—घट पट नहीं है, घटात्मा पटात्मा नहीं है।] दूसरी ओर, अत्यन्ताभाव वह प्रतिषेध है जो संसर्ग या सम्बन्ध का विरोध करता है जैसे—वायु में रूप का सम्बन्ध नहीं है [इसका उलटा होगा—'वायु में रूप है', यहाँ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है।]

ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि यह (अभाव) पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन (उपाय) नहीं हो सकता। [तात्पर्य यह है कि छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान

से मोक्ष प्राप्त होता है, यह तो सिद्ध है—कणाद ने ही कहा है। परन्तु अभाव के ज्ञान से यह लाभ कहाँ तक हो सकता है? यही शंकाकार की शंका है, पर यह ठीक नहीं।] दुःख का आत्यन्तिक विनाश होना, जिसे दूसरे शब्दों में निःश्रेयस (मोक्ष) कहते हैं, वही तो परम पुरुषार्थ (Summum bonum) है। [अभाव को पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं मानते हैं इसमें कोई क्षति नहीं है। यह अभाव स्वयं ही परम पुरुषार्थ है। दुःख का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष अभावात्मक शब्द है।]

इस प्रकार सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में औलूक्य-दर्शन [समाप्त हुआ]।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामौलूक्यदर्शनमवसितम्।

(११) अक्षपाद-दर्शनम्

निःश्रेयसाधिगतिरत्र तु षोडशानां
ज्ञानात्प्रमाणमिह वेत्ति चतुष्टयं यः ।
ईशो जगत्सृजति यस्य मते स्वतन्त्रो
न्यायप्रवर्तकमहामुनये नमोऽस्मै ॥—ऋषिः ।

(१. न्यायशास्त्र की रूपरेखा)

तत्त्वज्ञानाद् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवतीति समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम् । तदाह सूत्रकारः—प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या० सू० १।१।१) इति । इदं न्यायशास्त्रस्यादिमं सूत्रम् ।

हमारे समान ही सिद्धान्तों वाले न्याय-दर्शन (समान-तन्त्र) में कहा गया है कि तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर वह निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है जिसमें दुःखों का आत्यन्तिक (Permanent) उच्छेद (विनाश) हो जाता है (न्या० सू० १।१।२९)। तो सूत्रकार (गौतम मुनि) ने ही कहा है—प्रमाण प्रमेय इत्यादि पदार्थों का तत्त्व जान लेने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । यह न्यायशास्त्र का प्रथम-सूत्र है ।

विशेष—वैशेषिकशास्त्र से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं इसलिए वे एक दूसरे को समानतन्त्र कहते हैं । तन्त्र = सिद्धान्त । न्यायदर्शन का प्रथम ग्रन्थ न्यायसूत्र है जिसमें पाँच अध्याय हैं । इसके प्रणेता गौतम हैं । गौतम अपने मत के दूषक व्यास (वेदान्त-सूत्रकार) के मुख को अपनी आँखों से न देखने की प्रतिज्ञा कर चुके थे । बाद में व्यास ने हाथ-पैर पड़कर उन्हें प्रसन्न किया तो गौतम ऋषि ने केवल इतनी ही कृपा की कि अपने पैरों में आँखें लगाकर उन्हें देखा । तब से गौतम को लोग अक्षपाद कहने लगे । एक दूसरी किंवदन्ती भी है कि गौतम अपने न्यायशास्त्र की धुन में तर्क करते हुए कहीं जा रहे थे । अन्तरङ्ग में इतने तल्लीन थे कि बहिरङ्ग की सुध-बुध खो बैठे—बस, न देख सकने के कारण एक कुएँ में गिर पड़े । विधाता ने इन्हें निकाला और जिससे रास्ता दिखलाई पड़ सके इसलिए पैरों में भी आँखें दे दीं । इन दोनों

किंवदन्तियों का सार यही है कि नैयायिकों का वेदान्तियों से विरोध है तथा वे अपने शास्त्र में इतना तल्लीन रहते हैं कि बाह्य जगत् का कोई पता नहीं होता।

न्याय-दर्शन नाम पड़ने का कारण वात्स्यायन अपने भाष्य में देते हैं— प्रमाणैर्वस्तुपरीक्षणं न्यायः (१।१।१) अर्थात् प्रमाणों का संग्रह करके उनसे प्रमेय वस्तु की परीक्षा करना न्याय है। न्याय में इन प्रमाणों के स्वरूप तथा वस्तु की परीक्षा-प्रणाली का सम्यक् वर्णन होता है। इसके दूसरे नाम हैं— आन्वीक्षिकी (अनुमान-शास्त्र), तर्कविद्या, वादशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या (क्योंकि अनुमान में मुख्य स्थान हेतु का ही होता है) आदि।

न्यायशास्त्रं च पञ्चाध्यायात्मकम्। तत्र प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम्। तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निके भगवता गौतमेन प्रमाणादिपदार्थनवकलक्षणनिरूपणं विधाय द्वितीये वादादिसप्तपदार्थलक्षणनिरूपणं कृतम्। द्वितीयस्य प्रथमे संशयपरीक्षणं प्रमाणचतुष्टयाप्रामाण्यशङ्कानिराकरणं च। द्वितीयेऽर्थापत्त्यादेरन्तर्भावनिरूपणम्।

न्यायशास्त्र (गौतमीय न्यायसूत्र) पाँच अध्यायों का है जिनमें प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक (दिन भर का पाठ) हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में भगवान् गौतम ने प्रमाणादि नौ पदार्थों के लक्षणों पर विचार करके द्वितीय आह्निक में वाद आदि सात पदार्थों के लक्षणों का निरूपण किया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में संशय की परीक्षा करके चार प्रमाणों को अप्रामाणिक मानने वालों की शंकाओं का निराकरण किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय आह्निक में [अन्य दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत अन्य प्रमाणों जैसे] अर्थापत्ति (Implication) आदि का अन्तर्भाव [इन्हीं चार प्रमाणों में] किया गया है।

विशेष - न्यायशास्त्र में सोलह पदार्थों (Categories) के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गई है। वे पदार्थ गौतमीय न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में ही वर्णित हैं—प्रमाण (Sources of valid knowledge), प्रमेय (Object of valid knowledge), संशय (Doubt), प्रयोजन (Purpose), दृष्टान्त (Familiar instance), सिद्धान्त (Established tenet), अवयव (Members), तर्क (Confutation), निर्णय (Ascertainment), वाद (Discussion), जल्प (Wrangling), वितण्डा (Cavil), हेत्वाभास (Fallacy), छल (Quibble), जाति (Futility) और निग्रहस्थान (Occasion for rebuke)। प्रथम अध्याय में सभी पदार्थों

के लक्षण दिये गये हैं। प्रथम नौ पदार्थ पहले आह्निक में आये हैं, बाद के वादादि सात पदार्थों के लक्षण दूसरे आह्निक में हैं। दूसरे अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा करके बाद में तीसरे अध्याय से प्रमेयादि पदार्थों की परीक्षा की गई है। न्यायशास्त्र में विषय-विवेचन की तीन प्रक्रियायें हैं—उद्देश अर्थात् पदार्थों या उनके भेदों का नाम देना (Enumeration), लक्षण (Definition) और परीक्षा अर्थात् लक्षण का विश्लेषण, विवेचन, प्रामाणिकता आदि पर विचार (Examination)। परीक्षा में विशेषकर कारण और स्वरूप का विचार होता है। द्वितीय अध्याय से ही परीक्षा का क्रम चल पड़ा है।

तृतीयस्य प्रथम आत्मशरीरेन्द्रियार्थपरीक्षणम्। द्वितीये बुद्धिमनःपरीक्षणम्। चतुर्थस्य प्रथमे प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गपरीक्षणम्। द्वितीये दोषनिमित्तक(त)त्वनिरूपणमवयव्यादिनिरूपणं च। पञ्चमस्य प्रथमे जातिभेदनिरूपणम्। द्वितीये निग्रहस्थानभेदनिरूपणम्।

तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अर्थ की परीक्षा हुई है। इसके द्वितीय आह्निक में बुद्धि और मन की परीक्षा हुई है। चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख तथा अपवर्ग की परीक्षा हुई है। [इस प्रकार ३ आह्निकों में बारह प्रमेयों (Objects of knowledge) की परीक्षा हुई है।] द्वितीय आह्निक में दोष के निमित्तों* का निरूपण हुआ है (या दोष के निमित्तस्वरूप तत्त्व का निरूपण किया गया है)। साथ ही अवयवी आदि (अवयवी का अवयवों से भेद, परमाणुओं का निरवयव होना, मिथ्योपलब्धि, समाधि, वाद, जल्प और वितण्डा) का निरूपण भी हुआ है। पञ्चमाध्याय के प्रथम आह्निक में जाति के भेदों का निरूपण करके द्वितीय आह्निक में निग्रहस्थान के भेदों का निरूपण हुआ है।

---

* इस स्थान पर कॉवेल ने सुझाव रखा है कि 'दोषनिमित्तकत्व' के स्थान पर 'दोषनिमित्ततत्त्व' ऐसा पाठ होना चाहिए। न्यायसूत्र (४।२।१) की शब्दावली—दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः—देखने से भी यह ठीक लगता है। किन्तु अभ्यंकर का पाठ या कलकत्ता संस्करण का पाठ भी बुरा नहीं; एक ही अर्थ पर पहुँचते हैं।

विशेष—न्यायशास्त्र के सर्वांगीण विकास का बीज न्यायसूत्र में पाया जाता है जहाँ सभी पदार्थों का उद्देश, लक्षण और परीक्षण हुआ है। बहुत दिनों तक इसी रूप में न्यायशास्त्र की रूपरेखा स्थित थी। यों तो सभी दार्शनिकों को विपक्षियों के क्रूर प्रहार से टकराना पड़ा किन्तु नैयायिकों और बौद्धों का संघर्ष भारतीय दर्शन के इतिहास में अमर है। गौतम के आविर्भाव (३०० ई० पू०) के बाद कुछ दिनों तक वृत्तियाँ लिखी जाती रहीं जिन सबों का समावेश करके वात्स्यायन (३०० ई०) ने अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। दोनों के बीच भी कई आचार्य हो चुके थे किन्तु उनका पता भर ही है, वह भी अनुमान के आधार पर। बौद्धों की ओर से नागार्जुन (१५० ई०) ने न्यायसूत्र का खण्डन किया था जिसका उत्तर वात्स्यायन ने भाष्य में दिया। वात्स्यायन का खण्डन भी बौद्धाचार्य दिङ्नाग (४०० ई०) ने अपने ग्रंथों (प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश आदि) में यथास्थान किया। इनके कुतर्कों का उत्तर देकर न्याय की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले भारद्वाज उद्योतकर (५६० ई०) ने न्यायभाष्य पर अपना न्यायवार्तिक लिखा। सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य 'वासवदत्ता' में उद्योतकर का उल्लेख किया है। दिङ्नाग के सुप्रसिद्ध टीकाकार धर्मकीर्ति (६३५ ई०) ने उद्योतकर का भी खण्डन प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु आदि ग्रन्थों में किया है—कहीं-कहीं उनके सुझावों के अनुसार अपने पक्ष का परिमार्जन भी किया है। उद्योतकर न्यायशास्त्र तथा बौद्धागम के महान् पंडित थे। बौद्धों के प्रहार से फिर न्याय की रक्षा करने के लिए वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०) ने उद्योतकर के वार्तिक पर तात्पर्य-टीका लिखी। ये मिथिला के निवासी थे, तथा सभी शास्त्रों में इनकी प्रतिभा चमकती थी। तात्पर्यटीका की प्रसिद्धि का एक प्रबल प्रमाण है कि वाचस्पति को 'तात्पर्याचार्य' का ही नाम दे दिया गया। उसके बाद न्यायसूत्रों पर न्यायमञ्जरी नामक वृत्तिटीका लिखने वाले जयन्तभट्ट (८८० ई०) आते हैं जिन्होंने विरोधियों के तर्कों का खण्डन करते हुए प्रबल प्रमाणों से न्यायदर्शन की विवेचना की है। न्यायदर्शन में सबसे अधिक विषयों का विश्लेषण इसी में है। भासर्वज्ञ (९२५ ई०) ने न्यायसार लिखा जिसके विषय भी न्यायमंजरी की तरह के ही हैं। न्यायदर्शन की इस धारा के सबसे बड़े रत्न उदयनाचार्य (९८४ ई०) थे जिन्होंने वाचस्पति की तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि, ईश्वर की सिद्धि के लिए न्यायकुसुमांजलि* और बौद्धों के

---

* उदयनाचार्य ने भक्त के रूप में ईश्वर का उपालंभ किया है—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

खण्डन के लिए आत्मतत्त्वविवेक (या बौद्धधिक्कार)—ये तीन प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं। पिछली दोनों पुस्तकें कई टीकाओं से अलंकृत हैं।

अभी तक न्यायदर्शन में प्रमाण के साथ प्रमेय पर भी विचार-विमर्श हो रहा था। बौद्धों के तर्कों से नैयायिक लोग परेशान हो उठे थे—इसीलिए एक नई धारा चल पड़ी जिसमें प्रमाणों के विश्लेषण तथा बुद्धिवाद पर अधिक जोर दिया गया। सूक्ष्मता के लिए नये प्रकार के शब्दों—जैसे, अवच्छेदक (व्याप्त करने वाला), अवच्छिन्न (व्याप्त), प्रकारतानिरूपित (विशेषण के द्वारा विशिष्ट), निष्ठता (अभेद-संबन्ध) आदि—का प्रयोग होने लग गया। इस भाषा का चाकचिक्य इतना प्रभाव डालने लगा कि न्याय तो न्याय, दूसरे दर्शनों और शास्त्रों में भी इस तरह की भाषा का बेधड़क व्यवहार होने लगा। न्याय की इस धारा को पुरानी धारा से पृथक् करने के लिए नव्य-न्याय कहा गया और गौतम से लेकर उदयन तक को प्राचीन-न्याय की शब्दावली से विभूषित किया गया।

नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेश उपाध्याय (११७५ ई०) थे जिन्होंने तत्त्वचिन्तामणि लिखकर प्रमाणशास्त्र का बीज-वपन किया। ये मिथिला के निवासी थे जहाँ न्याय की धूम मच गई। गंगेश के पुत्र वर्धमान ने चिन्तामणि पर 'प्रकाश' नाम की टीका लिखी। इसके बाद से गंगेश के ग्रंथों की टीका ही पाण्डित्य की कसौटी मानी जाने लगी। जयदेव मिश्र (या पक्षधर मिश्र १२७८ ई०) ने तत्त्वालोक-टीका लिखी। नव्यन्याय का प्रसार नवद्वीप (बंगाल) में वासुदेव सार्वभौम (१२७५ ई० ?) ने किया। ये चैतन्य के समकालिक थे तथा इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर अपनी टीका की थी। इनके बहुत से शिष्य हुए जिनमें रघुनाथ भट्टाचार्य अत्यन्त प्रसिद्ध थे। इन्होंने (१३०० ई०) तत्त्वचिन्तामणि पर तत्त्वदीधिति टीका लिखी जो कालान्तर में स्वतंत्र ग्रन्थ बन गई तथा जिस पर ही टीका लिखना पांडित्य माना गया। मथुरानाथ तर्कवागीश ने आलोक, चिन्तामणि तथा दीधिति पर अपनी टीकायें लिखीं (१५८० ई०)। अंतिम टीका मथुरानाथी के नाम से प्रसिद्ध हुई। ठीक इसी समय जगदीश भट्टाचार्य (१५९० ई०) ने तत्त्वदीधिति पर अपनी टिप्पणी की और जिसकी भी टीका मिथिला के शंकर मिश्र (१६२५ ई०) ने लिखी थी। जगदीश की दूसरी कृति शब्दशक्तिप्रकाशिका है जिसमें शब्दशक्ति पर वैदुष्यपूर्ण विचार दिये गये हैं। गदाधर भट्टाचार्य ने भी तत्त्वदीधिति पर अपनी बृहत् व्याख्या प्रस्तुत की जो सर्वसाधारण में गदाधरीके नाम से प्रचलित है। व्युत्पत्तिवाद और शक्तिवाद जैसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना का श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त

है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के प्रमुख आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है।

(२. प्रमाण का विचार)

मानाधीना मेयसिद्धिरिति न्यायेन प्रमाणस्य प्रथमसमुद्देशे तदनुसारेण लक्षणस्य कथनीयतया प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य प्रथमं लक्षणं कथ्यते—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्।

प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है (=प्रमाण का विचार करने पर ही प्रमेय का विचार होता है)—इस नियम के अनुसार प्रमाण का प्रथम उल्लेख किया है। चूँकि उद्देश (नामग्रहण) के बाद लक्षण का विचार करना चाहिए इसलिए प्रथम उल्लिखित प्रमाण का ही लक्षण पहले कहा जाता है—प्रमाण वह है जो साधनों (यथार्थ अनुभव के साधन जैसे आँख, कान, नाक, बुद्धि) तथा आश्रय (यथार्थ अनुभव के आश्रय अर्थात् आत्मा) से व्यतिरिक्त (पृथक्) न हो और जो प्रमा (यथार्थ अनुभव) के द्वारा व्याप्त भी हो। [यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं जैसे पीत का ज्ञान पीतरूप में होना, नीलरूप में नहीं। प्रमा का करण प्रमाण है अर्थात् जिससे (जिस साधन से) यथार्थ अनुभव हो। प्रमा का साधन प्रमा से नित्य संबद्ध रहेगा ही—वही प्रमाण है। प्रमा का आश्रय परमेश्वर भी नित्यसंबद्ध है किन्तु दूसरा आश्रय जीव नित्य-संबद्ध नहीं होता, उसे भ्रम हो सकता है। इसकी व्यावृत्ति के लिए 'प्रमाव्याप्त' पद रखा गया है जिससे जीव से पृथक् न रहने पर भी प्रमाण को यथार्थ अनुभव से नित्य-संबद्ध रहना अनिवार्य है। इससे परमेश्वर की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी क्योंकि वही सबसे अधिक आप्त (विश्वसनीय) है।]

एवं च प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं परमेश्वरप्रामाण्यं संगृहीतं भवति। यदचकथत् सूत्रकारः—मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् (न्या० सू० २।१।६८) इति। तथा च न्यायनयपारावारपारदृश्वा विश्वविख्यातकीर्तिरुदयनाचार्योऽपि न्यायकुसुमाञ्जलौ चतुर्थे स्तवके—

१. मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ (४।५) इति।

इस प्रकार ही प्रतितन्त्र-सिद्धान्त (केवल एक तन्त्र या शास्त्र में प्रचलित सिद्धान्त) से जो परमेश्वर की प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है उसका संकलन भी होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'जिस प्रकार मन्त्रों की और आयुर्वेद की प्रामाणिकता [आप्त प्रमाण से] सिद्ध होती है उसी प्रकार उस (परमेश्वर) की प्रामाणिकता भी यथार्थवक्ता (आप्त) की प्रामाणिकता से सिद्ध होती है' (२।१।६८)। [मन्त्रों से विषादि का निवारण होता है तथा आयुर्वेद-शास्त्र से उचित औषधियों का परिज्ञान होता है। इनकी प्रामाणिकता इनके उपदेशकों पर आधारित है क्योंकि वे आप्त अर्थात् यथार्थ का ज्ञान कराने वाले ऋषि हैं। ये इसलिए आप्त हैं कि इन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है, जीवों पर दया की भावना से प्रवृत्त हैं तथा अपने सत्यज्ञान को मानवों तक पहुंचाते हैं। जैसे मन्त्र और आयुर्वेद की बातों पर विश्वास करते हैं। उसी प्रकार आप्त के उपदेश पर विश्वास करना चाहिए। यह सूत्र वेद की सत्ता के विषय में सूचना देता है कि वेद के द्रष्टा मन्त्रों और आयुर्वेद के भी लेखक हैं अतः वेद की प्रामाणिकता भी उसी विश्वास के साथ माननी चाहिए। इसलिए यह अभिप्राय निकलता है कि सर्वाधिक आप्त (Reliable) परमेश्वर की प्रामाणिकता भी सूत्रकार को अभीष्ट है।]

इसी ढंग से न्यायमार्ग-रूपी समुद्र के पार तक देखने वाले तथा विश्व भर में विख्यात कीर्ति वाले उदयनाचार्य भी न्यायकुसुमांजलि के चतुर्थ स्तबक (गुच्छ, अध्याय) में कहते हैं—'सम्यक् रूप से (यथार्थ रूप में) ज्ञान प्राप्त कर लेना (परिच्छित्तिः) मिति (यथार्थ ज्ञान) है। उससे (प्रमा से) युक्त प्रमाता (यथार्थ वक्ता) होता है [उस प्रमा से युक्त होना ही प्रमाता बनना है।] उस (मिति या प्रमा) से सम्बन्धाभाव (अयोग) न रहना (व्यवच्छेद) अर्थात् मिति से आवश्यक सम्बन्ध रहना ही गौतम के अनुसार प्रामाण्य (प्रामाणिकता Authority) है।' (न्यायकुसुमांजलि ४।५)।

विशेष—प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण न्यायसूत्र में इस प्रकार दिया गया है—'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः' (१।१।२९) अर्थात् जो समानतन्त्र में माना जाय, किन्तु दूसरे तन्त्र में स्वीकृत न हो वह प्रतितन्त्र-सिद्धान्त कहलाता है। शब्द को अन्तिम मानना या परमेश्वर को प्रमाण मानना, ये प्रतितन्त्र सिद्धान्त हैं। समानतन्त्र अर्थात् वैशेषिक दर्शन में इन्हें मान्य ठहराते हैं किन्तु परतन्त्र में जैसे मीमांसा-दर्शन में इन्हें अस्वीकृत किया गया है।

उदयनाचार्य के विषय में व्यक्त किये गये माधवाचार्य के प्रशंसात्मक उद्गार बड़े प्रेरक हैं। पारदृश्वा—पार + $\sqrt{}$दृश् + क्वनिप् = पारं दृष्टवान् (जो पार

तक देके हुए हो)। देखिये—अ० सू० ३।२।९४ दृशेः क्वनिप्। न्यायकुसुमांजलि में पाँच स्तबक हैं।

२. साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥
(न्या० कु० ४।६) इति।

तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

'मेरे लिए तो वे शिव ही प्रमाण हैं; सिद्ध पदार्थों के विषय में जिन (शिव) का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से होता है, नित्य के साथ युक्त है (क्षणिक नहीं है) तथा किसी भी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता; इस प्रकार के अपने अनुभव में जिन्होंने सभी (निखिल) वर्तमान (प्रस्तावी = प्रस्तुत) वस्तुओं का उत्पादनादि क्रम स्थिर कर लिया है; लेशमात्र भी [पदार्थों के] न दिखलाई पड़ने देने वाले (अदृष्टि-निमित्त) दोषों को दूर हटाकर, जिन्होंने शंका-रूपी भूसों को भस्मीभूत कर दिया है। शंकाओं की उत्पत्ति से कलंकित दूसरे प्रमाणों से क्या लाभ है ?' (न्यायकुसुमांजलि ४।६)। [ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष ही है—सारे पदार्थों का वे साक्षात्कार करते हैं। यह साक्षात्कार भी मनुष्यों के ज्ञान की तरह क्षणिक नहीं, प्रत्युत नित्य है। अन्त में, ईश्वर को ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी भी बाह्य-साधन की अपेक्षा नहीं पड़ती। हमलोग भी कुछ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, योगी लोग अपने योग-बल से ही यह संभव कर दिखाते हैं। उन परमेश्वर के विषय में क्या कहना जिनकी शक्ति अचिन्तनीय है ? सृष्टि के आरम्भ में पहले के कल्प में जो-जो पदार्थ सिद्ध थे उनकी केवल कल्पना करके ही ईश्वर देखना आरम्भ करते हैं और उधर वे पदार्थ तैयार होने लगे ! पुरुषसूक्त में 'यथापूर्वमकल्पयत्' के द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। उन ईश्वर के ज्ञान में ही सारे पदार्थों की उत्पत्ति आदि का क्रम (Order) निहित है। सारा संसार ही ज्ञानमय (Spiritual, idealistic) है। इन पदार्थों की स्थिति या क्रम के विषय में हम लोग अपने अज्ञानवश नाना प्रकार की शंकायें करते रहते हैं किन्तु मूल वस्तु को नहीं समझ सकने के कारण ही ऐसा होता है। परोक्ष ज्ञान में तो शंकायें होती ही हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान में भी पूर्ण रूप में वस्तु का ज्ञान न होने के कारण किसी एक अंश के अदर्शन से अनेक प्रकार की विपरीत भावनायें चली आती हैं। ये दोष परमेश्वर से सर्वथा

पृथक् रहते हैं। अपने ज्ञान-पवन से ईश्वर इन शंका-तुषों को उड़ा कर कहाँ से कहाँ ले जाते हैं। शंकाओं से दूसरे प्रमाण कलंकित हैं, कोई न कोई शंका उन प्रमाणों को धर ही दबाती है। इसलिए अन्त में उदयन निष्कलंक शिव को ही प्रमाण मानते हैं।]

यह प्रमाण चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

विशेष – प्रमाणों की संख्या के विषय में प्रायः सभी दर्शनों में कुछ-न-कुछ विचार किया गया है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष (Perception) को ही प्रमाण मानते हैं। जैन और बौद्ध प्रत्यक्ष के साथ अनुमान (Inference) को भी प्रमाण मानते हैं। वैशेषिकों के लिए भी प्रमाण ये ही हैं। माध्व लोग (द्वैतवादी) प्रत्यक्ष और शब्द (Testimony) को लेते हैं। रामानुजीय, पातंजल तथा जरन्नैयायिक (प्राचीन नैयायिक) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द से संतुष्ट हैं। दूसरे नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान (Comparison) तथा शब्द को प्रमाण मानते हैं। माहेश्वर दार्शनिक भी यही कहते हैं। इनके साथ अर्थापत्ति (Implication) को लगाकर गुरु-मीमांसक पाँच प्रमाण तथा अभाव को भी मिलाकर छह प्रमाण मानने वाले भाट्ट-मत के मीमांसक एवं अद्वैतवादी लोग हैं। सम्भव (Possibility) तथा ऐतिह्य (Tradition) को भी मिलाकर आठ प्रमाण मानने वाले पौराणिक लोग हैं। तान्त्रिक लोग चेष्टा (Activity) को भी प्रमाण मानकर संख्या नौ तक पहुँचा देते हैं। यहाँ पर नैयायिकों के प्रमाणों को समझ लेना अपेक्षित है—

१. प्रत्यक्ष—जो ज्ञान इन्द्रियों और पदार्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है तथा भ्रम से रहित (अव्यभिचारी) होकर नाम लेने योग्य (व्यपदेश्य) न हो तथा निश्चयात्मक हो। जब हम आँखों से घट का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब यह शुद्ध ज्ञान है; ज्ञान के समय घट शब्द का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि ज्ञान अशाब्द अर्थात् निर्विकल्पक है। दूसरे, प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक होता है, दूर से देखकर किसी पदार्थ को धूम या धूल मानने की भूल होने पर उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहेंगे। कुछ निश्चय होने पर ही उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं। वात्स्यायन इन्द्रियों के साथ वस्तु के सन्निकर्ष का तथ्य निरूपित करते हुए कहते हैं कि आत्मा का संबन्ध मन से होता है, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का वस्तुओं से। तभी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह प्रक्रिया कारण का अवधारण (Determination) करना है—विशिष्ट कारण तो इन्द्रिय-विषय-संयोग ही है। प्रत्यक्ष में छह प्रकार के संनिकर्ष हुआ करते हैं। चूंकि प्रत्यक्ष का साधन इन्द्रिय है इसलिए इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। निर्विकल्पक में प्रकार या विशेषण का ज्ञान

नहीं रहता है जैसे—यह कुछ है। सविकल्पक में प्रकार का ज्ञान हो जाता है जैसे—यह श्याम है। रामानुज-दर्शन में इसकी रूपरेखा कुछ दूसरी है जो हम देख ही चुके हैं।

२. **अनुमान**—लिङ्ग (Middle term) का परामर्श होना अनुमान है। व्याप्ति की सहायता से वस्तु का बोध कराने वाले को लिंग या हेतु कहते हैं जैसे धूम अग्नि का लिग है। व्याप्ति का अर्थ साहचर्य-नियम (Universal relation) है जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी है। जब व्याप्ति से विशिष्ट लिंग का ज्ञान पक्ष (Minor term जैसे पर्वत) में उत्पन्न होता है उसे ही लिंग का परामर्श कहते हैं। तर्कसंग्रह में परामर्श के विषय में कहा गया है कि व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान ही परामर्श है। उदाहरण के लिए, 'अग्नि के द्वारा व्याप्य धूम से युक्त' यह पर्वत है। ऐसा ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श से 'पर्वत भी अग्निमान् है' यह ज्ञान (निष्कर्ष या निगमन) उत्पन्न हुआ, यही अनुमिति है। नीचे लिखे रूप में इसे स्पष्टतर किया जा सकता है—

(१) यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः (व्याप्ति या Major premise)
(२) पर्वतो धूमवान् (पक्षधर्मता या Minor premise)
(३) पर्वतोऽग्निमान् (अनुमिति या Conclusion)

इस अनुमिति तक पहुँचने का जो साधन (करण, असाधारण कारण) हो वही अनुमान है। न्यायदर्शन में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो, वह पूर्ववत् है जैसे मेघों को आकाश में घिरते देखकर वृष्टि होने का अनुमान। जब कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो, वह शेषवत् है जैसे चारों ओर पानी ही पानी देखकर 'वर्षा हुई है' इसका अनुमान। सामान्य रूप से अनुमान करना कि जिस वस्तु को एक जगह देखा था, दूसरी जगह पर है तो वह वस्तु अवश्य चलती होगी। इस आधार पर अप्रत्यक्ष होने पर भी सूर्य की गति का अनुमान कर लेते हैं। दूसरे ंग से भी इनका विवेचन होता है जैसा कि वात्स्यायन ने किया है। नव्य नैयायिक अनुमान के दो भेद करते हैं—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ का अभिप्राय है जो एक व्यक्ति को अपने आप में संतुष्ट कर सके, अनुमिति करा सके। जब कोई व्यक्ति स्वयं ही बार-बार रसोईघर, कल-कारखाने आदि में देखकर व्याप्ति ग्रहण कर लेता है कि 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', तब पर्वत के पास जाकर वहाँ की अग्नि के विषय में सन्देह होने पर, पर्वत में धूम देखकर व्याप्ति का स्मरण करता है कि जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है। तब यह ज्ञान

(लिंग-परामर्श) उत्पन्न होता है कि अग्नि के द्वारा व्याप्य धूम से युक्त (वह्नि-व्याप्यधूमवान्) यह पर्वत है। अन्त में यह ज्ञान होता है कि पर्वत अग्नि से युक्त हैं। यही स्वार्थानुमान है। जब स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरों को समझाने के लिए पाँच अवयव-वाक्यों (Members) का प्रयोग किया जाय तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। इसे हम मूल की व्याख्या में ही आगे स्पष्ट करेंगे।

(३) उपमान—जब सादृश्य (अतिदेश) का वोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सदृश वस्तु का ज्ञान होता है उसे ही उपमान कहते हैं। न्यायसूत्र में कहा है कि प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान है। जैसे कोई आदमी 'गवय' नामक जंगली जीव को नहीं जानता किन्तु जब एक अतिदेश (सादृश्य) वाक्य सुनता है कि गवय गौ के समान होता है, तभी उसे गवय को पहचानने में देर नहीं लगती। उपमिति-ज्ञान होता है कि यही गवय है।

(४) शब्द—यथार्थवक्ता (आप्त) के द्वारा उच्चरित वाक्य ही शब्द है जैसे वेद के वाक्य या भूगोल में कहे गये वाक्य। न्यायसूत्र में शब्द के दो भेद किये गये हैं—दृष्टार्थ शब्द और अदृष्टार्थ शब्द। जब आप्तवाक्य की संगति इस संसार के तथ्यों से बैठाई जा सके जैसे यह कहना कि साईबेरिया में बर्फ जमी हुई रहती है। तब उसे दृष्टार्थ कहते हैं। किन्तु आप्तवाक्यों से परलोक की बातों का ज्ञान होने पर उसे अदृष्टार्थ शब्द कहते हैं। इस प्रकार लौकिक वाक्यों और ऋषि के वाक्यों में भेद किया जा सकता है। इसे ही लौकिक और वैदिक भी कहते हैं।

इन प्रमाणों से ही प्रमेयों का ज्ञान तथा परीक्षण होता है। न्याय में प्रमाण-शास्त्र (Epistemology) पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। नव्यन्याय तो विशुद्ध प्रमाणशास्त्र ही है। प्रमाणों के विषय में जितना विश्लेषण भारतीय-दर्शन में हुआ है विश्व के किसी भी दर्शन में मिलना असम्भव है—न्याय का तो यह विषय ही है। अन्य दर्शन इस दृष्टि से न्याय के ऋणी हैं। अपने विषयों के प्रतिपादन के लिए न्याय के कितने ही शब्द अन्य दर्शनकारों ने लिये हैं। इस दृष्टि से यदि न्याय-दर्शन को 'दर्शनों का दर्शन' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

(३. प्रमेय-पदार्थ का विचार)

प्रमायां यद्धि प्रतिभासते तत्प्रमेयम्। तच्च द्वादशप्रकारम्—आत्म-शरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखाप-वर्गभेदात्।

प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव में जो दिखलाई पड़े वही **प्रमेय** (Knowable) है। इसके बारह भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

विशेष—प्रमेयों के लक्षण न्यायसूत्र में प्रथम अध्याय में नवम सूत्र से लेकर २२ वें सूत्र तक दिये गये है। तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में इनकी परीक्षा हुई है।

(१) आत्मा (Soul)—ज्ञान से युक्त आत्मा है, यह सबों को देखने वाली, सर्वज्ञ तथा सबों का अनुभव करने वाली है। यह विभु और नित्य है। ईश्वर और जीव के रूप में इसके दो भेद हैं। सर्वज्ञ ईश्वर एक ही है,* जीव प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है। आत्मा के लिए कुछ चिह्न हैं जैसे—इच्छा (जिस तरह की वस्तु से आत्मा को सुख मिलता है उसी तरह की वस्तु की इच्छा उसे होती है), द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान। दुःखप्रद वस्तु से द्वेष होता है, उन्हें हटाने या सुखद पदार्थों को लाने के लिए प्रयत्न होता है। भोग करने पर या बोध होने पर यह मालूम होता है कि यह अमुक पदार्थ है।

(२) शरीर (Body)—आत्मा के भोग का अधिष्ठान (आधार) शरीर है। शरीर विभिन्न चेष्टाओं, इन्द्रियों और उनके अर्थों का भी आश्रय हैं। किसी वस्तु को छोड़ने या पाने के लिए चेष्टायें शरीर में ही होती हैं। शरीर के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अनुगृहीत होती हैं, उसी में कोई उपघात होने पर ये भी उपहत होती हैं—अपने-अपने अच्छे या बुरे विषयों की प्रवृत्ति दिखलाती हैं, उन इन्द्रियों का आश्रय भी शरीर ही है। शरीररूपी आयतन में इन्द्रियों और उनके अर्थों के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख की संवेदना होती है। इसीलिए शरीर अर्थों का भी आश्रय है।

---

* न्यायकुसुमांजलि (५।१) में ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रमाण दिये गये हैं—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

संसाररूपी कार्य के कर्त्ता के रूप में, सृष्टि के आरम्भ में दो परमाणुओं को जोड़ने वाले के रूप में, संसार का धारण करने वाले के रूप में, विभिन्न कलाओं का व्यवहार चलाने वाले के रूप में, अतर्क्य वेद-सिद्धान्तों के प्रवर्तक के रूप में, श्रुति-प्रतिपादित होने के कारण, वाक्यभूत वेदों के रचयिता के रूप में, द्वित्व-संख्या की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि को धारण करने वाले के रूप में तथा अदृष्ट (धर्माधर्म) के व्यवस्थापक के रूप में विश्ववेत्ता अव्यय ईश्वर की सिद्धि होती है।

(३) **इन्द्रियाँ** (Senses)—इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं जो शरीर से संयुक्त रहती हैं। ये पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र जिनसे क्रमशः सूँघना, स्वाद लेना, देखना, छूना, और सुनना—ये काम होते हैं। इन इन्द्रियों में शक्तिदान करने वाले ये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जिन्हें भूत भी कहते हैं।

(४) **अर्थ** (Objects)—उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा भोग्य (Enjoyable) वस्तुओं को अर्थ कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय का अर्थ गन्ध है, रसनेन्द्रिय का रस, चक्षुरिन्द्रिय का रूप, त्वगिन्द्रिय का स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द।

(५) **बुद्धि** (Intellect)—बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि (Understanding) इन तीनों को गौतम अनर्थान्तर अर्थात् पर्याय मानते हैं (१।१।१५)। यह चेतन है और शरीर तथा इन्द्रियों के संघात से पृथक् है।

(६) **मन** (Mind)—सुखादि ज्ञानों का साधन इन्द्रिय मन है। इसी को अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक भावों को जानने वाली इन्द्रिय भी कहते हैं। इसका चिह्न (लिङ्ग या पहचान) है एक साथ कई ज्ञान की उत्पत्ति न होने देना। केवल इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से यदि ज्ञान उत्पन्न होता तो घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गन्ध से तथा श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द से एक ही साथ होकर दोनों ज्ञान (गन्धज्ञान और शब्दज्ञान) साथ-साथ उत्पन्न होने पर ऐसा नहीं होता क्योंकि मन नियामक रूप से पृथक् करने के लिए प्रस्तुत रहता है। मन गन्धज्ञान कराने पर ही शब्द का ज्ञान करा सकता है।

(७) **प्रवृत्ति** (Volition)—वाचिक, मानसिक और शारीरिक क्रिया को प्रवृत्ति कहते हैं। फिर शुभ और अशुभ के भेद से छह प्रकार की हो जाती है। वात्स्यायन शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों में प्रत्येक के दस-दस भेद मानते हैं (न्या० भा० १।१।२) अशुभ प्रवृत्तियों में शरीर से प्रवृत्त हिंसा, अस्तेय और प्रतिषिद्ध मैथुन; वचन से प्रवृत्त अनृत, परुष, सूचन (चुगली, शिकायत, निन्दा) और असम्बद्ध भाषण करना; मन से प्रवृत्त परद्रोह, परधन को हड़पने की इच्छा और नास्तिकता। शुभ प्रवृत्तियों में शरीर के द्वारा दान, रक्षा और सेवा; वचन से सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय; मन से दया, अस्पृहा और श्रद्धा। प्रवृत्तियों के ही कारण जन्म लेना पड़ता है।

(८) **दोष** (Faults)—प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले दोष कहलाते हैं। ये तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। ये ही ज्ञाता को पुण्य या पाप की ओर प्रवृत्त करते हैं। जहाँ मिथ्याज्ञान होता है वहाँ राग और द्वेष रहते हैं। इन दोषों की संवेदना प्रत्येक आत्मा को होती है। राग, द्वेष या मोह के वश में प्राणी वह काम करता है जिससे सुख या दुःख मिलता है।

(९) **प्रेत्यभाव** (Transmigration)—उत्पन्न होने के बाद मर कर फिर जन्म लेना ही प्रेत्यभाव है। उत्पन्न प्राणी का सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, बुद्धि और संवेदना के साथ होता है। मर जाने पर ये सम्बन्ध छूट जाते हैं। जब पुनः उत्पत्ति होती है तब दूसरे शरीरादि का सम्बन्ध स्थापित होता है। जन्म-मरण के प्रबन्ध का यह अभ्यास (आवृत्ति) तब तक चलता रहता है जब तक अपवर्ग की प्राप्ति न हो जाय।

(१०) **फल** (Fruit)—प्रवृत्तियों और दोषों से उत्पन्न होने वाले अर्थ को फल कहते हैं। फल में सुख और दुःख की संवेदना होती है। हम जो भी कर्म करते हैं उनमें कुछ तो सुख का फल देते हैं, कुछ दुःख का। देह, इन्द्रिय, विषय और बुद्धि के होने पर ही फल मिलता है इसलिए इन सबों को फल में गिन लेते हैं। इन फलों को लेने या त्यागने में ही सारा संसार व्यस्त है। इनका अन्त नहीं है।

(११) **दुःख** (Pain)—जिससे पीड़ा या सन्ताप हो वही दुःख है। जब लोग देखते हैं कि सारा संसार ही दुःख से पूर्ण है तो दुःख को हटाने की इच्छा से जन्म को दुख के रूप में समझ कर निर्विण्ण (निर्मम) हो जाते हैं, तब विरक्त होते हैं और विरक्त होने पर मुक्त भी हो जाते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक और आधिदैविक। वात, पित्त और कफ के दोषों की विषमता से उत्पन्न शारीरिक अथवा काम, क्रोधादि से उत्पन्न मानसिक दुःखों को आध्यात्मिक कहते हैं। आन्तरिक उपायों से ही इसका निवारण सम्भव है। सर्प, व्याघ्र आदि जीवों से उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। यक्ष, राक्षस, ग्रहादि के आवेश से आया हुआ दुःख आधिदैविक है। ये दोनों दुःख बाहरी उपाय से ही हटाये जा सकते हैं। दूसरे मत से दुःख इक्कीस तरह के हैं—शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह बुद्धियाँ, सुख और दुःख। दुःख से सम्बन्ध होने के कारण सुख भी दुःख ही है। शरीरादि दुःख के साधन हैं, इसलिए दुःख के ही अन्दर हैं। दूसरे स्थान में बाहरी दुःखसाधन १६ प्रकार के माने गये हैं—परतन्त्रता, आधि (मनःकष्ट), व्याधि, मानच्युति, शत्रु, दरिद्रता, दो स्त्री होना, अधिक पुत्रियाँ होना, दुष्ट स्त्री, दुष्ट नौकर, कुग्रामवास, कुस्वामिसेवा, वार्धक्य, परगृह में रहना, वर्षा में परदेश रहना, बुरे हल से खेती। वस्तुतः दर्शनों का मूल ही दुःख है।

(१२) **अपवर्ग** (Emancipation)—दुःखों से बिलकुल मुक्त हो जाना अपवर्ग है। मिला हुआ जीवन जब नष्ट हो जाय और अप्राप्त जीवन न मिले तभी अपवर्ग है। इस प्रकार नैयायिक अपवर्ग की व्याख्या निषेधात्मक शब्दों में करते हैं।

(४ संशय, प्रयोजन और दृष्टान्त)

अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः। स त्रिविधः—साधारणधर्मासाधारणधर्मविप्रतिपत्तिलक्षणभेदात्।

यमधिकृत्य प्रवर्तन्ते पुरुषास्तत्प्रयोजनम्। तद् द्विविधम्—दृष्टादृष्टभेदात्।

व्याप्तिसंवेदनभूमिर्दृष्टान्तः। स द्विविधः—साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्।

अनिश्चयात्मक ज्ञान को **संशय** कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—(१) दो वस्तुओं में कोई धर्म साधारण होने के कारण होनेवाला संशय [जैसे—यह स्थाणु है कि पुरुष। स्थाणु (खम्भे) और पुरुष, दोनों में सामान्य धर्म एक ही है—ऊँचा होना। विशेषतायें स्पष्ट नहीं हैं—स्थाणुत्व का निर्णय करने वाली विशेषतायें जैसे वक्रता या कोटरादि होना अथवा पुरुषत्व का निर्णय करने वाली विशेषतायें जैसे हाथ, पैर आदि—कोई भी स्पष्ट नहीं हैं, इसीसे संशय होता है।] (२) किसी वस्तु के असाधारण धर्म दिये जाने के कारण होने वाला संशय [जैसे पृथिवी नित्य है कि अनित्य। पृथिवी का असाधारण (अपना) धर्म है गन्ध से युक्त होना। यह 'गन्धवत्त्व' न तो अनित्य पदार्थों में है न नित्य में ही, केवल पृथिवी में ही इसकी सत्ता है। पृथिवी की नित्यता या अनित्यता के ज्ञान का साधन न होने के कारण ही ऐसा संशय हुआ।] (३) विभिन्न शास्त्रकारों में मतभेद होने के कारण उत्पन्न संशय [जैसे—कुछ लोग कहते हैं कि शब्द नित्य है, दूसरे कहते हैं कि शब्द अनित्य है। इन दोनों का मतभेद देखकर बीच वाला घबरा उठता है और संशय होता है।]

जिस कार्य को ध्यान में रखकर पुरुषों की प्रवृत्ति होती है वही **प्रयोजन** है। यह दो प्रकार का है—दृष्ट प्रयोजन और अदृष्ट प्रयोजन। [कोई वस्तु त्याज्य या ग्राह्य होती है। उसे त्यागने या ग्रहण करने को मनुष्य उपाय करता है। वह वस्तु ही प्रयोजन कही जाती है। दृष्ट प्रयोजन प्रत्यक्ष होता है जैसे—अवघात करने का प्रयोजन है भूँसों को पृथक् करना। अदृष्ट प्रयोजन विहित तथा परोक्ष होता है जैसे—ज्योतिष्टोम-याग का प्रयोजन स्वर्गप्राप्ति।]

व्याप्ति की स्थापना का जो आधार होता है वही व्याप्ति है। इसके दो भेद हैं—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त। [न्यायसूत्र में कहा गया है कि

लौकिक परीक्षकों की बुद्धि जिस विषय पर एकमत हो जाय वही दृष्टान्त है। दृष्टान्त का अपना अर्थ है—जिसके द्वारा अन्त या निश्चय देखा गया हो, पाया गया हो। 'यत्र धूमः तत्राग्निः' इस व्याप्ति का निश्चय करने के लिए महानस (रसोईघर) का उदाहरण देते हैं—यही दृष्टान्त है। रसोईघर अपने पक्ष का पोषक होने के कारण साधर्म्य दृष्टान्त है। इसी व्याप्ति में 'सरोवर' वैधर्म्य दृष्टान्त होगा क्योंकि जब व्यतिरेक-विधि से व्याप्ति पर आयेंगे—'जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम नहीं जैसे सरोवर', तब यह दृष्टान्त काम देगा। फलतः अन्वय-विधि का दृष्टान्त साधर्म्य है, व्यतिरेक-विधि का दृष्टान्त वैधर्म्य।]

विशेष—वाचस्पति मिश्र ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध में उक्त तीन पदार्थों को न्यायपूर्वांग कहा है क्योंकि ये न्याय अर्थात् पंचावयव अनुमान की भूमिका के रूप में हैं। न्यायसूत्र में संशय के पाँच भेद माने गये हैं क्योंकि वहाँ लक्षण ही कुछ दूसरे ढंग का है, यद्यपि फल दोनों का एक ही है—समानानेकधर्मोपपत्ते-र्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः (१।१।२३)। संशय वह ज्ञान है जिसमें विशेष धर्म की अपेक्षा रहती है। निम्नलिखित पाँच कारणों से उत्पन्न होने के कारण संशय पाँच प्रकार का है—

(१) समानधर्मोपपत्ति—जब समान धर्मों की प्राप्ति कई वस्तुओं में हो और विशेष धर्म की अपेक्षा हो तब ऐसा ज्ञान संशय है। उच्चता-धर्म स्थाणु और पुरुष दोनों में है। निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर दोनों वस्तुओं में संशय हो गया। जब हाथ-पैर आदि के रूप में विशेष धर्मों का ज्ञान हो जायगा तब संशय की निवृत्ति होगी कि यह मनुष्य है।

(२) अनेकधर्मोपपत्ति—अनेक का अर्थ है सजातीय और विजातीय। जब असामान्य धर्मों का ज्ञान होता है तब भी संशय होता है। शब्द का श्रवण करके यह पूछना कि यह नित्य है या अनित्य, संशय है। शब्द का धर्म मनुष्य, पशु आदि अनित्य पदार्थों में भी नहीं है और न नित्य परमाणुओं में ही है। गन्धवती होने के कारण पृथिवी, जल आदि द्रव्यों से भी विशिष्ट है, गुणकर्म से भी विशिष्ट है। अब संशय हो गया कि पृथिवी द्रव्य है कि गुण या कर्म।

(३) विप्रतिपत्ति—शास्त्रों में परस्पर विवाद होने से भी संशय होता है। शब्द की नित्यता और अनित्यता का उदाहरण प्रचलित ही है।

(४) उपलब्ध्यव्यवस्था—कभी-कभी हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की अव्यवस्था से भी संशय होता है। तड़ागादि में तो विद्यमान होने पर जल का प्रत्यक्ष होता है पर मृगमरीचिका (Mirage) में अविद्यमान होने पर

भी इसका प्रत्यक्ष होता है। अब संशय हुआ कि जल का प्रत्यक्ष क्या केवल विद्यमान अवस्था में ही होता है या अविद्यमान होने पर भी।

(५) **अनुपलब्ध्यव्यवस्था**—कभी-कभी अप्रत्यक्ष की अव्यवस्था से संशय होता है। मूली में (Radish) जल है पर दिखलाई नहीं पड़ता है। पत्थर में भी जल नहीं दीखता पर वहाँ वास्तव में नहीं है। क्या जल विद्यमान या अविद्यमान दोनों ही दशाओं में दिखलाई नहीं पड़ता? यही संशय है।

(४ क. सिद्धान्त और अवयव)

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमभेदात्।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशोऽवयवः। स पञ्चविधः—प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमनभेदात्।

प्रामाणिक मानकर सिद्ध किया गया अर्थ (Fact) **सिद्धान्त** है। इसके चार भेद हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम सिद्धान्त। [सिद्धांत या तो किसी दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रामाणिकता स्वीकार करता है या किसी अधिकरण (आधार) की या फिर किसी ज्ञापक (Implied) विषय की। **सर्वतन्त्र सिद्धान्त** वह है जिसे सभी शास्त्रों की मान्यता प्राप्त हो। उदाहरण के लिए पाँच महाभूत, पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय आदि की स्वीकृति सभी दर्शनों में है। **प्रतितन्त्रसिद्धान्त** वह है जो समानतन्त्र (जैसे न्याय का समानतन्त्र वैशेषिक-दर्शन है) में तो मान्य हो किन्तु दूसरे तन्त्रों (दार्शनिक सम्प्रदायों)में असिद्ध हो। जैसे—शब्द की अनित्यता न्यायवैशेषिक में मान्य है किन्तु मीमांसकादि इसे नहीं मानते। असत्कार्यवाद को न्याय-दर्शन मानता है, सांख्य नहीं मानता। **अधिकरणसिद्धान्त** उसे कहते हैं जिसे सिद्ध कर लेने पर दूसरे प्रकरणों की भी सिद्धि हो जाती है जैसे—देह और इन्द्रियों के अतिरिक्त एक ज्ञाता है क्योंकि दर्शन और स्पर्शन के द्वारा एक ही अर्थ (Object) का ग्रहण किया जा सकता है (न्या० सू० ३।१।१)। इस सिद्धान्त को मान लेने पर कुछ आनुषंगिक अर्थ भी मानने पड़ते हैं जैसे—(१) इन्द्रियाँ अनेक हैं, (२) प्रत्येक इन्द्रिय को अपना एक विषय है; (३) आत्मा या ज्ञाता को इन इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान मिलता है, (४) अपने गुणों से पृथक् वर्तमान द्रव्य ही इन इन्द्रियों का आश्रयस्थान है, आदि-आदि। इन अर्थों के बिना पहले सिद्धान्त की संभावना नहीं। परन्तु पहले सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही ये अर्थ सिद्ध होते हैं। **अभ्युप-**

लौकिक परीक्षकों की बुद्धि जिस विषय पर एकमत हो जाय वही दृष्टान्त है। दृष्टान्त का अपना अर्थ है—जिसके द्वारा अन्त या निश्चय देखा गया हो, पाया गया हो। 'यत्र धूमः तत्राग्निः' इस व्याप्ति का निश्चय करने के लिए महानस (रसोईघर) का उदाहरण देते हैं—यही दृष्टान्त है। रसोईघर अपने पक्ष का पोषक होने के कारण साधर्म्य दृष्टान्त है। इसी व्याप्ति में 'सरोवर' वैधर्म्य दृष्टान्त होगा क्योंकि जब व्यतिरेक-विधि से व्याप्ति पर आयेंगे—'जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम नहीं जैसे सरोवर', तब यह दृष्टान्त काम देगा। फलतः अन्वय-विधि का दृष्टान्त साधर्म्य है, व्यतिरेक-विधि का दृष्टान्त वैधर्म्य।]

विशेष—वाचस्पति मिश्र ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध में उक्त तीन पदार्थों को न्यायपूर्वांग कहा है क्योंकि ये न्याय अर्थात् पंचावयव अनुमान की भूमिका के रूप में हैं। न्यायसूत्र में संशय के पाँच भेद माने गये हैं क्योंकि वहाँ लक्षण ही कुछ दूसरे ढंग का है, यद्यपि फल दोनों का एक ही है—समानानेकधर्मोपपत्ते-विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः (१।१।२३)। संशय वह ज्ञान है जिसमें विशेष धर्म की अपेक्षा रहती है। निम्नलिखित पाँच कारणों से उत्पन्न होने के कारण संशय पाँच प्रकार का है—

(१) **समानधर्मोपपत्ति**—जब समान धर्मों की प्राप्ति कई वस्तुओं में हो और विशेष धर्म की अपेक्षा हो तब ऐसा ज्ञान संशय है। उच्चता-धर्म स्थाणु और पुरुष दोनों में है। निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर दोनों वस्तुओं में संशय हो गया। जब हाथ-पैर आदि के रूप में विशेष धर्मों का ज्ञान हो जायगा तब संशय की निवृत्ति होगी कि यह मनुष्य है।

(२) **अनेकधर्मोपपत्ति**—अनेक का अर्थ है सजातीय और विजातीय। जब असामान्य धर्मों का ज्ञान होता है तब भी संशय होता है। शब्द का श्रवण करके यह पूछना कि यह नित्य है या अनित्य, संशय है। शब्द का धर्म मनुष्य, पशु आदि अनित्य पदार्थों में भी नहीं है और न नित्य परमाणुओं में ही है। गन्धवती होने के कारण पृथिवी, जल आदि द्रव्यों से भी विशिष्ट है; गुणकर्म से भी विशिष्ट है। अब संशय हो गया कि पृथिवी द्रव्य है कि गुण या कर्म।

(३) **विप्रतिपत्ति**—शास्त्रों में परस्पर विवाद होने से भी संशय होता है। शब्द की नित्यता और अनित्यता का उदाहरण प्रचलित ही है।

(४) **उपलब्ध्यव्यवस्था**—कभी-कभी हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की अव्यवस्था से भी संशय होता है। तड़ागादि में तो विद्यमान होने पर जल का प्रत्यक्ष होता है पर मृगमरीचिका (Mirage) में अविद्यमान होने पर

भी इसका प्रत्यक्ष होता है। अब संशय हुआ कि जल का प्रत्यक्ष क्या केवल विद्यमान अवस्था में ही होता है या अविद्यमान होने पर भी।

(५) **अनुपलब्ध्यव्यवस्था**—कभी-कभी अप्रत्यक्ष की अव्यवस्था से संशय होता है। मूली में (Radish) जल है पर दिखलाई नहीं पड़ता है। पत्थर में भी जल नहीं दीखता पर वहाँ वास्तव में नहीं है। क्या जल विद्यमान या अविद्यमान दोनों ही दशाओं में दिखलाई नहीं पड़ता? यही संशय है।

(४ क. सिद्धान्त और अवयव)

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमभेदात्।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशोऽवयवः। स पञ्चविधः—प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमनभेदात्।

प्रामाणिक मानकर सिद्ध किया गया अर्थ (Fact) **सिद्धान्त** है। इसके चार भेद हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम सिद्धान्त। [सिद्धांत या तो किसी दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रामाणिकता स्वीकार करता है या किसी अधिकरण (आधार) की या फिर किसी ज्ञापक (Implied) विषय की। **सर्वतन्त्र सिद्धान्त** वह है जिसे सभी शास्त्रों की मान्यता प्राप्त हो। उदाहरण के लिए पाँच महाभूत, पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय आदि की स्वीकृति सभी दर्शनों में है। **प्रतितन्त्रसिद्धान्त** वह है जो समानतन्त्र (जैसे न्याय का समानतन्त्र वैशेषिक-दर्शन है) में तो मान्य हो किन्तु दूसरे तन्त्रों (दार्शनिक सम्प्रदायों)में असिद्ध हो। जैसे—शब्द की अनित्यता न्यायवैशेषिक में मान्य है किन्तु मीमांसकादि इसे नहीं मानते। असत्कार्यवाद को न्याय-दर्शन मानता है, सांख्य नहीं मानता। **अधिकरणसिद्धान्त** उसे कहते हैं जिसे सिद्ध कर लेने पर दूसरे प्रकरणों की भी सिद्धि हो जाती है जैसे—देह और इन्द्रियों के अतिरिक्त एक ज्ञाता है क्योंकि दर्शन और स्पर्शन के द्वारा एक ही अर्थ (Object) का ग्रहण किया जा सकता है (न्या० सू० ३।१।१)। इस सिद्धान्त को मान लेने पर कुछ आनुषंगिक अर्थ भी मानने पड़ते हैं जैसे—(१) इन्द्रियाँ अनेक हैं, (२) प्रत्येक इन्द्रिय को अपना एक विषय है; (३) आत्मा या ज्ञाता को इन इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान मिलता है, (४) अपने गुणों से पृथक् वर्तमान द्रव्य ही इन इन्द्रियों का आश्रयस्थान है, आदि-आदि। इन अर्थों के बिना पहले सिद्धान्त की संभावना नहीं। परन्तु पहले सिद्धान्त के सिद्ध होने पर ही ये अर्थ सिद्ध होते हैं। **अभ्युप-**

गम सिद्धान्त उसे कहते हैं जो स्पष्ट रूप से कहा नहीं गया हो (वाचनिक न हो) किन्तु उससे संबद्ध विशेषों को देखने पर अनुमान से ज्ञात हो। इसे ही व्याकरण में ज्ञापक (Implied) कहते हैं। उदाहरण के लिए जब प्रश्न कहते हैं कि शब्द नित्य है या अनित्य, तब यह मानकर चलना पड़ता है कि शब्द एक द्रव्य है। इस प्रकार 'शब्द द्रव्य है' यह अभ्युपगम सिद्धान्त (Implied dogma) है। न्यायदर्शन में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मन ज्ञानेन्द्रिय है किन्तु सम्बद्ध स्थलों की परीक्षा करने पर ऐसा मानना पड़ता है।]

अवयव परार्थानुमान के वाक्य का एक भाग है जिसके पाँच भेद हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। [जिस वाक्य की सिद्धि करनी होती है उसका निर्देश कर देना ही **प्रतिज्ञा** है जैसे—शब्द अनित्य है। उदाहरण के साधर्म्य या वैधर्म्य से साध्य वस्तु का कारण देना **हेतु** है जैसे—क्योंकि यह उत्पन्न होता है। दोनों प्रकार के उदाहरणों में हेतु एक ही रहता है—भले ही दृष्टान्त बदलें। साध्य वस्तु के साधर्म्य से या वैधर्म्य से उसके अनुकूल या प्रतिकूल दृष्टान्त देना **उदाहरण** कहलाता है। वस्तु के साधर्म्य से अनुकूल दृष्टान्त देना—जो कुछ उत्पन्न होता है वह अनित्य है जैसे घट। वस्तु के वैधर्म्य से प्रतिकूल दृष्टान्त देना—जो अनित्य नहीं है वह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा। उदाहरण के आधार पर जो निष्कर्ष या उपसंहार निकलता है कि यह ऐसा है या ऐसा नहीं है, वही **उपनय** कहलाता है जैसे – शब्द भी उत्पन्न होता है (वैसा ही है) या शब्द अनुत्पन्न होने वाला नहीं है (वैसा नहीं है)। कारण का उल्लेख होने पर प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना **निगमन** है जैसे—इसलिए शब्द अनित्य है। इस प्रकार वस्तु के साधर्म्य या वैधर्म्य के कारण परार्थानुमान में पंचावयववाक्य के दो रूप होंगे—

साधर्म्य का रूप—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

(२) हेतु—क्योंकि यह उत्पन्न होता है।

(३) उदाहरण—जो भी उत्पन्न होता है वह अनित्य है जैसे घट।

(४) उपनय—शब्द भी वैसा (उत्पन्न होने वाला) ही है।

(५) निगमन—इसलिए शब्द अनित्य है।

वैधर्म्य का रूप—

(१) प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।

(२) हेतु—क्योंकि यह उत्पन्न होता है।

(३) उदाहरण—जो नित्य होता है वह उत्पन्न नहीं होता जैसे आत्मा।

(४) उपनय—शब्द वैसा नहीं है (अनुत्पन्न नहीं होता = उत्पन्न होता है)

(५) निगमन—इसलिए शब्द नित्य है।

बहुत से नैयायिक वाक्य में दस अवयव मानने का साहस करते हैं। वे अन्य अवयव हैं—जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास। इनका वर्णन वात्स्यायन ने (१।१।३२) की व्याख्या में किया है। अन्त में माना है कि ये अनिवार्य अंग नहीं हैं।]

विशेष—इन अवयवों को ही न्याय कहते है क्योंकि वास्तव में न्याय-दर्शन के ये केन्द्रबिन्दु हैं जिनके चारों ओर न्यायदर्शन घूमता है। स्पष्टतः वाचस्पति संबद्ध सूत्रों में न्यायस्वरूप मानते हैं।

(५. तर्क का स्वरूप और भेद)

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। स चैकादशविधः। व्याघातात्माश्रयेतरेतराश्रय-चक्रकाश्रयानवस्थाप्रतिबन्धिकल्पना-कल्पनालाघवकल्पनागौरवोत्सर्गापवादवैजात्यभेदात्।

व्याप्य पदार्थ का आरोपण करके व्यापक पदार्थ का आरोपण करना **तर्क** है। [यदि यहाँ अग्नि का अभाव होता तो धूम का भी अभाव हो जाता। ऐसा कहना तर्क है। इसमें अग्नि का अभाव व्याप्य है जिसका आरोपण हुआ है; उसी के आधार पर व्यापक—धूमाभाव—का भी आरोपण हुआ। पर्वत में धूम देखकर कोई व्यक्ति उक्त तर्क की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का निश्चय कर ले सकता है। यही कारण है कि तर्क को प्रमाणों का सहायक मानते हैं। न्यायसूत्र में कहा गया है कि जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नहीं हो उसका तत्त्व जानने के लिए जो विचार (ऊह) कारणों का औचित्य दिखलाते हुए किया जाता है, वह तर्क है। इस प्रकार तर्क का आश्रय तत्त्वज्ञान के लिए लेते हैं। हाँ, किसी बात को हठपूर्वक सिद्ध करने के लिए कुतर्क का आश्रय लेते हैं। तर्क में तत्त्व-निर्णय करने के लिए साध्य वाक्य (Proposition) के उलटे वाक्य की असंगति दिखलाते हुए आते हैं जैसे यदि ऐसा नहीं होता तो······ऐसा होता। इसलिए यही ठीक है। या, यदि ऐसा होता तो······ऐसा होता जो असम्भव है। इसलिए ऐसा नहीं हो सकता आदि।]

तर्क के ग्यारह भेद होते हैं—व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्यो-न्याश्रय), चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धी की कल्पना कल्पनालाघव, कल्पना-गौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य।

विशेष—जगदीश तर्कालंकार ने केवल पाँच प्रकार के तर्कों के नाम लिये हैं—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थक। भाषा-परिच्छेद में व्यभिचार की शंका के निवर्तक वाक्य को तर्क कहा गया है। किन्तु तर्क के जितने भेद बतलाये जा रहे हैं वे दोष हैं, स्वयं निवारण किये जाने की अपेक्षा रखते हैं—व्यभिचार का निवारण क्या करेंगे? असंबद्ध अर्थ से युक्त वाक्य को **व्याघात** कहते हैं जैसे यह कहना है कि मैं मूक हूँ या अमूर्त पर रूप का आरोपण करना। जब किसी वस्तु का प्रतिपादन उसी वस्तु के आधार पर होने का प्रसंग आ जाये तब उसे **आत्माश्रय** कहते हैं जैसे—रूप से युक्त वस्तु पर रूप का आरोपण। जब दो वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर करें तब **अन्यो-न्याश्रय** या इतरेतराश्रय तर्क होता है। उदाहरण के लिए 'हे राम! उठो' यह वाक्य सुनने से राम जागता है और उधर जागने पर ही राम सुन सकता है। तो, जागरण कारण है या श्रवण? जागरण कार्य है या श्रवण? दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। जब दो से अधिक वस्तुएँ एक दूसरे पर आश्रित हो जायँ तब **चक्रक** होता है जैसे उपर्युक्त उदाहरण में इन्द्रियार्थसंनिकर्ष को बीच में ले आना। जागृति से इन्द्रियार्थसंनिकर्ष होता है और जागृति तभी होती है जब श्रवण होता है इस प्रकार 'श्रवण—जागृति—इन्द्रियार्थसंनिकर्ष—श्रवण आदि' के रूप में आवर्तन (Recurring) होता है। जब एक ही दिशा में कल्पना करें और कहीं भी इसका अन्त न हो तो उसे **अनवस्था** कहते हैं जैसे जाति (Generality) में यदि जाति मानें तो उस जाति की भी एक दूसरी जाति होगी। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते कहीं भी अन्त नहीं होगा। ये प्रसंग सभी दर्शनों में आते हैं। जिस तर्क से दोनों पक्ष समान रूप से प्रभावित हों वह **प्रतिबन्धि-कल्पना** (या प्रतिबन्दी) है जैसे—पुरुष होने के कारण यदि यह चोर है तो आप भी तो चोर हैं क्योंकि पुरुष हैं।* कल्पनालाघव और कल्प-

---

* प्रतिबन्दी का बड़ा सुन्दर उदाहरण किसी वंगीय नैयायिक (संभवत; जगदीश) के विषय से सम्बन्ध रखता है। नैयायिक जी बचपन में पढ़ते कुछ कम थे। बस पिता ने बिगड़ कर कहा कि तुम गौ (=मूर्ख) हो। बालक ने लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ में लेकर कहा—

किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वं चेद्गवि गोत्वमनर्थकमेतत्।
अगवि च गोत्वं यदि तव पक्षः सम्प्रति भवतु भवत्यपि गोत्वम्॥

आप 'गो' से केवल गाय का ही अर्थ लेते हैं या उससे इतर प्राणियों का भी? यदि केवल गाय अर्थ लेते हैं तो मेरे लिए गौ का प्रयोग व्यर्थ है, किन्तु गौ से इतर में यह अर्थ लेने पर आप और हम दोनों ही गौ हैं।

नागौरव में कल्पनाओं का क्रमशः संकोच और विस्तार होता है—इसके उदाहरण इस पुस्तक में ही अन्यत्र मिलेंगे। **उत्सर्ग** सामान्य नियम को कहते हैं और **अपवाद** विशेष नियम है। **वैजात्य** तब होता है जब तर्क में विलक्षणता रहे।

इन तर्कों की उपयोगिता इसी में है कि उपर्युक्त दोषों की संभावना से न्याय को बचावें। तर्क को कुछ इस प्रकार रखते हैं—यदि ऐसा नहीं होगा तो किसी न किसी (अनवस्था, अन्योन्याश्रय···) तर्क के भेद का प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार प्रमाण से साध्य अर्थ के विरुद्ध जाने की संभावना समाप्त हो जाती है। इसीलिए ये प्रमाण के अनुग्राहक हैं।

(५ क. निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा)

यथार्थानुभवपर्याया प्रमितिर्निर्णयः। स चतुर्विधः। साक्षात्कृत्यनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीनः कथाविशेषो वितण्डा। कथा नाम वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः।

यथार्थ अनुभव अर्थात् प्रमिति (Real Knowledge) को **निर्णय** कहते हैं। [न्यायसूत्र में कहा गया है—विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः (१।१।४१) अर्थात् पक्ष और विपक्ष की बातों पर विचार करके संदेह दूर करते हुए तत्त्व का निश्चय करना ही निर्णय है। निर्णय करने के लिए जिस प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, उसी के आधार पर उसका नाम पड़ता है। जैसे अनुमान के आधार पर किया गया निर्णय अनुमिति निर्णय कहलायेगा ? तो,] इसके चार भेद हैं—साक्षात्कृति (प्रत्यक्ष), अनुमिति, उपमिति और शाब्द।

वाद एक प्रकार की कथा (Disputation, dialogue) है जिसका फल तत्त्व का निर्णय हो जाना है। [दो पक्षों में एक पक्ष का ग्रहण करके, उस पक्ष में पंचावयव अनुमान का प्रयोग किया जाता है तथा प्रमाणों से उस पक्ष की रक्षा करते हुए तर्क के द्वारा उसके विरुद्ध पक्ष का खंडन भी करते हैं। हाँ, पूर्व से स्थिर किये गये सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए—यही वाद (Discussion) की रूपरेखा है (न्या० सू० १।२।१)।]

विजय की इच्छा से की जानेवाली कथा, जिसमें दोनों पक्षों की सिद्धि हो सकती है, **जल्प** कहलाती है। [जल्प में केवल विजय पर ध्यान रखते हैं।

यह ध्यान नहीं रहता कि जिन तर्कों से अपने पक्ष की रक्षा की जाती हैं उन्हीं से परपक्ष की भी तो रक्षा होती है। इसमें छल, जाति, निग्रहस्थान का भी प्रयोग होता है यद्यपि पंचावयव-वाक्यों से ही शास्त्रार्थ आरंभ होता है। उक्त लक्षण में 'विजिगीषु' पद का प्रयोग जल्प को वाद से पृथक् करता है। वितण्डा से पृथक् करने के लिए 'उभयसाधनवती' का प्रयोग हुआ है।]

जिस कथा में अपने पक्ष की ही स्थापना नहीं की जाय वह **वितण्डा** (Cavil) है। [न्यायसूत्र (१।२।३) के अनुसार जिस जल्प में प्रतिपक्ष (किसी एक पक्ष) की स्थापना नहीं हो, केवल एक ही पक्ष पर विवाद या हठ ठान लें वही वितण्डा है। वैतण्डिक किसी भी साध्य की प्रतिज्ञा नहीं करता। उसका कोई अपना पक्ष नहीं रहता।] कथा का अभिप्राय यह है कि वादी और प्रतिवादी पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण कर लें। [यह एक प्रकार का वार्तालाप है जिसमें दो दलवाले एक ही विषय के पक्ष और विपक्ष में बोलते हैं। स्मरणीय है कि कथा के ही वाद, जल्प और वितण्डा ये तीन भेद हैं।]

(५ ख. हेत्वाभास और छल)

असाधको हेतुत्वेनाभिमतो हेत्वाभासः। स पञ्चविधः— सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसमातीतकालभेदात्।

हेत्वाभास उसे कहते हैं जो हेतु के रूप में रखा गया हो किन्तु लक्ष्य को सिद्ध न कर सके। (न तु साक्षाद् हेतुः किन्तु तथा प्रतीयते)। इसके पाँच भेद हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल (या कालातीत)।*

विशेष—हेत्वाभास के उक्त भेदों के नाम न्यायसूत्र के आधार पर लिए गये हैं। नव्यन्याय की सूक्ष्मता यहाँ पर भी लगी है जिससे विश्लेषण तथा नामकरण में कुछ अन्तर हो गया। दार्शनिक विवेचना में हेत्वाभासों का अत्यधिक प्रयोग होने के कारण यहाँ हम उनकी व्याख्या करें।

(१) **सव्यभिचार** (Discrepant Reason)—**व्यभिचार** का अर्थ है सहचार नहीं होना अर्थात् हेतु का उन स्थानों में भी साथ देना जिन स्थलों

*अनुमान के वाक्यों में जो हेतु (middle term) शुद्ध नहीं रहता वह शुद्ध अनुमान नहीं करा सकता और फलतः ऐसे अनुमान दोषपूर्ण हो जाते हैं। ऐसे ही अशुद्ध हेतुओं को हेत्वाभास (Fallacies of Reason) कहते हैं। हेतु + आभास (प्रतीत होने वाला) = जो हेतु नहीं हो पर हेतु के समान दिखलाई पड़ रहा हो।

में साध्य का अभाव हो। व्यभिचार रहने पर सव्यभिचार नामका हेत्वाभास होता है जिससे एकाधिक निष्कर्ष (अन्त) की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि सव्यभिचार को अनैकान्तिक कहा जाता है। उदाहरण है—

सभी द्विपद जीव विचारशील हैं—
हंस द्विपदजीव हैं
∴ हंस विचारशील हैं।

यहाँ का हेतु (द्विपदजीव) साध्य अर्थात् 'विचारशील' से व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि द्विपदजीव का सम्बन्ध विचारशील और अविचारशील दोनों से है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि 'द्विपद जीव' (हेतु) और 'विचारशील' (साध्य) में व्यभिचार-संबंध है। जिस प्रकार इस हेतु से हंसों की विचारशीलता सिद्ध होती है उसी प्रकार उसी हेतु से उनकी विचारहीनता भी सिद्ध होती है। इसी से यह अनैकान्तिक हेतु है। सव्यभिचार के तीन भेद किये गये हैं—

(क) साधारण (Overwide)—जब हेतु की वृत्ति या स्थिति साध्य वस्तु के अभाववाले स्थानों में भी हो (जहाँ साध्य न हो वहाँ भी हेतु की प्राप्ति हो) तब साधारण सव्यभिचार होता है। उदाहरण के लिए—'पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि यह प्रमेय (ज्ञेय) है।' इस वाक्य में 'प्रमेयत्व' (हेतु) जो अग्नि के साथ दिखलाया गया है वह अग्नि के अभाव वाले स्थान में (जैसे—तालाब) भी तो रहता है—जैसे अग्नियुक्त पदार्थ ज्ञेय हैं, वैसे ही अग्निहीन पदार्थ भी तो ज्ञेय हो सकते हैं। फल यह होगा कि 'पर्वत की अग्नि-हीनता' भी इसी हेतु से सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार हेतु की वृत्ति साध्य और साध्याभाव दोनों स्थानों में है। 'यह गाय है क्योंकि इसकी दो सींगें हैं' यह भी साधारण का उदाहरण है।

(ख) असाधारण (Uncommon)—जो हेतु न तो सपक्ष में पाया जाय न विपक्ष में ही, उसे असाधारण कहते हैं। ऐसा हेतु केवल पक्ष (Minor Term) में ही रहता है। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है। यहाँ 'शब्दत्व' (हेतु) सारे नित्य पदार्थों (जैसे–आत्मा आदि) तथा अनित्य पदार्थों (जैसे–घट आदि) से पृथक् है। मिलता है तो केवल पक्ष अर्थात् शब्द में ही। इसी हेतु से हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि शब्द अनित्य है। जब कहीं मिलना ही नहीं तो नित्य और अनित्य दोनों का दावा समान है।

(ग) अनुपसंहारी (Non-Conclusive)—जिस हेतु को न तो अन्वय (समान) दृष्टान्त मिले और न ही व्यतिरेक (असमान Dissimilar) दृष्टान्त ही, उसे अनुपसंहारी कहते हैं। जैसे—सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं क्योंकि वे

प्रमेय हैं। यहाँ समान और असमान दृष्टान्त मिलना असंभव है क्योंकि 'सभी वस्तुएँ' ही पक्ष के रूप में हैं। कोई दृष्टान्त इससे पृथक् रहे तब तो ? और पक्ष स्वयं दृष्टान्त होगा ही नहीं। यद्यपि यहाँ पक्ष का दोष है परन्तु हेतु के कारण ही अनुमान में निष्कर्ष निकलता है अतः यह भी हेत्वाभास ही है।

(२) विरुद्ध (Contradictory Middle)—जिस हेतु का सम्बन्ध साध्य से बिल्कुल ही न रहे, उलटे जो साध्याभाव के द्वारा व्याप्त हो—वही विरुद्ध हेतु है। ऐसे हेतु से साध्य की सिद्धि तो होती नहीं उसके अभाव की सिद्धि हो जाती है अर्थात् ठीक उलटा निष्कर्ष निकलता है। 'शब्द नित्य है क्योंकि यह उत्पन्न होता है'—इस उदाहरण में 'उत्पन्न होना' (हेतु) साध्य (नित्य) का ठीक विरुद्ध है, उससे शब्द की अनित्यता ही सिद्ध हो जायगी। कारण यह है कि उत्पत्ति और अनित्यता (साध्याभाव) में व्याप्ति-संबन्ध है। इसी प्रकार ये उदाहरण भी होंगे—वायु भारी है क्योंकि यह खाली है, यह घोड़ा है क्योंकि इसे सींगें हैं, इत्यादि। सव्यभिचार साध्य की सिद्धि में असफल रहता है जब कि विरुद्ध उसे असिद्ध कर देता है या इसके अभाव को सिद्ध करता है।

(३) **प्रकरणसम** या **सत्प्रतिपक्ष** (Opposable Reason)--जिस हेतु से किसी पक्ष पर किसी साध्य का साधन हो सके और दूसरे हेतु से उसी पक्ष पर ठीक साध्य के अभाव की भी सिद्धि हो जाये तो वह हेतु प्रकरणसम है। दूसरे शब्दों में उस हेतु का प्रतिपक्षी या विरोध करने वाला हेतु भी रहता है जो उलटी बात भी सिद्ध कर सकता है। (प्रतिपक्ष = प्रतिहेतु Counter Reason, सत् = है।) प्रकरण का अर्थ है प्रक्रिया अथवा विचार। विचार या प्रकरण की जब आवश्यकता पड़ती है तब वादी या प्रतिवादी, जो भी रहें, अपने मतलब की सिद्धि के लिए कोई हेतु रखते हैं। यदि हेतु निर्णायक (शुद्ध) हुआ तो प्रकरण समाप्त हो जाता है। यदि हेतु सत्प्रतिपक्ष हुआ, हेतु का प्रतिद्वन्द्वी हेतु साध्य से उलटी बात की सिद्धि के लिए तैयार रहा, तब निर्णय तो होगा ही नहीं—प्रकरण चलता रहेगा। इस प्रकार प्रकरण के समान ही एक और प्रकरण ले आनेवाले हेतु को प्रकरणसम हेतु कहते हैं। उदाहरण के लिए—

शब्द नित्य है क्योंकि इसमें नित्यधर्म की प्राप्ति होती है।

तो, ठीक इसी तरह—

शब्द अनित्य है क्योंकि इसमें अनित्य धर्म मिलते हैं।

'नित्य धर्म का मिलना' सत्प्रतिपक्ष हेतु है क्योंकि साध्याभाव को सिद्ध करने

वाला प्रतिपक्षी हेतु भी तैयार है—'अनित्य धर्म का मिलना'। अन्य उदाहरण है—

शब्द नित्य है क्योंकि यह श्रवणीय है,

तथा, शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक (artificial) है।

पहली दशा में दृष्टान्त के रूप में 'शब्दत्व' दिया जा सकता है जब कि दूसरी दशा में घट पट आदि दिये जा सकते हैं। व्याप्ति भी दोनों में पृथक् होगी। अतः 'श्रवणीय होना' यह प्रथम हेतु प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष है क्योंकि एक दूसरे हेतु से साध्याभाव की सिद्धि होती है। विरुद्ध हेतु साध्याभाव की सिद्धि स्वयं ही करता है, जब कि सत्प्रतिपक्ष हेतु साध्याभाव की सिद्धि एक दूसरे हेतु से कराता है।

(४) **असिद्ध या साध्यसम**—(Unproved Middle)—साध्य की सिद्धि के लिए सिद्ध हेतु की आवश्यकता पड़ती है। यदि वह अपने आप सिद्ध न हो तो साध्य को क्या सिद्ध करेगा, स्वयमेव साध्य बन जायगा। इसीलिए इसे साध्यसम (साध्य के समान ही सिद्धि की अपेक्षा रखने वाला) कहते हैं। जब गलती से किसी अनुमान-वाक्य (Premise) में कोई हेतु मान लिया जाता है तब असिद्ध होता है। उदाहरण के लिए—'आकाश-कमल में सुगन्ध है क्योंकि यह कमल है, अन्य कमल जिस प्रकार के हैं।' यहाँ हेतु (आकाश-कमल) की व्यावहारिक सत्ता (locus standi) नहीं, क्योंकि आकाश में कमल होता नहीं। इसके तीन भेद होते हैं।

(क) **आश्रयासिद्ध** (Non-existent Subject)—'आकाश कमल सुगन्धित है क्योंकि इसमें कमलत्व है जैसा कि सरोवर के कमलों में होता है'—यहाँ आश्रय (subject) ही असिद्ध है जिससे हेतु (कमलत्व) व्यर्थ (futile) हो जाता है क्योंकि पक्ष और हेतु में कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ख) **स्वरूपासिद्ध** (Non-existent Reason)—जब हेतु पक्ष Minor term) में सिद्ध न हो, न रहे, तब स्वरूपासिद्ध हेतु होता है। जैसे—'शब्द गुण है क्योंकि यह चाक्षुष है जैसा कि रूप होता है।' यहाँ का हेतु (चाक्षुषत्व) शब्द में नहीं मिलता क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय से गृहीत (श्रावण) होता है। इस तरह का हेतु पक्षधर्मता के ज्ञान का विरोधी होता है!

(ग) **व्याप्यत्वासिद्ध** (Non-existent Concomitance)—जिस हेतु में कुछ उपाधि (Condition शर्त्त) लगी हुई होती है, वही व्याप्यत्वासिद्ध है। नाम के अनुसार इस प्रकार के हेतु में हेतु और साध्य के बीच होनेवाली व्याप्ति असिद्ध रहती है। उपाधि साध्य को तो व्याप्त करती है

किन्तु हेतु को वह व्याप्त नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए—पर्वत धूमवान् है क्योंकि वह अग्नि से युक्त है। यहाँ 'अग्नियुक्त होना' हेतु है जो सोपाधिक है। यहाँ उपाधि है—आर्द्र इन्धन का संयोग। दूसरे शब्दों में, अग्नियुक्त पदार्थ तभी धूमवान् हो सकते हैं जब उनमें भींगा जलावन (Fuel) रहे। 'आर्द्रेन्धनसंयोग' (उपाधि) यहाँ साध्य को व्याप्त करता है किन्तु हेतु (अग्नि) को व्याप्त नहीं कर पाता। उपाधि के विषय में चार्वाक-दर्शन में हम विस्तृत-विवेचना कर चुके हैं।

(५) **कालातीत या बाधित** (False Reason)—जहाँ साध्य के अभाव की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से (अनुमान को छोड़कर किसी प्रमाण से) हो वहाँ बाधित हेतु होता है। जैसे—अग्नि अनुष्ण (शीतल) है क्योंकि यह द्रव्य है। यहाँ 'शीतलता' साध्य है उसका अभाव उष्णता है जिसका निर्णय स्पर्शन-प्रत्यक्ष से होता है। द्रव्यों (हेतु) में केवल एक द्रव्य ही है (तेजस्) जो उष्ण होता है। आठ द्रव्यों को शीतल पाकर कोई नवम द्रव्य—अग्नि—को भी शीतल सिद्ध करना चाहता है परन्तु अनुभव (प्रत्यक्ष) से वह उष्ण सिद्ध हो जाता है। दूसरा उदाहरण—चीनी खट्टी है क्योंकि इससे अम्लता उत्पन्न होती है।*

अनुमान में हेत्वाभासों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ में हेतु या कारण की शुद्धिपर ध्यान देना परम आवश्यक है। संभव है कि ऊपर से देखने में हेतु शुद्ध लगता हो परन्तु वह हेत्वाभास हो। भारतीय तर्कशास्त्र में दोषों के प्रकरण में केवल हेतु का ही गला पकड़ा जाता है जब कि यूनानी तर्कशास्त्र में अन्य पदों (पक्ष, साध्य) की भी शुद्धता की परीक्षा होती है।

शब्दवृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुश्छलम्। तत्त्रिविधम्। अभिधानतात्पर्योपचारवृत्तिव्यत्ययभेदात्।

शब्द की विभिन्न वृत्तियों (अर्थोत्पादक शक्तियों) को उलटकर जिसके द्वारा किसी की बात का विरोध किया जाय वही **छल** (Quibble) है। [न्याय-सूत्र के अनुसार, किसी शब्द के वैकल्पिक अर्थों के आधार पर वक्ता की उक्ति का खण्डन करना छल है। वक्ता किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग

* साध्याभाव का निश्चय चूँकि प्रत्यक्ष से ही हो जाता है इसलिए हेतुवाक्य की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसके उच्चारण के पूर्व ही कार्य हो जाता है। इस तरह हेतु का काल (कार्यकाल) पहले ही बीत जाता है और इसे **कालातीत** कहते हैं।

करते हुए कोई बात कह रहा है। उसी समय छलवादी उस शब्द का दूसरा अर्थ लगाकर कहता है कि ऐसा कैसे होगा ?]

छल के तीन भेद हैं—अभिधानवृत्ति (Convention शक्ति) का व्यत्यय (उलटना), तात्पर्यवृत्ति (Purport) का व्यत्यय तथा उपचारवृत्ति (लक्षणा Indication) का व्यत्यय। [**अभिधानवृत्ति** के व्यत्यय से छल तब होता है जब किसी वाक्य में ऐसा शब्द दिया जाय जिसके कई वाच्यार्थ या मुख्यार्थ हों तथा उसके दूसरे अर्थ को दृष्टि में रखते हुए वाक्य का खण्डन करें। इसे ही न्यायसूत्र में वाक्छल (Quibble of a Term) कहा गया है। जैसे कोई कहे कि यह छात्र नव कम्बल से युक्त है। उसके कहने का अभिप्राय है 'नये कम्बल से'। अब चूँकि 'नव' का अर्थ नौ संख्या भी है, इसलिए छलवादी वाक्य काटता है कि इसके पास नव कम्बल कहाँ से आये, इस दरिद्र को तो एक भी कम्बल दुर्लभ है। **तात्पर्यवृत्ति** के व्यत्यय से होने वाले छल में एक ही शब्द के तात्पर्य के भेद से कई अर्थ होते हैं तथा एक तात्पर्यार्थ का दूसरे तात्पर्यार्थ से प्रतिषेध करते हैं। जैसे—सामान्य अर्थ (General Sense) में कोई कहता है कि ब्राह्मण में विद्या होती है, अब छलवादी उसका तात्पर्य यह समझकर कि सभी ब्राह्मणों में नियमतः विद्या होती है, इस उक्ति का निषेध करता है कि ब्राह्मण में विद्या कैसे संभव है, मूर्ख ब्राह्मण भी तो होते हैं। इस प्रकार सामान्यार्थ को विशेषार्थ में लेकर छलवादी बात काटता है। इसे न्यायसूत्र में सामान्यच्छल कहा गया है। **उपचारवृत्ति** के व्यत्यय से होनेवाले छल में किसी शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग देखकर छलवादी उसे वाच्यार्थ में लेकर बातें काटता है। जैसे—मंच चिल्ला रहे हैं; इसका लक्ष्यार्थ है कि मंच पर बैठे हुए लोग चिल्ला रहे हैं। अब छलवादी इसे वाच्यार्थ में ही लेकर कहता है कि अचेतन लकड़ी के बने मंच कैसे चिल्ला सकते हैं।]

(६. जाति और उसके चौबीस भेद)

स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः। सा चतुर्विंशतिधा। साधर्म्य-वैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्ति-संशय-प्रकरण-हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपल-ब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्य-कार्यसमभेदात्।

अपने आपका विनाश करनेवाले उत्तर को **जाति** कहते हैं। [गौतम के अनुसार—साधर्म्य या वैधर्म्य के आधार पर किसी का विरोध करना जाति है। जैसे कोई वादी कहता है कि आत्मा निष्क्रिय है क्योंकि यह आकाश की तरह

व्यापक है। अब उसका प्रतिपक्षी उत्तर देता है कि यदि आत्मा आकाश की तरह व्यापक होने के कारण निष्क्रिय है तो वह घट की तरह अवयवसमूह होने के कारण सक्रिय क्यों नहीं है ? वादी की उक्ति में साधर्म्य से व्याप्ति-संबंध है पर प्रतिपक्षी की उक्ति में नहीं। व्यापक पदार्थ निष्क्रिय हैं, किन्तु अवयवसमूह के लिए सक्रिय होना आवश्यक नहीं।]

जाति के चौबीस भेद हैं—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्तसम अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम तथा कार्यसम।

विशेष—जाति के चौबीस प्रकारों का वर्णन गौतम ने पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में अलग-अलग सूत्रों में किया है। इनमें प्रत्येक में 'सम' का प्रयोग बतलाता है कि जातियों में साधर्म्य आदि की समानता का प्रदर्शन किया जाता है—किसी में वैधर्म्य की तुलना होती है, किसी में उत्कर्ष की, तो किसी में नित्य की ही।

(१) **साधर्म्यसम** जाति में साधर्म्य में दिये गये उदाहरण से युक्त वाद (Argument) का विरोध किया जाता है तथा विरोधी पक्ष उसी प्रकार के उदाहरण का प्रयोग करता है जिस तरह का उदाहरण वादी ने दिया है। कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का वाद रखता है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह उत्पन्न होता (कृतक) है जैसे घट। दूसरा व्यक्ति निम्न जाति के द्वारा उसका विरोध करता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह अमूर्त्त है जैसे आकाश। वादी और विरोधी दोनों के उदाहरण एक प्रकार के हैं अर्थात् साधर्म्य के उदाहरण हैं। वादी अनित्य घट के साथ शब्द का **साधर्म्य** दिखाकर (क्योंकि दोनों कृतक हैं) शब्द को अनित्य सिद्ध करता है, प्रतिपक्षी नित्य आकाश के साथ शब्द का **साधर्म्य** दिखाकर (क्योंकि दोनों अमूर्त हैं) शब्द को नित्य सिद्ध करता है। दोनों ओर साधर्म्य के ही उदाहरण हैं। किन्तु प्रतिपक्षी का विरोध-पक्ष जाति है क्योंकि अमूर्त (हेतु) और नित्य (साध्य) में साहचर्य या व्याप्ति होना कोई आवश्यक नहीं।

(२) **वैधर्म्यसम** जाति में वैधर्म्य के उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी करता है तथा वह अपने विरोध-पक्ष में वैधर्म्य का ही उदाहरण देता है। वैधर्म्य के उदाहरण की समानता के कारण इसे वैधर्म्यसम कहते हैं। वादी का कथन है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक (Product) है, जो

अनित्य नहीं वह कृतक नहीं है जैसे आकाश। अब प्रतिपक्षी कहता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह अमूर्त है, जो नित्य नहीं वह अमूर्त नहीं है जैसे घट। दोनों स्थानों पर वैधर्म्य के उदाहरण हैं, जिनको लेकर समता है! वादी शब्द और अनित्यहीन आकाश के वैधर्म्य के आधार पर शब्द को अनित्य सिद्ध करता है जब कि प्रतिपक्षी शब्द और अमूर्तहीन (मूर्त) घट के वैधर्म्य के आधार पर शब्द को नित्य सिद्ध करता है। प्रतिपक्षी का विरोध करना जाति है। गौतम का कहना है कि इन दोनों जातियों का उत्तर भी हो सकता है। गोत्व के कारण जैसे गौ की सिद्धि होती है उसी प्रकार हेतु और साध्य का संबंध भी साधर्म्य या वैधर्म्य से सिद्ध किया जा सकता है और जाति का निवारण हो सकता है (देखिये ५।१।३)।

(३) **उत्कर्षसम** जाति उसे कहते हैं जब वादी किसी उदाहरण के आधार पर अपना वाद प्रस्तुत करे और उसका विरोध प्रतिवादी किसी अधिक उत्कृष्ट विशेषणों से युक्त उदाहरण (Example having additional character) के आधार पर करे। जैसे वादी का कथन—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। अब प्रतिवादी कहता है—शब्द अनित्य तथा मूर्त है है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट (जो अनित्य तथा मूर्त भी है)। प्रतिवादी का यह तर्क है कि यदि शब्द को घट की तरह अनित्य मानते हैं तो घट ही की तरह वह मूर्त भी है। यदि मूर्त नहीं मानते हैं तो घट की तरह अनित्य भी न मानें। यहाँ दोनों पक्षों के वादों की समता उदाहरण के उत्कृष्ट गुण के आधार पर दिखाई गई है। यह उत्कृष्ट गुण उदाहरण में है तथा पक्ष (Subject) पर आरोपित हुआ है।

(४) **अपकर्षसम** उसे कहते हैं जहाँ वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी वैसे वाद से करे जिसके उदाहरण में कुछ धर्म का अपकर्ष दिखाया जाय। जैसे वादी के द्वारा दिये गये उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिपक्षी कहे कि शब्द अनित्य किन्तु अश्राव्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट (जो अनित्य तो है पर अश्राव्य है)। प्रतिपक्षी का तर्क है कि यदि घट के आधार पर आप शब्द को अनित्य मानते हैं तो घट की तरह ही उसे अश्राव्य भी मानें। यहाँ श्राव्यत्व-धर्म का अपकर्ष दिखलाया गया है।

(५) **वर्ण्यसम** जाति में वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण का विरोध यह कह कर किया जाता है कि उदाहरण का धर्म भी उसी प्रकार प्रदर्शनीय है जिस प्रकार पक्ष का धर्म। वादी कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है जैसे घट। प्रतिवादी द्वारा खण्डन होता है—घट अनित्य है क्योंकि कृ तक है जैसे

शब्द। प्रतिवादी का तर्क है कि यदि शब्द की अनित्यता का प्रदर्शन कर रहे हैं तो उदाहरण के रूप में दिये गये घट का प्रदर्शन क्यों नहीं करते ? दोनों ही तो कृतक हैं। शब्द का उत्पादन तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार से होता है जब कि घट का उत्पादन कुम्भकार आदि के व्यापार से होता है। पक्ष और उदाहरण दोनों की वर्ण्यता (Questionable Character) की समानता दिखलाई जाती है।

(६) **अवर्ण्यसम** जाति का अर्थ है कि जब वादी के उदाहरण पर यह आरोप लगाते हुए उसके वाद का खंडन करें कि पक्ष का धर्म उदाहरण के धर्म की तरह ही अवर्णनीय या सिद्ध है। वर्ण्यसम में जो वादी और प्रतिवादी के तर्क हैं उनमें जब प्रतिवादी यह कहे कि यदि दृष्टान्त के रूप में दिये गये घट में आप अनित्यता को अवर्ण्य या सिद्ध मानते हैं तो शब्द की अनित्यता भी अवर्ण्य या सिद्ध क्यों नहीं मानते ? दोनों ही तो उत्पन्न हैं। उसका तात्पर्य यह है कि अनित्यता सिद्ध करने के लिए किसी वाद को व्यर्थ माना जाय। इस प्रकार पक्ष और दृष्टान्त में अवर्ण्यता या सिद्धि को लेकर समानता है।

(७) **विकल्पसम** जाति वह है जिसमें प्रतिवादी किसी वाद का खंडन करने के लिए पक्ष और दृष्टान्त (उदाहरण) पर वैकल्पिक धर्मों का आरोप करे। वादी के उपर्युक्त वाद पर प्रतिपक्षी कहता है—शब्द नित्य और निराकार है क्योंकि यह उत्पन्न होता है जैसे घट (जो अनित्य और साकार है)। प्रतिवादी का कहना है कि घट और शब्द दोनों कृतक हैं किन्तु एक साकार है दूसरा निराकार। इसी सिद्धान्त पर एक (घट) अनित्य तथा दूसरा (शब्द) नित्य क्यों नहीं माना जाय ? दोनों पक्षों के तर्कों की समानता पक्ष और दृष्टान्त पर आरोपित वैकल्पिक धर्मों को लेकर दिखलाई गई है।

(८) **साध्यसम** जाति वह है जिसमें पक्ष और दृष्टान्त के पारस्परिक संबन्ध को लेकर किसी वाद का खण्डन हो। वादी का कथन है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है, जैसे घट। प्रतिवादी कहता है—घट अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे शब्द। शब्द और घट दोनों कृतक होने के कारण सिद्धि की अपेक्षा रखते हैं। शब्द को घट के दृष्टान्त से अनित्य सिद्ध करते हैं, घट को शब्द के दृष्टान्त से। घट को शब्द के दृष्टान्त से श्रावण भी सिद्ध कर सकते हैं। फल यह होगा कि निर्णय नहीं होगा—न तो नित्यता सिद्ध होगी न अनित्यता। अतः पक्ष और दृष्टान्त में अन्योन्याश्रय दोष लगाकर निर्णय रोक लेते हैं।

(९) **प्राप्तिसम** जाति उसे कहते हैं जिसमें हेतु और साध्य के सहचार-संबंध पर आधारित वाद का विरोध उसी प्रकार के वाद से किया जाय। ऐसी

स्थिति में चूँकि हेतु साध्य से पृथक् करके समझा नहीं जा सकता, इसलिए जाति प्राप्ति (सहचार) सम कहलाती है। वादी पर्वत में अग्नि सिद्ध करने के लिए तर्क करता है—पर्वत अग्नि से युक्त है क्योंकि वहाँ धूम है जैसे रसोईघर में। अब प्रतिवादी कहता है—पर्वत धूमवान् है क्योंकि वहाँ अग्नि है जैसे रसोईघर में। प्रतिवादी का अभिप्राय यह है कि अग्नि और धूम के संबन्ध का पार्थक्य न रहने के कारण धूम साधन है कि साध्य, यह निश्चय करना कठिन है। उसके अनुसार धूम भी साधन के रूप में रखा जा सकता है। अतः साध्य और साधन का सहचार देखकर किसी के वाद को रोक देना प्राप्तिसम है।

(१०) **अप्राप्तिसम** जाति उसे कहते हैं जहाँ साध्य और साधन के असंबंध के आधार पर किसी वाद का विरोध करें। पूर्व उदाहरण में प्रतिवादी का यह पूछना है कि क्या धूम को हेतु मान सकते हैं चूँकि वह अग्नियुक्त स्थानों में अनुपस्थित है ? किन्तु ऐसा सोचना गलत होगा। साध्य से बिना सम्बन्ध हुए हेतु कभी भी पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता। अपनी पहुँच के बाहर की चीजों को प्रकाश प्रकाशित नहीं कर पाता। यदि साध्य से असंबद्ध हेतु साध्य की सिद्धि कर ले तो अग्नि भी हेतु हो सकती है। इस प्रकार दोनों के परस्पर असंबंध से वादी की उक्ति रोकी जाती है।

(११) **प्रसंगसम** जाति वहाँ होती है जहाँ वादी की उक्ति को रोकने के लिए वादी के द्वारा दिये गये साधन (हेतु) को सिद्धि के लिए पुनः दूसरे साधन की आवश्यकता बतलाई जाती है, पुनः उस साधन की सिद्धि के लिए दूसरे साधन की सिद्धि—इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग लाया जाता है। वादी की उक्ति—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। प्रतिवादी पूछता है कि घट को आप कैसे अनित्य मानते हैं इसके लिये दूसरे साधन की जरूरत है। इस प्रकार इसमें अनवस्था का प्रसंग लाकर 'शब्द की अनित्यता' की सिद्धि असंभव कर देते हैं।

(१२) **प्रतिदृष्टान्तसम** जाति तब होती है जब विरोधी दृष्टान्त देकर वादी का विरोध किया जाय। कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए घट का दृष्टान्त देता है तो प्रतिवादी उसकी नित्यता सिद्ध करने के लिए आकाश का दृष्टान्त देता है। यदि आकाश के दृष्टान्त का खंडन करेंगे तो घट के दृष्टान्त का भी विरोध किया जा सकता है।

(१३) **अनुत्पत्तिसम** जाति का अर्थ है कि जब तक पक्ष की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक साध्य को सिद्ध करने वाला साधन काम में नहीं लाया जा सकता—इस आधार पर ही वादी की उक्ति का विरोध कर देते हैं। वादी

कहता है—शब्द अनित्य है क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे घट। अब प्रतिवादी जाति के द्वारा विरोध करता है—शब्द नित्य है क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता जैसे आकाश। प्रतिवादी का अभिप्राय यह है कि वादी की उक्ति में जो 'प्रयत्नोत्पाद्य' (कृतक) हेतु दिया गया है वह तब तक कारण (हेतु) के रूप में नहीं दिया जा सकता जब तक पक्ष (शब्द) की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यहाँ 'प्रयत्न' है, कार्य 'शब्द'। कारण के बाद ही तो कार्य होता है—हेतु तब तक शुद्ध नहीं होगा जब तक पक्ष की उत्पत्ति नहीं हो, पर यहाँ विषमता हो जाती है। पक्ष अभी आया नहीं और उधर पक्ष का ही कारण हेतु (प्रयत्न) रख दिया गया। खंडन का फल यह हुआ कि शब्द को नित्य मानना पड़ेगा।

(१४) **संशयसम** जाति में वादी का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि दृष्टान्त तथा सामान्य (Genus) दोनों के समान रूप से इन्द्रियग्राह्य (ऐन्द्रियक) होने के कारण, उनके नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की वस्तुओं का साधर्म्य देखकर संशय होता है। वादी की उक्ति है कि कृतक होने से घट की तरह शब्द अनित्य है। अब प्रतिवादी संशय करता है—शब्द नित्य या अनित्य है क्योंकि यह इन्द्रियग्राह्य है जैसे घट या घटत्व। प्रतिवादी कहता है कि कृतक होने से कारण (शब्द और घट में कृतकत्व का साधर्म्य देखकर) शब्द अनित्य है जब कि इन्द्रियग्राह्य होने के कारण घटत्व की तरह शब्द नित्य है, यह सन्देह होता है। वादी का विरोध तो हुआ।

(१५) **प्रकरणसम** वह जाति है जिसमें दोनों पक्षों (नित्य और अनित्य) के साधर्म्य (या वैधर्म्य) से वादी का विरोध करते हैं। वादी उपर्युक्त रीति से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है जब कि प्रतिवादी कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि यह श्रवणीय है जैसे शब्दत्व। प्रतिवादी कहता है कि शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि हेतु (श्रवणीयता) शब्द तथा शब्दत्व दोनों में (जो क्रमशः अनित्य और नित्य हैं) साधर्म्य रखता है तथा यह वही शास्त्रार्थ आरंभ करता है जिसके साधन के लिए इसका प्रयोग हुआ था। 'श्रवणीयता'–हेतु शब्द को अनित्य सिद्ध करने ने लिए प्रयुक्त हुआ और उलटे यह नित्यानित्य का विवाद खड़ा कर देता है।

(१६) **हेतुसम** (या अहेतुसम) जाति में हेतु को तीनों कालों में असिद्ध करके वादी का विरोध करते हैं। वादी की उक्ति—शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। अब प्रतिवादी कहता है कि हेतु साध्य के पहले हुआ कि पीछे कि साथ-साथ? यदि हेतु (कृतकत्व) साध्य (अनित्य) के पहले

हुआ तब तो हेतु का नाम ही पड़ना कठिन है। साधन (हेतु) के समय यदि साध्य ही नहीं रहा तो साधन होगा किसका ? यदि हेतु साध्य के बाद आता है तब तो हेतु की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि साध्य तो पहले से है (=सिद्ध है)। यदि हेतु और साध्य एक ही साथ आवें तब तो गाय की बायीं-दायीं सींग के समान संबद्ध रहने से साध्य-साधनका संबंध नहीं रह सकेगा। यह जाति वास्तव में कारक और ज्ञापक हेतुओं को एक समझने के कारण उत्पन्न होती है।

(१७) **अर्थापत्तिसम** वह जाति है जिसमें विरोधीदल अर्थापत्ति (अन्यथा असिद्धि का आभास) के द्वारा वादी का खंडन करता है। वादी की उपर्युक्त उक्ति का विरोध प्रतिवादी योंकरता है--शब्द को यदि अनित्य मानते हैं तो अर्थ से ही ज्ञात होता है कि शब्द के अतिरिक्त सभी चीजें नित्य हैं। घट का दृष्टान्त भी तो नित्य ही है फिर आप इसे अनित्य की सिद्धि के लिए क्यों रखते हैं ? तब अर्थापत्ति से, शब्द नित्य है क्योंकि यह आकाश की तरह अमूर्त है— यह सिद्ध हुआ।

(१८) **अविशेषसम** जाति वहाँ होती है जब वादी का विरोध इस आधार पर करते हैं कि यदि पक्ष और दृष्टान्त में समता (अविशेष Absence of difference) है तो सभी पदार्थों के साथ भी समता (अविशेष) दिखलाई जा सकती है। यदि शब्द (पक्ष) और घट (दृष्टान्त) में कृतकत्व के चलते समता है तो प्रमेयत्व के चलते शब्द के साथ सभी पदार्थों की भी समता दिखाई जा सकती है। सब तो तब के सब पदार्थ नित्य या अनित्य कुछ भी किये जा सकते हैं।

(१९) **उपपत्तिसम** जाति वह है जिसमें पृथक्-पृथक् हेतुओं से साध्य और उसके विरोध दोनों की सिद्धि की जा सके। यदि कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है तो अवयवरहित होने के कारण वह नित्य क्यों नहीं हो सकता ? पहले वाद में घट दृष्टान्त होगा, दूसरे में आकाश।

(२०) **उपलब्धिसम** जाति उसे कहते हैं जिसमें वादी का खंडन करने के लिए यह कहा जाता है कि आपके द्वारा निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी दूसरे कारणों से (प्रत्यक्षादि से) हम साध्य का ज्ञान पा लेते हैं। वादी की यह उक्ति कि पर्वत धूम के कारण अग्निमान् है, खंडित हो सकती है कि धूम के बिना भी आलोक आदि देखकर हम अग्नि का पता लगा लेते हैं। शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए 'कृतकत्व' हेतु देने की आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी हवा के झकोरे से पेड़ों की डालों को टूटते देखकर शब्द की अनित्यता सिद्ध होती

है। शब्द हुआ और समाप्त। एक कार्य का एक ही कारण होता है, ऐसी धारणा है, इसीलिए यह जाति लगती है।

(२१) **अनुपलब्धिसम** वह जाति है जिसमें किसी वस्तु की अनुपलब्धि (Non-perception अप्रत्यक्ष) देखकर उस वस्तु का अभाव सिद्ध करनेवाले वाद का खण्डन (उसके विरुद्ध निगमन की सिद्धि) अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि दिखाकर करते हैं। नैयायिक (वादी) कहता है कि शब्द को ढँकनेवाला कोई आवरण नहीं है क्योंकि हम उसे नहीं पाते (२।२।१८)। अब प्रतिवादी कहता है कि आवरण है क्योंकि इसके अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रतिवादी के अनुसार यदि किसी वस्तु के अप्रत्यक्ष से वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाय तो उसके अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष न होने से वस्तु की सत्ता अवश्य सिद्ध हो जायगी। तदनुसार शब्द को अनित्य नहीं मानें।

(२२) **नित्यसम** जाति वह है जिसमें धर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो विकल्पों के द्वारा धर्मी को नित्य सिद्ध करते हुए वादी का खण्डन करते हैं। नैयायिक सिद्ध करते हैं कि शब्द (धर्मी) अनित्य है। अब प्रतिवादी पूछता है कि शब्द का यह अनित्य-धर्म स्वयं नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो धर्मी के बिना धर्म की स्थिति असम्भव है इसलिए धर्मी (शब्द) की भी नित्यता माननी पड़ेगी। यदि अनित्य है तो इसका अर्थ यही हुआ कि शब्द की अनित्यता अनित्य है अर्थात् शब्द नित्य है। किसी प्रकार भी शब्द की नित्यता ही सिद्ध हो जाती है।

(२३) **अनित्यसम** जाति वह है जब कुछ वस्तुओं की समता देखकर उनमें समान धर्म की सिद्धि करके सभी वस्तुओं को अनित्य मान लें। यदि कृतक होने के कारण घट के साधर्म्य से शब्द को आप लोग अनित्य मानते हैं तो प्रमेयत्व (Knowability) होने के कारण घट के साधर्म्य से सभी वस्तुएँ ही अनित्य हो जायँगी। इस प्रकार सभी वस्तुओं को अनित्य मानने का दोष लगा कर जाति के द्वारा शब्द की अनित्यता का खण्डन करते हैं।

(२४) **कार्यसम** जाति उसे कहते हैं जहाँ किसी प्रयत्न के अनेक कार्य (परिणाम Effect) दिखाकर किसी वाद का खण्डन करते हैं। वादी कहता है कि शब्द अनित्य है क्योंकि यह प्रयत्न का परिणाम है। अब प्रतिवादी कहता है कि प्रयत्न के कार्य दो प्रकार के हैं—(१) असत् वस्तु की उत्पत्ति जैसे घट और (२) पहले से विद्यमान (सत्) वस्तु की अभिव्यक्ति जैसे कूपजल। शब्द इन दोनों में किस प्रकार का कार्य है ? पहली स्थिति में तो शब्द अनित्य रहेगा किन्तु दूसरी स्थिति में नित्यता आ जाती है। इस प्रकार कार्य की अनेकता से शब्दानित्यत्व सिद्ध होना कठिन है।

गौतम ने न्यायशास्त्र के पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में इन जातियों की विवेचना करते हुए इनमें दोषों की उद्भावना करने की विधि भी बतलाई है। विशेष ज्ञान के लिए वात्स्यायनभाष्य देखें।

(६ क. निग्रहस्थान और उसके बाईस भेद)

पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानम्। तद् द्वाविंशतिप्रकारम्। प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध-प्रतिज्ञासंन्यास-हेत्वन्तरार्थान्तर-निरर्थकाविज्ञातार्थापार्थकाप्राप्तकाल-न्यूनाधिक-पुनरुक्तानुभाषणाज्ञानाप्रतिभा-विक्षेप-मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षण-निरनुयोज्यानुयोगापसिद्धान्त-हेत्वाभासभेदात्।

अत्र सर्वान्तर्गणिकस्तु विशेषस्तत्र शास्त्रे विस्पष्टोऽपि विस्तरभिया न प्रस्तूयते।

[किसी शास्त्रार्थ में] पराजय प्राप्त करने के जो-जो कारण हैं उन्हें निग्रहस्थान (Occasion for rebuke) कहते हैं। ये बाईस प्रकार के हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास।

यहाँ इन सब के अवान्तर भेदों का वर्णन विस्तार के भय से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं क्योंकि [न्याय-] शास्त्र में ये अच्छी तरह से स्पष्ट किये गये हैं।

विशेष—कोई वादी शास्त्रार्थ में इसलिए परास्त होता है कि वह निग्रहस्थान के किसी न किसी भेद की चपेट में पड़ जाता है। मध्यस्थों के लिए निग्रहस्थान बड़े काम की चीज है कि जब कोई शास्त्रार्थी आँखों में धूल झोंककर आगे बढ़ा जा रहा हो तो उसे रोकें!

(१) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होता देखकर उसका निषेध करने वाली प्रतिज्ञा मान लेना **प्रतिज्ञाहानि** है। शब्द ऐन्द्रियक होने के कारण अनित्य है, इस वाद का विरोध प्रतिवादी करता है कि सामान्य भी तो ऐन्द्रियक है पर नित्य है। ऐसा सुनते ही वादी कहता है कि तब शब्द नित्य है। स्पष्ट रूप से यह पराजय है। (२) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन देखकर दूसरी प्रतिज्ञा मान लेना **प्रतिज्ञान्तर** है। वादी की प्रतिज्ञा पूर्ववत् है, प्रतिपक्षी ने उसी तरह

खण्डन किया। अब वादी महाशय करवट बदलते हैं—सामान्य तो व्यापक है, अव्यापक शब्द अनित्य है। स्पष्टतः अपनी प्रतिज्ञा का वादी ने मौका देखकर संशोधन कर लिया, पर यह पकड़ा जायगा। (३) प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्य में विरोध होने से **प्रतिज्ञाविरोध** होता है। द्रव्य गुण से भिन्न है क्योंकि इसमें रूप, रस आदि गुणों से भिन्नता नहीं मिलती है। प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार द्रव्य गुण से भिन्न है जब कि हेतुवाक्य के अनुसार द्रव्य गुण से भिन्न नहीं। बहुधा मन और वाणी का संबंध न होने से ऐसी बातें निकल पड़ती हैं जहाँ हारने का अवसर आ जाता है। (४) अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन देखकर अपनी कही हुई बातों को अस्वीकार करना **प्रतिज्ञा-संन्यास** है। शब्द के अनित्य होने की प्रतिज्ञा का किसी ने अच्छी तरह खण्डन किया। अब वादी महाशय अपनी प्रतिज्ञा पर ही टूटे कि किसने कहा था कि शब्द अनित्य है? मैंने कहा था? कभी नहीं! (५) साधारण हेतु के काट दिये जाने पर विशेष प्रकार का हेतु देना **हेत्वन्तर** है। शब्द अनित्य है क्योंकि बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य है। अब प्रतिवादी दोष दिखाता है कि ऐसा करने पर सामान्य नामक पदार्थ में व्यभिचार होगा अर्थात् सामान्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष है पर नित्य नहीं। तब हेतु में संशोधन करने की आवश्यकता पड़ती है—'सामान्य से युक्त होने पर' (सामान्यवत्त्वे सति) बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष होने के कारण······इत्यादि। सायण की ऋग्वेद-भाष्यभूमिका में मन्त्रों की प्रामाणिकता दिखाने के समय या व्याप्ति के लक्षण देने में नव्यन्याय में इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। सूक्ष्मता के लिए या शुद्धतम लक्षण देने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है।

(६) किसी प्रकरण में अप्रासंगिक बातें देना **अर्थान्तर** है। कोई हेतु का प्रयोग करे और हि-धातु (हिनोति) में तुन् प्रत्यय करने से धातु को गुण करके 'हेतु' शब्द की व्युत्पत्ति समझाने लगे, तो उसे न्याय-शास्त्र में क्या कहेंगे? बहुधा वैद्यराज किसी रोग का विवेचन करने के पूर्व अपने वैयाकरण-तत्त्व का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। यह अप्रासंगिकता भी पराजय का कारण है। (७) निरर्थक अक्षरों का प्रयोग करके तर्क करना **निरर्थक** निग्रहस्थान है जैसे—कचटतप शब्द नित्य हैं क्योंकि ये खछठथफ से संबद्ध हैं जैसे गजडदब। इन वर्णसमूहों का कोई मतलब नहीं। (८) जब वादी ऐसा बोले कि तीन बार कहने पर भी न तो परिषद् के सदस्य (निर्णायकादि) समझें और न प्रतिवादी ही समझे तो उसे **अविज्ञातार्थ** कहते हैं। ऐसा तब होता है जब वादी श्लिष्ट, असमर्थ, अप्रतीत या भिन्नभाषा के शब्दों का प्रयोग करता है अथवा शब्दों का जल्दी-जल्दी उच्चारण करता है। (९) आकांक्षा, योग्यता आदि से रहित तथा पूर्वापर से

असंबद्ध उक्ति को **अपार्थक** कहते हैं। कोई व्यक्ति परास्त होने के भय से कोई उपाय न देखकर बचने के लिए—दश दाडिमानि, षडपूपाः (दस अनार, छह पुए) या आग से सींचता है आदि—बकने लगता है। (१०) प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्यों को उलट-पुलट कर रखना **अप्राप्तकाल** कहलाता है। पंचावयव अनुमान के नियम का उल्लंघन करना वास्तव में परास्त होना है। (११) प्रतिज्ञादि अवयवों में से एकाध अवयव का प्रयोग न करना **न्यून** कहलाता है। (१२) एक से अधिक हेतु या उदाहरण देना **अधिक** है। एक ही हेतु या उदाहरण से साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी अधिक का प्रयोग करनेवाला हारेगा ही।

(१३) किसी वाक्य का उसी रूप में या प्रकारान्तर से बार-बार कहना **पुनरुक्त** है। हाँ, अनुवाद में कोई दोष नहीं। अनुवाद विधि के द्वारा विहित वस्तु की आवृत्ति करने को कहते हैं (न्यायसूत्र २।१।६५)। (१४) जब निर्णायक लोग तीन बार बोलने को कहें फिर भी वादी कुछ न बोले तो इसे **अननुभाषण** कहते हैं जिससे वादी पराजित माना जाता है। (१५) वादी या प्रतिवादी की उक्ति को प्रतिवादी या वादी न समझे किन्तु मध्यस्थ समझ रहे हों तो उसे **अज्ञान** कहते हैं। जबतक शास्त्रार्थी एक दूसरे की बात नहीं समझेंगे तबतक शास्त्रार्थ करेंगे ही कैसे ? (१६) दूसरे के द्वारा दिये गये उत्तर को समझ लेने पर भी उसका उत्तर न देना **अप्रतिभा** है। इससे भी पराजय होती है। (१७) जब कोई शास्त्रार्थी हारने के डर से किसी काम का बहाना करके शास्त्रार्थ छोड़कर चल दे तो उसे **विक्षेप** कहते हैं। जैसे शास्त्रार्थ करते-करते कोई कहता है कि मेरे शौच का समय है, मैं चला। यदि इसके लिए पर्याप्त कारण हो तो कोई दोष नहीं। (१८) अपने पक्ष पर दोष आते देख कर दूसरे पक्ष पर भी वही दोष लगा देना और अपने दोष का निराकरण न करना **मतानुज्ञा** है। इससे वादी अपने दोष को स्वीकार करता है, ऐसा समझा जाता है। वादी को कहा गया कि तुम चोर हो। अब वादी इसका प्रतिवाद तो करता नहीं, उलटे दोष दिखानेवाले को भी चोर बनाता है। आज का समाज इसका मूर्तिमान् स्वरूप है।

(१९) प्रतिपक्षी की पराजय हो जाने पर भी यदि अपनी सरलता से कोई उसकी उपेक्षा कर दे तो उसे **पर्यनुयोज्योपेक्षण** कहते हैं। उपेक्षा करनेवाला भी दण्डनीय है। (२०) जहाँ किसी की पराजय वास्तव में न हुई हो किन्तु 'उसकी पराजय हुई' ऐसा कहना **निरनुयोज्यानुयोग** है। (२१) यदि कोई व्यक्ति किसी सिद्धान्त की स्थापना करके वाद के क्रम में उस सिद्धान्त

से हटने लगे तो उसे **अपसिद्धान्त** कहते हैं। परास्त होने के भय से लोग प्रायः अपने सिद्धान्तों की तिलांजलि देकर दूसरों की ओर झुकने लगते हैं पर सीधे नहीं, प्रकारान्तर से। स्वार्थ किसे अचेत नहीं करता ? (२२) **हेत्वाभासों** की चपेट में पड़ जाने से भी पराजय का प्रसंग हो जाता है। इनका वर्णन हम कर ही चुके हैं।

अब हम अभी तक वर्णन किये गये न्यायशास्त्रीय पदार्थों की उपादेयता पर विचार करें। प्रमेह के बारह भेदों में जो अर्थ नामक भेद है उसके अन्दर ही प्रमेय को छोड़कर अन्य पंद्रह पदार्थ चले आते हैं, प्रमेयों में भी अर्थ को छोड़कर अन्य सभी प्रमेय उसके अन्दर ही हैं। सूत्रकार यह अन्तर्भाव मानते भी हैं किन्तु मोक्ष के साधन होने के कारण इन सबों को पृथक्-पृथक् रखा गया है। **मोक्ष** (१२) का अर्थ दुःख से बिल्कुल बच जाना। **दुःख** (११) मृत्यु तथा गर्भवासरूपी **प्रेत्यभाव** (९) से होता है। प्रेत्यभाव भी सुख-दुःख का **फल** (१०) उत्पन्न करने वाली **प्रवृत्ति** (७) से उत्पन्न होता है। प्रवृत्ति भी **मनो**गत (६) राग-द्वेष-मोह रूपी **दोषों** (८) से होती है। दोष की हानि **शरीर** (२), **इन्द्रिय** (३) और **अर्थ** (४) से पृथक् रूप में **आत्मा** (१) के तत्त्व के **ज्ञान** (५) से होता है। इस प्रकार ये प्रमेय मोक्ष के उपयोगी हैं।

षोडश पदार्थों की उपादेयता भी कम नहीं। **प्रमेय** (२) में गिनाये गये तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना ही **प्रमाणों** (१) का **प्रयोजन** (४) है। प्रमाणों में सूक्ष्म विषय के लिए अनुमान ही **पंचावयव** (७) से युक्त होकर **दृष्टान्त** (५) के आधार पर अनुग्राहक **तर्क** (८) की सहायता से **संशय** (३) का निराकरण करके **सिद्धान्त** (६) के अनुसार **निर्णय** (९) दे सकता है। निर्णय भी पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह करने वाली कथा के भेदों में **वाद** (१०) के द्वारा ही दृढ़ हो सकता है। कथा में भी **जल्प** (११), **वितण्डा** (१२), **हेत्वाभास** (१३), **छल** (१४), **जाति** (१५) तथा **निग्रहस्थान** (१६) का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ये त्याज्य हैं। इस प्रकार सूत्रकार के द्वारा दिखलाये गये सभी पदार्थों का ज्ञान मोक्ष के लिए उपयोगी है।

अब, इन पदार्थों के साथ हमारा क्या व्यवहार हो ? जल्प आदि का प्रयोग तो स्वयं करना ही नहीं चाहिए। यदि दूसरे प्रयोग कर रहे हैं तो मध्यस्थों को चाहिए कि वे उन्हें दोष दिखाकर रोकें। यदि प्रतिपक्षी अज्ञानी, मूर्ख या हठी हो तो मौन धारण करना ही अच्छा है। यदि मध्यस्थ अनुमति दें तो छल आदि का प्रयोग करके उस मूर्ख को परास्त कर दें। ऐसा

न होने से जनता समझेगी कि चुप हो जाने के कारण यह परास्त हो गया और प्रतिपक्षी की बात मान लेने से अज्ञानी लोग ठगे जायँगे।*

(७. न्यायशास्त्र का नामकरण)

ननु प्रमाणादिपदार्थषोडशके प्रतिपाद्यमाने कथमिदं न्यायशास्त्रमिति व्यपदिश्यते ? सत्यम् । तथाप्यसाधारण्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन न्यायस्य परार्थानुमानापरपर्यायस्य सकलविद्यानुग्राहकतया सर्वकर्मानुष्ठानसाधनतया प्रधानत्वेन तथा व्यपदेशो युज्यते ।

कोई पूछता है कि इस शास्त्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का प्रतिपादन होता है फिर इसे 'न्यायशास्त्र' क्यों कहते हैं ? शंका ठीक है, पर एक नियम है कि किसी असाधारण (प्रधान) वस्तु के [नाम पर समूह भर का] नाम पड़ता है — इसी नियम से न्याय को, जिसका दूसरा नाम परार्थानुमान भी है, सभी ज्ञानों का अनुग्राहक (सहायक) होने के कारण तथा सभी कर्मों के सम्पादन का साधन होने के कारण प्रधान होने से वैसा नाम (व्यपदेश) ठीक ही दिया गया है। [अभिप्राय यह है कि पंचावयव वाक्यों से बने हुए परार्थानुमान को न्याय कहते हैं। जिससे विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो वही न्याय है (नि + √इ + घञ्)। इस शास्त्र में परार्थानुमान का प्रमुख स्थान है क्योंकि इसीसे सभी ज्ञान प्राप्त होते हैं, शास्त्रार्थ चलते हैं तथा जय-पराजय होती है। किसी की प्रधानता देखकर पूरे समूह का नाम वैसा ही रख देते हैं। परार्थानुमान का नाम न्याय तो है ही, पूरे शास्त्र को ही न्याय कहते हैं।]

तथाभाणि सर्वज्ञेन—'सोऽयं परमो न्यायो विप्रतिपन्नपुरुषं प्रति प्रतिपादकत्वात् । तथा प्रवृत्तिहेतुत्वाच्च' (न्या० सू० वार्तिक १।१।१) इति । पक्षिलस्वामिना च—'सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना—

---

* अन्यत्र कहा गया है—

दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता ॥
(न्या० सू० भाष्य १।१।१) इति ।

इसीलिए भासर्वज्ञ ने कहा है—'विरोधी व्यक्ति के सामने भी तत्त्व का प्रतिपादक होने के कारण यही परम न्याय (मुख्य प्रमाण, निर्णायक) है, उसी प्रकार इसी (परार्थानुमान) से प्रवृत्ति (क्रिया) भी उत्पन्न होती है।' (न्यायसूत्रवार्तिक १।१।१)।

पक्षिलस्वामी (वात्स्यायन, √पक्ष + इलच् = पक्ष अर्थात् तत्त्वज्ञान का परिग्रह करने वाले) ने भी कहा है—यही आन्वीक्षिकी (न्याय) विद्या है जो प्रमाण आदि सोलह पदार्थों में बँटकर—(३) यह सभी विद्याओं (ज्ञानों) के लिए दीपक के समान है, सभी कर्मों का उपाय है, सभी धर्मों का आश्रयस्थान है तथा ज्ञान के व्याख्यान में पूर्णतः परीक्षित हो चुकी है।) (वात्स्यायन भाष्य १।१।१)।

विशेष—प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा जिस पदार्थ को देख चुके हैं उन्हें अनुमान के द्वारा फिर से देखना (परीक्षा करना) अन्वीक्षा है अर्थात् अन्वीक्षा = अनुमान (प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित)। अन्वीक्षा (अनुमान) से जो शास्त्र चलता है (प्रवृत्त होता है) वह आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र है। उक्त श्लोक में वात्स्यायन ने न्याय की बड़ी प्रशंसा की है।

(८. अपवर्ग के साधन—न्याय का द्वितीय सूत्र)

ननु तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं भवतीत्युक्तम्। तत्र किं तत्त्वज्ञानादनन्तरमेव निःश्रेयसं संपद्यते ? नेत्युच्यते। किन्तु तत्त्वज्ञानाद् 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२) इति।

तत्र मिथ्याज्ञानं नामानात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदनुकूलेषु रागः। तत्प्रतिकूलेषु द्वेषः। वस्तुतस्त्वात्मनः प्रतिकूलमनुकूलं वा न किंचिद्वस्त्वस्ति। परस्परानुबन्धित्वाच्च रागादीनां मूढो रज्यति, रक्तो मुह्यति, मूढः कुप्यति, कुपितो मुह्यतीति।

आप कह चुके हैं कि तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है तो अब यह बतलाइये कि तत्त्वज्ञान होने के बाद ही क्या निःश्रेयस मिल जाता है ? उत्तर होगा कि नहीं। बल्कि तत्त्वज्ञान के बाद 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान--इन सब में उत्तरोत्तर कारण का क्रमशः विनाश होने पर उस कारण के पूर्व अव्यवहित रूप से विद्यमान (अनन्तर) कार्य का विनाश होता है और अन्त में अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।' (न्यायसूत्र १।१।२)। [दुःखादि की श्रृंखला में एक कार्य है दूसरा कारण। दुःख जन्म के कारण है, जन्म प्रवृत्ति के कारण, प्रवृत्ति दोष के कारण और दोष मिथ्याज्ञान के कारण। उत्तरोत्तर वस्तु (कारण) के विनाश से पूर्व-पूर्व वस्तु (कार्य) का विनाश होगा—कारणाभावात्कार्याभावः। मिथ्याज्ञान नष्ट होने से इसके अनन्तर आने वाले दोष का नाश होगा, दोषनाश से प्रवृत्तिनाश, उसके बाद जन्मनाश और तब दुःखनाश। 'दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही तो अपवर्ग है' (न्यायसूत्र १।१।२२)। इस प्रकार तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के बीच कई सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है आदि।]

अब **मिथ्याज्ञान** का अर्थ है कि अनात्मा अर्थात् देह आदि को आत्मा मान लेना। [देह आदि = देह, स्त्री, पुत्र, धन, इन्द्रिय, मन आदि।] उसके बाद [देहादि के] अनुकूल पड़ने वाले पदार्थों में राग (प्रेम) उत्पन्न होता है तथा उसके प्रतिकूल पड़ने वाले पदार्थों से द्वेष होता है। किन्तु वास्तव में आत्मा के प्रतिकूल या अनुकूल कोई भी वस्तु नहीं है। [मिथ्याज्ञान के कारण शरीरादि के अनुकूल या प्रतिकूल पड़नेवाले पदार्थों को हम यह कह बैठते हैं कि अमुक वस्तु मेरी आत्मा के अनुकूल है या प्रतिकूल है। आत्मा तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण से भिन्न पदार्थ है। उसमें एक दोष लग जाने पर उसी के अनुषङ्ग से दूसरे दोष भी लग जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे आत्मा के स्वरूप के साथ नहीं हैं। मिथ्याज्ञान होने के कारण दोष भी आत्मा पर लगते हैं। यदि कारण नष्ट हो जाय तो दोष भी अपने आप हट जायँगे।]

राग आदि दोषों के पारस्परिक बँधे रहने के कारण देखा जाता है कि मोह से ग्रस्त प्राणी राग (Attachment) धारण करता है; रागयुक्त प्राणी मोह धारण करता है; मूढ (मोह से ग्रस्त) क्रोध करता है, क्रोधग्रस्त मोह करता है आदि। [वात्स्यायन कहते हैं कि इसी मिथ्याज्ञान से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष का अधिकार होने से असत्य, ईर्ष्या, माया (कपटाचार) लोभ आदि भी **दोष** कहलाते हैं। दोषों से भर जाने पर शरीर, वाणी या मन में **प्रवृत्ति** जागती है जिससे नाना प्रकार की क्रियायें उत्पन्न

होती हैं। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है (जिससे धर्म होता है), बुरी भी (जिससे अधर्म होता है)। प्रवृत्ति के साधन धर्म और अधर्म को भी प्रवृत्ति शब्द में ही रखते हैं। अब इस प्रवृत्ति से निन्दित या पूजित **जन्म** मिलता है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि के निकाय (समूह) से बने हुए प्रादुर्भाव को ही जन्म कहते हैं। जन्म से **दुःख** होता है। मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक जो भी धर्म हैं वे अविच्छिन्न हैं जिनका प्रवर्तन ही **संसार** है। इनका विनाश होने पर अपवर्ग मिलता है। नीचे शेष धर्मों की व्याख्या हो रही है।]

ततस्तैर्दोषैः प्रेरितः प्राणी प्रतिषिद्धानि शरीरेण हिंसास्तेयादीनि आचरति। वाचा अनृतादीनि। मनसा परद्रोहादीनि। सेयं पापरूपा प्रवृत्तिरधर्मः। शरीरेण प्रशस्तानि दानपरपरित्राणादीनि। वाचा हितसत्यादीनि। मनसा अजिघांसादीनि। सेयं पुण्यरूपा प्रवृत्तिर्धर्मः। सेयमुभयी प्रवृत्तिः।

प्रवृत्ति—तब उन दोषों (राग-द्वेषादि) से प्रेरित होकर प्राणी निषिद्ध कार्यों में **शरीर** से हिंसा, स्तेय (चोरी) आदि कार्य, **वाणी** से झूठ बोलना आदि तथा **मन** से परद्रोह आदि आचरण करता है। तो यह प्रवृत्ति पाप की है जिसे अधर्म कहते हैं। अब प्रशस्त कार्यों में **शरीर** से दान, दूसरों की रक्षा आदि करना, **वाणी** से हितकर बातें बोलना, सत्य बोलना आदि, **मन** से किसी की हिंसा न करने की इच्छा आदि। यह पुण्य की प्रवृत्ति है और इसे ही धर्म कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों रूपों (धर्म और अधर्म) में प्रवृत्ति ही है। [इन पंक्तियों में वात्स्यायन-भाष्य की आत्मा गूँज रही है। वहीं से माधव ने भाव लिये हैं।]

ततः स्वानुरूपं प्रशस्तं निन्दितं वा जन्म पुनः शरीरादेः प्रादुर्भावः। तस्मिन् सति प्रतिकूलवेदनीयतया बाधनात्मकं दुःखं भवति। न ह्यप्रवृत्तस्य दुःखं प्रत्यापद्यत इति कश्चित्प्रपद्यते। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता अविच्छेदेन प्रवर्तमानाः संसारशब्दार्थो घटीचक्रवन्निरवधिरनुवर्तते।

यदा कश्चित्पुरुषधौरेयः पुराकृतसुकृतपरिपाकवशादाचार्योपदेशेन सर्वमिदं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं च पश्यति, तदा तत्सर्वं हेयत्वेन बुध्यते। ततस्तन्निर्वर्तकमविद्यादि निवर्तयितुमिच्छति। तन्निवृत्त्युपायश्च तत्त्वज्ञानमिति।

उसके बाद अपने अनुरूप प्रशस्त या निन्दित जन्म होता है अर्थात् पुनः शरीर आदि (शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्राण) का प्रादुर्भाव होता है। [शरीरादि-संयुक्त] जन्म मिल जाने पर दुःख होता है जिसमें प्रतिकूल (मन के विरुद्ध) वेदना या अनुभव होता है और बाधा मिलती है (हमारी इच्छा के विरुद्ध है)। ऐसा कोई नहीं मानेगा कि जो व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता उसे दुःख की प्राप्ति होगी। [प्रवृत्ति के अभाव में आवृत्ति नहीं होती, दुःख की संभावना भी नहीं रहती। इस दशा में दुःख का अनुभव नहीं होता।] तो, मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख तक—ये सारे धर्म अविच्छिन्न (बिना रुके हुए) रूप से चलते रहते हैं तथा 'संसार' शब्द का अर्थ भी यही है कि घटीचक्र (रँहट) की तरह लगातार चलता रहता है (संसरतीति संसारः)।

जब कोई पुरुषश्रेष्ठ अपने पुराकृत (पूर्वजन्म में अर्जित) पुण्यों के परिणामस्वरूप आचार्य के उपदेश से इस समूचे संसार को दुःख का आयतन (समूह) एवं दुःख से परिपूर्ण देखता है तो इन सभी वस्तुओं को हेय (त्याज्य) समझता है। उसके बाद इस संसार को उत्पन्न करने वाले (निर्वर्तक) कारणों जैसे अविद्या आदि को हटाना चाहता है। उनकी निवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान ही है।

कस्यचिच्चतसृभिर्विधाभिर्विभक्तं प्रमेयं भावयतः सम्यग्दर्शनपदवेदनीयतया तत्त्वज्ञानं जायते। तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति। मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति। दोषापाये प्रवृत्तिरपैति। प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति। जन्मापाये दुःखमत्यन्तं निवर्तते। सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम निवर्त्यसजातीयस्य पुनस्तत्रानुत्पाद इति। तथा च पारमर्षं सूत्रम्—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (न्या० सू० १।१।२) इति।

जो व्यक्ति चार विधाओं (प्रकारों=उद्देश, लक्षण, परीक्षा, विभाग)* में बाँटकर प्रमेय की भावना (ज्ञान) करता है उसमें तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान होने से मिथ्याज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान के हटने पर दोष दूर होते हैं। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है।

---

* दूसरे विचार से दुःख, दुखःहेतु, दुःखनिरोध (मोक्ष) तथा मोक्षोपाय—ये चार प्रकार हैं।

प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म का विनाश होता है। जन्म के अपाय के बाद दुःख की आत्यन्तिक (पूर्ण रूप से) निवृत्ति होती है। दुःख की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग है। निवृत्ति तभी आत्यन्तिक कहलाती है जब निवृत्त होनेवाले (दुःख) के सजातीय [किसी भी दूसरे दुःख] की फिर वहाँ उत्पत्ति न हो। इसीलिए परमर्षि गौतम का सूत्र ही है—'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या-ज्ञान, इनमें उत्तरोत्तर वस्तु का अपाय होने पर, उसके अनन्तर (पूर्व-पूर्व) की वस्तु का अपाय होता है तथा अन्त में अपवर्ग मिलता है।' (न्या० सू० १।१।२)।

(९. मोक्ष का स्वरूप—माध्यमिक मत)

ननु दुःखात्यन्तोच्छेदोऽपवर्ग इत्येतदद्यापि कफोणिगुडायितं वर्तते। तत्कथं सिद्धवत्कृत्य व्यवह्रियते इति चेत्—मैवम्। सर्वेषां मोक्षवादिनामपवर्गदशायामात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरस्तीत्यस्यार्थस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धतया घण्टापथत्वात्। तथा हि—आत्मोच्छेदो मोक्ष इति माध्यमिकमते दुःखोच्छेदोऽस्तीत्येतावत्तावदविवादम्।

कोई शंका करता है—अपवर्ग का जो लक्षण आपने दिया है कि यह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है यह तो आज तक केहुनी (Elbow, हाथ के बीच का भाग) को गुड़ समझने की भूल के बराबर ही है (=असिद्ध या निष्फल है)। [जैसे केहुनी में गुड़ नहीं है किन्तु कोई भूल से उसका आस्वादन करने लगे उसी प्रकार मोक्ष का उक्त स्वरूप असिद्ध है।] तो आप लोग सिद्ध की तरह उसे मानकर क्यों प्रयोग कर रहे हैं?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सभी मोक्षवादी (मोक्ष माननेवाले, इसका लक्षण करने वाले) तो मानते हैं कि अपवर्ग की दशा में दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है—इस प्रकार यह बात सभी तन्त्रों के सिद्धान्त से सिद्ध होने के कारण घण्टापथ (राजमार्ग, हाथी आदि जहाँ घंटे की ध्वनि करते हुए चलें) की तरह [प्रशस्त और प्रतिष्ठित] है। इसे यों देखें—माध्यमिक (बौद्धों) के मत से तो आत्मा का विनाश कर देना ही मोक्ष है, इस प्रकार [उनके मत में भी] दुःख का नाश होता है, इतना तो निर्विवाद है।

अथ मन्येथाः—शरीरादिवदात्मापि दुःखहेतुत्वादुच्छेद्य इति तन्न संगच्छते। विकल्पानुपपत्तेः। किमात्मा ज्ञानसंतानो

विवक्षितस्तदतिरिक्तो वा ? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः । कः खल्वनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत् ? द्वितीये तस्य नित्यत्वे निवृत्तिरशक्यविधानैव । अनित्यत्वे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । व्यवहारानुपपत्तिश्चाधिकं दूषणम् । न खलु कश्चित्प्रेक्षावानात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय प्रयतते । सर्वो हि प्राणी सति धर्मिणि मुक्त इति व्यवहरति ननु ।

अब यदि आप मानते हों कि शरीर आदि की तरह आत्मा भी दुःख का कारण है और इसीलिए उसका उच्छेद (विनाश) होना चाहिए; तो यह ठीक नहीं । [शंका करने वाले यह कहते हैं कि माध्यमिक बौद्धों की समता करने से नैयायिकों को भी 'आत्मोच्छेद ही मोक्ष है' यह मानना पड़ेगा । पर नैयायिक पहले ही कह चुके हैं कि माध्यमिकों की उक्ति से हमें यही लेना है कि वे भी दुःखोच्छेद को मोक्ष मानते हैं । आत्मोच्छेद वाले पक्ष का तो हम खंडन करेंगे । आत्मा का उच्छेद मानने पर] इन दोनों विकल्पों की असिद्धि हो जायगी । अच्छा यह बतलाइये कि आत्मा को आप ज्ञानसंतान (Successive cognition) मानते हैं या उससे कुछ भिन्न ? [विकल्प ये हैं— आत्मा का अर्थ क्या ज्ञान का प्रवाह है या ज्ञानप्रवाह से भिन्न उसका आश्रय ?]

यदि पहली बात है (कि आत्मा का अर्थ ज्ञान है) तो कोई झंझट नहीं है । कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसके अनुकूल बात करने वाले पक्ष के विरुद्ध अपने आचरण दिखायेगा ? [तात्पर्य यह है कि आत्मा को ज्ञान मानने से आत्मोच्छेद का अर्थ ज्ञानोच्छेद हो जायगा जो नैयायिकों के अनुकूल ही है । मोक्ष में ये ज्ञाननाश मानते ही हैं । नैयायिकों का सिद्धान्त है कि मोक्ष में जीव की स्थिति प्रायः पाषाण की तरह हो जाती है । जब माध्यमिक लोग नैयायिकों के पक्ष में ही बोल रहे हैं तब उनका खण्डन करने की मूर्खता कौन करे ?]

यदि दूसरी बात है (कि आत्मा का अर्थ ज्ञान का आश्रय है) तो यदि वह नित्य हुई तो उसकी निवृत्ति (विनाश) का विधान करना असंभव है। यदि अनित्य हुई तो भी ['उसके विनाश के लिए किसी व्यक्ति में] प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होगी । एक और दोष होगा कि ['अमुक व्यक्ति मुक्त हुआ' इस प्रकार का] व्यवहार भी लोक में नहीं चल सकता । 'आत्मा की प्रसन्नता के ही लिए सारी वस्तुएँ प्रिय लगती हैं' इसलिए जो आत्मा संसार में सबसे अधिक प्रिय है, उसके विनाश के लिए कौन बुद्धिमान् व्यक्ति प्रयत्न करेगा ?

[इसलिए आत्मोच्छेद की प्रवृत्ति होगी ही नहीं ।] दूसरी ओर, सभी प्राणी, धर्मी (आत्मा) के रहने पर ही तो उसका मोक्ष हुआ, ऐसा व्यवहार करते हैं ? [कहने का यह अभिप्राय है कि जब हम कहते हैं कि शुक मुक्त हुए, वामदेव मुक्त हुए तो उस उक्ति के पीछे यह तात्पर्य है—मोक्ष धर्म है, इसका आश्रय धर्मी (आत्मा के रूप में) कोई अवश्य है । यदि मोक्ष हो जाने पर आत्मा का विनाश हो जाता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करते कि अमुक मुक्त हुआ । सत्य तो यह है कि व्यवहार से प्रतीत होता है कि मुक्त होने पर भी आत्मा की सत्ता रहती है ।]

(९ क. मोक्ष के विषय में विज्ञानवादियों का मत)

धर्मिनिवृत्तौ निर्मलज्ञानोदयो महोदय इति विज्ञानवादिवादे सामग्र्यभावः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च । भावनाचतुष्टयं हि तस्य कारणमभीष्टम् । तच्च क्षणभङ्गपक्षे स्थिरैकाधारासंभवात् लङ्घनाभ्यासादिवत् अनासादितप्रकर्षं न स्फुटमभिज्ञानमभिजनयितुं प्रभवति सोपप्लवस्य ज्ञानसंतानस्य बद्धत्वे निरुपप्लवस्य च मुक्तत्वे यो बद्धः स एव मुक्त इति सामानाधिकरण्यं न संगच्छते ।

धर्मी (ज्ञान का आश्रय = आत्मा) की निवृत्ति हो जाने पर निर्मल ज्ञान का उदय होना ही महोदय (मोक्ष) है—विज्ञानवादियों के इस मत में हमारी यह आपत्ति है कि इसमें एक तो कारणसामग्री (साधन) नहीं है; दूसरे दोनों दशाओं का समानाधिकरण (एकाधार) होना भी सिद्ध नहीं किया जा सकता । [विज्ञानवादी मानते हैं कि ज्ञान स्वभावतः निर्मल तथा क्षणिक है । ज्ञान इसलिए मलयुक्त हो जाता है कि उससे उसके धर्मी या आश्रय आत्मा का संसर्ग होता है । जब आश्रय की निवृत्ति हो जायगी तब अपने आप निर्मल ज्ञान क्षण-क्षण में उत्पन्न होने लगता है । पर इस प्रकार के मोक्ष में दो दोष नैयायिकों को दिखलाई पड़ते हैं—पर्याप्त साधन का अभाव तथा समानाधिकरण न होना ।]

[हमारी प्रथम आपत्ति के उत्तर में यदि ये उत्तर दें कि निर्मल ज्ञानोदय के] कारण के रूप में हम चार भावनाओं (सर्वं दुःखं, क्षणिकं, स्वलक्षणं, शून्यम्) को मानते हैं तो हम कहेंगे कि इस स्थिति में जब बौद्धों का क्षण-भंग पक्ष मान लेंगे तो कोई भी आधार स्थिर नहीं हो सकता ! [जब क्षण-क्षण

में ज्ञान बदल रहा है तो उसका आधार कैसे स्थिर हो सकता है, आत्मा (आश्रय) भी तो स्थिर नहीं हो सकती ।] जैसे बीच-बीच में छोड़कर अभ्यास करने से अध्ययन प्रकृष्ट नहीं हो सकता उसी तरह [किसी एक स्थिर आधार के अभाव में छिटपुट हो जाने से ये भावनायें भी] प्रकृष्ट नहीं हो सकतीं । फल यह होगा कि ये भावनायें किसी भी निश्चित (स्फुट) ज्ञान या तत्त्वज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकतीं । [जब तक भावना प्रकृष्ट न हो उससे अभिज्ञान हो नहीं सकता । सामान्य भावना से कुछ नहीं होता । जैसे किसी स्फुट लक्षण से रहित मणि को देखने पर भी, 'यह मणि है' केवल इतना कह देने से, मणित्व की भावना होने पर भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । बार-बार देखने के बाद प्रकृष्ट भावना होती है और तब किसी वस्तु को पहचाना जा सकता है । छोड़-छोड़ कर या लंघन करके अभ्यास* करने से ज्ञान का प्रकर्ष नहीं होता । उसी प्रकार क्षण-क्षण में बदलने वाले ज्ञान से प्रकर्ष नहीं होता—ऐसी भावना स्फुट ज्ञान नहीं दे सकती । इसलिए दुःख, क्षणिक, स्वलक्षण और शून्य के रूप में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती । फल यह हुआ कि मोक्ष की सामग्री (साधन) भावना नहीं है । कोई भी मोक्ष के साधक तत्वज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता ।]

दूसरे, उपप्लव (स्वाभाविक क्लेश, मल) से युक्त ज्ञान का प्रवाह बद्ध कहलाता है जब कि उपप्लव से रहित ज्ञान-प्रवाह मुक्त होता है—ऐसी दशा में 'जो बद्ध था वही मुक्त हुआ' ऐसा समानाधिकरण होना सम्भव ही नहीं । [मुक्त की दशा में समानाधिकरण होना बहुत आवश्यक है—जो बद्ध हुआ था उसे ही मुक्त होना चाहिए । किन्तु यहाँ तो जो ज्ञानप्रवाह बद्ध था वह दूसरा है । मुक्त होने वाला ज्ञानप्रवाह दूसरा ही है । इस प्रकार विज्ञानवादियों का मोक्ष भी ठीक नहीं माना जा सकता ।]

(१०. जैनों के मत से मोक्ष का विचार)

आवरणमुक्तिर्मुक्तिरिति जैनमताभिमतोऽपि मार्गो न निसर्गतो निरर्गलः । अङ्ग, भवान्पृष्टो व्याचष्टां किमावरणम् । धर्माधर्मभ्रान्तय इति चेत्—इष्टमेव । अथ देहमेवावरणम् । तथा च तन्निवृत्तौ पञ्जरान्मुक्तस्य शुकस्येवात्मनः सततोर्ध्वगमनं मुक्तिरिति चेत्—तदा वक्तव्यम् ।

---

*अभ्यंकर जी ने लंघन का 'उड़ना' अर्थ लेकर समझाया है कि उड़ने की कला में भी प्रकर्ष तभी हो सकता है जब अभ्यास किया जाय । उसी प्रकार भावना की आवृत्ति से प्रकृष्टता आती है ।

'आवरणों (व्याघात, बाधा, रुकावट) से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है'— जैन-सिद्धान्त से सम्मत यह मार्ग भी स्वभावतः प्रतिबन्ध-रहित नहीं है। महाशय, आप से (जैनों से) हम पूछते हैं, बतलावें तो—आवरण क्या है ? यदि वे कहें कि हम धर्म, अधर्म और भ्रान्ति को आवरण मानते हैं तब तो हमारी बात का ही समर्थन होगा। यदि देह को आवरण मानते हुए उसका विनाश हो जाने पर पिंजड़े से छूटे हुए सुग्गे की तरह आत्मा का लगातार ऊपर जाते रहना ही मुक्ति समझते हैं तो अब हमारी बात का उत्तर दीजिये।

किमयमात्मा मूर्तोऽमूर्तो वा ? प्रथमे निरवयवः सावयवो वा ? निरवयवत्वे निरवयवो मूर्तः परमाणुरिति परमाणुलक्षणापत्त्या परमाणुधर्मवदात्मधर्माणामतीन्द्रियत्वं प्रसजेत्। सावयवत्वे यत्सावयवं तदनित्यमिति प्रतिबन्धबलेनानित्यत्वापत्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमौ निष्प्रतिबन्धौ प्रसरेताम्।

अमूर्तत्वे गमनमनुपपन्नमेव। चलनात्मिकायाः क्रियाया मूर्तत्वप्रतिबन्धात्।

क्या यह आत्मा मूर्त है या अमूर्त ? यदि मूर्त है तो अवयवों से रहित है या सावयव है ? यदि आत्मा को निरवयव मानते हैं तो 'निरवयव मूर्त पदार्थ परमाणु है' इस प्रकार आत्मा पर परमाणु के लक्षण का आपादन हो जायगा तथा जिस प्रकार परमाणु के धर्म अतीन्द्रिय हैं आत्मा के धर्म भी अतीन्द्रिय हो जायँगे। यदि आत्मा अवयवयुक्त हो तो 'जो पदार्थ सावयव होता है वह अनित्य है' इस प्रकार व्याप्ति (प्रतिबन्ध) की स्थापना होने से यह (आत्मा) अनित्य हो जायगी और बिना किसी रुकावट के 'कृत-प्रणाश' तथा 'अकृताभ्यागम' ये दोनों दोष चले आयेंगे। [यदि आत्मा अनित्य हो जाती है तो इसकी निवृत्ति भी होगी तथा जो काम इसने किया था। उसका फल निवृत्ति होने के साथ-साथ ही नष्ट हो जायगा। इस प्रकार कृत-प्रणाश होगा। जो काम आत्मा ने नहीं किया था उसका फल इसे मिलने लगेगा। अच्छा या बुरा फल जो किसी आत्मा को भोगना पड़ेगा वह उसके पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का तो फल नहीं है। यही 'अकृताभ्यागम' दोष है। ये दोष संसार के कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।]

अब यदि वे आत्मा को अमूर्त मानें तो उसका गमन (ऊर्ध्वगमन) ही कैसे होगा ? चलने का काम ऐसा है जो किसी मूर्त पदार्थ से ही हो सकता है। [प्रतिबन्ध = व्याप्ति। मूर्त के साथ ही चलन-क्रिया की व्याप्ति संभव है।]

(११. चार्वाक और सांख्य-मत में मोक्ष)

'पारतन्त्र्यं बन्धः, स्वातन्त्र्यं मोक्षः' इति चार्वाकपक्षेऽपि स्वातन्त्र्यं दुःखनिवृत्तिश्चेत्—अविवादः। ऐश्वर्यं चेत्—सातिशयतया सदृक्षतया च प्रेक्षावतां नाभिमतम्।

चार्वाक का पक्ष है कि परतंत्रता बन्धन है और स्वतंत्रता मोक्ष। इस मत में भी यदि 'स्वतंत्रता' से दुःख की निवृत्ति समझते हैं तो हमारा उनसे कोई विवाद नहीं [क्योंकि हम भी दुःख का उच्छेद ही मुक्ति मानते हैं।] किन्तु यदि वे 'स्वतंत्रता' का अर्थ ऐश्वर्य लेते हैं तो कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि ऐश्वर्य को कोई पार कर सकता है या उसके समान बन सकता है। [मोक्ष ऐसा होना चाहिए कि उससे कोई बढ़े नहीं, और न ही कोई उसके समान बने। दूसरे शब्दों में परम पुरुषार्थ को निरतिशय तथा निरुपम होना चाहिए। परन्तु ऐश्वर्य का अतिशय (पार) किया जा सकता है क्योंकि वह पार्थिव है। राजा के ऐश्वर्य से भी दूसरे राजा का ऐश्वर्य बढ़ सकता है। ऐश्वर्य की समकक्षता भी हो सकती है। अतः ऐसा ऐश्वर्यात्मक मोक्ष नहीं चाहिए।]

प्रकृतिपुरुषान्यत्वख्यातौ प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिरिति सांख्याख्यातेऽपि पक्षे दुःखोच्छेदोऽस्त्येव। विवेकज्ञानं पुरुषाश्रयं प्रकृत्याश्रयं वेत्येतावदवशिष्यते। तत्र पुरुषाश्रयमिति न श्लिष्यते। पुरुषस्य कौटस्थ्यावस्थाननिरोधापातात्। नापि प्रकृत्याश्रयः। अचेतनत्वात्तस्याः।

किं च प्रकृतिः प्रवृत्तिस्वभावा निवृत्तिस्वभावा वा? आद्येऽनिर्मोक्षः। स्वभावस्यानपायात्। द्वितीये संप्रति संसारोऽस्तमियात्।

'प्रकृति (जडवर्ग का अचेतन त्रिगुणात्मक मूल कारण) और पुरुष (जीव) के भेद का ज्ञान (ख्याति) हो जाने पर, प्रकृति के हट जाने पर, पुरुष का अपने रूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है'--सांख्य-दर्शन के इस पक्ष में दुःख का उच्छेद तो होता ही है। अब विवाद करने के लिए बचा है तो इतना ही कि यह विवेकज्ञान पुरुष पर आश्रित है या प्रकृति पर? उनमें विवेकज्ञान का पुरुष पर आश्रित होना ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य में पुरुष को कूटस्थ

(मूल रूप में सदा एक) रूप में अवस्थित माना जाता है जिसका निरोध हो जायगा । [पुरुष को अविकृत मानते हैं । यदि उसे विवेकज्ञान होता है तो इसका यही तात्पर्य है कि पहले यह अज्ञान में लिप्त था । फिर अविकृत कैसे रहा ?] विवेकज्ञान को प्रकृति पर आश्रित भी नहीं मान सकते क्योंकि वह अचेतन है ।

अच्छा अब यह बतलावें कि प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्त होना है या निवृत्त होना ? यदि इसके स्वभाव में प्रवृत्ति है तब तो इसका मोक्ष हो नहीं सकता क्योंकि स्वभाव छूटता नहीं [और जब तक प्रवृत्ति रहेगी तब तक मोक्ष नहीं होगा ।] यदि इसके स्वभाव में निवृत्ति है तो इसी समय संसार का अस्त हो जायगा ।

(११ क. मीमांसा-मत से मुक्ति-विचार)

नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टसर्वज्ञाद्यभिमतेऽपि दुःखनिवृत्तिरभिमतैव । परं तु नित्यसुखं न प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते । श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति चेत्—न । योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात् । अवकाशे वा ग्रावप्लवेऽपि तथाभावप्रसङ्गात् ।

भट्ट सर्वज्ञ (कुमारिल) आदि के मत से नित्य और निरतिशय (सर्वोच्च) सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है । इन्हें भी दुःख की निवृत्ति अभिमत ही है [क्योंकि थोड़ा भी दुःख रहने से सुख निरतिशय नहीं रह सकता ।] लेकिन मोक्ष होने पर नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता । यदि आप कहें कि इसमें श्रुतिप्रमाण है, तो ठीक नहीं । श्रुतिप्रमाण वहाँ नहीं लगाया जा सकता जहाँ योग्य (उचित) अनुपलब्धि से विषय का खण्डन होता हो । यदि श्रुति-प्रमाण लगाया गया हो तो 'पत्थर तैरते हैं' इस तरह के वाक्यों में भी [मुख्यार्थ लेकर ही इनकी] प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी ।

विशेष—नित्य और निरतिशय सुख के प्रकाशन को मोक्ष माननेवाले मीमांसकों की बात में नैयायिकों को अपनी बात की पुष्टि तो मिल जाती है कि मुक्ति में दुःखोच्छेद हो जाता है पर 'नित्यसुख' का प्रयोग उन्हें खटकता है । मीमांसक लोग कह सकते हैं कि 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० २।१) आदि वेद-वाक्य प्रामाणिक हैं जहाँ मोक्ष होने पर सभी कामनाओं की प्राप्ति का वर्णन है । तो, सुख तो स्वीकार्य ही है । पर उन्हें यह जानना चाहिए कि श्रुति में प्रतिपादित होने पर भी जिस विषय का अभाव मिले, जो

विषय बाधित हो—वैसे स्थानों पर श्रुतियाँ प्रमाण नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि वहाँ श्रुतियों का मुख्यार्थ नहीं लिया जा सकता। गौणार्थ में वैसे वाक्यों का उपयोग होता है। 'आत्मनः आकाशः संभूतः' (तै० २।१) में आकाश की उत्पत्ति का वर्णन है। अब प्रश्न होगा कि अवयव-रहित आकाश की उत्पत्ति कैसे संभव है ? अतः यह अर्थ बाधित हो गया तो उत्पत्ति का अर्थ (गौणार्थ) हमें लेना होगा—अभिव्यक्ति। उसी प्रकार मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रियों का संबन्ध न होने के कारण सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह विषय बाधित हो गया। गौणार्थ लेना चाहिए। सर्व कामों की अवाप्ति = सर्व कामों की अनवाप्ति का अभाव। मोक्ष में जब शरीर और इन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो काम की प्राप्ति या अप्राप्ति क्या होगी ? इसलिए अप्राप्ति का अभाव ही मानना पड़ेगा। दूसरे, उस वाक्य में 'सह अश्नुते' का प्रयोग है। सह का अर्थ होता है एक ही साथ। सभी इन्द्रियों से सभी विषयों का एक ही साथ भोग करना कभी संभव नहीं। मन तो अणु है, वह एक बार में एक ही विषय से संबद्ध हो सकता है। अतः हमें किसी भी दशा में श्रुतिवाक्य का गौणार्थ ही मानना पड़ेगा। यदि श्रुति में गौणार्थ न मानकर हठ से मुख्यार्थ ही मानेंगे तो 'प्लवन्ते ग्रावाणः' (पत्थर तैरते हैं, षड्विंश ब्राह्मण ५।१२) ऐसे वाक्यों का भी मुख्यार्थ ही प्रमाण मानना पड़ेगा।

सभी मतों का खण्डन करके नैयायिक लोग अपने मत—'दुःखोच्छेदवाद'—का विश्लेषण तथा प्रतिपादन करते हैं।

(१२. नैयायिक-मत से मुक्ति-विचार)

ननु सुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति पक्षं परित्यज्य दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति स्वीकारः क्षीरं विहायारोचकग्रस्तस्य सौवीररुचिमनुभावयतीति चेत्—तदेतन्नाटकपक्षपतितं त्वद्वच इत्युपेक्ष्यते। सुखस्य सातिशयतया सदक्षतया बहुप्रत्यनीकाक्रान्ततया साधनप्रार्थनपरिक्लिष्टतया च दुःखाविनाभूतत्वेन विषानुषक्तमधुवद् दुःखपक्षनिक्षेपात्।

अब कोई कह सकता है—'सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है', इस सुन्दर पक्ष को छोड़कर 'दुःख की निवृत्ति मोक्ष है' यह स्वीकार करना ठीक वैसा ही हुआ जैसे अरुचि से ग्रस्त व्यक्ति को दूध तो दे नहीं, उलटे नीरस काँजी (सौवीर = खट्टा तीता रस) पिलाकर रुचि बढ़ाने का प्रयास करें। [अरुचि से ग्रस्त व्यक्ति

को एक तो किसी चीज की रुचि स्वभावतः नहीं होती। यदि उन्हें कुछ स्वादयुक्त पदार्थ दें तो रुचि बढ़े भी। परन्तु नीरस काँजी पिलाने से रुचि बढ़ेगी क्या, उलटे उस व्यक्ति में अरुचि और बढ़ती ही जायगी। वैसे ही प्राणियों में मोक्ष की प्रवृत्ति एक तो स्वभाव से ही कम है, दूसरे यदि उन्हें आप बतलायेंगे कि मुक्ति में सुख तनिक नहीं है तो कौन मूर्ख इसमें प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं।]

हम उत्तर देंगे कि आपकी बात नाटक के संवाद की तरह है, इसलिए उपेक्षणीय है। [गम्भीर दार्शनिक विवेचन में इस तरह के क्षणिक चमत्कारी वाक्यों से काम नहीं चलता। वैसी बातों की असिद्धि दूसरे प्रमाणों से तुरत ही कर दी जायगी। अनुकूल तर्क के अभाव में केवल दृष्टान्त देने से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। आप लोगों में किस तरह अनुकूल तर्क का अभाव है वह देखें—] सुख का दुःख के साथ अविनाभाव (व्याप्ति) संबंध है क्योंकि सुख सातिशय (एक दूसरे से बढ़ने वाला) है, उसके समान दूसरे सुख हो सकते हैं, नाना प्रकार के विघ्नों से भरा भी है तथा सुख के साधनों की प्रार्थना (याचना) करने में क्लेश भी खूब ही होते हैं। फलतः विषरस से भरे मधु के समान सुख भी दुःख की ही श्रेणी में चला आता है। [संसार में एक से बढ़कर दूसरे सुख हैं, कहीं उसकी इयत्ता नहीं। जब अतिशय की प्राप्ति नहीं होगी तो प्राणी उसकी आशा में लगा रहेगा और 'आशा हि परमं दुःखम्।' सुखानुभव के बाद परिणाम दुःखद ही होता है। तो, क्या ऐसे सुख की प्राप्ति के लिए प्राणी प्रयत्नवान् होगा ? सुखोद्देश्य से मुक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।]

नन्वेकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायेन दुःखवत्सुखमप्युच्छिद्यत इत्यकाम्योऽयं पक्ष इति चेत्—मैवं मंस्थाः। सुखसंपादने दुःखसाधनबाहुल्यानुषङ्गनियमेन तप्तायःपिण्डे तपनीयबुद्धया प्रवर्तमानेन साम्यापातात्। तथा हि—न्यायोपार्जितेषु विषयेषु कियन्तः सुखखद्योताः कियन्ति दुःखदुर्दिनानि। अन्यायोपार्जितेषु तु यद् भविष्यति तन्मनसापि चिन्तयितुं न शक्यमिति।

अब कोई यह शंका करें कि 'एक की खोज में चले और दूसरा भी नष्ट हो जाय' इस नियम से दुःख की तरह (दुःख-निवृत्ति के साथ) सुख की भी निवृत्ति हो जायगी, इसलिए [नैयायिकों के दुःखोच्छेदवाद का] यह पक्ष कभी

काम्य नहीं हो सकता। [दुःख की निवृत्ति करने चले और हाथों से सुख भी चला जाय तो अच्छा नहीं है। एक की खोज में दूसरा खोना नहीं चाहिए। कम-से-कम सुख तो मिलता रहेगा।]

नैयायिक उत्तर देते हैं कि ऐसा न समझें। सुख का संपादन करने वाले पदार्थों में दुःख के ही साधनों की प्रचुरता रहती है, यह नियम है। [दुःखप्रद वस्तुओं को सुखद समझना वैसा ही है] जैसे कोई व्यक्ति तप्त लोहे के पिण्ड को स्वर्ण (तपनीय) समझकर पकड़ने जाय। [स्वर्ण की प्राप्ति तो उसे नहीं ही होगी, उलटे गर्म लोहे से वह जल जायगा। उसी प्रकार विषयों को सुखप्रद समझने वालों को सुख तो मिलेगा कि नहीं, संदेह है। किन्तु दुःख अनिवार्य है। ऐसे दुःख से सने सुख की कामना किसे होगी? सुख में दुःख अनिवार्य ही नहीं, प्रत्युत दुःख की अधिकता भी है।] देखिये—न्याय से उपार्जित विषयों में सुख के खद्योत (जुगनू) कितने थोड़े हैं [जो जहाँ-तहाँ चमक उठते हैं] और कितने ही दुःख के दुर्दिन (मेघाच्छन्न वर्षादिन) हैं [जो सुखों को निगल जाते हैं।] अन्याय से उपार्जित विषयों में तो जो होगा उसका चिन्तन मन से हो ही नहीं सकता।

एतत्स्वानुभवमप्रच्छादयन्तः सन्तो विदांकुर्वन्तु विदां वरा भवन्तः। तस्मात्परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेण आत्मतत्त्वसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम्।

इस विषय में आप लोग अपना अनुभव विरूपित न करके इस पर विचार करें क्योंकि आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं। इसलिए अब बात इतनी ही बची है कि परमेश्वर के अनुग्रह से श्रवण (श्रुति-वाक्यों का श्रवण) आदि के क्रम से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष-श्रेष्ठ के लिए दुःखों से आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाना ही निःश्रेयस (मोक्ष) है, यह स्पष्ट है।

(१३. ईश्वर की सत्ता के लिए प्रमाण—पूर्वपक्ष)

नन्वीश्वरसद्भावे किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा। न तावदत्र प्रत्यक्षं क्रमते। रूपादिरहितत्वेनातीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नागमः। विकल्पासहत्वात्। किं नित्योऽवगमयति अनित्यो वा? आद्येऽपसिद्धा-

न्तापातः । द्वितीये परस्पराश्रयापातः । उपमानादिकमशक्य-शङ्कम् । नियतविषयत्वात् । तस्मादीश्वरः शशविषाणायत इति चेत्—।

अब पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि ईश्वर की सत्ता के लिए कौन-सा प्रमाण है—प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम ? इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं लग सकता क्योंकि [ईश्वर] रूप आदि से रहित होने के कारण इन्द्रियों की पहुँच के भीतर नहीं है । [प्रत्यक्ष में इन्द्रियों के साथ संनिकर्ष चाहिए । ईश्वर के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष संभव ही नहीं ।] अनुमान भी ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकता क्योंकि ईश्वर के द्वारा व्याप्त कोई लिंग (हेतु) ही नहीं है । [अनुमान में लिङ्ग या ज्ञापक वस्तु (Middle term) का होना अनिवार्य है । हेतु साध्य (ईश्वर) के द्वारा व्याप्त होना चाहिए, परन्तु ईश्वर का ज्ञापक कोई पदार्थ प्रत्य-क्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता ।]

आगम प्रमाण भी नहीं लग सकता क्योंकि दोनों निम्नांकित विकल्प असिद्ध हो जाते हैं । ईश्वर को बतलाने वाला आगम स्वयं नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो अपसिद्धान्त हो जायगा [अर्थात् आप नैयायिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध हो जायगा । अभिप्राय यह है कि विशेष वर्णों के विशेष संघटन को आगम कहते हैं । वर्णों का उच्चारण होने के बाद ही प्रध्वंस हो जाता है इसलिए वे अनित्य हैं तथा आगम की भी अनित्यता सिद्ध होती है । यही नैया-यिकों का सिद्धान्त है । पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि नैयायिक लोग नित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करें तो अपने ही सिद्धान्तों की हत्या करनी पड़ेगी ।] यदि अनित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करते हैं तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा । [आगम अनित्य है तो उसका प्रामाण्य कर्ता (ईश्वर) के प्रामाण्य पर निर्भर करता है और उधर कर्ता (ईश्वर) की प्रामाणिकता उसके बनाये आगम पर निर्भर करती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होता है ।]

उपमान आदि प्रमाणों का तो यहाँ पर प्रश्न ही नहीं उठता । उन सभी प्रमाणों के विषय निश्चित हैं [तथा ईश्वर-सिद्धि के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते ।] इसलिए हमारी सम्मति में ईश्वर शश-विषाण (खरहे की सींग) की तरह असिद्ध है ।

(१३ क. नैयायिकों का उत्तर—ईश्वरसिद्धि)

तदेतन्न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारमाविष्करोति । विवादास्पदं नगसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवत् । न

चायमसिद्धो हेतुः। सावयवत्वेन तस्य सुसाधनत्वात्। ननु किमिदं सावयवत्वम् ? अवयवसंयोगित्वमवयवसमवायित्वं वा ? नाद्यः। गगनादौ व्यभिचारात्। न द्वितीयः तन्तुत्वादावनैकान्त्यात्।

उपर्युक्त तर्क चतुर बुद्धि वाले व्यक्तियों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सकता, (मूर्ख लोग भले ही ठगे जायँ)। इन प्रस्तुत (विवादास्पद) पर्वत, सागर आदि सारे पदार्थों का कोई कर्ता होगा क्योंकि ये कार्य हैं जैसे घट। [इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है। यहाँ पर 'कार्यत्व' के रूप में] जो हेतु दिया गया है वह असिद्ध (साध्यसम) नहीं है। 'सावयव' हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि अच्छी तरह से की जा सकती है। ['कार्यत्व' हेतु की सिद्धि इस प्रकार हो सकती है—'पर्वत, सागर आदि पदार्थ कार्य हैं क्योंकि ये अवयवों से युक्त हैं जैसे घट। इस अनुमान से कार्यत्व की सिद्धि करके पूर्व के अनुमान में कार्यत्व को हेतु रख दिया गया है तथा कार्य होने के कारण ही संसार को सकर्तृक सिद्ध किया गया है।]

अब प्रश्न है कि अवयवों से युक्त होना क्या है ? अवयवों के साथ संयोग-सम्बन्ध होना या अवयवों के साथ समवाय (Inherent) सम्बन्ध होना ? अवयवों के साथ संयोगी होना ठीक नहीं है क्योंकि गगन आदि में व्यभिचार होगा। [आकाश का संयोग-संबन्ध घटादि पदार्थों के अवयवों से रहता है। इसलिए आकाश को भी कार्य मानना पड़ेगा। पर नैयायिक लोग आकाश को कार्य नहीं मानते। अतः, यदि अवयवों के साथ संयोगी होने के कारण कोई वस्तु कार्य मानी जाय तो आकाश को भी इस लक्षण में समेट लेना पड़ेगा। यही नहीं, अपने अवयवों के साथ संयोगी कार्य मानने पर तो घटादि अवयवयुक्त कहे ही नहीं जा सकते। अवयव और अवयवी में संयोग-संबन्ध नहीं, समवाय-संबन्ध है।]

दूसरा पक्ष [कि अवयवों के साथ समवाय संबन्ध होने से कार्य की सिद्धि होती है] भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से तन्तुत्व (तन्तु के सामान्य) में व्यभिचार होगा। [तन्तुत्व भी तो तन्तुओं में समवेत रहता है पर उसे हम कार्य नहीं मानते। फल यह हुआ कि अवयवों में समवेत रहने से कार्यत्व की सिद्धि नहीं होती। पूर्वपक्षी का यह तर्क नैयायिकों के कार्यत्व-साधन के विरुद्ध दिया गया है।]

तस्मादनुपपन्नमिति चेत्—मैवं वादीः समवेतद्रव्यत्वं

सावयवत्वमिति निरुक्तेर्वक्तुं शक्यत्वात्। अवान्तरमहत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात्।

इसलिए ['सावयवत्व' हेतु के द्वारा कार्यत्व का अनुमान करना] असिद्ध है। तो उत्तर में हम यह कहेंगे हि ऐसा मत कत कहिये। सावयव होने का मतलब है समवेत होना और द्रव्य होना--इस प्रकार निर्वचन (पदव्याख्या) करके कहा जा सकता है। [आकाश के अवयव नहीं होते इसलिए वह किसी से समवेत नहीं हो सकता—उसमें व्यभिचार नहीं होगा। तन्तुत्व द्रव्य नहीं है इसलिए उसमें भी व्यभिचार नहीं होगा। अतः सावयव की इस व्याख्या से प्रश्न बिल्कुल सहज हो जाता है और इसके द्वारा हम कार्यत्व की सिद्धि करके संसार को कार्य मानते हुए ईश्वर की सिद्धि कर सकते हैं।]

इसके अतिरिक्त निम्न कोटि के महत्त्व (आकार Magnitude) के द्वारा भी [संसार को] कार्य सिद्ध करने के लिए अनुमान करना सरल है। [महत्त्व या आकार दो प्रकार के हैं—परम महत्त्व अर्थात् सबसे अधिक आकार तथा अवान्तर महत्त्व जो परम महत्त्व के नीचे के पदार्थों का बोधक है। अवान्तर महत्त्व के अन्तर्गत द्व्यणुक से लेकर पर्वत, सागर आदि सारे पदार्थ हैं। अवान्तर महत्त्व से अनुमान इस प्रकार होगा—पर्वत, सागर आदि कार्य हैं क्योंकि इनमें अवान्तर महत्त्व है जैसे घट आदि।]

नापि विरुद्धो हेतुः। साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात्। नाप्यनैकान्तिकः। पक्षादन्यत्र वृत्तेरदर्शनात्। नापि कालात्ययापदिष्टः। बाधकानुपलम्भात्। नापि सत्प्रतिपक्षः। प्रतिभटादर्शनात्।

ननु नगादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वाद् गगनवदिति चेत्—नैतत्परीक्षाक्षममीक्ष्यते। न हि कठोरकण्ठीरवस्य कुरङ्गशावः प्रतिभटो भवति। अजन्यत्वस्यैव समर्थतया शरीरविशेषणवैयर्थ्यात्।

[संसार को सकर्तृक सिद्ध करनेवाला यह 'कार्यत्व'] विरुद्ध हेतु नहीं है। कारण यह है कि साध्य (सकर्तृकत्व) के विरुद्ध कोई भी व्याप्ति नहीं मिलती। [विरुद्ध हेतु या हेत्वाभास यही है जो साध्य में कभी प्राप्त न हो, साध्याभाव में रहे। कार्यत्व हेतु साध्याभाव (अकर्तृक) में प्राप्त नहीं होता—जो कार्य होगा

उसका कर्ता कोई अवश्य होगा, बिना कर्ता के कार्य नहीं हो सकता ।] यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि पक्ष के अलावे और कहीं इस हेतु की प्राप्ति (वृत्ति) नहीं होती । [सकर्तृक साध्य है, परमाणु आदि में उसका अभाव है किन्तु उनमें कार्यत्व भी नहीं है इसलिए 'कार्यत्व' हेतु का व्यभिचार परमाणु आदि में नहीं होता । अत: सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेतु यहाँ नहीं] । यह हेतु कालात्ययापदिष्ट या बाधित भी नहीं है । क्योंकि बाधक प्रमाण नहीं मिलता । सत्प्रतिपक्ष हेतु भी यह नहीं है क्योंकि [साध्याभाव को सिद्ध करने-वाला 'कार्यत्व' हेतु के] टक्कर का कोई दूसरा हेतु नहीं है । [इस प्रकार पाँचों हेत्वाभास खण्डित हो जाते हैं जिससे संसार को सकर्तृक सिद्ध करनेवाले अनुमान में 'कार्यत्व' शुद्ध हेतु माना गया ।]

अब यदि कोई पूर्वपक्षी शंका करे कि पर्वत आदि का कोई कर्ता नहीं (= पर्वत अकर्तृक है) क्योंकि ये शरीर से उत्पन्न नहीं होते जैसे आकाश, तो उत्तर में कह सकते हैं कि यह प्रतिद्वन्द्वी हेतु (जो सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास सिद्ध करने के लिए दिया गया है) परीक्षा के योग्य नहीं दिखलाई पड़ता । हरिण का बच्चा प्रौढ़ सिंह (कण्ठीरव) का प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता ।* 'उत्पन्न न होना' (अजन्यत्व) हेतु ही पर्याप्त है, 'शरीर' विशेषण उसमें व्यर्थ ही लगाया गया है । [ऊपर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का खंडन इस आधार पर किया गया है कि कोई प्रतिद्वन्द्वी हेतु (प्रतिभट) साध्याभाव सिद्ध करने वाला नहीं मिल रहा है । अब पूर्वपक्षी कहते हैं कि हेत्वन्तर की सत्ता है जो साध्याभाव (अकर्तृ-कत्व) सिद्ध कर दे । वह हेतु है—'शरीराजन्यत्व' । नैयायिक कहते हैं कि अजन्यत्व ही पर्याप्त है, शरीराजन्यत्व क्यों रखते हैं ? नैयायिक अपने प्रतिद्वन्द्वी को तर्क करना भी सिखाते हैं । अस्तु, कोई बात नहीं । पूर्वपक्षी अपने हेतु को सुधार कर फिर तर्क करता है—]

तर्ह्यजन्यत्वमेव साधनमिति चेत्—न । असिद्धेः । नापि सोपाधिकत्वशङ्काकलङ्काङ्कुरः संभवी । अनुकूलतर्कसंभवात् ।

यद्ययमकर्तृकः स्यात्कार्यमपि न स्यात् । इह जगति

---

* बड़े सिंह का प्रतिभट हरिण का बच्चा नहीं हो सकता, वैसे ही सकर्तृकत्व की सिद्धि के लिए दिये गये 'कार्यत्व' हेतु का प्रतिद्वन्द्वी (हेत्वन्तर) अकर्तृकत्वसाधन के लिए दिया गया 'शरीराजन्यत्व' हेतु नहीं हो सकता । सत्प्रतिपक्ष हेतु वहीं होता है जहाँ पूर्व हेतु के समान ही दूसरा हेतु हो । दोनों में समान बल रहना चाहिए ।

नास्त्येव तत्कार्यं नाम यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेदित्येतदविवादम् । तच्च सर्वं कर्तृविशेषोपहितमर्यादम् ।

तब यदि ये पूर्वपक्षी 'अजन्यत्व' को ही साधन (हेतु) मानें तो भी ठीक नहीं। इसकी भी सिद्धि नहीं होती। [अजन्य का अर्थ है उत्पत्ति से रहित होना। कोई नहीं कहेगा कि पर्वत, सागरादि की उत्पत्ति नहीं होती या ये अजन्य हैं। किसी प्रमाण से इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। नैयायिकों ने पूर्वपक्षियों को अच्छा फँसा दिया ! 'शरीर' विशेषण हटवा कर उन्हें विधिवत् परास्त किया।] इसके अलावे, [वस्तुतः उपाधि न होने पर भी] यदि कोई 'कार्यत्व' हेतु के सोपाधिक होने की शंका करे तो भी इस हेतु पर कलंक का अंकुर नहीं उग सकता। कारण यह है कि अनुकूल तर्क दिया जा सकता है। [यदि 'सकर्तृकत्व' (साध्य) का व्यापक तथा 'कार्यत्व (हेतु) का अव्यापक कोई पदार्थ निकले तभी उपाधि की शंका की जा सकती है। ऐसी संभावना तभी है जब कार्यत्व व्यभिचारी हो। व्यभिचार की भी संभावना तभी है जब कर्ता से रहित (अकर्तृक) वस्तु कार्य उत्पन्न करने लगे। अनुकूल तर्क से इसका खंडन किया जा सकता है। अनुकूल तर्क का स्वरूप दिखलाया जाता है—]

यदि यह (संसार, पर्वतादि) अकर्तृक (Without a maker) होता तो कार्य भी नहीं होता [क्योंकि कर्ता से उत्पन्न वस्तुओं को ही कार्य कहते हैं।] इस संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं जो कारकचक्र (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण) का तिरस्कार करके अपनी स्थिति दृढ़ कर ले—इतना तो निर्विवाद है। सारे कार्यों की मर्यादा किसी न-किसी कर्त्ता पर ही आधारित है। [घट, पट आदि की उत्पत्ति के समय कुम्भकार, तन्तुवाय आदि कर्ता सभी कारकों को कार्योत्पत्ति के गुण के अनुसार बैठाता है। कर्ता अपने को भी वैसे ही बैठाता है।]

(१३ ख. कर्ता का लक्षण तथा ईश्वर का कर्तृत्व)

कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम् । एवं च कर्तृव्यावृत्तेस्तदुपहितसमस्तकारकव्यावृत्तौ अकारणककार्योत्पादप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः । तथा निरटङ्कि शङ्करकिङ्करेण—

४. अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने ।
साध्यव्यापकताभङ्गात्पक्षे नोपाधिसंभवः ॥ इति ।

कर्ता वह है जो दूसरे कारकों (कर्म, करणादि) से प्रयोजित नहीं हो, प्रत्युत सभी कारकों को प्रयोजित करे तथा ज्ञान, चिकीर्षा (उत्पन्न करने की इच्छा) और प्रयत्न का आधार भी हो। [मिट्टी, डण्डा, चाक आदि पदार्थ जो घटोत्पादन कार्य में विभिन्न कारक हैं, कुम्भकार (कर्ता) को घटनिर्माण के लिए प्रयोजित नहीं करते। उलटे कुम्भकार ही उन्हें अपनी इच्छा से प्रयोजित करता है। यह स्पष्ट है कि कर्ता में पहले घट का ज्ञान होता है तब इच्छा और अन्त में उसमें प्रयत्न होता है। इन तीनों का आधार कर्ता ही है।]

कर्ता का उक्त लक्षण मान लेने पर, यदि कर्ता को त्याग दें [क्योंकि, आप लोग = पूर्व पक्षी, अकर्तृक कार्य मानने जा रहे हैं] तो कर्ता पर निर्भर करनेवाले सब के सब कारक भी तो हट जायँगे और इस दशा में [कारकों के अभाव में भी कार्य मानने वालों का] यह स्थूल प्रमाद ही न है कि बिना कारण के भी कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ?

शंकर किंकर नामक विद्वान् ने इस विषय का संकलन किया है—'जब हेतु अनुकूल (शुद्ध) तर्क से अलंकृत किया जाता है तब साध्य की व्यापकता (जो उपाधि होने के लिए आवश्यक है) का नाश हो जाता है तथा पक्ष में उपाधि की संभावना नहीं रहती।' [अनुकूल तर्क से यह निश्चय किया जाता है कि हेतु साध्य के द्वारा व्याप्य है। ऐसे स्वव्याप्य का जो व्यापक नहीं है तथा कहीं-कहीं इस प्रकार का व्याप्य होने पर भी न रहे वह (हेतु) अपने साध्य का व्यापक कैसे हो सकता है। जो अपने व्याप्य का व्यापक नहीं रहता उसमें अपने (साध्य) को व्याप्त करने का सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा नियम है। फलतः साध्य को व्याप्त न करने के कारण उपाधि नहीं हो सकती।]

यदीश्वरः कर्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कजातं जागर्तीति चेत्—ईश्वरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः। तदुदितमुदयनेन—

५. आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादिनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता॥
(न्या० कु० ३।५) इति।

न च विशेषविरोधः शक्यशङ्कः। ज्ञातत्वाज्ञातत्वविकल्पपराहतत्वात्।

'यदि ईश्वर कर्ता होता तो वह शरीरधारी होता'—इस प्रकार के प्रतिकूल तर्क भी जागृत हो सकते हैं [जिनसे ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन होगा] तो हम उत्तर देंगे कि ऐसा तर्क दोनों ही दशाओं में खंडित होता है, हम ईश्वर की सिद्धि करें या असिद्धि। [यदि आगम आदि प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की जाय तो उन्हीं प्रमाणों से 'संसार का कर्ता ईश्वर है' यह भी मानना पड़ेगा ऐसी स्थिति में आपका अनुमान खण्डित हो जायगा और ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध नहीं हो सकता। अब यदि आगमादि को प्रमाण न मान कर प्रमाणाभास कहें और ईश्वर की असिद्धि करें तो भी आपके अनुमान में पक्ष की असिद्धि होगी ही। पक्ष (Minor term) स्वयं तो असत् है इसलिए किसी निषेध-वाक्य का यह उद्देश्य नहीं होगा। तुलनीय—न्यायकुसुमांजलि (३।२)। इस प्रकार दोनों स्थितियों में आपकी उक्ति खण्डित हो जाती है।]

इसे ही उदयन ने कहा है—'आगम आदि को प्रमाण मानने पर [पूर्वोक्त अनुमान का] खंडन हो जाने से [ईश्वर का] निषेध नहीं किया जा सकता। [यदि आगमादि को केवल प्रमाण का] आभास अर्थात् दोषपूर्ण प्रमाण मानें तो 'आश्रयासिद्ध' दोष उठ खड़ा हो जाता है।' (न्या० कु० ३।५)।

इसके अलावे, विशेष होने के कारण [ईश्वर में कर्तृत्व का] विरोध होगा ऐसी शंका नहीं की सकती क्योंकि [ईश्वर के] ज्ञात होने या अज्ञात होने, इन दोनों विकल्पों का खण्डन हो जाता है। [ईश्वर नित्य द्रव्य है तथा नैयायिकों के अनुसार विशेष लक्षणों से युक्त है—स्वलक्षण अर्थात् सभी पदार्थों से विलक्षण है। संसार में साधारण जीवों का कर्तृत्व देखकर उनके सादृश्य से सर्वतो-विलक्षण एवं विशेष ईश्वर का कर्तृत्व मानने का क्या अधिकार है? विशेष तो सामान्य से पृथक् ही रहेगा न? नैयायिक कहते हैं कि ऐसी शंका आप लोग नहीं कर सकते। विशेष (ईश्वर) या तो ज्ञात रहेगा या अज्ञात। विशेष यदि ज्ञात है तो स्वभावतः सभी वस्तुओं से विलक्षण है, इसलिए अन्यत्र कहीं भी न देखे गये कर्तृत्व (संसार का कर्तृत्व) का साधक होगा। इसका कोई बाधक नहीं। यदि विशेष अज्ञात है तब तो उसके आधार पर किये गये अनुमान में विरोध की संभावना ही नहीं रहेगी। यदि विशेष ज्ञात है तो उसकी सत्ता स्पष्टतः मानी गई है, यदि अज्ञात है तो उसके विषय में तर्क व्यर्थ है। किसी तरह ईश्वर पर शंका संभव नहीं।]

(१४. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण—पूर्वपक्ष)

स्यादेतत्। परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्तिः किमर्था? स्वार्था परार्था वा? आद्येऽपि, इष्टप्राप्त्यर्थाऽनिष्टपरिहारार्था

वा ? नाद्यः । अवाप्तसकलकामस्य तदनुपपत्तेः । अत एव न द्वितीयः । द्वितीये प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । कः खलु परार्थं प्रवर्तमानं प्रेक्षावानित्याचक्षीत ?

अच्छा, यह सब मान लिया गया । अब कहिये कि संसार का निर्माण करने में परमेश्वर की प्रवृत्ति किस लिए है—अपने लिए या दूसरों के लिए ? यदि अपने लिए है तो फिर कहिये कि इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए या अनिष्ट वस्तु के परिहार के लिए ? पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि सभी कामों को प्राप्त किये हुए ईश्वर का इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होना ठीक नहीं जँचता । इसीलिए दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं [क्योंकि जो सभी कामों को पा चुका है उसे अनिष्ट ही नहीं रहेंगे जिनके लिए वह प्रवृत्त होगा ।] यदि यह मानें कि दूसरों के लिए प्रवृत्त होता है तो इसमें प्रवृत्ति की ही सिद्धि नहीं होती । दूसरों के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को समझदार (बुद्धिमान्) कौन कहेगा ?

अथ करुणया प्रवृत्त्युपपत्तिरित्याचक्षीत कश्चित्, तं प्रत्याचक्षीत । तर्हि सर्वान् प्राणिनः सुखिन एव सृजेदीश्वरः । न दुःखशबलान् । करुणाविरोधात् । स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । तस्मादीश्वरस्य जगत्सर्जनं न युज्यते । तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

६. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत् ॥ इति ।

अब यदि [नैयायिक या] कोई ऐसा कहे कि करुणा से ईश्वर की प्रवृत्ति मानी जा सकती है तो उसके प्रति हम (पूर्वपक्षी) कहेंगे कि तब तो ईश्वर सभी प्राणियों को सुखी बनाकर पृथ्वी पर उत्पन्न करता । वह किसी को दुःख से नहीं रंगता क्योंकि ऐसा करने से उसकी करुणा का विरोध होगा । स्वार्थ की अपेक्षा न रखते हुए दूसरों के दुःख का हरण करने की इच्छा ही करुणा कहलाती है । इसलिए ईश्वर के द्वारा संसार की सृष्टि मानना युक्तियुक्त नहीं है । इसे भट्टाचार्य ने कहा है—'प्रयोजन का बिना उद्देश्य रखे हुए मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता । वह (ईश्वर) यदि संसार की सृष्टि करता है तो कौन-सा काम नहीं करता (सभी वस्तुओं का निर्माण वह करता है) ?' [ईश्वर सब कुछ करता है किन्तु किसी प्रयोजन से नहीं । कोई प्रयोजन सिद्ध न होने के कारण ईश्वर की सिद्धि ही नहीं होती ।]

(१५. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण—सिद्धान्त)

अत्रोच्यते—नास्तिकशिरोमणे ! तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान् । करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव । न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसङ्गः । सृज्यप्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाक-विशेषाद् वैषम्योपपत्तेः । न च स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः । स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात् । 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६) इत्यादिरागम-स्तत्र प्रमाणम् ।

अब हम उत्तर देते हैं। हे नास्तिकों के शिरोमणि ! पहले आप ईर्ष्या में डूबी हुई अपनी आँखों को बंद कर लें तब विचार करें। करुणा से तो ईश्वर की प्रवृत्ति होती ही है। प्राकृतिक रूप से ही सुखी संसार की सृष्टि हो, ऐसा प्रसंग नहीं आ सकता क्योंकि उत्पन्न होने वाले प्राणियों के द्वारा किये गये विभिन्न पुण्यों और पापों के परिणामस्वरूप विषमता तो रहेगी ही।

उक्त आधार पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि [प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म पर निर्भर करने के कारण] ईश्वर स्वतंत्र नहीं है। [जब संसार की सृष्टि करने में अपनी इच्छा से कुछ भी काम नहीं कर सकता, प्राणियों के कर्म के अनुसार उन्हें सुख-दुःख देता है तो ईश्वर स्वतन्त्र कैसे हुआ ? प्राणिकर्म के अधीन ही वह रहता है। किन्तु वैसी बात नहीं।] 'अपना ही अंग अपने ही कार्य का विरोध नहीं करता'—इसी नियम से तो और अच्छी तरह से उसका निर्वाह हो जायगा। [संसार और इसके सारे पदार्थ, कर्म आदि सब कुछ ईश्वर का शरीर है। प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म उसके अंग ही हैं। यदि ईश्वर सृष्टि के कार्य में इन कर्मों अर्थात् अपने अंगों की अपेक्षा रखे तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पराधीन है ! अपने ही हाथ-पैर से काम लेने से कोई पराधीन नहीं कहलाता, भले ही दूसरों से काम लेने पर पराधीनता आती है। अपने अंगों से काम लेने से बल्कि बड़ाई ही होती है। वैसे ही ईश्वर के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य का साधन भी स्वतंत्र है, इस में स्वतंत्रता का ही गौरव बढ़ता है।]

[ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए] आगम का भी प्रमाण है—'रुद्र एक ही है, दूसरा कोई हुआ ही नहीं' (तैत्तिरीय संहिता १।८।६ तथा श्वेता० ३।२)।

यद्येवं तर्हि परस्पराश्रयबाधव्याधिं समाधत्स्वेति चेत्—तस्यानुत्थानात्। किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा। नाद्यः। आगमस्येश्वराधीनोत्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। नापि ज्ञप्तौ। परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्। नापि तदनित्यत्वज्ञप्तौ। आगमानित्यत्वस्य तीव्रादिधर्मोपेतत्वादिना सुगमत्त्वात्। यस्मान्निवर्तकधर्मानुष्ठानवशादीश्वरप्रसादसिद्धावभिमतेष्टसिद्धिरिति सर्वमवदातम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहेऽक्षपाददर्शनम्॥

यदि ऐसी बात है तो अन्योन्याश्रय-दोष रूपी रोग का तो निराकरण कीजिए। [ईश्वर की सिद्धि आगम से करने पर तथा आगम को ईश्वर-शरीर मानने पर, ईश्वर और आगम में तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। इसका निराकरण करना कठिन है। आप करें तो जानें। पूर्वपक्षियों की इस शंका पर नैयायिक कहते हैं कि] यह दोष उठाता ही नहीं। इस परस्पराश्रय-दोष की शंका उत्पत्ति के विषय में मानते हैं या ज्ञान के विषय में? पहला विकल्प नहीं माना जा सकता क्योंकि यद्यपि आगम ईश्वर के अधीन उत्पन्न हुआ है तथापि परमेश्वर नित्य है इसलिए [वह अपने आप में प्रमाण है, आगम से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। आगम की प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर करती है परन्तु ईश्वर की प्रामाणिकता आगम पर निर्भर नहीं करती। आगम अनित्य है, ईश्वर नित्य—दोनों में अन्योन्याश्रय कैसा?]

ज्ञान के विषय में दोष नहीं उठता क्योंकि यद्यपि परमेश्वर का ज्ञान आगम पर निर्भर करता है पर आगम को दूसरे स्थानों से जानते हैं। [उत्पत्ति के लिए घट कुम्भकार पर निर्भर करता है पर ज्ञान के लिए तो प्रकाश आदि की ही अपेक्षा रहती है। वैसे ही उत्पत्ति के लिए आगम ईश्वर की अपेक्षा रखता है पर ज्ञान के लिए तो नहीं। आगम का ज्ञान ईश्वर नहीं कराता है—गुरु की परंपरा आदि से हम आगम को जान पाते हैं।]

आगम [के धर्मों] की अनित्यता के ज्ञान में भी शंका नहीं हो सकती। आगम की अनित्यता का ज्ञान तीव्र आदि धर्मों (तीव्र, तीक्ष्ण, दुःसह, भयंकर,

कटु) से युक्त होने से लोग सरलता से कर लेते हैं। [अर्थयुक्त शब्द को आगम कहते हैं। अर्थ में तीक्ष्णत्व, दुःसहत्व आदि दोष होते हैं, शब्द में कर्णकटुत्व आदि। ये धर्म अनित्यत्व के द्वारा व्याप्त होते हैं इसलिए आगम की अनित्यता सिद्ध करते हैं। अभ्यंकर जी ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है कि जैसे जमीन पर नाव को ले जाने में बैलगाड़ी की जरूरत होती है और पानी में बैलगाड़ी ले जाने में नाव की, फिर भी आधार का भेद होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता— उसी प्रकार यह मानने पर दोष नहीं होता कि आगम की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की अपेक्षा है, ज्ञान के लिए नहीं तथा ईश्वर के ज्ञान के लिए आगम की अपेक्षा है, उत्पत्ति के लिए नहीं। विषयभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं।

इस प्रकार निवृत्ति-परक धर्मों का अनुष्ठान करने से ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है और इसी से अभिमत इष्टसिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) होती है—यह सब स्पष्ट है।

इस प्रकार सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में अक्षपाद-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामक्षपाददर्शनमवसितम्।

(१२) जैमिनि-दर्शनम्

वेदोक्तकर्मसरणिः स तु यागरूपो
विध्यर्थवादयुगलं परिलम्बमानः ।
धर्मो भवेत्किल ततो जननान्तरेषु
कर्मैव सर्वमिति जैमिनये नमोऽस्तु ॥—ऋषिः

(१. मीमांसा-सूत्र की विषय-वस्तु)

नन्वु धर्मानुष्ठानवशादभिमतधर्मसिद्धिरिति जेगीयते भवता । तत्र धर्मः किंलक्षणकः किंप्रमाणक इति चेत्—उच्यते । श्रूयतामवधानेन । अस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं प्राच्यां मीमांसायां प्रादर्शि जैमिनिना मुनिना । सा हि मीमांसा द्वादशलक्षणी ।

आप लोग (मीमांसक) बार-बार यही कहते हैं कि धर्म (वेदविहित कर्म) का अनुष्ठान करने से अभीष्ट धर्म की प्राप्ति होती है। हम पूछते हैं कि उस धर्म का क्या लक्षण है, उसके लिए प्रमाण क्या है ? हम इसे बतलाते हैं, ध्यान देकर सुनिये । इस प्रश्न का उत्तर जैमिनि मुनि ने अपनी पूर्व-मीमांसा में अच्छी तरह दिखाया है । उस पूर्व-मीमांसा में बारह अध्याय हैं । [लक्षण = अध्याय । मीमांसा का विषय ही धर्म है ।]

तत्र प्रथमेऽध्याये विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतिनामधेयार्थकस्य शब्दराशेः प्रामाण्यम् । द्वितीये उपोद्घातकर्मभेदप्रमाणापवादप्रयोगभेदरूपोऽर्थः । तृतीये श्रुतिलिङ्गवाक्यादिविरोधप्रतिपत्तिकर्मानारभ्याधीतबहुप्रधानोपकारकप्रयाजादियाजमानचिन्तनम् ।

उसमें **पहले अध्याय** में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय के अर्थ में जो शब्दराशि है—उसी की प्रामाणिकता बतलाई गई है । [इसके प्रथम पाद (३२ सूत्र) में विधि का प्रामाण्य, द्वितीय पाद (५३ सूत्र) में अर्थवाद और मन्त्रों का प्रामाण्य, तृतीयपाद (३५ सूत्र) में मनु आदि स्मृतियों का प्रामाण्य, तथा चतुर्थ पाद (३०) में नामधेय (Names) की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है ।]

दूसरे अध्याय में उपोद्घात, कर्मभेद, कर्मभेद के प्रामाण्य का अपवाद तथा प्रयोगों में भेद—इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है। [प्रथम पाद (४९) में कर्मभेद का वर्णन करने के लिए उपोद्घात दिया गया है जिसमें अपूर्व का बोध कराने के लिए आख्यात को उपयुक्त माना गया है, धर्म का वर्णन ही तीनों वेदों में है जिनकी रचना सर्वोत्तम भाषा में हुई है। द्वितीय पाद (२९) में धातु-भेद, पुनरुक्ति आदि के कारण कर्म में भेद पड़ने का वर्णन है। तृतीय पाद (२९) में उपर्युक्त कर्मभेद की प्रामाणिकता के अपवाद वर्णित हैं जब कि चतुर्थ पाद (३२) में नित्य और काम्य प्रयोगों के बीच भेद का प्रदर्शन है।]

तीसरे अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य आदि और उनके पारस्परिक विरोध, प्रतिपत्तिकर्म (उपयुक्त द्रव्यों का विनियोग करना), आकस्मिक रूप से निर्दिष्ट वस्तुओं, बहुत से प्रधान कर्मों के सहायक प्रयाज आदि कर्म तथा यजमान के कर्मों का विचार हुआ है। [मीमांसा सूत्र के तीसरे अध्याय में आठ पाद हैं। प्रथमपाद (२७ सूत्र) में श्रुति-प्रमाण, द्वितीय पाद (४३) में लिंग-प्रमाण, तृतीय पाद (४६) में वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या ये चार प्रमाण, चतुर्थ पाद (५७) में निवीत, उपवीत आदि कर्मों में, विधि है कि अर्थवाद, इसका निर्णय करने के लिए श्रुति आदि छहों प्रमाणों के परस्पर विरोध की मीमांसा, पंचम पाद (५३) में प्रतिपत्ति कर्मों का वर्णन, षष्ठ पाद (४७) में अनारभ्याधीत अर्थात् सामान्य रूप से विहित कर्मों का वर्णन, सप्तम पाद (५१) में बहुत से प्रधान कर्मों के सहायक प्रयाजादि कर्मों का वर्णन तथा अष्टम पाद (४४) में यजमान के कर्मों का वर्णन--इस प्रकार इसका पादगत विभाजन हुआ है।]

विशेष—श्रुति आदि छह प्रमाणों पर मीमांसा में बहुत जोर दिया जाता है। जैमिनि ने लिखा है—**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (जै० सू० ३।३।१४) श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन छहों में एक दूसरे से संघर्ष होने पर पहले वाला प्रबल रहता है दूसरा दुर्बल होता है। क्योंकि विनियोग (Application) रूपी अर्थ पहले वाले की अपेक्षा दूसरे में विलंब से प्रतीत होता है।

इन्हें समझने से पहले यह जानना चाहिए कि मीमांसा-दर्शन में सम्पूर्ण वैदिक भाग (वेद, अपौरुषेय वाक्य) को पाँच भागों में बाँटा है—विधि, मंत्र नामधेय, निषेध और अर्थवाद। अज्ञात वस्तु (किसी भी अन्य प्रमाण से अज्ञात) का ज्ञान कराने वाला वैदिक भाग विधि है जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस विधि में किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त न होने वाले स्वर्ग के प्रयोजन से किये गये होम का विधान किया गया है। इस वाक्य का अर्थ है कि

अग्निहोत्र-होम से स्वर्ग की भावना करनी चाहिए (भावना=उत्पत्ति)। इस विधि के चार भेद हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि। इनमें जो दूसरी विनियोग-विधि है उसका अर्थ है 'प्रधान (होम) के साथ अङ्गों (=देवता, द्रव्य, साधन आदि) का सम्बन्ध बतलाना'। उदाहरण–'दध्ना जुहोति' यहाँ दधि अंग है क्योंकि यह होम का साधन है, दधि तृतीया-विभक्ति के द्वारा अपने अंग होने का प्रदर्शन कर रहा है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस प्रधान के साथ इसका संबंध है जिसका बोध कराने के लिए उक्त 'दध्ना जुहोति' वाक्य आया है। इस प्रकार वाक्यार्थ होगा कि दधि के द्वारा होम की भावना करें।

इसी विनियोग-विधि की सहायता करने के लिए श्रुति आदि छह प्रमाण हैं। जिस समय यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मंत्र के देवता, हवि के द्रव्य या किसी अन्य वस्तु (अंग) का विनियोग कहाँ पर हो तो इसका निर्णय ये छह प्रमाण ही करते हैं। जब दो प्रमाण एक साथ आ रहे हों तो पहले वाला ही मान्य होता है। अब हम इनका पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करें।

(१) **श्रुति**—प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं। इससे सर्वत्र निर्णय किया जाता है। इसके मूलतः दो भेद हैं—साक्षात् पढ़ी गई तथा अनुमान से सिद्ध। सीधे पढ़ी गई श्रुति के उदाहरण में 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' दे सकते हैं। यह श्रुति का ही वाक्य है जिसमें बतलाया गया है कि इन्द्र देवता से संबद्ध ऋचा का अंग के रूप में प्रधान गार्हपत्य अग्नि की उपस्थापना में विनियोग होगा। अनुमान से सिद्ध श्रुतियों के उदाहरण में—'स्योनं ते' इति पुरोडाशस्य सदनं करोति' है। यह वाक्य श्रुति में कहीं नहीं मिलता किन्तु 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'(तै० ब्रा० ३।६) इस मंत्र के अर्थ को देखकर उसी लिङ्ग से मंत्र के अर्थ के अनुसार मंत्र का विनियोग करने वाली श्रुति का अनुमान करते हैं। उसी तरह का विनियोग भी होता है।

(२) **लिङ्ग**—किसी शब्द में जो अर्थ प्रकाशन की सामर्थ्य रहती है उसे ही लिङ्ग कहते हैं। श्रुति का अनुमान कराने वाला लिंग दो प्रकार का है—सीधा दिखलाई पड़ने वाला तथा अनुमान के द्वारा ज्ञात। सामर्थ्य का अर्थ रूढि है, अतः लिंग-प्रमाण में रूढि (परंपरागत शब्दार्थ) का अभिधान होता है जब कि समाख्या में यौगिक शब्द का अर्थ देखा जाता है। उदाहरण के लिए 'बर्हिर्देव सदनं दामि' (हे देव ! मैं तुम्हारे स्थान के लिए कुश काटता हूँ)—यह मंत्र कुशलवन (छेदन) रूपी अंग है। बर्हिष् शब्द कुश के अर्थ में ही रूढ़ है अतः अन्य तृणों के काटने का प्रसंग उत्पन्न नहीं होता। उसी

प्रकार—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्ने जुष्टं निर्वपामि (तै० सं० १।१।४) यह एक ही वाक्य है जिसमें योग्यता, आकांक्षा आदि के कारण परस्पर अन्वित पदों का समूह है। इसमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है कि 'देवस्य त्वा' इस वाक्य में 'अग्नये जुष्टम्' आदि भाग की सामर्थ्य निर्वाप-अर्थ का प्रकाशन करने की है। वाक्य आदि की अपेक्षा लिंग प्रबलतर होता है। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस मंत्र को पुरोडाश-स्थापन रूपी प्रधान कर्म के अंग के रूप में जानते हैं। यह ज्ञान 'सदनं कृणोमि' इस लिंग को देखकर ही होता है वाक्य से नहीं।

(३) **वाक्य**—अंग (शेष) और प्रधान (शेषी) बोधक पदों का एक साथ उच्चारण करना (समभिव्याहार) वाक्य है। योग्यता, आकांक्षा आदि इसमें रहती है। वाक्य उपर्युक्त लिंग का अनुमान करता है। उदाहरण में 'समिधो यजति' दे सकते हैं। इसमें इष्ट-विशेष का निर्देश नहीं किया गया है अतः आकांक्षा होती है कि समिधाओं के याग से भावना किसकी करें? दर्शपूर्णमास के विधि वाक्य में भी स्वर्ग की भावना कैसे करें, यह आकांक्षा होती ही है। स्मरणीय है कि इसी आकांक्षा को प्रकरण-प्रमाण कहते हैं। 'यस्याः पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्य में पर्णता और जुहू (अर्धचन्द्राकार एक पात्रविशेष) का एक साथ उच्चारण हुआ है अतः इसी से जुहू (प्रधान) का अंग पर्ण (पलाश) है, यह मालूम होता है। जुहू के द्वारा जिस अपूर्व (कर्मफल, पुण्य) की भावना अर्थात् उत्पादन करते हैं उसके लिए पर्ण की अनिवार्य आवश्यकता है। बिना पर्ण के अपूर्व की सिद्धि नहीं होती।

(४) **प्रकरण**—जहाँ पर उपकारी की (किसकी भावना करें, इसकी) तथा उपकारक की (कैसे भावना करें, इसकी) आकांक्षा हो उसे प्रकरण कहते हैं। उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। 'समिधो यजति'। जहां मुख्य भावना से सम्बद्ध प्रकरण हो उसे महाप्रकरण कहते हैं, जहाँ अंग की भावना से सम्बद्ध प्रकरण हो उसे अवान्तर प्रकरण कहते हैं। महाप्रकरण के कारण ही प्रयाज आदि कर्मों को दर्शपूर्णमास का अङ्ग मानते हैं। अवान्तर प्रकरण के कारण अभिक्रमण (घूमना) आदि प्रयाज के अंग होते हैं। स्थान आदि की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है, यही कारण है कि 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यो जिनाति' इत्यादि वाक्यों में, जहाँ क्रीडा, विजय आदि का उल्लेख है, सन्देह होता है कि यह राजसूय का अङ्ग है कि सोमयाग का? समान देश में पाठ होने से तो इसे (स्थान-प्रमाण से) सोमयाग का अंग समझना चाहिए किन्तु राजसूय में उपकारक की आकांक्षा होने के कारण देवन (दीव्यति) आदि का विधान है, अतः प्रकरण प्रमाण से वह राजसूय का ही अंग हो जायगा।

(५) **स्थान**—एक ही देश स्थान है। स्थान को क्रम भी कहते हैं। 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।११), 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।५) इस क्रम से इष्टियों का विधान किया गया है। अतः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' (तै० सं० ४।२।११) इत्यादि जो याज्यानुवाक्या ('यज' विधि के बाद ब्रह्मा के द्वारा उच्चारित) मन्त्रों का विनियोग क्रम से होगा—पहले मन्त्र का पहले, दूसरे मन्त्र का बाद में आदि। इस प्रकार पाठ के विशेष क्रम के कारण दोनों की आकांक्षा (प्रकरण) का अनुमान होता है। प्रकरण के द्वारा वाक्य का, वाक्य से लिंग का और उससे श्रुति का—श्रुति के द्वारा विनियोग का अनुमान होता है।

(६) **समाख्या**—यौगिक शब्दों को समाख्या कहते हैं। जैसे—हौत्रम्, औद्गात्रम्। होतृ के द्वारा किये जाने वाले कर्मों को हौत्र कहते हैं अतः 'हौत्र' नाम से जिसका विधान हो उसे होतृ के द्वारा किये जाने योग्य कर्म समझें।

इस प्रकार विनियोग-विधि के लिए ये छह प्रमाण होते हैं। यौगिक शब्दों के अर्थ से जो विधान होता है उससे अधिक प्रबल पाठ का क्रम होता है। क्योंकि उससे शीघ्र ही विनियोग समझ में आता है। यौगिक शब्द के द्वारा विलंब की सम्भावना है। क्रम से अधिक प्रबल प्रकरण है क्योंकि आकांक्षा का श्रवण होने से अर्थबोध शीघ्र होता है। वाक्य में आकांक्षा से भी अधिक प्रबलता है क्योंकि अंग और प्रधान का एक साथ उसमें उच्चारण ही होता है। वाक्य की अपेक्षा लिंग में अर्थबोध की अधिक शक्ति है और अन्त में श्रुति तो सर्वोच्च है ही। जहाँ विनियोग के लिए साक्षात् श्रुति नहीं मिलती वहीं पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है। (विशेष विवरण के लिए अर्थ-संग्रह या मीमांसा-न्यायप्रकाश देखें।)

चतुर्थे प्रधानप्रयोजकत्वाप्रधानप्रयोजकत्वजुहूपर्णतादिफल-राजसूयगतजघन्याङ्गाक्षद्यूतादिचिन्ता। पञ्चमे श्रुत्यादिक्रम-तद्वि-शेषवृद्ध्यवर्धनप्राबल्यदौर्बल्यचिन्ता। षष्ठेऽधिकारितद्धर्मद्रव्यप्र-तिनिध्यर्थलोपनप्रायश्चित्त-सत्रदेयवह्निविचारः। सप्तमे प्रत्यक्षवच-नातिदेशशेषनामलिङ्गातिदेशविचारः।

चौथे अध्याय में प्रधान कर्मों की प्रयोजकता (जैसे प्रधान कर्म आमिक्षा दध्यानयन-रूपी दूसरे कर्म का प्रयोजक है), अप्रधान कर्मों की प्रयोजकता (जैसे वत्सापाकरण कर्म शाखाच्छेद का प्रयोजक है), पर्ण अर्थात् पलाश की बनी हुई जुहू आदि के फल तथा राजसूय-याग (प्रधान) के अन्तर्गत आने वाले

अप्रधान (जघन्य) अङ्गों जैसे अक्ष-द्यूत (अक्षैर्दीव्यति) आदि का विचार हुआ है। [उक्त चारों प्रश्नों का विचार इसके चार पादों (४८ + ३१ + ४१ + ४१) में हुआ है जो स्पष्ट है।]

पाँचवें अध्याय में श्रुति आदि का क्रम, उनके विभिन्न भागों का क्रम, कर्मों की वृद्धि और अवृद्धि, तथा श्रुति आदि की प्रबलता एवं दुर्बलता का विचार किया गया है। [इसके प्रथम पाद (३५) में श्रुति, अर्थ, पठनादि के क्रम का निरूपण हुआ है।* द्वितीय पाद (२३) में क्रम के विशिष्ट भागों का वर्णन हुआ है जैसे अनेक पशुओं के होने पर एक-एक पशु के धर्म की समाप्ति की जाय। तृतीय पाद (४४) में वृद्धि और अवृद्धि पर विचार हुआ है जैसे अग्नि और सोम को एक साथ दिये जाने वाले (अग्निषोमीय) पशु में ग्यारह प्रयाजों का यज्ञ होता है। तो इसमें पाँच प्रयाजों की पुनः आवृत्ति करके अन्तिम प्रयाज की एक बार और आवृत्ति करने पर ग्यारह संख्या पूर्ण हो जाती है। यह वृद्धि हुई, कहीं पर ऐसा नहीं करके पहले जैसी ही संख्या छोड़ देते हैं। चतुर्थ पाद (२६) में श्रुति आदि छह प्रमाणों में पहले के प्रमाण प्रबल हैं, बाद के दुर्बल, इसका विचार हुआ है।]

छठे अध्याय में यज्ञ करने के अधिकारी व्यक्ति, उनके धर्म, यज्ञ में प्रयुक्त होने के लिए विहित द्रव्यों के (न मिलने पर) स्थान में दिये गये द्रव्य, द्रव्यों का लोप, प्रायश्चित्त कर्म, सत्रकर्म, देय वस्तु, तथा विभिन्न अग्नियों में होम—इनका वर्णन है। [षष्ठाध्याय में आठ पाद हैं। प्रथम पाद (५२) में यज्ञ

* जिस प्रकार विनियोग-विधि के छह प्रमाण हैं उसी प्रकार प्रयोगविधि के भी छह प्रमाण हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य तथा प्रवृत्ति। ये क्रम (order) का बोध कराकर प्रयोग-विधि की सहायता करते हैं। वेदं कृत्वा वेदिं करोति—में श्रुति से ही कर्मों की पूर्वापरता मालूम होती है। 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति'—में प्रयोजन या अर्थ के द्वारा क्रम मालूम होता है कि यवागू होमार्थक है अतः उसका वाक्य पीछे रहने पर भी पहले वही काम होगा (यवागूपाक)। इन दोनों क्रमों के न रहने पर पाठ का क्रम ही प्रामाणिक होता है—जिस क्रम से वेद में पाठ है उसी क्रम से काम करना है। देश-काल के अनुसार जो जहाँ उपस्थित है वह पहले करें, दूसरा पीछे, (यह स्थान-क्रम है)। प्रधान के क्रम से अंगों को रखना मुख्य-क्रम है। जिस क्रम से आदित्यादि प्रधान देवताओं की पूजा हो उसी क्रम से उनके अधिदेवताओं की पूजा करें। प्रवृत्ति-क्रम वह है, जिसमें, एक स्थान पर जैसा हुआ हो उसी क्रम से दूसरी जगह भी होगा—ऐसा विचार रहे।

करने के अधिकारी का निरूपण हुआ है कि आँखवाला ही यज्ञ कर सकता है अन्धा नहीं। द्वितीय पाद (३१) में अधिकारियों के धर्म का विचार हुआ है। तृतीय पाद (४१) में मुख्य वस्तु के अभाव में प्राप्य वस्तु का कहाँ-कहाँ ग्रहण करें, कहाँ नहीं, इसका विचार हुआ है। चतुर्थ पाद (४७) में किस वस्तु का कहाँ लोप होता है यह निरूपित हुआ है। पंचम पाद (५६) में कहीं पर भूल हो जाने से प्रायश्चित्त करने का विधान है। षष्ठ पाद (३९) में सत्र नामक यज्ञ के अधिकारियों का वर्णन हुआ है। सप्तम पाद (४०) में अदेय तथा देय वस्तुओं का वर्णन हुआ है। अष्टम पाद (४३) में यह विचार है कि लौकिक अग्नि में कहाँ होम करें।]

सातवें अध्याय में वैदिक वाक्यों के प्रत्यक्ष आदेश से किसी यज्ञ के कर्मों का दूसरे यज्ञ में स्थानान्तरण (प्रथम पाद २३), अवशिष्ट विचार (द्वितीय पाद २१), [अग्निहोत्र आदि] नामों के कारण स्थानान्तरण (तृतीय पाद ३६) तथा लिंग के कारण स्थानान्तरण (चतुर्थ पाद २०) का वर्णन है।

अष्टमे स्पष्टास्पष्टप्रबललिङ्गातिदेशापवादविचारः। नवमे ऊहविचारारम्भसामोहमन्त्रोहतत्प्रसङ्गागतविचारः। दशमे बाध-हेतुद्वारलोपविस्तारबाधकारणकार्यैकत्वसमुच्चयग्रहादिसामप्रकीर्ण-नञर्थविचारः। एकादशे तन्त्रोपोद्घाततन्त्रावापतन्त्रप्रपञ्चनावाप-प्रपञ्चनचिन्तनानि। द्वादशे प्रसङ्गतन्त्रिनिर्णयसमुच्चयविकल्प-विचारः।

आठवें अध्याय में स्पष्ट लिंगों के द्वारा किये गये अतिदेश (प्रथम पाद ४३), अस्पष्ट लिंगों के द्वारा किये गये अतिदेश या स्थानान्तरण (द्वितीय पाद ३२), प्रबल लिंगों से किये गये स्थानान्तरण (तृतीय पाद ३६) तथा अंत में इन अतिदेशों अर्थात् स्थानान्तरणों के अपवाद प्रदर्शित हैं (चतुर्थ पाद २७)।

नवें अध्याय में ऊह (मंत्र में आये हुए देवता, लिंग, संख्या आदि के वाचक शब्दों का प्रयोगविशेष में अवसर के अनुसार परिवर्तन) के विचार का प्रारंभ (प्रथम पाद ५८), सामों का ऊह (द्वितीय पाद ६०) मंत्रों का ऊह (तृतीय पाद ४३) तथा अंत में ऊह के प्रसंग में उठने वाले प्रश्नों पर विचार किया गया है (चतुर्थ पाद ६०)।

दसवें अध्याय (आठ पाद) में पहले बाध (निषेध) के कारणस्वरूप द्वारों (कारणों) के लोप का वर्णन हुआ है (प्रथम पाद ५८) [जहाँ वेदि-

निष्पादनरूपी मुख्य कर्म (द्वार) का ही अभाव है वहाँ वेदि-निष्पादन कर्म में सहायक उद्धनन आदि अंग-कार्यों का बाध (निषेध) हो ही जायगा। जहाँ धान्य को तुषरहित करना ही नहीं है वहाँ अवहनन का निषेध हो जायगा।] तब उसी द्वारलोप का विस्तार बहुत से उदाहरणों के द्वारा किया गया है (द्वितीय पाद ७४)। इसके बाद कार्य की एकता को बाध का कारण बतलाया है (तृतीय पाद ७५) [जैसे प्रकृति (Sample) याग में गो, अश्व आदि की दक्षिणा का कार्य ऋत्विक्परिग्रह माना गया है, विकृति (Deviating from the sample) याग में उसी कार्य के लिए धेनु की दक्षिणा कही गयी है। इस प्रकार 'प्रकृतिवत्' शब्द के द्वारा जहाँ अतिदेश या स्थानान्तरण किया गया है उससे प्राप्त होने वाली गो, अश्व आदि की दक्षिणा का निषेध है।] उसके बाद बाध के कारणों के न होने पर समुच्चय (चतुर्थ पाद ५९), बाध का प्रसंग उठने पर ग्रहादि का विचार (पंचम पाद ८८), बाध के प्रसंग में ही सामविचार (षष्ठ पाद ८०), इसी प्रसंग में विभिन्न सामान्य प्रश्नों पर विचार (सप्तम पाद ७३) तथा अन्त में बाध करने वाले नञर्थ का विचार किया गया है (अष्टम पाद ७०) [स्मरणीय है कि परिमाण की दृष्टि से दशमाध्याय सभी अध्यायों से बड़ा है।]

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का उपोद्धात (प्रथम पाद ७१), तन्त्र और आवाप (द्वितीय पाद ६६), तन्त्र का विस्तार (तृतीय पाद ५४) तथा आवाप के विस्तार (चतुर्थ पाद ५६) पर विचार हुआ है। [अनेक लक्ष्यों का ध्यान रखते हुए एक ही साथ अनुष्ठान करना तन्त्र है। एक ही काम करें और बहुतों को लाभ हो जैसे बहुत लोगों के बीच स्थापित दीपक। लेकिन जो आवृत्ति (दुहराने) पर बहुतों का उपकार करे वह आवाप है जैसे बहुत लोगों का भोजन जो पारी-पारी से संभव है। जब दूसरे के उद्देश्य से दूसरी वस्तुओं का भी एक ही साथ अनुष्ठान करें तो उसे प्रसंग कहते हैं।]

बारहवें अध्याय में प्रसंग (एक मुख्य उद्देश्य से किया जाने पर भी दूसरे का प्रसंगतः उल्लेख) का विचार (प्रथम पाद ४६), तन्त्रियों (साधारण धर्मों से युक्त) का निर्णय (द्वितीय पाद ३७), समुच्चय (तृतीय पाद ३८) तथा विकल्प (चतुर्थ पाद ४७) का विचार किया गया है।

विशेष—आस्तिक दर्शनों की व्याख्या में माधवाचार्य की एक प्रवृत्ति देखने में आती है कि उन्होंने सूत्र-ग्रन्थों की विषयवस्तु की सूची दे दी है। जिन दर्शनों में (जैसे सांख्य) वे ऐसा नहीं कर सके उनके सूत्रग्रन्थ उनके समक्ष उपलब्ध नहीं थे या थे तो प्रामाणिक नहीं थे। इससे पूरे ग्रन्थ के विषयों

का अवगाहन कराना उनका लक्ष्य था। इसके बाद उस दर्शन की मुख्य समस्याओं पर भी वे विचार करते हैं।

(२. प्रथम सूत्र तथा अधिकरण का निरूपण)

तत्राथातो धर्मजिज्ञासा (जै० सू० १।१।१) इति प्रथममधिकरणं पूर्वमीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवमाचक्षते परीक्षकाः। ते च पञ्चावयवा विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तसंगतिरूपाः।

उनमें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (अब इसलिए धर्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है, जै० सू० १।१।१)—यह प्रथम अधिकरण (Topic) है जिसका उद्देश्य पूर्व, मीमांसा के आरम्भ का उपपादन (सिद्धि) करना है। परीक्षक लोग कहते हैं कि अधिकरण में पाँच अवयव (अंग) रहते हैं। वे पाँचों अवयव हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और संगति।

विशेष - वेदों में प्रतिपादित याग आदि को धर्म कहते हैं, उसकी जिज्ञासा अर्थात् विचार करना चाहिए। चूँकि अध्ययन का फल है अर्थज्ञान, इसलिए गुरुकुल में रहकर वेदाध्ययन करके धर्म का विचार करना चाहिए—यही सूत्र का अर्थ है।

किसी भी शास्त्र का अध्ययन कई अधिकरणों में बँटा रहता है। इन अधिकरणों की एक निश्चित विधा है जिसमें पाँच अवयव रहते हैं। जिस पर आधारित होकर कोई विचार प्रवृत्त होता है उसे **विषय** (Subject) कहते हैं। यहाँ पर शास्त्र ही विषय है। विषय का उल्लेख करने के अनंतर **संशय** (Doubt) का स्थान है जिसमें दो या दो से अधिक पक्षों की संभावना पर विचार होता है। ये दोनों पक्ष कहीं तो भावरूप (Affirmatvie) होते हैं—यह स्थाणु है या पुरुष ? कहीं पर भाव और अभाव दोनों रूपों में रहते हैं—यहाँ पुरुष है या नहीं ? वादी के द्वारा प्रतिपादित वस्तु को **पूर्वपक्ष** (Opposition) कहते हैं जिसमें प्रस्तुत वस्तु के विरोध में तर्क का उपन्यास होता है। निर्णय करना **सिद्धान्त** (Reply) है। **संगति** (Reconciliation) में तीन हैं—शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति तथा पादसंगति। कोई विचार किस शास्त्र में, किस अध्याय में और किस पाद में करना ठीक है, यही संगति है। उसी प्रकार पूर्वाधिकरण और उत्तराधिकरण में पारस्परिक अवान्तरसंगति भी ठीक की जाती है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी लोग संगति को अधिकरण के अंग के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे लोग **उत्तर** को अधिकरण मानते हैं। वादियों के मत का खंडन करनेवाला वाक्य ही उत्तर है। उसके बाद **निर्णय** का स्थान

है। चूँकि खंडन गलत उत्तर देकर भी हो सकता है अतः निर्णय को पृथक् रखा गया है। भाट्टों का यह कहना है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

विशय का अर्थ है संशय (संदेह)। यद्यपि सभी दर्शनों में अधिकरणों की सिद्धि हो सकती है परन्तु दोनों मीमांसायें (पूर्व और उत्तर) इस दृष्टि से बहुत आगे हैं। उनमें भी जैमिनि की पूर्वमीमांसा के अधिकरण और भी प्रसिद्ध हैं क्योंकि सूत्र भी अधिकरणों को दृष्टि में रखकर ही लिखे गये लगते हैं। मीमांसा के अधिकरणों का संकलन भी जैमिनीन्यायमाला आदि ग्रन्थों में हुआ है।

(३. भाट्टमत से अधिकरण का निरूपण)

तत्राचार्यमतानुसारेणाधिकरणं निरूप्यते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्येतद्वाक्यं विषयः। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२) इति आरभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (जै० सू० १२।४।४७) इत्येतदन्तं जैमिनीयं धर्मशास्त्रमनारभ्यमारभ्यं वेति संदेहः। अध्ययनविधेरदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वाभ्याम्।

अब उनमें आचार्य (कुमारिल भट्ट) के मत से अधिकरण का निरूपण करें। 'स्वाध्याय अर्थात् वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह वाक्य ही **विषय** है। 'प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले वाक्यों से लक्षित वस्तु ही धर्म है' (जै० सू० १।१।२) यहाँ से आरंभ करके 'इसे अन्वाहार्य में देखने पर भी यही सिद्ध होता है' (जै० सू० १२।४।४७) यहाँ तक जो जैमिनि का लिखा हुआ धर्मशास्त्र है, उसे आरंभ करें या नहीं—यही **संदेह** है। कारण यह है कि अध्ययन-विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) को कुछ मतों से दृष्टार्थ (साक्षात्प्रयोजन की सिद्धि करने वाला) और कुछ मतों से अदृष्टार्थ (अदृष्ट प्रयोजन जैसे स्वर्गप्राप्ति आदि प्रयोजनों की सिद्धि करनेवाला) मानते हैं। ['स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का दृष्ट प्रयोजन है अर्थज्ञान। यद्यपि आचार्य के द्वारा किये गये उच्चारण के अनुसार उसी तरह की आनुपूर्वी रखते हुए शिष्य को भी उच्चारण करना चाहिए। किन्तु अध्ययन-विधि का तात्पर्य केवल यहीं तक नहीं है। अर्थज्ञान-रूपी साक्षात् प्रयोजन तक इसका तात्पर्य है। अर्थज्ञान विचार के बिना संभव ही नहीं अतः जैमिनि के द्वारा प्रोक्त (Taught) यह विचार-शास्त्र विधि पर कृपा करके शुरू करना ही चाहिए। अध्ययन-विधि को दृष्टार्थ मानने पर मीमांसा-शास्त्र का आरंभ आवश्यक है। दूसरी ओर, यदि अध्ययन-विधि को अदृष्टार्थ मानें, यह कहें कि स्वाध्याय का तात्पर्य्य केवल स्वर्गादि की प्राप्ति

पर्यन्त है अर्थज्ञान पर्यन्त नहीं, तो विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। विचार-शास्त्र से विधि पर कोई प्रभाव पड़ेगा ही नहीं तो मीमांसासूत्र का आरंभ ही क्यों करें ? इसीसे दो पक्ष हो जाते हैं और संदेह उत्पन्न होता है।]

(३ क. पूर्वपक्ष—शास्त्रारंभ ठीक नहीं)

तत्रानारभ्यमिति पूर्वः पक्षः। अध्ययनविधेरर्थावबोधलक्षणदृष्टफलकत्वानुपपत्तेः। अर्थावबोधार्थमध्ययनविधिरिति वदन् वादी प्रष्टव्यः—किमत्यन्तमप्राप्तमध्ययनं विधीयते किं वा पाक्षिकमवघातवन्नियम्यत इति ?

तो, पूर्वपक्ष यह हुआ कि मीमांसाशास्त्र का आरम्भ ही नहीं करना चाहिए। अध्ययन-विधि से अर्थावबोध होता है, इस अदृष्ट फल की सिद्धि नहीं होती। जो वादी ऐसा कहते हैं कि अर्थावबोध के लिए अध्ययन-विधि है तो उनसे पूछना चाहिए—क्या अध्ययन किसी भी दूसरे साधन से प्राप्त नहीं था इसलिए विधान करते हैं (क्या अध्ययन-विधि अपूर्व-विधि है) या दूसरे साधन से वैकल्पिक हो जाने के चलते, अवघात-विधि के समान, इसे नियम में बाँधते हैं (क्या अध्ययन-विधि नियम है ?)

विशेष—पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि अध्ययन वाली विधि अपूर्व-विधि है या नियमविधि ? अपूर्व-विधि उसे कहते हैं जिसमें किसी विधि (Injunction) का प्रयोजन किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त न हो अतः उस प्रयोजन के लिए विधि दी जाय। उदाहरण के लिए 'यजेत स्वर्गकामः'। याग से स्वर्ग-प्राप्ति होगी, इस प्रयोजन की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होगी, केवल इसी विधि से इसका ज्ञान हो सकता है अतः इसे अपूर्व-विधि कहते हैं। जहाँ पर अनेक साधनों से क्रिया की सिद्धि हो सके, एक साधन प्राप्त हो किन्तु दूसरे अप्राप्त—तो इन अप्राप्त कारणों का बोध कराने वाली विधि नियमविधि (Restrictive injunction) कहलाती है। जैसे—व्रीहीनवहन्ति (अवघात-विधि)। इस विधि से यह सूचित नहीं होता कि अवघात धान को तुषरहित करने के लिए होता है क्योंकि यह तो लोक में प्रसिद्ध ही है। किन्तु यहाँ पर नियम-विधि है कि अप्राप्त अंश की पूर्ति की जाती है। तुषरहित करना नाना उपायों से हो सकता है—कोई धान को नाखूनों से छील सकता है, कोई चक्की में दल सकता है, कोई अवघात कर सकता है आदि। जब कोई व्यक्ति अवघात (मुसल से छाँटना) छोड़ कर किसी दूसरे उपाय का ग्रहण करना चाहता है तो अवघात की अप्राप्ति हो जाती है। इस विधि के द्वारा उसी अप्राप्त अवघात का नियमन

करते हैं कि अन्य उपायों से नहीं, केवल अवघात के द्वारा ही धान का तुष छुड़ायें। पाक्षिक रूप से अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करानेवाली विधि नियम-विधि है। इसे कहा गया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ॥

नियम विधि में तो एक की अप्राप्ति और दूसरे की प्राप्ति रहने पर अप्राप्त वस्तु की पूर्ति की जाती है, परिसंख्या-विधि (Exclusive Specification) में एक ही साथ दो की प्राप्ति रहती है और तब एक की निवृत्ति करते हैं जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'। इसका अर्थ है पाँच पंचनखों के अतिरिक्त (शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः) किसी दूसरे पंचनख जीव का भक्षण मना है। इस प्रकार यह निवृत्ति परिसंख्या द्वारा ही होती है।

न तावदाद्यः। विवादपदं वेदाध्ययनमर्थावबोधहेतुरध्ययनत्वाद्, भारताध्ययनवत्—इत्यनुमानेन विध्यनपेक्षतया प्राप्तत्वात्। अस्तु तर्हि द्वितीयो यथा नखविदलनादिना तण्डुलनिष्पत्तिसंभवात् पाक्षिकोऽवघातोऽवश्यं कर्तव्य इति विधिना नियम्यते, तथा लिखितपाठेनार्थज्ञानसंभवात्पाक्षिकमध्ययनं विधिना नियम्यत इति चेत्।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] इनमें पहला विकल्प तो माना नहीं जा सकता क्योंकि निम्नलिखित अनुमान से यह सिद्ध हो जायगा कि किसी विधि की अपेक्षा न रखते हुए भी यह (वेदाध्ययन) [उस अर्थावबोध के साधन के रूप में] प्राप्त होगा—

'प्रस्तुत वेदाध्ययन अर्थ बोध करने के लिए है,
क्योंकि यह एक अध्ययन है,
जैसे महाभारत का अध्ययन [अर्थज्ञान के लिए होता है]।'

[अभिप्राय यह है कि यदि अपूर्वविधि मानकर आप (सिद्धान्ती) लोग, वेदाध्ययन अर्थज्ञान के लिए है, ऐसा सिद्ध करते हैं, तो विधि की कोई आवश्यकता ही नहीं है। महाभारत के अध्ययन की तरह वेद का अध्ययन भी लोग बिना किसी विधि के अर्थज्ञान के लिए ही कर लेंगे।]

अच्छा, दूसरा विकल्प लीजिए [कि यह नियमविधि है]। जैसे नखों के द्वारा विदलन (नाखून से धान के दानों की छीलना) आदि (=अवघात) से

चावल की निष्पत्ति हो सकती है किन्तु पाक्षिक रूप से (एक विशेष उपाय) अवघात का ही प्रयोग आवश्यक है, इस विधि के द्वारा नियमन (Restriction) किया जाता है [कि अन्य उपायों से तण्डुल-निष्पत्ति नहीं की जाय]। उसी प्रकार लिखित पाठ से भी अर्थ के ज्ञान की सम्भावना होने से पाक्षिक रूप से (एक विशेष उपाय) अध्ययन को ही विधि के द्वारा नियमित किया जाता है। [तात्पर्य यह है कि गुरु के उपदेश को छोड़कर केवल लिखित पाठ से ही अर्थज्ञान के लिए कोई प्रवृत्त हो जाय तो अध्ययन अप्राप्त हो जायगा जिसका विधान करना चाहिए। इसलिए पाक्षिक रूप से जो अध्ययन अप्राप्त है उसी के नियमन के लिए यह विधि है।]

नैतच्चतुरस्रम्। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यसंभवात्। अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः पिष्टपुरोडाशादिकरणेऽवान्तरापूर्वद्वारा दर्शपूर्णमासौ परमापूर्वमुत्पादयतो नापरथा। अतोऽपूर्वमवघातस्य नियमहेतुः। प्रकृते लिखितपाठजन्येनाध्ययनजन्येन वार्थावबोधेन क्रत्वनुष्ठानसिद्धेरध्ययनस्य नियमहेतुर्नास्त्येव। तस्मादर्थावबोधहेतुर्विचारशास्त्रस्य वैधत्वं नास्तीति।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] आपका यह कहना ठीक नहीं (चतुरस्र = अच्छा)। कारण यह है कि दृष्टान्त (instance) तथा प्रस्तुत वस्तु (दार्ष्टान्तिक the object for which the instance is given) में वैधर्म्य की संभावना है। केवल अवघात के द्वारा निष्पन्न चावलों के पीसे जाने पर जब पुरोडाश (यज्ञ में प्रयुक्त रोटी की तरह का पदार्थ) आदि निर्मित होते हैं तभी अवान्तर (सहायक) अपूर्व के द्वारा दर्श (अमावस्या का याग) और पूर्णमास याग परम (मुख्य) अपूर्व (अर्थात् स्वर्गादि) उत्पन्न कर सकते हैं, किसी अन्य साधन से नहीं। [दर्शपूर्णमास आदि यागों से मुख्य अपूर्व अर्थात् पुण्य की उत्पत्ति होती है। स्वर्गादि मुख्य पुण्य हैं। इनकी उत्पत्ति में सहायक पुण्य को अवान्तर अपूर्व कहते हैं। अवघातादि से इनकी उत्पत्ति होती है। अदृष्ट वस्तु की उत्पत्ति में कार्य-कारण भाव शास्त्र से ही मालूम होता है।]

अतः अवघात के नियमन का कारण अपूर्व (पुण्य) ही है। [यदि अवघात रूपी नियम से उत्पन्न होनेवाले अदृष्ट की कल्पना नहीं होती या कल्पना करने पर भी यदि वह मुख्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक नहीं बनता तो अवघात-विधि का शास्त्र ही व्यर्थ हो जाता। धान को तुषरहित करने के लिए विधि की आवश्यकता नहीं थी। लोग धान से चावल निकालना भली-भाँति जानते हैं।

इसलिए अवघातनियम का एकमात्र कारण यही है कि दर्शपूर्णमास याग से उत्पन्न होनेवाले मुख्य अपूर्व की सिद्धि इससे होती है।]

प्रस्तुत विधि में, लिखित पाठ से भी अर्थबोध हो सकता है और अध्ययन से भी,—अतः अर्थबोध के बाद जो क्रतु (यज्ञ) का अनुष्ठान किया जायगा, उसमें नियम-हेतु रहेगा ही नहीं। [अवघात-विधि और अध्ययन-विधि में समानता स्थापित नहीं की जा सकती। अवघात-विधि कम से कम अपूर्व का हेतु है परन्तु अध्ययन-विधि अपूर्व का हेतु नहीं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की विधि अर्थज्ञान (फल) के उद्देश्य से दी गई हैं, क्योंकि अध्ययन के बिना भी केवल लिखित पाठ से अर्थज्ञान हो सकता है। जब अर्थज्ञान हो जायगा तब यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करना संभव ही है। जैसे अवघात-नियम से उत्पन्न होनेवाले अवान्तरापूर्व को अस्वीकार करने पर मुख्यापूर्व की उत्पत्ति नहीं होती अतः मुख्यापूर्व ही अवान्तर अपूर्व का हेतु है, वह बात अध्ययन-विधि के साथ नहीं। अर्थ के ज्ञान के लिए अध्ययन के नियम से उत्पन्न अवान्तर अपूर्व स्वीकार कर लेने में कोई हेतु दिखलाई नहीं पड़ता।] अतः अध्ययन-विधि को नियमविधि नहीं मान सकते।]

तर्हि श्रूयमाणस्य विधेः का गतिरिति चेत्—स्वर्गफलकोऽक्षरग्रहणमात्रविधिरिति भवान्परितुष्यतु। विश्वजिन्न्यायेनाश्रुतस्यापि स्वर्गस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। यथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' (जै० सू० ४।३।१५) इति विश्वजिति अश्रुतमप्यधिकारिणं संपादयता, तद्विशेषणं स्वर्गः फलं युक्त्या निरणायि तद्वदध्ययनेऽप्यस्तु। तदुक्तम्—

१. विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात्स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥

तब उक्त श्रौत (वेदोक्त) विधि की क्या गति होगी? आप घबरायें नहीं, संतोष करें, [अपूर्व का उत्पादन करके] यह विधि स्वर्ग का फल देने वाली है और यह केवल अक्षर-ग्रहण करने के लिए ही विहित है। [यह अपूर्वविधि है क्योंकि इस विधि के बिना मालूम नहीं हो सकता कि अध्ययन स्वर्ग-प्राप्ति कराता है। यह पूछ सकते हैं कि अध्ययन-विधि में स्वर्ग-प्राप्ति कहाँ दी हुई है कि आप इससे स्वर्ग-फल की उपलब्धि बोले चले जा रहे हैं?] यद्यपि अध्ययन-विधि (=स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) में स्वर्ग-शब्द नहीं सुनाई पड़ता परन्तु

विश्वजित्-न्याय से उसकी कल्पना की जा सकती है। जैसे जैमिनि ने अपने सूत्र—'वह फल स्वर्ग ही है क्योंकि सबोंके लिए यह एक समान है (४।३।१५)'—में यह निश्चय किया है कि विश्वजित्-याग में जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है वे लोग भी इसके अधिकारी हैं, पुनः युक्तिपूर्वक उन्होंने यह भी निर्णय किया है कि विश्वजित्-याग का विशिष्ट फल स्वर्ग ही है,—अध्ययन-विधि में भी यही बात क्यों न मान ली जाय ? [सूत्र का अर्थ है कि स्वर्ग चूँकि दुःख से सर्वथा अस्पृष्ट और निरतिशय सुख का आगार है अत. विश्वजित्-याग का फल हम इसे ही मान लें। स्मरणीय है कि जिस प्रकार अध्ययन-विधि का कोई फल श्रुति में नहीं दिया गया है, उसी प्रकार विश्वजित्-विधि (विश्वजिता यजेत) का भी कोई फल नहीं दिया गया है। जैमिनि सिद्ध करते हैं कि विश्वजित् का फल स्वर्ग है क्योंकि सारे सकाम व्यक्ति इसकी ही कामना करते हैं। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' जैसी स्पष्ट विधि है वैसी 'विश्वजिता यजेत' नहीं क्योंकि इसमें किसी कर्ता का उल्लेख ही नहीं कि अमुक कामना वाला व्यक्ति इस (विश्वजित्-याग) के द्वारा अपूर्व की भावना करे। तब इसका अधिकारी कौन हो ? इसीलिए कुछ फल की कल्पना करनी ही पड़ेगी और उसी फल की कामना रखने वाला व्यक्ति इस याग का अधिकारी बनेगा। जब कल्पना ही पर चलना है तो ऐसा फल क्यों न चुनें जिसके लिए सभी उत्सुक हों। वह फल है स्वर्ग, जिसकी अभिलाषा सभी लोग करते हैं। यही है विश्वजित्—न्याय। इसी न्याय से अध्ययन-विधि के फल की कल्पना की जाय कि इसका फल भी स्वर्ग ही है।]

यही कहा भी गया है—'चूँकि दृष्ट फल (अर्थज्ञान) की प्राप्ति विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के बिना भी हो जाती है अतः यह विधि उस (दृष्ट फल) के लिए नहीं है। विश्वजित्-न्याय से, विधि की सामर्थ्य से स्वर्ग की कल्पना करनी चाहिए।' [अध्ययन-विधि में इतनी सामर्थ्य है कि उससे स्वर्ग मिल सकता है अतः उसी फल के लिए अध्ययन-विधि है, अर्थज्ञान-रूपी दृष्ट फल के लिए नहीं। सारांश यह कि अर्थज्ञान विधिसंमत नहीं है, अतः अर्थज्ञान में उपयोगी यह मीमांसाशास्त्र भी विधिसंमत नहीं ही होगा। इसका आरम्भ नहीं ही करना चाहिए। इसे आगे स्पष्ट कर के पूर्वपक्ष का उपसंहार करेंगे।]

एवं च सति वेदमधीत्य स्नायादिति स्मृतिरनुगृहीता भवति। अत्र हि वेदाध्ययनसमावर्तनयोरव्यवधानमवगम्यते। तावके मते त्वधीतेऽपि वेदे धर्मविचाराय गुरुकुले वस्तव्यम्।

तथा सत्यव्यवधानं बाध्येत। तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वाभावात्पाठमात्रेण स्वर्गसिद्धेः समावर्तनशास्त्राच्च धर्मविचारशास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वपक्षसंक्षेपः।

ऐसा होने पर (अध्ययन-विधि को अर्थज्ञान का बोधक न मानने पर) ही, 'वेद का अध्ययन करके स्नान (गार्हस्थ्य का अधिकार प्राप्त कराने वाला स्नान, जिसे समावर्तन भी कहते हैं) करे' इस स्मृति-वाक्य का पालन होता है। इस विधि (वेदमधीत्य स्नायात्) से वेदाध्ययन तथा समावर्तन के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहे, ऐसा मालूम पड़ता है। किन्तु यदि आपका मत मानें [कि अध्ययन का तात्पर्य अर्थज्ञान भी है] तब तो वेद का अध्ययन करने के बाद भी धर्म का विचार करने के लिए गुरुकुल में ही रहना आवश्यक हो जायगा तथा [वेदाध्ययन और समावर्तन के बीच में] व्यवधान नहीं पड़े, इसका उल्लघंन करना पड़ेगा। विचारशास्त्र (मीमांसा-शास्त्र) विधिसंमत नहीं है क्योंकि पाठ करने से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है (अर्थज्ञान से नहीं); इसके अतिरिक्त 'समावर्तन-शास्त्र' (वेदमधीत्य स्नायात्) के पालन के लिए भी धर्मविचार-शास्त्र का आरंभ नहीं करना चाहिए। यही पूर्वपक्ष का सारांश है।

(४. सिद्धान्तपक्ष—शास्त्रारंभ करना सर्वथा उचित है)

सिद्धान्तस्त्वन्यतः प्राप्तत्वादप्राप्तविधित्वं मास्तु। नियमविधित्वपक्षस्तु वज्रहस्तेनापि नापहस्तयितुं पार्यते। तथा हि—'स्वध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायां पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाभाव्यामभिधाभावनां प्रत्याययति। सा ह्यर्थभावना भाव्यमाकाङ्क्षति।

अब सिद्धान्त (Conclusion, Reply) का निरूपण करते हैं—हम स्वीकार करते हैं कि दूसरे स्थानों में भी प्राप्त होने के कारण यह (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) अप्राप्त विधि अर्थात् अपूर्व विधि नहीं है। [अपूर्व-विधि और कहीं से प्रमाणित नहीं होती है। अर्थज्ञान लिखित पाठ से भी संभव है अतः अन्यत्र भी प्राप्ति होती है।] किन्तु इसे नियमविधि मानने का पक्ष तो वज्रहस्त (इन्द्र) के द्वारा भी मिटाया नहीं जा सकता। देखिये—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में विद्यमान तव्य-प्रत्यय उस अभिधा (शाब्दी) भावना की प्रतीति

कराता है जिसका दूसरा नाम 'प्रेरणा' भी है तथा जो पुरुष-प्रवृत्ति के रूप में रहने वाली आर्थी भावना के द्वारा साध्य है। वह आर्थी भावना किसी भाव्य (साध्य, उद्देश्य) की अपेक्षा रखती है। [किसी व्यापार को **भावना** कहते हैं जैसे किसी को प्रेरणा देना या मनुष्यों में प्रवृत्ति उत्पन्न करना। आख्यात (क्रिया) और लिङ् दोनों अंशों के द्वारा भावना का अभिधान होता है जैसे—'यजेत' में लिङ् है, 'जुहोति' में आख्यात है। इस प्रकार तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही भावना अभिहित होती है। भावना के दो भेद हैं—आर्थी और शाब्दी। शब्द की ओर से (जैसे तव्य-प्रत्यय की ओर से) जो प्रेरणात्मक व्यापार उत्पन्न हो उसे **शाब्दी भावना** कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में यह तव्य-प्रत्यय के द्वारा अभिहित होती है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में तव्य प्रत्ययात्मक शब्द सुनने के अनंतर यह प्रतीति होती है कि यह शब्द मुझे अध्ययन-कर्म में प्रेरित कर रहा है। जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति नियमपूर्वक होती है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य है। ऐसे भ्रम में न पड़ें कि संसार की अन्य प्रेरणाओं की तरह यह प्रेरणा भी पुरुष पर निर्भर करती है। वेद अनादि हैं, उसके कर्ता कोई पुरुष नहीं हैं। अतः अभिधा-भावना (या शाब्दी भावना) का आधार तव्य प्रत्यय ही है। वही तव्य प्रत्यय शाब्दी भावना का वाचक है।

अभिधा-भावना के द्वारा अध्ययन की ओर पुरुषों की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। यह प्रवृत्ति ही **आर्थी भावना** कहलाती है क्योंकि प्रवृत्ति पुरुष आदि अर्थों (विषयों) पर निर्भर करती है। आर्थी भावना का वाचक तव्य प्रत्यय ही है क्योंकि अध्ययन मात्र का बोध धातु से ही होता है। यह आर्थी भावना अपने भाव्य की आकांक्षा करती है कि इसके द्वारा कौन-सी भावना करें (किं भावयेत्) ? उसका साध्य अध्ययन है किन्तु वह आर्थी भावना के द्वारा भावित नहीं हो सकता। इसे ही स्पष्ट करते हैं।]

न तावत्समानपदोपात्तमध्ययनं भाव्यत्वेन परिरमते। अध्ययनशब्दार्थस्य स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वस्य वाङ्मनसव्यापारस्य क्लेशार्थकस्य भाव्यत्वासंभवात्। नापि समानवाक्योपात्तः स्वाध्यायः। स्वाध्यायशब्दार्थस्य वर्णराशेर्नित्यत्वेन विभुत्वेन चोत्पत्त्यादीनां चतुर्णां क्रियाफलानामसंभवात्।

चूँकि अध्ययन का उपादान उस एक ही पद (अध्येतव्यः) में हुआ है [जिसमें आर्थी भावना के तव्य प्रत्यय का भी स्थान है] अतः इस आधार पर यह नहीं हो सकता कि आर्थी भावना का भाव्य (साध्य) अध्ययन ही

है। कारण यह है कि 'अध्ययन' शब्द का अर्थ है प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट (स्वाधीन) उच्चारण में समर्थ होना; इसमें वाणी और मन का व्यापार होता है तथा बड़ा क्लेश भी होता है अतः यह (अध्ययन) भाव्य नहीं हो सकता। [पुरुष की प्रवृत्ति का भाव्य वही हो सकता है जो सुखकर हो। सुखद वस्तु की ओर ही प्रवृत्ति हो सकती है। अतः कष्टप्रद अध्ययन की भावना तो की ही नहीं जा सकती।]

उसी वाक्य में आनेवाला 'स्वाध्याय' भी भाव्य नहीं हो सकता क्योंकि 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ है वर्णराशि (वेद), जो नित्य (Eternal) तथा विभु (All-pervading) है,—उस पर उत्पत्ति आदि चार क्रियाफलों (कर्मों) में से कोई भी आरोपित नहीं किया जा सकता। [उसी **शब्द** 'अध्येतव्यः' में स्थित अध्ययन जब भाव्य नहीं बन सका तब उसी **वाक्य** में स्थित 'स्वाध्याय' शब्द को भाव्य बनाने के सपने आने लगे। किन्तु फिर मुँह की खानी पड़ी। स्वाध्याय (वेदराशि) साध्य नहीं हो सकता। क्रिया के चार फल हैं—उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार। कुम्भकार की क्रिया से घट की **उत्पत्ति** होती है। गमन-क्रिया से देशान्तर की **प्राप्ति** होती है। पाकक्रिया से तण्डुल में **विकार** होता है। वैज्ञानिक क्रियाओं से पेट्रोलियम के दोषों को दूर करके **संस्कार** होता है। प्रस्तुत प्रसंग में अध्ययन में प्रवृत्ति होने से वेदराशि की उत्पत्ति तो होती नहीं क्योंकि वह नित्य है। उसकी प्राप्ति भी नहीं होगी क्योंकि वह सर्वत्र है। प्राप्ति उसी की होती है जो अप्राप्त है, किन्तु वेद तो विभु है, कहाँ नहीं है ? इसका विकार भी नहीं होता क्योंकि ऐसा मानना अनित्यत्व को निमन्त्रण दे देना है। अध्ययन-प्रवृत्ति के द्वारा वेद का संस्कार भी नहीं होता। संस्कार का अर्थ है किसी दूसरे कार्य की योग्यता प्राप्त करना। नित्य स्फोटरूप शब्द-ब्रह्म में कोई अपूर्व गुण नहीं दिया जा सकता। फलतः 'स्वाध्यायः' भी भाव्य नहीं हो सकता। तब भाव्य होगा कौन ? बिना भाव्य के अध्ययन-विधि निरर्थक होने जा रही है। इसीलिए अर्थबोध को भाव्य मानेंगे।]

(४ क. अध्ययन-विधि का लक्ष्य अर्थबोध ही है)

तस्मात्सामर्थ्यप्राप्तोऽवबोधो भाव्यत्वेनावतिष्ठते। अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियत इति न्यायेन दर्शपूर्णमासादिविधयः स्वविषयावबोधमपेक्षमाणाः स्वार्थबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्याऽध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्यावगमयति।

इसलिए [अध्ययन-विधि की] सामर्थ्य से प्राप्त अर्थावबोध ही भाव्य के रूप में अवस्थित हो सकता है। [अर्थ यह निकला कि अध्ययन से अर्थबोध का संपादन करें। स्वर्गादि फल, विश्वजित्-न्याय से अनुगृहीत होने पर भी अदृष्ट होने के कारण मान्य नहीं हैं। दृष्ट फल विद्यमान रहने पर भी अदृष्ट फल की कल्पना करना अनुचित है। यह अपूर्व-विधि नहीं है क्योंकि इसका दृष्टफल (अर्थावबोध) लोकसिद्ध है। अध्ययन के बाद अर्थज्ञान का संपादन करना चाहिए—इस नियम में दृष्टफल न रहने से विवश होकर अवान्तर-अपूर्व (अदृष्ट) की कल्पना की जाती है। इस कल्पना का कारण है सभी यज्ञों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व। अर्थज्ञान के बिना यज्ञ करना असंभव है इसलिए अर्थज्ञान के लिए यह श्रुति अध्ययन-नियम निर्धारित करती है।]

यह एक नियम है कि धनवान्, समर्थ तथा विद्वान् पुरुष यज्ञ करने के अधिकारी हैं (देखिये, मीमांसा-सूत्र, ६।१)। इसलिए दर्श, पूर्णमास आदि विधियाँ अपने-अपने विषय के ज्ञान की अपेक्षा [याजकों से] करती हैं और वे अपने अर्थावबोध के लिए स्वाध्याय का विनियोग भी करती हैं। दूसरी ओर अध्ययन-विधि भी लिखित-पाठ आदि [अर्थावबोध के दूसरे साधनों] को हटाकर यह बतलाती है कि स्वाध्याय का संस्कार (अर्थज्ञानरूपी फल का संपादन) भी अध्ययन से ही होता है। [यहाँ संस्कार-शब्द से गुणाधान या दोषनिवर्तन न समझें। स्वाध्याय से अर्थरूपी फल प्राप्त होता है किन्तु अध्ययन करने पर ही। स्वाध्याय पर इसका कोई असर नहीं पड़ता, व्यक्ति ही प्रभावित होता है।]

तथ च यथा दर्शपूर्णमासादिजन्यं परमापूर्वमवघातादिजन्यस्यावान्तरापूर्वस्य कल्पकं तथा समस्तक्रतुजन्यमपूर्वजातं क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यमपूर्वं कल्पयिष्यति। नियमादृष्टानिष्टौ विधिश्रवणवैफल्यमापद्येत। न च विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनावकल्प्यते। अर्थावबोधे दृष्टे फले सति फलान्तरकल्पनाया अयोगात्। तदुक्तम्—

२. लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ॥ इति।

जिस प्रकार दर्श-पूर्णमास आदि यागों से उत्पन्न होने वाला परम अपूर्व, अवघात आदि अवान्तर कर्मों से उत्पन्न होने वाले अवान्तर अपूर्व की कल्पना

कराता है उसी प्रकार समस्त ऋतुओं से उत्पन्न होने वाला अपूर्व-समूह (पुण्यराशि), ऋतुओं के ज्ञान के साधन-स्वरूप अध्ययन-नियम से उत्पन्न होने वाले अपूर्व की कल्पना करेगा। यदि नियम (अध्ययन-नियम) में अदृष्ट (अपूर्व) आप नहीं मानना चाहते हैं तो विधियों का श्रवण (श्रुति) भी व्यर्थ हो जायगा [क्योंकि विधि और नियम एक प्रकार की ही चीजें हैं। एक में अदृष्ट न मानें और दूसरे में मानें तो यह ठीक नहीं होगा।] विश्वजित्-न्याय से फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए क्योंकि अर्थावबोधरूपी दृष्ट फल के होते हुए किसी दूसरे फल (=अदृष्ट) की कल्पना करना उचित नहीं है। यही कहा गया है—'दृष्ट (Direct) फल के प्राप्य होने पर अदृष्ट (Indirect) फल की कल्पना नहीं हो सकती। अध्ययन-विधि नियम के लिए है [कि अर्थज्ञान के दूसरे उपाय काम में न लायें], अतः यह विधि निरर्थक नहीं हो सकती।'

(४ ख. मीमांसा के विषय में अन्य शंका और उत्तर)

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि साङ्गवेदाध्यायिनः पुरुषस्यार्थावबोधसंभवाद्विचारशास्त्रस्य वैफल्यमिति चेत्—तदसमञ्जसम्। बोधमात्रसंभवेऽपि निर्णयस्य विचाराधीनत्वात्। तद्यथा—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' (तै० ब्रा० ३।१२।५) इत्यत्र घृतेनैव न तैलादिना इत्ययं निर्णयो व्याकरणेन निगमेन निरुक्तेन वा न लभ्यते। विचारशास्त्रेण तु तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषवशादर्थनिर्णयो लभ्यते।

अब यह शंका हो सकती है कि केवल वेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को भले ही अर्थ का ज्ञान न हो सके किन्तु जो व्यक्ति अंगों (शिक्षा, कल्प, छंद, निरुक्त, ज्योतिष और व्याकरण) के साथ वेद का अध्ययन करेंगे उन्हें तो अर्थ-बोध हो सकेगा। अतः विचारशास्त्र (मीमांसा) व्यर्थ है। [उत्तर यह है कि यह कहना बिल्कुल] असंगत है। बोध तो हो जायगा किन्तु जहाँ तक निर्णय का प्रश्न है वह विचारशास्त्र के ही अधीन रहेगा। जैसे—'सिक्त शर्करा (कंकड़ों) का उपधान (स्थापन) करता है' (तै० ब्रा० ३।१२।५) यहाँ पर 'घी से सिक्त, तेल आदि से नहीं' इसका निर्णय व्याकरण, निगम (वैदिक वाक्य का निरुक्त में उद्धरण, जिसमें शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है) या निरुक्त से नहीं किया जा सकता। विचार-शास्त्र की सहायता लेने पर

उस वाक्य के अवशिष्ट अंश—'घी ही तेज है'—इसके द्वारा अर्थ का निर्णय हो जाता है। [किसी भी स्थिति में मीमांसा-शास्त्र की अवहेलना नहीं की जा सकती।]

(५. सिद्धान्तपक्ष का उपसंहार और संगति का निरूपण)

तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वं सिद्धम्। ते च वेदमधीत्य स्नायादिति शास्त्रं गुरुकुलनिवृत्तिपरं व्यवधानप्रतिबन्धकं बाध्येतेति मन्तव्यम्। 'स्नात्वा भुङ्क्ते' इतिवत् पूर्वापरीभावसमानकर्तृकत्वमात्रप्रतिपत्त्या अध्ययनसमावर्तनयोर्नैरन्तर्याप्रतिपत्तेः। तस्माद्विधिसामर्थ्यादेवाधिकरणसहस्रात्मकं पूर्वमीमांसाशास्त्रमारम्भणीयम्।

इदं चाधिकरणं शास्त्रेणोपोद्घातत्वेन संबध्यते। तदाह—

चिन्तां प्रकृतिसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते। इति।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विचार-शास्त्र विधि-संमत है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' (वेदाध्ययन करके समावर्तन संस्कार वाला स्नान करे)—यह स्मृति गुरुकुल से शिष्य को हटने का उपदेश देती है तथा तनिक भी व्यवधान को रोकती है, अतः [विचारशास्त्र का अध्ययन करने से] उक्त स्मृति का उल्लंघन होगा। [वास्तव में उक्त स्मृति से मीमांसाशास्त्र का कोई विरोध नहीं है।] जिस प्रकार 'स्नात्वा भुङ्क्ते' (नहाकर खाता है) इस वाक्य से केवल इतना ही मालूम होता है कि दोनों क्रियाओं में पूर्वापर का संबंध है और दोनों के कर्ता एक ही हैं (यह नहीं ज्ञात होता कि दोनों के बीच कोई व्यवधान नहीं है—नहाकर कोई पूजा-पाठ भी कर सकता है) उसी प्रकार अध्ययन और समावर्तन लगातार (जल्दी से बिना व्यवधान के) हो जायँगे, यह प्रतीति नहीं होती। [जिस वाक्य से जितना अर्थ लगे वहीं तक दौड़ लगानी चाहिए। पाणिनि अपने 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) सूत्र में क्त्वा का विधान करते हुए यह नहीं कहते कि दोनों क्रियाओं के बीच क्त्वा के कारण व्यवधान रहेगा ही नहीं।] इसलिए विधि की सामर्थ्य रहने के कारण ही एक हजार (वस्तुतः ९१५) अधिकरणों के बने हुए पूर्वमीमांसा-शास्त्र का आरंभ करना चाहिए।

संगति—यह अधिकरण उपोद्घात (भूमिका, सहायक) के रूप में शास्त्र से संबद्ध है। यही कहा गया है—'प्रकृत विषय की सिद्धि के लिए जो विचार

किया जाय उसे उपोद्घात कहते हैं।' [इस प्रकार कुमारिल भट्ट के मत से अधिकरण पर विचार हुआ।]

(६. प्रभाकर के मत से उक्त अधिकरण का निरूपण)

इदमेवाधिकरणं गुरुमतमनुसृत्योपन्यस्यते। अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीतेत्यत्राध्यापनं नियोगविषयः प्रतिभासते। नियोगश्च नियोज्यमपेक्षते। कश्चात्र नियोज्य इति चेत्—आचार्यककाम एव। 'संमानन—' (पा० सू० १।३।३६) इत्यादिना पाणिन्यनुशासनेनाचार्यके गम्यमाने नयतेर्धातोरात्मनेपदस्य विधानात्। उपनयने यो नियोज्यः स एवाध्यापनेऽपि। तयोरेकप्रयोजनत्वात्।

अब इसी अधिकरण का निरूपण गुरु (प्रभाकर)-मत से किया जाता है। 'आठ वर्ष के ब्राह्मण के बालक का उपनयन कर दे तथा उसे पढ़ाये' (आश्व० गृ० सू० १।१९।१)—इस प्रकार अध्यापन ही नियोग (विधि) का विषय प्रतीत होता है। नियोग (विधि) नियोज्य (विधि के पात्र) की अपेक्षा रखता है, तो कौन नियोज्य होगा ? [विधि किस के लिए है ?]

[उत्तर होगा कि] जो व्यक्ति आचार्य के कर्म की कामना करता है उसके लिए ही विधि है। पाणिनि के सूत्र 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः (१।३।३६)' के द्वारा आचार्य के कर्म (करण) का अर्थ प्रतीत होने पर नी-धातु से आत्मनेपद होने का विधान किया गया है। [उपपूर्वक नी धातु का अर्थ है विधिपूर्वक अपने पास पहुंचाना। इस प्रापण क्रिया के द्वारा माणवक (शिष्य) में संस्कार उत्पन्न किया जाता है। यह फल चूंकि आचार्य को (कर्ता होने के नाते) नहीं मिलता, संस्कार-रूपी फल माणवक को ही मिलता है अत; 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (पा० सू० १।३।७२) से आत्मनेपद नहीं होता। यही कारण है कि एक दूसरे सूत्र के द्वारा आचार्यकरण अर्थ में नी-धातु को आत्मनेपद सिद्ध किया गया है। आचार्यक = आचार्य का कर्म। वुञ् प्रत्यय (पा० सू० ५।१।१३२)।]

उपनयन में जो व्यक्ति नियोज्य है (आचार्य) वही व्यक्ति अध्यापन में भी नियोज्य बनता है क्योंकि दोनों क्रियाओं का लक्ष्य (प्रयोजन) एक ही है (= आचार्यत्व की प्राप्ति)।

विशेष—यहाँ प्रभाकर-गुरु के विषय में एक किंवदन्ती है कि ये गुरु कैसे हुए। इनके गुरु एक बार एक फक्किका के फेरे में थे—'अत्र तु नोक्तम्। तत्रापि नोक्तम्। अतः पौनरुक्त्यम्।' जब दोनों जगह नहीं ही कहा गया है तब पुनरुक्ति कैसे हुई? प्रभाकर के गुरु संशय में थे। प्रभाकर को स्फुरण हुआ कि पुस्तक में पदच्छेद की गड़बड़ी है। होना यह चाहिए—अत्र तुना उक्तम् (यहाँ 'तु' शब्द के द्वारा कहा गया है)। तत्र अपिना उक्तम् (वहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा कहा गया है)—दोनों जगहों पर कहे जाने के कारण पुनरुक्ति है। गुरु जी इनकी इस प्रतिभा पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें ही गुरु कहने लगे।

मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास देना यहाँ असंगत नहीं होगा। वेदों के कर्मकाण्ड-पक्ष पर विचार करने के उद्देश्य से मीमांसा-सूत्र की रचना **जैमिनि** ने की (३०० वि० पू०)। सभी दर्शन-सूत्रों की अपेक्षा यह ग्रन्थ बड़ा है। प्रायः २६५० सूत्र हैं जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इस पर उपवर्ष और बौधायन ने वृत्तियां लिखी थीं किन्तु वे उद्धरणों में ही उपलब्ध हैं। **शबरस्वामी** (१०० ई० पू०) ने मीमांसासूत्र पर अपना विस्तृत भाष्य लिखा जो शबरभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रों को समझने के लिए यह एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। शबरभाष्य पर विभिन्न टीकायें हुईं जिनसे मीमांसा के तीन संप्रदाय हो गये—भाट्ट, गुरु और मुरारि।

भाट्ट-मत के प्रवर्तक **कुमारिल** (७५० ई०) शंकराचार्य के समकालिक थे। इन्होंने शबरभाष्य पर तीन वृत्तिग्रन्थ लिखे—(१) प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद पर विशाल **श्लोकवार्तिक**, जो कारिकाओं में उक्त पाद की व्याख्या है। (२) प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक गद्य में **तन्त्रवार्तिक** तथा (३) अवशिष्ट अध्यायों की संक्षिप्त टिप्पणी **टुप्टीका** के नाम से की। दोनों वार्तिकों में बौद्धों का पूर्ण समीक्षण किया गया है। कुमारिल के प्रधान शिष्य **मण्डन मिश्र** थे जो शंकराचार्य से परास्त होकर सुरेश्वराचार्य बन गये थे (८०० ई०)। इन्होंने तंत्रवार्तिक की व्याख्या, विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक (पाँच ख्यातियों की व्याख्या) तथा मीमांसा-सूत्रानुक्रमणी लिखी। **वाचस्पति मिश्र** ने (८५०) विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' व्याख्या की। कुमारिल के दूसरे शिष्य **उम्बेक** (जो भवभूति ही समझे जाते हैं) ने भावनाविवेक की टीका तथा श्लोकवार्तिक की प्रथम टीका 'तात्पर्यटीका' नाम से की। अपूर्ण होने के कारण इसकी पूर्ति जयमिश्र ने की थी।

पार्थसारथि मिश्र (११०० ई०) ने भाट्टमत की पुष्टि के लिये तर्करत्न (टुप्टीका की व्याख्या), न्याय-रत्नाकर (श्लोकवार्तिक की टीका), न्यायरत्न-

माला (मीमांसा के सात विषयों पर स्वतंत्र निबन्ध) तथा शास्त्रदीपिका—ये चार ग्रन्थ लिखे। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक **माधवाचार्य** ने श्लोकों में जैमिनीयन्यायमाला तथा उसकी टीका 'विस्तर' के नाम से लिखी। **खण्डदेव मिश्र** (१६५० ई०) ने भाट्टकौस्तुभ, भाट्टदीपिका और भाट्टरहस्य लिखकर नव्य मीमांसा का प्रवर्तन किया। मीमांसान्यायप्रकाश के रचयिता आपदेव इसी समय हुए थे। इनके अतिरिक्त लौगाक्षिभास्कर (१६४० ई०) का अर्थसंग्रह तथा कृष्णयज्वा की मीमांसापरिभाषा—ये भी प्रचलित ग्रन्थ हैं।

गुरुमत का प्रवर्तन **प्रभाकर** ने (७७५ ई०) शबरभाष्य पर बृहती-टीका लिखकर किया। आचार्य शालिकनाथ ने इसपर ऋजुविमला टीका लिखी। भवदेव (नाथ) ने शालिकनाथ (७९० ई०) के मत के स्पष्टीकरण के लिए **नयविवेक** नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें अधिकरणों की व्याख्या है (९०० ई०)। इस ग्रन्थ की चार टीकायें उपलब्ध हैं—रन्तिदेव का विवेकतत्त्व, वरदराज की नयविवेकदीपिका, शंकरमिश्र की पंचिका तथा दामोदर का नयविवेकालंकार। **रामानुजाचार्य** (११५० ई०) का तंत्ररहस्य बहुत सरल तथा स्पष्ट पुस्तक है जो गुरुमत का प्रवेशक है। अपने उदारवादी दृष्टिकोण के कारण भाट्टमत के सामने गुरुमत नहीं ठहर सका।

मुरारि-मत के प्रवर्तक मुरारि मिश्र का नाम गंगेश तथा वर्धमान ने अपने ग्रन्थों में लिया है परन्तु ये अत्यन्त अल्पज्ञात आचार्य हैं। दो पुस्तकें—त्रिपादी-नीतिनयन तथा एकादशाध्यायाधिकरण—इनके नाम से मिली हैं। संभवतः इनका समय १२ वीं शताब्दी में हो। इनके नाम पर लोकोक्ति भी चल पड़ी है—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।

अत एवोक्तं मनुना मुनिना—

३. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनु० २।१४०) इति।

ततश्चाचार्य्यकर्तृकमध्यापनं माणवककर्तृकेनाध्ययनेन विना न सिध्यतीत्यध्यापनविधिप्रयुक्त्यैवाध्ययनानुष्ठानं सेत्स्यति। प्रयोज्यव्यापारमन्तरेण प्रयोजकव्यापारस्यानिर्वाहात्।

इसलिए महर्षि मनु ने कहा है—'जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का उपनयन करके उसे वेदांगों और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता है उसे ही

आचार्य कहते हैं।' (मनुस्मृति २।१४०)। [उपनयन के बाद अध्यापन करने से आचार्य में कुछ अतिशय की उत्पत्ति होती है। यही अतिशय अध्यापक को आचार्य बनाता है। यद्यपि उपनिषदें वेद के अन्तर्गत ही हैं तथापि प्रधानता दिखलाने के लिए उनका निर्देश पृथक् किया गया है। मेधातिथि का कहना है कि उपनिषदें वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। कितने लोग वेदान्त का अर्थ 'वेद के पास होना' कर लेते हैं अतः उनके वेद न होने की भ्रान्ति हो जाती है। यही कारण है कि रहस्य शब्द का भी ग्रहण किया गया है।]

तो, आचार्य का अध्यापन तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक कोई शिष्य अध्ययन न करे। इसलिए अध्यापन-विधि (वेदमध्यापयीत) के प्रयोग से ही अध्ययन के अनुष्ठान की सिद्धि हो जायगी। [अध्ययन के लिए विधि हो या नहीं हो, अध्यापन के लिए तो है। जब तक अध्ययन करने वाला कोई नहीं हो आचार्य अध्यापन क्या करेंगे ? अध्यापन की विधि ही अध्ययन की सिद्धि कर देगी क्योंकि] प्रयोज्य (= शिष्य) के व्यापार के विना प्रयोजक का व्यापार नहीं चल सकता। [अध्यापन-योग्य शिष्य के रहने पर ही अध्यापक की क्रिया चल सकती है।]

तर्हि 'अध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इत्यस्य विधित्वं न सिध्यतीति चेत्—मा सैत्सीत्का नो हानिः? पृथगध्ययनविधेरभ्युपगमे प्रयोजनाभावात्। विधिवाक्यस्य नित्यानुवादत्वेनाप्युपपत्तेः। तस्मादध्ययनविधिमुपजीव्य पूर्वमुपन्यस्तौ पूर्वोत्तरपक्षौ प्रकारान्तरेण प्रदर्शनीयौ।

विचारशास्त्रमवैधत्वेनानारब्धव्यमिति पूर्वपक्षः। वैधत्वेनारब्धव्यमिति राद्धान्तः।

तब यदि यह शंका हो कि 'अध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५)—यह वाक्य विधि के रूप में नहीं सिद्ध होगा, तो मत सिद्ध हो, हमारी हानि इसमें क्या है ? [अध्यापन-विधि के अन्तर्गत ही अध्ययन चला आता है, अतः 'अध्येतव्यः' को तो विधि नहीं कह सकेंगे क्योंकि विधि होने पर इसे विधि की आवश्यक शर्तों की पूर्ति करनी होगी—यह अज्ञातज्ञापक या अप्रवृत्तप्रवर्तक हो, किन्तु अध्ययन का ज्ञान या इसकी प्रवृत्ति पहले ही अध्यापन विधि के द्वारा हो चुकी है। अतः यह वाक्य विधि नहीं है।] अलग से अध्ययन के लिए विधि मानने का कोई प्रयोजन (कारण) नहीं है। कहीं-कहीं विधि-वाक्य (विधायक के रूप में प्रतीत होने वाला वाक्य) नित्य रूप से प्राप्त वस्तु का अनुवाद (आवृत्ति,

पुष्टि) करता है, यह भी देखा जाता है (सम्भवतः 'अध्येतव्यः' भी किसी का अनुवादक ही हो)। इसलिए अध्ययन-विधि को आधार मान कर इसके पहले दिये गये पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष, दोनों को दूसरे प्रकार से प्रदर्शित करना चाहिए।

इसमें पूर्वपक्ष यह रखते हैं कि विचार-शास्त्र विधि-संमत नहीं है, अतः उसका आरंभ नहीं करना चाहिए। उत्तरपक्ष में कहते हैं कि यह शास्त्र विधि-संमत है, अतः उसका आरंभ करें।

(६ क. प्रभाकर के मत से पूर्वपक्ष)

तत्र वैधत्वं वदता वदितव्यं—किमध्यापनविधिर्माणवक-स्यार्थावबोधमपि प्रयुङ्क्ते, किं वा पाठमात्रम् ? नाद्यः, विना-प्यर्थावबोधेनाध्यापनसिद्धेः। न द्वितीयः। पाठमात्रे विचारस्य विषयप्रयोजनयोरसंभवात्। आपाततः प्रतिभातः संदिग्धोऽर्थो विचारशास्त्रस्य विषयो भवति।

[पूर्वपक्षी कहता है कि] जो लोग विचारशास्त्र को वैध (विधिसंमत) मानते हैं वे इसका उत्तर दें—क्या उपर्युक्त अध्यापन-विधि का लक्ष्य (प्रयोग) शिष्य को अर्थ का बोध करा देना भी है या केवल पाठ (अध्ययन) करना भर ही ? [अध्यापन-विधि से जो अध्ययन का अर्थ निकालते हैं उसमें अर्थवोध भी कराते हैं या केवल अध्ययन ?] पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि अर्थावबोध के बिना भी अध्यापन-विधि की सिद्धि हो ही जाती है। [तात्पर्य यह है कि विधि अध्यापन से संबंध रखती है, अध्ययन से नहीं। चूँकि अध्यापन अध्ययन के बिना नहीं हो सकता, इसीलिए विवश होकर हमें अध्ययन का आक्षेप (Inclusion) करना पड़ता है। जितनी वस्तु के बिना किसी के काम में हानि हो रही हो उतनी वस्तु का ही आक्षेप किया जाता है, अधिक का नहीं। अध्ययन का आक्षेप अनिवार्य था, अर्थावबोध के आक्षेप की आवश्यकता नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि अध्यापनविधि केवल पाठ से संबद्ध है] भी ठीक नहीं क्योंकि जब वेदों का अध्ययन मात्र ही लक्ष्य है तब तो विचारशास्त्र का न कोई विषय ही संभव है और न प्रयोजन ही। विचारशास्त्र का विषय वही हो सकता है जो ऊपर से प्रतीत होनेवाला किन्तु संदिग्ध हो।

तथा सति यत्रार्थावगतिरेव नास्ति तत्र सन्देहस्य का कथा ? विचारफलस्य निर्णयस्य प्रत्याशा दूरत एव। तथा च

यदसंदिग्धमप्रयोजनं, न च तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः। यथा समनस्केन्द्रियसंनिकृष्टः स्पष्टालोकमध्यमध्यासीनो घट इति न्यायेन विषयप्रयोजनयोरसंभवेन विचारशास्त्रमनारभ्यमिति पूर्वः पक्षः।

ऐसा होने पर, जहाँ अर्थ का अवबोध ही नहीं होता वहाँ सन्देह का प्रश्न भी नहीं उठता। विचार का फल जो निर्णय के रूप में है उसकी प्रत्याशा तो और भी दूर है। इसके साथ-साथ, जिस वस्तु में कोई सन्देह नहीं हो या जिसका कोई प्रयोजन नहीं रहे, वैसी वस्तु को प्रतिपादित करने की इच्छा समीक्षकों में नहीं हुआ करती। [जिस विषय का निर्णय पहले से हो उसका प्रतिपादन करना व्यर्थ है। सन्देह होने पर ही वस्तु प्रतिपाद्य होती है। सन्देह रहने पर भी यदि प्रतिपादन का कोई प्रयोजन न हो तो उसका प्रतिपादन व्यर्थ ही है। इस प्रकार सन्देह और प्रयोजन दोनों के रहने पर ही समीक्षकों में प्रतिपादनेच्छा जागृत होती है। एक के भी अभाव में इच्छा नहीं होगी, दोनों का अभाव रहने पर तो कहना ही क्या ?] उदाहरण के लिए, मनः-संयुक्त इन्द्रिय के साथ संबद्ध तथा स्पष्ट आलोक में अवस्थित घट [प्रतिपादन का विषय नहीं बन सकता क्योंकि यह असंदिग्ध तो है ही, इसके प्रतिपादन का कोई प्रयोजन भी नहीं।] इस नियम से, चूँकि विचारशास्त्र के विषय और प्रयोजन दोनों ही संभव नहीं हैं, अतः इसका आरंभ नहीं करना चाहिए। यह पूर्व-पक्ष हुआ।

(६ ख. प्रभाकर-मत से सिद्धान्तपक्ष)

अध्यापनविधिनाऽर्थावबोधो मा प्रयोजि। तथापि साङ्ग-वेदाध्यायिनो गृहीतपदपदार्थसंगतिकस्य पुरुषस्य पौरुषेयेष्विव प्रबन्धेष्वाम्नायेऽप्यर्थावबोधः प्राप्नोत्येव। ननु यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यत्र प्रतीयमानोऽप्यर्थो न विवक्ष्यते। 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इति भोजनप्रतिषेधस्य मातृवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्। तथाम्नायार्थस्याविवक्षायां विषयाद्यभावदोषः प्राचीनः प्रादुःष्यात् इति चेत्— मैवं वोचः। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यसंभवात्।

हमें स्वीकार है कि अध्यापन-विधि से अर्थावबोध का तात्पर्य (प्रयोग) नहीं निकल सकता। फिर भी जो व्यक्ति अंगों के साथ वेद का अध्ययन करेगा,

वह पद और पदार्थ की संगति (संबन्ध) का ग्रहण तो करेगा ही। जैसे पुरुष के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों में [अर्थ का बोध होता है] वैसे ही व्यक्ति को आम्नाय (वेद) में भी अर्थ-बोध की प्राप्ति होगी ही। [विधि न रहने पर भी बोधकत्व-शक्ति के स्वभाव से ही अर्थबोध हो जायगा।]

अब शंका हो सकती है कि जैसे 'इस वाक्य में प्रतीत होनेवाले (विष-भोजन रूपी) अर्थ की विवक्षा नहीं है क्योंकि माता के वाक्य का तात्पर्य है 'उसके घर पर भोजन मत करना'—इस तरह का प्रतिषेध करना [माता चाहती है]; ठीक उसी तरह कहीं वेद का अक्षरार्थ उसके वास्तविक अभिप्राय (विवक्षा) को प्रकट न कर पाये तो पहले जिस तरह विषयाभाव और प्रयोजनाभाव आपत्तियाँ लगाई गई थीं वे पुनः इसे दूषित कर देंगी। [वेद को समझने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा और न यह विचार का विषय ही रह सकता।]

हमारा उत्तर है कि ऐसा मत कहो। दृष्टान्त और प्रस्तुत प्रसंग में विषमता संभव है। (दोनों समान नहीं हैं कि एक दूसरे की सहायता कर सकें।)

विशेष—किसी माता ने अपने पुत्र को शत्रु के घर पर न खाने का उपदेश दिया किन्तु उसमें व्यंजना-वृत्ति का आश्रय लिया—'विष खा लो, परन्तु उसके घर भोजन मत करो।' माता अपने पुत्र को विष खाने के लिए कभी प्रवृत्त नहीं कर सकती, अतः विषभोजन का विधान रूपी अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, प्रत्युत माता उसे शत्रु के घर पर न खाने का प्रतिषेधात्मक उपदेश ही देती है। यही अर्थ विवक्षित है। काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास में मीमांसाओं के द्वारा व्यंजनावृत्ति के प्रश्न पर विचार किये जाने के सिलसिले में यह उदाहरण दिया गया है। तो, इसी आधार पर शंका करने वाले कहते हैं कि हो सकता है वेद का शब्दार्थ हमने कुछ किया और विवक्षित अर्थ उससे भिन्न हो। वैसी अवस्था में तो वेदार्थ जानना, न जानना बराबर हो गया। परन्तु शंका करने वाले भ्रम में हैं। उपर्युक्त दृष्टान्त से प्रस्तुत प्रसंग का सम्बन्ध है ही नहीं। इसे आगे स्पष्ट करते हैं।

विषभोजनवाक्यस्याप्तप्रणीतत्वेन मुख्यार्थपरिग्रहे बाधः स्यादिति विवक्षा नाश्रीयते। अपौरुषेये तु वेदे प्रतीयमानोऽर्थः कुतो न विवक्ष्यते। विवक्षिते च वेदार्थे यत्र यत्र पुरुषस्य संदेहः स सर्वोऽपि विचारशास्त्रस्य विषयो भविष्यति। तन्निर्णयश्च प्रयोजनम्। तस्माद्ध्यापनविधिप्रयुक्तेनाध्ययनेनावगम्य-

मानस्यार्थस्य विचारार्हत्वाद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वेन विचारशास्त्रमारम्भणीयमिति राद्धान्तसंग्रहः ।

उपर्युक्त दृष्टान्त में, विष-भोजन का वाक्य चूँकि आप्त (प्रामाणिक, यहाँ पर माता ही है) व्यक्ति के द्वारा उच्चारित है और यदि इसका मुख्यार्थ ग्रहण करेंगे तो इसका विरोध (बाध Preclusion) होगा। यही कारण है कि [माता की] विवक्षा [मुख्यार्थ-प्रकाशन की है यह] नहीं मानते [और हमें दूसरे व्यंग्यार्थ के अन्वेषण में चलना पड़ता है]। किन्तु वेद तो अपौरुषेय है अतः उसमें प्रतीत होने वाला अर्थ (वाच्यार्थ) क्यों नहीं विवक्षित होगा ? [वाच्यार्थ ही वेद का विवक्षित अर्थ है।] इस विवक्षित (अभीष्ट Intended) वेदार्थ में पुरुष को जहाँ-जहाँ संदेह उत्पन्न होगा वह सारा-का-सारा विचारशास्त्र का ही विषय हो जायगा। उसका निर्णय करना ही विचारशास्त्र का **प्रयोजन** है। [फिर आप कैसे कहेंगे कि विचारशास्त्र का न विषय है न प्रयोजन ?]

इस तरह अध्यापन-विधि के द्वारा प्रयुक्त अध्ययन से जो अर्थ अवगत होता है वह विचार के योग्य है इसलिए विचार-शास्त्र विधिसंमत है। अतः इसका आरंभ करना चाहिए। यही सिद्धान्त का संग्रह हुआ। (राद्धान्त = सिद्धान्त। राध् + क्त = राद्ध = सिद्ध।)

(७. वेदों को पौरुषेय मानने वाले पूर्वपक्ष का निरूपण)

स्यादेतत्। वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते ? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। अथ मन्येथाः 'अपौरुषेया वेदाः, संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्' इति। तदेतन्मन्दम्। विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किं च किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरणगोचरकर्तृकत्वं वा ? न प्रथमः कल्पः। परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेरभ्युपगमात्।

अच्छा, ऐसा होगा। वेद को अपौरुषेय आप लोग कैसे कहते हैं ? जब कि इसका प्रतिपादन करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं ? आप (सिद्धान्ती) लोग कह सकते हैं—

'वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि संप्रदाय (tradition, परंपरा) अविच्छिन्न रहने पर भी इनके कर्ता का स्मरण नहीं किया जा सकता जैसे आत्मा।'

[अभिप्राय यह है—जहाँ ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त में ग्रन्थकार ने कर्ता के रूप में अपने नाम का उल्लेख किया है, उसमें तो कोई विवाद ही नहीं—वह तो पौरुषेय है ही। जैसे—महाभाष्य, प्रदीप, रघुवंश, श्लोकवार्तिक आदि। जहाँ पर ग्रन्थकार से आरंभ करके अविच्छिन्न संप्रदाय के द्वारा गुरुपरंपरा से कर्त्ता का स्मरण किया जाता है वहाँ भी विवाद नहीं होता जैसे—पाणिनि, पतंजलि आदि ऋषियों के नाम व्याकरण, योगादि सूत्रग्रंथों के कर्ता के रूप में लिये जाते हैं। ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में कहीं भी कर्ता के रूप में अपना नामोल्लेख नहीं किया तथा विच्छिन्न संप्रदाय होने के कारण कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जा रहा है वहाँ पर पौरुषेयत्व में संदेह हो सकता है। किन्तु जहाँ संप्रदाय अविच्छिन्न (लगातार) रहने पर भी कर्ता का स्मरण न करें तब तो स्मरणाभाव का कारण कर्ता का न होना ही है, इस तरह वेद को अपौरुषेय सिद्ध करते हैं।]

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] आपका यह कहना कोई दम नहीं रखता (तर्क दुर्बल है)। कारण यह है कि हेतु का विशेषण (संप्रदायाविच्छेदे सति = संप्रदाय के अविच्छिन्न रहने पर भी) जो आपने दिया है वह असिद्ध है। जो लोग वेद को पौरुषेय मानते हैं वे लोग प्रलयकाल में संप्रदाय का विच्छिन्न होना भी स्वीकार करते हैं। इसके अलावे, आप यह तो बतलावें कि 'कर्ता का स्मरण नहीं किया जाता' इसका क्या अर्थ है—क्या उसका कर्ता प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता या स्मरण का विषय (गोचर) नहीं होता ?

पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि उसके कर्ता परमेश्वर की सिद्धि प्रमाणजन्य ज्ञान (प्रमिति) से होती है। [वेद में कई वाक्य हैं जो ईश्वर की सिद्धि करते हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः' (बृ० उ० २।४।१०), 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (ऋ० १०।९०।९), 'इदं सर्वमसृजत ऋचो-यजूंषि सामानि' (बृ० उ० १।२।५)। इन सभी श्रुतियों में ईश्वर वेद के कर्ता उद्घोषित किये गये हैं अतः उसकी सिद्धि के लिए आगम प्रमाण तो है ही।]

न द्वितीयः। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा ? नाद्यः। 'यो धर्मशीलो जितमानरोषः' इत्यादिषु मुक्तकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसंभवाच्च। वेदवाक्यानि

पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यवत् । वेदवाक्यान्याप्त-प्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति ।

दूसरा विकल्प [कि वेद का कर्ता स्मरण का विषय नहीं बनता] भी ठीक नहीं क्योंकि यह निम्नलिखित विकल्पों को सह नहीं सकता । वे ये हैं—क्या एक के द्वारा स्मरण करना अभिप्रेत है या सबों के द्वारा ? पहला पक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से 'यो धर्मशील: जितमानरोष:' (जो धार्मिक है तथा मान, रोष को जीत चुका है)—इत्यादि मुक्तक (फुटकर) श्लोकों में भी अपौरुषेयत्व की प्राप्ति हो जायगी । [कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्तकों का भी रचयिता होता है, भले ही परंपरा याद न करे । 'उपमा कालिदासस्य' आदि मुक्तक इसी तरह के हैं । रचयिता के समकालिक लोग तो उसे याद करते ही होंगे । संभव है कितने लोगों को अभी भी मालूम हो, परन्तु कुछ लोगों को तो मालूम नहीं ही है । अत: कुछ लोगों के द्वारा कर्ता का स्मरण न किये जाने से वेद को अपौरुषेय नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा करने से इन सुभाषित मुक्तकों को भी अपौरुषेय मानना पड़ेगा, जब कि इनके रचयिता कोई पुरुष अवश्य थे ।] दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि वेद के कर्ता का स्मरण कोई भी नहीं कर रहा है—यह तो सर्वज्ञ के अलावे और कोई जान ही नहीं सकता । [संसार में सर्वज्ञ कोई भी नहीं है, अत: विवश होकर वेदों को पौरुषेय ही स्वीकार करना पड़ेगा ।]

यही नहीं, वेदों को पौरुषेय मानने के लिए प्रमाण भी है—

(१) वेद के वाक्य पौरुषेय हैं,
क्योंकि ये वाक्य हैं, जैसे कालिदासादि के वाक्य ।

(२) वेद के वाक्य आप्त (यथार्थवक्ता) के द्वारा रचे गये हैं,
क्योंकि ये प्रामाणिक वाक्य हैं, जैसे मनु आदि के वाक्य ।

ननु—

४. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥

(श्लो० वा० ७।३६६)

इत्यनुमानं प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत्—तदपि न प्रमाण-कोटिं प्रवेष्टुमीष्टे ।

५. भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनं यथा ॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् ।

अब प्रश्न हो सकता है कि 'वेदका संपूर्ण अध्ययन पहले से गुरु के अध्ययन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि वेदाध्ययन दोनोंही दशाओं में एक ही रहता है, [जैसे पहले का अध्ययन] वैसे ही आज का अध्ययन [इससे परंपरा की अविच्छिन्नता मालूम पड़ती है]'—श्लोकवार्तिक में दिये गये इस अनुमान की, जिसमें पूर्वपक्षी के विरुद्ध साध्य को सिद्ध करने की सामर्थ्य है, प्रबलता होगी । [मीमांसक लोग कहते हैं कि वेद का अध्ययन शिष्य गुरु से करता है, उसके पूर्व भी तो गुरु ने अध्ययन किया था । यह क्रम चलता ही रहा है । कोई अध्ययन ऐसा नहीं जो गुर्वध्ययन के बिना ही हुआ हो । यदि पौरुषेय-पक्ष स्वीकार करते हैं तो वेद के रचयिता पुरुष के द्वारा किया गया वेदाध्ययन तो बिना गुर्वध्ययन के ही सिद्ध होगा जो असंगत है । अतः हमें वेदों को अपौरुषेय ही मानना पड़ेगा क्योंकि सारे अध्ययन गुर्वध्ययन के बाद होते हैं । इस अनुमान से पूर्वपक्षी की बातों का खंडन होता है अतः यह 'प्रतिसाधन' (प्रतिकूल सिद्धि करने वाला) अनुमान है ।]

यह प्रश्न प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता क्योंकि निम्न रूप से प्रतीत होने वाले अनुमान से इस अनुमान में कोई अन्तर नहीं (दोनों का योगक्षेम अर्थात् जीवन एक ही तरह का है)—'महाभारत का सारा अध्ययन गुरु के अध्ययन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि महाभारत का अध्ययन है, जैसा पहले वैसा ही आज का अध्ययन'—[उक्त अनुमान की तुलना में ही यह अनुमान दिया गया है तो क्या महाभारत को भी आप अपौरुषेय ही मान लेंगे ? पूर्वपक्षी कहते हैं कि वास्तव में दोनों अनुमान आभासमात्र हैं क्योंकि दोनों में ही हेतु अप्रयोजक है । 'जो-जो अध्ययन है वह सब गुर्वध्ययन के बाद ही होगा'—इस नियम की स्थापना में कोई हेतु नहीं दिखलाई पड़ता । लिखित पाठ करने या पहले-पहल प्रकाशित करने में तो गुर्वध्ययन की अपेक्षा नहीं ही रहती हैं ।] अतः श्लोकवार्तिक में दिया गया अनुमान हमारी बात के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकता ।]

ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते—
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ।*

---

* तुलनीय—कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नाराहणं विभुम् ।
कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत् ॥ (वि० पु० ३।४।५)

इत्यादाविति चेत्—तदसारम् ।

—'ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(ऋ० १०।९०।९)'

इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकताप्रतिपादनात् ।

अब आप कह सकते हैं कि वहाँ (महाभारत में) व्यास का स्मरण कर्ता के रूप में किया जाता है जैसे इस श्लोक में—'पुण्डरीकाक्ष (नारायण के अवतार व्यास) के अलावे महाभारत का रचयिता कौन हो सकता है ?' इस उक्ति में भी कोई दम नहीं । पुरुष-सूक्त (ऋ० १०।९०) में भी तो वेद के सकर्तृक होने का प्रतिपादन किया गया है—'''ऋग्वेद, सामवेद उत्पन्न हुए, उससे छन्द भी निकले तथा यजुर्वेद भी उससे उत्पन्न हुआ ।' (ऋ० १०।९०।९) । [यदि महाभारत के रचयिता का स्मरण किया जाता है तो वेद के रचयिता भी तो प्रतिपादित ही हैं ।]

(७ क. पौरुषेयसिद्धि का दूसरा रूप)

किं चानित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवत् । नन्विदमनुमानं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्—तदतिफल्गु । लूनपुनर्जातकेशकुन्दादाविव प्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वेन बाधकत्वाभावात् ।

[पूर्वपक्षी नैयायिक आगे कहते हैं कि] इसके अतिरिक्त भी, 'शब्द अनित्य है क्योंकि सामान्य से युक्त होने पर हम लोगों के बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य है, जैसे घट ।' [शब्द में शब्दत्व है तथा उसके द्वारा व्याप्य कत्व, खत्व आदि जातियाँ भी हैं । वेदों को अपौरुषेय मानने के लिए उन्हें नित्य मानना जरूरी है जैसा कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते भी हैं । किन्तु पूर्वपक्ष से नैयायिक शब्दों को अनित्य मानकर वेद की पौरुषेयता सिद्ध करेंगे । यह अनुमान उसी के प्रसंग में दिया गया है ।]

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि यह अनुमान तो 'यह वही गकार है'—इस तरह की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) के प्रमाण से खण्डित हो जायगा । [प्रत्यभिज्ञा एक तरह का प्रत्यक्ष है जिसमें इन्द्रियों की सहायता से संस्कार के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है । 'यह वही गकार है' कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि

गकार अनित्य नहीं है। यदि उसकी सत्ता नहीं है तो कुछ देर के बाद भो कैसे प्रतीत हुआ ?]

[नैयायिक कहते हैं कि] यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है; जैसे काट देने पर फिर जनमने वाले केश में या टूट जाने पर फिर खिलने वाले कुन्द के फूल में प्रत्यभिज्ञा समानता के कारण विषय का ग्रहण कर लेती है [कि यह वही केश या कुन्द-पुष्प है—यद्यपि केश या फूल वही नहीं किन्तु वस्तु की समानता से प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही यहाँ भी प्रत्यभिज्ञा हुई], अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह बाधक नहीं बन सकती।

नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासंभवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्य स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसंभवात्। तस्माद्वेदस्यापौरुषेयत्ववाचोयुक्तिर्न युक्तेति चेत्— ।

अब कोई यह पूछ सकता है कि परमेश्वर के पास तालु आदि उच्चारण-स्थान नहीं हैं इसलिए वे वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते। फिर वेदों को उनके द्वारा रचित आप कैसे मानते हैं ? यह प्रश्न उचित नहीं है। यद्यपि परमेश्वर स्वभावतः शरीररहित है' किन्तु वे भक्तों पर कृपा करने के लिए अपनी लीला से विग्रह (शरीर, इन्द्रिय आदि) धारण कर सकते हैं। इस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानने के तर्क (वाचोयुक्ति) असंगत हैं।

(८. वेद अपौरुषेय हैं—सिद्धान्त-पक्ष)

तत्र समाधानमभिधीयते। किमिदं पौरुषेयत्वं सिसाधयिषितम्? पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं यथास्मदादिभिरहरहरुच्चार्यमाणस्य वेदस्य? प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय रचितत्वं वा यथास्मदादिभिरेव निबध्यमानस्य प्रबन्धस्य? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः।

अब हम सबों का समाधान करते हैं। यह पौरुषेयत्व सिद्ध करने की जो इच्छा करते हैं वह पौरुषेयत्व है क्या चीज ? जैसे हम लोग प्रतिदिन वेद का उच्चारण करते हैं क्या उसी प्रकार पुरुष से केवल उत्पन्न होना ही पौरुषेयत्व है ? अथवा जैसे हमलोग प्रबन्ध की रचना करते हैं उसी तरह दूसरे प्रमाणों से विषय का ग्रहण करके (तथ्य-संग्रह करके) उसके प्रकाशन के लिए रचना करना ही पौरुषेयत्व है ? यदि पहला पक्ष स्वीकार करते हैं तो हमें भी कोई

आपत्ति नहीं [क्योंकि इस दशा में पौरुषेयत्व स्वीकार करते हुए भी हमारे स्वर-में-स्वर मिलाकर यह स्वीकार करते ही हैं कि वेद ईश्वर की रचना नहीं है। जैसे वेदों का हमलोग उच्चारण करते हैं वैसे ही ईश्वर ने भी किया था। इसका अर्थ है कि वेद पहले से थे, ईश्वर ने केवल उच्चारण किया।]

द्वितीये किमनुमानबलात्तत्साधनमागमबलाद्वा ? नाद्यः। मालतीमाधवादिवाक्येषु सव्यभिचारत्वात्। अथ प्रमाणत्वे सतीति विशिष्यत इति चेत्—तदपि न विपश्चितो मनसि वैशद्यमापद्यते। प्रमाणान्तरागोचरार्थप्रतिपादकं हि वाक्यं वेदवाक्यम्। तत्प्रमाणान्तरगोचरार्थप्रतिपादकमिति साध्यमाने मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्।

दूसरे विकल्प को लेने पर क्या उक्त तथ्य की सिद्धि आप अनुमान के बल से करते हैं या आगम (शब्द) प्रमाण के बल से ? अनुमान-प्रमाण के बल से तो नहीं कर सकते क्योंकि वैसी दशा में मालतीमाधव (भवभूति-रचित एक नाटक) आदि ग्रन्थों के वाक्यों में इसका व्यभिचार होगा। [यदि प्रमाणान्तर से अर्थों का संग्रह करके ईश्वर ने वेद की रचना की है तो मालतीमाधव के कपोलकल्पित वाक्यों को प्रामाणिक मानना पड़ेगा। यहाँ पर सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है। ऊपर जो अनुमान पूर्वपक्षियों ने दिया है कि वेदवाक्य वाक्य होने के नाते आप्त पुरुष के रचित हैं जैसे मनु आदि के वाक्य,—इसमें वाक्यत्व हेतु है, पौरुषेयत्व साध्य है और पौरुषेयत्व का प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ है प्रमाणान्तर से वस्तु का ग्रहण करके उसकी अभिव्यक्ति के लिए रचना करना। मालती-माधव में कथावस्तु काल्पनिक होने के कारण प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं की गई है। इस प्रकार मालतीमाधव में साध्य का अभाव है फिर भी वाक्यत्व की वृत्ति हो जाती है। अतः 'वाक्यत्व' हेतु सव्यभिचार है, असत् है।]

अब यदि 'प्रमाण होने पर' (=प्रामाणिक वाक्य होने के कारण—पूरा हेतु) ऐसा विशेषण लगा दें तो भी यह विद्वानों के मन को संतुष्ट नहीं ही कर सकता। [मालतीमाधव के उपर्युक्त दोष—व्यभिचार—की निवृत्ति के लिए यह विशेषण लगाया गया है। उपर्युक्त रीति से मालतीमाधव के वाक्यों को वाक्य भले ही कह सकते हैं किन्तु जब 'प्रामाणिक वाक्य' ऐसा नियम लगा देंगे तो मालतीमाधव में व्यभिचार नहीं हो सकेगा। पर यह भी ठीक नहीं है]। कारण यह है कि वेद के वाक्यों का सर्वमान्य लक्षण है कि जो वाक्य दूसरे किसी भी प्रमाण से न प्रतीत होने वाले विषयों का प्रतिपादन करे वही वेद-

वाक्य है। अब यदि आप उपर्युक्त रीति से इसे अन्य प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होने वाले विषय का प्रतिपादक सिद्ध करने लगें तो वैसा ही व्याघात (आत्मविरोध Self-contradiction) होगा जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है।

(८ क. पौरुषेयत्व का दूसरे प्रकार से खण्डन)

किं च परमेश्वरस्य लीलाविग्रहपरिग्रहाभ्युपगमेऽप्यतीन्द्रियार्थदर्शनं न संजाघटीति। देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्रहणोपायाभावात्। न च तच्चक्षुरादिकमेव तादृक्प्रतीतिजननक्षममिति मन्तव्यम्। दृष्टानुसारेणैव कल्पनाया आश्रयणीयत्वात्। तदुक्तं गुरुभिः सर्वज्ञनिराकरणवेलायाम्—

९. यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥ इति।

यदि आप (पूर्वपक्षी) लोगों के अनुसार यह भी मान लें कि परमेश्वर अपनी लीला से विग्रह धारण करते हैं तो भी इसका समाधान नहीं ही होता है कि वे अतीन्द्रिय वस्तुओं को कैसे देखते होंगे? देश, काल और स्वभाव से जो वस्तुएँ इन्द्रियों से असंबद्ध (विप्रकृष्ट) हैं उनके ग्रहण का परमेश्वर के पास कोई उपाय तो नहीं है। [देशान्तर या लोकान्तर में विद्यमान वस्तु देश से विप्रकृष्ट होती है, भूत या भविष्यत् की वस्तु काल से विप्रकृष्ट होती है। कितनी चीजें स्वभाव से इन्द्रियासंबद्ध हैं जैसे—आँख से रस और गन्ध का ग्रहण। सभी इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं जिन्हें स्वभाव कहते हैं। नाक से गंध ही ले सकते हैं रूप नहीं इत्यादि।]

आप ऐसा नहीं कह सकते कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही [ईश्वर को विप्रकृष्ट वस्तुओं की भी] वैसी प्रतीति कराने में समर्थ हैं। कल्पना भी देखी हुई वस्तुओं के आधार पर की जाती है, [बे-ठिकाने की नहीं।] सर्वज्ञ का निराकरण (ईश्वर-खण्डन) के अवसर पर प्रभाकर-गुरु ने कहा है—'जहाँ भी हम अतिशय (विशेष प्रकार की सामर्थ्य) देखते हैं वहाँ वह (सामर्थ्य) अपने विषयों (जैसे चक्षु के लिए रूप) का बिना उल्लंघन किये ही हुए देखी जाती है। [स्वविषय का अतिक्रमण बिना किये हुए ही वह सामर्थ्य] दूरस्थ वस्तुओं या सूक्ष्म वस्तुओं का ग्रहण करा पाती है। [किन्तु इसका यह अर्थ] कभी नहीं है कि रूप के विषय में श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति देखी जाय।' [किसी व्यक्ति में अधिक शक्ति होने पर यह हो सकता है वह दूर की या सूक्ष्म वस्तुओं को देख

ले किन्तु देश, काल या स्वभाव के कारण जो वस्तु इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हो गई है उसे तो नहीं देख सकता—वह व्यक्ति कान से देख नहीं सकता, नाक से सुन नहीं सकता। यही बात ईश्वर के साथ है। अतः जब आपका पुरुष (ईश्वर) ही सत्तावान् नहीं तो वेद क्या पौरुषेय होंगे—ईश्वर वेद की रचना क्या कर सकेगा ?]

अत एव नागमबलात्तत्साधनम्। यथा 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इति पाणिन्यनुशासने जाग्रत्यपि काठक-कालाप-तैत्तिरीयमित्यादिसमाख्याध्ययनसंप्रदायप्रवर्तकविषयत्वेनोपपद्यते, तद्वदत्रापि संप्रदायप्रवर्तकविषयत्वेनाप्युपपद्यते।

इसीलिए (सर्वज्ञ की सिद्धि न हो सकने के कारण) आगम के बल से भी आपके साध्य (पौरुषेयत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती। [युक्ति का विरोध होने के कारण ईश्वर के सर्वज्ञत्व की सिद्धि आगम में कही गई बातों से नहीं हो सकती।] जैसे पाणिनि के 'तेन प्रोक्तम्' (उन्होंने प्रवचन किया ४।३।१०१) इस सूत्र के रहने पर भी काठक (कठ ऋषि के द्वारा प्रोक्त विषयों को पढ़ने वाले), कालाप (कलापी ऋषि के प्रोक्त विषयों को पढ़ने वाले), तैत्तिरीय (तित्तिरि······) आदि यौगिक शब्दों की सिद्धि उस ऋषि के द्वारा संचालित अध्ययन के सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में होती है, उसी प्रकार यहाँ भी (वेद उस से उत्पन्न हुए, आदि वाक्यों में भी) सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में सिद्धि की जा सकती है।

विशेष—पाणिनि जी के 'तेन प्रोक्तम्' इस अर्थांश-विधायक सूत्र से विभिन्न प्रत्ययों को लगाकर उक्त यौगिक शब्दों की सिद्धि होती है—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। यद्यपि कठादि ऋषियों ने अपनी-अपनी शाखा की रचना नहीं की फिर भी वे एक-एक अध्ययन-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में शाखाओं में विख्यात हैं। जैसे कठादि के आधार पर शाखाओं में समाख्या (यौगिक शब्द) बनती है वैसे ही ईश्वर में सर्वज्ञत्व का निरूपण करते हैं। वास्तव में इसका अर्थ निर्माण करना नहीं है, बल्कि अपनी या दूसरे की कृति को अध्यापन के द्वारा प्रकाश में लाना ही प्रवचन है। इस प्रकार कठादि नाम (समाख्या) अपनी मुख्य वृत्ति के ही साथ विराजमान हैं। अब शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिकों पर दण्ड-प्रहार करने जा रहे हैं।

(९. शब्दानित्यत्व का खण्डन)

न चानुमानबलाच्छब्दस्यानित्यत्वसिद्धिः। प्रत्यभिज्ञाविरोधात्। न चासत्यप्येकत्वे सामान्यनिबन्धनं तदिति सांप्रतम्। सामान्यनिबन्धनत्वमस्य बलवद्बाधकोपनिपातादास्थीयते क्वचिद् व्यभिचारदर्शनाद्वा। तत्र क्वचिद् व्यभिचारदर्शने तदुत्प्रेक्षायामुक्तं स्वतः प्रामाण्यवादिभि :—

> ७. उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम्।
> स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति ॥ इति।

अनुमान के बल से आप शब्द को अनित्य सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसा करने से प्रत्यभिज्ञा का विरोध होगा। (ऊपर देखें, अनु० ७ क)। यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि ['यह वही गकार है'—इस प्रत्यभिज्ञा में] यद्यपि वर्णों की एकता नहीं है पर वे वर्णों के तादात्म्य के कारण एक समान जैसा लगते हैं, [उनमें गत्व-जाति है।] 'वर्णों का एक समान लगना' आप क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? क्या दृढतर प्रमाण से वर्णव्यक्तियों (Individual letters) में भेद पड़ने के कारण बाधा से डरते हैं या कहीं पर व्यभिचार (नियम का उल्लंघन) होने से डरते हैं ? [यह वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है जब पहले से देखी हुई और अब देखी गई वस्तु में एकता हो—यह नियम है। कहीं-कहीं एकता न रहने पर प्रत्यभिज्ञा किसी तरह हो जाती है जैसे कटे हुए केशों के पुनः उगने पर कहते हैं कि ये वही केश हैं। यहाँ तो उस नियम का उल्लंघन अर्थात् व्यभिचार हुआ। अब इन विकल्पों की खबर लेते हुए पहले दूसरे विकल्पों की ही आलोचना करते हैं।]

यदि कहीं-कहीं व्यभिचार-दर्शन के कारण [उपर्युक्त सामान्य-निबन्धनत्व = वर्णों के तादात्म्य के कारण उनकी समता की प्रतीति]* माननी पड़ रही हो

---

* कटे हुए केशों के फिर से उग जाने के दृष्टान्त में केश-व्यक्ति का भेद प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ता है। विवश होकर नियम-व्यभिचार स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे किसी भी दृष्टान्त में बाधा देने वाला कोई नहीं है। इसलिए इस स्थान पर व्यभिचार देखकर मानना पड़ता है कि एकत्व न रहने पर भी सादृश्य के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी के उत्तर में मीमांसक सातवें श्लोक का उपन्यास करते हैं।

तो इस पर वेदों को अपने आप में प्रामाणिक मानने वाले (मीमांसक) कहते हैं—'जो (मूर्ख) अपनी मूर्खता के कारण अज्ञात बाधाओं की भी संभावना (उत्प्रेक्षा) करता रहता है, वह संशयात्मा संसार के सभी व्यवहारों में मारा ही जाता है ॥ ७ ॥' [कोई रेलगाड़ी पर बैठते हुए सोचने लगे कि कहीं दुर्घटना न हो जाय, या कहीं खाते समय सोचे कि वह मर न जाय—अभिप्राय यह है कि बाधा अज्ञात रहने पर भी उसी की चिन्ता में डूब जाय तो ऐसे व्यक्ति संसार में कोई काम नहीं कर सकते। प्रत्यभिज्ञा वाले भी यदि किसी दृष्टान्त में व्यभिचार होने के भय से अपने सिद्धान्तों का परिमार्जन करने लगते हैं तो इन्हें दार्शनिक कहने का दंभ नहीं करना चाहिए।]

नन्विदं प्रत्यभिज्ञानं गत्वादिजातिविषयं न गादिव्यक्तिविषयम्। तासां प्रतिपुरुषं भेदोपलम्भात्। अन्यथा 'सोमशर्माधीते' इति विभागो न स्यादिति चेत्—तदपि शोभां न बिभर्ति। गादिव्यक्तिभेदे प्रमाणाभावेन गत्वादिजातिविषयकल्पनायां प्रमाणाभावात्। यथा गोत्वमजानत एकमेव भिन्नदेशपरिमाणसंस्थानव्यक्त्युपधानवशाद्भिन्नदेशमिवाल्पमिव महदिव दीर्घमिव वामनमिव प्रथते तथा गव्यक्तिमजानत एकापि व्यञ्जकभेदात् तत्तद्धर्मानुबन्धिनी प्रतिभासते।

[अब बलवान् बाधक वाले पक्ष पर प्रहार करते हैं—ये नैयायिक लोग पूछ सकते हैं कि] यह प्रत्यभिज्ञान (यह वही गकार है जिसे पहले देखा था, इस रूप में होने वाली प्रत्यभिज्ञा) गत्व आदि जाति से संबद्ध है, न कि ग आदि व्यक्ति से। कारण यह है कि प्रत्येक पुरुष के उच्चारणों की भिन्नता के कारण ग आदि वर्णों के व्यक्ति-रूप (Individual forms) भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'सोमशर्मा पढ़ रहे हैं' ऐसे व्यवहार में विभाग नहीं हो सकता। [यदि सभी गकार-व्यक्ति एक ही होते तो जिस ग का उच्चारण सोमशर्मा ने किया है उसी का दूसरे ने भी किया होगा, तो फिर राम पढ़ता है, हरि पढ़ता है—इस तरह के विभागों का प्रयोग क्यों करते हैं? सोमशर्मा पढ़ता है, देवदत्त नहीं—यह व्यवहार तो निराधार ही हो जायगा।]

यह प्रश्न भी करना नैयायिकों को शोभा नहीं देता। गकार के व्यक्ति की भिन्नता मानने के लिए जिस प्रकार कोई प्रमाण नहीं है उसी प्रकार गत्व आदि जाति के विषय में कल्पना करने का भी कोई आधार नहीं है। [अभिप्राय

है कि 'यह वही गकार है' इस तरह ग के व्यक्ति के विषय में जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसे गत्वजाति से संबद्ध मानने का कोई प्रमाण नहीं।] जैसे (नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार) गोत्व-जाति को नहीं जानने वाले पुरुष को एक ही गोत्व-जाति विभिन्न देश, परिमाण या संस्थान (आकृति) की व्यक्तिगत उपाधियों (Individual conditions) के चलते विभिन्न रूपों में प्रतीति होती है कि यह (गोत्व) दूसरे स्थान का है, यहाँ छोटा है, यहाँ बड़ा है, यहाँ लम्बा है, यहाँ नाटा है आदि। [कहने का अर्थ है कि गोत्व-जाति का वास्तविक रूप न जानने वाले लोग एक ही गोत्व-जाति को व्यक्तियों की विलक्षणता देखकर विभिन्न प्रकार की समझते हैं—इस स्थान का गोत्व उस स्थान के गोत्व से अलग है, यहाँ का गोत्व लम्बा है, बौना है आदि। इनसे गोत्व में भेद नहीं पड़ता, यह तो नैयायिक भी मानते ही हैं। यही बात गकारादि व्यक्तियों के विषय में है। इसे देखें।] उसी प्रकार गकार-व्यक्ति को नहीं जानने वाले पुरुष को, व्यक्त करने वाले साधनों (व्यंजकों) के भेद के कारण, गो-व्यक्ति एक होने पर भी, विभिन्न धर्मों से संबद्ध प्रतीत होती है।

विशेष—नाभि-प्रदेश से प्रयत्न के द्वारा प्रेरित वायु मुख में आती है तथा जिह्वा, अग्रभाग आदि का स्पर्श करती हुई कण्ठ आदि स्थानों में आघात करके ध्वनि उत्पन्न करती है। यह ध्वनि ही अपने अन्तर में विराजमान गकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति करती है। यही ध्वनि **नाद** कहलाती है। इस व्यंजक ध्वनि में रहने वाले अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्मों के सम्बन्ध के कारण ग-व्यक्ति एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इसी कारण 'सोमशर्मा पढ़ते हैं' ऐसा विभाग किया जाता है। शब्द को नित्य मीमांसक भी मानते हैं। शब्द सदा से रहता है, किन्तु वायु की तरंगों से अभिव्यक्त किये जाने की अपेक्षा रखता है। देखिये, जैमिनिसूत्र (१।१।१७)।

एतेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदसिद्धिरिति प्रत्युक्तम्। तत्र किं स्वाभाविको विरुद्धधर्माध्यासो भेदसाधकत्वेनाभिमतः प्रातीतिको वा? प्रथमेऽसिद्धिः। अपरथा स्वाभाविकभेदाभ्युपगमे 'दश गकारानुदचारयच्चैत्रः' इति प्रतिपत्तिः स्यान्न तु दशकृत्वो गकार इति।

इस प्रकार [ग-व्यक्तियों में] विरोधी धर्मों (जैसे अल्पत्व, महत्त्व) का आरोपण होने से [विभिन्न गकारों में] भेद की सिद्धि होती है, यह प्रत्युत्तर दिया गया। अब प्रश्न है कि भेद की सिद्धि करने के लिए जो विरुद्ध धर्मों के

मिथ्यारोपण (अध्यास) का सहारा लिया गया है वह वास्तविक है या केवल प्रतीत होता है ? यदि यह (विरुद्ध धर्मों का अध्यास) वास्तविक है तब तो इसकी सिद्धि नहीं होगी [क्योंकि गकारों में स्वभावतः विरुद्ध धर्म है ही नहीं— न कोई ग-शब्द छोटा है न बड़ा ।] नहीं तो, यदि [यह अध्यास वास्तविक होता और] हम स्वाभाविक रूप से भेद की सत्ता मानते तो 'चैत्र ने दस गकारों का उच्चारण किया' ऐसे वाक्य का प्रतिपादन होता न कि 'चैत्र ने गकार का दस बार उच्चारण किया' ऐसे वाक्य का । [वास्तव में गकार का दस बार उच्चारण होता है। अतः गकार पर विरुद्ध धर्मों का आरोपण सत्य नहीं होता ।]

द्वितीये तु न स्वाभाविकभेदसिद्धिः । न हि परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते । मा भून्नभसोऽपि कुम्भाद्युपाधिभेदात्स्वाभाविको भेदः । तत्र व्यावृत्तव्यवहारो नादनिदानः । तदुक्तमाचार्यैः—

८. प्रयोजनं तु यज्जातेस्तद्वर्णादेव लप्स्यते ।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ।। इति ।

तथा च—

९. प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा ।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते ।।

यदि दूसरा विकल्प (विरुद्ध धर्मों का प्रातिभासिक अध्यास) लेते हैं तो स्वाभाविक भेद की सिद्धि ही नहीं होगी । दूसरे स्थानों में वर्तमान उपाधियों के भेद से किसी की स्वाभाविक एकता का विनाश नहीं होता । [यदि किसी की स्वाभाविक एकता का कभी विनाश नहीं होगा तब तो आकाश में घटादि उपाधियों के कारण भेद नहीं ही हो सकेगा, आप घटाकाशादि की सिद्धि कैसे करेंगे ?] ठीक है, आकाश में भी घटादि उपाधियों के कारण स्वाभाविक भेद नहीं ही उत्पन्न होता है । [जो लोग 'औपाधिक भेद' कहते हैं उनका तात्पर्य है कि उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, न कि उपाधियों के कारण वस्तु में भेद । तब गकार-व्यक्ति के एक होने पर 'इस गकार को सोमशर्मा ने पढ़ा', 'इसे देवदत्त ने पढ़ा'—इस तरह एक दूसरे के विरोधी वाक्यों की प्रतीति कैसे होगी ?] इन एक दूसरों का व्यावर्तन (विरोध) करने वाले वाक्यों का व्यवहार **नाद** (व्यंजक ध्वनि) के कारण है ।

इसे आचार्यों ने कहा भी है—'जिस काम के लिए [नैयायिक लोग] जाति को स्वीकार करते हैं वह काम (प्रयोजन) तो केवल वर्णों से पूर्ण किया जा सकता है। जिस लक्ष्य की प्राप्ति उन्हें व्यक्ति को स्वीकार करने पर होती है उसे हम नादों (व्यंजक ध्वनियों) से सिद्ध कर लेते हैं—अतः गत्वादि-जाति का ज्ञान व्यर्थ है ॥ ८ ॥' [मीमांसक गत्व-**जाति का खंडन** करते हैं क्योंकि गकारादि व्यक्ति एक ही हैं। घटत्वादि जाति को नैयायिक इसलिए स्वीकार करते हैं कि 'यह घट, वह 'घट' आदि प्रतीति हो सके। यह काम हम लोग गकार-व्यक्ति की एकता से ही सिद्ध कर देते हैं। अब बात है कि जोरों से उच्चरित गकार, धीरे से उच्चरित गकार आदि में भेद के लिए तो व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ सकता है ? नहीं, व्यक्तियों की अनेकता की सिद्धि उस विशिष्ट व्यक्ति की व्यंजना करने वाले नादों से ही हो जायगी। इस प्रकार गत्व आदि जाति मानना व्यर्थ है।]

उसी प्रकार—'शब्द में जब निर्बाध प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, तब शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले सारे अनुमानों का यही खण्डन कर देती है ॥ ९ ॥'

(१०. वेद की प्रामाणिकता—निष्कर्ष)

एतेनेदमपास्तं यदवादि वागीश्वरेण मानमनोहरे—'अनित्यः शब्दः, इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्वाच्चक्षूरूपवदिति'। शब्दद्रव्यत्ववादिनं प्रत्यसिद्धेः। ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वाच्च। अश्रावणत्वोपाधिबाधितत्वाच्च। उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्यभावस्य प्रत्यक्षतां महता प्रबन्धेन प्रतिपादयन्निवृत्तः कोलाहलः, उत्पन्नः शब्द इति व्यवहाराचरणे कारणं प्रत्यक्षं शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म।

इस प्रकार के शास्त्रार्थ से, जो वागीश्वर ने मानमनोहर नामक-ग्रन्थ में अनुमान दिया है, उसका भी खण्डन हो गया। [वह अनुमान इस प्रकार है]—'शब्द अनित्य है क्योंकि यह इन्द्रिय (श्रोत्र) के द्वारा ग्रहण करने योग्य विशेष गुण है, जैसे चक्षु (इन्द्रिय) का रूप (गुण)।' शब्द को द्रव्य मानने वाले लोग तो इसे असिद्ध कर देंगे। मीमांसक लोग वर्णात्मक शब्द को द्रव्य मानते हैं। मध्व-मत माननेवाले भी ककारादि को द्रव्य ही कहते हैं। जब शब्द गुण ही नहीं है तो एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विशेष गुण कहाँ से होगा ? इस

तरह शब्द (पक्ष) में हेतु की वृत्ति नहीं होने से यह स्वरूपासिद्ध हेतु हो जायगा। ध्वन्यात्मक शब्द को मीमांसक अनित्य मानते हैं।]

ध्वन्यात्मक शब्द को [अनित्य सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि ऐसा करना] सिद्ध वस्तु को फिर से सिद्ध करना हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह अनुमान (ध्वन्यंश को अनित्य सिद्ध करने वाला अनुमान) 'अश्रावणत्व' उपाधि से बाधित होगा (= व्याप्यत्वासिद्ध हेतु हो जायगा।) [उपाधि के विषय में चार्वाक-दर्शन में काफी प्रकाश डाला गया है। उपर्युक्त अनुमान में हेतु (इन्द्रिय-ग्राह्यविशेषगुणत्व) इतना व्यापक है कि कभी-कभी यह नित्य (साध्य का अभाव) वस्तुओं में, जैसे मीमांसकों के अनुसार नित्य शब्द में भी पाया जाता है अतः अश्रावणत्व उपाधि लगानी पड़ेगी। देखिये—चार्वाकदर्शन। उपाधियुक्त हेतु रहने से दोष होगा।]

[शब्द को अनित्य माननेवाले उदयन का मत—] उदयनाचार्य आश्रय (शब्दाश्रय आकाश) का प्रत्यक्ष न होने पर भी अभाव का प्रत्यक्ष (आश्रय में विद्यमान अभाव का प्रत्यक्ष) बहुत बड़े निबंध के द्वारा प्रतिपादित करके 'कोलाहल समाप्त हो गया', 'हल्ला शुरू हुआ' इस प्रकार के व्यवहारों में शब्द को अनित्य मानने का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण ही है, ऐसा सिद्ध करते हैं। [शब्द की उत्पत्ति और ध्वंस होता है अतः वह अनित्य है। यह हम प्रत्यक्षतः जानते हैं। शब्द के उत्पन्न होने का या शब्द के विनष्ट होने का व्यवहार प्रत्यक्ष ही है। प्रश्न किया जा सकता है कि शब्द का विनाश तो प्रध्वंसाभाव हुआ—उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए तो उसके आश्रय का प्रत्यक्ष करना बहुत आवश्यक है और शब्दाभाव के आश्रय आकाश का प्रत्यक्ष होता नहीं क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। इसका क्या उत्तर है? वायु यद्यपि अचाक्षुष है किन्तु वायु में जो रूपाभाव है उसे तो चाक्षुष (चक्षुर्ग्राह्य) ही देखते हैं। अतः यह कोई नियम नहीं कि अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए अभावाश्रय का प्रत्यक्ष करना जरूरी है। फल यह हुआ कि शब्द की उत्पत्ति और विनाश के आधार पर शब्द को अनित्य सिद्ध करते हैं।]

सोऽपि विरुद्धधर्मसंसर्गस्यौपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तरक्तबलिवेतालसमः। यो हि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः, सोऽपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमात्प्रतिक्षिप्तः। यत्तु युगपदिन्द्रियसंबन्धित्वेन प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यत्वाभावानुमानं तदात्मन्यैकान्तिकमित्यलमतिकलहेन।

ततश्च वेदस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तशङ्काकलङ्काङ्कुरत्वेन स्वतः-सिद्धं धर्मे प्रामाण्यमिति सुस्थितम् ।

शब्द में परस्पर विरुद्ध धर्मों (उत्पत्ति और विनाश) का संसर्ग होना उपाधि पर निर्भर करता है, ऐसा सिद्ध कर सकते हैं अतः उदयन उस वेताल की तरह संतुष्ट हो जायँगे जो रक्त की बलि देखकर प्रसन्न हो जाता है। [शब्द में जो व्यंजक ध्वनि है वह उपाधि के रूप में है जिस पर तारत्व, मंदत्व आदि विरुद्ध धर्म प्रतिभासित होते हैं—भले ही ये धर्म शब्द में वस्तुतः नहीं हैं। उसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश भी उस पर वैसे ही प्रतिभासित होते हैं। 'कोलाहल समाप्त हुआ', 'शब्द उत्पन्न हुआ' इन वाक्यों के व्यवहार इसी आधार पर होते हैं। इन वाक्यों के सिद्ध करने की जो हमारी विधि है, उससे उदयन संतुष्ट हो जायँगे। वे शब्द की नित्यता का खंडन करने को आगे नहीं बढ़ेंगे।]

न्यायभूषण के रचयिता (भासर्वज्ञ, समय—९२५ ई०) ने जो यह कहा है कि शब्द को नित्य मानने पर, या तो सदा सभी शब्दों की उपलब्धि होगी या सदा अनुपलब्धि ही रहेगी ; नाना प्रकार के नित्य शब्द यदि प्रत्येक को व्याप्त करते हैं तो व्यंजक ध्वनि से सभी शब्दों की उपलब्धि होगी और यदि व्याप्त नहीं करते हैं तो व्यंजक ध्वनि रहने पर भी शब्द की उपलब्धि नहीं हो सकेगी)—यह भी खण्डित हो गया है क्योंकि ध्वनि से जिसका जहाँ संस्कार हो जाता है वहाँ उसीकी उपलब्धि होती है [सभी शब्दों की सर्वत्र उपलब्धि या अनुपलब्धि नहीं हो सकती।]

फिर भी कुछ लोग कह सकते हैं कि [शब्दों के व्यापक होने के कारण सभी शब्द] एक ही साथ श्रोत्रेन्द्रिय से संबद्ध हो जायँगे इसलिए संस्कारक (व्यंजक ध्वनि) और संस्कार्य (शब्द) का नियमित संबन्ध नहीं मिल सकता, ऐसा अनुमान होता है। [अनुमान इस रूप में होगा—कोई शब्द किसी निश्चित संस्कारक के द्वारा संस्कृत नहीं होता, क्योंकि दूसरों के साथ भी उसका वही संबन्ध रहता है। किन्तु यहाँ पर हेतु सत् (शुद्ध) नहीं है।] यहाँ आत्मा में अनैकान्तिक (सव्यभिचार) हेतु है—सो, अधिक झगड़ा करना बेकार है। [सभी जीवात्माएँ विभु हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं फिर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष आदि से ज्ञान प्राप्त करने के समय एक ही आत्मा संस्कृत होती है, सभी जीवात्मायें नहीं।]

अतः सारी शंकाओं के कलंकांकुर का नाश हो जाने पर, अपौरुषेय ज्ञान के रूप में, धर्म के विषय में, वेद की प्रामाणिकता अपने आप में ही सिद्ध है—यह निश्चित हुआ।

(११. प्रामाण्यवाद का निरूपण)

स्यादेतत् ।

१०. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः ॥

११. प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

इति वादिविवाददर्शनात्कथंकारं स्वतः धर्मे प्रमाण्यमिति सिद्धवत्कृत्य स्वीक्रियते ?

अस्तु, ऐसा ही हो । परन्तु निम्नलिखित रूप में वादियों को विवाद करते हुए देख कर भी आप वेद को धर्म के विषय में अपने आप में प्रमाण मानते हुए इसे निश्चित-जैसा क्यों समझ रहे हैं ? ''प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को सांख्य लोग स्वतः मानते हैं । नैयायिक लोग दोनों को परतः मानते हैं । बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः कहते हैं जब कि वेदवादी (मीमांसक) लोग प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः मानते हैं ।''

विशेष—यथार्थ अनुभव के रूप में जो प्रमा या प्रमाण होता है उसी में रहनेवाले धर्म को **प्रामाण्य** (या प्रमाणत्व या प्रमात्व) कहते हैं । इसी तरह अयथार्थ अनुभव में रहनेवाले धर्म को **अप्रामाण्य** कहते हैं । अब प्रश्न है कि किसी वस्तु के प्रामाण्य या आप्रामाण्य का कारण क्या है ? कारण खोजने के विषय में विभिन्न दार्शनिक विवाद करते हैं—उनके वाद को ही **प्रामाण्यवाद** के नाम से पुकारते हैं । यह दो प्रकार का हो सकता है । एक तो वह जिसमें कारण को प्रामाण्य का उत्पादक समझें और दूसरा वह जिसमें कारण को इस का ज्ञापक (बतलाने वाला) समझें । इस विवाद का मूल यही है कि कुछ लोग प्रामाण्य का कारण स्वयं (= प्रामाण्य, उसपर आश्रित ज्ञान तथा उसके लिए उपयुक्त कारणसामग्री) को ही समझते हैं जब कि दूसरे लोग इसका कारण किसी अन्य साधन (जैसे स्मृति, अनुमान आदि) को समझते हैं । यही बात अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है । अपने आप में यदि अप्रामाणिकता उत्पन्न या ज्ञात हो तो अप्रामाण्य स्वतः है, अन्यथा परतः है यदि वह किसी दूसरे साधन से उत्पन्न होती है । विभिन्न दार्शनिकों के विवाद इस प्रकार हैं—

(१) सांख्यों के अनुसार, प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य स्वतः ।
(२) नैयायिकों ,, ,, परतः, ,, परतः ।
(३) बौद्धों ,, ,, परतः, ,, स्वतः ।
(४) मीमांसकों ,, ,, स्वतः, ,, परतः ।

प्रमाण्यवाद के प्रश्न पर मीमांसकों का सबसे बड़ा विवाद नैयायिकों के ही साथ है। यद्यपि नैयायिक और मीमांसक अप्रामाण्य के प्रश्न पर एकमत हैं कि यह परतः है पर प्रामाण्य के विषय में दोनों एकान्त-विरोधी हैं।

नैयायिकों का कथन है कि प्रामाण्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब ज्ञान को उत्पन्न करने वाले सभी साधन विद्यमान हों, इन्द्रियाँ ठीक हों आदि। ये सभी साधन बाह्य हैं। विषयेन्द्रियसंनिकर्ष होने पर 'अयं घटः' यह व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। तब 'अहं घटं जानामि' इस रूप में अनुव्यवसाय का जन्म होता है। इसके बाद प्रामाण्य और अप्रामाण्य की स्मृति होती है, तब इस प्रत्यक्षज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है—अन्त में प्रवृत्ति के सफल होने पर ज्ञान को प्रामाणिक कहते हैं। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होने से ये लोग **परतः प्रामाण्यवाद** स्वीकार करते हैं।

इस पर मीमांसक कहते हैं कि उक्त बाह्य साधन वास्तव में उस ज्ञान के सामान्य साधन हैं क्योंकि उनके बिना विश्वास नहीं होगा और इसलिए कोई ज्ञान नहीं होता। नैयायिकों की यह उक्ति कि प्रामाण्य अनुमान से उत्पन्न होता है, भ्रान्त है क्योंकि इससे अनवस्था होगी और सारे व्यवहार निष्फल हो जायँगे! यदि किसी प्रत्यक्ष के समर्थन के लिए अनुमान की आवश्यकता है तो न्याय के नियम के ही अनुसार अनुमान का भी तो समर्थन किसी दूसरे अनुमान से होगा। इस तरह एक प्रत्यक्ष पर अनन्त काल तक अनुमान चलते रहेंगे। इस तरह करने से संसार का काम कैसे चलेगा? मोटर की ध्वनि सुनते ही हम बगल हो जाते हैं। यदि सुनने के बाद अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अनन्त काल तक चलने वाले अनुमानों में डूबे रहेंगे तो डेग-डेग पर दुर्घटना होती रहेगी। यह सच है कि संदिग्ध स्थलों पर प्रामाण्य के लिए हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है किन्तु यहाँ पर अनुमान का काम इतना ही है कि ज्ञान के मार्ग में आने वालो कठिनाइयों को वह दूर कर दे। इनके दूर हो जाने पर ज्ञान अपने आप में सामान्य साधनों (कारण-सामग्री) से उत्पन्न होता है। ज्ञान उत्पन्न होने पर प्रामाण्य की तथा प्रामाण्य में विश्वास की उत्पत्ति भी होती है।

आप्त वाक्यों में भी—चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय, वैदिक या अवैदिक—हमारा विश्वास ऐसे ही उत्पन्न होता है। जब तक सन्देह का कोई कारण न हो, किसी सार्थक वाक्य को सुनकर हम उसमें तुरत विश्वास कर लेते हैं। इसीलिए असंदिग्ध वेद भी स्वतः प्रमाण है। यह अपौरुषेय है। इसकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है, अनुमान से नहीं। हाँ, सन्देह और अविश्वास दूर करने के लिए तर्कों की आवश्यकता तो पड़ती है। सन्देह और अविश्वास दूर हो जाने पर वेद अपने अर्थों की अभिव्यक्ति स्वयं करते हैं तथा अर्थावबोध के साथ-साथ विश्वास (प्रामाण्य) भी चलता रहता है। इसके लिए मीमांसा का एकमात्र कर्तव्य है कि जिन तर्कों के आधार पर वेदों की प्रामाणिकता पर कुठाराघात करने की सम्भावना हो उन सबों का निवारण करे और यही किया भी गया है।

यद्यपि सत्य (प्रामाण्य) स्वयंसिद्ध है अर्थात् जब भी ज्ञान उत्पन्न होता है तो इसके साथ-साथ एक विश्वास भी लगा रहता है कि यह सत्य है, तथापि कभी-कभी संभावना होती है कि कोई दूसरा ज्ञान इसे गलत न सिद्ध कर दे या इसके साधनों को दोषपूर्ण न ठहराये। ऐसी स्थिति में इन दोषपूर्ण साधनों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए अनुमान करते हैं कि यह ज्ञान असत्य (अप्रामाणिक) है। स्पष्ट है कि ज्ञान की अप्रामाणिकता के लिए हमें अनुमान (बाह्य-साधन) पर अवलंबित रहना पड़ता है। इसे ही 'परतः अप्रामाण्य' कहते हैं। फलतः जबः कोई प्रत्यक्ष, अनुमान या कोई दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसे हम अपने आप स्वीकार कर लेते हैं, तर्क नहीं करते जब तक कि किसी विरोधी प्रमाण से उसपर संदेह या अविश्वास करने की समस्या न आ जाये और हम अनुमान से उसका अप्रामाण्य न स्वीकार करें। इसी रूप में हमारा काम चलता है। इस प्रकार मीमांसा के मत का स्पष्टीकरण किया गया है।

(११. क. स्वतःप्रामाण्य का अर्थ—लम्बी आशंका)

किं च किमिदं स्वतः प्रामाण्यं नाम ? किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म ? आहोस्वित् स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम् ? किमुत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? उताहो ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यज्ञानविशेषाश्रितत्वम् ? किं वा ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यज्ञानविशेषाश्रितत्वम् ?

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] अच्छा बतलाइये—इस स्वतः प्रामाण्य का क्या अर्थ है ? क्या प्रामाण्य अपने आप से उत्पन्न होता है ? अथवा अपने आधार-स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न होता है ? क्या अपने आधारभूत ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होता है ? या क्या ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री) से जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें रहता है ? या केवल ज्ञान के साधारण कारणों (सामग्री मात्र) से ही उत्पन्न होने वाले विशेष ज्ञान में रहता है ? [इनमें से कौन-सा अर्थ आप लेंगे—कोई भी ठीक नहीं है ?]

तत्राद्यः सावद्यः । कार्यकारणभावस्य भेदसमानाधिकरणत्वेन एकस्मिन्नसंभवात् । नापि द्वितीयः । गुणस्य सतो ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रतिसमवायिकारणतया द्रव्यत्वापातात् ।

(१) उनमें पहला विकल्प तो दोषपूर्ण है क्योंकि कार्य और कारण के बीच में भेद रहना आवश्यक है, दोनों तत्त्व एक ही में नहीं रह सकते । [प्रामाण्य ही कारण और कार्य दोनों बनकर अपनी उत्पत्ति अपने आप से नहीं कर सकता ।] (२) दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि (यदि ज्ञान से प्रामाण्य उत्पन्न होता है तो] ज्ञान को प्रामाण्य का समवायिकारण मानना पड़ेगा और ज्ञान को, जो गुण है, द्रव्य मानना पड़ेगा । [गुण किसी का समवायिकारण नहीं हो सकता अतः प्रामाण्य (कार्य) के कारणभूत ज्ञान को द्रव्य मानने का प्रसंग आ जायगा ! देखिये—भाषापरिच्छेद, २३—समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम् ।]

नापि तृतीयः प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे वा जन्मायोगात् । स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्योपाधिः । न च तस्योत्पत्तिसंभवः । अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । अत एव न जातेरपि जनिर्युज्यते ।

(३) तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उपाधि के रूप में लें या जाति के रूप में, प्रामाण्य का जन्म होता ही नहीं । [प्रामाण्य का अर्थ है अनेक प्रामाणिक ज्ञानों में रहने वाला एक धर्म । ऐसे धर्म को सामान्य भी कहते हैं । सामान्य के दो भेद हैं—जाति और उपाधि । यदि प्रामाण्य को जाति में लेते हैं तो जाति नित्य होती है, अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति मानना संभव नहीं । अब यदि आप कहें कि प्रत्यक्षत्व आदि के संबन्ध होने से प्रामाण्य जाति नहीं है तब उसे उपाधि मानें । उपाधि के दो भेद हैं—सखण्ड और अखण्ड । यदि प्रामाण्य अखंड उपाधि के रूप में है तो नित्य ही है । यदि वह

सखंड उपाधि के रूप में हो तब तो द्रव्यादि पदार्थों में अन्तर्भूत होकर कहीं नित्य, कहीं अनित्य हो जायगा। जैसे पृथिवीत्व आदि से मिल जाने के कारण शरीरत्व जाति नहीं है, बल्कि उपाधि है। ऐसा होने से 'शरीर में चेष्टा का आश्रय होना ही शरीरत्व है' अर्थात् चेष्टा ही शरीरत्व है। अब चूँकि चेष्टा एक प्रकार की क्रिया है इसलिए शरीरत्व में क्रिया रूपी उपाधि होने के कारण अनित्यता का आरोपण हो जायगा। इसमें प्रामाण्य यथार्थानुभवत्व अर्थात् अनुभव में रहनेवाली यथार्थता है। अनुभव चूँकि स्मृति से भिन्न ज्ञान है इसलिए अनुभव की यथार्थता का अभिप्राय होगा—बाधा (obstruction) का अत्यन्ताभाव। कारण यह है कि बाधित ज्ञान यथार्थ नहीं होता। अतः यहाँ उपाधि है—अनुभवात्मक ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव। अब जब उपाधि को ही प्रामाण्य समझते हैं तब तो उपर्युक्त बाधात्यन्ताभाव को ही प्रामाण्य मानते होंगे। अत्यन्ताभाव भी नित्य ही होता है इसलिए उपाधि के रूप में भी प्रामाण्य को लेने पर इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यही आगे कहते हैं।]

स्मृति के स्वभाव से जो पृथक् हो वैसे ज्ञान की बाधा का अत्यन्ताभाव ही प्रामाण्य या उपाधि है (यदि आप प्रामाण्य को उपाधि मानते हैं)। उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अत्यन्ताभाव को सभी लोग नित्य मानते हैं। इसलिए जाति [के रूप में भी प्रामाण्य को स्वीकार करने पर उस] की उत्पत्ति नहीं हो सकती है [क्योंकि जाति भी नित्य ही होती है।]

नापि चतुर्थः। ज्ञानविशेषो ह्यप्रमा। विशेषसामग्र्यां च सामान्यसामग्री अनुप्रविशति शिंशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री। अपरथा तस्याकस्मिकत्वं प्रसज्येत। तस्मात्परतस्त्वेन स्वीकृताप्रामाण्यं विज्ञानसामान्यसामग्रीजन्याश्रितमित्यतिव्याप्तिरापद्येत।

(४) चौथा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है। अप्रमा (अयथार्थ अनुभव) भी एक विशेष प्रकार का ज्ञान ही है। [वस्तुतः सीपी रहने पर भी दूषित इन्द्रिय के कारण जो रजत की प्रतीति हो जाती है यह भी ज्ञान ही है। यह भी ज्ञान की सामान्य सामग्री (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से ही उत्पन्न होता है।] ज्ञान की सामान्य सामग्री को उसकी विशेष सामग्री (साधनों) में अन्तर्भुक्त कर लिया जाता है। जैसे—वृक्ष की सामग्री (सामान्य साधन) को शिंशपा की सामग्री में ही गिन लेते हैं। [वृक्ष के सामान्य कारण हैं—मिट्टी, जल, हवा, धूप, बीज आदि। एक विशेष वृक्ष शिंशपा है उसमें अन्य कारणों के साथ विशेष प्रकार का (शिंशपा का) बीज भी कारणसामग्री में आता है। यह भी एक प्रकार का बीज

ही है। यदि इसे बीज न मानें] तो शिंशपा वृक्ष की उत्पत्ति बिना बीज के आकस्मिक रूप से होती है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। [फल यह होगा कि] अयथार्थ ज्ञान भी ज्ञान की सामान्य सामग्री से उत्पन्न एक विशेष प्रकार का ज्ञान बन जायगा, जब कि आप (मीमांसक लोग) अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अप्रामाण्य को परतः के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः अतिव्याप्ति-दोष हो जायगा। [प्रामाण्य का लक्षण अप्रामाण्य को भी अपने में समेट लेगा।]

विशेष—अप्रमा एक ज्ञान-विशेष है। विशेष कारणों में सामान्य कारणों का अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य कवि में जो गुण हैं वे विशेष कवि में भी होते ही हैं। अतः ज्ञान-विशेष में ज्ञान-सामान्य आ गया। चौथे विकल्प के अनुसार ज्ञान के सामान्य कारणों से निकले ज्ञानविशेष पर प्रामाण्य आधारित रहता है। तब तो अप्रमा भी प्रामाण्य ही की कोटि में आ गई क्योंकि यह भी ज्ञान के सामान्य कारणों से निकले ज्ञानविशेष पर ही आधारित है, यह सिद्ध किया गया है। पाँचवें विकल्प में 'मात्र' शब्द रख देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। इसे आगे कहते हैं।

पञ्चमविकल्पं विकल्पयामः। किं दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं किं वा दोषाभावासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम्? नाद्यः। दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतः प्रामाण्यवादिभिरुररीकरणात्।

(५) पाँचवें विकल्प के सम्बन्ध में हमें पूछना है कि 'केवल ज्ञान के कारणों से उत्पत्ति होना' इसका अर्थ क्या है—(क) क्या दोषाभाव के साथ ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना या (ख) दोषाभाव से रहित होकर ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना?

(क) पहला विकल्प तो ठीक ही नहीं है क्योंकि दोषाभाव से युक्त ज्ञान के कारणों से उत्पन्न होना ही 'परतः प्रामाण्य' है इसलिए प्रामाण्य को बाह्य साधन से उत्पन्न (परतः) माननेवाले नैयायिकादि इसे तुरत स्वीकार करलेंगे।]

विशेष—चौथे विकल्प में दोष (अतिव्याप्ति) का प्रसंग देखा गया है। अयथार्थ ज्ञान जहाँ होता है उन स्थानों में सामान्य कारणों की अपेक्षा दोषरूपी कारण ही अधिक होता है। इसीलिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग करके व्यावृत्ति (दोषों की) की जाती है। उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान के स्थलों में सामान्य सामग्री की अपेक्षा दोषाभाव-रूपी कारण ही अधिक है। अतः 'मात्र' शब्द से उस दोषाभाव की व्यावृत्ति (Exclusion) करें या नहीं? पहले विकल्प

में दोषाभाव की व्यावृत्ति नहीं करते, दूसरे विकल्प में व्यावृत्ति करते हैं। पहला विकल्प इसलिए उठाया गया कि व्यावृत्ति करने से प्रामाण्य के लक्षण का कोई उदाहरण ही नहीं दिया जा सकता, इसलिए दोषाभाव को हटाना ठीक नहीं है। दूसरे विकल्प के उठाने में कारण है कि यथार्थज्ञान में दोषाभाव कारण के रूप में नहीं रह सकता, उसे हटाने पर भी कोई हानि नहीं है।

नापि द्वितीयः। दोषाभावसहकृतत्वेन सामग्र्यां सहकृतत्वे सिद्धेऽनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकसिद्धतया दोषाभावस्य कारणताया वज्रलेपायमानत्वात्। अभावः कारणमेव न भवतीति चेत्तदा वक्तव्यमभावस्य कार्यत्वमस्ति न वा? यदि नास्ति तदा घटप्रध्वंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यताप्रसङ्गः। अथास्ति, किमपराद्धं कारणत्वेनेति सेयमुभयतस्पाशा रज्जुः।

(ख) दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं। [दोषाभाव को ज्ञान सामग्री से हटा कर नहीं चला जा सकता।] कारण यह है कि दोषाभाव के साथ-साथ ही ज्ञान सामग्री (ज्ञान के कारणों—जैसे इन्द्रिय, प्रकाश आदि) रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है, उसके बिना नहीं (दोषाभाव न रहने पर = दोष रहने पर ज्ञान सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती)—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से हम [ज्ञानोत्पत्ति के लिए] कारण के रूप में दोषाभाव को वज्रलेप (सिमेंट के पलस्तर] की तरह दृढ़ता से स्वीकार करेंगे। अब यदि आप कहें कि हम अभाव को कारण ही नहीं मानते, ऐसा होता ही नहीं तो बतलाइये कि अभाव कार्य हो सकता है या नहीं ?

यदि अभाव कार्य नहीं हो सकता तो घट को नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि घट के प्रध्वंस (जो एक अभाव ही है) की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि अभाव कार्य हो सकता है तो कारण ने आपका क्या बिगाड़ा है कि अभाव को कारण नहीं होने देते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से बाँधनेवाली रस्सी आपके ऊपर है [जो आपको फँसा ही लेगी]।

तदुदितमुदयनेन—

भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मतः।

(न्या० कु० १।१०)

इति। तथा च प्रयोगः—विमतं प्रामाण्यं ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनं कार्यत्वे सति तद्विशेषाश्रितत्वादप्रामाण्यवत्। प्रामाण्यं

परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वादप्रामाण्यवत्। तस्मादुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च परतस्त्वे प्रमाणसंभवात्स्वतः सिद्धं प्रामाण्यमित्येतत्पूतिकुष्माण्डायत इति चेत्—।

इसे उदयन ने भी कहा है—जिस प्रकार भाव कारण होता है उसी प्रकार अभाव भी कार्य की तरह कारण भी हो सकता है (न्यायकुसुमांजलि, १।१०)। [अभाव को स्वरूपहीन होने के कारण समवायि-कारण मत समझिये किन्तु उसे निमित्त-कारण तो मान ही सकते हैं। इसमें कोई भी बाधा नहीं है। इस प्रकार उक्त पाँच प्रकारों में से किसी के द्वारा स्वतःप्रामाण्य की निरुक्ति नहीं हो पाती अतः विवश होकर हमें परतः प्रामाण्य ही स्वीकार करना पड़ता है। अनुमान भी इसके लिए प्रमाण हो सकता है—]

इसके लिए तर्क (Argument) इस रूपमें हो सकता है—'प्रस्तुत विवादग्रस्त प्रामाण्य ज्ञान के सामान्य कारणों के अतिरिक्त किसी दूसरे कारण (दोषाभाव) के अधीन है, क्योंकि यह कार्य होने के साथ-साथ ज्ञानविशेष पर आश्रित है जैसे अप्रामाण्य।' [इस प्रकार **उत्पत्ति** के विषय में प्रामाण्य को परतः सिद्ध करके अब ये नैयायिक **ज्ञप्ति** के विषय में भी इसे परतः सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं—] 'प्रामाण्य को बाह्य साधन (जैसे—अनुमान) से ही जानते भी हैं क्योंकि जिस वस्तु का परिचय (अभ्यास) पहले से नहीं रहता है उसके विषय में संशय उत्पन्न होता है जैसे अप्रामाण्य के विषय में होता है। [अप्रामाण्य को तो मीमांसक भी परतः ही मानते हैं। जैसे किसी अज्ञात मार्ग पर जाते-जाते कोई व्यक्ति जब जल देखता है तब सोचता है कि यह ज्ञान प्रमा है या नहीं—तात्पर्य यह कि संशय में पड़ जाता है। जब पास जाता है तब पहले से उत्पन्न जल-ज्ञान को तब प्रमा कहता है जब उससे सफल प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह पूर्वज्ञान अप्रमा है—इस प्रकार अनुमान से प्रामाण्य का ज्ञान होता है। यदि प्रामाण्य ज्ञान को सामान्य रूप से ज्ञात करानेवाले कारणों से ही ज्ञात हो जाता तो ज्ञानोत्पत्ति के बाद ही आन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान मालूम हो जाता तथा उसीमें रहने वाला प्रामाण्य भी ज्ञात ही हो जाता—संशय उत्पन्न होने का अवकाश ही कहाँ था ?]

पूर्वपक्ष का निष्कर्ष—इसलिए उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों विषयों में परतः प्रामाण्य के ही लिए प्रमाण संभव हैं और स्वतःसिद्ध प्रामाण्य तो मानना पके हुए कुम्हड़े की तरह व्यर्थ (असंभव ?) है।

(१२. स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि—शंका-समाधान)

तदेतदाकाशमुष्टिहननायते । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति निरुक्तिसंभवात् । अस्ति चात्रानुमानम्—विमता प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तजन्या न भवति । अप्रमात्वानधिकरणत्वात् । घटादिप्रमावत् ।

[अब हम समाधान करते हैं—] उपर्युक्त सारे के सारे तर्क आकाश में घूँसा चलाने के बराबर [निष्फल] हैं । जो ज्ञान के सामान्य कारणों (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से उत्पन्न होने के साथ-साथ, उनके अतिरिक्त किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न न हो वही स्वतः प्रामाण्य है—इस प्रकार इसकी निरुक्ति (Etymology) दी जा सकती है । यही नहीं, इसमें अनुमान भी दिया जा सकता है—विवादग्रस्त प्रमा ज्ञान के साधारण कारणों से उत्पन्न होने के साथ-साथ उनके अतिरिक्त किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि यह अप्रमा की तरह की चीज नहीं है, जिस तरह घट आदि प्रमायें हैं । [ज्ञान की सामान्य सामग्री (कारण समूह) से ही प्रमा-रूपी ज्ञानविशेष की उत्पत्ति होती है, न कि उसके अतिरिक्त किसी अधिक गुण से या दोषाभाव से । दोष तो प्रमा का प्रतिबन्धक है—ऐसा हम मानते हैं ।]

न चौदयनमनुमानं परतस्त्वसाधकमिति शङ्कनीयम् । प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रहग्रस्तत्वात् । ज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च । ननु दोषस्याप्रमाहेतुत्वेन तदाभावस्य प्रमां प्रति हेतुत्वं दुर्निवारमिति चेन्न । दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनान्यथासिद्धत्वात् ।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि उदयनाचार्य के द्वारा दिया गया अनुमान प्रामाण्य को परतः सिद्ध कर देगा । उनके अनुमान के विरुद्ध सिद्धि करने वाला (Counter-inference) ग्रह उनके [अनुमान के] पीछे लगा हुआ है—'प्रमा (यथार्थानुभव—यही पक्ष है) दोषों से पृथक् रहने वाले ज्ञान के सामान्य कारणों के अलावे किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वह ज्ञान है जिस

प्रकार अप्रमा।* जब केवल ज्ञान-सामग्री (ज्ञान के सामान्य कारणों) से ही प्रमा की उत्पत्ति हो सकती है तो उनके अतिरिक्त किसी गुण या दोषाभाव को कारण बनाना **कल्पना-गौरव** (अनावश्यक कल्पना करना) नामक दोष का भागी होगा।

अब यदि कोई कहे कि दोष को तो आप (मीमांसक) अप्रमा का कारण मानते हैं तो दोष के अभाव को प्रमा का कारण मानना अनिवार्य है,—तो हम कहेंगे कि ऐसी बात नहीं हो सकती। दोषाभाव केवल अप्रमा के प्रतिबन्धक के रूप में हम मानते हैं, इसकी सिद्धि दूसरे रूप में होती है। [जैसे घट के पूर्व निश्चित रूप से रहने पर भी दण्डत्व या दण्ड के रूप को हम कारण नहीं मान सकते। कारण नहीं रहने पर भी उसकी पूर्ववृत्ति (पहले रहने) का नियम तो रहेगा ही क्योंकि घट का दण्डत्व या दण्डरूप भले ही न हो, दण्ड तो है। दण्ड चूँकि दण्डत्व और दण्ड रूप के बिना रह नहीं सकता अतः इन्हें घट के पूर्व निश्चित रूप से रहना जरूरी है। दण्डत्वादि की सिद्धि दूसरे रूप में होती है (अन्यथासिद्ध) या इन्हें नहीं मानने से घट की सिद्धि नहीं होगी (अन्यथा + असिद्ध)। उसी प्रकार प्रमाज्ञान के पूर्व में नियमतः रहने पर भी दोषाभाव को प्रमाज्ञान का कारण नहीं कह सकते, पर उसे पूर्व में रहना जरूरी है क्योंकि दोष अप्रमा का कारण है, दोष रहने पर प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार जहाँ प्रमा का ज्ञान होता है उन स्थलों में नियमतः पूर्व में रहने-वाला दोषाभाव इतना काम कर देता है कि अप्रमा के ज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाये। प्रमा-ज्ञान के उत्पादन में उसकी कोई उपयोगी क्रिया नहीं होती। इस तरह दोषाभाव प्रमाज्ञान का कारण नहीं, दूसरे रूप में उसकी सिद्धि होती है (अन्यथा-सिद्ध)।]

१२. तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥ इति।

[यदि प्रमाज्ञान के लिए गुणों को कारण के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे तो गुणों को मानना ही व्यर्थ है। इसी के उत्तर में कहते हैं]—इस प्रकार गुणों से दोषों के अभाव का बोध होता है और दोषों के अभाव से [संशय और विपर्यय न हो सकने के कारण] दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों (निश्चित अप्रामाण्य तथा संदिग्ध अप्रामाण्य) की सत्ता नहीं रहती। उसके बाद (अप्रामाण्य के अभाव में) सामान्य (उत्सर्ग) प्रामाण्य का बहिष्कार नहीं

* इस प्रकार उदयन का अनुमान सत्प्रतिपक्ष हेतु से युक्त है।

किया जा सकता [क्योंकि अपवाद न रहने पर उत्सर्ग की ही शक्ति रहती है ।]

विशेष—दूसरी पुस्तकों में—'तेनोत्सर्गो नयोदित.' पाठ है जिसका अर्थ होगा कि अप्रामाण्य का अभाव रहने से उत्सर्ग अर्थात् सामान्य का उदय स्वभावतः (नयेन) ही हो जायगा। इस प्रकार उत्पत्ति-विषयक प्रामाण्य का स्वतःसिद्ध होना प्रमाणित किया गया। अब ज्ञप्ति (ज्ञान) के विषय में भी जो प्रामाण्य होता है उसकी स्वतःसिद्धि प्रमाणित की जाती है।

(१२ क. ज्ञप्ति-विषयक स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि)

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव जायते। न च संशयानुदयप्रसङ्गो बाधक इति युक्तं वक्तुम्। सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात्तदुपपत्तेः। किं च तावकमनुमानं स्वतः प्रमाणं न वा ? आद्येऽनैकान्तिकता। द्वितीये तस्यापि परतः प्रामाण्यमेवं तस्य, तस्यापीत्यनवस्था दुरवस्था स्यात्।

इसी तरह प्रमा की ज्ञप्ति (प्रामाण्य का ज्ञान) भी ज्ञान के बोधक करण से ही उत्पन्न होती है (किन्हीं बाह्य अनुमानादि करणों से नहीं)। ऐसा भी कहना युक्ति-युक्त नहीं है कि संशय नाम की कोई चीज न रहने के कारण ऐसी विचारसरणि रखने पर बाधा पड़ेगी। संशय की सिद्धि वहीं होती है जहाँ यद्यपि ज्ञान (प्रतिभास) को उत्पन्न करने वाले सभी कारण विद्यमान हों, तथापि कुछ प्रतिबन्धक कारणों—जैसे दोष आदि—की भी साथ-साथ ही सत्ता रहे।

अच्छा, अब यह कहें कि आप का (उदयन का) उक्त अनुमान अपने आप में प्रमाण है या नहीं ? यदि स्वतः प्रमाण है तो [आपके द्वारा प्रामाण्य को परतः माने जाने का नियम] व्यभिचरित होगा (एकान्त रूप से प्रतिष्ठित नहीं होगा क्योंकि आप दोनों ओर प्रामाण्य को ले चलेंगे।) अब, यदि स्वतः प्रमाण नहीं मानते हैं तो उसकी सिद्धि के लिए कोई दूसरा प्रमाण देना होगा, फिर उस अनुभव की सिद्धि के लिए भी दूसरा प्रामाण्य होगा—इस प्रकार अनवस्था होगी जिसका निवारण नहीं किया जा सकता। [इस प्रकार हमें स्वतः प्रामाण्य ही सिद्ध मानना पड़ेगा। कोई चीज देखकर हम उसकी प्राप्ति के लिए तुरत दौड़ पड़ते हैं। यह नहीं सोचने लगते कि अनुमानादि से प्रामाण्य

का निश्चय करें। यदि प्रामाण्य को परतः स्वीकार करेंगे तो प्रवृत्ति में शीघ्रता नहीं हो सकेगी।]

(१३. प्रामाण्य का उपयोग प्रवृत्ति में नहीं होता—उदयन)

यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरप्रवृत्तेः प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वाभावमापादयता प्रण्यगादि—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते। तत्प्राचुर्यं चेच्छाप्राचुर्यम्। इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्। तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम्। सोऽपीन्द्रियार्थसंनिकर्षम्। प्रामाण्यग्रहणं तु न क्वचिदुपयुज्यते' इति।

इस प्रसंग में न्यायकुसुमांजलि में (उदयनाचार्य ने, मनुष्यों में शीघ्र तथा प्रचुर रूप से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति (क्रिया) को, प्रामाण्य-निश्चय के अधीन न रहने का प्रतिपादन करते समय, कहा है—'प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा रखती है। यदि प्रचुर रूप में प्रवृत्ति हुई तो समझें कि वहाँ इच्छा ही प्रचुर रूप में हैं। इच्छा उस ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिससे इष्ट वस्तुओं का बोध [इच्छापूर्ति के] साधन के रूप में होता है। यह ज्ञान भी उस लिंग के अनुभव की अपेक्षा करता है जिस (लिंग) के द्वारा, इष्ट वस्तु प्रस्तुत वस्तु की जाति की है, ऐसा बोध होता है। यह अनुभव भी इन्द्रियों और वस्तुओं के संनिकर्ष पर भी निर्भर करता है। प्रामाण्य का ग्रहण करने की आवश्यकता तो कहीं पर है ही नहीं। [प्रामाण्य-ग्रहण करने से प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती।]'

(१३ क. इसका खंडन)

तदपि तस्करस्य पुरस्तात्कक्षे सुवर्णमुपेत्य सर्वाङ्गोद्घाटनमिव प्रतिभाति। यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छां जनयतीत्यत्रैव स्फुट एव प्रामाण्यग्रहणस्योपयोगः। किं च क्वचिदपि चेन्निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः संशयादुपपद्येत, तर्हि सर्वत्र तथाभावसंभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः स्यात्।

जैसे कोई चोर सामने ही अपनी काँख में सोना चुराये और पूछने पर समूचा शरीर झाड़कर दिखला दे उसी तरह आपकी ये बातें भी हैं। क्योंकि इष्ट वस्तु का [इच्छापूर्ति के] साधन के रूप में बोध कराने वाला ज्ञान

प्रमाण्य-रूप में अवगत होता है, वही इच्छा को उत्पन्न करता है– यहीं पर तो प्रामाण्य-ग्रहण की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त, यदि कहीं भी संशय से उत्पन्न निश्चित प्रवृत्ति की सिद्धि हो गई (= संशय से उत्पन्न प्रवृत्ति का एक भी उदाहरण निश्चित कर लिया गया), तो सभी स्थानों पर वैसा ही होने की संभावना होगी एवं प्रामाण्य का निश्चय करना व्यर्थ सिद्ध होगा। [संशय के कारण कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि अनिश्चित वस्तु में सत्ता ही दुर्लभ है।]

तथोक्तम्—अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति। यदि सत्त्वं सुलभं भवेत्तदा प्रामाण्यं दत्तजलाञ्जलिकं भवेदित्यलमतिप्रपञ्चेन। यस्मादुक्तम्—

१३. तस्मात्सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥ इति।

वैसा ही कहा गया है—'अनिश्चित वस्तु की सत्ता ही दुर्लभ होती है।' यदि उसकी सत्ता आसानी से पायी जा सकती तब तो प्रामाण्य नाम की कोई वस्तु ही संसार में नहीं रहे [प्रामाण्य को ही जलांजलि दे दी जाय—स्वतः और परतः का प्रश्न ही समाप्त हो जाय।] अधिक विस्तार करने से कोई लाभ नहीं है। चूँकि कहा गया है—

'इसलिए सद् वस्तु के बोधक के रूप में जो बुद्धि का प्रमाण्य देखा जाता है वह उस दोष-ज्ञान से ही नष्ट हो जाता है जिस दोष-ज्ञान की उत्पत्ति वस्तु की अन्यथा प्रतीति (जैसे सीपी की चाँदी के रूप में प्रतीति) से होती है।' [प्रामाण्य सद्वस्तु का बोध कराता है। किन्तु जब वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में होती है तब उक्त प्रामाण्य का अपवाद हो जाता है क्योंकि ऐसी दशा में अप्रामाण्य हो जाता है। सामान्य रूप से प्रामाण्य की प्रतीति होती है जब कि अपवाद के रूप में अप्रामाण्य आता है।]

(१४. मीमांसा-दर्शन का उपसंहार)

तस्माद्धर्मे स्वतःसिद्धप्रमाणभावे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मके वेदे 'यजेत' इत्यत्र तप्रत्ययः प्रकृत्यर्थोपरक्तां भावनामभिधत्ते—इति सिद्धे व्युत्पत्तिमभ्युपगच्छतामभिहितान्वयवादिनां भट्टाचार्याणां सिद्धान्तः।

यागविषयं नियोगमिति कार्ये व्युत्पत्तिमनुसरतामन्विताभिधानवादिनां प्रभाकरगुरूणां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे जैमिनिदर्शनम् ॥

इसलिए धर्म के विषय में [वेद का] प्रामाण्य अपने आप में सिद्ध है। 'ज्योतिष्टोम के द्वारा स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति यज्ञ करे' इत्यादि विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय से लक्षित वैदिक वाक्यों में 'यजेत' शब्द में वर्तमान 'त' (विधिलिङ्) प्रत्यय प्रकृति (√यज् धातु) के अर्थ (याग) से उपरक्त (सम्बद्ध) भावना का बोध कराता है। ['त' प्रत्यय विधि के अर्थ में आता है। कुमारिल के अनुसार विधि शाब्दी भावना है, यद्यपि आर्थी भावना भी 'त' प्रत्यय से ही प्रकट होती है। 'यजेत' में √यज्-धातु प्रकृति है जिसका अर्थ है याग। उस याग के विषय में जो प्रवृत्ति होती है, उसे ही आर्थी भावना कहते हैं। उक्त अर्थभावना रूपी फल को देने वाली शाब्दी भावना है अर्थात् श्रुति के द्वारा दी गई प्रेरणा ही शब्दभावना है।]

इस प्रकार सिद्ध (शब्दों) में व्युत्पत्ति (अर्थबोध कराने की शक्ति माननेवाले अभिहितान्वयवादी भट्टाचार्यों (कुमारिल के मतानुयायियों) का यह सिद्धान्त है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर-गुरु जो कार्य [में लगे हुए वाक्यों में अन्वित पदों] में व्युत्पत्ति (अर्थबोधिका शक्ति) मानते हैं, उनका सिद्धान्त है कि [यह त-प्रत्यय पूरे वाक्य से सम्बद्ध] याग-विषयक नियोग (आज्ञा) का बोध कराता है। इस प्रकार सब स्पष्ट हुआ। [प्रभाकर गुरु का कहना है कि शक्ति का ग्रहण करानेवाले साधनों में वृद्ध-व्यवहार सर्वोत्तम है। इस वृद्ध-व्यवहार से गो-आदि शब्दों का शक्तिग्रह होता है किन्तु यह कार्य (वाक्य) में अन्वित गो-आदि अर्थों में ही होता है अकेले 'गौः' आदि शब्दों में नहीं। उनके अनुसार पृथक् पदों का कोई अर्थ नहीं। 'गामानय' वाक्य में आनयन-क्रिया से अन्वित (संबद्ध) गौ को देखकर ही शक्तिग्रह (अर्थबोध) होता है। ये विधि को शाब्दी भावना न मानकर नियोग (आज्ञा) मानते हैं। सभी पदों की शक्ति कार्य में अन्वित होने पर ही होती है। यह दशा तो लौकिक वाक्यों की हुई। जो वाक्य वेद में सिद्ध हैं उनमें कार्यांश कहाँ से लायेंगे ? विवश होकर लक्षणा का सर्वत्र आश्रय लेना पड़ेगा।

कुमारिल भट्ट उसे नहीं मानते। पहले तो कार्य में अन्वित होने पर ही शक्तिग्रह होता है, शक्तिग्रह होने पर भी कार्यांश का त्याग ही कर देना पड़ता है। सिद्ध वाक्यों में सर्वत्र लक्षणा का सहारा लेना कठिन भी है। ऐसी बात

भी नहीं कि हमें विवश होकर लक्षणा स्वीकार करनी पड़ेगी। जो लोग लक्षणा को खूब समझते हैं वे भी सिद्धवाक्यों में लक्षणा को अपने मस्तिष्क में नहीं बैठा पायेंगे क्योंकि लक्षणा के जो मुख्यार्थबाध आदि कारण हैं उनका अनुभव नहीं हो सकेगा। अतः प्रभाकर का मत स्वीकार्य नहीं है। शब्दों का पहले अर्थ लग जाता है तब आकांक्षा, योग्यता आदि के बल से उनका अन्वय होता है जिससे वाक्यार्थ-बोध होता है। यह कुमारिल का **अभिहितान्वयवाद** है। प्रभाकर के अनुसार वाक्य में शब्दों का अन्वय होने के बाद उनका पृथक् अभिधान होता है—इसे **अन्विताभिधानवाद** कहते हैं। तदनुसार 'गौः' का अर्थ गोत्व नहीं है बल्कि 'आनयनान्वित-गोत्व' (अर्थात् आनयन-क्रिया से संबद्ध गोत्व) है—वस्तुतः 'गामानय' वाक्य के साथ यह बात है।]

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में जैमिनि-दर्शन समाप्त हुआ।

विशेष—प्रस्तुत स्थान में वेद के चार भागों के नाम लिये गये हैं—विधि, अर्थवाद, मंत्र, नामधेय। अज्ञात वस्तु का बोध करानेवाले वाक्य को **विधि** कहते हैं जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः।' यह वाक्य किसी भी दूसरे प्रमाण से अप्राप्त होम का विधान करता है जिस होम का प्रयोजन है स्वर्ग-प्राप्ति। वाक्यार्थ होगा कि अग्निहोत्र-होम से स्वर्ग की भावना करे। स्तुति या निन्दा करने वाले वाक्य को **अर्थवाद** कहते हैं जैसे—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१)। इस अर्थवाद से वायु देवता की स्तुति होती है तथा—'वायव्यं श्वेतमालभेत' (वहीं)—इस विधि की प्रशंसा की जाती है। 'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१)—यह अर्थवाद रोदन से रजत की उत्पत्ति का बोध कराता है और साथ-साथ 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेध का समर्थन कराते हुए रजत की निन्दा करता है। प्रयोग से समवेत वस्तुओं का बोध करानेवाला वेदभाग **मंत्र** है। जैसे—'स्योनं ते सदनं कृणोमि' (तै० ब्रा० ३।६)। पुरोडाश का आसन (रखने का स्थान) सुखद बनाने का अर्थ है जिसकी अभिव्यक्ति करते हुए यज्ञादि कर्मों में इसका उपयोग बतलाया गया है। अर्थ का स्मरण मंत्रों से ही किया जाता है अतः मंत्रों का संकलन निरर्थक नहीं है। यज्ञविशेष के नामों को **नामधेय** कहते हैं जैसे—'उद्भिदा यजेत' में उद्भिद् एक याग का नाम है।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां जैमिनिदर्शनमवसितम् ॥

(१३) पाणिनि-दर्शनम्

स्फोटात्मकं प्रणववैकृतिरूपमेत—
तत्त्वं समादिशति यच्च जगद्विवर्तम् ।
शब्दार्थबन्धमखिलं किल यद्विधत्ते
वन्दे तदेव पथि पाणिनिशब्दशास्त्रम् ॥—ऋषिः

(१. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन)

नन्वयं प्रकृतिभागोऽयं प्रत्ययभाग इति प्रकृतिप्रत्ययविभागः कथमवगम्यत इति चेत्—पीतपातञ्जलजलानामेतच्चोद्यं चमत्कारं न करोति । व्याकरणशास्त्रस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागप्रतिपादनपरतायाः प्रसिद्धत्वात् ।

'इतना खंड प्रकृति है और इतना खंड प्रत्यय'—इस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय का विभाग कैसे जाना जाय ? [हम उत्तर देंगे कि] जिन लोगों ने पतंजलि के [महाभाष्यरूपी] जल का पान कर लिया है उन्हें यह प्रश्न आश्चर्य में नहीं डालता । यह प्रसिद्ध है कि व्याकरणशास्त्र प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का ही वर्णन करता है ।

विशेष—किसी शब्द का खण्ड दो भागों में किया जाता है—प्रकृति और प्रत्यय । व्याकरण का आरम्भ प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के लिए ही हुआ था जैसा कि आदि वैयाकरण इन्द्र के विषय में कथा है (तै० सं० ६।४।७।३) । पहले वाणी अव्याकृत अर्थात् समुद्रादि की अव्यक्त ध्वनियों की तरह एकात्मक थी । प्रकृति-प्रत्यय, पद-वाक्य आदि के विभाग उसमें नहीं थे । इन्द्र ने देवताओं की प्रार्थना पर इस वाणी को व्याकृति-युक्त किया, टुकड़ों में बाँट दिया । इस तरह 'व्याकरण' शब्द से ही शब्द-व्युत्पादन या प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का अर्थ समझा जाता है । (व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते = प्रकृतिप्रत्ययादिविभागाः कल्प्यन्तेऽनेनेति व्याकरणम् ।)

जिस खंड के बाद प्रत्यय लगाये जाने का विधान किया जाय उसे प्रकृति-खंड कहते हैं जैसे—'रामः' में राम-शब्द प्रकृति है, विसर्ग (या 'सु'—पाणिनि के अनुसार) प्रत्यय है । 'राम' प्रातिपदिक में भी रम् धातु प्रकृति है, 'अ' प्रत्यय । 'गमन' में गम् प्रकृति 'अन' प्रत्यय । यहाँ 'पीतपातञ्जलजल' में रूपक

रखा गया है। पतंजलि के लिखे हुए महाभाष्य को समुद्र मानकर उसके जल का पान करनेवाले = महाभाष्य का सम्यक् अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों (वैयाकरणों) का संकेत किया गया है।

(२. 'अथ शब्दानुशासनम्' का अर्थ)

तथा हि पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्येदमादिमं वाक्यम्— 'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० म० भा० १।१।१) इति। अस्यार्थः—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। अधिकारः प्रस्तावः। प्रारम्भ इति यावत्। शब्दानुशासनशब्देन च पाणिनिप्रणीतं व्याकरणशास्त्रं विवक्ष्यते। शब्दानुशासनमित्येतावत्यभिधीयमाने संदेहः स्यात्। किं शब्दानुशासनं प्रस्तूयते न वेति। तथा मा प्रसाङ्क्षीदित्यथशब्दं प्रायुङ्क्त।

महाभाष्य के रचयिता भगवान् पतजलि का यह पहला वाक्य है—**अथशब्दानुशासनम्** अर्थात् अब (यहाँ से) शब्दों का अनुशासन (Exposition) आरंभ होता है (प० म० भा० १।१।१)।*

इसका अर्थ इस प्रकार है—'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अधिकार का अर्थ है प्रस्तुत करना, या आरंभ करना। 'शब्दानुशासन' शब्द से पाणिनि के द्वारा लिखा हुआ व्याकरणशास्त्र समझा जाता है। यदि केवल 'शब्दानुशासनम्' इतना ही कहते तो संदेह रह ही जाता कि शब्दानुशासन प्रस्तुत किया जा रहा है या नहीं ? ऐसा (ऐसे संदेह का) प्रसंग न उठे इसलिए 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विशेष—अपने प्रथम वाक्य की व्याख्या भाष्यकार स्वयं कर रहे हैं। ऐसा न सोचें कि व्याख्या करने के कारण वह वाक्य किसी दूसरे का लिखा हुआ है। कैयट भी लिखते हैं—स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे। 'अथ' शब्द का प्रयोग यदि न करें तो केवल 'शब्दानुशासनम्' कहना पड़ेगा। ऐसी दशा में वाक्य की पूर्ति नहीं होती, पूर्ति करने के लिए अन्वय के योग्य क्रिया-पद का अध्याहार करना पड़ेगा। अब कौन सी क्रिया आवे ?

---

* भाष्य का लक्षण—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

'प्रस्तूयते' या 'स्तूयते' या क्या ? अथ शब्द का प्रयोग होते ही यह सहल हो जाता है। अथ का अर्थ है प्रारंभ। बस, 'प्रस्तूयते' क्रिया का अध्याहार कर लेंगे। अन्य क्रियाओं का अध्याहार करने से 'अथ' के साथ संगति नहीं बैठती।

अथ शब्दप्रयोगबलेनार्थान्तरव्युदासेन प्रस्तूयत इत्यस्याभिधीयमानत्वात्। अनेन हि वैदिकाः शब्दाः 'शं नो देवीरभिष्टये' (अथर्व सं० १।१, ऋ० सं० १०।९।४) इत्यादयस्तदुपकारिणो लौकिकाः शब्दाः 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिः' इत्यादयश्चानुशिष्यन्ते, व्युत्पाद्य संस्क्रियन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्तया बोध्यन्त इति शब्दानुशासनम्।

'अथ' शब्द का प्रयोग करने से दूसरे अर्थों (जैसे स्तुति करना, वर्णन करना आदि) का निराकरण करके 'प्रस्तुत किया जाता है' ऐसा अर्थ रखते हैं। [यही कारण है कि 'अथ' शब्द आरम्भ में दिया गया है।]

इस प्रकार 'शं नो देवीरभिष्टये' (दिव्य जल हमारा कल्याण करें और इच्छापूर्ति में सहायक हों, अथर्व १।१) इत्यादि वैदिक शब्दों का और [अर्थ-प्रकाशन के माध्यम से उनकी सहायता करने वाले 'गौ, अश्व, पुरुष, शकुनि' आदि लौकिक शब्दों का अनुशासन होता है, व्युत्पत्ति के द्वारा उसका संस्कार होता है, ये प्रकृति और प्रत्यय के रूप में बाँट कर समझे जाते हैं—यही शब्दानुशासन है। [वैदिक शब्दों का अर्थबोध भी लौकिक शब्दों की तरह ही होता है। वहाँ भी पद की शक्ति मानी जाती है—जिस शब्द की शक्ति (सामर्थ्य (Denotation) का ज्ञान लौकिक भाषा में हो गया, उसका ज्ञान वेद में भी हो जायगा। लोक में शब्दशक्ति-बोध कराने के कई उपाय हैं जैसे—वृद्धव्यवहार, व्याकरण, कोश आदि। इन शक्तिग्राहक प्रमाणों के द्वारा कोई व्यक्ति लोक में शब्दशक्ति का बोध कर लेता है तब वेद में भी ऐसा शाब्दबोध हो जाता है। (लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः।) अतः लौकिक शब्दशक्ति की आधारशिला पर वैदिक शब्दशक्ति अवलंबित है। मीमांसक भी वेद में अर्थ मानने के लिए लौकिक वाक्यों की युक्ति देते हैं।]

(२ क. 'शब्दानुशासन' पर विचार-विमर्श)

अत्र केचित्पर्यनुयुञ्जते—अनुशासिक्रियायाः सकर्मकत्वात्कर्मभूतस्य शब्दस्य कर्तृभूतस्याचार्यस्य प्राप्तौ सत्याम् 'उभय-

प्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) इत्यनुशासनबलात् कर्मण्येषा षष्ठी विधातव्या। तथा च 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) इति समासप्रतिषेधसंभवाच्छब्दानुशासनशब्दो न प्रमाणपथमवतरतीति।

यहाँ पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि अनुशासन-क्रिया सकर्मक है, प्रस्तुत शब्द (शब्दानुशासन) में उसका कर्म 'शब्द' है और कर्ता 'आचार्य' (जो अप्रयुक्त है) है। दोनों शब्दों में ['कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) के अनुसार] षष्ठी होने की संभावना हो जाने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू० २।३।६६) के अनुसार यहाँ पर कर्म में ही षष्ठी विहित होनी चाहिए। [इसलिए शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्, यह षष्ठी तत्पुरुष समास होगा।] किन्तु 'कर्मणि च' (पा० सू० २।२।१४) के अनुसार कर्म में षष्ठी होने पर समास नहीं होता, अतः शब्दानुशासन-शब्द किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

विशेष—'अनुशासन' शब्द अनु-पूर्वक √शास् में ल्युट् प्रत्यय करके बनता है। ल्युट् कृत् प्रत्यय है क्योंकि धातु से विहित, अतिङ् है (देखिये—कृदतिङ् ३।१।९३)। किसी धातु में कृत् प्रत्यय होने पर उस क्रिया के कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है। यदि किसी स्थान पर दोनों पहुँच जायँ तो कर्म का पलड़ा भारी रहता है। अनुशासन का कर्म 'शब्द' है अतः षष्ठी तो होगी पर 'कर्मणि च' सूत्र पहले से ही समास न होने देने के लिए तैयार है। 'शब्दानुशासन' यह समस्त (Compound) पद नहीं होगा; हाँ, 'शब्दों का अनुशासन' ऐसा व्यस्त वाक्य हो सकता है। केवल समास नहीं होगा, षष्ठी होने से कौन रोकता है ? यह शंका 'शब्दानुशासन' शब्द के साधुत्व पर ही उठाई गई है।

अत्रायं समाधिरभिधीयते—यस्मिन्कृत्प्रत्यये कर्तृकर्मणोरुभयोः प्राप्तिरस्ति, तत्र कर्मण्येव षष्ठीविभक्तिर्भवति न कर्तरीति बहुव्रीहिविज्ञानबलान्नियम्यते। तद् यथा—आश्चर्यो गवां दोहोऽशिक्षितेन गोपालकेनेति। शब्दानुशासनमित्यत्र तु शब्दानामनुशासनं नार्थानामित्येतावतो विवक्षितस्यार्थस्याचार्यस्य कर्तुरुपादानेन विनापि सुप्रतिपादत्वादाचार्योपादानमकिंचित्करम्।

अब इसका समाधान बतलाते हैं। सूत्र को बहुव्रीहि समास में तोड़ने पर (उभयोः प्राप्तिः यस्मिन्कृत्प्रत्यये स उभयप्राप्तिः) यह अर्थ निकलता है कि जब

कृत् प्रत्यय के होने पर [क्रिया के] कर्ता और कर्म **दोनों का प्रयोग** हो, वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं—यह नियम (Restriction) हुआ। जैसे—**आश्चर्यो गवां दोहः अशिक्षितेन गोपालकेन** (मूर्ख या अनाड़ी ग्वाले के द्वारा गौओं का दुहा जाना आश्चर्यजनक है)। ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र में ऊपर के 'कर्तृकर्मणोः कृति' से 'कृति' शब्द का अनुवर्तन होता है तथा 'उभयप्राप्तौ कृति' ऐसा करके दोनों में विशेष्य-विशेषण-भाव माना जाता है। अर्थ यह हुआ कि जिन कृत्-प्रत्ययों के प्रयोग में कर्ता और कर्म दोनों आ रहे हों वैसी अवस्था में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से कर्ता में होनेवाली षष्ठी न होकर केवल कर्म में ही हो—जब केवल कर्ता का प्रयोग हो तब उसमें षष्ठी होगी। 'दोहः' शब्द दुह् + घञ् करके बना है, दुह् का कर्ता है 'गोपालक' और कर्म है 'गो'। दोनों का प्रयोग एक ही साथ हुआ है अतः कर्ता में षष्ठी न होकर कर्म 'गो' को षष्ठी हुई—गवां दोहः। यह उस सूत्र का अर्थ है।]

'शब्दानुशासन' शब्द में तो 'शब्दों का अनुशासन, अर्थों का नहीं' इतनी ही बात कहने की है, जो कर्ता 'आचार्य' को बिना लाये भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है अतः 'आचार्य' शब्द का लाया जाना कोई विशेष प्रयोजन नहीं रखता।

तस्मादुभयप्राप्तेरभावादुभयप्राप्तौ कर्मणीत्येषा षष्ठी न भवति। किन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठीविभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी भविष्यति। तथा च इध्मप्रव्रश्चन-पलाशशातनादिवत्समासो भविष्यति।

इसलिए दोनों (कर्ता और कर्म) का प्रयोग न होने से इस स्थान पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) से षष्ठी नहीं होती। ['कर्मणि च' (२।२।१४) के द्वारा जो कर्म में षष्ठी का समास-निषेध किया गया है वह 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से होने वाली षष्ठी का ही है। काशिका—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठ्या इदं ग्रहणम् (पृ० १०१)। किसी अन्य सूत्र से यदि कर्म में षष्ठी हो तो उसका समास-निषेध नहीं होता।]

किन्तु यहाँ पर 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) सूत्र से कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म में (एक बार में एक के ही प्रयोग में) षष्ठी-विभक्ति होती है अतः कृत् प्रत्यय के प्रयोग से सम्बद्ध षष्ठी यहाँ होगी। [फल यह निकला कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' से षष्ठी नहीं हुई है कि समास न हो; यहाँ तो 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी हुई है अतः समास होने में कोई बाधा

नहीं।] अत: 'इध्मप्रव्रश्चन' (लकड़ी का चीरना), 'पलाशशातन' (पलाश का काटना) आदि शब्दों की तरह समास होगा। [इध्मस्य प्रव्रश्चनः = इध्मप्रव्रश्चनः। 'इध्म' में कर्मणि षष्ठी है परन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' से हुई है अतः समास हुआ। उसी प्रकार 'शब्दानामनुशासनम् = शब्दानुशासनम्' भी होगा। 'षष्ठी' (पा० सू० २।२।८) पर वार्तिक भी है—कृद्योगा षष्ठी समस्यत इति वाच्यम् अर्थात् 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से होनेवाली षष्ठी विभक्ति से युक्त शब्द का समास दूसरे समर्थ सुबन्त के साथ हो सकता है।]

कर्तर्यपि षष्ठी भवतीति केचिद् ब्रुवते। अत एवोक्तं काशिकावृत्तौ (२।३।६६, पृ० १२२)—केचिदविशेषेणैव विभाषामिच्छन्ति, शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वेति।

अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठी। तत्र किमपि चोद्यं नावतरत्येव। यद्येवं तर्हि शेषलक्षणायाः षष्ठ्याः सर्वत्र सुवचत्वात् षष्ठीसमास-प्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यं प्राप्नुयादिति चेत्—सत्यम्। तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगो वाक्यपदीये हरिणा प्रादर्शि।

कुछ लोग कहते हैं कि कर्त्ता में भी षष्ठी होती है। इसीलिए काशिका-वृत्ति में कहा है—कुछ आचार्य बिना किसी भेद-भाव के यहाँ पर विकल्प चाहते हैं जैसे—शब्दानामनुशासनम् **आचार्येण, आचार्यस्य** वा। ['उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र पर एक वार्तिक है कि यह नियम (कर्म में ही षष्ठी होने का नियम) दो प्रत्ययों—अक (इका) और अ (आ)—के बाद स्त्रीप्रत्यय लगने पर लागू नहीं हो सकता। जैसे—भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्। यहाँ √भिद् + ण्वुल् (अक) + टाप् होने पर 'भेदिका' शब्द बना है; देवदत्त कर्त्ता है, काष्ठ कर्म। दोनों में षष्ठी हो गई है। इसी प्रकार, 'चिकीर्षा देवदत्तस्य काष्ठस्य' इस उदाहरण में √कृ + सन् + अ + टाप् से 'चिकीर्षा' बना और उसके कर्ता, कर्म दोनों में षष्ठी हुई है। स्त्रीलिंग के अन्य प्रत्ययों के साथ षष्ठी होना (कर्तरि षष्ठी होना) वैकल्पिक है—विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः पाणिनिना वा। अब इसके बाद कहा गया है कि कुछ लोग बिना भेद-भाव किये हुए (स्त्रीलिंग आदि का विचार किये ही बिना) वैकल्पिक 'कर्तरि षष्ठी' मानते हैं। उदाहरण ऊपर दिया ही है—शब्दानुशासन०! इसका परिणाम यह हुआ कि 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' का नियम असफल हो गया और इसीलिए 'कर्मणि च' सूत्र समास का निषेध नहीं कर सकता।]

या ऐसा करें कि यहाँ 'शेषे (= षष्ठी शेषे २।३।५०)' सूत्र से षष्ठी मानें [और समास-कार्य करें]। ऐसा करने पर कोई प्रश्न खड़ा नहीं हो सकेगा। अब कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि यदि ऐसा करेंगे तो सभी स्थानों में 'शेषे' सूत्र से होनेवाली षष्ठी ही आसानी से कह दी जायगी और षष्ठी समास का निषेध करने वाले सूत्र (पा० सू० २।२।१० से २।२।१६ तक) निरर्थक हो जायँगे।

ठीक कहते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में दिखलाया है कि इन सूत्रों का उपयोग स्वर (Accent) का विचार करने के समय होता है।

विशेष—स्व और स्वामी का संबंध या ऐसा ही दूसरा संबंध अन्य कारकों में नहीं आ सका है इसलिए वैसी स्थिति में अवशिष्ट संबंधों का निर्देश 'शेष' के द्वारा होता है और उसमें षष्ठी होती है। जैसे—राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। वास्तव में कर्म आदि कारकों में भी कर्मत्व आदि नहीं हो तभी शेष-षष्ठी होती है जैसे—ग्रामस्य गच्छति। इसे ही शास्त्रीय-शब्द में शेषलक्षणा षष्ठी कहते हैं। यहाँ कर्म की विवक्षा ही नहीं है अतः 'उभयप्राप्तौ' वाला नियम लगेगा ही नहीं कि समास का निषेध हो। लेकिन हर जगह 'शेषे' का प्रयोग करने से बड़ी अराजकता छा जायगी। सभी शब्द समास के लिये 'शेषे' के अधिकार में आने लगेंगे तथा समास-निषेधक सूत्रों की पूछ ही नहीं होगी। 'गवां दोहः' में कर्मत्व की विवक्षा नहीं है। ऐसा कहकर 'शेषे षष्ठी' मानते हुए 'गोदोहः' समास बना देंगे तब समास के निषेध का लाभ ही क्या हुआ ?

नहीं, निषेध-सूत्रों की आवश्यकता है और वह है स्वर-विचार में। 'गोदोहः' शब्द में यदि 'षष्ठी शेषे' मान कर समास कर दें तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) सूत्र के अनुसार यह पद अन्तोदात्त हो जायगा और यही होता भी है। उक्त सूत्र का अपवाद सूत्र 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि इसका पूर्वपद 'गो' न तो गति-संज्ञक है और न कारक ही। स्मरणीय है 'गो' यद्यपि कर्मकारक है परन्तु कर्मत्व अविवक्षित (अनीप्सित) होने से उसमें कारकता रही ही नहीं। दूसरे शब्दों में, 'षष्ठी शेषे' से होने वाली षष्ठी में कारक नहीं रहता। सूत्र का अर्थ है गति, कारक या उपपद यदि पूर्वपद में हो तो उत्तर-पद के कृदन्त शब्द में प्रकृतिस्वर होता है। यदि समास का निषेध न करें तो 'गो' शब्द में 'कर्मणि षष्ठी' होने पर भी 'दोह' शब्द के साथ इसका समास हो जायगा। तब पूर्वपद 'गो' कारक हो जायगा (∵ कर्मणि षष्ठी हुई है)। इस दशा में उत्तर-पद 'दोहः' घञ् प्रत्यय से बना है अतः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) के अनुसार यह शब्द

आद्युदात्त होगा। नो समास में—गोदोहः ऐसा हो जायगा जो मध्योदात्त-पद है। लेकिन ऐसा होता नहीं। होता है ऊपर जैसा ही—गोदोहः। यही कारण है कि समास का निषेध करते हैं।

तदाह महोपाध्यायवर्धमानः—

१. लौकिकव्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टतां जनः।
वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्तताम् ॥
२. इति पाणिनिसूत्राणामर्थवत्त्वमसौ यतः।
जनिकर्तुरिति ब्रूते तत्प्रयोजक इत्यपि ॥ इति।

तथा च शब्दानुशासनापरनामधेयं व्याकरणशास्त्रमारब्धं वेदितव्यमिति वाक्यार्थः संपद्यते।

इसे महोपाध्याय वर्धमान कहते हैं—'लौकिक व्यवहार के समय तो लोग अपनी इच्छा से ही काम करें (क्योंकि लौकिक वाक्यों में स्वर का विचार नहीं होता)। किन्तु वैदिक शब्दों के प्रयोग में विशेष विधि के अनुसार चलें ॥ १ ॥ पाणिनि के सूत्रों की सार्थकता यही है नहीं तो वे 'जनिकर्तुः' (१।४।३०) और 'तत्प्रयोजक' (१।४।५५) जैसे [समास न होने वाले समस्त पदों का] प्रयोग करते हैं ॥ २ ॥

तो, इस तरह 'शब्दानुशासन' शब्द से भी अभिहित व्याकरण-शास्त्र का आरम्भ समझें, यह वाक्यार्थ निकला।

विशेष—पाणिनि की बहुत-सी उक्तियाँ केवल स्वर-विचार के उद्देश से की गई हैं, लोक में उनका कोई काम नहीं। जैसे—समास-निषेधक सूत्र, विभिन्न अनुबन्ध आदि। यही पाणिनि की विशेषोक्ति है—इनका लोक में काम नहीं, पर वेद में तो होता है। अतः पाणिनि के सूत्र निष्फल नहीं हैं। पाणिनि स्वयं लिखते हैं—तृजकाभ्यां कर्तरि (२।२।१५) अर्थात् जो षष्ठी कर्ता में होती है उसका समास तृच् प्रत्ययान्त या अकप्रत्ययान्त शब्द के साथ नहीं होता। जैसे—भवतः शायिका, आसिका (आपकी शय्या, आसन)। किन्तु वे स्वयं इस नियम का उल्लंघन करते हैं और जनिकर्तुः (= जनिकर्तृ), तत्प्रयोजकः जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे पता लगता है कि समास के निषेधक सूत्रों का यह प्रयोजन नहीं है कि ऐसे स्थानों में समस्त पदों को अशुद्ध घोषित करें, प्रत्युत वे विशेष स्वर की सिद्धि में ही सहायक होते हैं। पाणिनि का यही लक्ष्य मालूम पड़ता है।

(३. शब्दानुशासन से प्रयोजन की सिद्धि)

तस्यार्थस्य झटिति प्रतिपत्तये 'अथ व्याकरणम्' इत्येवाभिधीयताम्। अथ शब्दानुशासनमित्यधिकाक्षरं मुधाभिधीयत इति। मैवम्। शब्दानुशासनमित्यन्वर्थसमाख्योपादाने तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानसिद्धेः। अन्यथा प्रयोजनानभिधाने व्याकरणाध्ययनेऽध्येतॄणां प्रवृत्तिरेव न प्रसजेत्।

उसी अर्थ का शीघ्रतर बोध कराने के लिए 'अथ व्याकरणम्' ही कहना चाहिए। 'अथ शब्दानुशासनम्' कह कर अक्षरों की संख्या में व्यर्थ की वृद्धि करते हैं। लेकिन ऐसा नहीं सोचना चाहिए। शब्दानुशासन नाम (समाख्या) अर्थ के अनुकूल ही रखा गया है। यह शास्त्र [वैदिक शब्दों का अर्थ बतलाने के कारण] वेदाङ्ग है, इसका प्रतिपादन करने वाले प्रयोजन (लक्ष्य) का भी कथन साथ-ही-साथ हो जाता है। [शब्दानुशासन कहने से न केवल व्याकरण-शास्त्र की प्रतीति होती है प्रत्युत व्याकरण के प्रयोजन—शब्दों के संस्कार—का भी बोध हो जाता है। व्याकरण कहने से इतना बोध नहीं होता। केवल शास्त्र की ही प्रतीति होती।] यदि प्रयोजन का कथन नहीं किया जाय तो व्याकरण के अध्ययन की ओर अध्येताओं की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

ननु 'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः' इत्यध्येतव्यविधानादेव प्रवृत्तिः सेत्स्यति इति चेत्—मैवम्। तथा विधानेऽपि तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनानभिधाने तेषां प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तथा हि—पुरा किल वेदमधीत्याध्येतारस्त्वरितं वक्तारो भवन्ति।

अब यदि ऐसा कहें कि '[ब्राह्मण को] बिना किसी स्वार्थ के (साक्षात् फल की आशा किये बिना ही, नित्यरूप से) धर्म का तथा षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए'—इस विधि में जो 'अध्येतव्य' शब्द है उसी के द्वारा अध्ययन की प्रवृत्ति होगी, तो हम उत्तर देंगे कि ऐसी बात नहीं है। ऐसा विधान होने पर भी उस (शास्त्र) का एक प्रयोजन जो वेदाङ्ग होना है, उसे बतलाये बिना उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए [ऐसी बातें उन्हें कहनी चाहिए कि] पहले वेद का अध्ययन करके लोग शीघ्र वक्ता बन जाते थे। [यह वाक्य वेदाध्ययन की विधि का अर्थवाद अर्थात् विज्ञापन है जिससे लोग उस ओर प्रवृत्त हों। वैसे ही व्याकरण में इस तरह का विज्ञापन

रहना चाहिए। 'शब्दानुशासन' शब्द में वह आकर्षण-शक्ति है ! अतः यही शब्द उपयुक्त है।]

वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।

तस्मादनर्थकं व्याकरणमिति। तस्माद्वेदाङ्गत्वं मन्यमानास्तदध्ययने प्रवृत्तिमकार्षुः। ततश्च इदानींतनानामपि तत्र प्रवृत्तिर्न सिध्येत्। सा मा प्रसाङ्क्षीदिति तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकं प्रयोजनमन्वाख्येयमेव।

'वेदों से वैदिक शब्द सिद्ध हुए और लौकिक व्यवहार से लौकिक शब्द'—इसलिए व्याकरण को व्यर्थ समझ कर, उसे केवल वेदाङ्ग मानकर ही उसके अध्ययन में पहले के लोग प्रवृत्ति प्रदर्शित करते थे। [किसी विशेष प्रयोजन का ज्ञान उन्हें नहीं था, विधि के अनुसार चलते हुए वे अध्ययन कर जाते थे।]* तो आजकल के लोगों की भी प्रवृत्ति नहीं ही होगी। ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो जाय इसलिए 'वह वेदाङ्ग है' इसका प्रतिपादन करने वाला प्रयोजन कह ही देना चाहिए। [शब्दानुशासन कहने से स्पष्ट हो जायगा कि व्याकरण एक वेदाङ्ग है, इसके अध्ययन में लगना चाहिए।]

यद्यन्वाख्यातेऽपि प्रयोजने न प्रवर्तेरंस्तर्हि लौकिकशब्दसंस्कारज्ञानरहितास्ते याज्ञे कर्मणि प्रत्यवायभाजो भवेयुः। धर्माद्धीयेरन्। अत एव याज्ञिकाः पठन्ति—आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् (पात० म० भा० पस्पश०) इति।

यदि प्रयोजन बतला देने पर भी उस ओर प्रवृत्त नहीं हो तो लौकिक शब्दों के संस्कार (रचना, व्युत्पत्ति, Formation) के ज्ञान से शून्य होने के कारण यज्ञ के कर्म में वे पाप के भागी होंगे तथा धर्म से च्युत होंगे। इसीलिए याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'आहिताग्नि पुरुष यदि अपशब्द (अशुद्ध शब्द) का प्रयोग करे तो प्रायश्चित्त के रूप में उसे सरस्वती देवता की इष्टि (यज्ञविशेष) करनी चाहिए' (महाभाष्य, पृ० ४ पस्पश में उद्धृत)। [जो याज्ञिक व्याकरण नहीं जानते और यज्ञ कराने लगते हैं उन्हें शब्दार्थ का ज्ञान न होने से पद-

---

* उनकी प्रवृत्ति नैसर्गिक नहीं थी, बनानी पड़ती थी। विधि के अनुसार अपने जीवन के कार्यक्रम उन्हें निश्चित करने थे।

पद पर अशुद्धियाँ गले लगाने को तैयार रहती हैं—वे पापभागी होते हैं। अपशब्द के प्रयोग से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त सारस्वत इष्टि से होता है।]

अतस्तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानार्थमथ शब्दानुशासनमित्येव कथ्यते, नाथ व्याकरणमिति। भवति च शब्द-संस्कारो व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनम्। तस्माच्छब्दानुशिष्टिः संस्कारपदवेदनीया शब्दानुशासनस्य प्रयोजनम्।

इसलिए उसके वेदाङ्ग होने का प्रतिपादन करनेवाले प्रयोजन को बतलाने के लिए 'अथ शब्दानुशासनम्' यही कहते हैं, 'अथ व्याकरणम्' नहीं। व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन भी शब्द का संस्कार (बनावट) बतलाना ही है। क्योंकि उसके उद्देश्य से व्याकरण की प्रवृत्ति होती है। जैसे स्वर्ग के उद्देश्य से किये गये याग का प्रयोजन स्वर्ग ही है। इसलिए 'संस्कार' (बनावट) शब्द के द्वारा समझी जानेवाली शब्दानुशिष्टि (शब्दों की रचना) ही शब्दानुशासन का प्रयोजन है।

विशेष—इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पतंजलि ने व्याकरण का नाम शब्दानुशासन कुछ विशेष उद्देश्य से रखा है कि नाम से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाय।

(४. व्याकरणशास्त्र की विधि—प्रतिपदपाठ नहीं)

नन्वेवमप्यभिमतं प्रयोजनं न लभ्यते। तदुपायाभावात्। अथ प्रतिपदपाठ एवाभ्युपाय इति मन्येथास्तर्हि स ह्यनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठो भवेत्। शब्दापशब्दभेदेनानन्त्याच्छब्दानाम्। एवं हि समाम्नायते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदपाठविहितानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता। इन्द्रोऽध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। न च पारावाप्तिरभूत्। किमुताद्य यश्चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। अधीतिबोधाचरणप्रचारणैश्चतुर्भिरुपायैर्विद्योपयुक्ता भवति। तत्राध्ययनकालेनैव सर्वमायुरुपयुक्तं स्यात्।

[पूर्वपक्षियों की शंका है कि] ऐसा होने पर भी अभीष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस (प्रयोजन की प्राप्ति) के लिए कोई उपाय नहीं है (= शब्दसंस्कार के ज्ञान का अर्थात् कौन-कौन शब्द शुद्ध हैं कौन-कौन अशुद्ध— इसको जानने का उपाय है ही नहीं)। यदि आप कहें कि प्रत्येक शब्द को पढ़ डालना ही उपाय है तो यह प्रतिपद-पाठ शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं है, [यह तो अध्येता का मरण है]। शब्द और अपशब्द के भेद से शब्दों के अनंत भेद हैं (=कुछ शब्द शुद्ध हैं, कुछ अशुद्ध)।

ऐसी कथा कही जाती है (परम्परा से चली आती है)—बृहस्पति ने इन्द्र के सामने एक हजार दिव्य वर्ष तक प्रत्येक पद का पाठ करते हुए शब्दों का पारायण किया किन्तु अन्त तक नहीं पहुँच सके (= उतने समय में भी सभी शब्दों का पाठ नहीं कर सके)। [जरा सोचिये !] बृहस्पति-जैसे अध्यापक, इन्द्र जैसे अध्येता और एक हजार दिव्य वर्ष अध्ययन का समय ! फिर भी अन्त की प्राप्ति नहीं हुई !! आज की तो बात ही क्या है ? जो बहुत जीता है तो एक सौ वर्षों तक जीता है। अध्ययन (Study), बोध (Understanding), आचरण (Practice) तथा प्रचारण (पढ़ाना Teaching)—इन चार उपायों से विद्या उपयोगी बनती है। [इधर प्रतिपद-पाठ करने से व्याकरण के] अध्ययनकाल में ही सारी आयु का उपयोग हो जायगा (अन्य कालों का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा)।

विशेष—प्रतिपद-पाठ का अर्थ है प्रत्येक शब्द (रामः, कृष्णः आदि) का पाठ करके उसका साधुत्व बतलाना। यह उपाय (Method) व्याकरण-शास्त्र का नहीं हो सकता, इसे आगे बतलाते हैं। 'शब्दानां शब्दपारायणम्' में द्विरुक्ति नहीं है। 'शब्दपारायण' एक शब्द है जो व्याकरण-शास्त्र के अर्थ में रूढ (योगरूढ) हो गया है। इसी से बोध होने पर भी 'शब्दानाम्' का अलग प्रयोग इसलिए किया गया है कि 'प्रतिपदपाठविहितानाम्' विशेषण को स्थान मिल सके। 'वाचमवोचत्' में व्यर्थता होने पर भी 'शुचिस्मितां वाचमवोचत्' ठीक है क्योंकि 'वाचम्' का विशेषण दिया गया है। शिशुपालवध (१।२५)। उक्त कथा का उद्धरण पतंजलि ने महाभाष्य में दिया है। अन्त में प्रतिपदपाठ-विधि का खण्डन करके उत्सर्गापवाद-विधि का प्रतिपादन किया जायगा।

तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठ इति प्रयोजनं न सिध्येदिति चेत्—मैवम्। शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिपद-पाठसाध्यत्वानङ्गीकारात्। प्रकृत्यादिविभागकल्पनावत्सु लक्ष्येषु

सामान्यविशेषरूपाणां लक्षणानां पर्जन्यवत्सकृदेव प्रवृत्तौ बहूनां शब्दानामनुशासनोपलम्भाच्च ।

इसलिए शब्दों के ज्ञान के लिए प्रत्येक शब्द का पाठ करना उपाय नहीं हो सकता, अतः व्याकरण के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी ।

[पूर्वपक्षी की इस शंका पर वैयाकरण कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं। हम भी यह स्वीकार नहीं करते कि शब्द का ज्ञान प्रतिपद पाठ से मिल सकता है (साध्य है)। [प्रतिपदपाठ के द्वारा व्याकरण नहीं चलता—हमारी भी यही मान्यता है । लक्ष्य के रूप में जो शब्द हैं उनमें प्रकृति आदि (= प्रत्यय, पद, वाक्य) के विभागों की कल्पना की जाती है तथा उनके लिए सामान्य और विशेष लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति एक बार ही मेघ की तरह होती है जिससे बहुत-से शब्दों का अनुशासन देखा जाता है ।

विशेष—पतंजलि अपने भाष्य में शब्दानुशासन की प्रक्रिया बतलाते हुए कहते हैं—**कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यं येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ ।** (पृ० ६) उन्हीं का शब्दान्तर करके माधवाचार्य दिये जा रहे हैं । पर्जन्यवत् प्रवृत्ति का अर्थ है कि जैसे मेघ एक ही साथ सभी स्थलों पर, समुद्र और मरुभूमि में भी, जल बरसाता है उसी तरह किसी सामान्य या विशेष लक्षण से एक ही साथ अनेकानेक शब्दों का अनुशासन होगा, अलग-अलग उन्हें देखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । महाभाष्य (१।१।२९) में कहा है—**कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत् । तद्यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति ।**

तथा हि । 'कर्मण्यम्' (पा० सू० ३।२।१) इत्येकेन सामान्यरूपेण लक्षणेन कर्मोपपदाद्धातुमात्रादण्प्रत्यये कृते, 'कुम्भकारः' 'काण्डलावः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते। एवम्, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० सू० ३।२।१८) इत्येकेन विशेषलक्षणेनाकारान्ताद्धातोः कप्रत्यये कृते, 'धान्यदः' 'धनदः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते । बृहस्पतिरिन्द्रायेति प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वप्रतिपादनपरोऽर्थवादः ।

उदाहरण के लिए, **कर्मण्यण्** (३।२।१ अर्थात् कर्म के उपपद में रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है)—इस अकेले सामान्य सूत्र (लक्षण) से

उन सभी धातुओं से, जिनके उपपद में कोई कर्म हो, अण् प्रत्यय किया जाता है तथा कुम्भकार: (कुम्भं करोति, कुम्भ + √कृ + अण्), काण्डलाव: (काण्डं लुनाति, काण्ड + √लूञ् + अण्) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन अर्थात् संस्कार पाया जाता है। उसी तरह, आतोऽनुपसर्गे क: (३।२।१८ अर्थात् यदि उपसर्ग उपपद में न रहे तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है)—इस अकेले ही विशेष सूत्र से आकारान्त धातु के बाद क प्रत्यय किया जाता है तथा धान्यद: (धान्यं ददाति, धान्य + √दा + क), धनद: (धनं ददाति, धन + √दा + क) इत्यादि बहुत-से शब्दों का अनुशासन पाया जाता है। 'बृहस्पति ने इन्द्र को पढ़ाया' इत्यादि कथा प्रतिपद-पाठ की सामर्थ्यहीनता का प्रतिपादन करनेवाला अर्थवाद है। [अर्थवाद का सामान्य अर्थ है स्तुति या निन्दा करने वाले वाक्य जो किसी बात को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करें। यहाँ पर 'प्रतिपद-पाठ असंभव है' यही दिखाना है जिसे कथा के रूप में दिया गया है।]

विशेष—व्याकरण-शास्त्र की यही विधि है कि विभिन्न लक्ष्यों की सिद्धि के लिए कुछ सामान्य लक्षण देते हैं तथा उनके अपवाद दिखाने के लिए विशेष लक्षण देते हैं सामान्य सूत्र को विशेष सूत्र दबा देता है। इसी प्रणाली से पाणिनि ने व्याकरण लिखा है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में इन समस्याओं पर बहुत सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है।

(५. व्याकरण के अन्य प्रयोजन)

नन्वन्येष्वप्यङ्गेषु सत्सु किमित्येतदेवाद्रियते ? उच्यते—प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति। तदुक्तम्—

३. आसन्नं ब्रह्मणतस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः॥

(वा० प० १।११) इति।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात्प्रयोजनम्। पारंपर्येण तु वेदरक्षादीनि। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकारेण—रक्षोहागमलघ्वसंदेहा प्रयोजनम्। (पा० म० भा० पस्पश) इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि जब दूसरे वेदाङ्ग भी विद्यमान हैं तो इस (व्याकरण-शास्त्र) का ही इतना अधिक आदर क्यों किये जा रहे हैं ? उत्तर होगा कि छहों वेदाङ्गों में व्याकरण ही प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम ही सफल होता है। यही कहा है—'यह उस [परम] ब्रह्म के निकट है तथा तपस्याओं में सबसे उत्तम तपस्या है; विद्वान् लोग व्याकरण को वेदों का प्रथम (प्रधान) अंग कहते हैं।' (वाक्यपदीय १।११)।

इसलिए व्याकरण शास्त्र का साक्षात् (सीधा) प्रयोजन है शब्दों का अनुशासन करना (संस्कार बतलाना)। परंपरा से (परोक्ष रूप से, घुमा फिरा कर) वेद की रक्षा आदि भी [इसके प्रयोजन ही हैं]। इसीलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है—रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह—ये [व्याकरण शास्त्र के] प्रयोजन हैं। (महाभाष्य, पृ० १)।

विशेष—व्याकरण के इन प्रयोजनों का उद्धरण कितने ही स्थानों पर दिया जाता है। अतः उन्हें अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

(१) **रक्षा** (Preservation)—वेदों की रक्षा करने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। वेदों में बहुत से ऐसे-ऐसे रूप हैं जो लौकिक भाषा में नहीं हैं जैसे—देवासः (देवाः), देवेभिः (देवैः), त्मना (आत्मना)। इन अलौकिक रूपों को देखकर व्याकरण न जाननेवाला व्यक्ति भ्रम से इनका संशोधन कर दे सकता है जिससे वेद की आनुपूर्वी (शब्दक्रम) के भंग होने का भय है। व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति संबद्ध सूत्रों से उनकी सिद्धि देखकर वेद के क्रम की रक्षा कर सकता है।

(२) **ऊह**—(Inference)—ऊह का अर्थ है वैदिक शब्दों का देवता, लिंग, वचनादि के अनुसार परिवर्तन कर देना। एक मन्त्र है—'अग्नये जुष्टम्' (तै० सं० १।१।४)। अब यदि सूर्य देवता को हवि दान करना हो तो 'सूर्याय जुष्टम्' कहेंगे। वेद में पाठ है—'अन्वेनं माता मन्यताम्'। इसका प्रयोग एक पशु के लिए होता है। जब पशुओं की संख्या बढ़ेगी तो एनौ, एनान् रूप करने पड़ेंगे। अतः परिस्थिति के अनुसार वचन का परिवर्तन करना है। पतंजलि कहते हैं कि वेद में मन्त्र सभी लिंगों और सभी विभक्तियों में नहीं पढ़े गये हैं। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार उनके लिंगों और विभक्तियों में परिवर्तन करना पड़ता है। यह काम बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता।

(३) **आगम**—(Scripture)—एक वाक्य है कि ब्राह्मण को बिना स्वार्थ (कामना) के नित्य रूप से धर्म और छह अंगों के साथ वेद का

अध्ययन करना चाहिए और जानना भी चाहिए। हरदत्तादि इस वाक्य को श्रुति मानते हैं जब कि कुमारिल आदि इसे स्मृति मानते हैं। (स्मृति भी आगम-मूलक होने से आगम ही है)। इस आगम से तो पता लगता है कि व्याकरण का अध्ययन नित्य रूप से दृष्ट फल की अभिसंधि रखे ही बिना करना चाहिए। यही नहीं, व्याकरण वेदाङ्गों में प्रधान है और प्रधान विषय में किया गया परिश्रम सफल होता है।

(४) लघु (Facility)—किसी व्यक्ति को शब्दों का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए व्याकरण से छोटा उपाय हो ही नहीं सकता। प्रतिपद-पाठ करते-करते आदमी मर जायगा पर समाप्ति नहीं होगी। व्याकरण सरलतम विधि से शब्द-ज्ञान करा देता है।

(५) असन्देह (Ascertainment)—व्याकरण-शास्त्र ही सन्देह का निवारण करता है। श्रुति में कहा है—स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत। अनड्वाही का अर्थ है गाय। उसका विशेषण है स्थूलपृषती। अब यह सन्देह है कि 'स्थूला चासौ पृषती' अर्थात् ऐसी गाय लायें जो स्थूल (मोटी) और गोले-गोले चिह्नों से युक्त भी हो (कर्मधारय समास) अथवा 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा' (जिसके गोले चिह्न बड़े हों ऐसी गाय—बहुव्रीहि समास) हो। पहले विग्रह में गौ के चिह्न बड़े हों या छोटे हों, कोई बात नहीं। दूसरे विग्रह में गौ मोटी हो या पतली, कोई बात नहीं। एक बड़ा अन्तर है। अब वैयाकरण 'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपद का अन्तोदात्त देखकर निश्चित कर लेता है कि यहाँ बहुव्रीहि-समास होगा क्योंकि इसके लिए सूत्र है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) जिससे पूर्वपद का प्रकृति-स्वर होता है। यदि कर्मधारय होता तो 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त होता। इस प्रकार वैयाकरण सन्देह का निवारण करता है।

(५ क. व्याकरण से अभ्युदय की प्राप्ति)

साधुशब्दप्रयोगवशादभ्युदयोऽपि भवति। तथा च कथितं कात्यायनेन—शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। अन्यैरप्युक्तम्—एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवतीति। तथा—

४. नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कमितभाषिणः॥

इसके अतिरिक्त शुद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अभ्युदय की प्राप्ति भी होती है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—'[व्याकरण] शास्त्र का ज्ञान पाकर जो प्रयोग किया जाय उससे अभ्युदय प्राप्त होता है क्योंकि यह शास्त्र 'वेद' (जानता है) शब्द के समान ही है। [एक ब्राह्मण वाक्य है—'योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' अर्थात् जो व्यक्ति अश्वमेध के द्वारा अग्निष्टोम-याग करता है या उसकी विधि को जानता है उसे फल मिलता है (तै० ब्रा० ३।१।७)। यहाँ 'वेद' शब्द की ध्वनि है कि ज्ञानपूर्वक जो याग करता है उसे ही फल मिलता है। उसी तरह व्याकरण जानकर जो शब्दों का प्रयोग करता है, उसे अभ्युदय मिलता है। 'वेद' (जानता है) का जो महत्त्व अग्निष्टोम के लिए है, वही व्याकरण-ज्ञान का शब्द-प्रयोग के लिए भी है।]

दूसरे लोगों ने भी कहा है—'एक ही शब्द यदि अच्छी तरह (प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके) जान लिया गया और अच्छी तरह से उसका प्रयोग भी किया गया तो वह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामनाओं की पूर्ति करता है (यथेष्ट फल देता है)।' उसी प्रकार—'सुसज्जित और बँधी हुई [शुद्ध) वाणी रूपी रथ के द्वारा लोग अभीष्ट सुख देने वाले स्वर्गलोक में जाते हैं; किन्तु जो व्यक्ति 'चिक्क' शब्द के समान (अपशब्द) बोलनेवाले हैं वे पैरों से राह को पीटते हुए (= पैदल) ही जाते हैं।'

विशेष—यह श्लोक काशिका में ३।१।४८ की व्याख्या में दिया गया है किन्तु वहाँ कुछ पाठान्तर है—

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः॥

किन्तु काशिका की दोनों ही व्याख्याओं—पदमञ्जरी और न्यास—में इस श्लोक की व्याख्या का अभाव देखकर इसकी मौलिकता पर संदेह होता है। कुछ भी हो, इसके द्वारा सुन्दर शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर बल दिया जाता है।

नन्वचेतनस्य शब्दस्य कथमीदृशं सामर्थ्यमुपपद्यत इति चेत्—मैवं मन्येथाः। महता देवेन साम्यश्रवणात्। तदाह श्रुतिः—

५. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
(ऋ० सं० ४।५८।३) इति।

अब यदि यह पूछा जाय कि शब्द तो अचेतन है, उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ से आ जायगी ? तो हम कहेंगे कि ऐसा मत समझिये क्योंकि महान् देव (ईश्वर) से इसकी समता सुनी जाती है (=श्रुति में प्रतिपादित है)। तो श्रुति कहती है—'इसकी चार सींगें और तीन पैर हैं, दो सिर हैं तथा इसके सात हाथ हैं; तीन तरह से बँधकर यह वृषभ ध्वनि उत्पन्न करता है, वह महान् देव (शब्द रूप में) मनुष्यों में प्रवेश करता है' (ऋ० सं० ४।५८।३)। [यह ऋचा महानारायणोपनिषद् १०।१ में भी ज्यों-की-त्यों उद्धृत है] *

व्याचकार च भाष्यकारः—चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। त्रयो अस्य पादा लडादिविषयास्त्रयो भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात्। सप्त हस्तासो अस्य, तिङा सह सप्त सुब्विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धः। वृषभ इति प्रसिद्ध-वृषभत्वेन रूपणं क्रियते। वर्षणात्। वर्षणं च ज्ञानपूर्वकानुष्ठानेन फलप्रदत्वम्। रोरवीति शब्दं करोति। रौतिः शब्दकर्मा।

इह शब्दशब्देन प्रपञ्चो विवक्षितः। महो देवो मर्त्याँ आविवेश। महान् देवः शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्ता-नाविवेशेति। महता देवेन परेण ब्रह्मणा साम्यमुक्तं स्यात् (महाभाष्यम्, पृ० ३) इति।

भाष्यकार (पंतजलि) ने इसकी व्याख्या भी की है। चार सींगों का अर्थ है चार पद-भेद अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर हैं लट् आदि लकारों के विषय अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल। दो सिर हैं=शब्द के दो स्वरूप हैं, नित्य और कार्य। इन दोनों में यही भेद है कि एक व्यंग्य है दूसरा व्यंजक। [नित्य शब्द आन्तर रूप से विद्यमान है, यही व्यंग्य

---

* 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।७०) से शृङ्गाणि के स्थान में शृङ्गा, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५) से 'त्रयो अस्य' में प्रकृतिभाव, वही बात 'हस्तासो अस्य' में, 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से हस्तासः, 'दीर्घादटि समान-पादे' (८।३।९) तथा 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से महान् को अनुनासिक महाँ। देखिये—वैदिकी प्रक्रिया के संबद्ध सूत्र और उनकी टीका।

है क्योंकि इसीकी अभिव्यक्ति होती है। दूसरी ओर सुनाई पड़नेवाला वैखरी के रूप का शब्द कार्य है, यह बाह्य है और व्यंजक भी क्योंकि नित्य शब्द की अभिव्यक्ति इसी के द्वारा समझी जाती है। इसे आगे स्पष्ट करेंगे।]

इसके सात हाथ हैं अर्थात् तिङन्त (क्रिया) के साथ लगने वाली सुबन्त की सात विभक्तियाँ इसमें हैं। तीन प्रकार से बँधा है = तीन स्थानों में, हृदय, कंठ और सिर में निबद्ध है। [वर्ग के पंचम वर्णों तथा यरलव के साथ ह का स्थान हृदय में है। अ, कवर्ग, ह और विसर्ग का स्थान कंठ है। मुख के अन्तर्गत तालु आदि दूसरे स्थानों का संग्रह भी कंठ से ही हो गया है। अन्त में ऋ, टवर्ग, र ष का स्थान सिर (मूर्धा) है। इस प्रकार शब्दों के तीन स्थान हैं जहाँ वे टकरा कर अभिव्यक्त होते हैं।]

'वृषभ' शब्द के द्वारा प्रसिद्ध (लौकिक) वृषभ (बैल) का रूपक रखा गया है। क्योंकि दोनों ही वर्षण करते हैं (√वृष्)। यहाँ (शब्द-पक्ष में) वर्षन का अभिप्राय है [व्याकरण शास्त्र का] ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना और उसका फलप्रद होना। 'रोरवीति' का अर्थ है 'शब्द करता है'। √रु = शब्द करना।

यहाँ [जो 'रोरवीति = शब्दं करोति' कहा, उसमें प्रयुक्त] 'शब्द' शब्द के द्वारा इस पूरे प्रपंच (संसार) का अर्थ लिया गया है। [नित्य शब्द से ही यह पूरा संसार बना है, वही इसका प्रपंच अर्थात् विस्तार करता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में ही इसे स्पष्ट किया है जो आगे उद्धृत की जायगी।]

महान् देव मनुष्यों में प्रवेश करते हैं। महान् देव अर्थात् शब्द। मर्त्य का अर्थ है मरण धर्म वाले मनुष्य, उनमें ही वह (शब्द) प्रवेश करता है। महान् देव अर्थात् परम ब्रह्म से समता (सायुज्य) का वर्णन किया गया है। (महाभाष्य, पृ० ३)।

विशेष—इस ऋचा की प्रस्तुत व्याख्या का तात्पर्य यही है कि परब्रह्म के स्वरूप से युक्त अन्तर्यामी शब्द मनुष्यों में प्रविष्ट है। व्याकरण-शास्त्र से उत्पन्न शब्दज्ञान रखकर जो प्रयोग किया जायगा तो मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जायँगे और वे अहंकार आदि की ग्रन्थियों को तोड़कर अपने अन्तरतम में विद्यमान शब्द-ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक रूप से संसक्त हो जायँगे। इस पहेली की तरह प्रतीत होने वाली ऋचा की व्याकरणपरक व्याख्या तो पतंजलि ने की है, यास्क ने (? १३।७) इसकी यज्ञपरक व्याख्या की है जिसे सायण ने भी लिया है। राजशेखर ने इसका साहित्यिक अर्थ लिया है। भाष्यकार के

नाम से उद्धरण देने पर भी माधवाचार्य ने मनमानी की है—अपनी इच्छा से भाष्य की पंक्तियों का परिवर्तन करने चले गये हैं।

(६. शब्द ही ब्रह्म है)

जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
(वाक्यप० १।१) इति।

संसार का निदान (मूल कारण Ultimate cause), 'स्फोट' के नाम से प्रसिद्ध तथा अवयवों से रहित जो नित्य शब्द है वह ब्रह्म ही है। ऐसा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में कहा है—'आदि और अन्त से रहित, विकारशून्य शब्द का तत्त्व (Reality) ही ब्रह्म है—वही संसार की विभिन्न वस्तुओं (अर्थों) के रूप में प्रतिभासित होता है तथा उसी से इस संसार की सारी प्रक्रियायें होती हैं' (वाक्यपदीय १।१)।

विशेष—जिस प्रकार वेदान्त में संसार को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं उसी प्रकार यहाँ भी संसार शब्द-रूपी ब्रह्म का विवर्त (मिथ्याप्रतीति) है। इस दृष्टि से अनादि शब्द-ब्रह्म (जिसे परा वाणी कह सकते हैं) ही संसार का उपादान कारण है। शब्द-ब्रह्म शब्दभाव से तो विवृत्त होता ही है। उसके बाद में वह सत् (Existent) अर्थों के रूप में भी विवृत्त होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दब्रह्म से शब्द और अर्थ दोनों की उत्पत्ति होती है, यह पूरा संसार ही शब्दब्रह्म का रूप है। भर्तृहरि की यह मान्यता शैवागम के अनुसार है। उन्होंने कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥ (१।१२०)

कहने का अभिप्राय यह है कि यह जगत् शब्द का परिणाम (परिणत रूप) है। संसार में जो कुछ भी देखते हैं वह शब्दब्रह्म का ही विवृत्त रूप या छाया है।

(६ क. पद-भेद की संख्या)

ननु नामाख्यातभेदेन पदद्वैविध्यप्रतीतेः कथं चातुर्विध्यमुक्तमिति चेत्—मैवम्। प्रकारान्तरस्य प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तं प्रकीर्णके—

७. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ।। इति ।

अब प्रश्न है कि नाम और आख्यात के भेद से दो प्रकार के पदों की प्रतीति होती है, आप चार प्रकार के पद कहाँ से लाते हैं ? ऐसी बात नहीं है, उनके दूसरे भेद भी प्रसिद्ध ही हैं । उसे प्रकीर्ण-काण्ड में कहा है—'जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना [पद से पृथक् की जाती है यद्यपि पद में ही प्रकृति-प्रत्यय दोनों हैं], उसी प्रकार वाक्यों से पृथक् करके (अपोद्धृत्य) पदों की कल्पना करके उसे लोगों ने दो, चार या पाँच भेदों में बाँटा है ।'(वा०प०३।१।१)

विशेष—पद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से पद से अलग करके हम प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करते हैं । प्रकृति का अपना अर्थ होता है, प्रत्यय का भी—दोनों का समन्वय करके पदार्थ की प्राप्ति होती है । ठीक उसी तरह वाक्य का अर्थ जानने के लिए वाक्य में विद्यमान पदों की कल्पना वाक्य से अलग करते हैं । तब उनके अर्थों पर विचार करके उन्हें कई भेदों में बाँटते हैं । विभिन्न मत से पद के विभिन्न भेद हैं । पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) कह कर पदों के दो ही भेद किये हैं—सुबन्त (नाम जिसमें उपसर्ग और निपात भी हैं तथा तिङन्त क्रिया) । यास्क तथा दूसरे लोग पद के चार भेद करते हैं—नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात । कुछ लोग इस सूची में कर्मप्रवचनीय को भी जोड़ कर पद के पाँच भेद मानते हैं । कर्मप्रवचनीय एक प्रकार के उपसर्ग ही हैं । उपसर्ग क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं जब कि कर्मप्रवचनीय क्रिया के अनुयोगी संबंध को व्यक्त करता है जैसे, जपमनु प्रावर्षत् । यहाँ जप और वर्षा में लक्ष्य-लक्षण का संबंध है कि जप होते ही पानी बरसा । जप लक्षण है तथा वर्षा लक्ष्य । इस संबंध का प्रतियोगी जप है, वर्षा अनुयोगी या धर्मी है । यह सम्बन्ध इस कर्मप्रवचनीय 'अनु' के द्वारा द्योतित होता है ।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं—(१) पदकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड (कारिका १५६), जिसमें पद तथा स्फोट के प्रश्नों पर विचार हुआ है । (२) वाक्यकाण्ड (कारिका ४८६) जिसमें वाक्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । तीसरे काण्ड को (३) प्रकीर्ण-काण्ड कहते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों की चर्चा हुई है (कारिका १२१८) । तृतीय काण्ड १४ समुद्देशों या विषयों (Topics) में विभक्त है जो निम्नलिखित हैं—१. जातिसमुद्देश, २. द्रव्यसमुद्देश, ३. संबन्धसमुद्देश, ४. द्रव्यलक्षणसमुद्देश, ५. गुणसमुद्देश, ६. दिक्समुद्देश, ७. साधनसमुद्देश (अर्थात् कारकों का विश्लेषण), ८. क्रिया-

समुद्देश, ९. कालसमुद्देश, १०. पुरुषसमुद्देश, ११. संख्यासमुद्देश, १२. उपग्रहसमुद्देश, १३. लिंगसमुद्देश, १४. वृत्तिसमुद्देश। चौदहवाँ समुद्देश पूरे प्रकीर्ण काण्ड का आधा (कारिका ६२४) है। वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर हरिवृषभ की तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की प्रकाश टीका है, जब कि तृतीय काण्ड पर भूतिराज के पुत्र हेलाराज ने अपनी प्रकीर्ण-प्रकाश नाम की टीका लिखी है। वाक्यपदीय व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए अन्तिम प्रमाण-ग्रन्थ माना जाता है।

कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान्। कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसंबन्धावच्छेदहेतव इति संबन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषद्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यभिसन्धाय पदचातुर्विध्यं भाष्यकारेणोक्तं युक्तमिति विवेक्तव्यम्।

पाँचवें भेद 'कर्मप्रवचनीय' को अलग गिनने से पद के पाँच भेद हो जाते हैं, ऐसी व्याख्या हेलाराज ने [उपर्युक्त कारिका की] की है। किन्तु कर्मप्रवचनीय किसी विशेष क्रिया (जैसे वर्षण) से उत्पन्न संबन्ध को व्याप्त करनेवाली (जैसे लक्ष्य-लक्षण भाव) सीमा के ज्ञापक होते हैं। [वर्षण क्रिया के साथ जप का लक्ष्य-लक्षण-भाव से सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध एक विशेष सीमा में है—इस सीमा या सम्बन्ध को बतलाने वाला 'अनु'. कर्मप्रवचनीय है। यही अभिप्राय है।] इस प्रकार ये कर्मप्रवचनीय एक प्रकार का सम्बन्ध ही बतलाते हैं अतः किसी विशेष क्रिया के द्योतक होने के कारण इनका अन्तर्भाव उपसर्गों में ही होता है। [चूँकि उपसर्ग किसी क्रिया के द्योतक होते हैं और कर्मप्रवचनीय भी क्रिया के सम्बन्ध का द्योतन करते हैं अतः उन दोनों को एक भेद में ही मान लें।]

यही विचार कर भाष्यकार ने पद के चार ही भेद कहे हैं जो युक्तियुक्त हैं—ऐसा समझ लेना चाहिए।

(७. स्फोट—नैयायिकों की शंका और उसका समाधान)

ननु भवता स्फोटात्मा नित्यः शब्द इति निजागद्यते। तन्न मृष्यामहे। तत्र प्रमाणाभावादिति केचित्। अत्रोच्यते। प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणम्। गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपदावगतेः सर्वजनीनत्वात्। न ह्यसति बाधके पदानुभवः शक्यो

मिथ्येति वक्तुम् । पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः ।

आप लोग बार-बार 'स्फोट के रूप में नित्य शब्द है' ऐसा कहते हैं। हम इसे ठीक नहीं मानते क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं—यह कुछ लोगों (नैयायिकादि) का कहना है। [नैयायिक लोग कहते हैं कि 'घटमानय' इस तरह के वाक्यों के उच्चारण के समय जो घ् अ, ट् आदि वर्ण कण्ठादि स्थानों में वायु के संयोग से उत्पन्न होते हैं, कानों से सुनाई पड़ते हैं और तुरत नष्ट हो जाते हैं—वे ही शब्द हैं, उनके अलावे किसी दूसरी चीज को शब्द नहीं कहते। घट-वस्तु के बोधक भी ये ही हैं। अतः नैयायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं। वैयाकरणों का कहना है कि यह शब्द नहीं है, किन्तु शब्द को व्यंजित करनेवाली ध्वनि है। इस ध्वनि के द्वारा जो व्यंग्य होता है वही शब्द है, जो घटादि वस्तुओं का बोधक होता है। यह शब्द नित्य है—न उत्पन्न होता है न नष्ट। वाणी की सर्वोत्तम, अन्तरतम अवस्था—परा वाणी—में यह रहता है। इसे ही **स्फोट** कहते हैं। बाह्य ध्वनि या कार्य शब्द केवल इसका व्यंजक है तथा अनर्थक है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार 'घटमानय' इत्यादि ध्वनि का उच्चारण करने से वाचक नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है जिससे अर्थबोध होता है।]

[विरोधियों की] इस उक्ति पर हमारा यह कहना है कि इसे सिद्ध करने के लिए तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। 'गौ' यह एक ही पद है, इसमें अनेक वर्णों [के होते हुए भी उन] के अतिरिक्त एक पद का ही बोध सभी लोग करते हैं। ['गौ' में एकत्व का बोध सभी लोग करते हैं। पर यह एकत्व है कहाँ ? वर्णों में तो नहीं है, क्योंकि वे अनेक हैं। इस एकत्व का आधार कुछ तो अवश्य मानना है जो वर्णसमूह के द्वारा व्यक्त हो। वही स्फोट है। पद की एकता का अनुभव सबों को होता है।] जब तक कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता तब तक पदों की एकता के इस अनुभव को हम मिथ्या नहीं कह सकते।

पदार्थ की प्रतीति (बोध) किसी भी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती (=एकमात्र उपाय स्फोट-सिद्धान्त ही है), इसलिए भी स्फोट को मान लेना चाहिए।

न च वर्णेभ्य एव तत्प्रत्ययः प्रादुर्भवतीति परीक्षाक्षमम् । विकल्पासहत्वात् । किं वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थप्रत्ययं

जनयन्ति? नाद्यः। वर्णानां क्षणिकानां समूहासंभवात्। नान्त्यः। व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासंभवात्। न च व्याससमासाभ्यामन्यः प्रकारः समस्तीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थ-प्रतिपत्तिः स स्फोटः। वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्य शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति।

'वर्णों से ही पद के अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है'—ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है (कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता) क्योंकि निम्न-लिखित दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। ये वर्ण क्या मिलकर के अर्थ की प्रतीति कराते हैं या अलग-अलग होकर? पहला विकल्प ठीक नहीं हो सकता क्योंकि क्षण भर ही ठहरने वाले (नश्वर) वर्णों का समूह होना असम्भव है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं क्योंकि अलग-अलग वर्णों से [पूरे पद के] अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। [व्यस्त वर्णों की वाचकता मानने पर कई समस्यायें उत्पन्न हो जायँगी। एक-एक वर्ण का उच्चारण करने से एक तो अर्थबोध होता ही नहीं। यदि हो भी तो प्रत्येक वर्ण को सार्थक मानना पड़ेगा और एक ही वर्ण से अर्थ की प्रतीति हो जाने से अन्य वर्ण व्यर्थ हो जायँगे। एक पद में जितने वर्ण हों उतने अर्थ भी होंगे अतः एक पद एक ही साथ अनेक अर्थों का बोध कराने लगेगा। अन्त में सभी वर्णों को पर्यायवाचक भी मानना पड़ेगा।]

अलग-अलग बोध कराना या मिलकर बोध कराना, इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त और कोई विकल्प हो नहीं सकता। इसलिए वर्णों की वाचकता असिद्ध हो गयी (=वर्ण अर्थबोध नहीं करा सकते), अतः जिसके बल से (कारण) अर्थ का बोध होता है, वही स्फोट है। स्फोट के जानने वाले कहते हैं कि स्फोट नित्य शब्द है, वर्णों से पृथक् है वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और अर्थ की प्रतीति कराता है। (स्मरणीय है कि ध्वनि अर्थ-प्रतीति नहीं करा सकती। ध्वनि नित्य शब्द को अभिव्यक्त करती है जो अर्थबोध कराने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है।]

अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः। तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलि-ना महाभाष्ये—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? येनोच्चारितेन

सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः' (महाभा० पृ० १) इति ।

इसीलिए, 'वर्णों के द्वारा जो स्फुटित या व्यंजित हो वह स्फोट (√स्फुट) है अर्थात् वर्णों से अभिव्यंग्य [शक्ति को स्फोट कहते हैं ।] 'जिससे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है वह स्फोट अर्थात् अर्थबोधक (शक्ति) है' । इस तरह दोनों रूपों में (वर्णों के द्वारा अभिव्यंग्य तथा अर्थ का बोधक—इन दोनों रूपों में) 'स्फोट' शब्द के अर्थ का निर्वचन लोग करते हैं । भगवान् पतंजलि ने महाभाष्य में ऐसा ही कहा भी है—"अच्छा, यह बतलाइये कि 'गौ' में शब्द कौन-सा है ? जिसका उच्चारण करने से सास्ना (गले का लटकता हुआ मांस), पूँछ, ककुद (पीठ और गले के बीच उठा हुआ मांस), खुर तथा सींग से युक्त [पशुविशेष] का बोध होता है, वही शब्द है ।" (पतञ्जलि, महाभाष्य, पृ० १) । [यहाँ स्पष्ट है कि पतञ्जलि अर्थ का बोध कराने वाले साधन-विशेष को शब्द कहते हैं जो और कुछ नहीं, नित्य शब्द या स्फोट ही है । कैयट ने ऐसी व्याख्या भी की है ।]

विवृतं च कैयटेन—'वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति । वर्णानां वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गादित्यादिना तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः' इत्यन्तेन प्रबन्धेन ।

कैयट ने इसका विवरण भी दिया है—'वैयाकरण लोग वर्ण के अतिरिक्त (वर्णों से पृथक् रखकर) पद की वाचकता मानते हैं । वर्णों को वाचक मानने पर [पहला वर्ण तो अर्थबोध करा ही देगा इसलिए] द्वितीय और अन्य वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ ही हो जायगा ।······उनके अतिरिक्त (पृथक्) नाद या ध्वनि से अभिव्यंग्य 'स्फोट' है जो [पदार्थ का] वाचक है, वाक्यपदीय में उसकी व्यवस्था विस्तारपूर्वक की गई है ।' (देखिए, महाभाष्य, चौखम्बा सं० पृ० ११) ।

(७ क. स्फोट पर अन्य शंका—मीमांसक)

ननु स्फोटस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वं न घटते । विकल्पासहत्वात् । किमभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययत्यनभिव्यक्तो वा ? न चरमः । सर्वदार्थप्रत्ययलक्षणकार्योत्पादप्रसङ्गात् । स्फोटस्य

नित्यत्वाभ्युपगमेन निरपेक्षस्य हेतोः सदा सत्त्वेन कार्यस्य विलम्बायोगात् ।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] स्फोट में भी अर्थ की प्रतीति कराने की शक्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि दोनों ही विकल्प इस विषय में असिद्ध हो जाते हैं। क्या स्फोट अभिव्यक्त होकर अर्थ कराता है या बिना अभिव्यक्त ही हुए ? दूसरा पक्ष ठीक नहीं हो सकता। [दूसरे पक्ष का खंडन सरल है अतः पहले उसे ही लेते हैं, जैसे सुई और कड़ाही बनाने के लिए लुहार पहले सुई ही बना लेता है तब कड़ाही बनाता है।] कारण यह है कि ऐसा मानने पर अर्थबोध रूपी कार्य का उत्पादन सदा ही होता रहेगा क्योंकि स्फोट को नित्य मानते हैं, [अर्थबोध का] वही कारण है जो अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखना— उसकी सत्ता सदा ही रहेगी, इसलिए [अर्थबोध रूपी] कार्य के उत्पादन में विलम्ब की संभावना ही नहीं। [अभिप्राय यह है कि अर्थप्रतीति को कार्य और स्फोट को कारण मानते हैं। कार्य-कारण का संबन्ध सदा रहता है। चूँकि अनभिव्यक्त रूप में ही स्फोट अर्थबोध करायेगा, अतः अभिव्यक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः नित्य स्फोट नित्य रूप से बराबर अर्थबोध ही कराता रहेगा, विराम उसे कहाँ ?]

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययतीति कक्षीक्रियते, तथाप्यभिव्यञ्जयन्तो वर्णाः किं प्रत्येकमभिव्यञ्जयन्ति संभूय वा ? पक्षद्वयेऽपि वर्णानां वाचकत्वपक्षे भवता ये दोषा भाषितास्त एव स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्षे व्यावर्तनीयाः। तदुक्तं भट्टाचार्यैर्मीमांसाश्लोकवार्तिके—

८. यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते ॥ इति ।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] अब यदि उक्त दोष से बचने के लिए आप (वैयाकरण) लोग यह पक्ष ले लें कि अभिव्यक्त ही होने पर स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है फिर भी [हम विकल्प रखेंगे कि] अभिव्यक्त करने वाले वर्ण क्या एक-एक करके स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं या सब एक साथ मिलकर ? दोनों ही पक्षों में; वर्णों को वाचक मानने पर आप (वैयाकरणों) ने जो-जो दोष आरोपित किये हैं वे दोष ही स्फोट को अभिव्यंजक मानने पर, आप पर ही उलट दिए जायँ तो कोई आपत्ति नहीं। [यदि वर्ण एक-एक करके स्फोट की

अभिव्यक्ति करते हैं तो ऐसा देखा नहीं जाता। पुनः यदि एक ही वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाती है तो किसी पद के दूसरे-तीसरे आदि वर्णों का उच्चारण ही क्यों किया जायगा? इसके अलावे, पद में जितने वर्ण हैं उतने स्फोटों की अभिव्यक्ति एक ही पद से हो जायगी। दूसरा पक्ष (वर्ण मिलकर स्फोट की अभिव्यक्ति करते हैं) भी ठीक नहीं। क्षणिक वर्णों का समूह संभव ही नहीं है—वे इतनी शीघ्रता से नष्ट जो हो जाते हैं। अतः स्फोटवादियों के सिर पर उन्हीं का शस्त्र चला दिया जायगा।]

इसे कुमारिल भट्ट ने भी मीमांसा-श्लोक-वार्तिक में कहा है—'जिसका यह सिद्धान्त है कि स्फोट अवयवों से रहित है तथा वर्णों के ज्ञान से अभिव्यक्त होता है, वह (स्फोटवादी वैयाकरण) भी [अपने ही द्वारा उठाये गये प्रश्नों में] एक प्रश्न से भी निकल नहीं सकता है।' [स्फोटवादी ने अपने विरोधी से जो-जो प्रश्न ऊपर किये हैं उनमें सबके सब अब हम स्फोटवादियों पर ही फेंक देते हैं—एक भी प्रश्न का उत्तर ये दें तो जानें। एक प्रश्न का भी उत्तर इनसे नहीं दिया जा सकता। यदि स्फोट को अवयवयुक्त मानते तो ये कह सकते थे कि एक-एक वर्ण से खण्डशः स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु ये तो स्फोट को अवयवों से रहित भी मानते हैं।]

विभक्त्यन्तेष्वेव वर्णेषु 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० सू० १।४।१४) इति पाणिनिना, 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (न्या० सू० २।२।६०) इति गौतमेन च पदसंज्ञाया विहितत्वात्संकेत-ग्रहेणानुग्रहवशाद्वर्णेष्वेव पदबुद्धिर्भविष्यति। तर्हि सर इत्ये-तस्मिन्पदे यावन्तो वर्णास्तावन्त एव रस इत्यत्रापि। एवं 'वनं नवं' 'नदी दीना' 'रामो मारो' राजा जारेत्यादिष्वर्थ-भेदप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्—न। क्रमभेदेन भेदसंभवात्।

[पूर्वपक्षी आगे कहते हैं कि] पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त (वर्ण) को पद माना है (१।४।१४) तथा गौतम ने विभक्ति से अन्त होने वाले वर्णों को पद माना है (२।२।६०)—इस प्रकार दो बड़े-बड़े आचार्य विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद संज्ञा देते हैं अतः [वृद्धव्यवहारादि उपायों से] संकेत-ग्रहण करके [इन वर्णों में उत्तरोत्तर] सहायक-संबंध मानकर वर्णों को ही तो पद कहना पड़ेगा। [उक्त दो आचार्यों के सूत्रों से ध्वनित होता है कि वर्ण-समुदाय ही पद है—उसके अतिरिक्त स्फोट नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रश्न

हो सकता है कि वर्ण तो शीघ्र ही नष्ट होने वाले हैं उनका समूह कैसे हो सकता है? परन्तु वृद्धव्यवहार आदि के द्वारा हम वर्णसमुदाय में संकेत (conventional relation) का ग्रहण करेंगे कि अमुक वर्णसमुदाय अमुक वस्तु से सम्बद्ध है। पूरे समुदाय से एक ही अर्थ की प्रतीति होगी। अब इन विनाशी वर्णों में उत्तरोत्तर अनुग्रहभाव होगा—एक वर्ण दूसरे वर्ण की सहायता करता चला जायगा और उस विद्यमान वर्णसमुदाय का एकात्मक अर्थ मान लेंगे। अतः समूह की कल्पना से भी पदबोध हो सकता है।]

[वैयाकरण बीच में छेड़ते हैं कि] तब तो 'सर' इस पद में जितने वर्ण हैं उतने ही 'रस' में भी हैं; इसी तरह, वन और नव, नदी और दीन, राम और मार, राज और जार में भी बराबर-बराबर ही वर्ण हैं तो अर्थभेद की प्रतीति नहीं होगी। [विरोधी कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं, वर्णों के क्रम में भेद होगा तो अर्थ में भी भेद पड़ेगा।

तदुक्तं तौतातितैः—

९. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपत्तये।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥ इति।

तस्माद्यश्चोभयोः समो दोषो न तेनैकश्चोद्यो भवतीति न्यायाद्वर्णानामेव वाचकत्वोपपत्तौ नातिरिक्तस्फोटकल्पनाव-कल्पत इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी अन्त में कहते हैं]—तौतातित अर्थात् कुमारिल का कहना है कि जिन वर्णों की सामर्थ्य (अर्थबोध कराने की शक्ति) अच्छी तरह मालूम हो कि ये अमुक अर्थ की प्रतीति करा सकते हैं, वे वर्ण चाहे जितनी संख्या में हों, जिस किसी प्रकार के हों, वे उसी प्रकार से अर्थ का बोध कराते हैं। [जिस अर्थ का बोध कराने की शक्ति वर्णों में होती है, वे उसी अर्थ का बोध कराते हैं।]

इसलिए 'जब दोनों का दोष एक ही तरह का है तो उस दोष से एक पर बिगड़ना ठीक नहीं है' इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि वर्ण ही वाचक हैं अतः उनसे भिन्न स्फोट की कल्पना करना ठीक नहीं है। [यहाँ मीमांसकों का पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।]

विशेष—जब दो व्यक्तियों में दोनों का समान दोष हो, दोनों का परिहार भी एक ही हो, तो वैसे विषय का विचार करते समय एक व्यक्ति को दूसरे पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। इसका यह श्लोक है—

यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

(८. मीमांसकों की शंका का उत्तर—स्फोटसिद्धि)

तदेतत्काशकुशावलम्बनकल्पम् । विकल्पानुपपत्तेः । किं वर्णमात्रं पदप्रत्ययावलम्बनं वर्णसमूहो वा ? नाद्यः । परस्पर-विलक्षणवर्णमालायामभिन्नं निमित्तं पुष्पेषु विना सूत्रं माला-प्रत्ययवदित्येकं पदमिति प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानां समूहभावासंभवात् ।

[वैयाकरण लोग उत्तर देते हैं कि नदी में डूबते हुए व्यक्ति] जैसे बहते हुए घास-फूस का सहारा लेते हैं वैसे ही आपका यह तर्क है। इन दोनों की विकल्पों की असिद्धि हो जाती है । क्या अकेला वर्ण पद की प्रतीति कराता है या वर्णों का समूह ? पहला विकल्प ठीक नहीं क्योंकि जैसे फूलों में बिना सूते के माला की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार एक दूसरे से विलक्षण (Peculiar) वर्णों की माला होने पर भी अनेक वर्णों में अनुस्यूत होनेवाले किसी एक अभिन्न निमित्त के बिना 'यह एक पद है' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती । दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उच्चारण किये जाने के बाद नष्ट हो जानेवाले वर्णों का समूह कभी हो ही नहीं सकता ।

तत्र हि समूहव्यपदेशो ये पदार्था एकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततया बहवोऽनुभूयन्ते । यथैकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततयानुभूयमानेषु धवखदिरपलाशादिषु समूहव्यपदेशो यथा वा गजनर-तुरगादिषु । न च ते वर्णास्तथानुभूयन्ते । उत्पन्नप्रध्वस्तत्वात् । अभिव्यक्तिपक्षेऽपि क्रमेणैवाभिव्यक्तिः । समूहासंभवात् ।

हम 'समूह' उसे ही कहते हैं जहां कुछ पदार्थ एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनेक संख्या में अनुभूत हों । जैसे एक ही स्थान में साथ-साथ रहने के कारण अनुभूत होनेवाले धव, खदिर (खैर), पलाश आदि वृक्षों में 'समूह' का प्रयोग होता है अथवा जैसे गज, मनुष्य और अश्व आदि [जीवों के समूह का प्रयोग करते हैं ।] वर्णों का अनुभव तो उस रूप में होता नहीं । कारण यह है कि ये उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं [अतः एक स्थान में साथ-साथ रहने का अवसर इन्हें कहाँ से मिलेगा कि वर्णों का समूह होगा ?]

यदि हमारे समान [स्फोट की] अभिव्यक्ति का पक्ष भी लिया जाय तो वहाँ भी अभिव्यक्ति [एक ही साथ नहीं हो जाती] क्रम से ही होती है। कारण यह है कि किसी भी दशा में क्षणिक वर्णों का समूह होना संभव नहीं है।

नापि वर्णेषु काल्पनिकः समूहः कल्पनीयः। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धौ तदुपाधिना वर्णेषु पदत्वप्रतीतिस्तत्सिद्धावेकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धिरिति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वासंभवात्स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

आप (पूर्वपक्षी) यह भी नहीं कह सकते कि वर्णों में जो समूह है वह काल्पनिक या कृत्रिम है। क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। एक तरफ जब आप यह सिद्ध करेंगे कि [वर्णों के कृत्रिम समूह से] एकात्मक अर्थ की प्रतीति होती है तभी उस उपाधि (शर्त) के आधार पर वर्णों में पदत्व का बोध होता है। और दूसरी ओर वर्णों में पदत्व की सिद्धि करने पर ही यह सिद्ध होगा कि उससे अर्थ का बोध होता है [पदत्वप्रतीति और अर्थबोध—दोनों में कौन पहले होगा ? एकार्थबोध तथा पदत्व वर्णसमूह में नहीं है, किन्तु स्फोट में ही है। यदि स्फोट नहीं मानते तो इन दोनों को वर्णों में ही बैठाना होगा—इससे अन्योन्याश्रय तो होगा ही।] अतः वर्ण वाचक नहीं हो सकते, तो स्फोट को मानना ही चाहिए।

(८ क. स्फोट पर अन्य आपत्तियाँ और समाधान)

ननु स्फोटव्यञ्जकतापक्षेऽपि प्रागुक्तविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातायितमिति चेत्—तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। वैषम्यसंभवात्। तथा हि—अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति। उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम्। यथा स्वाध्यायः सकृत्पठ्यमानो नावधार्यते। अभ्यासेन तु स्फुटावसायः। यथा वा रजतत्वं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति। चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते।

अब ये (पूर्वपक्षी) लोग फिर आपत्ति कर सकते हैं कि यदि स्फोट का [वर्णों के द्वारा] अभिव्यंग्य होना मान भी लें फिर भी तो पहले कहे गये (पूर्वपक्षी के द्वारा आरोपित, देखिये—७ क. का आरंभ) विकल्पों के प्रसार के कारण [बचना चाहते हुए भी आप उनके ही चक्र में पड़ जायँगे जैसे कोई

गाड़ीवान रात में चुंगी देने के डर से दूसरे रास्ते से रातभर चलता रहे और भूलता-भटकता] प्रातःकाल चुंगीघर के ही सामने पहुँच जाय [और उसे चुंगी (toll-tax) चुकानी पड़े।]

हमारा कहना है कि यह सब करके आप अपने मन में पुए पकाते रहें (मन को संतोष देते रहें)। [इससे कुछ होने का नहीं] क्योंकि दोनों में बहुत बड़ी विषमता है। देखिये—अभिव्यंजक होने पर भी प्रथम वर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रूप में ही करता है। [जैसे-जैसे वर्ण आते हैं वैसे-वैसे वे] अपने उत्तरोत्तर अभिव्यंजक क्रम से स्पष्ट, स्पष्टतर और सबसे अधिक स्पष्ट रूप से अंत में अभिव्यक्त कर देते हैं। इसलिए वर्ण चाहे स्पष्ट रूप से स्फोट की अभिव्यक्ति करे या अस्पष्ट रूप से, वह अभिव्यंजक है।]

जिस प्रकार स्वाध्याय (वेद) एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आता किन्तु अभ्यास करने से स्फुट होने लगता है। अथवा जिस प्रकार चाँदी प्रथम प्रतीति में (पहले-पहल देखने से) स्पष्ट नहीं होती, किन्तु अंत में वही (चाँदी) चित्त में अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है।

१०. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

(वाक्यप० १।८४)

इति प्रामाणिकोक्तेः। तस्मादस्माच्छब्दादर्थं प्रतिपद्यामह इति व्यवहारवशाद्वर्णानामर्थवाचकत्वानुपपत्तेः। प्रथमे काण्डे तत्रभवद्भिर्भर्तृहरिभिरभिहितत्वान्निरवयवमर्थप्रत्यायकं शब्दतत्त्वं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यमिति। एतत्सर्वं परमार्थसंविल्लक्षणसत्ता जातिरेव सर्वेषां शब्दानामर्थ इति प्रतिपादनपरे जातिसमुद्देशे प्रतिपादितम्।

इसके लिए प्रामाणिक कथन भी है—'अन्तिम ध्वनि (वर्ण) के साथ नादों (पहले से उच्चारित वर्णों की ध्वनियों) के द्वारा उस बुद्धि में जिसमें बीज अर्थात् अभिव्यक्ति के अनुकूल संस्कार की स्थापना हो चुकी है तथा जो बुद्धि [पहले के सभी संस्कारों की] आवृत्ति के कारण परिपक्व अर्थात् योग्यता-संपन्न भी हो चुकी है, किसी शब्द का निर्धारण (निश्चय) होता है' (वाक्यपदीय १।८४)। [बुद्धि में प्रत्येक शब्द का एक संस्कार रहता है जो शक्तिग्रह और आवृत्ति के कारण स्थिर हो जाता है, तभी बुद्धि में योग्यता

होती है। जब किसी पद या वाक्य का श्रवण करते हैं तब उस पद या वाक्य के प्रथम वर्ण से ही उक्त संस्कार जागने लगता है, या स्फोट स्पष्ट होने लगता है। अन्तिम वर्ण उच्चरित होते-होते सारे-के-सारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं तथा 'अमुक शब्द है' यह ज्ञान होता है। यही आशय है।]*

इसलिए, 'इस शब्द से हम अर्थ की प्रतीति करते हैं' ऐसा व्यवहार होने के कारण यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण अर्थ के वाचक हैं, [प्रत्युत शब्द अर्थ के वाचक हो सकते हैं।] वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में आदरणीय भर्तृहरि ने इसका वर्णन किया है अतः अवयवों से रहित, अर्थबोधक शब्दतत्त्व, जिसका नाम स्फोट है, हमें स्वीकार करना चाहिए। परमार्थ (परम तत्त्व, ब्रह्म) के पूर्णज्ञान (संवित्) रूपी लक्षण से युक्त जो [सभी पदार्थों में विद्यमान] सत्ता है, वह [घट, पट आदि संबन्धियों के भेद से घटत्व, पटत्व आदि की] जाति के रूप में है तथा सभी शब्दों (घट, पटादि) का अर्थ भी वही (सत्ताजाति) है। इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले जाति-समुद्देश (वाक्यपदीय के तृतीय कांड का एक खण्ड) नामक खण्ड में भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट किया है। [अब सत्ता को अर्थ मानने वाले पक्ष का खंडन पूर्वपक्षी करेंगे।]

(९. सत्ता ही शब्दों का अर्थ है—पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष)

यदि सत्तैव सर्वेषां शब्दानामर्थस्तर्हि सर्वेषां शब्दानां पर्यायता स्यात्। तथा च क्वचिदपि युगपत्त्रिचतुरपदप्रयोगायोग इति महच्चातुर्यमायुष्मतः। तदुक्तम्—

११. पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते।
पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः॥ इति।

तस्मादयं पक्षो न क्षोदक्षम इति चेत्—।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि] यदि सभी शब्दों का अर्थ सत्ता (परम सत्ता, परमार्थ का ज्ञान) ही है तब तो सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हो जायँगे। यही नहीं, आपकी चतुरता धन्य है! आपके मत में रहने से तो कहीं भी एक साथ तीन-चार पदों का प्रयोग होगा ही नहीं। [जब सभी शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं तब तो एक साथ कई पर्यायों का प्रयोग नहीं होगा, अतः कई शब्दों को

---

* विशेष ज्ञान के लिए पं० सूर्यनारायण शुक्ल की व्याख्या से युक्त वाक्यपदीय देखें। पृ० ९७-९९।

एक बार में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य की भाषा ही निरर्थक हो जायगी। धन्य है आपका सिद्धान्त !] इसे कहा भी है—

'पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग एक साथ नहीं करना चाहिए क्योंकि ये शब्द एक-एक करके अर्थ का बोध कराते हैं, एक साथ मिलकर नहीं।' [चंद्र, इंदु, शशि आदि शब्द पृथक् वाक्यों में अपने क्रम से अर्थ-बोध करा सकते हैं किन्तु यदि एक ही साथ इनका प्रयोग कर दें तो वाक्य नहीं बन सकता—साहित्य-शास्त्र में तो ऐसा करना पुनरुक्ति-दोष माना जायगा।] इसलिए यह पक्ष इतना भी बलयुक्त नहीं कि हमारे खंडन को सँभाल सके।

तदेतद्गगनरोमन्थकल्पम् । नीललोहितपीताद्युपरञ्जकद्रव्यभेदेन स्फटिकमणेरिव संबन्धिभेदात्सत्तायास्तदात्मना भेदेन प्रतिपत्तिसिद्धौ, गोसत्तादिरूपगोत्वादिभेदनिबन्धनव्यवहारवैलक्षण्योपपत्तेः। तथा चाप्तवाक्यम्—

१२. स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक्पृथक्।
नीललोहितपीताद्यैस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥ इति।

[उक्त प्रश्न का उत्तर है कि] यह तो आकाश (शून्य) का रोमन्थ (जुगाली, पागुर) करने के समान है। [पशु चबाये हुए पदार्थ को फिर से मुँह में लाकर चबाते हैं वही रोमन्थ है। रोमन्थ करने के लिए कुछ ठोस पदार्थ होना चाहिए। यों ही आकाश का रोमन्थ नहीं हो सकता। उसी तरह आपलोगों का यह आक्षेप भी बिल्कुल असंभव है।] जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि में उपरंजक (रँगनेवाले) द्रव्यों के भेद के कारण नीले, लाल, पीले तथा अन्य रंगों की प्रतीति होती है उसी तरह संबन्धी के भेद के कारण, सत्ता की प्रतीति, उससे संबद्ध वस्तु के स्वरूप-भेद के रूप में होती है। इस तरह 'गो' की सत्ता (वैयक्तिक सत्ता) के रूप में गोत्व आदि [जाति की जो सत्ता है उसी से विभिन्न वस्तुओं के] भेद पर आधारित व्यवहार की विलक्षणता मालूम पड़ती है। [अभिप्राय यह है कि परमसत्ता ब्रह्म ही शब्दों का अर्थ है पर शब्दों में अर्थ को लेकर भेद क्यों है ? चूँकि सत्ता के संबन्धी घट, पट आदि द्रव्यों की घटसत्ता, पटसत्ता आदि है और इन वैयक्तिक सत्ताओं के रूप में घटत्वजाति, पटत्वजाति आदि जातियों की सत्ता है इसलिए परमसत्ता ब्रह्म के विवर्तरूप इन सत्ताओं के चलते शब्दार्थ में भेद पड़ता है। स्फटिक पर नाना प्रकार के रंग पड़ते हैं। उसी तरह संबन्धियों के भेद से सत्ता पर अनेक अर्थों का आरोपण होता है।]

ऐसा ही आप्त (प्रामाणिक) वाक्य है—'जैसे स्फटिक स्वच्छ द्रव्य ही है, पृथक्-पृथक् नीले, लाल, पीले रंगों के पड़ने से उसके वर्ण को प्राप्त कर लेता है, [वैसे ही सत्ता भी विभिन्न संबन्धियों के भेद से विभिन्न अर्थों को धारण कर लेती है ।]'

तथा हरिणाप्युक्तम्—

१३. संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
(वाक्य० ३।१।३३) ।

१४. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥
(वाक्यप० ३।१।३४) इति ।

वही भर्तृहरि ने भी कहा है—'सम्बन्धी (घट, पट आदि) के भेद से सत्ता (परम सत्ता) ही गो-आदि के रूप में भिन्न होकर जाति कहलाती है उसी में सभी शब्दों की व्यवस्था होती है ॥ १३ ॥

उसी जाति को प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ भी कहते हैं, वह जाति (सभी पदार्थों में स्थित संविद्रूपी सत्ता) नित्य है, वही महान् आत्मा (ब्रह्म) है, त्व, तल् आदि भाव-प्रत्यय उसी का पोषण करते हैं ॥ १४ ॥'

विशेष—महासत्ता नाम की एक ही जाति है, वही ब्रह्म है, गोत्व, अश्वत्वादि उसी के विवर्त हैं। आश्रयरूपी सम्बन्धी का भेद पड़ने से यह महासत्ता ही गोत्व आदि जाति के रूप में आती है। अभाव को भी महासत्ता से संबद्ध मानकर पदार्थ कहते हैं अतः महासत्ता को प्रादिपदिकार्थ के रूप में भी गृहीत करते हैं। धातु भी क्रियारूपी व्यक्तियों में समवेत होने वाली महासत्ता की अभिव्यक्ति करता है। ऐसी अवस्था में महासत्ता में क्रियारूपी उपाधियों के कारण अनेकता आती है। (देखिये, वाक्यपदीय का संबद्ध स्थल)। माधवाचार्य इसकी व्याख्या आगे करते हैं।

आश्रयभूतैः संबन्धिभिर्भिद्यमाना कल्पितभेदा गवाश्वादिषु सत्तैव महासामान्यमेव जातिः । गोत्वादिकमपरं सामान्यं परमार्थतस्ततो भिन्नं न भवति । गोसत्तैव गोत्वं, नापरमन्वयि प्रतिभासते । एवमश्वसत्ताऽश्वत्वमित्यादि वाच्यम् । एवं च

तस्यामेव गवादिभेदभिन्नायां सत्तायां जातौ सर्वे गोशब्दादयो वाचकत्वेन व्यवस्थिताः ।

आधार के रूप में जो संबन्धी हैं उनके द्वारा भेद किये जाने पर, जो भेद वस्तुतः कल्पित है वास्तविक नहीं, गो-अश्व आदि में रहनेवाली सत्ता ही महासामान्य (Summum genus) या जाति है। गोत्व आदि जो अपर (नीचे के) सामान्य हैं, वास्तव में उस (महासामान्य) से भिन्न नहीं हैं। गो की सत्ता (सभी गो-व्यक्तियों में अनुस्यूत सत्ता) ही गोत्व है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा संबन्धी प्रतिभासित नहीं होता। इसी तरह अश्व की सत्ता ही अश्वत्व है, दूसरा कुछ नहीं—ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार गो आदि (आधार) के भेद के कारण भिन्न प्रतीत होने वाली उसी सत्ता अर्थात् जाति में गो आदि सभी शब्द वाचक से रूप में व्यवस्थित हैं। [रामानुज-दर्शन में भी सभी शब्दों का परमात्मा का ही वाचक माना गया है देखिये—रा० द० अनुच्छेद १२, पृ० २०६।]

प्रातिपदिकार्थश्च सत्तेति प्रसिद्धम् । भाववचनो धातुरिति पक्षे भावः सत्तैवेति धात्वर्थः सत्ता भवत्येव । क्रियावचनो धातुरिति पक्षेऽपि 'जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्' इति क्रियासमुद्देशे (वा० प० ३।८) क्रियाया जातिरूपत्व-प्रतिपादनाद्धात्वर्थः सत्ता भवत्येव ।

इस प्रकार प्रातिपदिकार्थ को सत्ता भी कहते हैं यह तो प्रसिद्ध ही है। [अब धात्वर्थ को सत्ता कैसे कहते हैं, यह देखें] 'धातु वह है जो भाव का वाचक हो' यदि यह लक्षण मानते हैं तब तो भाव के सत्ता होने के कारण धात्वर्थ को सत्ता कहेंगे ही। यदि धातु का दूसरा लक्षण देते हैं कि क्रिया का वाचक धातु है तब तो 'कुछ लोग अनेक व्यक्तियों (Individuals) में विद्यमान रहनेवाली क्रिया को जाति कहते हैं' इस प्रकार भर्तृहरि ने जो वाक्यपदीय के क्रिया-समुद्देश (३।८) में क्रिया को जाति का रूप माना है उसी से सिद्ध होता है कि धात्वर्थ भी सत्ता है। [सभी पाचक-व्यक्तियों में अवस्थित जो पाचकत्व-जाति है वही पचन-क्रिया है, इस प्रकार वह भी जाति या सत्ता है ही।]

'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० सू० ५।१।११९) इति भावार्थे त्वतलादीनां विधानात्सत्तावाचित्वं युक्तम् । सा च

सत्ता उदयव्ययवैधुर्यान्नित्या। सर्वस्य प्रपञ्चस्य तद्विवर्ततया देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छेदराहित्यात्सा सत्ता महानात्मेति व्यपदिश्यत इति कारिकाद्वयार्थः।

'किसी पदार्थ का भाव—इस अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं' (पा० सू० ५।१।११९) इस सूत्र के द्वारा भाव के अर्थ में होने वाले त्व, तल् और अन्य प्रत्ययों का भी विधान करने से, ये प्रत्यय सत्तावाचक हैं, ऐसा कहना युक्तिसंगत है। उत्पत्ति और विनाश से रहित होने के कारण यह सत्ता नित्य है। यह सारा प्रपंच (संसार, उसके पदार्थ) उस सत्ता के ही विवर्त (प्रतिभासित रूप) हैं, वह सत्ता देश के परिच्छेद से रहित है (स्थान की सीमा में नहीं बाँधी जा सकती—सर्वत्र होने के कारण वह **व्यापक** है), काल की सीमा भी उसमें नहीं (क्योंकि **नित्य है**) तथा वस्तु का बंधन भी उस पर नहीं है [कि यह सत्ता किसी एक ही वस्तु में है—यह तो सभी वस्तुओं का आधार है क्योंकि वस्तुओं और सत्ता में **अभेद**-सम्बन्ध है], इसलिए इस सत्ता को 'महान् आत्मा' ऐसा कह कर पुकारते हैं। [यह प्रपञ्च महान् या अनादि है, सत्ता में ही अवभासित होता है अतः तीन प्रकार के परिच्छेदों (limitations) से रहित होने के कारण 'ब्रह्म' के रूप में ही है।] यही दोनों कारिकाओं (वा० प० ३।१।३३-३४) का अर्थ है।

विशेष—स्मरणीय है कि माधवाचार्य वाक्यपदीय को पाणिनि-दर्शन का आधारग्रन्थ मानते हैं क्योंकि प्रमाण देने में या दार्शनिक तथ्यों को समझाने में वे बार-बार उसी का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः भर्तृहरि ने (६६० ई०) महाभाष्य में विशृंखलित दार्शनिक विचारधाराओं को संकलित करके पाणिनि-व्याकरण को एक दर्शन का रूप दे दिया। इनका वाक्यपदीय ही भट्टोजिदीक्षित (१५७८ ई०) की कृति—वैयाकरणसिद्धान्तकारिका—का उपजीव्य था। दीक्षित की उक्त कृति पर कोण्डभट्ट (१६४०) ने वैयाकरण-भूषण नाम की टीका लिखी। नागेश भट्ट (१७१४) ने व्याकरण के अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त पाणिनि-दर्शन पर अपनी मंजूषायें (बृहत् , लघु और परमलघु) प्रस्तुत कीं। इन सबोंने प्रायः निम्नलिखित विषयों पर विचार प्रकट किये थे—स्फोट, शक्ति, वाक्यार्थ, धात्वर्थ, लकारार्थ, कारक, प्रातिपदिकार्थ, समासादि की वृत्तियाँ आदि। कुछ वैयाकरणों तथा नैयायिकों ने भी इनमें एकाध विषय को लेकर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे थे। यह पाणिनिदर्शन की रूपरेखा थी। माधवाचार्य ने सभी विषयों पर 'दर्शन' में विचार नहीं किया है। दुःख है कि अभी तक ये सभी विचार दूसरी भाषाओं के पाठकों तक नहीं पहुँचे। बंगला

में एक बहुत ही प्रौढ़ ग्रन्थ 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' (प्रथम खण्ड) श्रीगुरुपद हालदार ने लिखा है जिसमें व्याकरण के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पक्षों पर सुलझे और विस्तृत विचार दिये गये हैं। अंगरेजी में प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती का Philosophy of Grammar (व्याकरण-दर्शन) पीएच्० डी० की थीसिस है जिसमें कुछ प्रश्नों का सामान्य विश्लेषण किया गया है। डा० कपिलदेव द्विवेदी की थीसिस 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' भी इस दिशा का स्तुत्य प्रयास है, पर ये सभी ग्रन्थ सामान्य दृष्टिकोण से—व्याकरण को दर्शन मानकर—नहीं लिखे गये हैं।

(१०. द्रव्य को पदार्थ माननेवालों का विचार)

द्रव्यपदार्थवादिनोऽपि नये संविल्लक्षणं तत्त्वमेव सर्वशब्दार्थ इति सम्बन्धसमुद्देशे समर्थितम्—

१५. सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥
(वा० प० ३।२।२)

[ऊपर जाति को पदार्थ मानने वालों का विचार दिया गया है कि जाति सत्ता से भिन्न नहीं है, इसलिए परमार्थ-ज्ञान के रूप में सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। अब व्यक्ति अर्थात् द्रव्य को पदार्थ मानने वाले लोगों के मत से भी अर्थ वही है, यह कहते हैं—] द्रव्य (= घटादि व्यक्ति) को पदार्थ मानने वालों के सिद्धान्त के अनुसार भी सभी शब्दों का अर्थ वह तत्त्व (सत्ता नामक) ही है जो संवित् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान से लक्षित होता है। [घटादि पदार्थों के व्यक्ति (Individual) रूप को द्रव्य कहते हैं। वृद्ध के व्यवहार से जब शक्तिग्रह होता है तब 'गाय लाओ, घोड़े को बाँध दो' आदि वाक्यों के द्वारा, विभिन्न क्रियाओं के विषय के रूप में आनेवाले व्यक्ति-रूपों के ही दर्शन होते हैं, जाति के नहीं। अतः इन लोगों के अनुसार जाति से विशिष्ट व्यक्ति (द्रव्य) ही शब्द का अर्थ है।]

उक्त तथ्य का समर्थन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के संबन्धसमुद्देश (३।२।२) में किया है—'जिस प्रकार सत्य वस्तु का निश्चय उसी के आकार से युक्त असत्य वस्तुओं के द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार असत्य (द्रव्यात्मक) उपाधियों के द्वारा शब्द भी सत्य का ही निर्देश करते हैं।' [जैसे किसी व्यक्ति ने वास्तविक सिंह नहीं देखा हो, उसे सिंह का आकार-प्रकार समझाने के लिये सिंह का चित्र या मूर्ति दिखलाते हैं। यद्यपि चित्र या मूर्ति का सिंह सत्य नहीं, असत्य ही है, परन्तु

उसी से सच्चे सिंह का निश्चय कर लेते हैं कि वह ऐसा ही होता है। उसी प्रकार ये द्रव्य केवल उपाधियाँ हैं, पदार्थ-बोध के सहायक हैं तथा असत्य हैं किन्तु इन्हीं द्रव्यों के द्वारा शब्द अन्त में हमें सत्य तक—अर्थात् महासत्ता ही सब शब्दों का अर्थ है वहाँ तक—पहुँचा देता है।]

विशेष—भर्तृहरि ने ठीक ऐसी ही भावना इस श्लोक में भी की है—

उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

अर्थात् व्याकरणशास्त्र वास्तव में उपाय (साधन) है जैसे सीखने वाले बालकों के लिए उपलालन (लाड़-प्यार) का प्रयोग होता है। इस प्रकार असत्य मार्ग से होकर कुछ दिनों के बाद बालक सत्य मार्ग पर पहुँच जाता है। वह समझ लेता है कि उपलालन एक बहाना है, सत्य तो अध्ययन है। (वाक्य० २।२४०)।

१६. अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा।
गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥

भाष्यकारेणापि 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' इत्येतद्वार्तिकव्याख्यानावसरे द्रव्यं हि नित्यमित्यनेन ग्रन्थेनासत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यं सर्वशब्दार्थ इति निरूपितम्।

"अध्रुव या अस्थायी निमित्त के द्वारा 'यह देवदत्त का घर है' ऐसा ग्रहण होता है, परन्तु 'गृह' शब्द से शुद्ध-गृह का ही बोध होता है (निमित्तयुक्त गृह का नहीं)।" [अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा देवदत्त का घर पूछने पर दूसरा कहता है कि कौए वाला घर राम का है। यद्यपि कौआ घर पर अस्थिर ही है, परन्तु उस निमित्त (कारण, संकेत) से देवदत्त के घर का पता लग जाता है। किन्तु गृह शब्द से काकरहित गृह का ही बोध होता है—जो लक्ष्य है। उसी तरह गो, घट आदि शब्दों से व्यक्ति (गोव्यक्ति, घटव्यक्ति) को आगे रखकर उसी के माध्यम से इन व्यक्तियों (निमित्तों) से रहित 'सत्ता' पर पहुँचते हैं जो सत्य तत्त्व है। किसी भी दशा में शब्द सत्ता के ही बोधक हैं।]

'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' (शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध सिद्ध है)—इस वार्त्तिक (सं० १) के व्याख्यान के समय भाष्यकार ने 'द्रव्य चूँकि नित्य है' यह कहते हुए निरूपित किया है कि असत्य उपाधियों से व्याप्त ब्रह्मतत्त्व, जो द्रव्य शब्द के द्वारा अभिहित होता है, सभी शब्दों का अर्थ है। [जब आशंका की जाती है कि क्या पाणिनि ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की सृष्टि की है या केवल स्मरण किया है तब उत्तर में उक्त वार्तिक रखा जाता है। सिद्ध =

नित्य। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है उनके ज्ञापन के लिए ही पाणिनि प्रवृत्त हुए हैं। अर्थ के विषय में पक्ष हो सकते हैं—जाति अर्थ है या व्यक्ति? दोनों पक्षों में अर्थ नित्य ही रहता है। जाति को पदार्थ मानने पर तो जाति सत्ता है, इसलिए वह नित्य है ही। सत्ता के अतिरिक्त जाति को अलग मानने-वाले (नैयायिकादि) भी जाति को नित्य ही मानते हैं। यदि द्रव्य को पदार्थ मानें तो पतंजलि ने भाष्य (पृ० ७) में कहा है—'द्रव्यं हि नित्यम्'। अब यदि द्रव्य से गो, घट आदि पार्थिव द्रव्य का अर्थ लेंगे तब तो ये अनित्य हैं अतः पतंजलि की बात झूठी हो जायगी। इसलिए कैयट ने कहा है कि असत्य उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही यहाँ 'द्रव्य' शब्द से समझना चाहिए। जाति, व्यक्ति दोनों ही पक्षों में परमार्थ-संवित् से लक्षित ब्रह्म की सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। उक्त वार्तिक से मालूम होता है कि अर्थ से युक्त शब्द भी नित्य ही है। अतः स्फोट के रूप में जो नित्य शब्द है वही वाचक है, वर्णों के रूप में रहने वाली अनित्य ध्वनि नहीं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि केवल व्यंजक है जो स्फोट को अभिव्यक्त करती है—वाचकता तो स्फोट शब्द में ही है। अतः स्फोट सिद्ध हो गया।]

(११. जाति और व्यक्ति को पदार्थ माननेवालों के विचार)

जातिशब्दार्थवाचिनो वाजप्यायनस्य मते गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतजातिमभिदधति। तस्यामवगाह्यमानायां तत्सं-बन्धाद् द्रव्यमवगम्यते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तत्संबन्धात्प्रत्ययः। द्रव्ये सम्बन्धि-सम्बन्धात्।

'जाति को ही शब्दार्थ माननेवाले वाजप्यायन के अनुसार, 'गो' आदि शब्द भिन्न-भिन्न द्रव्यों में (संज्ञाओं या व्यक्तियों में) समवेत **जाति** का ही अभिधान करते हैं। जाति में अवगाहन करने के बाद (=जाति की प्रतीति होने पर) उसके सम्बन्ध से **द्रव्य** का ज्ञान होता है। शुक्ल आदि शब्द **गुण** से समवेत जाति का ही अभिधान करते हैं। उसके साथ सम्बन्ध होने से गुण की प्रतीति होती है। द्रव्य की प्रतीति तो [उस प्रकार की जाति के] सम्बन्धी गुण के सम्बन्ध से होती है।

विशेष—वाजप्यायन जाति को पदार्थ मानते हैं, व्याडि व्यक्ति को। पाणिनि के मत से दोनों ही पदार्थ हैं। इन पक्षों का वर्णन भी यथास्थान प्राप्त होगा।

शब्दों के चार भेद होते हैं—जाति, गुण, संज्ञा और क्रिया। ये भेद प्रवृत्ति-निमित्त (शब्दों के व्यवहार के कारण) में भेद पड़ने के कारण होते हैं। जो शब्द जाति के व्यवहार का कारण हो वह जाति-शब्द है, आदि-आदि। इनके उदाहरण 'गौः, शुक्लः, डित्थः तथा चलः' हैं। एक ही व्यक्ति 'गो' पर ये चारों शब्द प्रयुक्त होते हैं। उस व्यक्ति (Individual) गो में गोत्व **जाति** जानकर 'गौः' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसी गो-व्यक्ति में शुक्ल **गुण** को जानकर 'शुक्लः' शब्द का प्रयोग (प्रवृत्ति) करते हैं। उसी में चलन-**क्रिया** देखकर 'चलः' शब्द की प्रवृत्ति होती है और उसी व्यक्ति की 'डित्थ' **संज्ञा** (Name) देख कर 'डित्थः' शब्द की प्रवृत्ति भी होती है।

अब इस पर अनेक मत होंगे। प्रवृत्ति का निमित्त जात्यादि हैं और वे ही उन-उन शब्दों के वाच्य अर्थ हैं। व्यक्ति उसी पर आश्रित है अतः उसकी प्रतीति आक्षेप (Projection) आदि साधनों से ही होती है। एक यह मत है जिसके अनुयायी वाजप्यायन हैं किन्तु वे यह मानते हैं कि चारों प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हैं किन्तु सभी शब्द जाति के रूप में ही हैं। दूसरा वह मत है जिसमें कहा जाता है कि प्रवृत्तिनिमित्त अनेक व्यक्तियों (individuals) में अनुगमन करता है अतः केवल उनका उपलक्षण (संकेतमात्र) है, व्यक्ति ही वाच्यार्थ है। तीसरे मत में प्रवृत्ति-निमित्त से विशिष्ट व्यक्ति को वाच्यार्थ मानते हैं।

वाजप्यायन के मत का विश्लेषण करें—अर्थ केवल जाति ही है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत (inherent नित्य रूप से संबद्ध) गोत्वजाति ही 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह (जाति) ही उसका वाच्यार्थ है। घटादि में वर्तमान जो शुक्ल गुण है उसमें भी शुक्लत्वजाति है जो 'शुक्ल' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। वह शुक्लत्व (जाति) ही 'शुक्ल' शब्द का वाच्यार्थ है। 'शुक्ल' शब्द से शुक्ल-गुण की प्रतीति उसी जाति के संबन्ध से होती है। शुक्ल गुण से विशिष्ट घटादि द्रव्य की प्रतीति (= उजले घड़े का ज्ञान) 'शुक्ल' शब्द से होती है अर्थात् 'शुक्लत्व जाति' के सम्बन्धी 'शुक्ल' गुण के सम्बन्ध से होती है (द्रव्ये सम्बन्धिसंबन्धात्)।

उसी प्रकार अनेक 'चलन' क्रियाओं में विद्यमान चलनत्व जाति 'चल' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है और वह जाति ही उसका वाच्यार्थ है। 'चल' शब्द से चलन क्रिया की प्रतीति उपर्युक्त (चलनत्व) जाति के संबंध से ही होती है। क्रिया के आधार के रूप में देवदत्त आदि (देवदत्तः चलति—वाक्य में) का बोध उस जाति की सम्बन्धी क्रिया के संबन्ध से ही होता है। 'डित्थ' नाम का

पशु यद्यपि एक ही है परन्तु शैशव, यौवन आदि अवस्थाओं के भेद से उस प्रकार के अनेक व्यक्तियों में विद्यमान डित्थत्व जाति ही 'डित्थ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, वही उसका वाच्यार्थ है। व्यक्ति का बोध डित्थत्व के आश्रय या आधार के रूप में होता है। इस प्रकार वाजप्यायन के मत से जाति ही वाच्यार्थ है।

संज्ञाशब्दानामुत्पत्तिप्रभृत्या विनाशाच्छैशवकौमारयौवना-द्यवस्थादिभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययबलात्सिद्धा देवदत्त-त्वादिजातिरभ्युपगन्तव्या। क्रियास्वपि जातिरालक्ष्यते। सैव धातुवाच्या। पचतीत्यादावनुवृत्तप्रत्ययस्य प्रादुर्भावात्।

संज्ञा-शब्दों (Proper names) में उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्यन्त शैशव, कौमार, यौवन आदि अवस्थाओं का भेद पड़ने पर भी, 'यह वही है'--इस तरह के अभेद की प्रतीति होती है जिससे देवदत्तत्वादि जाति सिद्ध होती है। क्रियाओं में भी जाति की ही प्रतीति होती है और उसे ही 'धातु' नाम से पुकारते हैं। 'पचति' इत्यादि क्रियाओं में सभी में क्रिया के अनुवृत्त होने की प्रतीति होती है (जितने लोग पाक कर रहे हैं उन सबों में 'पचति' का ही अनुवर्तन होता है)।

द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते। जातिस्तूपलक्षणतयेति नानन्त्यादिदोषावकाशः।

द्रव्य (व्यक्ति) को पदार्थ मानने वाले व्याडि-आचार्य के मत से अभिधेय के रूप में शब्द का व्यक्ति ही प्रतिभासित होता है [जाति नहीं]। जाति तो केवल उपलक्षण या संकेत के रूप में प्रतिभासित होती है अतः व्यक्ति के आनन्त्य आदि का दोष इस पर नहीं लग सकता। [ऐसी शंका हो सकती है कि अनंत गो-व्यक्ति होने के कारण 'गो' शब्द का अर्थ जानना कठिन है। किन्तु उत्तर यह होगा कि गोत्व-जाति से सभी गो-व्यक्तियों का ज्ञान हो जायगा। ऐसी दशा में गोत्व-जाति गोव्यक्ति का उपलक्षण है, वाच्यार्थ नहीं।]

(१२. पाणिनि के मत से पदार्थ—जाति-व्यक्ति दोनों है)

पाणिन्याचार्यस्योभयं संमतम्। यतो जातिपदार्थमभ्युप-गम्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इत्यादिव्यवहारः। द्रव्यपदार्थमङ्गीकृत्य 'सरूपा-णामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) इत्यादिः।

व्याकरणस्य सर्वपार्षदत्वान्मतद्वयाभ्युपगमे न कश्चिद्विरोधः। तस्माददूयं सत्यं परं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दार्थ इति स्थितम्।

आचार्य पाणिनि को [शब्दार्थ रूप में जाति और द्रव्य या व्यक्ति] दोनों ही मान्य है। इसका कारण यह है कि जाति को पदार्थ मानकर उन्होंने 'जात्याख्यायाम्—' (अर्थात् जाति का वर्णन करने पर एकवचन शब्द विकल्प से बहुवचन होता है—पा० सू० १।२।५८) इत्यादि सूत्रों का प्रयोग किया है। [ऊपर के सूत्र के उदाहरण में 'ब्राह्मणः पूज्यः' और 'ब्राह्मणा पूज्याः' देते हैं जिनका अर्थ है कि ब्राह्मण जाति पूज्य है। यहाँ ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्राह्मणत्व जाति। अतः पाणिनि को जाति पदार्थ मान्य है।] द्रव्य को पदार्थ मानकर पाणिनि ने 'सरूपाणाम्—' (अर्थात् एक समान विभक्ति में रहने वाले जितने सरूप शब्द हैं उनमें एक ही शब्द बच रहता है—पा० सू० १।२।६४) इत्यादि लिखा है। [उदाहरण है—रामश्च रामश्च रामौ। यदि यह सूत्र नहीं होता तो 'घटश्च पटश्च घटपटौ' की तरह द्वन्द्वसमास में यहाँ भी 'रामरामौ' होता। व्यक्ति अनेक होते हैं इसलिए उनके अनुसार कई 'राम' शब्दों का प्रयोग एक ही साथ होता—उसे रोकने के लिए यह एकशेष-विधायक सूत्र है। किसी भी दशा में व्यक्ति को पदार्थ मानने का श्रेय इस सूत्र को प्राप्त है।]

व्याकरण-शास्त्र सभी सभासदों के लिए समान है अतः दोनों मतों को मान लेने में कोई विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। [व्याकरण सभी लोगों के मतों पर ध्यान रखता है, जनतांत्रिक है अतः सभी मतों को माना जा सकता है। हाँ, उनमें परस्पर विरोध न हो।] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अद्वैत, सत्य तथा परम (सर्वोच्च) ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का अर्थ है [चाहे वह जाति पक्ष हो या व्यक्ति-पक्ष। जाति-पक्ष में गोत्वादि जातियों को ब्रह्म की सत्ता से पृथक् मानते ही नहीं। व्यक्ति (द्रव्य)—पक्ष में असत्य व्यक्ति की उपाधि के द्वारा सत्य ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन होता है।]

तदुक्तम् (वा० प० ३।३।८७)—

१७. तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते॥ इति।

सत्यस्वरूपमपि हरिणोक्तं सम्बन्धसमुद्देशे (७२)—

१८. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम्।

तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ इति ।

द्रव्यसमुद्देशेऽपि (वा० प० ३।२।१५)—

१९. विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा ।
विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ इति ।

ऐसा ही कहा गया है—'इसलिए शक्ति (शब्दार्थ बोध करानेवाली शक्ति) का विभाग करने से जब शब्द के वाच्यत्व की अवस्था आती है तब वही एकात्मक अर्थ जो सत्य, सर्वव्यापक तथा सद्रूप है, बहुत रूपों में प्रकाशित हो जाता है।' [विभिन्न शब्दों की सामर्थ्य का विभाजन करने पर वे शब्द वाच्यार्थ का बोध कराते हैं किन्तु ये सारे अर्थ उस एकात्मक सत्य ब्रह्मसत्ता के ही आभास हैं ।]

भर्तृहरि ने सम्बन्ध-समुद्देश में अर्थ के सत्यस्वरूप का वर्णन भी किया है—'त्रयी (वेद) के अन्त (वेदान्त) को जाननेवालों का कहना है कि जहाँ द्रष्टा (देखनेवाला), दृश्य (वस्तु) तथा दर्शन (क्रिया)—इन तीनों की कल्पना नहीं रहती है, उसी [आत्मारूपी एकात्मक] अर्थ को **सत्य** कहते हैं ॥१८॥' द्रव्यसमुद्देश में भी वे कहते हैं—'जो विकार की अवस्था आने पर भी सच्चा ही बना रहे जैसे कुण्डल बन जाने पर भी स्वर्ण की सत्ता रहती है, तथा जिसमें विकार का आना जाना होता रहे उसे ही परम प्रकृति कहते हैं ॥ १९ ॥'

(१३. अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि)

अभ्युपगताद्वितीयत्वनिर्वाहाय वाच्यवाचकयोरविभागः प्रदर्शितः (वा० प० ३।२।१६)—

२०. वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक्कृतः ।
अपृथक्त्वेऽपि संबन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥ इति ।

तत्तदुपाधिपरिकल्पितभेदबहुलतया व्यवहारस्याविद्यामात्रकल्पितत्वेन प्रतिनियताकारोपधीयमानरूपभेदं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दविषयः। अभेदे च पारमार्थिके संवृतिवशाद् व्यवहारदशायां स्वप्नावस्थावदुच्चावचः प्रपञ्चो विवर्तत इति कारिकार्थः ।

ऊपर सिद्ध किये गये अद्वैत-तत्त्व के निर्वाह के लिए वाच्य (ब्रह्मसत्ता) और वाचक (स्फोट) में अभेद भी दिखलाया गया है—'वह (ब्रह्मसत्ता) सभी शब्दों का वाच्य है, वह उस (नित्य स्फोट-रूपी) शब्द से पृथक् नहीं है । पृथक् न होने पर भी उन दोनों का संबन्ध जीव और परमात्मा की तरह है।'

[यद्यपि ब्रह्मसत्ता और स्फोट एक ही हैं पर कल्पना के कारण उन दोनों का पारस्परिक संबन्ध प्रतिभासित होता है। जीव और परमात्मा एक ही है परन्तु कल्पना से ही व्यवहारदशा में उन दोनों में नियाम्य-नियामक-भाव का संबन्ध प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार स्फोट और ब्रह्मसत्ता का संबन्ध है जो काल्पनिक है।]

ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का विषय (वाच्य) है; उस (ब्रह्मतत्त्व) में प्रत्येक वस्तु के निश्चित आकार के अनुसार रूप के भेदों का आरोपण होता है किन्तु यह उन वस्तुओं की उपाधियों (Conditions) के द्वारा कल्पित भेदों के बाहुल्य के कारण तथा व्यवहारदशा को केवल अविद्या मान लेने के कारण होता है। चूँकि अभेद पारमार्थिक (वास्तविक) है अतः संवृति (आवरण, कल्पना) के कारण, व्यवहार–दशा में, स्वप्नावस्था की तरह, नाना प्रकार के प्रपंच (विस्तारपूर्ण वस्तुएँ) भ्रम से दिखलाई पड़ते हैं। यही उक्त कारिका (वाक्य० ३।२।१६) का अर्थ है।

तदाहुर्वेदान्तवादनिपुणाः—

२१. यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः।
एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः॥ इति।

तदित्थं कूटस्थे परस्मिन्ब्रह्मणि सच्चिदानन्दरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्यानिवृत्तौ तादृग्ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यति।

उसे वेदान्त-मत के विशेषज्ञों ने व्यक्त किया है—'जैसे यह स्वप्न का प्रपंच मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण है वैसे ही यह जागृतावस्था का प्रपंच भी मेरे अन्दर की माया की वृद्धि के कारण ही है। [जागृतावस्था के स्तर से हम स्वप्न की बातों को मिथ्या मानते हैं वैसे ही पारमार्थिक दशा के स्तर से जागृतावस्था की चीजों को भी मिथ्या ही कहना चाहिए।]'

तो इस प्रकार कूटस्थ, परमब्रह्म जो सच्चिदानन्द के रूप में तथा जीव (प्रत्यक्) से अभिन्न हैं, उन्हें जान लेने पर अनादिकाल से चली आनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तथा उस निःश्रेयस की प्राप्ति होती है जिसमें साधक ब्रह्म के रूप में अवस्थित हो जाता है।

(१४. व्याकरण से मोक्षप्राप्ति)

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (महाभारत,

शा० प० अ० २७०) इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च शब्दानुशासनशास्त्रस्य निःश्रेयससाधनत्वं सिद्धम् । तदुक्तम्—

२२. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते ॥
(वाक्यपदीयम् १।१४) इति ।

तथा—

२३. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
(वाक्य० १।१६) इति ।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रं परमपुरुषार्थसाधनतयाऽध्येतव्यमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शनम् ॥

बड़े लोगों का भी कहना है कि शब्दब्रह्म में प्रवीण होकर पुरुष परब्रह्म (मोक्ष, ब्रह्मसायुज्य) की प्राप्ति करता है। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २७०)। इस तरह शब्दानुशासन (व्याकरण) शास्त्र मोक्ष का साधन है यह सिद्ध होता है। वही कहा भी है—'वह (व्याकरण-शास्त्र) अपवर्ग का साधन है, [पाप को उत्पन्न करने वाले अपशब्द रूपी] वाणी के मलों की चिकित्सा करने वाला है, सभी विद्याओं में पवित्र है तथा सभी विद्याओं में इसकी पूछ है' (वाक्य० १।१४)। [चूँकि सभी शास्त्रों में अर्थ शब्दों से ही लिया जाता है और शब्द का संस्कार व्याकरण के अधीन है अतः सबों को प्रकाशित करने वाला व्याकरण ही है।] उसी तरह—'यह (व्याकरण) सिद्धि के सोपान-खण्डों में पहला सोपान है—मोक्ष प्राप्त करने वालों के लिए तो यह सीधी सड़क ही है।' (वही, १।१६)।

अतः परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के उपाय के रूप में व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए—यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पाणिनिदर्शनमवसितम् ॥

(१४) सांख्य-दर्शनम्

> तत्त्वद्वयं स पुरुषः प्रकृतिर्द्वितीया
> धत्ते गुणानपि च सत्त्वरजस्तमांसि ।
> सर्वं जगच्चलति तत्परिणामरूपं
> तत्सांख्यकारमिह तं कपिलं नमामि ॥—ऋषिः ।

(१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व)

अथ सांख्यैराख्याते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्तवादः आदरणीयो भवेत् । एष हि तेषामाघोषः । संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिद्विकृतिप्रकृतिश्च, कश्चिद्विकृतिरेव, कश्चिदनुभय इति ।

सांख्य-दार्शनिकों का कहा हुआ परिणामवाद है, इस विरोधी सिद्धान्त के जगे रहने पर भी [पाणिनि-दर्शन का] विवर्तवाद कैसे सम्मानित हो सकता है ?—उन सांख्यों का यही नारा है । संक्षेप में सांख्य-शास्त्र में [कहे गये पदार्थों के] चार प्रकार हो सकते हैं—कुछ पदार्थ केवल प्रकृति (मूल रूप है), कुछ प्रकृति और विकृति दोनों हैं, कुछ केवल विकृति ही हैं और कुछ पदार्थ दोनों में से कुछ भी नहीं (=पुरुष) ।

विशेष—जब सत्तायुक्त (existent) द्रव्य एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब इस क्रिया को **परिणाम** या विकास (evolution) कहते हैं, सांख्यों का मत है कि प्रकृति-आदि तत्त्व अपने-अपने कार्य के रूप में परिणत होते हैं । कार्य की सत्ता कारण के रूप में है जो निमित्त कारण के व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है । इसे सत्कार्यवाद कहते हैं । इसी के आधार पर ये लोग परिणामवाद भी मानते हैं । इसमें कारण की अवस्था तथा कार्यावस्था, दोनों दशाओं में द्रव्य सत्तायुक्त ही रहता है । विकार, परिणाम, विकास, अभिव्यक्ति, सत्कार्य—ये एकार्थक शब्द हैं, इनमें किसी वाद से सांख्य का ही बोध होता है । **विवर्तवाद** परिणामवाद का उलटा है । जब द्रव्य अपना पहला रूप न छोड़े किन्तु किसी भिन्न असत् रूप में दिखलाई पड़े तो इसे विवर्त कहते हैं जैसे रस्सी (मूल रूप) का साँप के रूप में दिखलाई पड़ना ।

इसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता किन्तु भ्रान्ति से वैसा रूपान्तर केवल प्रतीत होता है। वैयाकरण तथा अद्वैत वेदान्ती लोग विवर्तवाद मानते हैं। उनका कहना ब्रह्म अधिष्ठान (आधार, मूल तत्त्व) है, यह सम्पूर्ण संसार उसी ब्रह्म का विवर्त है—भ्रान्ति से प्रतीत होता है कि यह जगत् ब्रह्म से पृथक् है, यहाँ नाना प्रकार की सत्तायें हैं आदि। वैयाकरण शब्दतत्त्व को ही ब्रह्म कहते हैं, यह दूसरी बात है। वेदान्तसार में सदानन्द ने दोनों वादों का अन्तर बहुत संक्षिप्त और सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तत्त्व के साथ (वास्तव में) दूसरे रूप में समझना **विकार** है, तत्त्व के विना (भ्रम से) दूसरे रूप में समझना **विवर्त** कहलाता है।

(२. प्रकृति का अर्थ)

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यस्य कस्यचिद् विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्। तदुक्तं—'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सां० का० ३) इति। मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।

महदादेः कार्यकलापस्यासौ मूलं न त्वस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति। अनवस्थापातात्। न च बीजाङ्कुरवदनवस्था-दोषो न भवतीति वाच्यम्। प्रमाणाभावादिति भावः।

इनमें केवल प्रकृति का अर्थ है 'प्रधान' के नाम से पुकारी जानेवाली मूल-प्रकृति। यह किसी भी दूसरे पदार्थ की विकृति (विकार) नहीं है। जो प्रकृष्ट रूप से (तत्त्वों का उत्पादन करते हुए) कार्य करे (प्र + √कृ) वही प्रकृति है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति (निर्वचन) से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का बोध होता है' कहा भी है—'मूल-प्रकृति बिना विकृति के ही है' (सां० का० ३)। वह इसलिए मूल प्रकृति कहलाती है कि वह मूल भी है और प्रकृति (उत्पादक) भी।

महत् आदि कार्य-समूह का मूल (Root) वही प्रकृति ही है किन्तु इस प्रधान का कोई दूसरा मूल (कारण) नहीं। [यदि इस प्रधान के भी कारण

की खोज करेंगे तो] अनवस्था-दोष होगा। [प्रकृति का कारण खोजने पर उस कारण का भी कोई दूसरा कारण होगा—इस कारण-शृङ्खला का कहीं अन्त नहीं होगा, इसलिए कहीं पर ठहरना आवश्यक है। मूल-प्रकृति को ही अंतिम कारण मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगेगा।]

'बीज और अंकुर में जिस प्रकार अनवस्था-दोष नहीं लगता उसी प्रकार यहाँ भी नहीं होगा'—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, यही अभिप्राय है। [बीज का कारण अंकुर है किन्तु अंकुर का कारण दूसरा ही बीज है, वह बीज नहीं। उस बीज का कारण भी दूसरा ही अंकुर है, वह अंकुर नहीं। इस प्रकार अनवस्था होने पर भी दोष नहीं होता क्योंकि प्रत्येक की गति में अन्तर है। उसी प्रकार यहाँ भी अनवस्था दोष के रूप में नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण से दो पदार्थों में परस्पर कार्यकारण-भाव सिद्ध हो जाता है वहाँ 'उन दोनों पदार्थों में कौन प्रथम है' इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर प्रवाह को अनादि मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगता। बीजांकुरन्याय इसे ही कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में 'प्रधान या प्रकृति का अमुक कारण है' इस तरह का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इसलिए कार्य-कारण-भाव अप्रामाणिक है और अनवस्था-दोष हो ही जायगा।]

विशेष—प्रकृति में दो शब्द हैं—प्र और कृति। प्र का अर्थ है प्रकर्ष। दूसरे तत्त्व का आरम्भ करना प्रकर्ष है। जिस कारण से दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं। मिट्टी के घड़े में पृथिवी से किसी दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, न मिट्टी ही कोई दूसरा तत्त्व (घड़े के रूप में) उत्पन्न करती फिर भी मिट्टी को घड़े की प्रकृति कहते हैं। यहाँ प्रकृति का अर्थ उपादान-कारण समझते हैं और ऐसा व्यवहार लोक में चलता है। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से तत्त्वान्तर को आरंभ करने वाली ही प्रकृति होती है। प्रकृति से इन पदार्थों का बोध होता है—प्रधान (मूल प्रकृति), महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र। इनमें प्रथम पाँच केवल या शुद्ध प्रकृति है, पिछली सात प्रकृतियाँ समय पर विकृतियाँ भी हो जाती हैं क्योंकि ये मूल-प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। इनका वर्णन पीछे मिलेगा। अभी मूल-प्रकृति का वर्णन करें।

मूल-प्रकृति का दूसरा नाम **प्रधान** भी है। तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के रूप में यह प्रधान रहता है। प्रधान की स्थिति में ये तीनों गुण बिल्कुल बराबर-बराबर रहते हैं। इसीलिए उन तीनों को पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक सत्त्व है और अमुक रजस्। इसलिए वहां (मूल-प्रकृति में) तीन तत्त्वों का प्रयोग न होकर एक तत्त्व का ही व्यवहार चलता है। ये तीनों

गुण द्रव्य हैं क्योंकि न केवल महत् आदि तत्त्वों के उपादान कारण हैं, अपितु संयोग और विभाग के आश्रय भी हैं। पुरुष के भोग के लिए ये साधन हैं तथा गौण रूप में हैं, इसीलिए इन्हें **गुण** कहा जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये प्रकृति के धर्म (Qualities) हैं। प्रकृति इन गुणों से पृथक् नहीं है—प्रकृति का अर्थ है तीनों गुणों की साम्यावस्था और तीनों गुणों की साम्यावस्था का अर्थ है प्रकृति। दोनों में स्वरूप का संबन्ध है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र (६।३९) में लिखा है—**सत्त्वदीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्**। 'प्रकृति के गुण हैं' ऐसा व्यवहार 'वन के वृक्ष' की तरह ही औपचारिक (Formal) है।*

पुरुष के संयोग से गुणों में वैषम्य आता है। इस दशा में प्रत्येक गुण पहचानने योग्य हो जाता है। यह एक प्रकार का परिणाम है जिसमें लघुत्व, प्रकाश आदि फल लगते हैं। प्रकृति की अपेक्षा वैषम्यावस्था के तीनों गुण पृथक् हो जाते हैं। कुछ सांख्यों ने तो इनकी भी गणना करके अपने तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस पहुँचा दी है। सत्त्व आदि गुणों के कुछ अपने स्वभाव भी हैं जो इस प्रकार हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
(सां० का० १३)।

सत्त्वगुण हल्का और इसीलिए प्रकाशक माना जाता है, रजोगुण चंचल तथा इसीलिए उत्तेजक (उपष्टम्भक) है, तमोगुण भारी अतएव अवरोधक (नियामक) है—एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये तीनों मिलकर काम करते हैं जैसे दीपक में अग्नि बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी तीनों मिलकर वस्तुओं के प्रकाशन का कार्य करते हैं।

सत्त्व हल्का होने के कारण अपने कार्य——इन्द्रियों——में विषय-ग्रहण की पटुता उत्पन्न करता है। इसके प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाशन कर लेती हैं। रजस् स्वभावतः चंचल है। सत्त्व और

* गीता (१४।५) में जो कहा है कि——'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।' यहाँ गुण का अर्थ प्रकृति के स्वरूप के रूप में गृहीत गुण नहीं है, किन्तु इन गुणों के कार्य के रूप में जो वैषम्यावस्था से युक्त सत्त्व आदि हैं उन्हीं का बोध इससे होता है। ये गुण ही महत् आदि के कारण हैं। यदि प्रकृति के स्वरूप वाले गुणों का अर्थ होता तो प्रकृति से उत्पन्न होना संभव ही नहीं था——ये गुण नित्य हैं। इस प्रकार गुण शब्द के विभिन्न अर्थ प्रयुक्त होते रहे हैं।

तमस् स्वभावतः निष्क्रिय हैं अतः अपने आप प्रवृत्त नहीं होते। प्रवृत्ति प्रदान करने का धर्म ही 'उपष्टम्भक' है। तमस् गुरु है जिससे इसके प्रकर्ष के कारण सत्त्व और रजस् बँध जाते हैं, आगे चल नहीं पाते। यही उसका आवरक या अवरोधक धर्म है।

सत्त्व के धर्मों में सुख, प्रसाद, प्रकाश आदि हैं। रजस् के धर्म दुःख, कालुष्य, प्रवृत्ति आदि हैं। तमस् के धर्म मोह, आवरण, स्तम्भन आदि हैं। धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सत्त्व को सुखात्मक, रजस् को दुःखात्मक तथा तमस् को मोहात्मक भी कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिए तत्त्वकौमुदी (वाचस्पति मिश्र) या प्रवचनसूत्र भाष्य (विज्ञानभिक्षु) के संगत स्थल देखें।

(३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व)

विकृतयश्च प्रकृतयश्च महदहंकारतन्मात्राणि। तदप्युक्तं 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सां० का० ३) इति। अस्यार्थः—प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि। तत्रान्तःकरणादिपदवेदनीयं महत्तत्त्वमहंकारस्य प्रकृतिः। मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः।

एवमहंकारतत्त्वमभिमानापरनामधेयं महतो विकृतिः। प्रकृतिश्च तदेवाहंकारतत्त्वं तामसं सत्पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानाम्। तदेव सात्त्विकं सत्प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां धर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च। रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणत्वमस्तीति न वैयर्थ्यम्।

महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्र)—ये ऐसे तत्त्व हैं जो विकृति (मूल प्रकृति के विकार) और प्रकृति (दूसरे तत्त्वों के उत्पादक) भी हैं। यह भी सांख्यकारिका के उसी प्रसंग में कहा है—'महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति-विकृति दोनों हैं' (सां० का० ३)। इसका यह अर्थ है—जो प्रकृतियाँ भी हैं तथा विकृतियाँ भी, उन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं जो महत् आदि सात तत्त्व हैं। उनमें 'अन्तःकरण' आदि शब्दों के द्वारा बोधित होनेवाला महत्-तत्त्व है जो अहंकार नामक अगले तत्त्व की प्रकृति है किन्तु स्वयं वह मूल-प्रकृति की विकृति (Evolute) है।

इसी तरह अहंकार-तत्त्व, जिसका दूसरा नाम 'अभिमान' भी है, महत्तत्त्व की विकृति (कार्य) है, जब कि वही अहंकार-तत्त्व, तमोगुण से युक्त होने पर, 'सूक्ष्म' नामक पाँच तन्मात्रों की प्रकृति (कारण Evolvent) बन जाता है। वही, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से, ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की; वचन, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इन कर्मेन्द्रियों की तथा उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) मन की भी, प्रकृति है। रजोगुण तो दोनों अवस्थाओं में कार्य उत्पन्न करने के चलते अपने-आप कारण है, उसे व्यर्थ न समझें।

विशेष—प्रकृति के नाम से सांख्य-दर्शन में आठ तत्त्व विहित हैं। उनमें मूल-प्रकृति या प्रधान का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रस्तुत संदर्भ में बाकी तत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है। दूसरा तत्त्व बुद्धि है जिसे महत् भी कहते हैं। इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य नाम के प्रकृष्ट गुण रहते हैं। महत् (बुद्धि-सामान्य) मूल-प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। प्रधान की तरह यह भी त्रिगुणात्मक है। किन्तु सत्त्वांश की प्रधानता रहती है। फिर भी कभी-कभी रजस् और तमस् भी प्रकट होते हैं। प्रत्येक जीव में अपनी-अपनी उपाधियों से युक्त होकर यह बुद्धितत्त्व पृथक् पृथक् रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की बुद्धि में क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस् का आविर्भाव होता है। कुछ बुद्धितत्त्वों में रजस् और तमस् का आविर्भाव होने से सत्त्व तिरोहित हो जाता है, महत् होने पर भी अमहत् के समान अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से युक्त होते हैं—इस प्रकार की उपाधियों से युक्त होने पर क्षुद्र तथा पुण्यहीन जीव धर्माचरण में प्रवृत्त न होकर अधर्म करते दिखलाई पड़ते हैं।

महत्तत्त्व को माधवाचार्य 'अन्तःकरण' भी कहते हैं। यह शब्द बड़ा भ्रामक है क्योंकि इससे बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का बोध होता है। अन्तःकरण-रूपी वृक्ष का अंकुर महत्तत्त्व ही है। निश्चय करने वाला अन्तःकरण **बुद्धि** है, अभिमान करने वाला अन्तःकरण **अहंकार** है तथा संकल्प करने वाला अन्त.करण **मन** है। यही इन तीनों में अन्तर है।

सामान्य से विशेष की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व सामान्य बुद्धि का बोधक है, इससे विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है। विशेष बुद्धि में 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) का बोध सम्मिलित है 'इदम्' का बोध 'अहम्' के बोध पर निर्भर है इसलिए महत् से तृतीय तत्त्व अर्थात् अहंकार-तत्त्व की उत्पत्ति पहले होती है। तीनों गुण इसे भी बाँधते हैं, अतः सात्त्विक, राजस, और तामस के भेद से अहंकार के तीन भेद हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस तथा

तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहां रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण उत्कट होता है वहाँ सात्त्विक अहंकार कहलाता है। वह तैजस-अंश से युक्त होकर प्रवृत्ति दिखलानेवाली ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। यही कारण है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति को सात्त्विक या तैजस दोनों नाम से पुकारते हैं। जहां सत्त्व और रजस् को दबाकर तमोगुण उत्कट होता है उसे तामस अहंकार कहते हैं। यह भी तैजस-अंश के साथ मिलकर प्रवृत्ति-धर्म वाले पाँच तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। इसीलिए पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति को तामस या तैजस कहते हैं।

पाँच तन्मात्रों से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र का बोध होता है। शब्द आदि जो विशेष-रहित गुण हैं इन्हीं में रहने वाले पाँच सूक्ष्म भूतों (तत्त्वों Elements) को तन्मात्र (Subtle elements) कहते हैं। शब्द से केवल शब्द (विशेष से रहित शब्द) का बोध होने के कारण इसे शब्द–तन्मात्र (शब्द और केवल उतना ही) कहते हैं। इसी प्रकार अन्य तन्मात्र भी हैं। शब्द के विशेष भी होते हैं जैसे उदात्त, अनुदात्त, निषाद, ऋषभ आदि। स्पर्श के विशेषों (Kinds) में शीतत्व, उष्णत्व, मृदुत्व आदि हैं। रूप में नीलत्व, शुक्लत्व आदि विशेष हैं। रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व और असुरभित्व—ये विशेष हैं। सांख्यतत्त्वविवेचन में कहा भी है—

शब्दतन्मात्रमित्येतच्छब्द एवोपलभ्यते।
न तूदात्तनिषादादिभेदस्तस्योपलभ्यते ॥

ये तन्मात्र क्रमशः आकाश (शब्दतन्मात्र), वायु (स्पर्शत०), अग्नि (रूपत०), जल (रसत०) और पृथिवी (गन्धत०) की उत्पत्ति करते हैं जो पञ्च महाभूत कहलाते हैं।

ये आठ प्रकृतियाँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत—सब मिलकर चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह जीवात्मा ही है, कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं। यह पुरुष भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है नहीं तो सुख, दुःख, मोह, जन्म, मरण, मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए सांख्य-प्रवचन-सूत्र में (६।४५) कहा गया है—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। वह जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् (प्रकृति को जानने वाला) है। इतना होने पर भी सांख्य में ईश्वर नहीं माना जाता जिससे कभी-कभी इसे **निरीश्वर सांख्य** भी कहते हैं। इसकी तुलना में योग-दर्शन को **सेश्वर सांख्य** कहते हैं।

यह स्मरणीय है कि वैशेषिकों के द्वारा कहे गये सात पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं पचीस तत्त्वों में होता है। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन का तो इन्हीं शब्दों के द्वारा उल्लेख हुआ है। आत्मा पुरुष है। दिशा और काल आकाश के अन्तर्गत हैं। गुण, कर्म और सामान्य तो द्रव्य के ही अन्तर्गत हैं क्योंकि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। विशेष और समवाय का तो कोई उपयोग ही नहीं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता। अभाव एक प्रकार का भाव ही है। घट का प्रागभाव मिट्टी ही है, घटध्वंस का अर्थ है फूटे टुकड़े, घट का अत्यंताभाव केवल आधार को ही कहते हैं, पटादि घट का अन्योन्याभाव है।

तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकरणगणस्तन्मात्रापञ्चकं चैव ॥
२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥
३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
४. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ॥
(सां० का० २४-२७) इति।

विवृतं च तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः।

जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने [सांख्यकारिका में] कहा है—'अभिमान की भावना* को अहंकार-तत्त्व कहते हैं। इससे दो प्रकार के ही कार्य (सृष्टि) उत्पन्न होते हैं, एक दो ग्यारह इन्द्रियों (करणों) का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्रों (तन्मात्राओं) का ॥ २४ ॥ [सांख्यकारिका में पाठ है—एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव। वाचस्पति ने भी यही पाठ रखा है।] 'तदस्य परिमाणम्' के अर्थ में पाणिनिसूत्र (५।१।२२) अर्थात् 'संख्याया अतिशदन्तायाः

* वाचस्पति कहते हैं—'जो आलोचित और विचारित विषय है, उसका मैं अधिकारी हूँ', 'मैं यह काम करने में समर्थ हूँ', 'ये विषय मेरे ही लिए हैं', मेरे सिवा इनका कोई अधिकारी नहीं है', 'इसलिए मैं हूँ'—ये असाधारण व्यापार होने के कारण अभिमान या अहंकार हैं।

कन्' से कन् प्रत्यय होने से एकादशक: और पञ्चक: शब्द बने हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन—ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं जिन्हें प्रकाशक कहते हैं। शब्दतन्मात्र आदि पाँच तन्मात्रों का समुदाय जड़ है। अब पूछा जा सकता है कि अहंकार तो एक रूप का ही है ऐसे कारण से परस्पर विलक्षण कार्य अर्थात् जड़ और प्रकाशक, दोनों की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर आगे की कारिका में दिया जाता है—]

'वैकृत (सात्त्विक, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से युक्त) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है और भूतादि (=तामस) अहंकार से तन्मात्राएँ होती हैं जो तामस हैं। तैजस या राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं ॥ २५ ॥ [प्रकाशक तथा लघु होने के कारण इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं—सत्त्व में प्रकाश और लाघव रहते हैं। तन्मात्राएँ तमोगुण-प्रधान हैं क्योंकि उनमें गुरुत्व (स्थिरता) और आवरक-गुण है। अहंकार यद्यपि एक ही है किन्तु गुणों के उद्भव तथा अभिभव के कारण विभिन्न कार्य करता है। सत्त्वगुण और तमोगुण से सारे कार्य उत्पन्न होने पर भी रजोगुण की आवश्यकता इसलिए होती है कि ये दोनों गुण स्वयं निष्क्रिय हैं, समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य तब तक नहीं कर सकते जब तक रजोगुण (जो चंचल है) इन्हें कार्य में प्रवृत्त न कर दे। अत: राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारों में क्रिया उत्पन्न करके सहायता करता है, वह व्यर्थ नहीं है। अब सात्त्विक गण का वर्णन करते हुए बाह्येन्द्रियों—ज्ञानेन्द्रियों—का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—]

'ज्ञान (बुद्धि) की इन्द्रियाँ पाँच हैं—आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) हैं ॥ २६ ॥ [इन्द्र = आत्मा। उसका लिंग या ज्ञापक=इन्द्रिय। इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा का अनुमान होता है। सात्त्विक अहंकार के कार्य में इन्द्रिय शब्द योगरूढ हो गया है, अत: अहंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती। वाचस्पति ने सांख्यकारिका के आधार पर सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है। उधर विज्ञानभिक्षु केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते हैं। उनके मत से दसों इन्द्रियाँ राजस हैं। अब मन का वर्णन करते हैं—]

'यहाँ मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है तथा अन्य इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण इसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। [मन से जब इन्द्रियों का संबन्ध होता है तब इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का सामान्य ज्ञान ग्रहण करती हैं। उसके बाद मन उन्हें ठीक-ठीक रूप में पहचानता है कि यह

ऐसा है, वह ऐसा। संकल्प इसे ही कहते हैं। इसमें विशेष्य और विशेषण का संबन्ध देखकर विचार होता है। मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों की सहायता करता है।]'

इन सबों का विवरण आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-तत्त्व-कौमुदी (२४-२७) में दिया है।

विशेष—यह ध्येय है कि माधवाचार्य अन्य दर्शनों में मूल-सूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं की सहायता लेते हैं। उद्धरण देने में वे सबसे प्राचीन उपलब्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का आश्रय लेते हैं। किन्तु सांख्य-दर्शन के विवेचन में वे ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका की ही सहायता लेते हैं। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार सांख्यकारिका ही प्राचीनतम प्रामाणिक पुस्तक थी। सांख्य-दर्शन के इतिहास में कपिल आदि ऋषि हैं अवश्य, किन्तु इनके नाम से जो सांख्य-सूत्र प्रचलित है वह प्रामाणिक नहीं। बाद के किसी विद्वान् ने उनके नाम से सांख्य-सूत्र और सांख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमास) की रचना की थी। १५०० ई० से पूर्व इन दोनों में से किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं मिलता।

ईश्वरकृष्ण से पहले के आचार्यों में कपिल, आसुरि और पंचशिख क्रमशः गुरु-शिष्य थे। परन्तु इनके ग्रन्थों का पता नहीं। कितने लोग तो इनकी ऐतिहासिकता में भी संदेह करते हैं। एक दूसरे आचार्य वार्षगण्य ने **षष्टितन्त्र** लिखा था जिसका उल्लेख सांख्यकारिका में मिलता है। सांख्य-दर्शन में सबसे अधिक प्रामाणिक ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने सांख्यकारिका लिखी। इसमें आर्या छन्द में ७२ कारिकाएँ हैं जो सांख्य के विषय में स्पष्ट और निश्चित सिद्धान्त देती हैं। वस्तुतः सांख्य-दर्शन कहने से **सांख्य-कारिका** का ही बोध होता है। इसके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है फिर भी १००-२०० ई० के बीच में यह कभी-न-कभी लिखी गई थी। बहुत से आचार्यों ने इस पर वृत्ति, भाष्य और टीकाएँ लिखी थीं। इनमें वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) की **तत्त्वकौमुदी** बहुत प्रसिद्ध है। इनके पाण्डित्य के अनुकूल ही यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक भी है।

सोलहवीं शताब्दी से **सांख्यसूत्र** और **तत्त्वसमास** पर टीकायें मिलने लगती हैं। विज्ञान-भिक्षु (१५५० ई०) ने सूत्र पर भाष्य लिखकर स्वतन्त्र रूप से **सांख्यसारविवेक** नामक ग्रंथ लिखा। नागेशभट्ट ने भी सूत्रों पर वृत्ति लिखकर अपना हाथ अजमाया था (१७२५)। तत्त्वसमास के टीकाकारों में भावागणेश (१५७५ ई०) और विभानन्द मुख्य हैं। भावागणेश ने स्वतन्त्र रूप से भी **सांख्यसार, सांख्यपरिभाषा** और सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—ये तीन ग्रन्थ लिखे थे।

(४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व)

केवला विकृतिस्तु वियदादीनि पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि च। तदुक्तं—'षोडशकस्तु विकारः' (सां० का० ३) इति। षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव, न प्रकृतिरित्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतम्। गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः।

केवल विकृति के रूप में विद्यमान तत्त्वों में आकाश (वियत्) आदि पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। जैसा कि कहा भी है—'सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य (विकार) ही है' (सां० का० ३) 'षोडशक' का अर्थ है सोलह संख्या से परिमित गण (समुदाय), जो केवल कार्य ही है, प्रकृति अर्थात् कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी आदि तत्त्व गौ, घट, वृक्ष आदि के कारण ही हैं किन्तु ये पदार्थ पृथिवी आदि से तत्त्व में पृथक् नहीं हैं—यही कारण है कि पृथिवी आदि को कारण (प्रकृति) नहीं मानते। अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बननेवाली वस्तु ही यहाँ पर 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। गौ, घट आदि पदार्थ पृथिवी आदि से पृथक् नहीं हैं, [यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि गौ, घट आदि] उसी प्रकार स्थूल और इन्द्रियग्राह्य हैं, जिस प्रकार पृथिवी।

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। तदुक्तम्—

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सां० का० २२) इति।

उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का प्रत्येक तन्मात्र अपने पूर्व के तन्मात्र (सूक्ष्म भूत) से युक्त होकर आकाशादि पाँच महाभूतों को उत्पन्न करता है—जिनमें क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच गुण रहते हैं। [शब्द-

तन्मात्र से शब्द (एक) गुण वाला **आकाश** उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्श (दो) गुणों वाली **वायु** उत्पन्न होती है। शब्द और स्पर्शतन्मात्रों से युक्त रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप (तीन) गुणों वाला **तेजस्** उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूपतन्मात्रों से युक्त रसतन्मात्र से **जल** उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण रहते हैं। अन्त में शब्द, स्पर्श, रूप और रसतन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से **पृथिवी** उत्पन्न होती है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण रहते हैं। (वाचस्पतिमिश्र)]

इन्द्रियों की सृष्टि तो पहले ही कह दी गई है। [इसके सार-रूप में सांख्यकारिका में] कहा गया है—'प्रकृति से महत्-तत्त्व, उससे अहंकार, उससे सोलह तत्त्वों का समुदाय (पाँच तन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ), इस सोलह [के अन्दर] के पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत [उत्पन्न होते हैं]' (सां० का० २२)।

(५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व)

अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तं—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां० का० ३) इति। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः।

पुरुष दोनों में कुछ भी नहीं है। कहा है—'पुरुष न तो प्रकृति (कारण) ही है और न विकृति (कार्य) ही' (सां० का० ३)। पुरुष कूटस्थ (अचल, निर्विकार), नित्य तथा परिणाम (विकास) से रहित है—इसीलिए न तो वह किसी का कारण है, न किसी का कार्य।

विशेष—सभी मनुष्यों में जो चेतन-तत्त्व है वही पुरुष है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, कुछ कार्य नहीं कर सकता है। प्रकृति के साथ संपृक्त होने के कारण यह बन्धन में पड़ा रहता है, जिस समय प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाता है, उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्य में पुरुषों की बहुलता सिद्ध की जाती है। यदि बहुलता नहीं होती तो एक पुरुष के सुखी, दुःखी, मूढ, बद्ध या मुक्त हो जाने से सभी पुरुष वैसे ही हो जाते। एक पुरुष के मरने पर सभी मरते, जन्म लेने पर सबों का जन्म होता आदि। पुरुषों को मुक्त करने के ही लिए प्रकृति संसार के रंगमंच पर नृत्य करती है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन आगे करेंगे। अभी प्रमाणों का वर्णन करते हैं।

(६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा)

एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम् । तदप्युक्तम्—

६. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
(सां० का० ४) इति ।

इन पचीस तत्त्वों को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण सांख्य-दर्शन में माने जाते हैं। वे भी इस रूप में कहे गये हैं—'प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान और शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने से तीन प्रमाण ही मान्य हैं। चूँकि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है [अतः पहले प्रमाणों का ही वर्णन करके बाद में प्रमेयों का प्रतिपादन किया जायगा ।]' (सां० का० ४) ।

विशेष—सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाणों को मान्यता मिलती है। अन्य प्रमाणों को (उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि) को इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत कर लिया जाता है। ईश्वरकृष्ण ने पाँचवीं* कारिका में इन तीनों प्रमाणों के लक्षण दिये हैं जिनकी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने विस्तृत रूप से की है।

(१) **प्रत्यक्ष (दृष्ट)**—दृष्ट का लक्षण देने में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। पृथिवी आदि और सुखादि विषय हैं क्योंकि ये विषयी (बुद्धि) को बाँध लेते हैं (वि + √सि), अपने आकार में रँगकर उस बुद्धि को भी तद्रूप बना देते हैं। हमारे ज्ञान का विषय न बननेवाले सूक्ष्म तन्मात्र आदि भी योगियों और ज्ञानियों के विषय बन जाते हैं। जो प्रत्येक विषय में प्रवृत्त होता हो उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं अर्थात् विषय से संबद्ध इन्द्रिय ही प्रतिविषय है। इस (इन्द्रिय) पर आश्रित जो अध्यवसाय (बुद्धिव्यापार या ज्ञान) है उसे ही दृष्ट कहते हैं। दूसरे शब्दों में, विषयों के साथ संबद्ध इन्द्रिय के द्वारा किये गये निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

(२) **अनुमान**—प्रत्यक्ष के बाद अनुमान आता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष पर आश्रित है। लिंग (व्याप्य) और लिगी (व्यापक) के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला प्रमाण अनुमान है। शंकित तथा निश्चित दोनों प्रकार की उपाधियों‡ का

---

* प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ (सां० का० ५) ।

‡ देखिए—सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० १९ (उपाधि), तथा पृ० १२ (उपाधि-भेद) ।

निराकरण हो जाने पर वस्तु के स्वभाव से ही जिसका साहचर्य सम्बन्ध हो वह व्याप्य होता है। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो उसे व्यापक कहते हैं। धूम व्याप्य है, अग्नि व्यापक। इस ज्ञान के बाद जो ज्ञान होगा अनुमान कहलायगा। धूम (लिंग) पर्वत (पक्ष) में उसके धर्म के रूप में विद्यमान है—यह पक्षधर्मता का ज्ञान है। तो, व्याप्य और व्यापक का व्याप्तिज्ञान तथा लिंग (व्याप्य) के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान-प्रमाण है। न्याय-दर्शन के अनुमान-भेदों को यहाँ भी स्वीकृत किया गया है जो तीन हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। किन्तु वाचस्पति ने पहले अनुमान के दो भेद किये हैं—वीत (अन्वयविधि से व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त) और अवीत (व्यतिरेकव्याप्ति से प्रवृत्त) अवीत को शेषवत् कहते हैं। किसी वस्तु की जहाँ-जहाँ संभावना हो, उन सभी स्थानों में वस्तु का निषेध करके अंत में और कोई उपाय न देखकर बचे हुए स्थान में ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना **शेषवत्** है। वीत के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जब किसी वस्तु का विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष कर लिया गया हो और उसके आधार पर उसके सामान्य रूप से युक्त विशेष का ज्ञान किया जाय तो उसे **पूर्ववत्** कहते हैं। रसोई-घर में विशिष्ट रूप में वह्नि देखकर धूम के द्वारा वह्नित्व से अवच्छिन्न (व्याप्त, युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रकार 'वह्नित्वसामान्य विशेष' का अनुमान हुआ। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु है जिसका विशेष रूप पहले देखा नहीं गया हो। जैसे—इन्द्रिय-विषयक अनुमान। रूपादि का ज्ञान क्रिया है, इस (लिंग) से इन्द्रियों का अनुमान होता है क्योंकि क्रिया किसी साधन (करण = साधन, इन्द्रिय) से ही उत्पन्न होती है। (विशेष विवरण के लिए त० कौ० देखें)।

(३) **आप्तवचन** (शब्द)—अनुमान के बाद आप्तवचन या शब्द प्रमाण इसलिए रखते हैं कि अनुमान के द्वारा ही बालक को 'शक्ति' अर्थात् शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञान होता है और शब्दार्थ के संबन्ध का ज्ञान होने पर ही शाब्दबोध (शब्द के अर्थ का साक्षात्कार) होता है। अतः अनुमान शब्द-प्रमाण का परम्परया (परोक्ष रूप से) कारण है। आप्तवचन का अर्थ है आप्त (प्रकृष्ट या उचित) श्रुति अर्थात् वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान। यह वाक्यार्थज्ञान जो स्वतंत्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय वेदवाक्यों से* उत्पन्न होने से,

---

* सांख्य और मीमांसा दर्शनों में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। अतः किसी विशेष पुरुष (ईश्वर) के बनाये न रहने से वेद को अपौरुषेय मानते हैं। सांख्यसूत्र (५।४६) में कहा है—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। (बालरामोदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका—त० कौ० पर।)

भ्रम, प्रमादादि पुरुषदोषों से रहित होने के कारण युक्त है। वेद के वाक्य तो प्रमाण हैं ही, वेदमूलक स्मृति, इतिहास, पुराण के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त होता है। 'आप्त' शब्द से युक्त या उचित श्रुतियों (आगमों) का ही बोध होता है। नहीं तो जैन, बौद्ध आदि के विचार जो आगम जैसे लगते हैं वे भी प्रमाण ही हो जायँगे।

वाचस्पति ने इसके बाद उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव तथा ऐतिह्य प्रमाणों को (जो विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत हैं) इन्हीं के अन्दर सिद्ध किया है। कोई प्रत्यक्ष में, कोई अनुमान में और कोई आगम में अन्तर्भूत हो जाते हैं। स्मरणीय है कि छहों दर्शनों पर टीका करने वाले आचार्य बिल्कुल तटस्थ होकर इसकी विवेचना करते हैं। इसके बाद की कारिका में (छठी कारिका में) बतलाया गया है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। किन्तु जो पदार्थ परोक्ष हैं कि इससे भी सिद्ध न हो सकें तब उनकी सिद्धि आगम-प्रमाण से होती है। बात यह है कि बहुत दूर होने या समीप होने से, इन्द्रियों के घात या मन की अस्थिरता होने से, सूक्ष्मता के कारण या बीच में रुकावट पड़ जाने से, किसी वस्तु से अभिभूत (दब) हो जाने से या समान वस्तु में मिल जाने से कोई पदार्थ दिखलाई नहीं पड़ता (कारिका ७)। इस आधार पर यह नहीं सोचें कि पदार्थ है ही नहीं—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।

(७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत)

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।

यहाँ पर कार्य और कारण के परस्पर सम्बन्ध को लेकर चार प्रकार के विभिन्न मतवाद हैं। बौद्ध (शून्यवादी) कहते हैं कि असत् (Non-existent) से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। नैयायिक (वैशेषिक भी) आदि कहते हैं कि सत् पदार्थ (कारण) से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वेदान्तियों (अद्वैत) की मान्यता है कि सत् कारण से विवर्त (कल्पित) कार्य उत्पन्न होता है और सारे कार्यों की वास्तविक सत्ता नहीं रहती। लेकिन सांख्यवाले कहते हैं कि सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है।

विशेष—प्रमाणों के द्वारा उक्त पचीस तत्त्वों की सिद्धि करनी पड़ती है। उन तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जो प्रधान या प्रकृति है उसकी सिद्धि के लिए अनुमान ही एक साधन है। उस विषय में किये गये अनुमान का उपजीव्य सत्कार्यवाद का सांख्योक्त सिद्धान्त ही हो सकता है। प्रकृति तत्त्व के भीतर वे सारे विकार निहित हैं जिनकी उत्पत्ति प्रकृति से होती है, चाहे वह उत्पत्ति सीधे हो या परम्परा से हो। इस विषय में मतभेद प्रदर्शित करते हैं जिनके खण्डन के बाद अपने सत्कार्यवाद का पोषण करेंगे।

(१) बौद्धों का पक्ष है कि कारणवस्तु से कार्यवस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारणवस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाय। जब तक पूर्व वस्तु सत् या विद्यमान है तबतक कोई चीज उससे उत्पन्न ही नहीं हो सकती। बीज का नाश होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है, मिट्टी का पिंड मिट जाने पर ही घट उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग सभी भावात्मक (Positive) वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। कार्य के क्षण में कारण तथा कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। पूर्वक्षणिक वस्तु के विनाश के बाद ही उत्तरक्षणिक वस्तु आती है—अतः विनष्ट (असत्) कारण ही सत् (विद्यमान) कार्य को उत्पन्न करता है। सत् का यहाँ अर्थ है क्षणभर खड़ा रहना, तीनों कालों में अबाधित होना नहीं।

(२) नैयायिक और वैशेषिक असत्कार्यवाद का सिद्धान्त मानते हैं। इनके अनुसार परमाणु आदि (कारण) द्व्यणुकादि कार्य पहले से विद्यमान नहीं (असत्) रहते हैं, उनसे ये सत् (विद्यमान) द्व्यणुकादि-कार्य बिल्कुल नवीन रूप में उत्पन्न होते हैं। मिट्टी में घट असत् है नहीं तो दोनों का एक ही नाम होता या फिर दोनों पर्याय माने जाते। दोनों को हम अलग-अलग देखते हैं। बौद्धों के अनुसार जहाँ कारण-वस्तु ही अविद्यमान (विनष्ट) होती है तब कार्योत्पत्ति होती है, न्याय के अनुसार कारण-वस्तु विद्यमान ही रहती है। हाँ, उसमें कार्य नवीन रहता है।

(३) अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् (विद्यमान) है, जगत् के अन्य सभी रूप अज्ञानवश उसमें उसी प्रकार कल्पित या आरोपित हैं जैसे सीपी में चाँदी या रस्सी में साँप। जिस प्रकार सीपी का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें आरोपित चाँदी की पूर्वप्रतीति मिथ्या या भ्रमपूर्ण लगती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया का बन्धन (आवरण) हट जाने पर पारमार्थिक तत्त्व—ब्रह्म—में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होनेवाला समस्त जगत् भ्रान्त लगता है, असत् (वस्तुतः मिथ्या, पारमार्थिक दृष्टि से असत्) लगता है। फलतः कारण (ब्रह्म) सत् है किन्तु कार्य (जगत्) मूलकारण ब्रह्म का विवर्त

(मिथ्यात्मक रूपान्तर Illusory emanation) है, परिणाम (वास्तविक रूपान्तर) नहीं। विवर्त होने के कारण इसकी (कार्य की) पारमार्थिक सत्ता नहीं, आभासिक या व्यावहारिक सत्ता ही है। न्याय में वस्तु का पारमार्थिक रूपान्तर मानते हैं, सांख्य के साथ भी यही बात है परन्तु वेदान्त में वस्तु का आभासिक रूपान्तर या विवर्त माना जाता है।

(४) सांख्य के अनुसार सत् कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है और वह कार्य भी सत् ही रहता है—कारण-व्यापार के पूर्व अव्यक्त रूप में विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् व्यक्त रूप में उत्पन्न होता है। दूध से उत्पन्न होनेवाला दधि कारणव्यापार के पूर्व भी दूध में अव्यक्त रूप में विद्यमान है। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले महत्, अहंकार आदि तत्त्व उस (प्रकृति) में अव्यक्त रूप में रहते हैं। इस मत को सत्कार्यवाद कहते हैं। इसमें कारण से कार्य की उत्पत्ति का यही अर्थ है कि कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त हो जाता है। स्मरणीय है कि सांख्य और न्याय के अनुसार कार्य एक तथ्य (Real) है जब कि वेदान्त में कार्य मिथ्या है, विवर्त है।

अब सांख्य के अतिरिक्त अन्य मतों के खण्डन का उपक्रम करते हुए सत्कार्यवाद की सिद्धि की जायगी और उसके लिए विभिन्न तर्क दिये जायँगे।

(७ क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खंडन)

तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरुपाख्यस्य शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः। तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तिश्च।

उन मतों में 'असत् से सत् उत्पन्न होता है' यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। असत् का वर्णन नहीं हो सकता, यह खरहे की सींग की तरह [सत्ताहीन] है उसे कारण ही नहीं बताया जा सकता। दूसरे, तुच्छ (स्वरूपहीन) और अतुच्छ (स्वरूपयुक्त) पदार्थों में तादात्म्य-संबन्ध भी तो नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि एक तो असत् पदार्थ कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं, वह कार्योत्पादन क्या करेगा ? दूसरे, सत् और असत् का संबन्ध होना असंभव है क्योंकि असत् पदार्थ है स्वरूपहीन और सत् पदार्थ का कुछ स्वरूप होता है। पूर्वक्षण में होने वाला घटाभाव ही उत्तर क्षण में होने वाले घट का उपादान कारण है—ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। अभाव या असत् स्वरूपहीन होने के कारण अपने परवर्ती भाव या सत् के साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं रख सकता।

जब तादात्म्य ही नहीं रहेगा तो उपादान और उपादेय का संबन्ध नहीं हो सकता। इसलिए बौद्धों का सिद्धान्त अमान्य है।]

नापि सतोऽसज्जायते। कारकव्यापारात्प्रागसतः शशविषाणवत्सत्तासंबन्धलक्षणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्तुं पार्यते। ननु सत्त्वासत्त्वे घटस्य धर्माविति चेत्—तदचारु। असति धर्मिणि तद्धर्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्मिणः सत्त्वापत्तेः।

सत् से असत् की उत्पत्ति का [न्याय-सिद्धान्त] भी प्रामाणिक नहीं ही है। कार्य को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ की क्रिया (कारक-व्यापार) के पहले जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसकी उत्पत्ति खरहे की सींग की तरह ही असंभव है क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है सत्ता से सम्बन्ध रहना। [दो सत्तायुक्त पदार्थों का ही संबंध हो सकता है और सत्ता के साथ सम्बन्ध होने पर ही उत्पत्ति होती है। यह आज तक सुना नहीं गया कि खरहे की सींग या वन्ध्यापुत्र का सम्बन्ध किसी सत्तायुक्त पदार्थ के साथ हुआ है—असत् और सत् का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। पहले से असत् घटादि-कार्य का सम्बन्ध सत्ता से नहीं हो सकता इसलिए घटादि-कार्य की उत्पत्ति (= सत्ता से सबन्ध) नहीं मानी जा सकती।] सबसे निपुण व्यक्ति भी नीले को पीला नहीं कर सकते। [नील में पीत की सत्ता नहीं है—पीत वहाँ असत् है जब कि कार्यरूप में सत् है। तो जब नीले में पीला नहीं है तो नीला रंग कभी पीला नहीं होगा—असत् पीत कभी भी सत् पीत नहीं बन सकता। पहले से असत् घट कुम्भकार के व्यापार से भी सत् नहीं किया जा सकता। असत् और सत् में परस्पर विरोध है—वे कार्य-कारण भाव नहीं रख सकते।]

अब यदि ये (नैयायिक) कहें कि सत्ता और असत्ता, घट के ये दो धर्म हैं [अर्थात् जैसे वलयत्व धर्म से विभूषित स्वर्ण स्वर्णकार के व्यापार (क्रिया) से कुण्डलत्व-धर्म से युक्त हो जाता है वैसे ही यहाँ असत्त्व-धर्म से विशिष्ट घट कुम्भकारादि के व्यापार से सत्त्व-धर्म से युक्त हो जायगा], तो हम यह कहेंगे कि यह कहना उन्हें शोभा नहीं देता। धर्मी (घट) के नहीं रहने पर हम यह नहीं कह सकते कि यह (असत्) उस (घट) का धर्म है। नहीं तो धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी (= घट की नित्यता स्वीकार करनी पड़ेगी)। [आशय यह है कि यदि असत्त्व घट का धर्म माना जाय तो धर्म (असत्त्व) धर्मी (घट) के बिना नहीं रह सकता—यह भी मानना पड़ेगा। तो असत्त्व-धर्म के समय

धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी, अतः घट की सत्ता रहेगी ही। यही नहीं, इसके फल स्वरूप घट नित्य हो जायगा क्योंकि जब असत् काल में भी घट है तब तो वह नित्य ही न है ?]

विशेष—यहाँ पर दो ही मतों का खंडन किया गया है, विवर्तवाद का खंडन बाद में करेंगे। अब अपने सत्कार्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

(८. सत्कार्यवाद की सिद्धि)

तस्मात्कारकव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदेव। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः कारणे किमपि निदर्शनं न दृश्यते। किं च कार्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकमसम्बद्धं वा। प्रथमे कार्यस्य सत्त्वमायातम्। सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्वं कार्यजातं सर्वस्माज्जायेत। असम्बद्धत्वाविशेषात्।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कारक (कर्ता, हेतु, कारण) के व्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता रहती ही है। [तब कुम्भकार आदि की आवश्यकता क्यों ?] हाँ, इतना अवश्य है कि पहले से विद्यमान (सत्) कार्य की केवल अभिव्यक्ति होती है [जिसमें निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है।] उदाहरण के लिए जैसे—पीसने (पेरने) पर तिलों से तेल की या दुहने पर गायों से दूध की [अभिव्यक्ति होती है। तिलों में तेल या गायों में दूध पहले से है पर अभिव्यक्ति के लिए पेरने के व्यापार की या दोहनव्यापार की अपेक्षा है। केवल अभिव्यंजक होने के कारण भी ये व्यापार कारण हुए।] असत् वस्तु (जैसे न्याय-दृष्टि से कारणावस्था में घट) की उत्पत्ति (दण्डादि) सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। [दृष्टान्त वैसा ही हो सकता है जो दोनों वादियों को स्वीकार हो। नैयायिक यदि घट का उदाहरण दें कि असत् घट का कारण दण्डादि है तो यह सम्भव नहीं। उधर सांख्य वाले घट को पहले से कारण-रूप में भी वर्तमान ही स्वीकार करते हैं आजतक कभी किसी ने असत् को उत्पन्न होते या अभिव्यक्त होते भी नहीं देखा कि दृष्टान्त दे सकें।]

इसके अतिरिक्त कारण-वस्तु कार्य-वस्तु को उससे या तो संबद्ध होकर उत्पन्न करती है या फिर असंबद्ध ही होकर (तीसरा विकल्प सम्भव नहीं)। संबद्ध होकर उत्पन्न करने से तो कार्य की सत्ता (कारण में कार्य का रहना)

ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि दो सत् वस्तुओं का ही सम्बन्ध होने का नियम है। यदि असम्बद्ध होकर उत्पन्न करती है तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होने लगे क्योंकि असंबद्धता तो सबों में बराबर ही रहेगी। [घट से मिट्टी को यदि असम्बन्ध है तो पट से भी तो उसे असम्बन्ध ही है। तो, मिट्टी घट और पट दोनों को उत्पन्न कर सकेगी। अतः असंबद्ध होकर कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। असंबद्ध असंबद्ध से नहीं उत्पन्न होता, संबद्ध पदार्थ ही संबद्ध को उत्पन्न कर सकता है—तिल से ही तेल होगा, पाषाण से नहीं।]

तदाख्यायि सांख्याचार्यैः—

७. असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

इसे सांख्य के आचार्यों ने कहा है–[उत्पत्ति के पूर्व कार्य को] असत् मानने पर* सत्त्व के संग में रहने वाले [सत्त्व धर्म से युक्त] कारणों (मिट्टी आदि) से इसका संबन्ध नहीं हो सकता। [मिट्टी से घड़ा बनता है; मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य। यहाँ कारण वस्तु विद्यमान (सत्) है, किन्तु कार्यवस्तु अविद्यमान (असत्) है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कार्य रहता ही नहीं, यह न्यायमत है। अतः सत् (कारण) और असत् कार्य का संबन्ध होना कभी संभव नहीं।] अब यदि [कारण से] असंबद्ध (कार्य) की उत्पत्ति मानी जाय तो ['अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न होता है'—इस तरह की] व्यवस्था नहीं रहेगी। [मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा, ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे। किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होने लगेगा।]

अथैवमुच्येत—'असंबद्धमपि तत्तदेव जनयति यत्र यच्छक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनोन्नेयेति।' तन्न संगच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे संबद्धत्वासंबद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात्। कार्यकारणयोरभेदाच्च कारणात्पृथक्कार्यस्य सत्त्वं न भवति।

यदि ऐसा उत्तर दिया जाय कि असंबद्ध होने पर भी कोई (कारण) उसी कार्य को उत्पन्न करता है जो कारण जिसे उत्पन्न करने में समर्थ (शक्त Capa-

---

* तत्त्वकौमुदी में पाठ 'असत्त्वे नास्ति' है। अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता। 'असत्त्वे' से साध्यता प्रकट होती है, 'असत्त्वात्' से सिद्धता।

ble) है [जैसे तन्तु पट को उत्पन्न करने में समर्थ है—मिट्टी घट को।] किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान उसके कार्य को देखकर करना चाहिए। [मिट्टी की शक्ति का अनुमान घट देखकर होता है कि वह घटोत्पादन के लिए समर्थ है।]

लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं हो सकती। 'तिलों में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है' इस प्रकार [असत्कार्यवाद के अनुसार तिलों में] तेल की सत्ता न मानने पर यह निश्चित नहीं कर सकते कि [तेल और उसे उत्पन्न करने की शक्ति के परस्पर] संबद्ध होने या असंबद्ध होने से भी उसमें वह शक्ति है ही। [अभिप्राय यह है—सांख्य दार्शनिक नैयायिकों से कहते हैं कि आपकी बात मान ली, कार्य देखकर हम किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान कर लेंगे, तिल में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है। परन्तु यह बतलाइये कि पहले से विद्यमान शक्ति जो तिल में है वह कार्योत्पत्ति के पूर्व तेल से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि है तो तेल की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व भी है, सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होगी। यदि सम्बद्ध नहीं है तो कैसे निरूपण करेंगे कि यह तेल को उत्पन्न करनेवाली शक्ति है ? दोनों दशाओं में गये।] दूसरे, कार्य और कारण में भेद नहीं होता, इसलिए कारण से अलग कार्य की सत्ता नहीं होती। [कार्य-कारण में अभेद होने के कारण सत्ता एक ही रहती है, दो सत्ताएँ नहीं रहतीं। अतः कार्योत्पत्ति के पूर्व यदि कारण की सत्ता है तो कार्य की सत्ता भी अवश्य ही रहेगी।]

पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते। तद्धर्मत्वात्। न यदेवं, न तदेवं यथा गोरश्वः। तद्धर्मश्च पटः। तस्मान्नार्थान्तरम्। तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्यं कुर्युरिति चेन्न। संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः। यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति; एवं कारणस्य तन्त्वादेः पटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते। निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते।

[कार्य का कारण से अभेद सिद्ध करने के लिए ये प्रमाण हैं—] पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं की अवस्था-विशेष (धर्म) है। जो ऐसा (किसी वस्तु से अभिन्न) नहीं है, वह उसका धर्म भी नहीं है जैसे गौ से अश्व। [गौ से अश्व अभिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न है, इसलिए गौ की अवस्था-विशेष अश्व नहीं है। वह उससे पृथक् है।] यहाँ पर पट तन्तुओं का धर्म (अवस्था-विशेष) है अतः भिन्न नहीं है।

[अब इसमें शंका उठती है कि] तब तो अर्थात् तन्तु और पट में अभेद मान लेने पर प्रत्येक तन्तु ही आवरण का कार्य करता (जो काम कपड़े का है वही काम सूतों से भी चलता)। यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उन सूतों के संस्थान (विशेष रूप से सजाये गये रूप) में अन्तर रहने के कारण [जब उन सूतों से] पट-रूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति Manifestation) हो जाता है तभी ये आच्छादन-रूपी कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। [पट और तन्तु में संस्थान या सजावट का अन्तर है। जब ये तन्तु विशेष रूप से सजा दिये जाते हैं तभी पट का आविर्भाव होता है जो आच्छादन के काम में आता है।] जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रवेश करने पर तिरोहित कहलाते हैं और निकलने पर आविर्भूत कहलाते हैं वैसे ही सूत आदि कारणों से वस्त्रादि विशेष रूप (कार्य) निकलने या आविर्भूत होने पर 'उत्पन्न हो रहे हैं' ऐसा कहलाते हैं; प्रवेश करने पर या तिरोहित हो जाने पर 'नष्ट हो रहे हैं' ऐसा कहते हैं।*

न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गी० २।१६) इति।

ततश्च कार्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्—

८. असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

(सां० का० ९) इति।

इसके अतिरिक्त, असत् वस्तु की उत्पत्ति या सत् वस्तु का विनाश भी नहीं होता। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—'असत् का अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का अभाव नहीं होता' (गीता २।१६)। इस प्रकार कार्य के द्वारा अनुमान करके इन वस्तुओं के मूलकारण प्रधान या प्रकृति की सिद्धि की जा सकती है। उसे कहा है—

---

* तुलनीय—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यास्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (गी० २।५८)

'[कारण में] कार्य विद्यमान है क्योंकि (१) असत् को कार्य के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, (२) [कार्य की उत्पत्ति के लिए] उसके उपादान कारण (जैसे घट का मिट्टी, पट का सूत) का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियमपूर्वक संबद्ध रहता है। [यदि कार्य पहले से ही असत् हो तो उसका संबन्ध नहीं हो सकता], (३) सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं [किसी विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न होता है, यदि कार्य कारण से असबद्ध रहता तो ऐसा संभव नहीं था], (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है [मिट्टी में कल्पित शक्तिविशेष यदि घट से संबद्ध है तो घट को ही उत्पन्न करेगा] और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् उसी के स्वरूप का होता है (=कार्य और कारण अभिन्न होते हैं)।' (सां० का० ९)।

(८ क. विवर्तवाद का खंडन)

नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः। बाधानुपलम्भात्। अधिष्ठानारोप्ययोश्चिज्जडयोः कलधौतशुक्त्यादिवत्सारूप्याभावेनारोपासंभवाच्च।

आप यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रपंच (संसार) उस सत् ब्रह्मतत्त्व का विवर्त अर्थात् कल्पित रूप है। कारण यह है कि [जैसे 'यह चाँदी नहीं, सीपी है' भ्रान्ति नष्ट होने पर ऐसे वाक्य से चाँदी का विरोध या बाध किया जाता है उस प्रकार 'यह संसार नहीं है' ऐसा] विरोध व्यवहार में नहीं मिलता। चेतन और जड जो क्रमशः आधार (अधिष्ठान, ब्रह्म) तथा आधेय (प्रपंच) हैं, उनमें चाँदी और सीपी की तरह की समानता न होने से परस्पर आरोप नहीं हो सकता। [सीपी और चाँदी में तो एकरूपता है कि दोनों ही उजले हैं, परन्तु भला ब्रह्म (चेतन) और संसार (जड) में किस पदार्थ को लेकर एकरूपता हो सकती है। आरोप का हेतु कोई सारूप्य न होने से ब्रह्म पर प्रपंच का आरोप संभव नहीं है। 'कलधौतशुक्त्यादि के समान' यह वैधर्म्य का दृष्टान्त है क्योंकि ब्रह्मप्रपंच के परस्पर सम्बन्ध के विरुद्ध है—जैसे कलधौत (चाँदी) और शुक्ति (सीपी) में समता है वैसे ब्रह्म और प्रपंच में नहीं। यदि कलधौत का अर्थ स्वर्ण लिया जाय तो साधर्म्य का ही दृष्टान्त हो जायगा—जैसे स्वर्ण (पीला) और सीपी (उजली) में समरूपता न होने से परस्परारोप नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और प्रपंच में भी समरूपता न होने से आरोप नहीं होगा।]

(९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि)

ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमव-धारणीयम्। तथा च प्रयोगः—विमतं भावजातं सुखदुःखमो-हात्मककारणकं तदन्वितत्वात्। यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं, तस्मात्तथेति।

इसके बाद सुख, दुःख और मोह से बने हुए इस संसार का वैसा ही कारण विचारना चाहिए। इसके लिए [परार्थानुमान का] यह प्रयोग होगा—

(१) **प्रतिज्ञा**—ये सभी प्रस्तुत* पदार्थ सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं।

(२) **हेतु**—क्योंकि ये उनसे (सुख-दुःख-मोह से) संयुक्त हैं।

(३) **उदाहरण** और **व्याप्ति**—जो जिससे संयुक्त रहता है वह उसी कारण से निकलता है। जैसे स्वर्णपात्र स्वर्णसंयुक्त है और स्वर्ण उसका कारण है।

(४) **उपनय**—यह (प्रस्तुत पदार्थ) भी वैसा (सुख दु ख मोह से संयुक्त) है।

(५) **निगमन**—इसलिए यह (संसार) भी वैसा (सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न) है।

[संसार का सुख दुःख मोह से बना कारण ही प्रकृति या प्रधान है। इसी अनुमान से उसका पता लगता है।]

तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मकता तद्रजः, या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारण-सिद्धिः। तथा हि—प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा

---

* विमत, विवादाध्यासित आदि शब्दों का प्रयोग पक्ष (Minor Term) के विशेषण के रूप में किया है। इसका अर्थ है—सन्दिग्ध या जिस पर वाद-विवाद चल रहा है वह विषय। अंगरेजी में इसे in question कहेंगे जैसे—विमतं वस्तु = Thing in question. मैंने 'प्रस्तुत' शब्द रखा है जो उपयुक्त है।

मैत्रदारेषु सत्यवत्यां मैत्रस्य सुखमाविरस्ति। तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात्। तत्सपत्नीनां दुःखम्। ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात्। तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति। तं प्रति तमोगुणसमुद्भवात्।

यहाँ पर संसार के कारण (प्रकृति) में जो सुख का तत्त्व है वह सत्त्वगुण है, दुःख का तत्त्व रजोगुण और मोह का तत्त्व तमोगुण। इस प्रकार त्रिगुणात्मक कारण (=जगत्कारण) की सिद्धि होती है। वह इस रूप में होती है—संसार के सभी भावों (पदार्थों) में तीनों गुणों की सत्ता का अनुभव होता है। जैसे मैत्र की अनेक पत्नियों में सत्यवती नामक पत्नी से मैत्र को सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि मैत्र के प्रति सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होता है। [उसी सत्यवती से] उसकी सपत्नियों (Fellow-wives) को दुःख है क्योंकि उनके प्रति रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है। उसे न प्राप्त करने वाले (प्राप्ति की इच्छा न रखनेवाले) चैत्र को उससे मोह (उदासीनता का भाव) है क्योंकि उस चैत्र के प्रति तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है। [एक ही पदार्थ—सत्यवती—में तीनों गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार सभी पदार्थों से सुख, दुःख और मोह की प्राप्ति होती है।]

एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति। परैरपह्रियमाणं दुःखाकरोति। उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते। उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः। मुह वैचित्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः। उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्। तस्मात्सर्वं भावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते।

इसी तरह घट आदि दूसरे पदार्थ भी मिल जाने पर सुख देते हैं, दूसरों के द्वारा चुरा लिये जाने पर दुःख देते हैं किन्तु तटस्थ व्यक्ति के लिए उपेक्षा का विषय बन जाते हैं। उपेक्षा का विषय बन जाना ही मोह है। मुह-धातु का अर्थ होता है चित्त से रहित होना (=चित्त की वृत्तियों का शून्यवत् हो जाना)। इस धातु से ही 'मोह' शब्द बनता है। उपेक्षणीय वस्तुओं के प्रति चित्त की वृत्ति उगती ही नहीं। इसलिए सभी पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह के बने हुए हैं। वे तीन गुणों से बने हुए प्रधान (प्रकृति) रूपी कारण से उत्पन्न हैं—यह मालूम होता है।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—

९. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
(श्वे० ४।५) इति ।

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दाः रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्यात् रजःसत्त्वतमोगुणत्रयप्रतिपादनपराः ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति भी यही कहती है—'(सरूपाः) समान रूप वाली (बह्वीः) बहुत सी (प्रजाः) संतानों को (सृजमानाम्) उत्पन्न करने वाली (एकाम्) एक (लोहितशुक्लकृष्णाम्) लाल, उजली और काली (अजां) मूलप्रकृति की (जुषमाणः) सेवा करते हुए (एकः) एक दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (अनुशेते) पीछे-पीछे चलता है। (अन्यः) वह दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (एनाम्) इसका (भुक्तभोगां) भोग कर लेने पर (जहाति) छोड़ देता है।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५)।

यहाँ लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—इन तीन गुणों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि इन शब्दों से क्रमशः रँगने वाले, प्रकाशित करने वाले तथा ढँक देने वाले धर्मों की समानता है।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्त श्रुति को सांख्य में बड़ा महत्त्व देते हैं क्योंकि यहीं सांख्य-दर्शन के बीज प्राप्त होते हैं। बकरा-बकरी का रूपक देकर अध्यात्म-विद्या का उपदेश देने वाले श्लोक में सांख्य-दर्शन अपने तत्त्वों से विद्यमान है। मूल प्रकृति और पुरुष क्रमशः अजा और अज हैं क्योंकि दोनों अजन्मा हैं। तीन गुणों को ही प्रकृति कहते हैं। इन गुणों को आलंकारिक भाषा में लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा है। लाल रंग साड़ी आदि को रँग देता है, पदार्थों में रहनेवाला रजोगुण भी प्रेक्षकों को रँग देता है। इस प्रकार लाल रंग और रजोगुण में रञ्जकत्व धर्म साधारण (Common) है इसलिए लोहित से रजोगुण का बोध होता है। उजले पदार्थ जैसे सूर्य आदि प्रकाशक होते हैं, उधर सत्त्वगुण भी प्रकाशक है। बस, प्रकाशकत्व का धर्म समान होने से शुक्ल शब्द सत्त्वगुण का बोधक हुआ। काले पदार्थ जैसे मेघ आदि सूर्यादि के आवरक (ढँकने वाले) हैं। तमोगुण भी आवरक ही है, अतः कृष्ण शब्द का अर्थ

तमोगुण ही है। प्रकृति को जहाँ 'लोहितशुक्लकृष्णा' कहा है, वहाँ उसका अर्थ 'त्रिगुणात्मिका' है।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने ही अनुरूप (=त्रिगुणात्मक) बहुत से पदार्थों की सृष्टि करती है। पदार्थों को प्रजा कहा गया है। बद्ध पुरुष इसी प्रकृति की सेवा में लगा रहता है। प्रकृति के कार्यों को (बुद्धि, मन आदि को) अपना ही समझ कर प्रकृति के साथ-साथ संसार में घूमता रहता है। दूसरा मुक्त पुरुष इस प्रकृति को छोड़ देता है क्योंकि वह प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य जान लेता है। वह मुक्त पुरुष एक बार प्रकृति का भोग कर चुका है इसलिए प्रकृति उसके लिए 'भुक्तभोगा' है।

इस मंत्र में पूर्वार्ध प्रकृति के लिए है, उत्तरार्ध में पुरुष का वर्णन है जिसमें बद्ध और मुक्त दोनों तरह के पुरुषों का वर्णन हुआ है। दो प्रकार के पुरुष भी मानना सांख्यों के बहुपुरुषवाद का परिचायक है। वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-कौमुदी का आरंभ इसी मंत्र की संगति बैठाकर किया है।*

(१०. प्रधान की निरपेक्षता)

नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्ये न व्याप्रियते। अतः केनचिच्चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेत्—तदसंगतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।

यह शंका होती है कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) किसी चेतन की सहायता लिए बिना महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करने का काम नहीं कर सकती। [बिना चालक के मोटर गाड़ी नहीं दौड़ जाती। दृष्ट आधार पर ही तो अदृष्ट की सिद्धि होती है। बिना चेतन कर्ता की सहायता लिए अचेतन वस्तु कुछ भी काम नहीं करेगी।] इसलिए [प्रकृति के इस व्यापार के पीछे] किसी चेतन अधिष्ठाता (कर्ता) का रहना जरूरी है। ऐसी दशा में सभी पदार्थों को देखने वाले परमेश्वर को मानना पड़ेगा।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि प्रधान अचेतन है फिर भी किसी विशेष प्रयोजन से वह प्रवृत्त होता है [और अपने व्यापार में लगता है]।

---

* अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां मुक्तभोगां नुमस्तान्॥
(त० कौ० मंगल, १)

दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति । तदुक्तम्—

१०. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥
(सां० का० ५७) इति ।

यही देखते भी हैं कि अचेतन पदार्थ चेतन की सहायता लिये ही बिना मनुष्यों की अर्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है । जैसे बच्चेके पालन-पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवृत्त है (माँ के स्तन में चला आता है) और जैसे अचेतन जल संसार के उपकार के लिए प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगी, [इसमें आश्चर्य क्यों करते हैं ?] यह कहा भी है—'जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए (के प्रयोजन से) अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की भी प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रधान या प्रकृति की प्रवृत्ति होती है ।' (सां० का० ५७) ।

विशेष—यहाँ लोग पूछ सकते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष कैसे होता है ? मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति । दुःख की निवृत्ति तभी हो सकती है जब पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाय । प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है, इसलिए पुरुष को उससे अपने भेद का ज्ञान प्राप्त करना टेढ़ी खीर है । जब प्रकृति कार्योत्पादन में लगती है तब उसके बड़े-बड़े भौतिक कार्य स्थूल रूप से दिखलाई पड़ते हैं । पुरुष आसानी से उन पदार्थों से अपना भेद कर लेता है । फिर वह उन स्थूल कार्यों के कारण सूक्ष्म तत्त्वों से भी भेद कर लेता है । अन्त में सूक्ष्मतम प्रकृति से भी पार्थक्य का ज्ञान उसे हो जाता है । जैसे अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारे को दिखलाने के लिए स्थूल तारों को दिखलाते-दिखलाते ध्यान केन्द्रित हो जाने पर अरुन्धती को दिखला देते हैं वैसे ही पुरुष को भी प्रकृति का ज्ञान होता है ।

(१० क. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है)

यस्तु 'परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः' इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः । विकल्पानुपपत्तेः । स किं

सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुत्पत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः । द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः । करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

परमेश्वर की सत्ता माननेवाले लोग (नैयायिक आदि) जो यह ढिंढोरा पीटते हैं कि परमेश्वर दया के कारण संसार की [रचना करने में] प्रवृत्त होता है, वह तो गर्भपात के समान नष्ट हो गया। कारण यह है कि इस दशा में इस पर उठाये गये विकल्पों का खंडन हो जाता है। क्या वह सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद ? पहला विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि शरीर आदि के अभाव में दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी, [दुःख शरीर में ही होता है, जीवों का उस समय शरीर ही नहीं है] अतः जीवों में दुःख को हटाने की इच्छा (करुणा) नहीं मानी जा सकती [और कैवल्य या मोक्ष नहीं होगा।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं कि सृष्टि के बाद करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष ही हो जायगा। करुणा से सृष्टि होती है (आपका अपना सिद्धान्त) और सृष्टि होने पर करुणा होती है (प्रसंग का आ जाना)।

(११. प्रकृति-पुरुष का संबन्ध)

तस्मादचेतनास्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः । यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य संनिधानेन व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य संनिधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते । प्रकृतिपुरुषसंबन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः । प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते । पुरुषोऽपि भेदाग्रहाद् बुद्धिच्छायापत्त्या तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते । तत्प्रकृतिपुरुषनिबन्धनं न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते ।

इसलिए अचेतन होने पर भी तथा किसी चेतन सत्ता का आश्रय न लेने पर भी प्रधान का परिणाम (विकार) महत् आदि कार्यों के रूप में होता है जो पुरुष के लाभ के लिए उपयोगी एवं प्रधान और पुरुष के संयोग के लिए ही होता है। जैसे निष्क्रिय चुम्बक के भी संपर्क में आने से लोहे में क्रिया

उत्पन्न होती है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष के संपर्क से प्रधान में क्रिया उत्पन्न होना युक्तियुक्त है।

प्रकृति-पुरुष का संबन्ध अंधे और लँगड़े की तरह परस्पर अपेक्षा पर निर्भर करता है। चूँकि प्रकृति स्वयं भोग्य है इसलिए भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रखती है। पुरुष भी, भेद का ज्ञान नहीं रहने से तथा [अपने ऊपर] बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से, बुद्धिगत तीनों दुःखों को हटाते हुए मोक्ष चाहता है। [बुद्धि प्रकृति का एक परिणाम है किन्तु जब इसकी छाया पुरुष पर पड़ जाती है तब उससे अपना अंतर न जान कर वह पुरुष बुद्धि में उत्पन्न सुख, दुःख आदि को अपना सुख, दुःख ही समझने लगता है। अतः उनके निवारण के लिए उसे मोक्ष की अपेक्षा रहती है।] यह मोक्ष (कैवल्य) प्रकृति और पुरुष [के भेद-ज्ञान] पर निर्भर करता है, उसके बिना यह नहीं हो सकता इसलिए कैवल्य की प्राप्ति के लिए पुरुष [भेदज्ञान के लिए भेद के प्रतियोगी] प्रधान की अपेक्षा रखता है।

यथा खलु कौचित्पङ्ग्वन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात्परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात्संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। ततः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति, पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढः। तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनः सर्गः। यथोक्तम्—

११. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संबन्धस्तत्कृतः सर्गः॥
(सां० का० २१) इति।

जैसे कोई अंधा और लँगड़ा राह में किसी दल के साथ जा रहे थे। किसी दैवी उपद्रव से दल से उनका साथ छूट गया। वे बेचारे डर के मारे इधर-उधर घूम रहे थे कि दैवयोग से उनका मिलन आपस में ही हो गया। अब अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया। तब लँगड़े के दिखलाये रास्ते पर चलते-चलते अन्धा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। लँगड़ा भी कन्धे पर चढ़े-ही-चढ़े [आसानी से वहाँ पहुँच गया]।

उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले प्रधान और पुरुष के कारण सृष्टि (सर्ग) चलती है। जैसा कि कहा है—'[प्रधान अपने कर्मों को] दिखलाने के

लिए पुरुष की अपेक्षा रखता है और उसी तरह [पुरुष अपने] कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान की अपेक्षा करता है—इस तरह दोनों का संबन्ध पंगु और अंध के समान है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।' [पंगु को गतिशक्ति नहीं है वह अपने स्थान पर जाने के लिए गतिमान् व्यक्ति की अपेक्षा रखता है तो अंधा मिलता है। उधर अंधा दृष्टिशक्ति से रहित है तो उसे दृष्टिमान् लँगड़े की सहायता मिलती है। दोनों का परस्पर संयोग हो जाता है। यहाँ पुरुष निष्क्रिय होने के कारण पंगु के समान है, प्रधान अचेतन होने के कारण अंधे की तरह है। लँगड़े के संवन्ध से अंधा मार्ग में चल पड़ता है, वैसे ही पुरुष के संवन्ध से प्रधान प्रवृत्त होता है। अंधे के संवन्ध से पंगु अभीष्ट स्थान पर पहुँचता है वैसे ही प्रधान के संबन्ध से पुरुष विवेकज्ञान के द्वारा मोक्ष पाता है।] (सां० का० २१)।

विशेष—सांख्य के प्रकृति-पुरुष-संबन्ध में जो अंधा-लँगड़ा की उपमा दी गई है उसकी घोर आलोचना हुई है। प्रायः लोगों ने संकेत किया है कि अंधा और लँगड़ा दोनों ही चेतन हैं आपस में साथ चलने के लिए समझौता कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि वे एक-एक इन्द्रिय से रहित हैं। प्रकृति और पुरुष में कोई धर्म समान नहीं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। दोनों में समझौता कैसे हो सकता है ?

(१२. प्रकृति की निवृत्ति—प्रलय)

ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः। निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेत्—उच्यते। यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्तारं नोपैति, यथा वा कृतप्रयोजना नर्तकी निवर्तते तथा प्रकृतिरपि। यथोक्तम्—

१२. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
(सां० का० ५९) इति।

एतच्च निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्तककपिलादिमतानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्॥

अब शंका होती है कि प्रधान की प्रवृत्ति भले ही पुरुष के काम के लिए हो, पर उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे पति के द्वारा दोष देख लिये जाने पर स्वेच्छाचारिणी स्त्री फिर अपने पति के पास लौट कर नहीं आती अथवा जैसे अपना काम समाप्त कर लेने पर नर्तकी चली जाती है वैसे ही प्रकृति भी [पुरुष को अपना कार्यसमूह या परिणाम दिखाकर निवृत्त हो जाती है।] जैसा कहा गया है—'दर्शक-मंडली को [नृत्य] दिखाकर जैसे कोई नर्तकी अपने नृत्य से अलग हो जाती है वैसे ही पुरुष को अपना स्वरूप (स्थूल परिणाम) दिखला कर प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।' (सां० का० ५९)।

निरीश्वर सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि आचार्यों का मत माननेवाले लोगों का यह सिद्धान्त यहाँ उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार श्रीसायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सांख्यदर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां सांख्यदर्शनमवसितम् ॥

(१५) पातञ्जल-दर्शनम्

चित्तस्य वृत्तिमनुरुध्य सुसाधनाभि-
जीवः समाधिमधिगच्छति यन्मतेन ।
योगास्तथा वसुमिता अधियोगशास्त्रं
येनाश्रिता मम पतञ्जलये नमोऽस्मै ॥ —ऋषिः

(१. योगसूत्र की विषय-वस्तु)

सांप्रतं सेश्वरसांख्यप्रवर्तकपतञ्जलिप्रभृतिमुनिमतमनुवर्तमानानां मतमुपन्यस्यते । तत्र सांख्यप्रवचनापरनामधेयं योगशास्त्रं पतञ्जलिप्रणीतं पादचतुष्टयात्मकम् । तत्र प्रथमे पादे 'अथ योगानुशासनम्' (यो० सू० १।१) इति योगशास्त्रप्रतिज्ञां विधाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) इत्यादिना योगलक्षणमभिधाय समाधिं सप्रपञ्चं निरदिक्षद्भगवान्पतञ्जलिः ।

अब सेश्वर सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि आदि (=हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि) मुनियों के मत का अनुसरण करने वाले लोगों के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है । [कपिल के द्वारा प्रतिपादित सांख्य-दर्शन को निरीश्वर-सांख्य कहा गया है क्योंकि वे अपने दर्शन में ईश्वर नामक कोई पदार्थ स्वीकार नहीं करते । योगशास्त्र में सभी विषयों पर सांख्य से सहमत होते हुए भी ईश्वर के विषय में विमति है । ये लोग पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर को भी स्वीकार करते हैं । इसीलिए सेश्वर सांख्य के नाम से यह दर्शन प्रसिद्ध है । सांख्य और योग अन्य पक्षों पर सहमत होने से समानतंत्र भी कहलाते हैं—वे एक दूसरे के पूरक हैं । सिद्धान्तों की विवेचना सांख्य में हुई है जब कि व्यावहारिक पक्ष का विचार योग में हुआ है । पतंजलि ही इसके उपलब्ध प्रवर्तक माने जाते हैं क्योंकि इनका योगसूत्र बहुत प्रसिद्ध है । इनके पूर्व भी कुछ योगी हो गये थे किन्तु उनके ग्रंथों का प्रचार न होने से माधवाचार्य उन्हें 'प्रभृति' शब्द के अंतर्गत रखते हैं ।]

तो, योगशास्त्र में, जिसका दूसरा नाम 'सांख्यप्रवचन' भी है तथा जिसकी रचना पतंजलि ने की है, चार पाद (समाधि, साधन, विभूति, कैवल्य) हैं ।

उनमें प्रथम पाद में 'अथ योगानुशासनम्' (अब योग का विश्लेषण होगा, यो० सू० १।१)—इस सूत्र में योगशास्त्र की प्रतिज्ञा देकर भगवान् पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्त की वृत्तियों को रोक देना ही योग है—यो० सू० १।२)—इस सूत्र के द्वारा योग का लक्षण बतला कर, विस्तारपूर्वक समाधि (Concentration) का निर्देश किया है। ['अथ' शब्द स्वरूप से तो मंगल-बोधक है, किन्तु अर्थ है उसका अधिकार अर्थात् आरंभ। अनुशासन = विवेचना करके बोध कराना। समाधि = सम्यक् रूप से आधान (चित्त की अवस्थिति)।* योगशास्त्र में समाधि के दो भेद दिये गये हैं—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संशय, विपर्ययादि से पृथक् होकर (सम्) अच्छी तरह (प्र) ध्येय का स्वरूप जिसमें ज्ञात हो वही संप्रज्ञात है। असंप्रज्ञात समाधि में ध्यान करने वाले तथा ध्येय ईश्वर दोनों का भेद मिट जाता है।]

द्वितीये 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इत्यादिना व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगं यमादीनि च पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि। तृतीये 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पात० यो० सू० ३।१) इत्यादिना धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संयमपदवाच्यं तदवान्तरफलं विभूतिजातम्।

द्वितीय पाद में—'तप, स्वध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में सारे कामों को अर्पण कर देना) ही क्रियायोग है' (यो० सू० २।१)—इस प्रकार के सूत्रों से, जिस व्यक्ति का चित्त अभी समाधियुक्त नहीं हुआ है, उसके लिए व्यावहारिक योग अर्थात् यम आदि पांच बहिरंग साधनों का निर्देश किया है। तृतीय पाद में 'चित्त को एक स्थान में बाँध देना ही धारणा है' (यो० सू० ३।१) इत्यादि सूत्रों से धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीन अंतरंग साधनों का [निर्देश किया है] जिन्हें समष्टि-रूप में 'संयम' भी कहते हैं तथा इनके जो गौण फल विभिन्न विभूतियों (अतिमानव शक्तियों) के रूप में प्राप्त होते हैं, उनका निर्देश भी किया गया है।

विशेष—क्रियात्मक (व्यावहारिक) योग में ये तीन चीजें आती हैं—तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान। इन्हें हम योग का साधन कह सकते हैं। **तप** के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, सत्यभाषण, मौनग्रहण, अपने

---

* तुलनीय—इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते॥ (यो० वा०)

आश्रमधर्म का पालन, द्वन्द्वों का सहन, मिताहार आदि व्रत आते हैं। इनके पालन में शरीर को सुखाना नहीं है, अन्यथा शरीर के क्षीण हो जाने से योग में व्याघात पड़ेगा। **स्वाध्याय** का अर्थ है—प्रणव, श्रीसूक्त, रुद्रसूक्त, ब्रह्मविद्या आदि का पारायण करना। फल की कामना न करते हुए, कृत कर्मों को परम गुरु ईश्वर को सौंप देना **ईश्वर-प्रणिधान** है। इस क्रियायोग से समाधि की भावना तथा क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) का दुर्बलीकरण होता है। इन क्रियायोगों का वर्णन द्वितीयपाद के प्रथम सूत्र से आरंभ करके २८वें सूत्र तक हुआ है। शेष सूत्रों में अष्टांग योग के पाँच अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का वर्णन है। ये पाँच अंग योग (चित्तवृत्ति-निरोध) के बाह्य साधन हैं। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् करें।

(१) **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं। ये सार्वभौम व्रत हैं तथा इन्हें जाति, देश, काल और आचार (परंपरा) की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। प्राणी मात्र को, कहीं भी, कभी भी, किसी के लिए भी मैं नहीं मारूँगा—यही सार्वभौम व्रत हुआ। प्राण-वियोग के लिए जो व्यापार करें, वह हिंसा है और इसके विरुद्ध **अहिंसा** होती है। वाणी और मन से वस्तु का यथार्थ निरूपण करना **सत्य** है। दूसरों के द्रव्यों का हरण नहीं करना **अस्तेय** है। जननेन्द्रिय का नियंत्रण करना **ब्रह्मचर्य** है। भोग के साधन के रूप में जो वस्तुएँ हों उन्हें स्वीकार न करना **अपरिग्रह** है।

(२) **नियम**—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान करना (कर्मार्पण करना)—ये पाँच नियम हैं। पवित्र रहना शौच है। शरीर या मन से पवित्र रहा जा सकता है। मिट्टी जल आदि से शरीर की बाह्य शुद्धि होगी तथा पंचगव्य आदि खाने से आन्तरिक शुद्धि। अच्छी-अच्छी भावना करके राग, द्वेषादि मानसिक मलों को धो देना मानस शुचिता है। तृष्णा न होना संतोष है। दूसरे नियमों का वर्णन पहले ही कर चुके हैं।

(३) **आसन**—जिस रूप में साधक स्थिरता से (देर तक) तथा सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन है। पद्मासन, सिद्धासन आदि प्रसिद्ध हैं जिनमें हाथ-पैर आदि शारीरिक अवयवों को एक विशेष प्रकार से रखा जाता है। आसन स्थिर हो जाने पर शीत, उष्ण आदि से पीड़ा नहीं होती है।

(४) **प्राणायाम**—आसन स्थिर हो जाने पर श्वास (नासिका के छेदों से वायु का अन्दर जाना) और प्रश्वास (वायु का बाहर आना), दोनों की गति का निरोध कर देना प्राणायाम है। वायु जहाँ है वहीं रह जाय जिससे

चित्त भी स्थिर हो जाय। ऐसा चित्त शब्दादि विषयों के साथ संबद्ध नहीं हो सकता। परिणाम यह होगा कि श्रोत्रादि इन्द्रियाँ भी विषयों से विमुख हो जायँगी।

(५) **प्रत्याहार**—इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियों को रोकने वाला चित्त ही है। चित्त के रुक जाने से ये इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं।

ये पाँचों उपाय योग के वहिरंग साधन हैं क्योंकि चित्त को स्थिर करने के वाद क्रमशः समाधि तक पहुंचा जा सकता है। धारणा, ध्यान और समाधि चूँकि समाधि के स्वरूप की निष्पत्ति करते हैं अतः अंतरंग साधन कहलाते हैं जिनका वर्णन तृतीय पाद (विभूतिपाद) में हुआ है। समाधि को ही योग कहते हैं। यह योग-रूपी वृक्ष चित्तरूपी खेत में यम-नियम के द्वारा बीज प्राप्त करता है, आसन-प्राणायाम से अंकुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा इसमें फूल लगते हैं और अंत में धारणा आदि अंतरंग साधनों के द्वारा फलवान् होता है। इन तीन साधनों का वर्णन भी करें।

(६) **धारणा**—नाभिचक्र, हृदय, नासिका आदि स्थानों में चित्त को एकाग्र (Concentrate) कर लेना धारणा है। देश कोई भी हो—मूर्ति हो या अपना ही शरीर, किन्तु चित्त की एकाग्रता होनी चाहिए।

(७) **ध्यान**—धारणा में किसी देश में चित्त की वृत्ति (प्रत्यय) एक स्थान पर स्थिर की जाती है—अब वह वृत्ति इस प्रकार से समान प्रवाह के द्वारा लगातार उगती रहे कि दूसरी कोई वृत्ति बीच में न आये, तब उसे ध्यान कहते हैं (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ३।२)।

(८) **समाधि**—यह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु के आकार में हो जाय, न ध्यान रहे न ध्याता, तब उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्था में ध्यान-क्रिया, ध्यान करने वाले तथा ध्येय वस्तु की भी प्रतीति होती है किन्तु अभ्यास वढ़ाने पर तीनों जब एकाकार होकर ध्येय के स्वरूप में ही प्रतीत होने लगें तब उस अवस्था का नाम समाधि हो जाता है।

इन तीनों अन्तरङ्ग साधनों का सम्मिलित नाम **संयम** है जिसके दो फल हैं—मुख्य फल योग ही है, किन्तु गौण फल हैं नाना प्रकार की विभूतियाँ जैसे—भूत-भविष्यत् की बातों का ज्ञान, पशु-पक्षी आदि की बोली समझने की शक्ति, दूसरे जन्म की बातों का ज्ञान, दूसरे के मन की बातों को जानने की शक्ति, अन्तर्धान हो जाने की शक्ति आदि। इन सबों का वर्णन विभूतिपाद में किया गाया है।

चतुर्थे 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (पात० यो० सू० ४।१) इत्यादिना सिद्धिपञ्चकप्रपञ्चनपुरस्सरं परमं प्रयोजनं कैवल्यम् । प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव संमतानि । षड्विंशस्तु परमेश्वरः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसंप्रदायप्रवर्तकः संसाराङ्गारे तप्यमानानां प्राणभृतामनुग्राहकश्च ।

चतुर्थ पाद में —'जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ हैं' (यो० सू० ४।१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा पाँच प्रकार की सिद्धियों का विस्तार करते हुए परम लक्ष्य कैवल्य का निर्देश पतंजलि ने किया है । [साधन के भेद से सिद्धियों के पाँच भेद किये गये हैं । जो सिद्धियाँ जन्म से ही प्राप्त रहती हैं उन्हें जन्मज कहते हैं जैसे पक्षियों के उड़ने की सिद्धि या देवताओं की सिद्धि । कुछ सिद्धियाँ औषधियों के सेवन से प्राप्त होती हैं जैसे पारा आदि का सेवन करके शरीर में विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना । मंत्र से होने वाली सिद्धियों में इष्टदेव की प्राप्ति प्रधान है । तप के प्रभाव से भी अशुद्धि दूर होकर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है । समाधि से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन विभूतियों के रूप में निर्दिष्ट है । अणिमादि, अजरत्व, अमरत्व, आकाशगमन आदि मुख्य सिद्धियाँ हैं । उक्त अष्टांग योग से योग की प्राप्ति होती है, तब प्रकृति-पुरुष का भेद साक्षात्कार के रूप में मिलता है । पुरुष का ज्ञान हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है—मोक्ष का अर्थ है दुःख का आत्यन्तिक विनाश । इन सबों का निरूपण चतुर्थ पाद में हुआ है ।]

प्रधान आदि पचीस तत्त्व तो पहले-जैसे (सांख्य-दर्शन के अनुसार) ही यहाँ भी स्वीकृत हैं । हाँ, छब्बीसवाँ तत्त्व परमेश्वर है जो क्लेश (अविद्यादि) कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट (अछूता) रहने वाला पुरुष ही है (दे० यो० सू० १।२४)। अपनी इच्छा से ही वह शरीरों का निर्माण करके लौकिक और वैदिक संप्रदायों का प्रवर्तन करते हुए, संसार की दावाग्नि में जलने वाले जीवों पर अनुग्रह भी करता है । [सांख्य-दर्शन के सारे सिद्धान्तों को मानने पर भी पातंजल-दर्शन की एक विशेषता है कि इसमें ईश्वर की सत्ता मानी जाती है । ईश्वर का लक्षण पतंजलि इस रूप में देते हैं—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (१।२४)। अविद्या आदि क्लेशों का वर्णन आगे करेंगे । ये चित्त में रहकर त्रिगुणात्मक संसार को दृढ़ करते हुए परिताप उत्पन्न करते हैं जिसके कारण क्लेश कहलाते हैं । निषिद्ध और विहित दो प्रकार के

कर्म होते हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में धर्म और अधर्म कहते हैं। कर्म के फल विपाक कहे जाते हैं जो जन्म, आयु और भोग के रूप में तीन हैं। जो मन में अवस्थित रहते हैं (आशेरते) वे आशय अर्थात् संस्कार हैं। इन सब मानवीय विशेषताओं से ईश्वर तीनों कालों में अछूता रहता है। सांख्य-दर्शन के जीवों (पुरुषों) को ये दोष व्याप्त कर लेते हैं किन्तु ईश्वर इन से परे है। ईश्वर अपनी इच्छा से एक या एक साथ ही अनेक शरीर बना सकता है—इसे **निर्माणकाय** कहते हैं। ईश्वर संप्रदाय का प्रवर्तन तथा जीवों पर अनुग्रह करता है—ये दोनों लिंग ईश्वर का अनुमान कराने में सहायक होते हैं अर्थात् ईश्वर अनुमेय भी है।

(२. मोक्ष के विषय में शंका और उसका समाधान)

ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य तस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कक्षीक्रियत इति चेत्—उच्यते। तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं बुद्ध्यात्मना परिणतमिति सत्त्वे परितप्यमाने तदारोपवशेन तदभेदावगाहिपुरुषोऽपि तप्यत इत्युच्यते तदुक्तमाचार्यैः—

१. सत्त्वं तप्यं बुद्धिभावेन वृत्तं
भावा ये वा राजसास्तापकास्ते।
तप्याभेदग्राहिणी तामसी या
वृत्तिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा॥ इति।

अब प्रश्न हो सकता है कि कमल के पत्ते की तरह निर्लेप (किसी से भी असंबद्ध) जीव ताप का विषय (तप्य) कैसे बन सकता है जिसके चलते उसपर अनुग्रह करने के लिए (उसे मुक्त करने के लिए) आपको परमेश्वर की सत्ता माननी पड़ती है ? उसका उत्तर दिया जाता है—जो सत्त्वगुण बुद्धि के रूप में परिणत (विकसित) होता है वही तप्त किया जाता है और उसे तप्त करने वाला है रजोगुण। इस प्रकार सत्त्व के परितप्त होने पर, उसी (बुद्धितत्त्व) पर अपना आरोपण करके, उसके साथ अभेद संबन्ध समझने वाला पुरुष भी संतप्त हो रहा है, ऐसा लोग कहते हैं। [आशय यह है—जीव स्वयं न तो तप्त होता है न दूसरे को तप्त ही करता है। किंतु बुद्धिगत सत्त्वांश तप्त होता है और रजोगुण का अंश तप्त करता है। एक तप्य है दूसरा तापक। चूंकि बुद्धि प्रधान का परिणाम है तथा प्रधान में तीन गुण हैं अतः वे तीनों गुण बुद्धि के रूप में भी परिणत होते हैं। जीव स्वयं तो तप्य नहीं हो सकता क्योंकि वह

क्रिया से रहित है तथा परिणाम भी उसमें नहीं होता। अतः क्रिया से उत्पन्न फलों के आश्रय—कर्म की संभावना उसमें है ही नहीं। बुद्धि के संतप्त होने पर मूढ लोग समझते हैं कि प्रतिबिम्ब के रूप में उसी की तरह का पुरुष भी अनुतप्त हो रहा है। यद्यपि बुद्धि और जीव में भेद है किन्तु वे बुद्धि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर देते हैं। विद्वानों की दृष्टि से भी पुरुष पर भोक्ता होने का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है। अतः बुद्धिगत दुःख को ही हटाने के लिए प्रयत्न किया जाता है।]

ऐसा ही आचार्यों ने कहा है—'बुद्धि के रूप में परिणत होने वाला (प्रधान के विकार के रूप में स्थित बुद्धि) सत्त्व ही तप्य होता है। जो पदार्थ रजोगुण से संबद्ध हैं वे ही तापक हैं। तप्य (अर्थात् बुद्धिगत सत्त्वांश) के साथ अभेद ग्रहण करने वाली जो तामसी (अज्ञानमूलक) मनोवृत्ति है उसी पर [अभेद का आरोपण करने से] आत्मा अर्थात् जीव ही तप्य है, ऐसा प्रयोग किया जाता है।' [सारांश यह है कि बुद्धि के गुणों के तप्य, तापक होने से उन गुणों का जीव पर आरोप करके कहा जाता है कि जीव ही संतप्त हो रहा है।]

पञ्चशिखेनाप्युक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपततीति। भोक्तृशक्तिरिति चिच्छक्तिरुच्यते। सा चात्मैव। परिणामिन्यर्थे बुद्धितत्त्वे प्रतिसंक्रान्तेव प्रतिबिम्बितेव तद्वृत्तिमनुपततीति बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सा चिच्छक्तिर्बुद्धिच्छायापत्त्या बुद्धिवृत्त्यनुकारवतीति भावः।

पंचशिखाचार्य ने भी कहा है—'भोक्ता की शक्ति (बुद्धि-शक्ति धारण करने वाला पुरुष) स्वयं परिणत या विकृत नहीं हो सकती, इसका प्रतिसंक्रमण (विकार उत्पन्न करने के लिए दूसरी वस्तु से संयोग) भी नहीं हो सकता—फिर भी परिणत हो सकने वाली वस्तुओं पर मानों प्रतिबिम्बित होती है तथा उसकी वृत्तियों (धर्मों) का अनुसरण भी करती है।' (यो० सू० २।२० पर व्यास भाष्य में उद्धृत)। भोक्ता की शक्ति को ही चित् शक्ति कहते हैं। वह और कोई नहीं, आत्मा ही है। आत्मा ही परिणत होने वाली वस्तु—बुद्धितत्त्व—पर प्रतिसंक्रान्त अर्थात् प्रतिबिम्बित-सी होती है तथा उसकी वृत्तियों का अनुसरण भी करती है। इस प्रकार बुद्धि में वह चिच्छक्ति (आत्मा) प्रतिबिम्बित होती है, उस पर बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा बुद्धि की वृत्तियों का अनुकरण भी वह करने लगती है [जो धर्म बुद्धि के होते हैं उन्हें आत्मा अपने धर्म समझने लगती

है। यही कारण है कि बुद्धि का सत्त्वांश तप्त होता है और आत्मा अपने को तप्त समझती है। रजोगुणांश तप्त करता है और आत्मा अपने को ही तापक समझती है। तमोगुण तो यह नाटक ही दिखाता है। बुद्धि और आत्मा का अभेद हो जाने से आत्मा को ज्ञानी कहने लगते हैं और बुद्धि को चेतन कहने लगते हैं। पर वस्तुतः दोनों पृथक् हैं।

तथा शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्न-तदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासत इति। इत्थं तप्यमानस्य पुरुषस्यादर-नैरन्तर्य-दीर्घकालानुबन्धि-यम-नियमाद्यष्टाङ्गयोगानुष्ठानेन परमेश्वरप्रणिधानेन च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हताः भवन्ति। ततश्च पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनावस्थानं कैवल्यमिति सिद्धम्।

इस तरह, यद्यपि पुरुष (आत्मा) शुद्ध या निर्लेप है, किन्तु बुद्धिगत (विषयों का आकार ग्रहण करने के रूप में) प्रत्ययों (विचारों, Ideas) का अनुकरण करता है। उन विचारों का अनुकरण करते हुए, यद्यपि उसके स्वरूप का नहीं है (=बुद्धि के सरूप नहीं है) तथापि बुद्धि के रूप में ही प्रतिभासित होता है। जो पुरुष इस रूप में संतप्त हो रहा है उसे, आदर (तप, श्रद्धा आदि) के साथ, निरन्तर दीर्घकाल तक चलने वाले यम-नियमादि अष्टांग योग का अनुष्ठान करने से तथा परमेश्वर के प्रति अपने सभी कर्मों का अर्पण कर देने से, सत्त्व (बुद्धिगुण) और पुरुष की अन्यता-ख्याति (भेदज्ञान), सभी विघ्न-बाधाओं से रहित होकर उत्पन्न होती है तथा उसी समय अविद्या आदि पाँचों क्लेश मूल से ही उखड़ जाते हैं। [समूलकाषम्—समूल शब्द के उपपद में होने से √कष् + णमुल् (पा० सू० ३।४।३४)। उसके बाद कष् धातु का ही अनुप्रयोग]।

इसके साथ-साथ पुण्य और पाप (कुशल-अकुशल) के रूप में जो कर्मों के भाण्डार हैं वे भी जड़ से नष्ट कर दिये जाते हैं। [क्लेश का मूल है संस्कार, तो संस्कारों के साथ क्लेश, और कर्माशय भी नष्ट हो जाते हैं। समूल शब्द उपपद में है, √हन् + णमुल्—(पा० सू० ३।४।३६)।] इसके बाद निर्लेप (शुद्ध) पुरुष अकेला (केवल रूप में) अवस्थित होता है, इसे ही कैवल्य कहते हैं—यह सिद्ध हुआ। [जिस संबंध के चलते एक संबंधी के धर्म दूसरे

संवन्धी में कहे जाते हैं वह लेप है। जब पुरुष उस प्रकार के संबंध से मुक्त हो जाता है—प्रकृति से पृथक् रूप में अवस्थित होता है, वही तो मोक्ष है।]

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या—'अथ' शब्द का अर्थ)

तत्र 'अथ योगानुशासनम्' (पा० यो० सू० १।१) इति प्रथमसूत्रेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिरूपमनुबन्धचतुष्टयं प्रतिपाद्यते।

अत्राथशब्दोऽधिकारार्थः स्वीक्रियते। अथशब्दास्यानेकार्थत्वे संभवति कथमारम्भार्थत्वपक्षे पक्षपातः संभवेत्? अथशब्दस्य मङ्गलाद्यनेकार्थत्वं नामलिङ्गानुशासनेनानुशिष्टं—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ।' (अमरको० ३।३।२४६) इति। अत्र प्रश्नकार्त्स्न्ययोरसंभवेऽपि आनन्तर्यमङ्गलपूर्वप्रकृतापेक्षारम्भलक्षणानां चतुर्णामर्थानां सम्भवादारम्भार्थत्वानुपपत्तिरिति चेत्—।

'अब योग का विश्लेषण होगा' (यो० सू० १।१) इस प्रथम सूत्र के द्वारा विचारशील व्यक्तियों की प्रवृत्ति के अंग के रूप में विषय (Subject-matter), प्रयोजन (Aim), संवंध (Relation) और अधिकारी (Qualified person) रूपी चार अनुबन्धों का प्रतिपादन किया जाता है। [प्रस्तुत स्थल में अनुबंध एक पारिभाषिक शब्द है। सभी शास्त्रों के आरंभ में इन चार अनुबंधों पर विचार किया जाता है—वह शास्त्र चाहे व्याकरण हो या वेदान्त, आयुर्वेद हो या ज्योतिष। शास्त्र में जिस पदार्थ का प्रतिपादन करना हो उसे **विषय** कहते हैं। किसी शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है? उसके प्रतिपादन का क्या फल (प्रयोजन) है? उस शास्त्र के विषय, फल और अधिकारियों में क्या संबन्ध है? उस शास्त्र के अध्ययन का अधिकार किन-किन व्यक्तियों को है? इन सब बातों की जानकारी जब तक नहीं होती तब तक लोगों की प्रवृत्ति उस शास्त्र की ओर नहीं होगी। अनुबन्ध-चतुष्टय के ज्ञान के अनन्तर ही लोग किसी शास्त्र में प्रवृत्ति दिखा सकते हैं। लौकिक व्यवहार में भी किसी वस्तु की ओर हम तभी अभिमुख होते हैं जब जान लेते हैं कि वह क्या है, उससे क्या लाभ है, उसके अधिकारी कौन हैं? इत्यादि।]

उक्त सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार (आरंभ) के अर्थ में स्वीकृत होता है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि जब 'अथ' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं तब क्या कारण है कि आप लोग यहाँ आरंभ के अर्थ पर ही पक्षपात कर रहे हैं ? नामलिंगानुशासन (अर्थात् अमरकोश) में 'अथ' शब्द के मंगल आदि अनेक अर्थ दिये हैं—'अथो और अथ, ये दोनों शब्द मंगल (Auspiciousness), अनन्तर (After), आरंभ (अधिकार Beginning), प्रश्न (Query) तथा पूर्णता (All)—इन अर्थों में होते हैं' (अमरकोश ३।३।२४६)। [अथ शब्द मंगल का वाचक तो नहीं होता, उसका साधन भले ही हो सकता है। अमरकोश में ऐसे शब्दों का भी संग्रह है जो किसी अर्थ के वाचक नहीं हैं—जैसे, तु, हि, च, स्म, ह आदि शब्दों का पदपूरण अर्थ देना। इन शब्दों का पदपूरण वाच्यार्थ नहीं है, अपितु वे पदपूरण के साधन मात्र हैं। ठीक वैसे ही अथ शब्द का वाच्यार्थ मंगल नहीं है,—अथ का प्रयोग देखकर हम कह सकते हैं कि यहाँ अथ से मंगल की सिद्धि होती है। अथ के दूसरे अर्थों के ये उदाहरण हैं। अनन्तर (बाद के अर्थ में)—स्नानं कृत्वाथ भुञ्जीत। आरम्भ—अथ योगानुशासनम्। प्रश्न—अथ वक्तुं समर्थोऽसि (क्या तुम बोल सकते हो) ? पूर्णता—अथ धातून् ब्रूमः।]

माना कि प्रश्न और पूर्णता का अर्थ यहाँ नहीं हो सकता [क्योंकि न पतंजलि किसी से कुछ पूछना ही चाहते हैं और न पूरे योगशास्त्र का प्रतिपादन हो रहा है, ऐसा कहने में ही कोई अभिप्राय छिपा है]। फिर भी चार अर्थों की संभावना तो हो सकती है अर्थात् अनन्तर, मंगलबोधक, पूर्व में हुई बातों की अपेक्षा करने वाला या आरंभ का अर्थ ? तो, केवल आरंभ के अर्थ की संभावना मानकर [आपने अन्य तीन अर्थों का अधिकार क्यों छीन लिया ?] केवल एक अर्थ तो असिद्ध है।

मैवं मंस्थाः। विकल्पासहत्वात्। आनन्तर्यमथशब्दार्थ इति पक्षे यतः कुतश्चिदानन्तर्यं पूर्ववृत्तशमाद्यसाधारणात्कारणादानन्तर्यं वा ? न प्रथमः। 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी० ३।५) इति न्यायेन सर्वो जन्तुरवश्यं किंचित्कृत्वा किंचित्करोत्येवेति तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्ततया तदर्थाथ-शब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः।

न चरमः। शमाद्यनन्तरं योगस्य प्रवृत्तावपि तस्यानुशासनप्रवृत्त्यनुबन्धत्वेनोपात्ततया शब्दतः प्राधान्याभावात्।

[उक्त शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि] ऐसा मत सोचिये क्योंकि निम्न विकल्पों की कसौटी पर यह कसा नहीं जा सकता। यदि 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ 'अनन्तर होना' मानते हैं तो इसका क्या अर्थ है—क्या जिस किसी भी चीज के बाद होना या [योगाभ्यास के] पूर्व में किये गये शम आदि असाधारण कारणों के बाद होना ? [शमादि = शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। शम का अर्थ है मन का निग्रह करना, दम = बाह्येन्द्रियों का निग्रह, उपरति = संन्यास, तितिक्षा = सहिष्णुता, श्रद्धा = गुरु आदि के वाक्यादि पर विश्वास। समाधान = चित्त की एकाग्रता। ये योग के असाधारण कारण हैं। क्या इनके पश्चात् योगानुशासन करते हैं ?]

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है। गीता में एक पंक्ति है—'कोई भी पदार्थ विना कर्म किये हुए एक क्षण भी ठहर नहीं सकता' (गीता ३।५)—इस नियम से यह तो सहज-सिद्ध बात है कि कोई भी व्यक्ति कुछ करने के बाद कुछ करता ही है तो उसका नाम न लेने पर भी उसकी प्राप्ति तो हो ही जाती। अतः उसी सिद्ध बात के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है।

दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं है। यद्यपि शमादि कारणों के बाद ही योग की प्रवृत्ति होती है फिर भी ['अथ योगानुशासनम्' सूत्र में] यह योग अनुशासन की प्रवृत्ति पर ही निर्भर करता है, ऐसा ही दिखाया गया है; अतः शब्द की दृष्टि से योग की प्रधानता नहीं ही रहती। [योगानुशासन एक सामासिक पद है तथा तत्पुरुष समास है जिसमें उत्तरपद अर्थात् 'अनुशासन' प्रधान है। योग तो अनुशासन के अधीन है, उसका उपादान विशेषण के रूप में हुआ है। तो, 'अथ' शब्द का संबन्ध प्रधान शब्द अर्थात् अनुशासन (शास्त्र) के साथ होगा न कि अप्रधान शब्द योग के साथ। 'अथ' के द्वारा 'शमादि के बाद' अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि 'शमादि के बाद' का संबन्ध योग के साथ है और 'अथ' का संबन्ध अनुशासन के साथ। दूसरे शब्दों में, शमादि के बाद योग भले ही होता है पर उनसे योगानुशासन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।]

न च शब्दतः प्रधानभूतस्यानुशासनस्य शमाद्यानन्तर्यमथशब्दार्थः किं न स्यादिति वदितव्यम्। अनुशासनमिति हि शास्त्रमाह। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलसहितो योगो येन तदनुशासनमिति व्युत्पत्तेः।

आप ऐसा नहीं कह सकते कि शब्द की दृष्टि से (= समास में) जो प्रधान शब्द अनुशासन है, उसे ही शमादि के बाद मानकर 'अथ' शब्द का अर्थ क्यों

न कर लें। ऐसा इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि अनुशासन का अर्थ शास्त्र है। उसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) यह है—जिससे योग अनुशिष्ट (अनु + √शास्) हो अर्थात् लक्षण, भेद, उपाय और फल के साथ जिसके द्वारा योग की व्याख्या की जाय वही अनुशासन है। [उदाहरण के लिए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) में योग का **लक्षण** दिया गया है, 'वितर्कविचार०' आदि (१।१७) सूत्रों में संप्रज्ञातादि योग-**भेदों** का वर्णन हुआ है। साधनपाद में योग के लिए **उपाय** भी दिखलाये गये हैं। कैवल्यपाद में योग के **फल** (मोक्ष) का निरूपण हुआ है।]

अनुशासनस्य च तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तरभावित्वेन शमदमाद्यानन्तर्यनियमाभावात्। जिज्ञासाज्ञानयोस्तु शमाद्यानन्तर्यमाम्नायते—'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ० उ० ४।४।२३) इत्यादिना। नापि तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्य संभवेऽपि श्रोतृप्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरनुपयोगेनानभिधेयत्वात्।

[अब यह प्रश्न हो सकता है कि अनुशासन का अर्थ शास्त्र होता है तो ठीक है परन्तु इससे 'अथ' शब्द के अर्थ—शमादि के बाद—पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसीके उत्तर में कहते हैं—] यह अनुशासन चूँकि 'तत्त्वज्ञान का वर्णन करने की इच्छा' के अनन्तर उत्पन्न होता है, शम-दम आदि के अनन्तर होने का तो इसका नियम है ही नहीं। [जो चीज अनुशासन के पहले नियम से आती होगी, उसीका अर्थ अथ शब्द के द्वारा प्रकट हो सकता है। चूँकि अनुशासन सूत्रकार के द्वारा किया जाता है अतः सूत्रकार की इच्छा के बाद ही उन्हें शास्त्र की रचना करने की प्रवृत्ति हुई होगी। शमादि साधनों के बाद प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः योगानुशासन शमादि के बाद नहीं होता।] शमादि के पश्चात् तो जिज्ञासा और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, यह श्रुतियों में भी कहा है— 'इसलिए शमयुक्त, दमयुक्त, उपरत होकर, तितिक्षा लिए हुए और समाधान (विश्वास) से युक्त होकर पुरुष आत्मा में ही आत्मा को देख सकता है' (बृ० उ० ४।४।२३)। [शान्त = अन्तःकरण की तृष्णा से रहित। दान्त = बाह्येन्द्रियों पर संयम रखकर। उपरत = सभी इच्छाओं से मुक्त होकर। तितिक्षु = जीवन की रक्षा करते हुए ठंढ, गर्मी आदि विषमों को सहने वाला। समाहित = केवल आत्मा में ही चित्त की स्थापना करके।]

[अब एक और प्रश्न होगा कि 'शमादि के बाद' अर्थ हम भले ही नहीं लें किन्तु अनुशासन के पूर्व नियमतः जो शास्त्रकार की तत्त्वप्रकाशनेच्छा आती है—उसे ही (उसके बाद होना) 'अथ' का अर्थ क्यों नहीं मान लें ? इस पर उत्तर देते हैं—] 'अथ' शब्द का अर्थ 'तत्त्वज्ञान का प्रकाशन करने की इच्छा के पश्चात्' भी नहीं है । कारण यह है कि यदि ऐसा संभव हो तो भी शास्त्रकार ने जिस इच्छा के बाद शास्त्र का निर्माण किया उसका ज्ञान] न तो श्रोताओं के योगविषयक ज्ञान के लिए ही उपयोगी होगा और न उनकी योगविषयक प्रवृत्ति के ही लिए । (ज्ञान या प्रवृत्ति दोनों में से किसी का कारण वह नहीं हो सकता) अतः उसके आनन्तर्य (बाद होना) का कथन निष्फल होने के कारण वर्णन करने योग्य भी नहीं है । [ये बातें सूत्रकार की तत्त्वज्ञानप्रकाशनेच्छा को अनुशासन के पूर्व नियमतः होना मानकर ही कही गई हैं, किन्तु वास्तव में यह प्रकाशनेच्छा पूर्ववर्ती हो नहीं सकती—इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं ।]

तत्रापि निःश्रेयसहेतुतया योगानुशासनं प्रमितं न वा ? आद्ये तदभावेऽपि उपादेयत्वं भवेत् । द्वितीये तद्भावेऽपि हेयत्वं स्यात् । प्रमितं चास्य निःश्रेयसनिदानत्वम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।
(का० २।१२) इति श्रुतेः ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि । (गी० २।५३) इति स्मृतेश्च ।

आप लोगों के पक्ष में भी यह प्रश्न हो सकता है कि योगानुशासन को निःश्रेयस (मोक्ष) के कारण के रूप में आप स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि पहला विकल्प लेते हैं [कि योगशास्त्र मोक्ष का कारण है] तब तो उसके (= तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा के) अभाव में भी योगशास्त्र की उपादेयता रहेगी ही । [योगशास्त्र से यदि मोक्ष मिले तो ज्ञान-प्रकाशन की इच्छा न होने पर भी इसे लिखना ही पड़ेगा ।] अब यदि योगानुशासन को मोक्ष का हेतु सिद्ध नहीं कर सकते हैं तो [तत्त्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा] होने पर भी यह योगानुशासन त्याज्य ही हो जायगा । [फल यह हुआ कि तथाकथित तत्त्व-प्रकाशनेच्छा और योगानुशासन में पूर्वापर संबन्ध नहीं है क्योंकि इसमें व्यभिचार (Inconsistency) देखते हैं ।]

[दूसरे विकल्प के साथ दूसरा दोष ढूँढ़ते हैं—] यह योगानुशासन (योग के द्वारा) निश्रेयस का कारण है, यह बिल्कुल निश्चित है। इसके लिए श्रुति का प्रमाण है—'अध्यात्मयोग (आत्मा में चित्त को लगाना, निदिध्यासन, Contemplation) की प्राप्ति होने पर आत्मा (देव) का साक्षात्कार करके ज्ञानी (धीर) पुरुष हर्ष और शोक दोनों का त्याग कर देते हैं' (=मुक्त हो जाते हैं)। [काठक० २।१२)। इसके लिए स्मृति-प्रमाण भी है—'जब तुम्हारी बुद्धि समाधि की अवस्था में आत्मा में स्थिर हो जायगी तब तुम योग (योगफल अर्थात् आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त करोगे।' (गी० २।५३)। [इन दोनों प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि योग मोक्ष का कारण है। शास्त्रकारों को तत्वज्ञान के प्रकाशन की इच्छा हो या नहीं योगानुशासन किया ही जायगा। अतः उक्त प्रकाशनेच्छा नियमतः योगानुशासन की पूर्ववर्तिनी नहीं हो सकती।]

विशेष—जहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य (बाद में होना) लेते हैं वहाँ निश्चित रूप से कोई काम पहले हो चुका रहता है—भले ही उस काम का प्रतिपादन नहीं हुआ हो और न उसके प्रतिपादन की आवश्यकता ही समझी गई हो। 'स्नानं कृत्वाथ गतः' वाक्य में गमन क्रिया का प्रतिपादन स्नान के बाद हुआ है, स्नान गमन के पूर्व हुआ है। भले ही उस प्रतिपादन का उपयोग कुछ न हो और न ही नियमतः स्नान और गमन की पूर्वापरता देखी जाय—फिर भी 'अथ' शब्द 'स्नान के अनन्तर' का ही बोध कराता है। यदि 'अथ' शब्द का प्रयोग हो और किसी भी पूर्व क्रिया का उल्लेख नहीं हुआ हो तो भी योग्यता के बल से निर्णय करना ही होता है कि उसके पूर्व क्या हुआ था। ऐसी अवस्था में जो क्रिया निरन्तर साथ दे उसी की पूर्ववृत्तता (Priority) माननी चाहिए।

अत एव शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनोपयोगाद्यानन्तर्यं पराकृतम्। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र तु ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वेनाधिकारार्थत्वं परित्यज्य साधनचतुष्टयसंपत्तिविशिष्टाधिकारिसमर्पणाय शमदमादिवाक्यविहिताच्छमादेरानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शंकराचार्यैर्निरटङ्कि।

इसलिए, शिष्य का प्रश्न, तपश्चर्या या रसायन का उपयोग (शरीर में शक्ति लाने के लिए) आदि के **अनन्तर** (योगानुशासन होगा]—यह पक्ष ('अथ' शब्द को अनन्तर के अर्थ में लेना) खंडित हो गया। [जो लोग 'अथ' का अर्थ अनन्तर करते हैं वे लोग अपनी पुष्टि के लिए बहुत से कार्य लेते हैं। प्रश्न है कि तब योगानुशासन किस कार्य के बाद किया गया ? कुछ शास्त्र

शिष्यों के द्वारा प्रश्न किये जाने के बाद शास्त्रकारों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, जैसे—पाशुपतशास्त्र। कुछ शास्त्र तपस्या के बाद ज्ञानोत्पत्ति होने पर लिखे जाते हैं, जैसे—पाणिनि का व्याकरण। कुछ शास्त्र पारदादि के संयोग से बने हुए रसायनों का सेवन करने के बाद तत्त्वसाक्षात्कार होने पर लिखे जाते हैं। गुरु की आज्ञा से या लोगों पर दया करने के लिए भी शास्त्र लिखे जाते हैं। इन उपायों से शास्त्रकार शास्त्र की रचना करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी कार्य योगानुशासन के पूर्व में नियमपूर्वक नहीं माना जा सकता। जो गति तत्त्वप्रकाशनेच्छा की है, वही तो इन सबों की भी है। अतः 'अथ' का अर्थ 'अनन्तर होना' नहीं लिया जा सकता।]

वेदान्तसूत्र के प्रथम सूत्र—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (इसलिए अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए), इसमें [अथ शब्द का अर्थ अधिकार (आरम्भ) नहीं हो सकता क्योंकि] ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) का आरंभ नहीं किया जा सकता अतः 'अधिकार' अर्थ को छोड़ कर, चार साधनों की संपत्ति से युक्त अधिकारी को समर्पित करने के लिए, शमदमादि वाक्य (='शान्तो दान्तः०') में विहित होने के कारण, शंकराचार्य ने 'अथ' शब्द का अर्थ 'शमादि छहों पदार्थों के बाद' ऐसा किया है। [इच्छा का आरंभ नहीं होता अतः शंकराचार्य ने अथ का अर्थ 'बाद' ही किया है। अब प्रश्न हुआ कि किसके बाद ? शंकराचार्य अधिकारी चुनने में बड़ी रुचि दिखलाते हैं। वह अधिकारी, जिसे ब्रह्मसूत्र सौंप सकें। अतः 'अथ' से 'अधिकारी बनने के बाद' अर्थ लेते हैं। पर अधिकारी है कौन ? 'शान्तो दान्तः' वाक्य इसके लिए तो प्रस्तुत ही है। बस, 'अथ' का अर्थ हुआ—शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान से युक्त होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है।]

विशेष—उक्त चार साधनों के नाम शंकर ने इस प्रकार गिनाये हैं—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक करना, (२) ऐहिक और आमुष्मिक भोग सामग्रियों से वैराग्य, (३) शम, दमादि साधन-संपत्ति तथा (४) मुमुक्षु होना (१।१।१ का भाष्य)। वे आगे कहते हैं—तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। (वहीं)।

(३ क. 'अथ' शब्द मंगल का द्योतक भी नहीं)

अथ मा नाम भूदानन्तर्यार्थोऽथशब्दः। मङ्गलार्थः किं न स्यात् ? मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अगर्हिताभीष्टावाप्तिमङ्गलम्। अभीष्टं च सुखावाप्तिदुःखपरिहाररूपतयेष्टम्।

योगानुशासनस्य च सुखदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावान्न मङ्गलता। तथा च योगानुशासनं मङ्गलमिति न संपनीपद्यते।

अच्छा, 'अनन्तर होना' के अर्थ में 'अथ' शब्द भले ही न रहे लेकिन इसे मंगलार्थक क्यों नहीं मानते ? इसलिए नहीं मानते हैं कि मंगल के साथ वाक्य के अर्थ का संबन्ध नहीं हो सकता। अगर्हित (अनिंद्य) तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करना मंगल है। अभीष्ट वस्तु वही है जिसकी कामना लोग सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति के रूप में करें। योगानुशासन न तो सुख है (सुख-जनक भले ही है), और न दुःख की निवृत्ति को योगानुशासन कहते हैं। अतः यह मंगल नहीं है। इस प्रकार 'योगानुशासन मंगल है', यह अर्थ सिद्ध हो ही नहीं सकता। (संपनीपद्यते = सम् + √पद् + यङ् = पुनः पुनः संपद्यते, भृशं संपद्यते)।

विशेष—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं मंगल 'अथ' शब्द का वाच्यार्थ नहीं है—केवल उसे 'अथ' शब्द प्रकट कर सकता है। योगानुशासन स्वतः मंगल नहीं है यह सिद्ध कर ही चुके हैं। अब इस प्रश्न का विश्लेषण आगे करेंगे।

मृदङ्गध्वनेरिवाथशब्दश्रवणस्य कार्यतया मङ्गलस्य वाच्यत्व-लक्ष्यत्वयोरसंभवाच्च। यथार्थिकार्थो वाक्यार्थे न निविशते तथा कार्यमपि न निविशेत। अपदार्थत्वाविशेषात्। पदार्थ एव वाक्यार्थे समन्वीयते। अन्यथा शब्दप्रमाणकानां शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति मुद्राभङ्गः कृतो भवेत्।

जिस प्रकार मंगल मृदंग (ढोलक) की ध्वनि [का कार्य] है उसी प्रकार वह 'अथ' शब्द के श्रवण (या उच्चारण) का भी कार्य ही है। अतः मंगल न तो [अथ का] वाच्यार्थ हो सकता और न ही लक्ष्यार्थ। [अथ शब्द का उच्चारण करने से मंगल की उत्पत्ति होती है, अथ शब्द का वह वाच्यार्थ नहीं। यदि वाच्यार्थ नहीं है तो लक्ष्यार्थ भी नहीं क्योंकि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही संबद्ध रहता है।] जिस प्रकार अर्थापत्ति से उत्पन्न अर्थ वाक्यार्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता उसी प्रकार [मंगल का यह] कार्य-अर्थ भी वाक्यार्थ में नहीं आ सकता। कारण यह है कि दोनों में एक तरह से ही पद के अर्थ का तिरस्कार होता है। वाक्यार्थ से संबन्ध उसी का हो सकता है जो पद का अपना अर्थ हो। यदि ऐसा नहीं होता तो वैयाकरणों (शब्द को प्रमाण मानने वाले) के उस नियम का भंग होता जिसमें यह कहा जाता है कि शाब्दी (शब्द से संबद्ध)

आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण हो सकती है। [कोई शब्द जब किसी वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करने में असमर्थ हो तथा किसी दूसरे शब्द की अपेक्षा रखे तो उसे शाब्दी आकांक्षा कहते हैं—इसकी पूर्ति शब्द से ही हो सकती है, किसी दूसरे साधन से नहीं। यदि अर्थापत्ति के अर्थ को या कार्यरूप अर्थ (जैसे अथ का अर्थ मंगल) को वाक्यार्थ से मानने लगेंगे तो शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द से न होकर आर्थिकार्थ या कार्यार्थ से भी होने लगेगी किन्तु वास्तव में तो शब्दार्थ से होती है। अतः उक्त नियम खंडित हो जायगा।]

विशेष—'देवदत्त दिन में नहीं खाता, पर मोटा है' इस वाक्य में 'रात्रि-भोजन' अर्थापत्ति से प्राप्त अर्थ है, वाक्य से ऐसा अर्थ हमें मिल नहीं सकता। इसे आर्थिकार्थ कहते हैं। 'अथ' का जो 'मंगल' अर्थ करते हैं वह कार्य अर्थ है—जैसे राम का वाच्यार्थ व्यक्ति विशेष होता है वैसे 'अथ = मंगल' नहीं होता, मंगल 'अथ' के उच्चारण से उत्पन्न होता है, कार्य है। स्वभावतः ये दोनों अर्थ पदार्थ नहीं हैं, इसलिए वाक्यार्थ करने में इनका कोई महत्त्व नहीं। फलतः 'अथ योगानुशासनम्' में अथ का अर्थ मंगल लेने से योगानुशासन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। केवल 'योगानुशासनम्' कहने से वाक्य अपूर्ण रह जाता जिसकी पूर्ति 'अथ' से होती है। अब यदि अथ को भी मंगलोत्पादक मान लेंगे तब तो वाक्य अपूर्ण का अपूर्ण ही रह जायगा।

ननु प्रारिप्सितप्रबन्धपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहप्रशमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च शास्त्रारम्भे मङ्गलाचरणमनुष्ठेयम्। 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, आयुष्मत्पुरुषकाणि वीरपुरुषकाणि च भवन्ति' (पात० भाष्य० आह्नि० ३) इत्यभियुक्तोक्तेः। भवति च मङ्गलार्थोऽथशब्दः—

२. ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इतिस्मृतिसम्भवात्। तथा च 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) इत्यादौ वृद्ध्यादिशब्दवदथशब्दो मङ्गलार्थः स्यादिति चेत्—।

[पूर्वपक्षी लोग फिर भी 'अथ' को मंगलार्थक मानते हुए कह सकते हैं—] जिस प्रवन्ध का आरम्भ करने की इच्छा है (प्रारिप्सित) उसकी समीचीन समाप्ति के समय तक रुकावट डालने वाले (परिपन्थिन्) विघ्नों के समूह के विनाश के

लिए तथा शिष्टाचार का परिपालन करने के लिए भी शास्त्र के आरम्भ में मंगलाचरण का अनुष्ठान करना चाहिए। अभियुक्त (आप्त) पुरुषों का भी यही कहना है—'जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अंत में मंगल होता है वे शास्त्र प्रसिद्ध हो जाते हैं। उनके अध्येता आयुष्मान् तथा वीर (शास्त्रार्थ में अपराजित) होते हैं।' (महाभाष्य, आह्निक ३, पा० सू० १।१।१ पर)।

मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता भी है—'ओम् और अथ शब्द ये दोनों प्राचीन काल में ब्रह्मा के कंठ को छेद कर बाहर निकले (=ब्रह्मा की इच्छा के बिना निकले), इसलिए ये दोनों मांगलिक कहलाये।' ऐसा स्मृति से चला आ रहा है। इसलिए 'वृद्धिरादैच्' (पाणिनि का प्रथम सूत्र) में वृद्धि-आदि शब्द की तरह 'अथ' शब्द भी मंगल के अर्थ में हो सकता है।

मैवं भाषिष्ठाः। अर्थान्तराभिधानाय प्रयुक्तस्याथशब्दस्य वीणावेण्वादिध्वनिवत् श्रवणमात्रेण मङ्गलफलत्वोपपत्तेः। अथार्थान्तरारम्भवाक्यार्थधीफलकस्याथशब्दस्य कथमन्यफलकतेति चेन्न। अन्यार्थं नीयमानोदकुम्भोपलम्भवत्तत्संभवात्। न च स्मृतिव्याकोपः। माङ्गलिकाविति मङ्गलप्रयोजनत्वविवक्षया प्रवृत्तेः।

[उक्त शंका का **उत्तर** इस प्रकार है—] ऐसा मत कहिये। 'अथ' शब्द किसी दूसरे अर्थ के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त हुआ है; वीणा, वेणु (बाँसुरी) आदि की ध्वनि की तरह केवल इसके श्रवण करने से ही मंगलात्मक फल की सिद्धि होती है। [वृद्धिरादैच्' में वृद्धि का अर्थ मंगल नहीं है, वृद्धि तो पाणिनि-व्याकरण की एक संज्ञा है। संज्ञा का बोधक होने पर भी इस शब्द के उच्चारण या श्रवण से मंगल की सिद्धि होती है। उसी प्रकार 'अथ' शब्द का अर्थ दूसरा कुछ है किन्तु इसके श्रवण से मंगलाचरण होता ही है। अतः ऐसे शब्दों से दो-दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं।]

[इस उत्तर पर भी कोई पूछ सकता है कि] मंगलार्थ के अतिरिक्त, आरंभ [आदि अर्थों] का बोध (धी) वाक्यार्थ में कराने वाले 'अथ' शब्द से दूसरे फल (अर्थ) कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? (यह कैसे सम्भव है कि 'अथ' से आरंभ का वाच्यार्थ भी निकले और मंगल भी व्यक्त हो?) ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जिस प्रकार दूसरे काम से ले जाये जाने वाले पानी से भरे घड़े को देखने से [यात्रा पर निकले हुए व्यक्ति का शुभ शकुन होता है], उसी प्रकार यह भी

संभव है। ऐसा मानने पर भी उक्त स्मृति (तस्मान्माङ्गलिकावुभौ) का खंडन नहीं होता। 'माङ्गलिकौ' कहने का अर्थ [यह नहीं है कि ओम् और अथ का वाच्यार्थ ही मंगल है प्रत्युत] 'इसका लक्ष्य मंगल है' इसी विवक्षा से उक्त शब्द प्रयुक्त किया गया है।

विशेष--अब अथ शब्द के 'पूर्वप्रकृत की अपेक्षा रखना' अर्थ का खंडन करके अंत में 'आरंभ' अर्थ में इसकी सिद्धि करेंगे।

(४. 'अथ' का अर्थ आरम्भ या अधिकार)

नापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दः। फलत आनन्तर्याव्यतिरेकेण प्रागुक्तदूषणानुषङ्गात्। किमयमथशब्दोऽधिकारार्थोऽथानन्तर्यार्थ इत्यादिविमर्शवाक्ये पक्षान्तरोपन्यासे तत्सम्भवेऽपि प्रकृते तदसम्भवाच्च।

ऐसी बात भी नहीं है कि 'अथ' शब्द से पहले से प्रस्तुत वस्तु की अपेक्षा रखी जाय। [योग्यता के बल से शम-दमादि या शिष्य का प्रश्न या प्रकाशनेच्छा आदि के रूप में कुछ न कुछ पूर्वप्रकृत वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी] फलतः यह अर्थ आनन्तर्य अर्थ से भिन्न नहीं है जो-जो दोष उस अर्थ को स्वीकार करने पर लगाये जाते हैं वे यहाँ भी प्राप्त हो जायँगे। 'यह अथ-शब्द क्या अधिकार के अर्थ में होता है या आनन्तर्य के अर्थ में?' इस प्रकार के विमर्श (विभिन्न मत) के बोधक वाक्य में दूसरे पक्ष की स्थापना करने पर ये अर्थ (आनन्तर्य और अधिकार) सम्भव भी हैं किन्तु प्रस्तुत अर्थ लेने पर तो वह (पक्षान्तर की स्थापना) सम्भव ही नहीं [क्योंकि कोई भी पूर्वप्रकृत वस्तु नहीं मिलती है। नित्य रूप से साकांक्ष न रहने के कारण कोई अर्थ पहले से नहीं मान सकते!]

तस्मात्पारिशेष्यादधिकारपदवेदनीयप्रारम्भार्थोऽथशब्द इति विशेषो भाष्यते। यथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिः' इत्यत्राथशब्दः क्रतुविशेषप्रारम्भार्थः परिगृहीतः, यथा च 'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० भा० १।१) इत्यत्राथशब्दो व्याकरणशास्त्राधिकारार्थस्तद्वत्।

इसलिए अब परिशेष-नियम से (कोई दूसरा विकल्प न मिलने से) 'अथ' शब्द का अर्थ प्रारम्भ है जिसे 'अधिकार' शब्द के द्वारा भी समझते हैं—भाष्यकार (व्यास) ने इसे स्पष्ट किया है। जैसे—'अब (अथ) यह ज्योति-यज्ञ है,

अब यह विश्व ज्योति-यज्ञ है' (ताण्ड्य ब्राह्मण १६।८।१, १६।१०।१)—यहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द विशेष क्रतु (यज्ञ) को प्रारम्भ करने के अर्थ में लिया गया है। उसी प्रकार जैसे 'अब (अथ) शब्दानुशासन होता है' (महाभाष्य का प्रथम वाक्य)—यहाँ भी 'अथ' शब्द व्याकरण-शास्त्र के आरम्भ के अर्थ में आया है वैसे ही [प्रस्तुत प्रसंग में भी समझें।]

तदभाषि व्यासभाष्ये योगसूत्रविवरणपरे अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते इति। तद् व्याचख्यौ वाचस्पतिः। तदित्थम्—अमुष्याथशब्दस्याधिकारार्थत्वपक्षे शास्त्रेण प्रस्तूयमानस्य योगस्योपवर्तनात्समस्तशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्यस्य सुखावबोधप्रवृत्तिर्भवतीत्यथशब्दस्याधिकारार्थत्वमुपपन्नम्।

योगसूत्र का विवरण (व्याख्या) करनेवाले व्यासभाष्य में भी कहा गया है कि 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। [व्यास की इस पंक्ति की] व्याख्या वाचस्पति ने [अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में] की है। वह इस प्रकार है—इस अथ शब्द को अधिकार के अर्थ में ले लेने पर शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले योग का प्रतिपादन (उपवर्तन) करना सम्भव है। पूरे शास्त्र के तात्पर्यार्थ की व्याख्या करने से शिष्य में सरलता से समझने की प्रवृत्ति होगी, इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में हुआ है, यह सिद्ध हुआ। [हम ऊपर देख चुके हैं कि 'अथ' का अर्थ 'आनन्तर्य' लेने पर इसका उपयोग न तो श्रोता के बोध के लिए है और न उसकी प्रवृत्ति के लिए। ऐसी बात 'अधिकार' अर्थ लेने पर नहीं होती। योगशास्त्र का आरम्भ हो रहा है जिसमें सभी शास्त्रों के तात्पर्यार्थ की विवृति हुई है—इस शास्त्र की सहायता से इसका बोध आसानी से श्रोताओं को हो जायगा। यही नहीं, सामान्य ज्ञान हो जाने पर विशेषतः शास्त्रावलोकन की प्रवृत्ति भी होगी। इसलिए अथ का यही अर्थ सर्वथा समीचीन है।]

ननु 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतञ्जलिः कथं योगस्य शासितेति—अद्धा। अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिन्धुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। यदायमथ-

शब्दोऽधिकारार्थस्तदैवं वाक्यार्थः सम्पद्यते—योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमिति । तस्मादयमथशब्दोऽधिकार-द्योतको मङ्गलार्थश्चेति सिद्धम् ।

अब प्रश्न हो सकता है कि 'योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, कोई दूसरे पुरातन ऋषि नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है तो पतंजलि को योग का शास्त्रकार क्यों मानते हैं ? ठीक है इसीलिए तो, जहाँ-तहाँ पुराण आदि में योग की विवेचना विशिष्टरूप से [एक स्थान पर नहीं होकर] बिखरी हुई होने के कारण, समझने में कठिन जानकर, कृपा के सागर भगवान् शेषनाग [के अवतार पतंजलि] ने, उस योग का सारांश ग्रहण करने की इच्छा से अनुशासन (प्रथम प्रकाशन के पश्चात् उसका संकलन) किया है, साक्षात् शासन (नये शास्त्र की रचना) नहीं । [पुराणों में प्रसंग के अनुसार जहाँ-तहाँ योग के खंडों का ही वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ विष्णुपुराण (६।७), गरुड-पुराण (अध्याय १४ तथा ४९), मार्कण्डेय पुराण (अध्याय ३९) तथा लिङ्गपुराण (अध्याय ९) में योग का प्रतिपादन हुआ है, पर कहीं पूर्ण वर्णन नहीं । इसीलिए उन सभी स्थानों का सार ग्रहण करके पतंजलि ने योगशास्त्र लिखा—प्रथम शासन नहीं है, यह अनु-शासन है ।]

यह 'अथ' शब्द जब अधिकार के अर्थ में लिया जाता है तब वाक्यार्थ इस तरह सम्पन्न होता है—योगानुशासन नाम के शास्त्र का आरम्भ हो गया, ऐसा समझें । इसलिए 'अथ' शब्द अधिकार का द्योतक है और मङ्गल का प्रयोजन रखता है—यह सिद्ध हुआ ।

(५. योग के चार अनुबन्ध)

तत्र शास्त्रे व्युत्पाद्यमानतया योगः ससाधनः सफलो विषयः । तद्व्युत्पादनमवान्तरफलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं परमप्रयोजनम् । शास्त्रयोगयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव-लक्षणः संबन्धः । योगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः । स च श्रुत्यादिप्रसिद्ध इति प्रागेवावादिषम् । मोक्षम-पेक्षमाणा एवाधिकारिण इत्यर्थसिद्धम् ।

इस शास्त्र में व्युत्पादित (प्रतिपादित) होने के कारण, साधनों और फलों के सहित योग (चित्तवृत्ति का निरोध) ही इसका **विषय** है । योग का प्रति-पादन करना गौण फल (प्रयोजन) है जब कि प्रतिपादित किये गये योग का

परम **प्रयोजन** कैवल्य (मोक्ष) है। शास्त्र और योग के बीच में एक प्रतिपादक है दूसरा प्रतिपाद्य—यही **संबन्ध** है। योग और कैवल्य के बीच में एक साधन है दूसरा साध्य, ऐसा संबन्ध है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह (संबन्ध) श्रुति, स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। यह तो अर्थ से ही सिद्ध है कि इसके **अधिकारी** वे ही लोग हैं जो मोक्ष की अपेक्षा करते हैं। [यदि 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य होता तो शमादि साधनों से युक्त पुरुषों को अधिकारी मानना पड़ता। किन्तु यहाँ योग का फल मोक्ष को स्वीकार करके—'अध्यात्मयोगाधिगमेन' के आधार पर—मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी मानते हैं। अब यह दिखलाते हैं कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही क्यों नहीं होती, अलग से अधिकारी का निरूपण करने की क्या आवश्यकता है ?

न च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यादावधिकारिणोऽर्थतः सिद्धिराशङ्कनीया। तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानप्रणाडिकयाऽधिकारिसमर्पणसिद्धौ आर्थिकत्वशङ्कानुदयात्। अत एवोक्तं—श्रुतिप्राप्ते प्रकरणादीनामनवकाश इति। अस्यार्थः—यत्र हि श्रुत्यार्थो न लभ्यते तत्रैव प्रकरणादयोऽर्थं समर्पयन्ति नेतरत्र। यत्र तु शब्दादेवार्थस्योपलम्भस्तत्र नेतरस्य संभवः।

ऐसा संदेह नहीं करना चाहिए कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) में भी अधिकारी की सिद्धि अर्थ से ही हो जायगी। [शंका करने वालों का तात्पर्य है कि इस सूत्र में भी 'अथ' का अर्थ अधिकार ही क्यों न मान लें ? तब श्रुति प्रमाण के रूप में मिल जायगी—तमेवं विद्वानमृत इह भवति (श्वेता० ३।८) जिससे ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष मान लेंगे। फलतः मोक्ष का इच्छुक पुरुष अधिकारी है, यह अर्थ से ही सिद्ध हो जायगा। इसका उत्तर देते हैं।] वहाँ पर प्रयुक्त 'अथ' शब्द से आनन्तर्य-अर्थ का बोध होता है तथा यह सिद्ध होता है कि [सिद्धान्तों या अर्थों का] समर्पण (Transmission) एक निश्चित परम्परा से ही अधिकारियों को होता है, अतः उस अर्थ को अर्थतः सिद्ध करने की शंका ही नहीं उठती। [जब किसी बात की सिद्धि सीधे ही या परम्परा से हो सकती हो तो अर्थ से सिद्ध करने की बात नहीं उठती।]

इसीलिए कहा गया है—[निश्चयात्मक प्रमाण के रूप में] जब श्रुति प्राप्त हो रही हो तो प्रकरण आदि का अवकाश वहाँ नहीं रहता' (तुलनीय—

ब्र० सू० ३।३।४९)। इसका अर्थ यह है—जहाँ श्रुति (शब्द) से अर्थ प्राप्त न हो वहीं पर प्रकरण आदि प्रमाण अर्थ के प्रकाशन या निर्णय में सहायता करते हैं, अन्यत्र नहीं। जहाँ शब्द से ही अर्थ की प्राप्ति हो जाय वहाँ दूसरे साधन की संभावना भी नहीं होती।

शीघ्रबोधिन्या श्रुत्या विनियोगस्य बोधनेन निराकाङ्क्षतये-तरेषामनवकाशात्। किं च श्रुत्या बोधितेऽर्थे तद्विरुद्धार्थं प्रकरणादि समर्पयति, अविरुद्धं वा? न प्रथमः। विरुद्धार्थ-बोधकस्य तस्य बाधितत्वात्। न चरमः। वैयर्थ्यात्। तदाह—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४) इति।

[जब किसी यज्ञ में किसी मंत्र के] विनियोग का बोध उस श्रुति-प्रमाण से होता है जो तुरत बोध कराने में समर्थ है तब और किसी की आकांक्षा न रहने के कारण दूसरे प्रमाणों की प्राप्ति नहीं होती। ['अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में अथ का अर्थ अधिकार ले लेने से 'किसके द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा की जाय ?' इस प्रकार अधिकारी की आकांक्षा होती है, मोक्ष के वाक्यों को देखकर उनसे कैसे मोक्ष उत्पन्न होता है, उस प्रकार साधन की आकांक्षा होती है। यह आकांक्षा ही 'प्रकरण' के नाम से पुकारी जाती है। प्रकरण के बल से ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में मोक्ष के वाक्यों के साथ इसकी संगति अनुमान से बैठायी जाती है अर्थात् 'ब्रह्मजिज्ञासा मोक्ष का साधन है' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उस लिंग से मुमुक्षु व्यक्ति को 'ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए' ऐसा शब्द मालूम होता है। इस प्रकार प्रकरण के बाद वाक्य और तब लिंग और उसके अनन्तर शब्द—इस रूप में अधिकारी की प्राप्ति बहुत विलम्ब से होती है। यदि दूसरी ओर, अथ का अर्थ 'आनन्तर्य' लें तब तो अथ शब्द के अर्थ के बल से (श्रुति से) ही अधिकारी की प्रतीति हो जाती है कि साधन-चतुष्टय से संपन्न व्यक्ति ही अधिकारी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि योगसूत्र के 'अथ' और ब्रह्मसूत्र के 'अथ' के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं क्योंकि दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं।]

इसके अतिरिक्त यह पूछा जाय कि श्रुति से अर्थ-बोध होने पर प्रकरण आदि से उसके (श्रुति के अर्थ के) विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है या अविरुद्ध अर्थ की ? विरुद्ध अर्थ प्रतीति तो नहीं हो सकती क्योंकि जो विरुद्ध अर्थ का बोध करावेगा वह प्रकरणादि बाधित (खंडित) हो जायगा। यदि अविरुद्ध अर्थ की

प्रतीति होती हो तब तो वह व्यर्थ ही हो जायगा। इसे कहा भी है 'श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इनका एक स्थान पर संघर्ष उत्पन्न होने पर क्रम में पीछे आनेवाला प्रमाण दुर्बल पड़ता है क्योंकि उसमें अर्थ बहुत दूर पड़ जाता है' (मी० सू० ३।३।१४)।

३. बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा।
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया॥ इति च।

तस्माद्विषयादिमत्त्वात् ब्रह्मविचारकशास्त्रवद्योगानुशासनमारम्भणीयमिति स्थितम्।

[उक्त छह प्रमाणों में बाध्यबाधक संबन्ध का निर्णय इस प्रकार है—] श्रुति केवल बाधक बन सकती है, (बाध्य नहीं क्योंकि इसके पहले कोई प्रमाण नहीं होता)। समाख्या केवल बाध्य बन सकती है, (बाधक नहीं, क्योंकि इसके बाद कोई प्रमाण नहीं होता)। बीच के प्रमाण [अपने पूर्व क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] अपेक्षा से बाध्य होते हैं या [अपने बाद के क्रम के प्रमाणों के साथ संघर्ष होने पर] बाधक भी होते हैं।

इस प्रकार इस [पूरे विवेचन] के पश्चात् यह सिद्ध हुआ कि विषय आदि अनुबन्धों से युक्त होने के कारण, ब्रह्म का विचार करनेवाले (वेदान्त) शास्त्र की तरह, योगानुशासन (योगशास्त्र) का भी आरम्भ करना चाहिए।

(६. योग और शास्त्र में सम्बन्ध)

ननु व्युत्पाद्यमानतया योग एवात्र प्रस्तुतो न शास्त्रमिति चेत्—सत्यम्। प्रतिपाद्यतया योगः प्राधान्येन प्रस्तुतः। स च तद्विषयेण शास्त्रेण प्रतिपाद्यत इति तत्प्रतिपादने करणं शास्त्रम्। करणगोचरश्च कर्तृव्यापारो न कर्मगोचरतामाचरति।

[अभी भी कोई शंका कर सकता है कि] उत्पन्न करने की वस्तु तो योग है अतः योग ही यहाँ पर प्रस्तुत है न कि शास्त्र। [उत्तर में कहेंगे कि] बात ठीक है। प्रतिपाद्य होने के कारण प्रधानरूप से योग ही प्रस्तुत हो रहा है लेकिन उसका प्रतिपादन योग-विषयक शास्त्र से होता है, अतः योग के प्रतिपादन में करण (साधन) का काम शास्त्र ही करता है। यह सामान्य नियम है कि कर्ता का व्यापार (क्रिया) करण से ही अधिक सम्बन्ध रखता है कर्म से नहीं।

यथा छेत्तुर्देवदत्तस्य व्यापारभूतमुद्यमननिपातादिकर्म करणभूतपरशुगोचरं न कर्मभूतवृक्षादिगोचरम्। तथा च वक्तुः पतञ्जलेः प्रवचनव्यापारापेक्षया योगविषयस्याधिकृतता करणस्य शास्त्रस्य। अभिधानव्यापारापेक्षया तु योगस्यैवेति विभागः। ततश्च योगशास्त्रस्यारम्भः संभावनां भजते।

जैसे वृक्ष को काटनेवाले देवदत्त का व्यापार अर्थात् [कुल्हाड़ी] ऊपर उठाना, गिराना आदि कार्य (क्रियाएँ) परशु (कुल्हाड़ी) रूपी करण से संबद्ध है, वृक्षादिरूपी कर्म से नहीं। उसी प्रकार यहाँ पर वक्ता पतंजलि का प्रवचनरूपी व्यापार (क्रिया) हो रहा है। जिसका विषय योग है ऐसे करण-स्वरूप शास्त्र का ही आरम्भ उस व्यापार के द्वारा अपेक्षित है। ['पतञ्जलिः योगं शास्त्रेण प्रवक्ति' इस वाक्य से ही मालूम हो जायगा कि कौन किस कारक में हैं। इसीलिए कर्म की अपेक्षा करण की प्रधानता होने के कारण, शास्त्र का ही सम्बन्ध पतंजलि के प्रवचन से है, न कि योग का।] पतंजलि का व्यापार यदि [प्रवचन करना न होकर] अभिधान करना हो तब तो योग का आरम्भ मानें—यही विभाजन-रेखा है। तब योगशास्त्र के आरम्भ की सम्भावना हो सकती है।

(७. योग का लक्षण और समाधि)

अत्र चानुशासनीयो योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्युच्यते। ननु युजिर्योग इति संयोगार्थतया परिपठिताद् युजेर्निष्पन्नो योगशब्दः संयोगवचन एव स्यान्न तु निरोधवचनः। अत एवोक्तं याज्ञवल्क्येन—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। इति।

यहाँ यह कहना है कि जिस योग का अनुशासन करना अभीष्ट है उसका लक्षण है, चित्त की वृत्तियों का निरोध। अब प्रश्न हो सकता है कि '√युज् = योग करना' इस प्रकार संयोग के अर्थ पढ़े गये युज्-धातु से बना हुआ योग शब्द संयोग का वाचक हो सकता है निरोध का वाचक नहीं। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा है—'जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को ही योग कहा गया है।'

तदेतद्वार्तम् । जीवपरयोः संयोगे कारणस्यान्यतरकर्मादेर-संभवात् । अजसंयोगस्य कणभक्षाक्षचरणादिभिः प्रतिक्षेपाच्च । मीमांसकमतानुसारेण तदङ्गीकारेऽपि नित्यसिद्धस्य तस्य साध्य-त्वाभावेन शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च । धातूनामनेकार्थत्वेन युजेः समा-ध्यर्थत्वोपपत्तेश्च । तदुक्तम्—

४. निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ इति ।

[उक्त शंका] निस्सार है क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के लिए, कारण के रूप में उन दोनों में से किसी में भी क्रिया आदि का होना असंभव है । [न तो जीवात्मा ही चल सकता है न परमात्मा, अतः दोनों का संयोग ही नहीं होगा । संयोग होने के तीन प्रकार हैं—(१) दो संयोगी पदार्थों में किसी एक की क्रिया से उत्पन्न संयोग, जैसे—पक्षी के बैठने से वृक्ष और पक्षी का संयोग । (२) दोनों पदार्थों की क्रिया से उत्पन्न संयोग—दो पहलवानों का संयोग, (३) संयोग से उत्पन्न संयोग जैसे—हाथ और वृक्ष के संयोग से शरीर और वृक्ष का संयोग । यह भेद काल्पनिक है । जीव और परमात्मा में कोई भी भेद सम्भव नहीं क्योंकि वे विभु हैं ।]

[अब यदि आपलोग दोनों के संयोग को नित्य मानकर उक्त कठिनाई से बच जाना चाहते हैं तो हम कहेंगे कि] नित्य संयोग को तो कणाद और गौतम आदि ऋषियों ने ही नहीं माना है । [संयोग की नित्यता संयोगी पदार्थों की नित्यता पर भी निर्भर करती है । इस दृष्टि से घट और पट का या घट और आकाश का संयोग नित्य नहीं है । दोनों संयोगियों के नित्य होने पर भी संयोग की अनित्यता देखते हैं । दो परमाणु नित्य हैं पर उनका संयोग तो अनित्य है । वास्तव में संयोग एक क्रिया है जिसकी उत्पत्ति होती है, विनाश होता है । दो संयोगियों में एक के विभु रहने पर भी स्थान का भेद तो होगा ही और संयोग की उत्पत्ति नये प्रकार से होती रहेगी—अतः संयोग कार्य ही बना रहेगा । दोनों संयोगियों के विभु होने पर संयोग नित्य होगा किन्तु ऐसे संयोग से काम ही क्या होगा ? कार्य भी नित्य ही रहेगा । उस संयोग के लिए चेष्टा ही क्यों होगी ? ऐसे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं । संयोग सदा अनित्य रहता है ।]

मीमांसकों के मतानुसार यदि नित्य संयोग स्वीकार करें तो भी इस (नित्य संयोग) का कोई साध्य (प्रयोजन, लक्ष्य) नहीं मिल सकता । (यदि जीवात्मा

परमात्मा में संयोग नित्य हो तो यह हमारा लक्ष्य नहीं बन सकता क्योंकि वह पहले से ही सिद्ध है इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।] अतः योगशास्त्र की प्रक्रियायें भी व्यर्थ हो जायेंगो। [इससे बचने का उपाय यह है कि] धातु अनेकार्थक होते हैं और इसीलिए युज्-धातु को समाधि के अर्थ में भी सिद्ध किया जा सकता है। यही कहा है—'निपात, उपसर्ग और धातु, ये तीनों अनेकार्थ माने गये हैं, उनके पाठों में जो उदाहरण मिलते हैं [वे ही इसके प्रमाण हैं।]'

अत एव केचन युजिं समाधावपि पठन्ति—'युज समाधौ' (पा० धातुपाठ, दि० ७१, आत्मने०) इति। नापि याज्ञवल्क्य-वचनव्याकोपः। तत्रस्थस्यापि योगशब्दस्य समाध्यर्थत्वात्।

५. समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥

इति तेनोक्तत्वाच्च। तदुक्तं भगवता व्यासेन (योग भा० १।१) योगः समाधिरिति।

इसीलिए कुछ लोग (पाणिनि आदि) युज्-धातु का अर्थ समाधि भी मानते हैं और तदनुसार उनके धातुपाठ में मिलता भी है—'युज समाधौ' (दिवादि ७१, आत्मनेपद)। याज्ञवल्क्य की बात का भी इससे खंडन नहीं होता। याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वाक्य में भी योग-शब्द समाधि के अर्थ में ही है। [जीव और परमात्मा का संयोग अर्थात् सम्यक् योग = साम्यावस्था ही योग (= समाधि) कहलाता है। बुद्धि आदि कल्पित उपाधियों से युक्त धर्मों को छोड़कर स्वाभाविक अनासक्ति के रूप में जीव की, परमात्मा की तरह, अवस्थिति हो जाने को साम्यावस्था कहते हैं। इसी का प्रतिपादन 'निरञ्जनः परमं साम्य-मुपैति' (मुं० ३।१।३) इत्यादि श्रुतियों में हुआ है, यही मुक्ति है।]

याज्ञवल्क्य स्वयं कहते हैं—'जीवात्मा और परमात्मा की साम्यावस्था समाधि है। जीवात्मा की जब स्थिति ब्रह्म में हो जाय वही समाधि है।' इसे व्यास ने भी भाष्य (योगभाष्य १।१) में कहा है—योग समाधि को ही कहते हैं।

(७ क. योग का अर्थ समाधि—आपत्ति)

नन्वेवमष्टाङ्गयोगे चरमस्याङ्गस्य समाधित्वमुक्तं पतञ्जलिना पात० यो० सू० २।२९)—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-

धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य' इति । न चाङ्गी एवाङ्गतां गन्तुमुत्सहते । उपकार्योपकारकभावस्य दर्शपूर्णमास-प्रयाजादौ भिन्नायतनत्वेनात्यन्तभेदात् । अतः समाधिरपि न योगशब्दार्थो युज्यत इति चेत्— ।

इस प्रकार एक शंका हो सकती है । ऐसा होने पर योग के आठ अंगों में अंतिम अंग को जो पतञ्जलि ने समाधि कहा है, इसका क्या उत्तर होगा ?' संबद्ध सूत्र यह है—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के आठ अंग हैं' (योगसूत्र २।२९)। अंगी (योग) अंग नहीं बन सकता । [यदि योग का अर्थ समाधि लेते हैं तब तो योग या समाधि ही अंगी है जिसके आठ अंग हैं । पुनः समाधि को एक अंग भी मानते हैं अतः उपकारक और उपकार्य एक ही मानना पड़ता है जो संभव नहीं । फल यह होगा कि चित्तवृत्तिनिरोध वाले सूत्र तथा प्रस्तुत 'यमनियम०' सूत्र में विरोध होगा । योग और समाधि में अन्तर करना ही पड़ेगा —एक अंगी (उपकार्य) है, दूसरा अंग (उपकारक)।]

दर्श-पूर्णमास (उपकार्य, अंगी) तथा प्रयाज (उपकारक, अंग) के संवन्ध की तरह उपकार्य और उपकारक का संबन्ध, दोनों के आश्रय भिन्न रहने के कारण, आत्यन्तिक भेद की अपेक्षा रखता है । इसलिए योग शब्द का समाधि अर्थ रखना युक्तियुक्त नहीं है ।

तन्न युज्यते । व्युत्पत्तिमात्राभिधित्सया 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (पात० यो० सू० ३।३)इति निरूपितचरमाङ्गवाचकेन समाधिशब्देनाङ्गिनो योगस्याभेदविवक्षया व्यपदेशोपपत्तेः । न च व्युत्पत्तिबलादेव सर्वत्रशब्दः प्रवर्तते । तथात्वे गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेस्तिष्ठन्गौर्न स्यात् । गच्छन्देवदत्तश्च गौः स्यात् ।

[उक्त शंका का समाधान—] यह तर्क ठीक नहीं है । केवल व्युत्पत्ति (प्रकृति और प्रत्यय से उत्पन्न अवयवार्थ) जनित अर्थ कहने की इच्छा से ही— 'उस ध्यान में ही जब केवल दृश्य अर्थ की प्रतीति होती है तथा जो अपने किसी भी रूप से शून्य हो जाता है तब उसे समाधि कहते हैं' (यो० सू० ३।३)— इस सूत्र में निरूपित अन्तिम अङ्ग के वाचक समाधि शब्द से अङ्गी योग-शब्द का अभेद बतलाने के लिए ही व्यास ने वैसा (योगः समाधिः) कहा है । [व्यास

ने अपने भाष्य में योग का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही समाधि को बतलाया है। व्यावहारिक अर्थ जिसे प्रवृत्तिनिमित्त भी कहते हैं, तो कुछ दूसरा ही है—चित्तवृत्ति का निरोध। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी कुछ देना ही था, इसीलिए समाधि का पीछा किया गया। ऐसी बात नहीं कि समाधि ही योग का सदा के लिए अर्थ है। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ का जो अधिकार है वही इसे भी प्राप्त है।]

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) सब जगह व्युत्पत्ति के बल से ही होती है। यदि ऐसा हुआ करता तब तो 'जानेवाली वस्तु को गौ (√गम्) कहते हैं' अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार गौ कभी भी स्थिर नहीं हो सकती। उधर यदि देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति चलायमान होता तो उसे भी गौ ही कहते। [इसीलिए योग शब्द की व्युत्पत्ति से उत्पन्न अर्थ ही इसका परमार्थ या व्यवहारार्थ (प्रवृत्तिनिमित्त) नहीं है। यौगिक शब्दों के साथ ऐसी बात भले ही हो क्योंकि वहाँ अवयवों का अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। योगरूढ या रूढ शब्दों में तो व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा प्रवृत्तिनिमित्त ही प्रधान रहता है। उसी के अनुसार शब्द का प्रयोग होता है। 'गो' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (व्यवहारार्थ) है 'गोत्व', जबकि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है गमन क्रिया का आधार। 'गो' शब्द का व्यवहार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ के अनुसार नहीं होता। उसी तरह 'योग' शब्द का व्यवहार भी प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार ही होता है क्योंकि यह रूढ शब्द है। योग का अर्थ 'समाधि' तो व्युत्पत्तिनिमित्त (Derivative meaning) होने के कारण गौण है।]

(७ ख. योग का व्यावहारिक अर्थ—चित्तवृत्तिनिरोध)

प्रवृत्तिनिमित्तं च प्रागुक्तमेव—चित्तवृत्तिनिरोध इति। तदुक्तं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पात. यो. सू. १।२) इति।

ननु वृत्तीनां निरोधश्चेद्योगोऽभिमतस्तासां ज्ञानत्वेनात्माश्रयतया तन्निरोधोऽपि प्रध्वंसपदवेदनीयस्तदाश्रयो भवेत्। प्रागभावप्रध्वंसयोः प्रतियोगिसमानाश्रयत्वनियमात्। ततश्च—'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनात्मनः कौटस्थ्यं विहन्येतेति चेत्—।

योग का प्रवृत्तिनिमित्त (Usage) तो पहले ही बतलाया गया कि चित्तवृत्ति का निरोध है। सूत्रकार ने कहा भी है—'चित्त की वृत्तियों का

निरोध हो जाना योग है' (यो० सू० १।२)। [वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति (यो० सू० १।६)। अज्ञात वस्तु का निश्चय कराने वाली वृत्ति प्रमाण है। विपर्यय = मिथ्याज्ञान। वास्तविकता से दूर तथा काल्पनिक प्रतीति को विकल्प कहते हैं जैसे यह ब्राह्मण सूर्य है, खरहे की सींग आदि। इनका निरोध हो जाना ही योग है।]

अब एक शंका होती है कि यदि आप वृत्तियों के निरोध (विनाश) को योग मानते हैं तो ये वृत्तियाँ, ज्ञान होने के कारण, आत्मा पर आश्रित होंगी और इनका निरोध अर्थात् प्रध्वंस (विनाश) भी उसी आत्मा पर आश्रित हो जायेगा। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अपने प्रतियोगी के आधार पर ही निर्भर करते हैं। [जिस वस्तु का अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। यदि घट का प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव है तो अभाव धर्मी हुआ और घट प्रतियोगी। ये धर्मी और प्रतियोगी दोनों एक ही आधार पर निर्भर करते हैं। यह नियम है।]

उसके बाद—'धर्म के आगमन या विनाश से धर्मी में विकृति उत्पन्न होती है', इस नियम से आत्मा की कूटस्थता ही समाप्त हो जायगी। [कूट = मूलस्वरूप। उसमें अवस्थित रहना कूटस्थता है। आत्मा कूटस्थ है अर्थात् इसमें कभी विकृति नहीं होती। यदि वृत्तियाँ आत्मनिष्ठ हैं तो उनका विनाश (प्रध्वंसाभाव) भी आत्मनिष्ठ ही होगा। वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हैं। यदि इनका विनाश होता है तो आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है क्योंकि धर्म के आगम या विनाश से धर्मी विकृत होता है। इसलिए वृत्तियों के विनाश के समय आत्मा में विकार होगा और उसकी कूटस्थता नहीं रह सकेगी।]

विशेष—'उपयन्नपयन्धर्मो' का न्याय बहुत प्रसिद्ध है तथा दो उल्लेख इसके मिलते हैं। एक तो सिद्धान्तबिन्दु (वेदान्त का ग्रंथ, रचयिता—मधुसूदन सरस्वती, १५६० ई०) की टीका न्यायरत्नावली (रचयिता—ब्रह्मानन्द सरस्वती, समय–१६५० ई०) में; दूसरे, सूतसंहिता के शिवमाहात्म्यखंड के आरंभ में विद्यारण्य की टीका में।

तदपि न घटते। निरोधप्रतियोगिभूतानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिस्वरूपाणां वृत्तीनामन्तःकरणाद्यपरपर्यायचित्तधर्मत्वाङ्गीकारात्। कूटस्थनित्या चिच्छक्तिरपरिणामिनी विज्ञानधर्माश्रयो भवितुं नार्हत्येव।

न च चितिशक्तेरपरिणामित्वमसिद्धमिति मन्तव्यम्।

'चितिशक्तिरपरिणामिनी सदा ज्ञातृत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथा चित्तादि' इत्याद्यनुमानसंभवात् ।

उपर्युक्त शंका करना भी ठीक नहीं है। निरोध या विनाश के प्रतियोगी के रूप में वृत्तियाँ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—स्वीकृत की गई हैं (अर्थात् इन वृत्तियों का ही निरोध होता है)। ये वृत्तियाँ अन्तःकरण आदि (=बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण) के नाम से पुकारे जाने वाले चित्त के ही धर्म मानी गई हैं। [ज्ञान, चित्त का ही परिणाम है। बुद्धि की वृत्ति में विषयों का आकार आ जाना ज्ञान है और विषयों के आकार से उपरक्त बुद्धि की वृत्ति का प्रतिबिम्ब चित्-शक्ति पर पड़ता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, रूप से युक्त स्थूल द्रव्य में है उसी प्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, वृत्ति से युक्त चित्त में ही है। उस समय बुद्धि की वृत्तियों से भेद-ग्रहण न कर सकने के कारण उस प्रकार की बुद्धि की वृत्तियों से अभिन्न रूप में चितिशक्ति वस्तुओं का अनुभव करती है। फलतः ज्ञान वास्तव में बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा की कूटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

[नैयायिकादि जो ज्ञान को आत्मा के धर्म मानते हैं उनका उत्तर यह है—] चित्-शक्ति (चैतन्य या आत्मा) कूटस्थ (मूल रूप में स्थित), नित्य तथा परिणाम (परिवर्तन, विकृति) से रहित है, वह विज्ञान-धर्म का आश्रय नहीं ही हो सकती है। [ज्ञान का अर्थ है विषय के आकार के सदृश आकार में परिणत होना। आत्मा अपरिणामी है अतः ज्ञान का आश्रय वह नहीं हो सकती है।]

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चितिशक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना असिद्ध है। [चितिशक्ति को अपरिणामी मानने के लिए] इस प्रकार के अनुमान की संभावना है—

(१) चितिशक्ति अपरिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह सदा ज्ञाता के रूप में रहती है। (हेतु)
(३) जो ऐसा (अपरिणामी) नहीं है वह वैसा (ज्ञाता) भी नहीं,
 जैसे चित्त आदि। (व्यतिरेक दृष्टान्त)

विशेष—चित्-शक्ति का विषय है वृत्ति से युक्त चित्त। चित्त के विषय घटादि पदार्थ हैं। ये घटादि चित्-शक्ति के सीधे विषय नहीं, परंपरा से हो सकते हैं। चित्‌शक्ति → चित्त → घटादि। घटादि पदार्थों का ज्ञान तभी हो सकता है जब इन्द्रिय-संयोग, प्रकाश आदि साधन विद्यमान हों। यदि साधन

ही न रहें तो ये विद्यमान रहने पर भी अज्ञात पदार्थ ही रहेंगे। यह तो हुआ चित्त और घटादि का संबन्ध। चित् शक्ति और चित्त में ऐसा संबन्ध नहीं है। ऐसा नहीं होता कि चित्तवृत्ति विद्यमान होने पर भी अज्ञात रहे। वृत्ति में अज्ञात सत्ता हो नहीं सकती। नहीं तो विद्यमान रहने पर भी चित्तवृत्ति की अज्ञात अवस्था में निम्नलिखित संशय होते ही रहते—'मैं सुखी नहीं या मैं दुःखी नहीं' इत्यादि। इसलिए चित्तवृत्ति सदा ज्ञात रहती है और चित्-शक्ति जिस समय चित्त-वृत्ति का साक्षात्कार करती है उस समय अपरिणामी ही रहती है। यदि चित्त की तरह ही चित्-शक्ति में भी परिणाम मानेंगे तब तो चूँकि परिणाम कार्य है, इसलिए कभी होगा कभी नहीं, फलतः चित्तवृत्ति सदा ज्ञात नहीं हो सकेगी।

अब ज्ञान की प्रक्रिया पर भी विचार कर लें। विषयों का ज्ञान जब चित्त-वृत्ति के द्वारा होता है तब विषय अपने आकार का समर्पण चित्तवृत्ति में कर देते हैं। किन्तु जब चित्तवृत्ति का ज्ञान चित्-शक्ति के द्वारा होता है तब वृत्ति चित्-शक्ति में केवल प्रतिबिम्बित ही होती है। जब बुद्धि की वृत्ति विद्यमान रहेगी तब प्रतिबिम्बन क्रिया अनिवार्य है। अतएव आत्मा (चित्-शक्ति) ज्ञाता के रूप में सदा अवस्थित रहती है। निष्कर्ष यह है कि चित्तवृत्ति सदा ज्ञात होती रहती है और चित्-शक्ति सदा ज्ञाता बनी रहती है। अतः चित्-शक्ति अपरिणामी ही रहती है। आगे इसे मूल में ही स्पष्ट करेंगे।

उपर्युक्त अनुमान में दृष्टान्त व्यतिरेक-विधि का दिया गया है क्योंकि अन्वय-विधि में मिलना ही संभव नहीं था।

तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। चिद्रूपस्य पुरुषस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेनावस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैव स्थितत्वात्। येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तस्य दृश्यस्य सदैव चिच्छायापत्त्या भानोपपत्त्या पुरुषस्य निःसङ्गत्वं संभवति।

ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष (आत्मा) परिणामी होता तो चूँकि परिणाम कभी-कभी हुआ करता है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ भी सदा ज्ञात नहीं हो सकतीं। चित्-शक्ति के रूप में जो पुरुष है वह अधिष्ठाता के रूप में सदा ही अवस्थित रहता है। उसके अंतरंग में निर्मल सत्ता की भी स्थिति सदा रहती है। जिस-जिस अर्थ (वस्तु) के साथ [चित्त] उपरक्त होता है

उस दृश्य वस्तु की छाया चित्-शक्ति (आत्मा) पर पड़ती है तथा प्रतीति होती है—इस प्रकार पुरुष की निःसंगता संभव है।

ततश्च सिद्धं तस्य सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वशङ्कावतरति । चित्तं पुनर्येन विषयेणोपरक्तं भवति स विषयो ज्ञातः, येनोपरक्तं न भवति तदज्ञातमिति वस्तुनोऽयस्कान्तमणिकल्पस्य ज्ञानाज्ञानकारणभूतोपरागानुपरागधर्मित्वादयःसधर्मकं चित्तं परिणामीत्युच्यते ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुरुष (आत्मा) सदा ज्ञाता बना रहता है, इसलिए उसके परिणामी (परिवर्तनशील) होने की शंका कभी नहीं उठ सकती। अब चित्त की यह दशा है कि वह जिस विषय से उपरक्त (संबद्ध) होता है, वही विषय ज्ञात होता है। जिससे उसका उपराग नहीं वह अज्ञात ही रहता है। वस्तु अयस्कान्त मणि (चुम्बक Magnet) की तरह होती है तथा चित्त लोहे की तरह है। ज्ञान का कारण उपराग (संबंध) है तथा अज्ञान का कारण उपराग न होना है। ये (उपराग और अनुपराग) चित्त के धर्म हैं इसीलिए उसे (चित्त को) परिणामी कहते हैं। [चुम्बक क्रियाशील] नहीं है किन्तु वह आकृष्ट कर सकता है। विषय भी क्रियाहीन ही हैं किन्तु लोहे के समान क्रियाशील चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करके (इन्द्रियों के द्वारा) अपने आकार की तरह का आकार समर्पित करते हैं। आकार का समर्पण ही उपराग कहलाता है। उपराग होने पर विषयों का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं। उपराग धर्म है जो चित्त के परिणामी होने पर ही संभव है। अतः चित्त का परिणामी होना सिद्ध होता है।

विशेष—प्रस्तुत स्थल भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यन्त ही उपादेय है। चित्त की वृत्तियों का विश्लेषण योग में ही हुआ है।

(८. चित्त और विषयों का संबन्ध)

ननु चित्तस्येन्द्रियाणां चाहंकारिकाणां सर्वगतत्वात् सर्वविषयैरस्ति सदा संबन्धः । तथा च सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र ज्ञानं प्रसज्येतेति चेत्—न । सर्वगतत्वेऽपि चित्तं यत्र शरीरे वृत्तिमत्, तेन शरीरेण सह संबन्धो येषां विषयाणां, तेष्वेवास्य ज्ञानं भवति, नेतरेषु—इत्यतिप्रसङ्गाभावात् । अत एवायस्कान्तमणि-

कल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमिन्द्रियप्रणालिकयाऽभिसंबध्योपरञ्जयन्तीत्युक्तम् ।

अब यहाँ पर शंका हो सकती है कि अहंकार से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियाँ तथा चित्त सर्वव्यापक है अतः सभी विषयों के साथ इनका सदा संबन्ध होता है। इस प्रकार तो सभी समय, सभी जगह, सभी चीजों का ज्ञान होने लगेगा। [तात्पर्य यह है कि चित्त और इन्द्रियों को विभु माना जाता है। यदि चित्त को विभु न मानकर अणु मानेंगे तो एक बार में अनेक विषयों के साथ संबन्ध नहीं हो सकेगा तथा एकाग्रता माननी पड़ेगी। जब एकाग्रता पहले से ही सिद्ध है तब योगशास्त्र में एकाग्रता के उपदेश की विधि व्यर्थ ही हो जायगी। इसीलिए चित्त को विभु मानते हैं। दूसरे, यदि मन विभु नहीं होता तो सुगंधित जल पीने में या बड़े-बड़े पुए खाने में एक साथ ही जो दो इन्द्रियों के द्वारा अनुभूति होती है (सुगंध–नाक, जल–जीभ; बड़े बड़े—आँख, पुए–जीभ) वह नहीं हो सकती। योगी लोग जो एक ही साथ अखिल पदार्थों का साक्षात्कार कर लेते हैं वह भी संभव नहीं हो पाता। योगियों का यह साक्षात्कार लौकिक प्रत्यक्ष ही है, अलौकिक नहीं। योग के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण भर दूर कर दिये जाते हैं, नहीं तो यह साक्षात्कार सामान्य दृष्टि से ही होता है। इन्द्रियों को भी इसीलिए विभु कहा गया है। यदि ये विभु नहीं होतीं तो योगी लोग देशान्तर में स्थित पदार्थों का साक्षात्कार कैसे करते ? यह दूसरी बात है कि इन्द्रियाँ अपनी वृत्तियों का लाभ निर्दिष्ट स्थान पर ही करती हैं। स्थानों के आधार पर इन्द्रियों को अणु कह देते हैं पर यह कहना केवल औपाधिक (Conditional) है। इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं और अहंकार व्यापक है अतः इन्द्रियों को विभु मानने में कोई अड़चन भी नहीं है। फल यह होगा कि मन (चित्त) और इन्द्रियों के व्यापक होने के कारण सभी विषयों का संनिकर्ष सदा होता रहेगा। चाहे योगी हो या अयोगी, सदा ही ज्ञान होता रहेगा।]

[इस शंका का उत्तर है कि] ऐसी बात नहीं है। सर्वव्यापक होने पर भी चित्त जिस शरीर में वृत्ति से युक्त (= विषय के आकार में परिणत) होता है उस शरीर के साथ जिन विषयों का सम्बन्ध होता है उन्हीं (विषयों) के साथ ही उस शरीर का ज्ञान-सम्बन्ध होता है, दूसरों के साथ नहीं—इस प्रकार अतिप्रसक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए (चित्त का परिणाम शरीर में ही होता है अन्यत्र नहीं, इसलिए) चुंबक की तरह विषय लौह-सदृश चित्त

को इन्द्रियरूपी प्रणाली (माध्यम) से संबद्ध करके उपरक्त करते हैं, ऐसा कहा गया है। (देखिये—व्यासभाष्य ४।१७)।

तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः। तथा च श्रुतिः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। चिच्छक्तेरपरिणामित्वं पञ्चशिखाचार्यैराख्यायि—अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरिति। पञ्जलिनापि—'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' (पात० यो० सू० ४।१८) इति। चित्तपरिणामित्वेऽनुमानमुच्यते—चित्तं परिणामि ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवदिति।

इसलिए वृत्तियाँ चित्त के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसके लिए श्रुति भी प्रमाण है—'काम (इच्छा), संकल्प ('यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान), सन्देह (विचिकित्सा), श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि), अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि (या ज्ञान) और भय, ये सभी मन (Mind) ही हैं।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।३)। पंचशिख आचार्य ने चित्-शक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना बतलाया भी है—'भोक्तृशक्ति (अर्थात् आत्मा) अपरिणामी है' (यो० सू० २।२० के भाष्य में व्यास द्वारा उद्धृत)। पतंजलि ने भी कहा है—'[चित्-शक्ति के विषय के रूप में] चितवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, [चित्त के विषयभूत घटादि पदार्थों की तरह ज्ञात और अज्ञात दोनों ही नहीं रहतीं], कारण यह है कि उनका भोक्ता पुरुष परिणामी नहीं है' (यो० सू० ४।१८)। चित्त को परिणामी मानने के लिए तो अनुमान दिया जाता है—

(१) चित्त परिणामी है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि इसके विषय—घटादि—ज्ञात भी हैं, अज्ञात भी। (हेतु)
(३) जिस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ हैं। (दृष्टान्त)

(८ क. परिणाम के तीन भेद)

परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात्। धर्मिणश्चित्तस्य नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः। यथा कनकस्य

कटकमुकुटकेयूरादि । धर्मस्य वर्तमानत्वादिर्लक्षणपरिणामः । नीलाद्यालोचनस्य स्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । कटकादेस्तु नवपुराणत्वादिरवस्थापरिणामः । एवमन्यत्रापि यथासंभवं परिणामत्रितयमूहनीयम् । तथा च प्रमाणादिवृत्तीनां चित्तधर्मत्वात्तन्निरोधोऽपि तदाश्रय एवेति न किंचिदनुपपन्नम् ।

परिणाम तीन प्रकार का प्रसिद्ध है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम। जब धर्मी अर्थात् चित्त नीलादि का साक्षात्कार (नील के आकार में चित्तवृत्ति का परिणाम) करता है तब उसे **धर्मपरिणाम** कहते हैं जैसे कनक के [धर्मपरिणाम कटक (कंगन), कुण्डल, केयूर आदि हैं। [अवस्थितधर्मी में एक धर्म का तिरोभाव होने पर दूसरे धर्म का आगमन होना धर्म-परिणाम है। चित्त के धर्म इसकी अनेक वृत्तियाँ हैं जो विषयों के आकार में रहती हैं। नील का साक्षात्कार करने पर जो नीलाकार वृत्ति रहती है उसका तिरोधान होने पर दूसरे विषयों का साक्षात्कार करने पर उस दूसरे आकार की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कनक में कंगन के धर्म का तिरोभाव हो जाने पर मुकुट के धर्म का आगमन होता है। मिट्टी में पिंड का धर्म लुप्त होने पर घट-धर्म आता है आदि-आदि। योगशास्त्र भी सांख्य की तरह सत्कार्यवाद को मान्यता देता है इसलिए इन धर्मों का विनाश या उत्पत्ति नहीं मान सकते। सभी धर्म सदा वर्तमान रहते हैं। यही कारण है कि धर्मों का तिरोभाव और आविर्भाव कहते हैं—विनाश और उत्पत्ति नहीं।]

धर्म का वर्तमान होना आदि **लक्षणपरिणाम** है। [जैसे धर्मी स्वरूप से सदा विद्यमान रहने पर भी विभिन्न धर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार प्रत्येक धर्म सदा विद्यमान रहने पर भी भविष्यत्, वर्तमान और भूत के रूप में विभिन्न लक्षणों से युक्त होता है। यही धर्म का लक्षणपरिणाम है। एक लक्षण छोड़कर धर्म दूसरे लक्षण से युक्त हो जाता है। धर्म के समान ही ये लक्षण भी तिरोभूत या आविर्भूत होते हैं अतः सत्कार्यवाद की रक्षा हो जाती है।]

नीलादि का साक्षात्कार करने में स्फुट होना आदि **अवस्थापरिणाम** है, कंगन आदि में नया, पुराना आदि होना ही अवस्थापरिणाम है। [नील का साक्षात्कार वर्तमान के लक्षणपरिणाम में होने पर भी अवस्था के भेद से तारतम्य रख सकता है। कोई साक्षात्कार स्फुट हो सकता है कोई स्फुटतर,

कोई अस्फुट तो कोई अस्फुटतर। उसी प्रकार कनक के धर्म—कटक में भी तारतम्य हो सकता है—कोई नवीन, तो कोई प्राचीन आदि। यह अवस्था-परिणाम क्षण-क्षण में होता है। अवस्थित लक्षण ही जब एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तभी यह परिणाम होता है।]

इस प्रकार दूसरे स्थानों में भी यथासंभव तीनों परिणामों का अन्वेषण कर लेना चाहिए। इसी तरह प्रमाण आदि वृत्तियाँ (यो० सू० १।६) चूँकि चित्त के धर्म हैं इसलिए इन वृत्तियों का निरोध भी चित्त पर ही आश्रित हैं—अतएव यहाँ पर कोई बात असमंजस में डालने वाली नहीं है।

(९. योग का अर्थ वृत्तिनिरोध लेने पर आपत्ति)

ननु वृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारे सुषुप्त्यादौ क्षिप्तमूढादिचित्तवृत्तीनां निरोधसंभवाद् योगत्वप्रसङ्गः। न चैतद्युज्यते। क्षिप्ताद्यवस्थासु क्लेशप्रहाणादेरसंभवान्निःश्रेयसपरिपन्थित्वाच्च। तथा हि—क्षिप्तं नाम तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमस्थिरं चित्तमुच्यते। तमःसमुद्रे मग्नं निद्रावृत्तिभावितं मूढमिति गीयते। क्षिप्ताद्विशिष्टं चित्तं विक्षिप्तमिति गीयते।

अब यहाँ पर एक शंका है कि जब आप योग का अर्थ वृत्ति का निरोध होना स्वीकार करेंगे तो सुषुप्ति आदि दशाओं में क्षिप्त, मूढ तथा दूसरी चित्त-वृत्तियों का निरोध तो होता ही है, अतः उन दशाओं को भी योग ही मान लेना पड़ेगा [जिससे योग के उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष उत्पन्न हो जायगा। चित्त की पाँच अवस्थायें हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। सुषुप्ति (Sound Sleep) की दशा में क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियाँ नहीं रहतीं। उसी तरह जागृति की दशा में मूढ वृत्ति नहीं रहती है। बद्ध जीव में एकाग्र तथा निरुद्ध वृत्तियों का अभाव या निरोध सदैव बना रहता है। तो क्या वृत्तियों के निरोध के कारण इन दशाओं को भी हम योग ही कह देंगे ? वृत्तिनिरोध का अर्थ आप कुछ वृत्तियों का ही निरोध लेते हैं, सभी वृत्तियों का नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तो योग के रूप में मानी गयी संप्रज्ञात समाधि में अव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें आत्मविषयक सात्त्विक वृत्ति का निरोध तो नहीं ही होता है।]

पुनः, उक्त दशाओं को योग मानना युक्तियुक्त भी नहीं है। क्षिप्त आदि अवस्थाओं में क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्ति (प्रहाण) असंभव तो है ही,

साथ-साथ वे दशायें मोक्ष का विरोध भी करने वाली हैं। वह इस प्रकार है—**क्षिप्त** वह चित्त है जो विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होने पर अस्थिर (चंचल) है। [रजोगुण के आधिक्य के कारण यह चित्त बहिर्मुख होकर विषयों में प्रेरित होता है। दैत्यों और दानवों में ऐसा चित्त सदा ही साथ रहता है।] तमोगुण के समुद्र में डूबा हुआ तथा निद्रावृत्ति से युक्त चित्त को **मूढ़** कहते हैं। [ऐसे चित्त में कृत्य और अकृत्य का विचार नहीं रहता तथा यह क्रोधादि दुर्गुणों से भरा रहता है। राक्षसों और पिशाचों में प्रायः सदैव ऐसा चित्त रहता है।]

जो चित्त क्षिप्त से विशिष्ट हो उसे **विक्षिप्त** कहते हैं। [इस चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तथा यह दुःख के साधनों को त्याग कर सुख के साधक विषयों—जैसे शब्द आदि में प्रवृत्त होता है। देवताओं में ऐसा चित्त सदा ही रहा करता है। यह चित्त किसी विशेष विषय के अनुसार कभी-कभी कुछ समय के लिए स्थिर भी हो जाता है। यों यह भी चंचल ही है। इसी विशेष का वर्णन अब गीता के प्रमाण से करेंगे तथा इसकी स्वाभाविक चंचलता का उल्लेख योगसूत्र के आधार पर ही करने जा रहे हैं।]

विशेषो नाम—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् (गी० ६।३४) इति न्यायेनास्थिरस्यापि मनसः कदाचित्कसमुद्भूतविषयस्थैर्यसंभवेन स्थैर्यम्। अस्थिरत्वं च स्वाभाविकं व्याध्याद्यनुशयजनितं वा। तदाह—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।' (पात० यो० सू० १।३०) इति।

[ऊपर कहा गया है कि क्षिप्त से विक्षिप्त में विशेषता होती है।] अब उस विशेषता का अर्थ है स्थिरता। 'हे कृष्ण! मन बड़ा चंचल है, यह प्रमाथी (शरीर और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला) है, बलवान् (जिसका निवारण अभिप्रेत विषय से किसी तरह भी न हो सके) तथा दृढ (विषय-वासना रूपी दुर्ग में रहने के कारण अभेद्य) भी है।' (गी० ६।३४) इस नियम से, विषयों को कभी-कभी स्थिर करना संभव होने के कारण, मन को, अस्थिर होने पर भी, स्थिर किया जा सकता है। (विक्षिप्त में यही विशेषता है)। मन की अस्थिरता या तो स्वाभाविक है या व्याधि-आदि अनुशयों (अनुबन्धों, पूर्वकृत कर्मों के फलों) से उत्पन्न होती है। इसे कहा है—'व्याधि

(Sickness), स्त्यान (Languor), संशय (Doubt), प्रमाद (Carelessness), आलस्य (Laziness), अविरति (Addiction to objects), भ्रान्तिदर्शन (Erroneous perception), अलब्धभूमिकत्व (Failure to attain some stage) और अनवस्थितत्व (Instability), ये चित्त के विक्षेप (अस्थिर बनाने वाले) हैं अतः ये योग के अन्तराय (बाधक) हैं।' (यो० सू० १।३०)। [इन अन्तरायों का वर्णन अलग-अलग भी कर रहे हैं। उसके साथ ही पूर्वपक्ष का उपसंहार किया जायगा।]

तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः। चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्। विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः। समाधिसाधनानामभावनं प्रमादः। शरीरवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम्। विषयाभिलाषोऽविरतिः। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिकत्वम्। लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठाऽनवस्थितत्वमित्यर्थः।

तस्मान्न वृत्तिनिरोधो योगपक्षनिक्षेपमर्हतीति चेत्—।

उनमें तीन दोषों (वात, पित्त, कफ) की विषमता से उत्पन्न ज्वरादि को व्याधि कहते हैं। चित्त का अकर्मण्य (योगानुष्ठान के असमर्थ) होना **स्त्यान** है। दो विरोधी विकल्पों के साथ सम्बद्ध ज्ञान **संशय** है। समाधि के साधनों की भावना (प्राप्ति के लिए यत्न) न करना **प्रमाद** है। शरीर, वाणी या मन के भारी होने से किसी काम में प्रवृत्ति न होना **आलस्य** है। [कफ आदि की वृद्धि से शरीर भारी हो जाता है। तामस पदार्थों के सेवन से वाणी भी भारी हो जाती है तथा तमोगुण के उद्रेक से चित्त भारी हो जाता है।] विषयों की अभिलाषा रखना **अविरति** है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान कर लेना **भ्रान्तिदर्शन** है। किसी भी कारण से समाधिभूमि (मधुमती आदि किसी भूमि) को न पा सकना **अलब्धभूमिकत्व** कहलाता है। [मधुमती आदि भूमियों का वर्णन इसी दर्शन में आगे करेंगे।] समाधि-भूमि को पा लेने पर भी उसमें चित्त का प्रतिष्ठित न होना **अनवस्थितत्व** है। यही सूत्र का अर्थ है।

इसलिए (क्षिप्तादि अवस्थाओं में वृत्ति का निरोध होने पर भी योग के फल के रूप में प्राप्त क्लेशहानि से निःश्रेयस-प्राप्ति न हो सकने के कारण) वृत्तिनिरोध को हम योग का लक्षण नहीं मान सकते।

(९ क. समाधान)

मैवं वोचः। हेयभूतक्षिप्ताद्यवस्थात्रये वृत्तिनिरोधस्य योगत्वासंभवेऽप्युपादेययोरेकाग्रनिरुद्धावस्थयोर्वृत्तिनिरोधस्य योगत्वसंभवात्। एकतानं चित्तमेकाग्रमुच्यते। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धमिति भण्यते।

ऐसा मत कहो। क्षिप्त आदि तीन अवस्थायें त्याज्य हैं अतः उनके विचार से [उनमें अतिव्याप्ति होने के भय से] वृत्तियों के विरोध को योग भले ही न मानें किन्तु जहाँ तक एकाग्र और निरुद्ध इन दोनों उपादेय अवस्थाओं का सम्बन्ध है, वृत्ति-निरोध को योग मानना ही पड़ेगा। [वास्तव में क्षिप्तादि अवस्थाओं में भी एकाध वृत्ति का निरोध हो जाने से हमें उन अवस्थाओं में योग के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए। योग के लक्षण में जो चित्त-वृत्ति-निरोध आया है उसका अर्थ है—द्रष्टा को अपने स्वरूप में आत्यन्तिक रूप से अवस्थित करा देनेवाला चित्तवृत्तिनिरोध या क्लेश, कर्मादि का विनाशक चित्तवृत्तिनिरोध। ऐसी बात नहीं कि एक वृत्ति का निरोध हो जाने से योग हो गया और इस लक्षण पर दूसरी अवस्थाओं को भी हम योग कह दें। क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त अवस्था में किसी वृत्ति का निरोध हो जाता है सही, परन्तु न तो उस निरोध से द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित ही हो सकता है और न ही वह निरोध क्लेश आदि का विरोधी है।]

[सत्त्वगुण से भर जाने पर] जब चित्त किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाता है तब उसे **एकाग्र** अवस्था कहते हैं। जब चित्त की सारी वृत्तियाँ रुक जायँ, केवल संस्कार भर ही शेष रहे तो उसे **निरुद्ध** चित्त कहते हैं। [ये दोनों अवस्थायें योग के लिए उपादेय हैं अतः इनके विचार से योग चित्तवृत्ति का निरोध तो है ही।]

(१०. समाधि का निरूपण—इसके भेद)

स च समाधिर्द्विविधः—संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदात्। तत्रैकाग्रचेतसि यः प्रमाणादिवृत्तीनां बाह्यविषयाणां निरोधः स संप्रज्ञातसमाधिः। सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन् प्रकृतेर्विविक्ततया ध्येयमिति व्युत्पत्तेः। स चतुर्विधः। सवितर्कादिभेदात्। समाधिर्नाम भावना। सा च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्।

[योग के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध] यह समाधि दो प्रकार की है—संप्रज्ञात (जिसमें ज्ञान स्पष्ट हो) और असंप्रज्ञात (जिसमें स्पष्ट ज्ञान भी न रहे)। जब एकाग्र अवस्था में आये हुए चित्त में बाह्य विषय अर्थात् प्रमाण आदि वृत्तियों का निरोध हो जाय तब उसे **संप्रज्ञात समाधि** कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति (निर्वचन) है कि जिसमें ध्येय वस्तु प्रकृति से पृथक् रूप में अच्छी तरह प्रज्ञात हो। इसके चार भेद हैं—सवितर्क आदि (= सविचार, सानन्द तथा सास्मित)। समाधि एक तरह की भावना है और इसका अभिप्राय है—भाव्य वस्तु (जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा वह वस्तु) को दूसरे विषयों से बचाकर चित्त में बार-बार बैठाना। [स्मरणीय है कि सभी विषयों का निरोध हो जाने पर भी संप्रज्ञात समाधि में आत्मविषयक सात्त्विक प्रमाणवृत्ति रहती ही है।]

भाव्यं च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्। जडानि प्रकृतिमहदहंकारादीनि चतुर्विंशतिः। अजडः पुरुषः। तत्र तदा पृथिव्यादीनि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखसंभेदेन च भावना प्रवर्तते स समाधिः सवितर्कः। यदा तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य देशाद्यवच्छेदेन भावना प्रवर्तते तदा सविचारः।

भाव्य वस्तु के भी दो भेद हैं—ईश्वर और तत्त्वसमूह। तत्त्वसमूह दो प्रकार के हैं—जड़ और अजड़। प्रकृति, महत्, अहंकार आदि चौबीस जड़ पदार्थ हैं। पुरुष (जीवात्मा) अजड़ है।

(१) **सवितर्क समाधि** वह है जब इन भाव्य वस्तुओं में से पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों को विषय के रूप में लेकर, पूर्व और अपर के क्रम का अनुसंधान करते हुए तथा शब्द और उनके अर्थ के उल्लेख की एकता दिखाते हुए कोई भावना प्रवृत्त होती है। [वितर्क = स्थूल वस्तुओं का साक्षात्कार। इस साक्षात्कार की उत्पत्ति उस भावना से होती है जिसमें 'पहले सामान्य तब विशेष' या 'पहले धर्मी तब धर्म' इस प्रकार पूर्वापर का क्रम खोजा जाता है। शरीर और इन्द्रियों में जो गुण दोष पहले से सुने गये हैं उन्हीं में यह क्रम खोजते हैं। यदि कोई विशेष पहले से सुने नहीं गये हों, तब भी कोई बात नहीं—योग-बल से भावना के बिना भी साक्षात्कार हो जायगा। योगसूत्र में कहा गया है—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का (१।४२) अर्थात्

शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिली हुई (तीनों भिन्न पदार्थों की जिसमें अभेद-प्रतीति हो) सवितर्क समापत्ति होती है। सवितर्क में शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद बना ही रहता है कि यह गौ शब्द है, उसका यह अर्थ है तथा उन दोनों को प्रकाशित करने वाला एक ज्ञान है। इसमें स्थूल पदार्थों का ही ग्रहण होता है।]

(२) **सविचार** वह समाधि है जब तन्मात्र (रूप, रस आदि) तथा अन्तःकरण, इन सूक्ष्म पदार्थों को विषय बनाकर देश, काल आदि (=निमित्त) के विचार से मिलकर भावना उत्पन्न हुई हो। [देश, काल और कार्य-कारण का अनुभव रखते हुए सूक्ष्म तन्मात्रों में शब्दादि भेदों से मिश्रित समापत्ति सविचार है। कार्य-कारण का अनुभव इस रूप में होता है—सूक्ष्म पृथिवी का कारण है गन्धतन्मात्र-प्रधान पाँच तन्मात्र, इत्यादि।]

विशेष—स्थूल पदार्थ विषयक साक्षात्कार के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं जबकि सविचार और निर्विचार सूक्ष्म-पदार्थविषयक साक्षात्कार के भेद हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—योगसूत्र (१।४२-४४)।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धं चित्तं भाव्यते तदा सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकात्सानन्दः। यदा रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तदा तस्यां सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकाच्च सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः। तदुक्तं पतञ्जलिना—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः (पात० यो० सू० १।१७) इति।

(३) जब रजोगुण और तमोगुण के लेशमात्र अंश से युक्त चित्त की भावना की जाती है तब सुख और प्रकाश से निर्मित सत्त्व का उद्रेक होता है—यही **सानन्द समाधि** है। [इस अवस्था में सत्त्व प्रबल रहता है और चिति-शक्ति दबी हुई रहती है। जिस प्रकार काल्पनिक राज्य में विचरण करते हुए (Day dream या दिवास्वप्न देखते हुए) मनुष्य को आनन्द आता है वही आनन्द इस समाधि में भी है। दुःख और मोह लेशमात्र रहते हैं, सुख (सत्त्व) प्रचुर मात्रा में रहता है।]

(४) जब रजोगुण और तमोगुण का लेश भी न रहे, वैसे शुद्ध सत्त्वगुण पर आधारित होकर भावना उत्पन्न हो तब उस सत्त्व के भी दब जाने से तथा चिति-शक्ति के उद्रेक से केवल सत्ता का ही बचा रह जाना **सास्मित समाधि**

है। [इस समाधि में ईश्वरस्वरूप तथा जीवस्वरूप दोनों को जड़ से पृथक् करके देखते हैं। 'अहमस्मि' केवल यही आकार बचा रहता है। पहले जीवात्मा के विषय की अस्मिता होती है। उसके बाद उससे भी सूक्ष्म अस्मिता परमात्मा के विषय में होती है। यही चित्त की अंतिम भूमि है। इसके बाद कोई ज्ञेय विषय रहता ही नहीं।]

पतंजलि ने इसे कहा है—'वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता नामक स्वरूपों के संबंध से [जो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है वह] संप्रज्ञात समाधि होती है' (यो० सू० १।१७)।

विशेष—माधवाचार्य ने योगसूत्र १।१७ की भोजवृत्ति से उपर्युक्त पंक्तियाँ ली हैं। चित्त की उपर्युक्त चार भूमियों (Stages) को क्रमशः मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा कहते हैं। अब असंप्रज्ञात समाधि का निरूपण करते हैं।

सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः। ननु सर्ववृत्तिनिरोधो योग इत्युक्ते संप्रज्ञाते व्याप्तिर्न स्यात्। तत्र सत्त्वप्रधानायाः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणाया वृत्तेरनिरोधादिति चेत्—तदेतद्वार्तम्। क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारात्।

किंतु जब सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समाधि **असंप्रज्ञात** कहलाती है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि जब आप 'सभी वृत्तियों का निरोध होना योग है' ऐसा कहते हैं तब तो संप्रज्ञात समाधि (जिसमें कुछ ही वृत्तियों का निरोध होता है, अहंकार रह ही जाता है) इस लक्षण के अन्दर नहीं आ सकेगी। उस (संप्रज्ञात समाधि) में सत्त्व और पुरुष की पृथक् प्रतीति का निर्देश करने वाली सत्त्वप्रधान [प्रमाण] वृत्ति का तो निरोध नहीं ही हो पाता। किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल निस्सार है क्योंकि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के विरोधी के रूप में चित्त-वृत्ति-निरोध को हम योग मानते हैं। [निरोध का अर्थ सभी वृत्तियों का निरोध ही नहीं है प्रत्युत जिससे क्लेशादि का विनाश हो। संप्रज्ञात समाधि में भी क्लेशादि का निरोध होता है अतः वहाँ भी चित्तवृत्ति-निरोध तो हुआ ही।]

(११. पाँच प्रकार के क्लेश—अविद्या पर आपत्ति)

क्लेशाः पुनः पञ्चधा प्रसिद्धाः—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (पात० यो० सू० २।३) इति।

नन्वविद्येत्यत्र किमाश्रीयते ? पूर्वपदार्थप्राधान्यममक्षिकं वर्तत इतिवत् । उत्तरपदार्थप्राधान्यं वा राजपुरुष इतिवत् । अन्यपदार्थप्राधान्यं वा अमक्षिको देश इतिवत् ।

क्लेश पाँच प्रकार के प्रसिद्ध हैं—'अविद्या (एक वस्तु को दूसरे रूप में समझना), अस्मिता (चित्त और पुरुष को एक समझना), राग (विषयों की अभिलाषा), द्वेष (क्रोध) तथा अभिनिवेश (देह आदि से कभी वियोग न हो, इस प्रकार की मनोभावना)—ये क्लेश हैं' (यो० सू० २।३)।

अब प्रश्न है कि 'अविद्या' शब्द में किस समास का अवलम्बन लेते हैं ? 'अमक्षिकं वर्तते' (मक्खियों का अभाव हो गया) इस समास की तरह क्या पूर्वपदार्थ की प्रधानता (अव्ययीभाव समास) मानते हैं ? ['अव्ययं विभक्ति०' (पा० सू० २।१।६) से अभाव के अर्थ में 'मक्षिकाणामभावः' करने से 'अमक्षिकम्' बनता है। उसी तरह 'विद्यायाः अभावः = अविद्या' बनता होगा। अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है।] अथवा 'राजपुरुषः' की तरह उत्तर पदार्थ की प्रधानता (तत्पुरुष समास) मानते हैं ? [नञ् तत्पुरुष समास में इसका अर्थ होगा—किसी वस्तु के अभाव से विशिष्ट विद्या। राजपुरुषः = राजा के संबन्ध से युक्त पुरुष। उत्तरपदार्थ अर्थात् पुरुष प्रधान है।] अथवा 'अमक्षिको देशः' (वह देश जहाँ मक्खियाँ नहीं हैं) की तरह अन्य पदार्थ की प्रधानता (बहुव्रीहि समास) मानते हैं ? [न मक्षिका यस्मिन् = अमक्षिको देशः। यहाँ अन्य पदार्थ अर्थात् देश की प्रधानता है। उसी तरह 'अविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिः' यह अर्थ हो जायगा।]

तत्र न पूर्वः । पूर्वपदार्थप्रधानत्वेऽविद्यायां प्रसज्यप्रतिषेधोपपत्तौ क्लेशादिकारकत्वानुपपत्तेः । अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावापत्तेश्च । न द्वितीयः । कस्यचिदभावेन विशिष्टाया विद्यायाः क्लेशादिपरिपन्थित्वेन तद्बीजत्वानुपपत्तेः ।

पहला विकल्प [कि यह अव्ययीभाव समास है] नहीं माना जा सकता। 'अविद्या' शब्द में पूर्वपदार्थ की प्रधानता मानने पर प्रसज्य-प्रतिषेध की सिद्धि होगी। [प्राप्ति के साथ प्रतिषेध होना प्रसज्यप्रतिषेध है। जैसे—'अब्राह्मणः' कहने से ब्राह्मण के अभाव की प्राप्ति होती है। 'अविद्या' में विद्या की प्रसक्ति होकर उसका अभाव प्रतीत होगा। विद्या के सदृश किसी भावात्मक (Positive) पदार्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं। केवल

अभाव ही तो प्रतीत होता है ! विद्या का अभाव] क्लेश आदि को उत्पन्न नहीं कर सकता [किन्तु अविद्या क्लेशादि उत्पन्न करती है।] दूसरे, अव्ययीभाव समास में 'अविद्या' शब्द स्त्रीलिंग नहीं रह सकता। ['अव्ययीभावश्च' (पा० सू० २।४।१८) सूत्र के अनुसार अव्ययीभाव समास केवल क्लीबलिंग ही होते हैं।]

[तत्पुरुष समास—नञ् माननेवाला] दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं ही है। यदि किसी के अभाव से विशिष्ट (Characterised) विद्या को अविद्या कहते हैं (= यदि राग, द्वेष, शोक, मोह आदि में से किसी एक के अभाव से युक्त ज्ञान ही अविद्या है) तो ऐसी अविद्या क्लेशादि का विनाश ही करेगी, उनका बीज (उत्पादक) नहीं हो सकती। [इस समास में अविद्या = विद्या। और विद्या क्लेशादि को नष्ट ही करेगी, उत्पन्न नहीं।]

न तृतीयः। नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्चेति वृत्तिकारवचनानुसारेणाविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिरिति समासार्थसिद्धौ तस्या अविद्यायाः क्लेशादिबीजत्वानुपपत्तेः। विवेकख्यातिपूर्वकसर्ववृत्तिनिरोधसंपन्नायास्तस्याः तथात्वप्रसङ्गाच्च।

[अविद्या में बहुव्रीहि समास की भावना करने वाला] तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। वार्तिक के रचयिता (कात्यायन) का कहना है कि नञ् (अ, अन्) के बाद 'होना' (अस्ति, विद्यमान, वर्तमान) के वाचक शब्दों का किसी दूसरे पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और [पूर्व पद में प्रयुक्त शब्दों में से] उत्तर पद का वैकल्पिक लोप भी होता है। [जैसे—'अधनः' में 'अविद्यमानं धनं यस्य सः' विग्रह करते हैं, अ + विद्यमान (लोपप्राप्त)। विद्यमान और धन का समास हुआ है।] तदनुसार, अविद्यमान है विद्या जिसकी वह अविद्या बुद्धि है। जब इस रूप में समास के अर्थ की सिद्धि करेंगे तो वह अविद्या [केवल विद्यारहित बुद्धि होने के कारण, कोई भावात्मक पदार्थ न होने के कारण] क्लेश आदि का कारण नहीं बन सकती।

[यदि कोई पूछे कि विद्याभाव को क्लेश का हेतु मान लें तो क्या दोष है ? तो उसका उत्तर यह है—] वह बुद्धि ही क्लेश आदि का कारण बन जायगी जो विवेक-ज्ञान (प्रकृति और पुरुष के भेद का दर्शन) कर लेने के बाद बुद्धि की सभी वृत्तियों के निरोध से संपन्न हुई है।

उक्तं चास्मितादीनां क्लेशानामविद्यानिदानत्वम्—'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (पात० यो० सू० २।४) इति। तत्र प्रसुप्तत्वं प्रबोधसहकार्यभावेनानभिव्यक्तिः। तनुत्वं प्रतिपक्षभावनया शिथिलीकरणम्। विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशेनाभिभवः। उदारत्वं सहकारिसंनिधिवशात्कार्यकारित्वम्।

सूत्रकार ने अस्मिता आदि दूसरे क्लेशों को अविद्यामूलक ही माना है—'बाद के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों का क्षेत्र (आधार) अविद्या ही है' (यो० सू० २।४)। [पाँच क्लेशों में अविद्या को छोड़कर शेष अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये चार बचते हैं। इन चारों में भी प्रत्येक के प्रसुप्तादि चार-चार भेद हैं। इन सभी भेदों और अवान्तर भेदों की उत्पत्ति अविद्या से ही होती है। मणिप्रभा के अनुसार विदेह प्रकृति में लीन योगियों के क्लेश प्रसुप्त रहते हैं—विवेकज्ञान न हो सकने के कारण क्लेश दग्ध नहीं हुए हैं और वे शक्ति (Energy) के रूप में अवस्थित हैं जिससे अन्त में फिर उठ सकते हैं। क्रियायोगियों के क्लेश तनु होते हैं। विषय का सेवन करनेवाले पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार भी होते हैं। राम को जिस वस्तु में राग (विषयाभिलाषा) है उसमें द्वेष विच्छिन्न हो जाता है, राग उदार रहता है। जहाँ क्रोध उदार रहता है, वहाँ राग विच्छिन्न हो जाता है।]

उनमें **प्रसुप्त** क्लेश उसे कहते हैं जो प्रबोध (जागृत) करने वाले सहकारी के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। [ये क्लेश चित्तभूमि में हैं पर जगानेवाला न होने से अपना कार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार के क्लेश बालकों तथा प्रकृतिलय योगियों में होते हैं।] तनु क्लेश वह है जो विरुद्ध (क्लेशनाशक] वस्तु की भावना (ध्यान) से शिथिल कर दिया गया हो [जैसे उन योगियों का क्लेश, जिनमें थोड़ी वासना बची हुई हो]। क्लेश तब विच्छिन्न होता है जब किसी दूसरे अधिक बलवान् क्लेश के ही द्वारा परास्त कर दिया गया हो [जैसे द्वेष की अवस्था में राग विच्छिन्न हो जाता है और राग की अवस्था में द्वेष। ये दोनों चूँकि एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिए एक ही साथ नहीं रह सकते।] उदार क्लेश वह है जिसमें सहकारी के सामीप्य के कारण कार्य उत्पन्न करने की शक्ति हो जाय [जैसे बद्ध जीवों में राग या द्वेष या किसी क्लेश का अधिक होना।]

तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण व्यासभाष्यव्याख्यायाम्—

६. प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥
(तत्त्ववै० २।४) इति।

द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयानवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाशङ्कितम्। तस्मात्पक्षत्रयेऽपि क्लेशादिनिदानत्वमविद्यायाः प्रसिद्धं हीयेतेति चेत्—।

इसे वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य की [तत्त्ववैशारदी] व्याख्या में कहा है—'तत्त्व में जो लीन हैं उनके क्लेश प्रसुप्त रहते हैं, योगियों के क्लेश तनु-अवस्था में रहते हैं तथा विषयसेवी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार रूप में रहते हैं।' (त० वै० २।४)।

द्वन्द्व समास की तरह [अविद्या-शब्द में] दो स्वतंत्र पदार्थ न रहने के कारण उभय पदार्थ की प्रधानता (द्वन्द्व समास होने) की भी शंका नहीं करनी चाहिए। इसलिए तीनों प्रकार से विग्रह करने पर अविद्या का वह प्रसिद्ध गुण जो क्लेश आदि का उत्पादन करना है, वही खंडित होता है।

(११ क. आपत्ति का समाधान)

तदपि न शोभनं विभाति। पर्युदासशक्तिमाश्रित्याविद्याशब्देन विद्याविरुद्धस्य विपर्ययज्ञानस्याभिधानमिति वृद्धैरङ्गीकारात्। तदाह—

७. नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ॥ इति।

८. वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः।
तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते॥ इति।

वह भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि पर्युदास-शक्ति का सहारा लेकर 'अविद्या' शब्द के द्वारा, विद्या के विरुद्ध रहने वाले विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) का अर्थ पुराने लोग स्वीकार करते हैं। [निषेध की दो दशायें हैं—प्रसज्य और पर्युदास। प्रसज्यप्रतिषेध में निषेध की प्रधानता रहती है जैसे—अमक्षिकं वर्तते = यहाँ मक्खी तक नहीं है, न पठति, आदि। पर्युदास-प्रतिषेध में भावात्मक

पदार्थ की प्रधानता होती है। इससे सदृश वस्तु का ग्रहण होता है—'अब्राह्मणो धावति' कहने पर, 'ब्राह्मण के सदृश कोई दूसरा व्यक्ति दौड़ रहा है' यह भावात्मक (Positive) अर्थ होता है। 'अविद्या' का अर्थ भी 'विद्या का अभाव' (प्रसज्य) न होकर 'मिथ्याज्ञान' (पर्युदास) है। ऐसा ही अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किया है।]

इसे कहा है—'(७) नाम (संज्ञा) और धातु के अर्थ से संबद्ध होने पर नञ् निषेध नहीं करता। [लिङ् आदि प्रत्ययों के अर्थ से संयुक्त होने पर ही यह निषेधक होता है। इसे 'प्रसज्य' कहते हैं—प्रसज्यप्रतिषेधोयं क्रियया सह यत्र नञ्। जहाँ नञ् निषेध नहीं करता वहाँ वह पर्युदास अर्थात् भेद का निर्देश करता है।] 'अब्राह्मण' शब्द में नञ् केवल अन्य (ब्राह्मणभिन्न पुरुष) का तथा 'अधर्म' शब्द में [धर्म के] विरोधी अर्थ का निर्देश करता है। (८) हम लोगों को सारा शब्दार्थ वृद्ध (प्राचीन) पुरुषों के प्रयोग से जानना चाहिए। वृद्ध ने किसी शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वह शब्द उस अर्थ से पृथक् नहीं किया जाता।'

वाचस्पतिमिश्रैरप्युक्तं—लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः संबन्धः। लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिरिति।

वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है (त० वै० २।५)—'शब्द और उसके अर्थ का संबन्ध लोक-प्रयोग के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। लौकिक प्रयोग में [तत्पुरुष समास में] यद्यपि उत्तर पदार्थ की प्रधानता रहती है किन्तु नञ् तत्पुरुष तो उत्तर पद के अर्थ (अभिधेय) का उपमर्दन (अर्थात् पर्युदास, भेद) करके उस (उत्तर पद के अर्थ) के विरुद्ध रूप में, सर्वत्र, पाया जाता है। इसलिए यहाँ ('अविद्या' शब्द में) भी [नञ् अपने उत्तरपदार्थ—विद्या के] विरुद्ध ही प्रवृत्त हो सकता है।' [अविद्या = विद्या के विरुद्ध → मिथ्याज्ञान।]

एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (पा० यो० सू० २।५) इति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्यय इत्युक्तं भवति। तद्यथा—अनित्ये घटादौ नित्यत्वाभिमानः। अशुचौ कायादौ शुचित्वप्रत्ययः।

९. स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ इति ।

इसी अभिप्राय से कहा गया है—'अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का ज्ञान करना **अविद्या** है' (पात० यो० सू० २।५)। जहाँ कोई वस्तु नहीं है, वहाँ उस वस्तु का ज्ञान होना विपर्यय है—यही कहने का अभिप्राय है (देखिये यो० सू० १।८)। [अविद्या के ये चार अवान्तर भेद बतलाये जा रहे हैं—अनित्य में नित्य का ज्ञान, अपवित्र में पवित्र का, दुःख में सुख का तथा अनात्मा में आत्मा का। इसका उलटा भी संभव है—नित्य में अनित्य का आदि। वस्तुतः ये उपलक्षण हैं। इसी से पाप में पुण्य का ज्ञान आदि भी अविद्या ही है। अविद्या को विपर्यय भी कहते हैं क्योंकि दोनों में ही मिथ्याज्ञान होता है।

वह (अविद्या) इस प्रकार है—घटादि अनित्य पदार्थों के नित्य होने का विश्वास रखना, शरीर आदि अपवित्र पदार्थों को पवित्र समझना। [अपवित्र पदार्थों की सूची इस तरह है—'स्थान के कारण (मूत्रादि से युक्त माता के उदर से उत्पन्न होना), बीज (शुक्र और रक्त रूपी उपादान कारण) के कारण, पोषक पदार्थ (भुक्त अन्न और पीत रसादि) के कारण, निःसृत पदार्थ (excretion, पसीना, मल, मूत्रादि) के कारण तथा मृत्यु होने के कारण पंडित लोग शरीर को अपवित्र कहते हैं और इसीलिए [स्नानादि के द्वारा] शरीर में शौच (पवित्रता) का आधान करते हैं।' [ये कारण ऐसे हैं जो वेदपाठियों के शरीर को भी अपवित्र करते हैं अतः शौच का प्रयोग लोग करते हैं।]

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च* दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पात०यो० सू० २।१५) इति न्यायेन दुःखे स्रक्चन्दनवनितादौ सुखत्वारोपः। अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदुक्तम्—

१०. अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम् ।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ॥ इति ।

---

* यो० सू० में 'वृत्तिविरोधाच्च' पाठ है। अभ्यंकर ने मूलस्थ पाठ रखकर संगति बैठायी है।

'चूँकि परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और साथ-साथ [सत्त्वादि तीन] गुणों की वृत्ति बिना विरोध के सर्वत्र होती है इसलिए विवेकशील पुरुषों के लिए सब कुछ दुःख ही दुःख है' (यो० सू० २।१५)। [सामान्य व्यवहार में जो सुखद पदार्थ हैं विवेकी के लिए वे दुःखद हैं क्योंकि वह उन्हें विष मिले हुए स्वादिष्ठ अन्न के समान समझता है। जो सुख ऊपर से मिल रहा है वह तीन प्रकार के दुःखों का कारण बन जा सकता है। सुख का उपभोग करने से इन्द्रियाँ थक जाती हैं जिससे अंत में दुःख उत्पन्न होता है जिसे **परिणाम-दुःख** कहते हैं। सुखोपभोग के समय दूसरों को अधिक मात्रा में सुख का उपभोग करते देख कर ईर्ष्या होती है इसे **तापदुःख** कहते हैं। सुखभोग के संस्कार चित्त पर पड़ जाते हैं, हम उनका स्मरण करके उन्हें पाने का प्रयत्न करते हैं। उसके साधन यदि नहीं मिले तो दुःख होता है जिसे **संस्कारदुःख** कहते हैं। यही नहीं, सत्त्वादि गुणों की वृत्तियाँ (= सुख, दुःख और मोह) किसी तरह का विरोध किये बिना ही आपस में मिलती हैं। इसलिए, सुख के साधन के रूप में स्वीकृत पदार्थ (वस्तु) में रजोगुण की वृत्ति (दुःख) रहेगी ही। दोनों में कोई विरोध तो है नहीं।' इसलिए विवेकी पुरुष भोग के सभी साधनों को दुःख ही समझते हैं।]

इस नियम से [अविद्या के कारण] लोग माला, चंदन, वेश्या आदि वस्तुतः दुःखद पदार्थों में सुख का आरोप करते हैं। [यह अविद्या है।] फिर, देहादि जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा समझना [भी अविद्या ही है]। इसे कहा है—'देह आदि आत्मा नहीं हैं किन्तु उन्हें देहधारी लोग जब आत्मा समझते हैं तो यही अविद्या है। इसी के कारण संसार का बंधन होता है और उसका नाश मोक्ष कहलाता है ॥ १० ॥'

एवमियमविद्या चतुष्पदा भवति। नन्वेतेषु अविद्याविशेषेषु किंचिदनुगतं सामान्यलक्षणं वर्णनीयम्। अन्यथा विशेषस्यासिद्धेः। तथा चोक्तं भट्टाचार्यैः—

११. सामान्यलक्षणं मुक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम्।
न शक्यं केवलं वक्तुमतोऽप्यस्य न वाच्यता ॥ इति।

तदपि न वाच्यम्। अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति सामान्यलक्षणाभिधानेन दत्तोत्तरत्वात्।

इस प्रकार यह अविद्या चार प्रकार की है। अब कोई पूछ सकता है कि

अविद्या के इन भेदों में अनुगत (विद्यमान) कोई सामान्य लक्षण दें [जिससे अविद्या का लक्षण हम जान सकें]। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो अविद्या के भेदों की ही सिद्धि नहीं होगी। जैसा कि [कुमारिल] भट्ट ने कहा है—'सामान्य लक्षण को छोड़कर केवल विशेष (भेदों) का ही निरूपण कर देना संभव नहीं है, इसलिए यहाँ पर [अविद्या के] भेदों का वर्णन भी नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥'

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि [अविद्या का] सामान्य लक्षण भी दिया गया है—'जहाँ वस्तु नहीं है, वहाँ पर उसका ज्ञान कर लेना [अविद्या है]'। इस लक्षण के द्वारा उत्तर मिल जाता है।

(१२. अस्मिता, राग और द्वेष)

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानोऽस्मिता। तदप्युक्तं—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (पात० यो० सू० २।६) इति। सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागः। दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरस्सरं तत्साधनेषु निवृत्तिर्द्वेषः। तदुक्तं—'सुखानुशयी रागः' (पात० यो० सू० २।७), 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पात० यो० सू० २।८) इति।

सत्त्व (चित्त, बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) के बीच 'मैं हूँ' (अहमस्मि) इस रूप में एकता का बोध करना **अस्मिता** है। इसे भी कहा है—'दृक्शक्ति (द्रष्टा, पुरुष, आत्मा) और दर्शनशक्ति (बुद्धि, करण) दोनों में एकाकारता जैसा मान लेना अस्मिता है' (यो० सू० २।६)। [अनात्मा को आत्मा मानने वाली अविद्या अस्मिता (Egoism) उत्पन्न करती है। अविद्या और अस्मिता में कुछ अन्तर है। अविद्या की अवस्था में बुद्धि आदि में सामान्य रूप से 'अहं' की भावना रहती है किन्तु उसमें कहीं भेद भी रहता है, अभेद भी। परन्तु अस्मिता में आत्यन्तिक (Perfect) रूप से अभेद हो जाता है। एकता का भ्रम पूर्ण रूप से रहता है कि मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ इत्यादि। पुरुष अपरिणामी है, बुद्धि परिणामी। दोनों शक्तियाँ (भोक्ता और भोग्य) बिल्कुल पृथक् हैं। परन्तु दोनों का अभेद ग्रहण कर लेने पर आपसी धर्मों का अध्यास होता है जिससे भोग (Enjoyment) होता है।]

जो पुरुष सुख से अभिज्ञ है वह सुख का स्मरण करके सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए तृष्णा करता है—उसकी उक्त प्रतीक्षा ही **राग** है। [गर्धः =

प्रतीक्षा, तृष्णा, आशा, √गृध्। तुल० 'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्' (ईशो० १।१)]। दुःख से परिचित पुरुष दुःख का स्मरण करके जब दुःख के साधनों से निवृत्त होता है वही द्वेष है। ऐसा ही पतंजलि ने कहा है—'सुख में निवास करनेवाला (अनुशयी) राग है' (यो० सू० २।७) तथा 'दुःख में निवास करनेवाला द्वेष है' (यो० सू० २।८)।

(१३. 'अनुशयी' शब्द की सिद्धि में व्याकरण का योग)

किमत्रानुशयिशब्दे ताच्छील्यार्थे णिनिरिनिर्वा मत्वर्थीयोऽभिमतः ? नाद्यः। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पाणिनि-सू० ३।२।७८) इत्यत्र सुपीति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणस्योपसर्गनिवृत्त्यर्थत्वेन सोपसर्गाद्धातोर्णिनेरनुत्पत्तेः। यथाकथंचित् तदङ्गीकारेऽपि 'अचो ञ्णिति' (पाणि० सू० ७।२।११५) इति वृद्धिप्रसक्तावतिशाय्यादिपदवत् अनुशायिपदस्य प्रयोगप्रसङ्गात्।

यहाँ पर प्रश्न है कि 'अनुशयिन्' शब्द की सिद्धि कैसे होती है—क्या ताच्छील्य के अर्थ में (सुखमनुशेते, तच्छीलः सुखानुशयी) णिनि प्रत्यय हुआ है (अनु + √शीङ् + णिनि) अथवा मतुप् (वह उसका है—सः अस्य अस्ति) के अर्थ में (सुख का अनुशय अर्थात् संबन्ध; वह जिसके पास है—सुखानुशयी) इनि प्रत्यय हुआ है (अनुशय + इनि—अत इनिठनौ, पा० सू० ५।२।११५) ?

इनमें पहला विकल्प (णिनि मानने वाला) ठीक नहीं। कारण यह है कि 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) अर्थात् 'वह उसका शील या आदत है' इस अर्थ में जातिवाचक को छोड़कर किसी भी सुबन्त शब्द के उपपद में (पूर्व में) रहने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है [जैसे उष्णं भुङ्क्ते, तच्छीलः उष्णभोजी = जिसे बराबर गर्मागर्म भोजन की आदत है। जो कभी-कभी गर्म भोजन करता है उसे उष्णभोजी नहीं कहेंगे।] पहले से ['सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से अनुवृत्त] 'सुपि' शब्द के वर्तमान रहने पर भी प्रस्तुत सूत्र में जो 'सुपि' शब्द पुनः लिया गया है उसका अभिप्राय यही है कि उससे 'उपसर्ग उपपद' की निवृत्ति हो, अतः उपसर्गसहित धातु में णिनि प्रत्यय की प्राप्ति नहीं हो सकती। ['सुपि स्थः' (३।२।४) से 'सुपि' शब्द की अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में होती है। उन सूत्रों में अलग से 'सुपि' कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी सूत्र (जैसे—'सुप्यजातौ०' में) 'सुपि' कहा गया तो कोई विशेष कारण है। वह

कारण क्या है ? बात यह है कि 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३।२।६१) इस लम्बे सूत्र से एक नया प्रकरण आरम्भ हो गया—इस सूत्र में गिनाये गये धातुओं से सुबन्त के उपपद में होने पर तो प्रत्यय होते ही हैं ('सुपि स्थः' से 'सुपि' की अनुवृत्ति करके) साथ-साथ उपसर्ग के उपपद में रहने पर भी प्रत्यय होते हैं। 'सुप्यजातौ' में इसी उपसर्ग की निवृत्ति करने के लिए 'सुपि' का पुनः प्रयोग हुआ है। (३।२।६१) से 'सुपि उपसर्गे' दोनों की अनुवृत्ति होने लगी थी—दोनों की निवृत्ति साथ-साथ की गई और अभीष्ट 'सुपि' का प्रयोग किया गया है। फलतः 'अनु + शी + णिनि' नहीं हो सकता। सोपसर्गक धातु से णिनि प्रत्यय नहीं होता।]

यदि किसी प्रकार इस णिनि को स्वीकार भी करें* तो भी 'अचो ञ्णिति' अर्थात् जित् या णित् (जिस प्रत्यय में ञ् या ण् का अनुबन्ध लगा हो) प्रत्यय के होने पर उसके पूर्व के स्वरवर्ण (अच्) को वृद्धि हो (पा० सू० ७।२।११५)—इस सूत्र से वृद्धि की प्राप्ति होगी और 'अतिशायिन्' आदि शब्दों की 'अनुशायिन् (अनुशायी)' शब्द का ही प्रयोग होता। [अनु + √शी + णिनि = वृद्धि होने से, अनुशै + इन् = आयादेश, अनुशायिन्। तात्पर्य यह है कि णिनि प्रत्यय से 'अनुशयी' नहीं हो सकता।]

न द्वितीयः। 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति तत्प्रतिषेधात्। अत्र चानुशयशब्दस्याजन्तत्वेन कृदन्तत्वात्। तस्मादनुशयिशब्दो दुरुपपाद इति चेत्—नैतद् भद्रम्। भावानवबोधात्। प्रायिकाभिप्रायमिदं वचनम्।

द्वितीय विकल्प (इनि प्रत्यय तद्धित का मानें तो) भी ठीक नहीं। कारण यह है कि निम्नलिखित कारिका के द्वारा इसका निषेध किया गया है—'ये दोनों प्रत्यय (इनि = इन् तथा ठन् = इक; उदाहरण—दण्डी, दण्डिकः) एकाक्षर शब्द के बाद, कृदन्त शब्द के बाद, जातिवाचक शब्द के बाद तथा सप्तमी के अर्थ में नहीं होते हैं' [यह कारिका काशिका (५।२१।१५) में

---

* 'सुपि स्थः' में सुप् का अर्थ उपसर्गहीन सुप् (केवल) है, 'सत्सूद्विष०' में उपसर्ग का पृथक् विधान है। यदि 'सुपि स्थः' से सुपि लाते तो 'अनुशायी' आदि शब्दों में णिनि प्रत्यय नहीं होता। उपसर्ग से भी णिनि प्रत्यय हो अतः पुनः सुपि कहा है। उपसर्ग होने पर णिनि होता भी है—अनुयायिवर्गः (रघु० २।४), विसारि सर्वतः (माघ १।२), अनुजीविभिः (किरा० १।४) आदि। यह व्याख्या भाष्यसंमत है।

उद्धृत है तथा वहाँ उसकी व्याख्या भी की गई है। मतुप् के अर्थ में होने वाले इन् और ठन् प्रत्ययों का वहाँ निषेध किया गया है। एकाक्षर शब्द से—स्ववान्। खवान्। कृदन्त से—कारकवान्। जाति से—व्याघ्रवान्। सिंहवान्। सप्तमी के अर्थ में—(दण्डाः अस्यां सन्ति इति) दण्डवती शाला।] चूँकि अनुशय शब्द कृदन्त (अनु + शी + अच्—'एरच्' ३।३।५६) है क्योंकि अच् प्रत्यय से बना है [अतः उसमें इनि प्रत्यय नहीं हो सकता।] इसलिए 'अनुशयी' शब्द की उत्पत्ति कठिन है। [अनुशायी या अनुशयवान् बनाने में कोई आपत्ति नहीं है।]

किन्तु इस तरह संदेह करना उचित नहीं है क्योंकि आप लोग कारिका का भाव नहीं समझते हैं। यह कारिकास्थ वाक्य 'प्रायः ऐसा होता है' इसी अभिप्राय से दिया गया है।

अत एवोक्तं वृत्तिकारेण—इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिसंबध्यते इति। तेन क्वचिद् भवति—कार्यी कार्यिकस्तण्डुली तण्डुलिकः इति। तथा च कृदन्ताज्जातेश्च प्रतिषेधस्य प्रायिकत्वम्। अनुशयशब्दस्य कृदन्ततया इनेरुपपत्तिरिति सिद्धम्।

इसलिए ही काशिकावृत्ति के रचयिता (जयादित्य) ने कहा है—'[तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (पा० सू० ५।२।९४) में'] इति शब्द विवक्षा का निर्देशक है और बाद के सभी सूत्रों में लगाया जाता है। [विवक्षा = लौकिक प्रयोग के अनुसार प्रत्ययों का विधान]। इसलिए कहीं-कहीं होते हैं—कार्य (कृ + ण्यत् कृदन्त प्रत्यय) + इनि = कार्यिन्। कार्य + ठन् = कार्यिक। तण्डुल (जाति) + इनि = तण्डुलिन्। तण्डुल + ठन् = तण्डुलिक।' इससे पता लगता है कृदन्त और जातिवाचक से यह निषेध प्रायिक (वैकल्पिक, विवक्षाधीन) है। अनुशय शब्द कृदन्त है अतः इससे इनि प्रत्यय हो सकता है—यह सिद्ध हुआ।

(१४. अभिनिवेश का निरूपण)

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्या कृमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तं विना प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेशः पञ्चमः क्लेशः। मा न भूवं हि भूयासमिति प्रार्थनायाः प्रत्यात्ममनुभवसिद्धत्वात्। तदाह—'स्वरसवाही विदुषो-

ऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः' (पात० यो० सू० २।९) इति। ते चाविद्यादयः पञ्च सांसारिकविविधदुःखोपहारहेतुत्वेन पुरुषं क्लिश्नन्तीति क्लेशाः प्रसिद्धाः।

पूर्व जन्म में अनुभूत मृत्यु के दुःख के अनुभव की वासना (संस्कार, impression) के कारण सभी प्राणधारियों में—चाहे वे कृमि हों या विद्वान्—सबों में उत्पन्न होने वाला, 'शरीर, विषय आदि से मेरा वियोग न हो' इस तरह बिना कारण के भय के रूप में प्रवृत्त होने वाला पाँचवाँ क्लेश **अभिनिवेश** है। 'मैं कभी अतीत का विषय न बन जाऊँ किन्तु सदा रहूँ' इस तरह की प्रार्थना प्रत्येक पुरुष करता है जो अनुभव से सिद्ध है। इसे पतंजलि ने कहा है—'[मरने का भय जो हर एक प्राणी में] स्वभावतः बह रहा है और विद्वानों के लिए भी वैसा ही प्रसिद्ध (रूढ़) है [जैसा कि मूर्खों के लिए], वह अभिनिवेश नाम का क्लेश है' (पा० यो० सू० २।९)।

अविद्या आदि ये पाँचों क्लेश विविध सांसारिक दुःखों की प्राप्ति (उपहार) कराने के कारण पुरुष को कष्ट देते हैं (√क्लिश्) तथा प्रसिद्ध हैं।

(१५. कर्म, विपाक और आशय)

कर्माणि विहितप्रतिषिद्धरूपाणि ज्योतिष्टोमब्रह्महत्यादीनि। विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः धर्माधर्मसंस्काराः। तत्परिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः। निरोधो नाभावमात्रमभिमतम्। तस्य तुच्छत्वेन भावरूपसाक्षात्कारजननक्षमत्वासंभवात्। किंतु तदाश्रयो मधुमती-मधुप्रतीका-विशोका-संस्कारशेषाव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। निरुध्यन्तेऽस्मिन्प्रमाणाद्याश्चित्तवृत्तय इति व्युत्पत्तेरुपपत्तेः।

कर्म विहित और प्रतिषिद्ध के रूप में [दो प्रकार के हैं जैसे—] ज्योतिष्टोम (विहित कर्म) तथा ब्रह्महत्या (प्रतिषिद्ध कर्म) आदि। कर्म के फलों को **विपाक** कहते हैं। वे हैं—जाति (जन्म), आयु (जीवन का समय) तथा भोग (सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करनेवाले साधनों का प्रयोग)। फल के पूर्णतः परिणत होने के समय तक जो चित्त की भूमि में अवस्थित रहते हैं (√शी) वे **आशय** हैं अर्थात् धर्म और अधर्म के संस्कार।

चित्तवृत्ति का वह निरोध जो इन क्लेशों का विरोधी है। वही, योग है निरोध

का यहाँ पर केवल 'अभाव' अर्थ ही नहीं लिया गया है क्योंकि [केवल अभाव अर्थ लेने से तो] निरोध स्वरूपहीन हो जायगा तथा वह भावात्मक (Positive) साक्षात्कार (=ध्येय का साक्षात्कार) उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायगा। इसीलिए निरोध से चित्त की उन अवस्थाओं का अर्थ लेते हैं जो उस (अभाव) पर आश्रित हैं तथा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के नाम से पुकारी जाती हैं। 'जिसमें प्रमाणादि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध कर दी जाती हैं वह निरोध है'—इस व्युत्पत्ति (निरुक्ति) से भी यही बात सिद्ध होती है।

विशेष—संप्रज्ञात समाधि के चार अवान्तर भेद हम देख चुके हैं। सवितर्क समाधि में चित्त की जो अवस्था होती है उसे **मधुमती** कहते हैं। सविचार समाधि में चित्त की अवस्था **मधुप्रतीका**, सानन्द में विशोका तथा सास्मित में **संस्कारशेषा** कहलाती है। ये अवस्थायें चूँकि भावरूप (Positive) हैं अतः ध्येय का साक्षात्कार आसानी से हो सकता है।

(१६. वृत्तिनिरोध के उपाय—अभ्यास और वैराग्य)

'अभ्यासवैराग्याभ्यां वृत्तिनिरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' (पात० यो० सू० १।१२-१३)। वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः प्रशान्तवाहितारूपः परिणामविशेषः स्थितिः। तं निमित्तीकृत्य यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत् निमित्तार्थेयं सप्तमीत्युक्तं भवति।

अभ्यास (Exercise) और वैराग्य (Dispassion) के द्वारा वृत्तियों का निरोध होता है। [तुलनीय—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० सू० १।१२)। चित्त एक नदी की तरह है जिसका प्रवाह स्वभावतः विषयों की ओर जाता है। विषयों में दोष देखने से जो वैराग्य होता है उसी से चित्त की धारा रुकती है। रुक जाने पर विवेक-दर्शन का अभ्यास करने से वह धारा विवेक मार्ग की ओर अभिमुख हो जाती है। इसी उपायद्वय से ध्येय वस्तु के आकार की वृत्ति का प्रवाह स्थिर तथा दृढ़ होता है।] 'इनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना **अभ्यास** है।' (यो० सू० १।१३)। जो चित्त [राजस तथा तामस] वृत्तियों से रहित हो गया है वह जब अपने रूप में अवस्थित हो शान्त होकर बहता है (प्रशान्तवाही) तब ऐसे परिणाम (अवस्थान) को स्थिति कहते हैं। उस परिणाम को निमित्त मानकर (उसकी प्राप्ति के

लिए) यत्न किया जाता है अर्थात् उस रूप में ही चित्त में बार-बार बैठाया जाता है यही अभ्यास है। ['स्थितौ' शब्द में] यहाँ सप्तमी विभक्ति 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (चमड़े के लिए बाघ को मारते हैं) इसकी तरह [= निमित्तात्कर्मयोगे' २।३।३ से] निमित्त के अर्थ में हुई है—यही कहना है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (पात० यो० सू० १।१५)। ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्निरभिलाषस्य 'ममैते विषया वश्याः' 'नाहमेतेषां वश्यः' इति विमर्शो वैराग्यमित्युक्तं भवति।

'दृष्ट विषयों (स्त्री, अन्न, जल आदि) तथा आनुश्रविक विषयों (वेदों में बतलाये गये स्वर्ग आदि) से तृष्णा हटा लेने वाले व्यक्ति जब [विषयों को अपने] वश में कर लेने का बोध करते हैं तब उसे **वैराग्य** कहते हैं' (यो० सू० १।१५)। ऐहिक और पारलौकिक दोनों तरह के विषयों में दोष (विनाश, परिताप, सातिशय, असूया आदि) देख लेने के बाद जिस व्यक्ति में [उन्हें प्राप्त करने की] लालसा नष्ट हो गई हो तथा जब वह 'ये विषय मेरे ही वश में हैं' और 'मैं इनके वश में नहीं हूँ', इस प्रकार का विचार करने लगे वह दशा वैराग्य कहलाती है।

विशेष—वैराग्य की चार संज्ञायें हैं––यतमान-संज्ञा (रागादि के पाक के लिए यत्न करना), व्यतिरेकसंज्ञा (पके हुए और पकाये जाते हुए कषायों में भेद करना), एकेन्द्रिय-संज्ञा (पके हुए कषायों का मन में उत्सुकता के रूप में रहना) तथा वशीकारसंज्ञा (लौकिक तथा अलौकिक विषयों की उपेक्षा कर देना)। इस प्रकार दोनों उपायों से चित्त की वृत्तियों का विरोध होता है। अब अभ्यास और वैराग्य की सिद्धि कैसे हो ? इसके लिए क्रियायोग बतलाते हैं।

(१७. समाधिप्राप्ति के लिए क्रियायोग)

समाधिपरिपन्थिक्लेशतनूकरणार्थं च समाधिलाभार्थं प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्यम्। क्रियायोगसंपादनेऽभ्यासवैराग्ययोः संभवात्। तदुक्तं भगवता—

१२. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

(गी० ६।३) इति।

समाधि के मार्ग में शत्रु की तरह रुकावट डालने वाले क्लेशों को क्षीण करने (उनकी कार्यकरी शक्ति को समाप्त करने) के लिए तथा समाधि की प्राप्ति के लिए, सबसे पहले योगी को क्रियायोग (Practical concentration) के विधान के अनुसार चलना चाहिए। क्रियायोग संपन्न होने पर ही अभ्यास और वैराग्य संभव हैं। इसे भगवान् कृष्ण ने ही कहा है—'जो मुनि योग (चित्तवृत्तिनिरोध) पर आरोहण करने की इच्छा रखते हैं उनके लिए कर्म (क्रियायोग) ही साधन बतलाया गया है। यदि वही मुनि योगारूढ़ हो गया हो तब [उसके ज्ञान के परिपाक के लिए] शम (सभी कर्मों से संन्यास लेना) ही कारण कहा गया है।' (गी० ६।३)।

विशेष—गीता में कृष्ण ने इसके बाद ही योगारूढ़ मुनि का लक्षण दिया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गी० ६।४)।

अर्थात् जब पुरुष न तो इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, जब वह सभी संकल्पों से संन्यास ले लेता है तभी योगारूढ़ कहलाता है।

क्रियायोगश्चोपदिष्टः पतञ्जलिना—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात० यो० सू० २।१) इति। तपःस्वरूपं निरूपितं याज्ञवल्क्येन—

१३. विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥ इति।

प्रणवगायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनं स्वाध्यायः।

क्रियायोग का उपदेश भी पतंजलि ने किया है—'तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (परमेश्वर में सभी कर्मों को अर्पित कर देना)—ये क्रियायोग हैं' (यो० सू० २।१)। **तप** का स्वरूप याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार निश्चित किया है—'विधिवाक्यों के कथन के अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा जो शरीर का शोषण किया जाता है उसे ही तपस्याओं में सर्वोत्तम तप माना गया है।' प्रणव (ॐकार), गायत्री आदि मन्त्रों का अध्ययन (पारायण) करना **स्वाध्याय** है।

विशेष—कृच्छ्र एक व्रत है जिसके कई भेद हैं। उनमें प्राजापत्य नाम का कृच्छ्र बारह दिनों में संपन्न होता है। प्रथम तीन दिनों तक प्रातःकाल

भोजन करे, फिर तीन दिनों तक सायंकाल भोजन करे, उसके बाद तीन दिनों तक विना माँगे जो मिले खा ले और अन्त में तीन दिनों तक कुछ न खाये। (मनु० ११।२११)। चान्द्रायण व्रत चन्द्र की गतिविधि से एक महीने में संपन्न होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपद् को मोर के अण्डे के बराबर एक ग्रास (कवल) खायें, द्वितीया को दो—इस क्रम से बढ़ाते जायँ और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास खायें। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपद् को चौदह ग्रास, द्वितीया को तेरह—इस क्रम से घटाते-घटाते अमावस्या को बिल्कुल उपवास करें। इसे यवमध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि यव के दाने के समान इसमें भोजन की मात्रा बीच में अधिक हो जाती है। जब कृष्णपक्ष की प्रतिपद् से आरम्भ करके पूर्णिमा तक करते हैं तो उसमें बीच में उपवास का दिन पड़ता है। स्मरणीय है कि कृष्णपक्ष में भोजन कम करते जाना है, शुक्लपक्ष में बढ़ाते जाना है। इस तरह के दूसरे चान्द्रायण को पिपीलिकामध्य चान्द्रायण कहते हैं क्योंकि चींटी के बीच का भाग जैसे पतला होता है, वैसे ही भोजन की मात्रा बीच में कम करनी है।

मंत्र शब्द का अर्थ है जिसके मनन करने से त्राण (रक्षा) हो। कल्पसूत्रों में मंत्रों की अगम्य और अचिंत्य शक्ति का वर्णन है। तुलसीदास ने भी कहा है।

मंत्र महामनि विषय ब्याल के।
मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ (रा० च० मा० १।३१।५)।

अब योगशास्त्र की एक अलग शाखा—मंत्रशास्त्र—का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

(१८. मंत्र और उनका विवेचन)

ते च मन्त्रा द्विविधाः—वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाश्च द्विविधाः—प्रगीताः अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि। अप्रगीताश्च द्विविधाः—छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः, द्वितीया यजूंषि। तदुक्तं जैमिनिना—'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।' (जै० सू० २।१।३३-३५) इति

ये मंत्र दो प्रकार के हैं—वैदिक और ताँत्रिक। वैदिक मंत्रों के भी दो भेद हैं—प्रगीत (गेय) तथा अप्रगीत (अगेय)। प्रगीत मन्त्रों में साम आते हैं तथा अप्रगीत के दो भेद हैं—छन्दों में बँधे हुए तथा छन्दों से भिन्न। छन्दों में बँधे हुए वैदिक मंत्र ऋचायें हैं और छन्दों से भिन्न यजुष्। इसे जैमिनि ने [मीमांसा-

सूत्र २।१।३३-३५ में] कहा है—'इन मंत्रों में **ऋक्** वह है जहां [वाक्य में] अर्थ के अनुसार चरणों की व्यवस्था होती है। गीतियों (गान के प्रकारों) में **साम** नाम दिया जाता है। अवशिष्ट मन्त्रों में (जहां न पादव्यवस्था है न गान ही) यजुः शब्द का प्रयोग होता है।'

तन्त्रेषु कामिककारणप्रपञ्चाद्यागमेषु ये ये वर्णितास्ते तान्त्रिकाः। ते पुनर्मन्त्रास्त्रिविधाः—स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। तदाह—

१४. स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः॥
१५. शेषाः पुमांसस्ते शस्ताः सिद्धा वश्यादिकर्मणि॥ इति।

तंत्रों (शास्त्रों) में अर्थात् कामिक, कारण, प्रपंच आदि आगमों में जिन-जिन मन्त्रों का वर्णन है वे तांत्रिक मन्त्र हैं। ये तांत्रिक मंत्र भी तीन प्रकार के हैं—स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग तथा नपुंसकलिंग। उसे कहा है—"स्त्री, पुरुष और नपुंसक होने के कारण मन्त्रों की तीन जातियाँ हैं! जिनके अंत में 'स्वाहा' (अग्नि की पत्नी) शब्द रहे वे स्त्रीलिंग हैं, जिनके अंत में 'नमः' शब्द है वे नपुंसक हैं तथा अवशिष्ट मंत्र पुरुष हैं, ये ही सबसे अच्छे हैं और वश्य आदि कर्मों में सिद्धि-प्राप्त हैं।"

विशेष—आगम शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार है--

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥

आगम का लक्षण तंत्रों में इस प्रकार दिया गया है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

योगशास्त्र में मन्त्र के छह कर्मों का वर्णन भी है—शान्तिकर्म, वश्यकर्म, स्तम्भनकर्म, विद्वेषकर्म, उच्चाटनकर्म तथा मारणकर्म। शारदातिलक का श्लोक है—

शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने तथा।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्माणि मनीषिणः॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्र० अ० ३७) में अग्नि की पत्नी स्वाहा का उल्लेख है—'प्रकृति की कला से सभी शक्तियों के रूप में अग्नि की दाहिका शक्ति अपनी

कामना करनेवाली उत्पन्न हुई। ग्रीष्मकाल में दोपहर के सूर्य की प्रभा को भी अभिभूत कर देनेवाली वह स्वाहा-सुन्दरी अग्नि की पत्नी हुई।'

(१८ क. मंत्रों के दस संस्कार)

जननादिसंस्काराभावेऽपि निरस्तसमस्तदोषत्वेन सिद्धिहेतुत्वात् सिद्धत्वम्। स च संस्कारो दशविधः कथितः शारदातिलके—

१६. मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्काराः सिद्धिदायिनः।
निर्दोषतां प्रयान्त्याशु ते मन्त्राः साधु संस्कृताः॥

ऊपर मंत्रों को सिद्ध होना कहा है। यह इसलिए कि वे जनन आदि संस्कारों के अभाव में भी सभी दोषों से रहित हैं तथा सिद्धि प्रदान करते हैं। शारदातिलक में संस्कार के इन दस भेदों का वर्णन हुआ है—'मंत्रों के दस सिद्धिदाता संस्कार कहे जाते हैं। अच्छी तरह से संस्कृत (संस्कारयुक्त) कर दिये जाने पर ये मंत्र शीघ्र ही निर्दोष हो जाते हैं॥ १६॥'

१७. जननं जीवनं चैव ताडनं बोधनं तथा।
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने पुनः॥
१८. तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम्॥
१९. प्रणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः।
मन्त्रार्णसंख्यया तद्धि जीवनं संप्रचक्षते॥

'[ये संस्कार हैं—] जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन, गोपन—ये दस संस्कार मंत्रों के हैं। मातृकायंत्र (अक्षरों का बना हुआ यंत्र) से मंत्रों का उद्धार करना **जनन** (Begetting) संस्कार माना गया है॥ १७–१८॥ मंत्र के अक्षरों को प्रणव (ॐ कार) से घेर कर (बीच में प्रणव रखकर) मंत्र के वर्णों की संख्या के जितना जप करना चाहिए—इसे ही **जीवन** (Vivifying) कहते हैं॥ १९॥ [किसी मंत्र में जितने वर्ण (अर्ण) हों जप की संख्या भी उतनी ही होगी। जैसे—'नमः शिवाय' इस मंत्र में पाँच वर्ण हैं तो इसका जप भी पाँच बार ही करना है। प्रत्येक अक्षर के बाद प्रणव देना है—ॐ न ॐ मः ॐ शि ॐ वा ॐ य ॐ इस तरह पाँच बार जप करें तो मंत्र का जीवन संस्कार हो जायगा।]

विशेष—मातृकायंत्र वर्णों का बना हुआ एक यंत्र (Figure) है जिसमें अक्षरों का न्यास या स्थापन होता है। मंत्र की प्राप्ति के लिए प्रत्येक तांत्रिक को यह यंत्र बनाना पड़ता है। यह चतुर्भुज होता है। शक्तिमंत्र के उद्धार के लिए कुंकुम से, विष्णुमंत्रोद्धार में चंदन से तथा शिवमंत्र के उद्धार में भस्म से स्वर्ण आदि के पात्र में बनाते हैं। क से लेकर म तक के पाँच वर्गों को क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम में तथा अन्तःस्थ वर्णों को वायव्य में, ऊष्म वर्णों को उत्तर में और ल, क्ष को ईशान कोण में लिखे। इसी यंत्र से मंत्र के अक्षरों की भावना करें।

२०. मन्त्रवर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुबीजेन ताडनं तदुदाहृतम् ॥
२१. विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
मन्त्राक्षरेण संख्यातैर्हन्यात्तद्बोधनं स्मृतम् ॥
२२. स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये ॥
२३. संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं हि तत् ॥

'मंत्र के वर्णों को लिखकर चन्दन-जल से उसे मारना चाहिए और हर एक बार वायुबीज (यं) का उच्चारण करते रहें—इसे ही **ताडन** संस्कार (Smiting) कहते हैं ॥२०॥ मंत्र के वर्णों को लिखकर करवीर (कनेर) के फूलों से मंत्र के अक्षरों की जितनी संख्या हो उतने बार मारना चाहिए—इसे **बोधन** (Awakening) मानते हैं ॥ २१ ॥ अपने तंत्र में कहे गये विधान के अनुसार मंत्र-साधक को मंत्र के वर्णों की संख्या के जितने बार पीपल के पत्तों से मंत्र का **अभिषेक** (Sprinkling) शुद्धि के लिए करना चाहिए ॥ २२ ॥ मन में मंत्र का चिंतन करते हुए मंत्र-साधक को, ज्योतिर्मन्त्र के द्वारा, मंत्र में विद्यमान तीनों मलों को जला देना चाहिए—यही विमलीकरण (Purification) है ॥ २३ ॥ [ये तीन मल हैं—मायिक, कार्मण और आनव्य (अनवीनता, वृद्धता)। ये मल मंत्रों के लिंग के अनुसार रहते हैं। स्त्रीलिंग मंत्रों में मायिक, पुंल्लिग में कार्मण और नपुंसक में आनव्य।]

२४. तारव्योमाग्निमनुयुग्ज्योतिर्मन्त्र उदाहृतः।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥

२५. वारिबीजेन विधिवदेतदाप्यायनं मतम् ।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥
२६. तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥

'तार (ॐ), व्योम (ह), अग्नि (र), मनु (औ) [तथा अनुस्वार) से युक्त होने पर (= ॐ ह्रौं) ज्योतिर्मन्त्र बनता है। विधिपूर्वक जपे गये (जप्त) वारिबीज (= वं) के द्वारा मन्त्र के (मनोः) प्रत्येक वर्ण पर कुश से जल छिड़कना (कुशोदकेन प्रोक्षणम्) आप्यायन (Fattening) संस्कार है। मंत्रयुक्त जल से मंत्र में तर्पण करना (जल छोड़ना) **तर्पण** (Satisfying) संस्कार है ॥ २४–२५ ॥ तार (ॐ), मायाबीज (ह्रीं) और लक्ष्मीबीज (श्रीं) से मन्त्र (मनु) को संयुक्त करना **दीपन** (Illuminating) कहलाता है। जिस मंत्र का जप करना है, उसे प्रकाशित नहीं करना **गोपन** संस्कार (Concealing) है ॥ २६ ॥

२७. संस्कारा दशमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ।
यत्कृत्वा संप्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ॥
२८. रुद्धकीलितविच्छिन्नसुप्तशप्तादयोऽपि च ।
मन्त्रदोषाः प्रणश्यन्ति संस्कारैरेभिरुत्तमैः ॥ इति ।
तदलमकाण्डताण्डवकल्पेन तन्त्ररहस्योद्घोषणेन ।

'मन्त्रों के ये दस संस्कार सभी तन्त्रों में छिपाये गये हैं। संप्रदाय-ज्ञानपूर्वक (गुरु-शिष्य-परम्परा से जानकर) जो मन्त्र-साधक इन्हें संपादित करता है वह अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति करता है ॥ २७ ॥ रुद्ध (आदि, मध्य या अन्त में लं लं से युक्त), कीलित, विच्छिन्न, सुप्त, शप्तादि सारे मन्त्रदोष इन उत्तम संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं' ॥ २८ ॥*

---

* तुलनीय—आदिमध्यावसानेषु भूबीजद्वन्द्वलाञ्छितः ।
रुद्धमन्त्रः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिविवर्जितः ॥ १ ॥
माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन्स कीलितः ।
मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ॥ २ ॥
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ।
चतुर्धा पञ्चधा वाथ स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ॥ ३ ॥
त्रिवर्णो हंसहीनो यः सुषुप्तः समुदाहृतः ॥
भूबीज=लं । शप्त=किसी के द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट हो गई हो ।

तो अकाण्ड (असमय में) ताण्डव-नृत्य की तरह यहाँ पर तन्त्रशास्त्र के रहस्य का व्याख्यान क्यों करें ? [अपने प्रस्तुत प्रसंग पर चलें ।]

(१९. ईश्वरप्रणिधान और क्रियायोग का उपसंहार)

ईश्वरप्रणिधानं नामाभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे परमगुरौ फलानपेक्षया समर्पणम् । यत्रेद-मुक्तम्—

२९. कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥इति।

विहित या अविहित (वैदिक या लौकिक)—सभी प्रकार के कर्मों को परम गुरु परमेश्वर में, फल की आशा बिना रखे हुए ही, समर्पित कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। इसीलिए यह कहा गया है—'किसी कामना से या बिना किसी कामना के जो शुभ या अशुभ कर्म मैं कर रहा हूँ, वह सब तुम्हें (ईश्वर) को समर्पित कर दे रहा हूँ क्योंकि तुम्हारे द्वारा ही प्रेरित होकर मैं वे कर्म करता हूँ।'

क्रियाफलसंन्यासोऽपि भक्तिविशेषापरपर्यायं प्रणिधानमेव । फलानभिसंधानेन कर्मकरणात् । तथा च गीयते गीतासु भगवता—

३०. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी० २।४७) इति ।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं भगवद्भिर्नीलकण्ठभारती-श्रीचरणैः—

३१. अपि प्रयत्नसंपन्नं कामेनोपहतं तपः ।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥ इति ।

क्रियाफल से संन्यास लेना (फल की आशा न रखते हुए कर्म करना) भी प्रणिधान ही है जिसे एक प्रकार की भक्ति भी कहते हैं। इसमें फल की आकांक्षा नहीं रखते हुए कर्म किया जाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में ऐसा ही कहा

है—'हे अर्जुन, तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने का है फल पाने का अधिकार कभी नहीं है। कर्म-फल की कामना से तुम कर्म मत करो और कर्म न करने में भी तुम अपनी रुचि मत दिखलाओ ॥ ३० ॥' (गी० २।४७)।

[इसके अतिरिक्त] भगवान् श्रीचरण नीलकण्ठ भारती जी ने कहा है कि आकांक्षा रखना हानिकारक भी है—'तपस्या यदि प्रयत्नपूर्वक भी की गई हो किन्तु किसी कामना से उपहत (संयुक्त) हो तो महेश्वर उससे संतुष्ट नहीं होते जैसे कुत्ते के द्वारा चाटा गया दूध [तुष्टिकारक नहीं होता] ॥ ३१ ॥'

(२०. क्रिया ही योग है—शुद्धा सारोपा लक्षणा)

सा च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मिका क्रिया योगसाधनत्वाद्योग इति शुद्धसारोपलक्षणावृत्त्याश्रयणेन निरूप्यते, यथायुर्घृतमिति ।

शुद्धसारोपालक्षणा नाम लक्षणाप्रभेदः । मुख्यार्थबाधतद्योगाभ्यामर्थान्तरप्रतिपादनं लक्षणा । सा द्विविधा—रूढिमूला प्रयोजनमूला च । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

३२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥
(का० प्र० २।९) इति ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के रूप में जो क्रिया है वह योग का साधन है, इसलिए उसे योग भी कहते हैं। ऐसा निरूपण तभी हो सकता है जब शुद्धा सारोपा लक्षणावृत्ति की सहायता लें। जैसे इस उदाहरण में—'आयुः घृतम्' में आयुशब्द से 'आयु का साधन' यह लक्षित होता है, वैसे ही—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (यो० सू० २।१) में योग शब्द से 'योग का साधन' लक्षित होता है।]

शुद्धा सारोपा लक्षणा लक्षणा वृत्ति का एक अवान्तर भेद है। [शुद्धा लक्षणा गौणी से भिन्न होती है। जो लक्षणा सादृश्य संबंध के आधार पर है उसे **गौणी** कहते हैं जैसे—यह राजा सिंह है। यहाँ वीरता, क्रूरता आदि गुणों के कारण सिंह के सदृश लगने वाले राजा में सिंह शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस लक्षणा का आधार सादृश्य के अतिरिक्त कोई दूसरा संबंध हो उसे **शुद्धा** कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में योग शब्द योग के साधन के अर्थ में प्रयुक्त

है। यहाँ लक्षणा कार्यकारण-भाव रूपी संबन्ध पर आधारित है। इसलिए शुद्धा लक्षणा है। सारोपा का भेद साध्यवसाना लक्षणा से होता है। विषय और विषयी में भेद करते हुए दोनों का उल्लेख करना आरोप है। जहाँ ऐसा आरोप हो वह **सारोपा** लक्षणा होती है जैसे प्रस्तुत प्रसंग में योग विषयी है क्योंकि यही आरोप्य है, आरोप का विषय है तप आदि क्रियायें। क्रिया और योग दोनों का उल्लेख हुआ है। फिर भी भेद बना हुआ है। 'आयु घी है' में भी 'आयु का साधन घी है—इस तरह भेद बना हुआ है। 'राजा सिंह है' यहाँ भी सारोपा ही है क्योंकि दोनों में भेद बना हुआ है। दूसरी ओर यदि राजा का उच्चारण न करके 'यह सिंह' ऐसा कहें तो यह **साध्यवसाना** लक्षणा हुई। साध्यवसाना में केवल विषयी का ही उल्लेख होता है—विषयी का वाचक शब्द विषयवाचक शब्द को निगल जाता है।]

लक्षणा वह वृत्ति है जिसमें मुख्य अर्थ का बाध (वाक्य के शेष पदों के साथ अन्वय न हो सकना) तथा उसके संबन्ध (योग) के द्वारा दूसरे अर्थ का प्रतिपादन हो। इसके दो भेद हैं—रूढिमूलक तथा प्रयोजनमूलक। इसे काव्यप्रकाश में कहा है—'जहाँ मुख्य अर्थ (Primary Meaning) के साथ अन्वय न हो सके किन्तु उससे संबद्ध अर्थ का अन्वय हो, रूढि या प्रयोजन के कारण जहाँ पर दूसरा अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा अर्थात् शब्द की आरोपित क्रिया है।' (काव्यप्रकाश, २।९)।

विशेष—'गङ्गायां घोषः' एक वाक्य है जिसमें 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ है—'एक नदी का जल'। किन्तु बाधित हो जाता है—जल में घोष (ग्वालों की बस्ती) नहीं रह सकता। इस प्रकार वाक्य में 'गंगा' के मुख्य अर्थ का अन्वय होना असंभव है, इसे ही **बाध** कहते हैं। अब उस मुख्यार्थ का योग (संबन्ध) तट के साथ है। अतः गंगा का मुख्यार्थ 'जल' बाधित होकर अपने से संबद्ध एक दूसरे अर्थ 'तट' का बोध करा देता है—यही बोध लक्षणा है। यद्यपि लक्षणा मुख्य वृत्ति नहीं है तथापि किसी प्रयोजन से इसकी सहायता लेते है। 'गङ्गायां घोषः' में ही यदि लक्षणा को छोड़कर मुख्यार्थ तट शब्द का ही प्रयोग कर दें—'गङ्गातटे घोषः' करें तो इस वाक्य से गंगा के तीर पर स्थित घोष में शीतलता और पवित्रता की प्रतीति सामान्य रूप से हो तो जायगी, परन्तु इन गुणों के अतिशय (Fxcellence) का बोध नहीं होगा। जब 'गंगा में घोष है' कहते हैं तथा तीर का बोध, गंगा से ही कर लेते हैं, तो शीतलता और पवित्रता के अतिशय का भी बोध होता है। जो चीज गंगा में ही रहेगी वह कितनी शीतल और पवित्र होगी। इसी गुणातिशय के बोध के लिए (प्रयोजन

से) 'गङ्गायां घोषः' कहा गया है। इसे **प्रयोजनमूलक** लक्षणा कहते हैं। कभी-कभी लक्षणा बिना किसी प्रयोजन के ही लौकिक प्रसिद्धि (रूढि) के आधार पर ही दे देते हैं। इसे रूढिमूलक लक्षणा कहते हैं जैसे—'कर्मणि कुशलः'। कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है—कुश लाने वाला। लेकिन इस मुख्यार्थ का अन्वय उक्त वाक्य में नहीं हो सकता। अतः उससे संयुक्त अर्थ की कल्पना होगी। लोक में 'कुशल' शब्द निपुण के अर्थ में रूढ हो गया है। लक्षणा से उसका यही अर्थ लेंगे। कर्मणि कुशलः = कर्मणि निपुणः। दोनों का अर्थ एक ही है, कुछ अधिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए रूढिमूलक है। प्रयोजन-मूलक लक्षणा में अधिक अर्थ की प्रतीति होती है—गंगा में घोष और गंगातट पर घोष दोनों एक नहीं हैं। जो विशेषता पहले वाक्य में है वह प्रयोजन है। रूढिमूलक लक्षणा अभिधा के समान ही होती है।

लक्षणा एक व्यापार है जो शब्द का नहीं होता, मुख्य अर्थ का ही होता है। अर्थ के द्वारा शब्द पर यह व्यापार केवल आरोपित होता है। इसीलिए कहते हैं कि गंगा-शब्द लक्षणा (या अर्थ) के द्वारा तीर का बोध कराता है।

यच्छब्देन लक्ष्यत इत्याख्याते गुणीभूतं प्रतिपादनमात्रं परामृश्यते। सा लक्षणेति प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षया तच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वोपपत्तिः। तदुक्तं कैयटैः—निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरैक्यमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण। तत्तल्लिङ्गमुपाददत इति।

[काव्यप्रकाश की उपर्युक्त कारिका की दूसरी पंक्ति में विद्यमान] 'यत्' शब्द के द्वारा 'लक्ष्यते' (लक्षित होता है) इस आख्यात-पद (क्रिया Verb) में गौणरूप से रहने पर भी प्रतिपादन अर्थ का बोध होता है। [नैयायिकों का मत है कि जैसे 'पाचक' शब्द में प्रत्यय (ण्वुल्) के अर्थ की प्रधानता है वैसे ही 'पचति', 'पच्यते' आदि क्रियापदों में भी प्रत्यय (तिप्, त आदि) के अर्थ की ही प्रधानता होती है। धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण है। 'लक्ष्यते' यह क्रिया-पद है जिसमें लक्ष्-धातु का अर्थ है 'प्रतिपादन'। यह धात्वर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण होने के कारण गौण हो गया है किन्तु 'यत्' शब्द के द्वारा इसी गौणार्थ 'प्रतिपादन' का बोध होता है, उससे विशिष्ट प्रत्ययार्थ का बोध नहीं कराता। प्रतिपादित अर्थ को लक्षणा नहीं कहते हैं, प्रतिपादन ही लक्षणा है। यह दूसरा प्रश्न है कि वैयाकरण लोग क्रियापद में प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थ) की ही प्रधानता मानते हैं तथा उस मत से 'प्रतिपादन' अर्थ गौण नहीं होगा।]

[अब यह कहा जा सकता है कि 'यत्-तत्' शब्दों में एक ही अर्थ बतलाने का नियम है। यदि 'यत्' के द्वारा प्रतिपादन का अर्थबोध होता है तो 'तत्' के द्वारा भी वही काम होना चाहिए—फलतः 'तत् लक्षणा' कहना चाहिए, 'सा लक्षणा' (स्त्रीलिंग) नहीं। इसका उत्तर देते हैं—] 'सा लक्षणा' (वह लक्षणा है) यहाँ पर विधेय (प्रतिनिर्दिश्यमान, Predicate) के अनुसार तत् शब्द की स्त्रीलिंग के रूप में सिद्धि होती है। ['सा' उद्देश्य है 'लक्षणा' विधेय। दोनों एक ही लिंग में रहेंगे, अतः 'तत्' का स्त्री-रूप 'सा' रखा गया है।]

इसे कैयट ने [महाभाष्य के प्रथम आह्निक के आरंभ में शब्द के स्वरूप-विचार वाले अंश की टीका करते हुए] कहा है—'उद्देश्य और विधेय दोनों में एकता का प्रदर्शन करने वाले सर्वनाम (यत्, तत्, किम् आदि) पर्याय अर्थात् विकल्प (पारी-पारी) से किसी लिंग का ग्रहण करते हैं। [महाभाष्य में वाक्य हैं—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः।' दूसरी पंक्ति की व्याख्या में ही कैयट का उक्त कथन है। जब यत् और तत् का संबन्ध नित्य है तब यत् को नपुंसकलिंग में और तत् को पुंल्लिंग में (सः) लिखना कहाँ तक ठीक है? विधेय 'शब्दः' है अतः उद्देश्य (तत्) पुंल्लिंग में ही रखा गया है। यद्यपि 'तत्' शब्द उद्देश्य (यत्) का परामर्श करता है किन्तु यह कोई जरूरी नहीं कि वह उद्देश्य के लिंग के अनुसार चले। विधेय (शब्दः) के लिंग के अनुसार चलने पर भी कोई हानि नहीं। इसीलिए नागेश ने भी उदाहरण दिया है—शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य। अन्य उदाहरण—'योऽसौ पुत्रः स रत्नम्' अथवा 'योऽसौ पुत्रः तद्रत्नम्'। उसी प्रकार—'यत् लक्ष्यते सा लक्षणा'।]

तत्र 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम्। कुशाल्लाँतीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात्प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेन अभिधानवत्प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते। तदाह—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। (त०वा०) इति।

उनमें 'कर्म में कुशल है' इत्यादि रूढ़ि लक्षणा के उदाहरण हैं। ['कुशल' शब्द की] व्युत्पत्ति होती है—कुश + √ला (कुश लाने वाला)। इससे यह यौगिक 'कुशल' शब्द दर्भ (कुश) लानेवाले के अर्थ में (मुख्य अर्थ में) रहकर भी, विवेचक (योग्य, विवेकी) होने के साधर्म्य के कारण 'प्रवीण' के अर्थ में प्रवृत्त होता है। [कुश लाने में बड़े विवेक की आवश्यकता है—उसे देखना पड़ता है कौन कुश है, कौन सामान्य घास। निपुण व्यक्ति भी विवेकी होता है। दोनों में

विवेक का धर्म समान है इसलिए कुशल का अर्थ निपुण हो गया।] इस अर्थ की प्रवृत्ति, बिना किसी प्रयोजन की अपेक्षा रखे ही, होती है। अनादि काल से वृद्ध-व्यवहार की परंपरा में पड़े रहने के कारण [यह अर्थ] अभिधान (वाच्यार्थ प्रकट करने वाली शक्ति या अभिधा) के समान [रूढ़ हो जाता है।] इसे ही [कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में] कहा है—'रूढिमूलक लक्षणायें प्रायः (काश्चित्) प्रसिद्धि के कारण अभिधान (वाच्यार्थ) की तरह ही हो जाती हैं।'

तस्माद्रूढिलक्षणायाः प्रयोजनापेक्षा नास्ति। यद्यपि प्रयुक्तः शब्दः प्रथमं मुख्यार्थं प्रतिपादयति, तेनार्थेनार्थान्तरं लक्ष्यत इत्यर्थधर्मोऽयं लक्षणा, तथापि तत्प्रतिपादके शब्दे समारोपितः सञ्शब्दव्यापारः इति व्यपदिश्यते। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं—लक्षणारोपिता क्रियेति।

इसलिए रूढ़िलक्षणा को प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि यह ठीक है कि प्रयुक्त होने वाला शब्द पहले मुख्य अर्थ का प्रतिपादन करता है और उसी मुख्यार्थ से यह दूसरा अर्थ लक्षित होता है इसलिए अर्थ का यह धर्म ही लक्षणा है [शब्द का नहीं]; फिर भी चूँकि मुख्यार्थ के प्रतिपादक शब्द पर ही इसका आरोप होता है अतः यह शब्द का ही व्यापार है—ऐसा [आलंकारिक विधि से] कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहा गया है—'लक्षणा' शब्द का वह व्यापार है जो आरोपित किया जाता है। [रूढिमूलक लक्षणा की विवेचना करने के बाद अब प्रयोजनमूलक लक्षणा के भेदों तथा उनमें प्रत्येक के उदाहरण का उल्लेख करते हैं।]

(२० क. प्रयोजनमूलक लक्षणा)

प्रयोजनलक्षणा तु षड्विधा—उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा गौणसारोपा गौणसाध्यवसाना शुद्धसारोपा शुद्धसाध्यवसाना चेति। कुन्ताः प्रविशन्ति, मञ्चाः क्रोशन्ति, गौर्वाहीकः, गौरयम्, आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम्—इति यथाक्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि।

प्रयोजनमूलक लक्षणा के छह भेद हैं जिनके उदाहरण भी क्रमशः देख लिये जायँ—

(१) **उपादानलक्षणा** (Inclusive Indication)—'कुन्ताः प्रविशन्ति' अर्थात् भाला धारण किये हुए पुरुष आते हैं। [यहाँ पर मुख्य अर्थ को वाक्य के साथ अन्वित करने के लिए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अपने अर्थ का बिना परित्याग किये हुए ही दूसरे अर्थ का ग्रहण करना उपादान कहलाता है। कुन्त का मुख्यार्थ है भाला (Lance), अब भालों में प्रवेश करने की शक्ति नहीं है इसलिए वाक्य में अन्वय करने के लिए तत्संयुक्त परार्थ—कुन्तधारी पुरुष—का ग्रहण किया गया है। इस लक्ष्यार्थ में कुन्त का भी ग्रहण हुआ है, उसे छोड़ा नहीं गया है।]

(२) **लक्षणलक्षणा** (Indicative Indication)—'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मंच पर बैठे हुए पुरुष चिल्लाते हैं। [शब्दार्थ अपने से सम्बद्ध अर्थ की सिद्धि अर्थात् वाक्य में अन्वय करने के लिए अपना ही (मुख्यार्थ) का त्याग कर देता है। लक्षण = स्वार्थ को त्याग कर परार्थ को लक्षित करना। मंच को अपना अर्थ यहाँ छोड़ देना पड़ता है। पुरुष चिल्लाते हैं, मंच नहीं। मंच से विशिष्ट पुरुष नहीं चिल्ला सकते हैं। लक्षणा के ये दोनों भेद शुद्धा लक्षणा हैं, गौणी नहीं। गौणी में सादृश्य-सम्बन्ध का आधार रहता है, शुद्धा में सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों का आधार लिया जाता है।]

(३) **गौणसारोपा** (Qualified superimponent Indication)—'गौर्वाहीकः' अर्थात् यह पंजाबी बैल है। [आरोप = विषय और विषयी दोनों का अभेद रूप में उपन्यास। जहाँ विषय और विषयी दोनों शब्दशः स्पष्ट हों वही सारोपा है। उक्त उदाहरण में गौ शब्द से, बुद्धि की मंदता आदि गुणों का सादृश्य देखकर, जड़-अर्थ लक्षित होता है। विषयी का निर्देश 'गौ' शब्द से हुआ है, आरोप के विषय का 'वाहीक' शब्द के द्वारा निर्देश हुआ है।]

(४) **गौणसाध्यवसाना** (Qualified Introsusceptive Indication)—'गौरयम्' अर्थात् यह बैल है। [सादृश्य संबंध के आधार पर ही आरोप्यमाण विषयी (गौ) आरोपित विषय को निगल गया है। विषय की सत्ता केवल 'अयम्' (सर्वनाम) के द्वारा प्रकट है, 'वाहीक' बिल्कुल विलीन हो गया।]

(५) **शुद्धसारोपा** (Pure superimponent Indication)—'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी ही आयु है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी और विषय का पृथक् उल्लेख रहता है। आयु और घी में सादृश्य संबंध नहीं है, कार्य-कारण-संबंध है। ये दोनों क्रमशः विषयी और विषय हैं—दोनों

का पृथक् उपन्यास भी हुआ है। घी आयु का साधन है। प्रस्तुत योग के प्रसंग में यही लक्षणा है।]

(६) शुद्धसाध्यवसाना (Pure Introsuspective Indication)—'आयुरेवेदम्' यह आयु ही है। [सादृश्येतर संबंध के आधार पर (शुद्धा) विषयी जब विषय को अन्तर्भूत कर ले वही शुद्धा—साध्यवसाना है। आयु (विषयी) घी (विषय) को निगल गया है और सत्ता मात्र उसकी बची है—'इदम्'। इस तरह ये छह भेद हैं।]

तदुक्तम्—

३३. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥
३४. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका॥
३५. भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा॥

(का० प्र० २।१०-१२) इति।

तदलं काव्यमीमांसामर्मनिर्मन्थनेन।

इसे कहा गया है—'अपनी (मुख्यार्थ की) सिद्धि (वाक्य में अन्वय) करने के लिए परार्थ का ग्रहण करना तथा परार्थ के लिए अपना (मुख्यार्थ का) त्याग कर देना क्रमशः उपादनलक्षणा और लक्षणलक्षणा हैं—इस तरह शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की है ॥३३॥ दूसरी (गौणी) लक्षणा में वह सारोपा है जहाँ विषयी और विषय दोनों अभिहित (शब्द के द्वारा प्रतिपादित) हों। किन्तु जब विषयी के द्वारा दूसरा (=विषय) अन्तर्भूत कर लिया जाय (अपने में मिला लिया जाय) तो वह साध्यवसाना होती है ॥ ३४ ॥ ये दोनों भेद सादृश्य-संबन्ध के कारण होते हैं या सादृश्येतर संबन्ध के कारण होते हैं तो उन्हें क्रमशः गौण (सादृश्य संबन्ध) और शुद्ध (सादृश्येतर संबन्ध) समझना चाहिए—इसलिए लक्षणा छह प्रकार की हुई ॥ ३५ ॥' (काव्यप्रकाश २।१०—१२)।

काव्यशास्त्र के अभिप्राय की अधिक छान-बीन करने से हमें क्या लाभ है ?

(२१. योग के आठ अंग—यम और नियम)

स च योगो यमादिभेदवशादष्टाङ्ग इति निर्दिष्टः। तत्र यमा

अहिंसादयः। तदाह पतञ्जलिः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पात० यो० सू० २।३०) इति। नियमाः शौचादयः। तदप्याह—'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (पात० यो० सू० २।३२) इति।

यमादि भेदों के कारण उक्त योग आठ अंगों से युक्त है, ऐसा निर्देश किया गया है। उन योगों में अहिंसा आदि को **यम** कहते हैं जैसा पतंजलि ने कहा है—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं' (यो० सू० २।३०)। शौच आदि **नियम** हैं। उन्हें भी कहा है—'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये नियम हैं' (यो० सू० २।३२)।

एते च यमनियमा विष्णुपुराणे दर्शिताः—

३६. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन्॥

३७. स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः॥

३८. एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः॥

(वि० पु० ६।७।३६-३८) इति।

विष्णुपुराण में इन यमों और नियमों का प्रदर्शन किया गया है—'अपने मन को [आत्मा का चिन्तन करने के] समर्थ बनाते हुए, निष्काम-भाव से (फल की कामना न करते हुए), योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन (पालन) करे॥ ३६॥ अपने मन का निग्रह करके (नियतात्मवान्) योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे और उसी प्रकार परब्रह्म में मन को आसक्त (प्रवण) कर दे (अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करे)॥३७॥ नियमों के साथ-साथ ये यम पाँच-पाँच की संख्या में बतलाये गये हैं। सकाम भाव से करने पर ये विशेष फल देते हैं, यदि निष्काम भाव से करें तो विमुक्ति देते हैं॥ ३८॥' (विष्णुपुराण, ६।७।३६-३८)।

(२१ क. आसन और प्राणायाम)

स्थिरसुखमासनं (पात० यो० सू० २।४६) पद्मासन-

भद्रासन-वीरासन-स्वस्तिकासन-दण्डकासन-सोपाश्रय-पर्यङ्क-क्रौञ्च-निषदनोष्ट्रनिषदन-समसंस्थानभेदाद्दशविधम्।

३९. पादाङ्गुष्ठौ निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम्।

इत्यादिना याज्ञवल्क्यः पद्मासनादिस्वरूपं निरूपितवान्। तत्सर्वं तत एवावगन्तव्यम्।

'जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है' (यो० सू० २।४६)। इसके दस भेद हैं—

(१) **पद्मासन**—[दाहिने पैर को वायीं जंघा के ऊपर तथा बायें पैर को दाहिनी जंघा के ऊपर जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। यदि बायें और दाहिने हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर उनकी उँगलियों से क्रमशः दायें और बायें पैरों के अँगूठों को भी पकड़ लें तो इसे बद्ध पद्मासन कहते हैं। किन्तु इसे याज्ञवल्क्य पद्मासन ही मानते हैं।]

(२) **भद्रासन**—[सीमनी रेखा (लिंग से गुदा की ओर जानेवाली रेखा) के बगल में अंडकोश के नीचे दोनों पैरों की एड़ियाँ जुटा दें तथा दोनों हाथों से पैरों को पकड़े रहें। यह भद्रासन सभी रोगों का नाश करता है।]

(३) **वीरासन**—[एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर को उसी प्रकार मोड़ कर एक की जंघा पर दूसरे को रख दे। सामान्य रूप से बैठने के लिए यह अच्छा आसन है।]

(४) **स्वस्तिकासन**—[घुटना और जंघा के बीच में पैरों के तलवों को रखना ही स्वस्तिकासन है। शरीर को वीरासन की तरह सीधा रखें।]

(५) **दण्डकासन**—[भूमि में जंघा और घुटना सटा कर पैरों को फैला दें। दोनों पैरों के अँगूठे और घुट्टियाँ (गुल्फ) सटी हों। यह दण्ड-कासन है।]

(६) **सोपाश्रय**—[योगपट्ट (योगाभ्यास के लिए कपड़ा) के साथ बैठना।]

(७) **पर्यङ्क**—[बाहों को घुटने की ओर फैलाकर सो जाना।]

(८) **क्रौंचनिषदन**—[बैठे हुए क्रौंच पक्षी के समान बैठ जाना।]

(९) **उष्ट्रनिषदन**—[बैठे हुए ऊँट की तरह बैठना। दोनों पैरों को पीछे

की ओर मोड़कर घुटने के बल खड़ा हो जाय। पेट के ऊपर से पीछे की ओर झुक कर दोनों हाथों से भूमि में स्थित पैरों को पकड़ ले।]

(१०) **समसंस्थान**—[घुटनों के ऊपर हाथ रखकर सिद्धासन या पालथी लगा लें। शरीर, सिर और गर्दन एक सीध में रहें।]

याज्ञवल्क्य ने पद्मासन आदि का स्वरूप निरूपित किया है—'दोनों हाथों को व्युत्क्रम करके उनसे, जंघाओं के ऊपर रखे गये पैरों के अँगूठों को, पकड़ लें। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, यह सबों के द्वारा पूजित पद्मासन है।' अवशिष्ट आसन वहीं से जान लें।

विशेष—निषदन, संस्थान और आसन तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आसनों का योगशास्त्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे सामान्य जीवन में भी ये इसलिए उपयोगी हैं कि अनेक रोगों का शमन, चित्त की एकाग्रता, शरीर का आरोग्य, दीर्घायु-प्राप्ति आदि बहुत से लाभ इनसे होते हैं। यदि ठीक से संप्रदायपूर्वक आसन किये जायँ तो कुछ ही दिनों में इनसे अद्भुत चमत्कार देखा जा सकता है। उपयुक्त आसन तो केवल उदाहरण हैं—सैकड़ों आसनों का वर्णन शास्त्रों में है।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति। स च श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदस्वरूपः। तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम्। प्रश्वासः पुनः कोष्ठयस्य बहिर्निः-सारणम्। तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः।

ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्। तद्विशेषेषु रेचकपूर-ककुम्भकप्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत्—नैष दोषः। सर्व-त्रापि श्वासप्रश्वासगतिविच्छेदसंभवात्।

इस प्रकार जब आसन की स्थिरता संपन्न (बैठने का अभ्यास) हो जाय तब प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। **प्राणायाम** का अर्थ है श्वास और प्रश्वास की गति को विच्छिन्न (रुद्ध) कर देना। उनमें **श्वास** बाहरी वायु को भीतर लाने की क्रिया को कहते हैं। कोष्ठ (शरीर, विशेषतः उदर) में स्थित वायु को बाहर निकालना **प्रश्वास** कहलाता है। उन दोनों का संचरण न होना ही प्राणायाम है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि यह तो प्राणायाम का सामान्य लक्षण नहीं हुआ क्योंकि यह लक्षण प्राणायाम के भेदों—रेचक, पूरक, कुम्भक—में अनुगत (Applicable) नहीं हो सकता। [कुम्भक में भले ही गति का अभाव हो

किन्तु रेचक और पूरक में तो क्रमशः वायु को निकालने और उसे भीतर लाने की क्रियाओं में गति रहती ही है।]

[इसका उत्तर है कि] यह दोष नहीं है। सभी भेदों में श्वास और प्रश्वास की गति तो विच्छिन्न होती ही है। [अब तीनों भेदों के लक्षण तथा उनमें प्राणायाम के लक्षण की संगति दिखायी जायगी।]

तथा हि—कोष्ठयस्य वायोर्बहिर्निःसरणं रेचकः प्राणायामो यः प्रश्वासत्वेन प्रागुक्तः। बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरको यः श्वासरूपः। अन्तःस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते। तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासद्वयगतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः। तदुक्तं—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (पात० यो० सू० २।४९) इति।

इसे ऐसे देखें—कोष्ठस्थित वायु का बाहर निकलना रेचक प्राणायाम है जिसे प्रश्वास के रूप में पहले कहा गया है। बाहरी वायु का भीतर प्रवेश कराना पूरक है जिसे श्वास भी कह सकते हैं। वायु को भीतर ही स्तम्भित करने की क्रिया कुम्भक है। इस प्राणायाम में घड़े में रखे हुए जल की तरह निश्चल रूप से प्राणवायु अवस्थित की जाती है। तो इन सबों में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति में रुकावट होती ही है, अतः शंका का कोई अवसर ही नहीं है। [रेचक या पूरक में किसी एक तरफ की ही गति रहती है, अतः श्वास-प्रश्वास दोनों की गति तो नहीं रहती। इसके अलावे गतिविच्छेद का अर्थ स्वाभाविक गति का विच्छेद समझना चाहिए। रेचक या पूरक में वायु अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चलती। देश या काल की गति की अपेक्षा अधिक गति रहती ही है। वास्तव में रेचक वह है जिसमें प्रश्वास या रेचन के द्वारा वायु की गति का विच्छेद करें। उसी तरह श्वास या पूरण के द्वारा वायु की गति में व्यवधान डालना पूरक प्राणायाम है। कुम्भक में तो दोनों ओर से गति का अभाव रहता है, उसमें तो कुछ कहना ही नहीं।]

यही कहा गया है—'उस (आसन की स्थिरता) के संपन्न हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद कर देना प्राणायाम है' (यो० सू० २।४९)।

(२२. वायुतत्त्व का निरूपण)

स च वायुः सूर्योदयमारभ्य सार्धघटिकाद्वयं घटीयन्त्रस्थित-

घटभ्रमणन्यायेन एकैकस्यां नाड्यां भवति। एवं सत्यहर्निशं श्वासप्रश्वासयोः षट्शताधिकैकविंशतिसहस्राणि जायन्ते। अत एवोक्तं मन्त्रसमर्पणरहस्यवेदिभिरजपामन्त्रसमर्पणे—

४०. षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयंभुवे।
विष्णवे षट्सहस्रं च षट्सहस्रं पिनाकिने॥
४१. सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥ इति।

जिस प्रकार घटीयंत्र (रँहट) में घट (लोहे की बालटियाँ) घूमते हैं उसी तरह वह वायु भी सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घड़ी (ढाई घड़ी=१ घंटा) तक प्रत्येक नाड़ी (इडा, पिंगला) में रहती है। [प्राणियों की दाहिनी नाड़ी (दाहिनी नासिका की साँस) **पिंगला** कहलाती है, बायीं नाड़ी **इड़ा** है। दोनों के बीच में **सुषुम्णा** बहती है। वायु-संचार २½ घड़ी (= १ घंटे) तक पिंगला के द्वारा होता है, फिर २½ घड़ी इड़ा के द्वारा वायु चलती है, फिर पिंगला और इड़ा—यही क्रम है।]

इस प्रकार वायु के चलने से दिन-रात में इक्कीस हजार छह सौ (२१६००) श्वास-प्रश्वास होते हैं। [दिन-रात में ६० घड़ियाँ (घटी या दण्ड) होती हैं। एक घटी में ६० पल होते हैं (= दिनरात में ६० × ६० = ३६०० पल)। एक पल में ६ बार श्वास-प्रश्वास लेते हैं अतः दिन-रात में ३६०० × ६=२१६०० बार श्वास-प्रश्वास होता है।]

इसीलिए मन्त्र-समर्पण का रहस्य जाननेवाले लोग **अजपामंत्र*** के समर्पण के विषय में कहते हैं—'मैं इस किये हुए जप में से ६०० मन्त्र गणेश को, ६००० ब्रह्मा को, ६००० विष्णु को, ६००० शिव को, १००० गुरु को, १००० परमात्मा को तथा १००० आत्मा को अर्पित कर रहा हूँ॥ ४०-४१॥'

तथा नाडीसंचारणदशायां वायोः संचरणे पृथिव्यादीनि

---

* श्वास-प्रश्वास के रूप में स्वभावतः जपा जाने वाला मन्त्र अजपामन्त्र है। दूसरे मन्त्रों की तरह इसे जपते नहीं इसलिए इसे अजपा कहते हैं। श्वास और प्रश्वास में हंसः की मन्त्र-भावना की जाती है। स्वभावतः इसे २१६०० बार प्रतिदिन जपते हैं। इसे ही उलटने पर 'सोऽहम्' कहते हैं। इस जप का विभाजन करके गणेशादि देवताओं को अर्पण करते हैं।

तत्त्वानि वर्णविशेषवशात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैरवगन्तव्यानि। तदुक्तमभियुक्तैः—

४२. सार्धं घटीद्वयं नाड्योरेकैकार्कोदयाद्वहेत्।
अरघट्टघटीभ्रान्तिन्यायो नाड्योः पुनः पुनः ॥
४३. शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव।
खखषट्कद्विकैः संख्याहोरात्रे सकले पुनः ॥

[जिस प्रकार वायु की स्वाभाविक गति के कारण प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में 'हंसः' मन्त्र की भावना से अजपाजप की सिद्धि होती है] उसी प्रकार वायु के संचार से नाड़ियों का संचारण होने के समय, पुरुषार्थ की अभिलाषा करने वाले पुरुषों को, [पीत आदि] विशिष्ट वर्णों से [युक्त बिन्दुओं के द्वारा], पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। [पृथिवी आदि तत्त्व पुरुषार्थ हैं। इनका ज्ञान आन्तर दृष्टि से हो सकता है। शरीर में कुछ बिन्दु हैं जिनके वर्णों की कल्पना की गई है—उन्हीं से ये तत्त्व भली-भाँति ज्ञात होते हैं।]

इसे प्रामाणिक व्यक्तियों ने कहा है—'[इड़ा और पिंगला] इन दोनों नाड़ियों में प्रत्येक नाड़ी से सूर्योदय से आरंभ करके ढाई-ढाई घटियों तक [प्राणवायु का] वहन होता है। अरघट्ट-घटी (कुएँ के रहँट) के भ्रमण की तरह ये दोनों नाड़ियाँ बार-बार [बहती हैं।] इस क्रिया से ढाई घटी में ९०० निश्वास और उच्छ्वास होते हैं। पूरे दिन-रात में तो २१६०० (ख=०, ख = ०, षट् = ६, क = १, द्वि = २, 'अङ्कस्य वामा गतिः' से उलटने पर २१६००) संख्या हो जाती है ॥ ४२–४३ ॥'

४४. षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भणने भवेत्।
सा वेला मरुतो नाड्यन्तरे संचरतो भवेत् ॥
४५. प्रत्येकं पञ्च तत्त्वानि नाड्योश्च वहमानयोः।
वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि यतात्मभिः ॥
४६. ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनः समीरणः।
भूमिरर्धपुटे व्योम सर्वगं प्रवहेत्पुनः ॥
४७. वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत्क्रमात्।
वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा ॥

छत्तीस दीर्घ वर्णों (आ, ई, ऊ जैसे वर्ण) के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना ही समय वायु को नाड़ी में घूमने में लगता है। [इसे ही प्राण भी कहते हैं। ६ प्राण=१ पल। ६० पल = १ घटी। एक घटी में ३६० श्वासोच्छ्वास या प्राण होते हैं।] ॥ ४४ ॥ इन बहने वाली नाड़ियों में प्रत्येक के पाँच तत्त्व होते हैं जो दिन-रात बहते रहते हैं, इन्हें योगी ही जान सकते हैं ॥ ४५ ॥ [ये नाड़ियाँ अपने अन्तर में स्थित सूक्ष्म पृथिवी आदि तत्त्वों में से किसी एक के अंश से ही चलती हैं। जब जो तत्त्व बहता है तब कहते हैं कि उस अमुक तत्त्व से नाड़ी चल रही है। इसे योग से ही जान सकते हैं। अब नाड़ियों में बहने वाले पाँचों तत्त्वों का स्थान बतलाते हैं—] अग्नि-तत्त्व ऊपर बहता है, जल-तत्त्व नीचे की ओर; वायु-तत्त्व तिरछा बहता है, पृथिवी-तत्त्व अर्ध पुट (कोष्ठ) में तथा आकाशतत्त्व चारों तरफ बहता है ॥ ४६ ॥ [अब इनके बहने का क्रम बतलाते हैं—] दोनों बहनेवाली नाड़ियों का यह क्रम सदा जानना चाहिए कि क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और आकाश के तत्त्व बहते हैं ॥ ४७ ॥

४८. पृथ्व्याः पलानि पंचाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः ।
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ॥
४९. प्रवाहकालसंख्येयं हेतुस्तत्र प्रदर्श्यते ।
पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः ॥
५०. त्रिगुणो द्विगुणो वायुर्वियदेकगुणं भवेत् ।
गुणं प्रति दश पलान्युर्व्यां पञ्चाशदित्यतः ॥
५१. एकैकहानिस्तोयादेस्तथा पञ्च गुणाः क्षितेः ।
गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी ॥

पृथ्वी-तत्त्व पचास पलों तक बहता है, जल-तत्त्व चालीस पलों तक, अग्नि-तत्त्व तीस पलों तक, वायु-तत्त्व बीस पलों तक तथा आकाश-तत्त्व दस पलों तक बहता है। [इनके बहने का क्रम पहले के जैसा ही है—पहले वायु-तत्त्व, फिर अग्नितत्त्व आदि।]* ॥ ४८ ॥ प्रवाह के काल (समय) की संख्या (परिमाण) इस तरह बतलाई गई है। अब इसका कारण बतलावें—पृथ्वी पाँच गुणों की है, जल चार गुणों का है; अग्नि के तीन गुण, वायु के दो गुण और

* कुल मिलाकर १५० पल होते हैं अर्थात् ये पाँचों तत्त्व १-१ घंटे के क्रम से आते हैं (२॥ घड़ी)।

आकाश में केवल एक गुण ही है। [देखिए—इसी ग्रन्थ का सांख्यदर्शन—'तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पंचगुणानि जायन्ते। (पृ० ६२७)।]

प्रत्येक गुण में दस पल होते हैं--इसलिए पृथ्वी में पचास पल माने गये हैं। ॥ ५० ॥ इसके बाद जलादि से एक-एक गुण की कमी होती जाती है। पृथ्व के पाँच गुणों में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। इनमें भी क्रमशः [एक एक घटते जाते हैं—जल में गन्ध नहीं (४ गुण), अग्नि में गन्ध और रस नहीं (३ गुण), वायु में गन्ध, रस और रूप नहीं (२ गुण) तथा आकाश में केवल शब्द गुण ही है।] ॥ ५१ ॥

५२. तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यां स्याच्छान्तिः कार्ये फलोन्नतिः।
दीप्तास्थिराव्यूहवृत्तिस्तेजोवाय्वम्बरेषु च ॥
५३. पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते।
आद्ये स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्ये कामोद्भवो भवेत् ॥
५४. तृतीये कोपसंतापौ चतुर्थे चञ्चलात्मता।
पञ्चमे शून्यतैव स्यादथ वाधर्मवासना ॥
५५. श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये।
सृक्किण्योः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेषे दृगन्तयोः ॥

पृथ्वीतत्त्व तथा जलतत्त्व से (इनके बहने पर) क्रमशः शान्ति और [आरम्भ किये गये] कार्य में फल की अधिकता मिलती है। अग्नितत्त्व के बहने पर [चित्तवृत्ति] दीप्त होती है, वायुतत्त्व में अस्थिरता और आकाशतत्त्व के बहने पर चित्तवृत्ति अव्यूह (वियोग) के रूप में हो जाती है ॥ ५२ ॥ अब हम पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाशतत्त्व के चिह्न कहते हैं--प्रथम (पृथ्वी) तत्त्व में चित्त की स्थिरता मालूम पड़ती है। दूसरे (जल) तत्त्व की शीतलता के कारण इच्छायें उत्पन्न होती हैं ॥ ५३ ॥ तीसरे तत्त्व में क्रोध संताप उत्पन्न होते हैं, चौथे (वायु) में चंचलता का अनुभव होता है। पाँचवें (आकाश) तत्त्व में या तो शून्यता या अधर्म की भावना उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

[अब एक विशिष्ट मुद्रा के द्वारा शून्य को देखने की विधि का निरूपण करते हैं—] दोनों कानों के छेदों को अँगूठों से बंद कर दें, मध्यमा अँगुलियों को नासिका के छेदों पर रख दें, दोनों ओष्ठों पर कनिष्ठा (प्रान्त्यक) और

अनामिका (उपान्त्य) अँगुलियों को रख दें तथा बाकी बची हुई (तर्जनी) अँगुलियों को आँखों पर रख दें ॥ ५५ ॥

५६. न्यस्यान्तःस्थपृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात् ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम् ॥ इत्यादिना ।

यथावद्वायुतत्त्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति । तपो न परं प्राणायामादिति ।

५७. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजा मलाः ॥ इति च ।

'[उपर्युक्त विधि से अँगुलियों को] रखकर अन्तर में स्थित पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान क्रमशः होता है । इसके बाद पीत, श्वेत, अरुण, तथा श्याम बिन्दुओंसे उपाधिहीन आकाश-तत्त्व का दर्शन होता है । [दोनों हाथों की अँगुलियों से बाहरी द्वारों को बंद करके अन्तर्दृष्टि से देखने पर बिन्दु दिखाई पड़ता है । पीतवर्ण का बिन्दु दिखलाई पड़ने पर समझें कि पृथ्वीतत्त्व बह रहा है । श्वेत बिन्दु दिखलाई पड़ने पर जलतत्त्व, अरुण बिन्दु होने पर अग्नि-तत्त्व तथा श्याम बिन्दु होने पर वायुतत्त्व समझें । किसी भी वर्ण से रहित केवल घेरा भर दिखलाई दे तो आकाश तत्त्व समझें । इसीलिए आकाश को उपाधिहीन अर्थात् वर्णरहित कहा गया है] ॥ ५६ ॥'

उक्त रीति से वायुतत्त्व को यथार्थरूप में जानकर, उसे नियंत्रित करने की जो विधियाँ बतलाई गई हैं [उनके द्वारा = प्राणायाम से वायु का निरोध करने से] विवेकज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों का नाश हो जाता है । [कर्म = कर्म से उत्पन्न पुण्य तथा कर्म के कारणरूप अविद्या आदि क्लेश । ये क्लेश महामोह से भरे हुए शब्दादि विषयों की सहायता से विवेकज्ञान स्वभाव वाले बुद्धि-तत्त्व को आच्छादित कर देते हैं । इसीसे संसार में आने-जाने का सिलसिला चलता है । बुद्धि सांसारिक व्यापार में लगी रहती है । प्राणायाम का अभ्यास करने से ये क्लेश दुर्बल हो जाते हैं तथा अपना कार्य नहीं कर सकते—क्षण-क्षण क्षीण होते जाते हैं । इसलिए प्राणायाम को तप कहा गया है । यही नहीं, चान्द्रायण आदि तपों से तो पापकर्म ही क्षीण होता है । प्राणायाम से उनके मूल क्लेशों का भी नाश हो जाता है । इसलिए] प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है ।

'जिस प्रकार आग में जलाये जानेवाले धातुओं (सोना, चाँदी आदि) का

मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले मल नष्ट हो जाते हैं ॥ ५७ ॥'

(२३. प्रत्याहार का निरूपण)

तदेवं यमादिभिः संस्कृतमनस्कस्य योगिनः संयमाय प्रत्याहारः कर्तव्यः । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रतिनियतरञ्जनीयकोपनीयमोहनीयप्रवणत्वप्रहाणेन अविकृतस्वरूपप्रवणचित्तानुकारः प्रत्याहारः । इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाहियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः ।

इस प्रकार यमादि के द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र करके योगी को संयम के लिए प्रत्याहार का प्रयोग करना चाहिए । [योग के आठ अङ्गों में अन्तिम तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं । उन्हें संयम भी कहते हैं । संयम की सिद्धि प्रत्याहार के विना नहीं होती । इसलिए प्रत्याहार की सिद्धि पहले करें ।] चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने-अपने साथ निश्चित रागोत्पादक, कोपोत्पादक तथा मोहोत्पादक विषयों में जो आसक्ति (प्रवणत्व) होती है उसका नाश करके, निर्विकार आत्मा के स्वरूप में लीन चित्त का अनुकरण [यदि इन्द्रियाँ करने लगें तो वह] प्रत्याहार कहलाता है । [इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ निश्चित रहती हैं । कुछ विषय किसी के लिए रंजनीय या रागोत्पादक होते हैं, कुछ कोपोत्पादक और कुछ मोहप्रद हैं । इन विषयों में इन्द्रियाँ आसक्त रहती हैं । बद्ध-जीवों में इन्द्रियाँ विषयों के अनुरोध से चलती हैं और चित्त इन्द्रियों के अनुरोध से चलता है । प्रत्याहार में इन्द्रियाँ ही चित्त के अनुरोध से चलने लगती हैं । चित्त जब निरोध की ओर लगा दिया जाता है तो बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है । यही चित्त का अनुकरण या प्रत्याहार कहलाता है ।] इसकी व्युत्पत्ति है कि इसमें इन्द्रियाँ विषयों के विरुद्ध (प्रतीप) खींच ली जाती हैं (आ + हृ) । [प्रति = प्रतीप, आ + √हृ ।]

ननु तदा चित्तमभिनिविशते नेन्द्रियाणि । तेषां बाह्यविषयत्वेन सामर्थ्याभावात् । अतः कथं चित्तानुकारः । अद्धा । अत एव वस्तुतस्तस्यासंभवमभिसंधाय सादृश्यार्थमिवशब्दं चकार सूत्रकारः—'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पात० यो० सू० २।५४) इति । सादृश्यं च चित्तानुकारनिमित्तं विषयासंप्रयोगः ।

अब एक शंका होती है कि उस दशा में तो [निर्विकार आत्मा के स्वरूप में] चित्त ही प्रवेश करता है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि इन्द्रियों का विषय बाह्य-जगत् से संबद्ध है. अतः आत्मा में उनकी सामर्थ्य (शक्ति, अधिकार) नहीं हो सकती। फिर वे चित्त की प्रकृति में अपने को कैसे मिला सकेंगी ? ठीक कहते हैं। इसीलिए तो वास्तव में उसकी असंभावना की संभावना करके सूत्रकार ने सादृश्यार्थक 'इव' शब्द का प्रयोग किया है [जिससे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की प्रकृति में अपने को मिला नहीं लेतीं प्रत्युत चित्त में मिलाने पर जैसी दशा हो सकती है वैसी बन जाती हैं]—'इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संबन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है' (यो० सू० २।५४)। [जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को नहीं जीत सका है, बद्ध है, उसकी इन्द्रियाँ भी विषयोपभोग के समय चित्त का अनुकरण करती हैं— उसमें अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'स्वविषयासंप्रयोगे' का प्रयोग किया गया है।]

[जब दो वस्तुओं में तुलना होती है तब किसी धर्म के आधार पर ही। अतः यहाँ भी कुछ सादृश्य-धर्म होना चाहिए।] अपने विषयों से संबन्ध न होना ही यहाँ पर सादृश्य-धर्म है। उसके कारण चित्त का अनुकरण (उसकी प्रकृति में अपने को मिलाना) होता है।

यदा चित्तं निरुध्यते तदा चक्षुरादीनां निरोधे प्रयत्नान्तरं नापेक्षणीयम्। यथा मधुकरराजं मधुमक्षिका अनुवर्तन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तमिति। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

५८. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥
५९. वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥
(वि० पु० ६।७।४३-४४) इति।

जब चित्त (मूल) ही निरुद्ध हो जाता है तब चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे मधुकर-पति के पीछे-पीछे मधुमक्खियाँ चलती हैं उसी तरह चित्त के पीछे-पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। इसे विष्णुपुराण में कहा है—'योगी शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों (अक्ष = इन्द्रिय) का निग्रह करके, प्रत्याहार में निरत होकर, उन्हें चित्त की अनुकारी (चित्त के स्वभाव में अपने को मिला देनेवाली) बना दें ॥५८॥

अत्यन्त चंचल स्वरूप वाली इन्द्रियों का भी इसके बाद परम वशीकरण हो जाता है। [तुलनीय—'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो० सू० २।५५)।] यदि ये इन्द्रियाँ वश में नहीं हो सकीं तो उनसे योगी योग का साधक नहीं बन सकता ॥ ५९ ॥' (विष्णुपुराण-६।७।४३-४४)।

(२३ क. धारणा और ध्यान)

नाभिचक्रहृदयपुण्डरीकनासाग्रादावाध्यात्मिके हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतिके बाह्ये वा देशे चित्तस्य विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणं धारणा। तदाह—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पा० यो० सू० ३।१) इति। पौराणिकाश्च—

६०. प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
(वि० पु० ६।७।४५) इति।

'नाभिचक्र, हृदय-कमल, नासिका का अग्रभाग आदि शरीर के भीतर के (आध्यात्मिक) स्थानों में अथवा हिरण्यगर्भ (विष्णु), इन्द्र, प्रजापति आदि [की मूर्तियों में अर्थात्] बाह्य स्थानों में अपने चित्त को, दूसरे विषयों से उसे बचाते हुए, दृढ (स्थिर) कर देना धारणा है। इसे कहा है—'चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है' (यो० सू० ३।१)। पौराणिक लोग भी कहते हैं—'प्राणायाम के द्वारा वायु को और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के बाद किसी अच्छे आधार (नाभि आदि) में चित्त को स्थिर करना चाहिए।' (विष्णुपुराण, ६।७।४५)।*

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्य विसदृशप्रत्ययप्रहाणेन प्रवाहो ध्यानम्। तदुक्तं—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पात० यो० सू० ३।२) इति। अन्यैरप्युक्तम्—

६१. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥
(वि० पु० ६।७।८९) इति।

प्रसङ्गाच्चरममङ्गं प्रागेव प्रत्यपीपदाम।

---

* तुल०—हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥

उक्त स्थानों में विद्यमान ध्येय (प्रसन्नमुख, चतुर्भुज विष्णु आदि) के आकार में परिणत ज्ञान (प्रत्यय) का, असदृश ज्ञानों का त्याग पूर्वक, प्रवाहित होना **ध्यान** है। [स्मरणीय है कि प्रत्याहार में चित्त का स्थिरीकरण होता है और ध्यान में स्थिर किये गये चित्त को उसी दिशा में प्रवाहित होने दिया जाता है।] इसे कहा गया है—'उसमें (धारण होने पर) ज्ञान का एक प्रकार का बना रहना ध्यान है' (यो० सू० ३।२)।

दूसरों ने भी कहा है—'उस (ध्येय) के रूप के ज्ञान में एक ही तरह से रहने वाला तथा दूसरे विषयों के व्यवधान से रहित [ज्ञान का] प्रवाह ध्यान है। हे राजन् ! वह प्रथम छह अंगों के द्वारा निष्पन्न होता है।' (वि० पु० ६।७।८९) [यह वाक्य खाण्डिक्य नामक राजा को कहा गया है।]

अन्तिम अंग (समाधि) को तो प्रसंगवश हम लोगों ने पहले ही ('योगानुशासन' के निर्वचन-क्रम में) प्रतिपादित कर दिया है (देखिये, पृष्ठ ६७३)।

विशेष—यहाँ अष्टांग योग का विवरण समाप्त हो रहा है। अब इन अंगों के प्रयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करके कैवल्य (मोक्ष) रूपी परम पुरुषार्थ का निरूपण होगा।

(२४. योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ)

तदनेन योगाङ्गानुष्ठानेनादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितेन समाधिप्रतिपक्षक्लेशप्रक्षयेऽभ्यासवैराग्यवशान्मधुमत्यादिसिद्धिलाभो भवति।

अथ किमेवमकस्मादस्मानतिविकटाभिरत्यन्ताप्रसिद्धाभिः कर्णाटगौडलाटभाषाभिर्भीषयते भवान् ? न हि वयं भवन्तं भीषयामहे। किं तु मधुमत्यादिपदार्थव्युत्पादनेन तोषयामः। ततश्चाकुतोभयेन भवता श्रूयतामवधानेन।

तो, योग के अंगों के इस प्रकार अनुष्ठान से—जिसका सेवन या पालन आदरपूर्वक (श्रद्धा सहित), व्यवधान-रहित तथा दीर्घकाल तक किया गया हो—समाधि के विरोधी क्लेशों का नाश हो जाने पर; अभ्यास और वैराग्य के बल से, मधुमती आदि सिद्धियों का लाभ होता है।

[इन मधुमती आदि नये शब्दों को सुन कर कोई पूछता है—] हम लोगों को इन विकट (भयप्रद) और अत्यन्त अप्रसिद्ध कर्णाटक (उत्कल का दक्षिणी भाग), गौड़ (बंगाल का पूर्वी भाग) तथा लाट (गुजरात का एक भाग) की

भाषाओं से आप अकस्मात् डराने क्यों लगे ? [हमारा उत्तर यह है—] हम आपको डरा नहीं रहे हैं। बल्कि मधुमती आदि शब्दों के अर्थ की व्युत्पत्ति (विश्लेषण) करके आपको संतुष्ट ही कर रहे हैं। सो, आप निर्भय होकर ध्यान से सुनें।

(२४ क. मधुमती-सिद्धि)

तत्र मधुमती नामाभ्यासवैराग्यादिवशादपास्तरजस्तमोलेश-सुखप्रकाशमयसत्त्वभावनया अनवद्यवैशारद्यविद्योतनरूपऋतंभर-प्रज्ञाख्या समाधिसिद्धिः। तदुक्तम्—'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पात० यो० सू० १।४८)। ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते। तत्र स्थितौ दार्ढ्ये सति द्वितीयस्य योगिनः सा प्रज्ञा भवतीत्यर्थः।

उनमें मधुमती वह समाधि-सिद्धि है जिसमें अभ्यास और वैराग्य आदि के कारण रजस् और तमस् का लेश (थोड़ा अंश) भी न बचा हो, तथा सुखमय और प्रकाशमय सत्त्व (बुद्धिसत्त्व) की भावना (ज्ञान) से स्वच्छ स्थितिप्रवाह (अनवद्य वैशारद्य) प्रकाशित होता है जिसे दूसरे शब्दों में **ऋतंभरा** प्रज्ञा भी कहते हैं। कहा गया है—'उस अवस्था में ऋतंभरा (सत्य का भरण करने वाली) प्रज्ञा (ज्ञान) रहता है' (यो० सू० १।४८)। ऋत अर्थात् सत्य का जो भरण-पोषण करे, कभी भी विपर्यय (विरोधी) ज्ञान से आच्छादित न हो सके। उस अवस्था में (तत्र) = स्थिति में स्थिरता आ जाने पर, द्वितीय प्रकार के योगी (मधुभूमिक) लोगों की यह प्रज्ञा होती है। यही अर्थ है। [ऋतंभरा प्रज्ञा मधुभूमिक योगियों को प्राप्त होती है।]

चत्वारः खलु योगिनः प्रसिद्धाः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र-ज्योतिः प्रथमः। न त्वनेन परचित्तादिगोचरज्ञानरूपं ज्योतिर्वशी-कृतमित्युक्तं भवति। ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। परवैराग्यसंपन्नश्चतुर्थः।

योगियों के चार भेद प्रसिद्ध हैं—(१) प्राथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। उनमें प्रथम अर्थात् **प्राथम-कल्पिक** योगी वह है जो अभ्यास में लगा हो तथा जिसका ज्ञान अभी केवल

प्रवृत्त हुआ है (परिपक्व नहीं—ज्ञान वश में नहीं हुआ है अतः वह दूसरों के चित्त का ज्ञान नहीं पा सकता)। कहना यह है कि उस योगी ने दूसरों के चित्त आदि में संचरित ज्ञान रूपी ज्योति को वश में नहीं किया है। द्वितीय अर्थात् **मधुभूमिक** योगी वह है जिसकी प्रज्ञा ऋतंभरा है। [इसने जीवों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है परन्तु जीतने की इच्छा करता है—इसे ही मधुमती नाम की योगसिद्धि कहते हैं।] तृतीय अर्थात् **प्रज्ञाज्योति** योगी वह है जिसने सभी भूतों (Beings) तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अन्त में **अतिक्रान्तभावनीय** योगी उसे कहते हैं जो परम वैराग्य से युक्त है। [यह योगी सभी प्रकार की भावनायें किये हुए है—अब इसके लिए कोई चीज भावनीय (ज्ञेय) नहीं। यह जीवन्मुक्त है। जो सभी भावनीय पदार्थों की सीमा पार कर चुका है वह अतिक्रान्तभावनीय है।]

(२४ ख. अन्य सिद्धियाँ—मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा)

मनोजवित्वादयो मधुप्रतीकसिद्धयः। तदुक्तं—'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' (पात० यो० सू० ३।४८) इति। मनोजवित्वं नाम कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः। विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविषयापेक्षवृत्तिलाभः। प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु सर्वेषु वशित्वम्।

एताश्च सिद्धयः करणपञ्चकरूपजयात्तृतीयस्य योगिनः प्रादुर्भवन्ति। यथा मधुनः एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेव ताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः।

मधुप्रतीका सिद्धि—मन के समान वेगवान् (मनोजवी) हो जाना आदि सिद्धियाँ मधुप्रतीक के अन्तर्गत हैं। इन्हें कहा गया है—'मन के समान वेगवान् होना, इन्द्रियों से रहित हो जाना तथा प्रकृति पर विजय पाना' (यो० सू० ३।४८)। मन के समान वेगवान् होने का अर्थ है शरीर का मन की तरह अत्युत्तम (न उत्तमः यस्मात्) गति की प्राप्ति करना। विकरण-भाव का अर्थ है शरीर की अपेक्षा रखे ही बिना इन्द्रियों का अभीष्ट देश और काल में स्थित विषयों से सम्बन्ध-ज्ञान पा लेना। प्रधानजय का अर्थ है प्रकृति के जितने विकार संसार में हैं उन सबों को वश में कर लेना।

ये सिद्धियाँ [पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच ग्रहण आदि] रूपों की विजय कर लेने से तृतीय कोटि के योगी (प्रज्ञाज्योति) में प्रादुर्भूत होती हैं। [इन्द्रियों के पाँच

रूप हैं—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व। निश्चय, अभिमान, संकल्प, दर्शन, श्रवण आदि वृत्तियाँ ग्रहण के अन्तर्गत हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ स्वरूप हैं। बुद्धि और अहंकार को अस्मिता कहते हैं। कारण का ज्ञान करना अन्वय है जैसे घट में मिट्टी का। इन्द्रियों की प्रकृति के रूप में जो गुण हैं उनमें पुरुषार्थ-सिद्धि की जो शक्ति है वही अर्थवत्त्व है। इन्द्रियों के इन रूपों की विजय प्राप्त कर लेने से ही प्रकृति आदि पर विजय होती है। केवल इन्द्रियों की विजय से प्रकृति आदि पर अधिकार नहीं हो सकता।] जैसे मधु का कोई भी भाग स्वाद में अच्छा होता है उसी प्रकार इन सिद्धियों में प्रत्येक का स्वाद अच्छा ही होता है—इसीलिए इन्हें मधुप्रतीक (Symbol of honey) कहा गया है।

सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपा विशोका सिद्धिः। तदाह—'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च' (पात० यो० सू० ३।४९) इति। सर्वेषां व्यवसायाव्यवसायात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। तदुक्तं—'विशोका वा ज्योतिष्मती' (पात० यो० सू० १।३६) इति।

विशोका सिद्धि—सभी भावों (सत् पदार्थों) का स्वामी बन जाना आदि के रूप में प्राप्त योगसिद्धि विशोका है। इसे कहा है—'केवल चित्त और पुरुष का भेद जानने से ही सभी भावों पर आधिपत्य और सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है' (यो० सू० ३।४९)। व्यवसायात्मक (प्रकाशात्मक भाव अर्थात् इन्द्रियाँ और अव्यसायात्मक (जड पदार्थ—इन्द्रियों के विषय शब्दादि, उनके आश्रय पृथिवी आदि) भाव जो तीनों गुणों के परिणाम (विकार) हैं उनके ऊपर स्वामी के समान अधिकार रखना (आक्रमण) 'सभी भावों का आधिपत्य' कहलाता है। इन्हीं भावों का, जो शान्त (भूत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (भविष्यत्) धर्मों से युक्त होकर अवस्थित हैं, विवेक ज्ञान होना सर्वज्ञता है। [उपर्युक्त भावों में शान्त आदि धर्म रहते हैं, यदि उन भावों का ज्ञान धर्म से भिन्न रूप में हो गया तो 'सर्वज्ञता' मिल गई। कुछ धर्म शान्त हैं अर्थात् अपना व्यापार करके अतीत के क्षेत्र में चले गये हैं। कुछ धर्मों का व्यापार अभी चल रहा है ये उदित हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका व्यापार अभी आरम्भ नहीं हुआ है, शक्ति के रूप में जो अवस्थित हैं, जिनके विषय में कुछ भी कहना—उनका नाम (व्यपदेश) लेना भी सम्भव नहीं है। इन तीनों

धर्मों से धर्मी का भेद करके ज्ञान पाना विवेकज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सभी वस्तुओं और उनके धर्मों का अलग-अलग ज्ञान पाना 'सर्वज्ञता' है।]

उसे कहा है—'अथवा शोक से रहित ज्योतिष्मती (योगज साक्षात्कार के रूप में अन्त:करण की वृत्ति) [मन में स्थिरता उत्पन्न करती है'—यो० सू० १।३६]। (यह सिद्धि अतिक्रान्तभावनीय नामक चतुर्थ योगी को प्राप्त होती है।)

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये परं वैराग्यमाश्रितस्य जात्यादिबीजानां क्लेशानां निरोधसमर्थो निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातपदवेदनीयः संकारशेषताव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। तदुक्तं—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पात० यो० सू० १।१८) इति। एवं च सर्वतो विरज्यमानस्य तस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि निर्दग्धशालिबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यविधुराणि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, जो योगी परम वैराग्य से युक्त हो गया है उसे बीज (वस्तु-ज्ञान) से रहित समाधि मिलती है जो जाति [आयु, भोग के] बीज के रूप में विद्यमान क्लेशों को रोकने में समर्थ है। इस समाधि को 'असंप्रज्ञात' शब्द के द्वारा भी जानते हैं और यह 'संस्कारशेषता' के नाम से पुकारी जाने वाली चित्त की एक अवस्था है। [असंप्रज्ञात समाधि का लक्षण करते हुए] यह कहा गया है—'विराम-प्रत्यय का अभ्यास करने के बाद [जब ऐसा वृत्ति-निरोध हो कि केवल] संस्कार ही शेष रह जाय तब उसे असंप्रज्ञात (संप्रज्ञात से भिन्न, दूसरा) समाधि कहते हैं।' (यो० सू० १।१८) [तत्त्वज्ञान की जहाँ पर सीमा हो, वह विराम-प्रत्यय है। ज्ञान में एक अलंबुद्धि उत्पन्न होती है कि अब वृत्ति का विराम हो जाय। इस अवस्था में वृत्ति का संस्कार शेष रहता है जिससे वह फिर से उठ सके। वृत्ति स्वयं नहीं रहती। मोक्ष की दशा में तो चित्त का अत्यन्त ही विलयन हो जाता है।]

इस प्रकार जो पुरुष श्रेष्ठ (योगी) सभी तरफ से विरक्त हो जाता है उसके बीज जले हुए धान के बीजों की तरह हो जाते हैं, वे पुनः उत्पादन की शक्ति से रहित होकर मन (चित्त) के साथ ही साथ समाप्त हो जाते हैं। [चित्त की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उनके साथ ही क्लेश के बीज भी।]

(२५. कैवल्य की प्राप्ति—प्रकृति और पुरुष को)

तदेतेषु प्रलीनेषु निरुपप्लवविवेकख्यातिपरिपाकवशात् कार्य-

कारणात्मकानां प्रधाने लयः, चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वाभिसंबन्धविधुरा वा कैवल्यं लभत इति सिद्धम् । द्वयी च मुक्तिरुक्ता पतञ्जलिना—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' (पात० यो० सू० ४।३४) इति । न चास्मिन्सत्यपि कस्मान्न जायते जन्तुरिति वदितव्यम् । कारणाभावात्कार्याभाव इति प्रमाणसिद्धार्थे नियोगानुयोगयोरयोगात् ।

तो, इन सबों के (क्लेशबीज कर्माशयों के) प्रलीन हो जाने पर (अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाने पर), उपद्रवों से रहित [प्रकृति-पुरुष में] भेदज्ञान के परिपाक के कारण, कार्य और कारण के रूप में विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकृति में लय हो जाने से [प्रकृति को कैवल्य मिलता है ।] इसके अतिरिक्त, चितिशक्ति (आत्मा) जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तथा फिर से बुद्धितत्त्व के साथ संबन्ध नहीं हो पाता तो उसे (पुरुष को) भी कैवल्य मिलता है, यह सिद्ध हुआ ।

पतंजलि ने दोनों प्रकार की मुक्तियों का वर्णन किया है—'पुरुषार्थ से शून्य हो गये गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना (प्रतिप्रसव = जहाँ से आये वहीं चला जाना) अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है ।' (यो० सू० ४।३४) । [गुणों की प्रवृत्ति पुरुषों के भोग या अपवर्ग के लिए होती है जो पुरुषार्थ हैं । इन्हीं पुरुषार्थों के लिए सत्त्वादि गुण विभिन्न रूपों में परिणत होते हैं । पुरुष को परम पुरुषार्थ मिल गया तो ये गुण कृतार्थ हो जाते हैं तथा अपने मूल रूप—प्रधान या प्रकृति—में विलीन हो जाते हैं । तब अकेली प्रकृति बच जाती है– इसे **प्रकृति का कैवल्य** (अकेला हो जाना) कहते हैं । दूसरी ओर, बुद्धितत्त्व से संबन्ध न रहने के कारण जब पुरुष केवल चितिशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसे **पुरुष का कैवल्य** कहते हैं । सांख्य-दर्शन में स्वीकृत दो तत्त्वों को योग भी मानता है अतः दोनों का अलग-अलग कैवल्य माना गया है । कैवल्य कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि केवल चेतन को ही मिले । कैवल्य का अर्थ है अकेला हो जाना, अपनी सारी दुकान समेट लेना ।]

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि कैवल्य हो जाने पर भी प्राणी का जन्म क्यों नहीं होगा । यह बात तो प्रमाणों से सिद्ध है कि कारण (क्लेशबीज) के

अभाव से कार्य (जन्म, मरणादि) का अभाव होता है। इस सिद्ध बात के लिए न तो नियोग (विधि, अपूर्व वस्तु का बोधक) संभव है न अनुयोग (प्रश्न) ही। [जो बात सभी जानते हैं उसके लिए विधि नहीं दी जाती। कैवल्य पाने के बाद जन्म नहीं होता--यह बात भी वैसी ही है, कहने की आवश्यकता नहीं। प्रश्न भी अज्ञात वस्तु के लिए ही किया जाता है। प्रस्तुत वस्तु को जानने के लिए प्रश्न करना भी व्यर्थ है।]

अपरथा कारणाभावेऽपि कार्यसम्भवे मणिवेधादयोऽन्धादिभ्यो भवेयुः। तथा चानुपपन्नार्थतायामाभाणको लौकिक उपपन्नार्थो भवेत्। तथा च श्रुतिः—'अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत' (तै० आ० १।११।५)। अविन्ददविध्यत। आवयद् गृहीतवान्। प्रत्यमुञ्चत् पिनद्धवान्। असश्चताभ्यपूजयत्, स्तुतवानिति यावत्।

यदि ऐसा न हो और कारण के न रहने पर भी कार्य होने लगे (क्लेशबीज न रहने पर भी जन्म-मरण होने लगे) तो अन्धे भी मणि में छेद करने लग जायँगे [क्योंकि अवलोकन का कारण अर्थात् आँखों के न रहने पर भी उसका कार्य मणिवेध आदि संभव हो सकेगा।] असंभव वस्तु का उदाहरण देने के लिए दिया गया यह लौकिक दृष्टान्त भी संभव हो जायगा। जैसा कि श्रुति में कहा है—'किसी अन्धे ने मणि का वेध (छेद) किया। किसी अंगुलिरहित व्यक्ति ने उसे पकड़ा (उसे ग्रथित किया)। किसी ग्रीवाहीन व्यक्ति ने उसे पहना और किसी जिह्वाहीन ने उसकी प्रशंसा की।' (तैत्तिरीय आरण्यक, १।११।५)। अविन्दत् = वेध किया। आवयत् = पकड़ा (गूँथा)। प्रत्यमुञ्चत् = पहना। असश्चत = प्रशंसा की, स्तुति की। [वास्तव में कोई पुरुष आँखों से मणि देखकर, उसे उँगलियों से पकड़कर, गले में पहन कर जीभ से प्रशंसा करता है। चिदाकार आत्मा उन अंगों से रहित होकर भी उन सारे व्यापारों को करती है क्योंकि इसकी शक्ति अचिन्त्य है। यही उस श्रुति का अर्थ है। यहाँ चिदात्मा की प्रशंसा है कि यह असंभव कार्य भी करती है। यदि कारण न रहने पर भी कार्य होता तो यहाँ प्रशंसा का अवकाश नहीं था। यहाँ पर माधवाचार्य इसे बिल्कुल भौतिकवादी अर्थ में लेते हैं।]

(२५ क. योगशास्त्र के चार पक्ष)

एवं च चिकित्साशास्त्रवद् योगशास्त्रं चतुर्व्यूहम्। यथा चिकित्साशास्त्रं रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषजमिति, तथेदमपि संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखमयः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयभोगहेतुः। तस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। तदुपायः सम्यग्दर्शनम्। एवमन्यदपि शास्त्रं यथासंभवं चतुर्व्यूहमूहनीयमिति सर्वमवदातम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पातञ्जलदर्शनम् ॥

इस प्रकार चिकित्साशास्त्र की तरह योगशास्त्र के चार पक्ष (Aspects) हैं। जैसे रोग, रोग के कारण, आरोग्य और औषधि; इन चारों पक्षों को मिलाकर चिकित्साशास्त्र कहलाता है उसी प्रकार योगशास्त्र भी संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपाय को मिलाने से बनता है।

उनमें दुःखों से निर्मित संसार हेय है। प्रकृति (बुद्धि) और पुरुष का संयोग इस हेय (संसार) के भोग का कारण है। [बुद्धि और पुरुष का संयोग होने से अविद्या संसार का निर्माण करती है।] उससे सदा के लिए बच जाना मुक्ति है। उसका उपाय है सम्यक् दर्शन (अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान)। इसी तरह दूसरे शास्त्रों को भी यथासंभव चतुर्व्यूह सिद्ध कर सकते हैं—सब कुछ स्पष्ट ही तो है।

विशेष—योग के चतुर्व्यूह की तुलना बुद्ध के चार आर्यसत्यों से की जा सकती है। जिन प्रतियों में शांकरदर्शन नहीं मिलता उनमें यहाँ पर यह लिखा हुआ मिलता है—'इतः परं सर्वदर्शनशिरोमणिभूतं शांकरदर्शनमन्यत्रलिखितमित्यत्रोपेक्षितमिति'। वास्तव में यह लिपिकार की करनी है। इसका विवेचन भूमिका में किया गया है।

इस प्रकार सायण-माधव के सर्वदर्शन-संग्रह में पातंजल-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पातञ्जलदर्शनमवसितम् ॥

(१६) शांकर-दर्शनम्

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपं
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति।
जीवोऽपि भाति पृथगत्र तथैव चैको-
ऽद्वैताश्रितं खलु नमाम्यथ शंकरं तम् ॥—ऋषिः।

(१. परिणामवाद-खण्डन—प्रकृति की सिद्धि अनुमान से असंभव)

सोऽयं परिणामवादः प्रामाणिकगर्हणमर्हति। न ह्यचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं प्रवर्तते। सुवर्णादौ रुचकाद्युपादाने हेमकारादिचेतनाधिष्ठानोपलम्भेन नित्यत्वसाधककृतकत्ववत्सुखदुःखमोहात्मनान्वितत्वादेः साधनस्य साध्यविपर्ययव्याप्ततया विरुद्धत्वात्।

[सांख्य-योग दर्शनों में माना गया] यह परिणामवाद का सिद्धान्त प्रमाणों की दृष्टि से निन्दनीय (खण्डनीय) है। अचेतन प्रकृति (प्रधान) बिना किसी चेतन सत्ता का आश्रय लिये हुए प्रवृत्त नहीं हो सकती। स्वर्णादि से जो कंगन आदि बनाने के लिए उपादान (Material) कारण हैं, [इन आभूषणों का निर्माण करने के समय] स्वर्णकार आदि चेतन आधार प्राप्त होते हैं। 'सुख, दुःख और मोह के रूप से युक्त होना' आदि* जो साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है उसकी व्याप्ति तो साध्य के विरुद्ध स्थानों में भी है। [यहाँ सांख्यों के अनुसार साध्य है—चेतन सत्ता का बिना सहारा लिये हुए ही प्रकृति का सुख, दुःख और मोहात्मक पदार्थों का कारण होना। इसका उलटा है—चेतन सत्ता का सहारा लेकर सुख, दुःख और मोहात्मक पदार्थों का कारण बनना। उपर्युक्त साधन (हेतु) अर्थात् 'सुख, दुःख और मोह से युक्त होना' इसी साध्य-विपर्यय से व्याप्त होता है। दूसरे शब्दों में—सुखादि से युक्त वही होगा जो चेतन का सहारा लेकर सुखादि से युक्त पदार्थों का कारण बन सकता है। यदि

---

* देखिए, सांख्यदर्शन—'ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्'। तथा च प्रयोगः-विमतं भावजातम्···' इत्यादि। (पृ० ६४०)।

साधन साध्याभाव से व्याप्त हो तो विरुद्ध हेतु नाम का हेत्वाभास होता है।] अतः यहाँ पर उसी प्रकार का विरुद्ध हेतु है जिस तरह किसी वस्तु को नित्य सिद्ध करने के लिए हेतु दें कि 'यह उत्पन्न होती है'। [उत्पन्न होने से तो कोई वस्तु अनित्य (साध्याभाव) ही सिद्ध हो जायगी, नित्य नहीं। उसी तरह सांख्यों के द्वारा, यह सिद्ध करने के लिए कि प्रकृति चेतन की सहायता नहीं लेते हुए भी सुखादि से युक्त पदार्थों को उत्पन्न करती है, दिया गया साधन ठीक उलटी चीज की ही सिद्धि कर देगा।]

स्वरूपासिद्धत्वाच्च। आन्तराः खल्वमी सुखदुःखमोहा बाह्येभ्यश्चन्दनादिभ्यो विभिन्नप्रत्ययवेदनीयेभ्यो व्यतिरिक्ता अध्यक्षमीक्ष्यन्ते। यद्यमी सुखादिस्वभावा भवेयुस्तदा हेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत्। न ह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति।

इसके अतिरिक्त उक्त साधन स्वरूपासिद्ध भी है। ये सुख, दुःख और मोह आन्तरिक भाव (अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा ज्ञेय) हैं जब कि चन्दनादि पदार्थ बाह्य भाव (चक्षुः, श्रोत्र आदि बाहरी इन्द्रियों से ग्राह्य) हैं अतः ये (चन्दनादि) दूसरे प्रत्ययों ('साधनों) के रूप में ज्ञेय होते हैं तथा सुखादि उनसे अलग रहकर इन्द्रियों के ऊपर दिखलाई पड़ते हैं। [स्वरूपासिद्ध वह हेतु है जो पक्ष में न रहे जैसे—शब्द एक गुण है क्योंकि यह चाक्षुष है। यहाँ चाक्षुषत्व-हेतु पक्ष (शब्द) में नहीं रहता है। उसी प्रकार चन्दनादि पदार्थों (पक्ष) में सुख, दुःख और मोह का अन्वय (हेतु) रखते हैं जो असिद्ध है। सुखादि आन्तर भाव हैं चन्दनादि बाह्य भाव। दोनों में एकता नहीं है अर्थात् एक ही (अन्तर या बाह्य) प्रत्यय से दोनों का बोध नहीं होता। सुख और विषय विभिन्न प्रत्ययों से ज्ञेय हैं अतः दोनों का एक ही स्वभाव नहीं हो सकता। दोनों को एक मान लेने पर दोष भी होता है।]

यदि चन्दनादि का स्वभाव ही सुखादि होता तो हेमन्त काल में भी चन्दन सुख ही देता। ऐसा तो नहीं होता कि चन्दन कभी अ-चन्दन हो जाता है। [स्वभाव का अर्थ निरन्तर सम्बन्ध होना ही है। यदि सुख चन्दन का स्वभाव है तो कभी छूटना नहीं चाहिए। तब क्या कारण है कि शीतकाल में वह सुखद नहीं होता ? अवश्य ही चन्दन सुख-स्वभाव नहीं है।] उसी प्रकार ग्रीष्मकाल

में भी कुंकुम-लेप से सुख मिलता। ऐसी बात तो नहीं होती कि कभी-कभी कुंकुम का लेप अपना स्वभाव (सुख) छोड़कर अकुंकुम-लेप हो जाता है।

एवं कण्टकः क्रमेलकस्येव मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। न ह्यसौ काँश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्माच्चन्दनकुङ्कुमादयो विशेषाः कालविशेषाद्यपेक्षया सुखादिहेतवो न तु सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्। तस्माद्धेतुरसिद्ध इति सिद्धम्।

इसी प्रकार काँटा जैसे ऊँट को सुख देता है उसी प्रकार मनुष्यादि प्राणियों को भी सुख देने लगता। ऐसी बात नहीं है कि कुछ लोगों के लिए ही वह काँटा (दुःखद) है। इसलिए चंदन, कुंकुम आदि पदार्थ (विशेष) किसी विशेष काल आदि में (उन पर निर्भर करके ही) सुख, दुःख, मोह उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं कि उनका स्वभाव ही सुखादि है—यह जानना चाहिए। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उक्त हेतु (सुखादि-उत्पादक होना) असिद्ध है। [तात्पर्य यह है कि प्रकृति को सुखादि के रूप में सांख्य लोग तभी सिद्ध करते हैं जब संसार के पदार्थों को सुखादि-उत्पादक मानें। लेकिन हम ऊपर सिद्ध कर चुके कि कोई भी पदार्थ स्वभावतः सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक नहीं है। परिस्थितियाँ उसे वैसा बना देती हैं। अतः प्रकृति को सिद्ध करने वाले अनुमान में हेतु ही असिद्ध (Unproved) है। अब प्रधान के लिए दिये गये श्रुतिप्रमाण का भी खंडन करते हैं।]

(१ क. प्रकृति के लिए श्रुति-प्रमाण भी नहीं है)

नापि श्रुतिः प्रधानकारणत्ववादे प्रमाणम्। यतः—'यदग्ने रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छान्दोग्य० ६।४।१) इति च्छान्दोग्यशाखायां तेजोऽबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि समाम्नातानि तान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्र श्रौतप्रत्यभिज्ञायाः प्राबल्याल्लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसंभवाच्च तेजोऽबन्नात्मिका जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जचतुष्टयस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिरवसीयते।

प्रधान (प्रकृति) को [जगत् का] कारण बतलाने वाले सिद्धान्त [की पुष्टि] के लिए श्रुति भी प्रमाण नहीं हो सकती। कारण यह है कि छान्दोग्य-

शाखा में—'अग्नि का जो लाल रूप है वह तेज का रूप है, उजला रूप जल का और काला रूप अन्न का है' (छां० ६।४।१)—इस प्रकार तेज, जल और अन्न रूपी प्रकृति के लाल, उजला और काला, ये तीन रूप दिये गये हैं; वे तीनों रूप ही यहाँ (='अजामेकाम्' श्वे० ४।५ में) भी प्रत्यभिज्ञा (Recognition) से जाने जाते हैं (= वही अर्थ यहाँ भी है)। यहाँ पर एक तो वैदिक प्रत्यभिज्ञा (ऊपर के अनुसार) प्रबल है, दूसरे लोहित आदि शब्दों में मुख्यार्थ ग्रहण करना संभव भी है। [सांख्य में लोहित आदि शब्दों का मुख्यार्थ न लेकर लक्षणा से, रञ्जकत्व आदि धर्मों की समानता देखकर इनका अर्थ रजस् , सत्त्व, तमस् (तीन गुण) के रूप में किया गया है। परंतु शंकराचार्य इनका खंडन करके कहते हैं कि जब मुख्य अर्थ लेना संभव हो है, तब लक्षणा क्यों लें ?] इसलिए इस श्रुति (छां० ६।४।१) का अर्थ यही हुआ कि तेज, जल और अन्न-रूपी प्रकृति ही जरायुज (गर्भाशय से उत्पन्न), अण्डज (पक्षी, सर्प, मछली आदि), स्वेदज (पसीने या गर्मी से उत्पन्न—कीड़े, मच्छड़, खटमल आदि) तथा उद्भिज्ज (पृथ्वी को फाड़कर निकलनेवाले—पेड़-पौधे), इन चारों प्रकार के जीवसमूह का कारण है।

यद्यपि तेजोऽबन्नानां प्रकृतेर्जातत्वेन योगवृत्त्या न जायत इत्यजत्वं न सिध्यति, तथापि रूढिवृत्त्यावगतमजात्वमुक्तप्रकृतौ सुखावबोधाय प्रकल्प्यते। यथा 'असौ वादित्यो देवमधु' (छान्दोग्य० ३।१।१) इत्यादिवाक्येनादित्यस्य मधुत्वं परिकल्प्यते, तथा तेजोऽबन्नात्मिका प्रकृतिरेवाजेति। अतोऽजामेकामित्यादिका श्रुतिरपि न प्रधानप्रतिपादिका।

चूँकि तेज, जल और अन्न प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं इसलिए यद्यपि इन्हें 'न जन्म लेनेवाला' कहकर यौगिक संज्ञा (वृत्ति) के रूप में 'अजा' नहीं कह सकते, तथापि रूढि-संज्ञा के रूप में उस प्रकृति को अजा (बकरी) इसलिए कहते हैं कि आसानी से समझ में आ जाये। [उपर्युक्त श्रुति में 'अजा' शब्द आया है। अजा के दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। एक तो रूढिवृत्ति (Convention) से बकरी के अर्थ में, दूसरा योगरूढि से 'न जन्म लेनेवाली प्रकृति' के अर्थ में, जो पुरुष के अलावे दूसरा तत्त्व है (सांख्य में)। शांकर दर्शन में 'अजा' को केवल रूढि-अर्थ में ही लेते हैं जिससे 'बकरी' अर्थ ही निष्पन्न होता है। बकरी के अर्थ में अजा-शब्द रूपक के द्वारा प्रमेय का आसानी से बोध कराता है। 'यह ब्राह्मण सूर्य है' जैसे इस रूपक—वाक्य में

ब्राह्मण में वर्तमान तेजस्विता का प्रतिपादन करना अभीष्ट है तथा सूर्य के रूपक से प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अजा (बकरी) का बहुत से एक तरह के बच्चे उत्पन्न करने का रूपक लेने से यह ज्ञात होता है कि तेज, जल और अन्न से बनी हुई भूतप्रकृति भी बहुत से सरूप विकारों को उत्पन्न करती है ।] जैसे—'वह आदित्य देवताओं का मधु है' (छां० ३।१।१) इसमें तथा अन्य वाक्यों में आदित्य के मधु (मोहक—देवमोहक) होने की कल्पना की गई है वैसे ही तेज, जल और अन्न से निर्मित प्रकृति ही अजा है । [अग्नि में दी गई आहुति आदित्य के पास उपस्थित होती है । इस नियम से अग्नि में दिये गये सोम, घृत, दूध आदि द्रव्यों की आहुति किरणों के द्वारा रस के रूप में आदित्य के पास पहुँचती है । जैसे मधुकर फूलों से रस लेकर मधु का संचय करते हैं वैसे ही मंत्ररूपी मधुकर वेदों में कहे गये कर्मरूपी फूलों से, द्रव्यों से निष्पन्न अमृत, किरणों के द्वारा सूर्यमंडल में ले आते हैं । इस आदित्यामृत को देखकर देवता तृप्त होते हैं । यही कारण है कि आदित्य को मधु कहा गया है ।]

इसलिए 'अजामेकाम्' (श्वे० ४।५) इत्यादि श्रुति भी प्रधान (प्रकृति) का प्रतिपादन करनेवाली नहीं है ।

विशेष—'अजा' का अर्थ अजन्मा न लेकर बकरी (छाग) लेने से शंकर को मौका मिल जाता है कि प्रकृति को एक पृथक् तत्त्व स्वीकार न करके दृश्यमान जगत् में व्यावहारिक वस्तु मान लेंगे । यदि प्रकृति अजा (अजन्मा) होती तो ब्रह्म की तरह ही इसकी स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ती । इस प्रकार सांख्य-दर्शन में प्रकृति की सिद्धि के लिए दी गई श्रुति का दूसरा अर्थ लेकर श्रुति-प्रमाण से भी प्रकृति की सिद्धि नहीं होने दी गई । शांकर-दर्शन में प्रकृति संसार को कहते हैं जो पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है ।

(१ ख. सांख्य-दर्शन के दृष्टान्त का खण्डन)

यदवादि निदर्शनं पूर्ववादिना—क्षीरादिकमचेतनं चेतनानधिष्ठितमेव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तत इति । नैतद्रमणीयम् । बुद्धिविशेषशालिनः परमेश्वरस्य तत्राप्यधिष्ठातृत्वाभ्युपगमात् । न च परमेश्वरस्य करुणया प्रवृत्त्यङ्गीकारे प्रागुक्तविकल्पावसरः । सृष्टेः प्राक् प्राणिनां दुःखसंबन्धासंभवेऽपि तन्निदानादृष्टसंबन्धसंभवेन तत्प्रहाणेच्छया प्रवृत्त्युपपत्तेः ।

[उक्त प्रकृति की सिद्धि के लिए] पूर्वपक्षी (सांख्य) ने जो उदाहरण दिया

है कि दूध आदि अचेतन होने पर भी तथा चेतन का बिना सहारा लिये ही बच्चे के पोषण के लिए [माता के स्तन में] उतर आते हैं, वह उदाहरण ठीक नहीं है। कारण यह है कि एक प्रकार की बुद्धि लिये हुए परमेश्वर वहाँ भी अधिष्ठाता (आधार) के रूप में मानना ही पड़ता है।

यदि 'करुणा (दया) के कारण ईश्वर की प्रवृत्ति होती है' ऐसा मानें तो आपके द्वारा आरोपित विकल्पों को अवसर नहीं मिलता। [सांख्य-दर्शन में ईश्वर की 'करुणया प्रवृत्ति' की हँसी उड़ाई गई है।* उसमें कहा गया है कि यदि करुणा से ईश्वर की प्रवृत्ति मानते हैं तो दो विकल्प हैं, उनमें कोई तो ठीक होता। पर दोनों ही परास्त हो जाते हैं। वे विकल्प हैं—(१) परमेश्वर सृष्टि के पूर्व ही करुणा से प्रवृत्त होता है, (२) परमेश्वर सृष्टि के बाद करुणा से प्रवृत्त होता है। शंकराचार्य इस 'करुणया प्रवृत्ति' को मानते हैं। इसलिए कहते हैं कि आपके आरोपित विकल्प नहीं लग सकेंगे।]

सृष्टि के पूर्व यद्यपि प्राणियों का सम्बन्ध दुःख से नहीं है [जिन्हें दूर करने के लिए ईश्वर में करुणा उत्पन्न होगी], तथापि दुःखों के निदान (कारण रूप) अदृष्ट के साथ तो सम्बन्ध होना सम्भव है। बस, उसी [अदृष्ट] को नष्ट करने की इच्छा से [ईश्वर की] प्रवृत्ति सिद्ध की जा सकती है। [सांख्य में उक्त विकल्पों में प्रथम के साथ यह आपत्ति थी कि सृष्टि के पूर्व तो जीवों में शरीर है नहीं और दुःख शरीर पर ही निर्भर करता है। अतः जीवों में जब दुःख ही नहीं है तो ईश्वर में दुःख-हरण की इच्छा ही क्यों उत्पन्न होगी ? इसी का उत्तर शंकर ने दिया है।]

किं च पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रधानप्रवृत्तिरित्युक्तं तद्विवेक्तव्यम्। किं प्रधानं केवलं भोगार्थं प्रवर्तते किं वा केवलमोक्षार्थमाहोस्विदुभयार्थम् ? न तावदाद्यः कल्पोऽवकल्पते। अनाधेयातिशयस्य कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्य तात्त्विकभोगासंभवात्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। येन हि प्रयोजनेन प्रधानं प्रवर्तितं तदनेन विधातव्यम्। भोगेन चैतत्प्रवर्तितमिति तमेव विदध्यान्न मोक्षमिति।

---

* देखिये—सां० द०—यस्तु परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः; स गर्भस्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्टयुत्तरकालं वा ? (पृ० ६४४)।

इसके अतिरिक्त आपने (सांख्य-दार्शनिकों ने) जो कहा है कि पुरुष के काम के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है, उसका विश्लेषण (स्पष्टीकरण) कीजिये। क्या प्रधान केवल भोग के लिए प्रवृत्त होता है या केवल मोक्ष के लिए या दोनों कामों के लिए ?

पहला विकल्प ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पुरुष अतिशय* (सुखप्राप्ति, दुःखनिरोध आदि के अतिशय) से रहित है तथा जो कूटस्थ (निर्विकार) एवं नित्य भी है उसका तात्त्विक भोग (प्रकृति के द्वारा परिणत तत्त्वों का भोग) असंभव है। दूसरे, ऐसा होने से पुरुष को मोक्ष-प्राप्ति का कभी अवसर ही नहीं मिलेगा। प्रधान जिस काम के लिए प्रवृत्त हुआ है वही काम तो वह करेगा न ? यदि प्रधान [पुरुष के] भोग के लिए प्रवृत्त हुआ है तो वही विहित होगा, मोक्ष नहीं [क्योंकि पुरुष के मोक्ष के लिए तो प्रधान प्रवृत्त हुआ ही नहीं है।]

नापि द्वितीयः। चिद्धातोर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावतया कर्मानुभववासनानामसंभवेन प्रधानप्रवृत्तेः प्रागपि मुक्ततया तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। शब्दाद्युपभोगार्थमप्रवृत्तत्वेन प्रधानस्य तदजनकत्वप्रसङ्गाच्च। नापि तृतीयः। प्रागुक्तदूषणलङ्घनालङ्घितत्वात्। प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगाच्च।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि चेतन (पुरुष) का स्वभाव है नित्य रूप से शुद्ध, बुद्ध (जागृत) और 'मुक्त' रहना। कर्मों के अनुभव की छाप (वासना) उस पर नहीं पड़ सकती। वह प्रधान की प्रवृत्ति के पहले भी मुक्त ही है अतः [पुरुष के मोक्ष के लिए] प्रधान का प्रवृत्त होना असिद्ध है। [पुरुष विशुद्ध है अतः कर्मानुभव की वासनायें उस पर नहीं पड़ सकतीं। अनादि वासनाओं का आधार प्रकृति है। मुक्ति (स्वरूप में अवस्थिति) तो पुरुष को पहले से ही प्राप्त है। अतः फिर मुक्ति के लिए प्रकृति क्यों प्रयत्न करेगी ? इसके अतिरिक्त [जब पुरुष के मोक्ष के लिए ही प्रकृति प्रवृत्त होगी तब तो] शब्दादि के उपभोग के लिए उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी अतः प्रधान को शब्दादि का उत्पादक भी नहीं माना जा सकता।

तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त दोषों की परिधि से पार

---

* अतिशय = Excellences, विशेषतायें, सद्गुण।

हो ही नहीं सकते। [यदि प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और मोक्ष दोनों के लिए है तो भोग और मोक्ष दोनों में अलग-अलग लगाये गये दोष इस विकल्प में भी लग जायँगे। पुरुष कूटस्थ, नित्य तथा अतिशय-रहित है—वह तत्त्वों का भोग नहीं कर सकता। दूसरे, पुरुष स्वतः मुक्त है अतः प्रधान की प्रवृत्ति मोक्ष के लिये भी नहीं हो सकती। जब दोनों कामों के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति का पृथक्-पृथक् खण्डन हो जाता है तब दोनों कामों के लिए एक साथ भी प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।] इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि प्रकृति को उदासीन माना नहीं जा सकता। वास्तव में प्रवृत्त होना उसका स्वभाव ही है। [प्रवृत्ति=कार्य के रूप में परिणाम। परिणाम चंचलता से ही होता है। जब पुरुष को मोक्ष प्राप्त हो जायगा तब प्रकृति को उदासीन मानना पड़ेगा लेकिन प्रकृति किसी भी दशा में उदासीन नहीं हो सकती। फलतः मोक्ष नाम की कोई चीज रहेगी ही नहीं।]

ननु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः पुरुषार्थः। तस्यां जातायां सा निवर्तते कृतकार्यत्वादिति चेत्—तदसमञ्जसम्। अचेतनायाः प्रकृतेर्विचार्य कार्यकारित्वायोगात्। यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे तदर्थं पुनः प्रवर्तते एवमत्रापि पुनः प्रवर्तेत। स्वभावस्यानपायात्।

यहाँ पर सांख्य वाले कह सकते हैं कि सत्त्व और पुरुष को अलग-अलग रूप में समझना पुरुषार्थ (पुरुष का लक्ष्य) है। जब [पुरुषार्थ की प्राप्ति या सत्त्व और पुरुष के बीच] भेदज्ञान हो जाता है तब प्रकृति अपना कार्य समाप्त करके निवृत्त ही हो जायगी। यह सिद्धान्त भी संगत नहीं है। प्रकृति अचेतन है इसलिए विचार करके वह काम नहीं कर सकती [कि निवृत्त हो जाय और प्रवृत्त हो जाय।] जिस तरह यह प्रकृति शब्दादि की प्राप्ति कर लेने पर भी शब्दादि के लिए ही पुनः प्रवृत्त होती है, उसी तरह यहाँ भी उसकी पुनः प्रवृत्ति हो सकेगी। अपना स्वभाव तो छूटता नहीं। [सत्त्व और पुरुष का भेदज्ञान हो जाना प्रकृति के जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। उसके बाद प्रकृति इस तरह निवृत्त होगी कि पुनः कार्य नहीं कर सकेगी, ऐसी कोई बात नहीं। अचेतन प्रकृति अपने काम में लगी है–परिस्थितियों के वश में वह निवृत्त होती है और प्रवृत्त भी होती है। निवृत्त होने के बाद उसकी प्रवृत्ति फिर हो सकती है। प्रवृत्ति तो उसका स्वभाव है।]

किं च सा प्रकृतिर्विवेकख्यातिवशादुच्छिद्यते न वा ? उच्छेदे सर्वस्य संप्रति संसारोऽस्तमियात्। अनुच्छेदे न कस्यचिन्मोक्षः।

ननु प्रधानाभेदेऽपि तत्तत्पुरुषविवेकख्यातिलक्षणाविद्यासदसत्त्वनिबन्धनौ बन्धमोक्षावुपपद्येयातामिति चेत्—हन्त तर्हि कृतं प्रकृत्या। अविद्यासदसद्भावाभ्यामेव तदुपपत्तेः।

इसके अतिरिक्त भी हमारा (अद्वैत वेदांतियों का) एक प्रश्न है कि विवेकज्ञान होने के बाद प्रकृति का नाश होता है या नहीं ? यदि नाश होता है तो सबों का होगा, पूरा संसार ही नष्ट हो जायगा। [प्रत्येक जीव में अलग-अलग प्रकृति नहीं है। जीवों के लिए एक ही प्रधान है। यदि यह प्रधान नष्ट हो जाय तो विवेकज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठेगा—सब के साथ जीव मुक्त हो जायँगे।] यदि प्रधान का नाश नहीं होता है तो किसी को मोक्ष मिल ही नहीं सकेगा।

[अब अपने प्रतिपाद्य विषय पर पहुँचने का उपक्रम हो रहा है। वह विषय है प्रकृति-तत्त्व का खण्डन करके संसार की व्याख्या करने के लिए अविद्या का प्रतिपादन करना। ये सांख्य वाले कह सकते हैं कि] यदि हम प्रधान को [प्रत्येक पुरुष में] भिन्न-भिन्न न भी मानें फिर भी प्रत्येक पुरुष में अविवेकज्ञान (विवेकज्ञान का अभाव) के रूप में जो अविद्या है उसके होने पर निर्भर करने वाले बन्धन (Bondage) की तथा न होने पर निर्भर करनेवाले मोक्ष (Release) की सिद्धि तो हो ही जाती है। हे महाराज ! तब आप प्रकृति को लेकर अपना सिर क्यों पीट रहे हैं, उसे छोड़ दीजिये। [प्रकृति को बिना माने ही] अविद्या के होने और न होने से ही उन दोनों (बन्धन-मोक्ष) की सिद्धि हो जायगी। [प्रकृति से जो काम होता है उसे अविद्या के द्वारा ही सिद्ध करना शंकराचार्य का लक्ष्य है। हाँ, अविद्या की अपेक्षा जहाँ पर प्रकृति में गुणों का आधिक्य है, उन गुणों का खण्डन कर देते हैं। जैसे प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिए कार्यरूप में परिणत होती है, अविद्या नहीं। इसलिए प्रकृति के इस कार्य का खण्डन ही कर दिया गया।]

विशेष—यहाँ प्रकृति और अविद्या की तुलना दो विभिन्न दर्शनों के दृष्टिकोणों से करनी आवश्यक है। प्रकृति सांख्य-योग में स्वीकृत है, अविद्या वेदान्त (अद्वैत) में। इस रूप-रेखा से कुछ स्पष्टीकरण सम्भव है—

प्रकृति	अविद्या
(१) प्रकृति एक स्वतंत्र तत्त्व है।	(१) अविद्या एक स्वतंत्र तत्त्व नहीं, ब्रह्म की शक्ति है।
(२) प्रकृति त्रिगुणात्मक है।	(२) अविद्या भी त्रिगुणात्मक है।
(३) प्रकृति अचेतन है।	(३) अविद्या भी अचेतन है।
(४) प्रकृति भावात्मक (Positive) है।	(४) अविद्या या आवरण और विक्षेप शक्तियों वाली माया भावात्मक ही है।
(५) प्रकृति संसार के प्रपंचों को उत्पन्न करती है।	(५) अविद्या भी संसार के प्रपंचों को उत्पन्न करती है।
(६) प्रकृति के कार्य सत् (Real) हैं।	(६) अविद्या के कार्य व्यावहारिक दृष्टि से सत् भले ही हों पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या हैं।
(७) पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिए प्रकृति इतने कार्य उत्पन्न करती है (परिणत होती है)।	(७) अविद्या बंधन में डालने वाले कार्यों को उत्पन्न करती है।
(८) प्रकृति कार्य पूरा करके स्वयं निवृत्त हो जाती है	(८) जीव को अविद्या के नाश के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।
(९) प्रकृति के कार्यों का पुरुष साक्षी है।	(९) अविद्या के कार्यों का ब्रह्म या जीव साक्षी नहीं होता।
(१०) प्रकृति में कोई शक्ति वस्तु को छिपाने के लिए नहीं है।	(१०) अविद्या में आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं।
(११) प्रकृति स्वतंत्र तत्त्व होने के कारण अनादि है।	(११) अविद्या स्वतंत्र तत्त्व न होने पर भी अनादि है।
(१२) प्रकृति के कार्य परिणामवाद पर आधारित हैं।	(१२) अविद्या के कार्य विवर्तवाद पर आधारित हैं।
(१३) पुरुष को मुक्ति प्रकृति-पुरुष में भेद के ज्ञान से होती है।	(१३) जीव को मुक्ति अविद्या के नाश से ब्रह्म का शुद्ध रूप में ज्ञान से होती है।
(१४) प्रकृति सभी जीवों के लिए एक ही है।	(१४) अविद्या सभी जीवों में अलग-अलग है।

यहाँ केवल कुछ भेदों को ही स्थापित करने की चेष्टा की गई है। विद्वानों को उन दर्शनों में दिये गये विचारों से अधिक तथ्य भी मिल सकेंगे।

नन्वविद्यापक्षेऽप्येष दोषः प्रादुःष्यादिति चेत्—तदेतत्प्रत्यवस्थानमस्थाने। न हि वयं प्रधानवदविद्यां सर्वेषु जीवेष्वेकामाचक्ष्महे येनैवमुपालभ्येमहि। अपि त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पद्यते तस्यैवाविद्या समुच्छिद्यते नान्यस्य। भिन्नायतनयोर्विरोधाभावात्।

अतो न समस्तसंसारोच्छेदप्रसङ्गदोषः। तस्मात्परिणामः परित्यक्तव्यः। स्वीकर्तव्यश्च विवर्तवादः।

अब यदि कोई पूर्वपक्षी कहे कि अविद्या को स्वीकार करने में भी तो [प्रकृति के ऊपर लगया गया] उक्त दोष आ ही जायगा, तो हमारा उत्तर है कि यहाँ पर उसका विचार करना ठीक नहीं। [अविद्या में दोष लगाना ठीक नहीं।] हम लोग प्रधान की तरह ही अविद्या को सभी जीवों में एक ही नहीं मानते, जिसके कारण आप लोग हम पर इस तरह उपालंभ (उलाहना, दोषारोपण) की वर्षा कर रहे हैं। अपितु अविद्या सभी जीवों में भिन्न-भिन्न है। [जिस जीव की अविद्या नष्ट हुई वह अपने स्वरूप अर्थात् ब्रह्म में लीन हो गया।] इसलिए जिस जीव की विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उसी जीव की अविद्या नष्ट होती है, दूसरे जीव की नहीं। इन दोनों (जीवों की अविद्याओं) का आधार भिन्न-भिन्न है, इसलिए विरोध की संभावना नहीं। [एक जीव की अविद्या दूसरे जीव की अविद्या से अलग है। यदि दोनों एक ही रहती तो एक की अविद्या के नष्ट होने पर दूसरे की अविद्या भी नष्ट हो जाती—दूसरे की ही क्यों, पूरे संसार के जीव की अविद्या नष्ट होती और सभी लोग ही साथ मुक्त हो जाते। यह संसार चलता ही कैसे ? प्रकृति एक होने के कारण ये दोष लगते हैं पर अविद्या में ऐसी कोई बात नहीं।]

अतः पूरे संसार के उच्छेद (समाप्ति) का प्रसंग आयगा ही नहीं, यह दोष [अविद्या मानने पर] नहीं हो सकेगा। फलतः परिणामवाद त्याज्य है। हमारा विवर्तवाद ही मानना चाहिए। [वस्तु जिस समय अपनी पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था में आ जाती है तब उसे **परिणाम** कहते हैं जैसे—दूध का दही में परिणाम। सभी लोगों के लिए परिणाम एक ही रहता है। सभी लोग दूध का परिणाम दही में देखेंगे। प्रकृति का परिणाम कार्यों के रूप में होता है जिसे सभी जीव एक ही तरह से समझते हैं। यही कारण है कि एक जीव के मुक्त होने पर सभी जीवों के मुक्त होने का प्रसंग आ जाता है। विवर्त में ऐसी बात नहीं हो सकती। वस्तु जब अपनी पहली अवस्था का त्याग किये ही बिना

दूसरी अवस्था के रूप में केवल प्रतीत होती है तब उसे **विवर्त** कहते हैं जैसे सीपी में रजत की प्रतीति (भान, apprehension) । साधन के भेद से प्रत्येक जीव की प्रतीति अलग-अलग होती है । अतः एक की प्रतीति के निवारण से सबों की प्रतीति दूर हो जायगी—ऐसी बात नहीं ।]

ननु जीवजडयोः सारूप्याभावेन चिद्विवर्तत्वं प्रपञ्चस्य न संपरिपद्यत इति प्रागवादिष्मेति चेत्—नैतत्साधु । न हि सारूप्यनिबन्धनाः सर्वे विभ्रमा इति व्याप्तिरस्ति । असरूपादपि कामादेः कान्तालिङ्गनादिष्विव स्वप्नविभ्रमस्योपलम्भात् । किं च कादाचित्के विभ्रमे सारूप्यापेक्षा नानाद्यविद्यानिबन्धने प्रपञ्चे ।

[पूर्वपक्षी फिर शंका कर सकते हैं कि] जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं,—जीव और जड़ (संसार) में समरूपता न होने के कारण यह प्रपञ्च चित् (जीव) का विवर्त नहीं माना जा सकता । [सामान्यतः यह देखा जाता है कि जब किसी वस्तु की दूसरे रूप में मिथ्याप्रतीति होती है तो दोनों समरूपता होनी चाहिए । सीपी की प्रतीति रजत के रूप में होती है क्योंकि दोनों उजले हैं, ठोस हैं आदि। सीपी की प्रतीति लौह के रूप में क्यों नहीं होती ? यदि संसार को जीव (ब्रह्म) का विवर्त मानते हैं तो दोनों में समरूपता होनी चाहिए परन्तु वह है कहाँ ? एक जड़ है, दूसरा चेतन । अतः जगत् को चित् का विवर्त मानना गलत है । इस पर शंकर के अनुयायी कहते हैं कि] यह सोचना ठीक नहीं । ऐसी कोई व्याप्ति (निश्चित नियम, अविनाभाव सम्बन्ध) नहीं है कि सभी विभ्रम समरूपता के आधार पर ही होते हैं । काम आदि की वृत्तियाँ यद्यपि असरूप हैं [रूप से ही हीन हैं, सरूपता-असरूपता तो बाद की चीजें हैं] फिर भी स्वप्न में कान्ता का आलिंगन करने के जैसा भ्रम हो जाता है । [काम का अर्थ है तीव्र अभिलाषा के रूप में चित्त का चंचल होना । काम का अधिक ध्यान करने से स्वप्न में कान्तालिंगन का भ्रम होता है । जागृतावस्था में भी हो सकता है यदि भावना बहुत प्रबल हो जाय । स्पष्ट है कि काम का ही विवर्त कान्तालिंगन है । किन्तु काम-वृत्ति स्वयं तो नीरूप है—अतः रूपरहित का भी विवर्त होता है । आकाश रूपरहित है पर नीलापन आदि का भ्रम होता है । उसी तरह जीव और संसार की बात है । किसी तरह का साम्य दिखाकर तो समरूपता दिखाई जा सकती है । वास्तव में यह प्रश्न मनोविज्ञान का है । दो प्रकार की मिथ्या प्रतीति होती है—साधार और निराधार । साधार मिथ्याप्रतीति भ्रम (Illusion

है जिसमें किसी वस्तु की एक अवस्था दूसरी अवस्था के रूप में या सीपी चाँदी के रूप में जो दिखलाई पड़ती है वह भ्रम है। यहां रस्सी या सीपी की सत्ता है जो सारूप्य तथा मानसिक क्रियाओं के कारण बदली दिखाई पड़ती है। निराधार मिथ्या प्रतीति विभ्रम (Hallucination) है जिसमें किसी भी बाहरी वस्तु की सत्ता न होने पर भी केवल मानसिक क्रियाओं (भावना) के कारण किसी वस्तु की प्रतीति हो जाती है। कभी-कभी अपने कमरे में जगी अवस्था में भी हमें किसी व्यक्ति की उपस्थिति का भान हो जाता है। स्वप्न देखना, भूत-प्रेत देखना आदि ऐसी ही क्रियायें हैं। जहां तक भ्रम का सम्बन्ध है समरूपता होती है, किन्तु विभ्रम के लिए समरूपता नहीं, भावना चाहिए।]

दूसरी बात यह है कि कभी-कभी होने वाले विभ्रम में हमें समरूपता की आवश्यकता भले ही पड़े, अनादि-काल से चली आनेवाली अविद्या पर निर्भर करने वाले प्रपंच (संसार) के विषय में हमें ऐसे (सारूप्य) की कोई आवश्यकता ही नहीं।

तदवोचदाचार्यवाचस्पतिः—

१. विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ इति।

तदेतत्सर्वं वेदान्तशास्त्रपरिश्रमशालिनां सुगमं सुघटं च।

इसे आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—'यह प्रपंच (संसार) तो अपरिणामी ब्रह्म का विवर्त है तथा अनादि वासना (छाप, अविद्या) से उत्पन्न होने के कारण समरूपता की आवश्यकता ही नहीं है।' यह सब कुछ वेदान्त-शास्त्र में परिश्रम करने वाले लोगों के लिए सुगम तथा मान्य है।

(२. वेदान्त सूत्र की विषय-वस्तु)

तच्च वेदान्तशास्त्रं चतुर्लक्षणम्। भगवता बादरायणेन प्रणीतस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं विषय इति शंकराचार्याः प्रत्यपीपदन्। तत्र प्रथमे समन्वयाध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येण पर्यवसानम्। द्वितीयेऽविरोधाध्याये सांख्यादितर्कविरोधनिराकरणम्। तृतीये साधनाध्याये ब्रह्मविद्यासाधनम्। चतुर्थे फलाध्याये विद्याफलम्।

वह वेदान्तशास्त्र चार अध्यायों में है। [प्रत्येक अध्याय का एक-एक

प्रतिपाद्य विषय या लक्षण होने के कारण इसे चतुर्लक्षणी कहते हैं।] शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है कि भगवान् बादरायण के द्वारा रचित इस वेदान्त-शास्त्र का विषय प्रत्यक् (जीवात्मा) और ब्रह्म की एकता का प्रदर्शन करना है। प्रथम अध्याय को समन्वयाध्याय कहते हैं जिसमें सिद्ध किया गया है कि सारे वेदान्त (उपनिषद्) वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में ही समीहित है। द्वितीय अध्याय अविरोधाध्याय कहलाता है जिसमें सांख्य आदि दर्शनों के तर्कों से उत्पन्न विरोध का निराकरण किया गया है। तृतीय अध्याय साधनाध्याय है जिसमें ब्रह्मविद्या की सिद्धि की गई है। चतुर्थ अध्याय को फलाध्याय कहते हैं जिसमें ब्रह्मविद्या का फल निर्दिष्ट है।

तत्र प्रत्यध्यायं पादचतुष्टयम्। तत्र प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गं वाक्यजातं मीमांस्यते। द्वितीयेऽस्पष्ट-ब्रह्मलिङ्गमुपास्यविषयम्। तृतीये तादृशं ज्ञेयविषयम्। चतुर्थेऽव्यक्ताजापदादि संदिग्धं पदजातमिति।

अविरोधस्य द्वितीयस्य प्रथमे सांख्ययोगकणादादि स्मृति-विरोधपरिहारः। द्वितीये सांख्यादिमतानां दुष्टत्वम्। तृतीये पञ्चमहाभूतश्रुतीनां जीवश्रुतीनां च परस्परविरोधपरिहारः। चतुर्थे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः।

उनमें प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। **प्रथम अध्याय** के प्रथम पाद में स्पष्ट रूप से (प्रत्यक्षतः) ब्रह्म को बतलाने वाले वाक्यों की मीमांसा हुई है। द्वितीय पाद में ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करनेवाले उपासना-विषयक वाक्यों की मीमांसा है। तृतीय पाद में उसी तरह के (ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करनेवाले ज्ञेय-विषयक वाक्यों की [समीक्षा है] और चतुर्थ पाद में 'अव्यक्त' 'अजा' आदि संदिग्ध शब्दों की समीक्षा हुई है। [एक श्रुति है—'महतः परमव्यक्तम्' (का० १।३।११)। दूसरी है—'अजामेकाम्' (श्वे० ४।५)। इनमें अव्यक्त, अजा आदि शब्द संदिग्ध हैं कि सांख्य-दर्शन की प्रकृति का प्रतिपादन तो ये शब्द नहीं करते हैं ?]

अविरोध का निर्देश करनेवाले **द्वितीय अध्याय** के प्रथम पाद में सांख्य, योग और वैशेषिक आदि स्मृतियों (दर्शनों) के द्वारा किये जानेवाले विरोध का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में सांख्यादि दर्शनों के मतों की दोषात्मकता दिखलाई गई है। तृतीय पाद में पाँच महाभूतों का वर्णन करनेवाली श्रुतियों

और जीव-विषयक श्रुतिवाक्यों के परस्पर विरोध का निवारण किया गया है। चतुर्थ पाद में लिङ्गशरीर का वर्णन करनेवाली श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। [लिङ्गशरीर = पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (वायु), मन तथा बुद्धि—इन सतरह पदार्थों का संघात लिङ्गशरीर कहलाता है।]

तृतीयस्य प्रथमे जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपुरस्सरं वैराग्यम्। द्वितीये त्वंपदतत्पदार्थपरिशोधनम्। तृतीये सगुणविद्यासु गुणोपसंहारः। चतुर्थे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गान्तरङ्गाश्रमयज्ञशमादिसाधनम्।

चतुर्थस्य प्रथमे ब्रह्मसाक्षात्कारेण जीवतः पापपुण्यक्लेशवैधुर्यलक्षणा मुक्तिः। द्वितीये मरणोत्क्रमणप्रकारः। तृतीये सगुणब्रह्मोपासकस्योत्तरमार्गः। चतुर्थे निर्गुणसगुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यब्रह्मलोकावस्थानानि। तदित्थं ब्रह्मविचारशास्त्राध्यायपादार्थसंग्रहः।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोक जाने या न जाने के प्रश्न पर विचार करके वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय पाद में ['तत्त्वमसि' (छां ६।८।७) महावाक्य के] 'त्वम्' और 'तत्' पदों के अर्थ का अनुशीलन किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ज्ञान के विषय में गुणों का उपसंहार (अर्थात् अन्यत्र प्रतिपादित गुणों का संकलन) किया गया है। [जो लोग व्यावहारिक दृष्टि से सगुण की उपासना करते हैं। उनके दृष्टिकोण से उपास्य के गुणों का यहां पर संग्रह किया गया है।] चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म की विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने के लिये बहिरंग और अन्तरंग साधनों जैसे आश्रम, यज्ञ (बहिरंग) तथा शम (अंतरंग) आदि का निरूपण हुआ है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से जीते जी ही व्यक्ति को वह मुक्ति (जीवन्मुक्ति) मिलती है जिसमें पाप, पुण्य और क्लेश का सर्वथा विनाश हो जाता है। द्वितीय पाद में मरण और ऊपर उठने (स्वर्गगमन) के प्रश्न पर विचार किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले पुरुष के मरणोत्तर मार्ग का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मवेत्ता और सगुण ब्रह्मवेत्ता की क्रमशः विदेहमुक्ति और ब्रह्मलोक में अवस्थिति का निरूपण हुआ है।

इस प्रकार ब्रह्म-विचार-शास्त्र (वेदान्तसूत्र) के अध्यायों और पादों में वर्णित विषयों का संग्रह किया गया।

विशेष—प्रत्येक पाद में अधिकरण (Topic) तथा प्रत्येक अधिकरण में सूत्र हैं। नीचे प्रत्येक पाद के अधिकरणों और सूत्रों की संख्या दी जा रही है—

अध्याय	पाद	अधिकरण		सूत्र	
प्रथम	१	११	४०	३१	१३५
,,	२	७		३२	
,,	३	१४		४३	
,,	४	८		२९	
द्वितीय	१	१३	४७	३७	१५७
,,	२	८		४५	
,,	३	१७		५३	
,,	४	९		२२	
तृतीय	१	६	६७	२७	१८६
,,	२	८		४१	
,,	३	३६		६६	
,,	४	१७		५२	
चतुर्थ	१	१४	३८	१९	७८
,,	२	११		२१	
,,	३	६		१६	
,,	४	७		२२	
			१९२		५५६

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) पर विभिन्न दार्शनिकों ने टीका करके अपने विशिष्ट मार्गों का* प्रवर्तन किया है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत तथा पूर्णप्रज्ञ का द्वैत हम देख ही चुके हैं। फिर भी शंकराचार्य के भाष्य के समक्ष कोई भी समीचीन नहीं लगता। विभिन्न भाष्यकारों में मतभेद होने के कारण बादरायण का मूल अभिप्राय क्या था, यह कहना कठिन हो गया है। यहाँ पर विषयारंभ के पूर्व शांकर-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा।

जैसा कि स्वाभाविक है हम वेदों से ही भारतीय वाङ्मय की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्त के विषय में भी वही बात है। ऋग्वेद के सूक्तों में ही माया और ब्रह्म के सम्बन्ध की सूचनायें मिलती हैं। फिर भी वास्तविक वेदान्त वेद के अन्तिम भाग—उपनिषदों—से शुरू होता है जहाँ जीव और ब्रह्म के विषय में

* देखिये — पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४०१।

विशिष्ट कल्पनायें की गई हैं। संख्या में अनेक होने पर भी शंकराचार्य ने केवल ग्यारह उपनिषदों को मान्यता दी है। वेदान्त से उपनिषदों का ही बोध मुख्य रूप से होता है। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता में आ गया है। इसलिए उसे भी वेदान्त के अन्तर्गत ही रखते हैं। उपनिषद् और गीता में बिखरे हुए विचारों को बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में शृंखलाबद्ध किया। इस प्रकार वेदान्त के तीन प्रस्थान ग्रन्थ कहलाते हैं—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। शंकराचार्य ने तीनों पर व्याख्या लिखकर अद्वैतमत का प्रवर्तन किया।

शंकराचार्य (७८८–८२० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर **शारीरकभाष्य** लिखा जिसने अद्वैत वेदान्त की पताका फहरा दी। शंकराचार्य केरल प्रान्त के नम्बूदरी ब्राह्मण थे तथा गौडपाद के शिष्य श्री गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य थे। स्मरणीय है कि गौडपाद ने **मांडूक्य-कारिका** लिखी थी जो मायावाद का प्रथम शास्त्र ग्रन्थ है। शंकर ने इसपर भी टीका लिखी थी। ३२ वर्षों की अल्प आयु में भी शंकर का यश अक्षुण्ण है। इनका गद्य अपने ढंग का अद्वितीय है। इन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण करके वेदान्त मत की प्रतिष्ठा की तथा कई स्थानों पर मठों की स्थापना की। शंकर के समकालिक **मण्डनमिश्र** थे जिन्होंने मीमांसा में बहुत यश प्राप्त किया था परन्तु शंकर के ही प्रभाव से ये वेदान्त मत में दीक्षित हो गये। इन्होंने **ब्रह्मसिद्धि** नामक ग्रन्थ लिखा जिस पर वाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, चित्सुख (१२२५ ई०) ने अभिप्रायप्रकाशिका और आनन्दपूर्ण ने भावशुद्धि नाम से टीकायें की थीं। मण्डन ने वेदान्ती होने पर अपना नाम सुरेश्वराचार्य रखा था। शंकर के एक शिष्य पद्मपादाचार्य थे जिन्होंने शारीरकभाष्य पर **पञ्चपादिका** वृत्ति लिखी जिसमें केवल चतुःसूत्री का विवेचन है। पंचपादिका पर कई टीकायें लिखी गईं जिनमें प्रकाशात्मयति (१२०० ई०) की **विवरण** टीका प्रसिद्ध है। इसके नाम पर विवरण-प्रस्थान (Vivaraṇa School) ही बन गया। विवरण की दो टीकायें हैं—अखंडानंद सरस्वती (१५०० ई०) कृत तत्त्वदीपन तथा विद्यारण्य (१३५० ई०) कृत विवरणप्रमेयसंग्रह।

सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि (९०० ई०) ने **संक्षेपशारीरक** नामक एक पद्यबद्ध व्याख्याग्रन्थ लिखा। वाचस्पतिमिश्र (८५० ई०) ने शारीरकभाष्य पर अपनी सुप्रसिद्ध **भामती** नाम की टीका लिखी जो भाष्य के बाद अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी दो सुप्रसिद्ध टीकायें हैं—अमलानन्द (१२५०) की **कल्पतरु** टीका और अप्पयदीक्षित (१५५० ई०) की **परिमल** टीका। महाकवि श्रीहर्ष (११५० ई०) का **खण्डनखण्डखाद्य** वेदान्त का नैयायिक

विधि से विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है। चित्सुखाचार्य (१२२५ ई०) ने सुरेश्वर की **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर, ब्रह्मसिद्धि पर तथा शारीरकभाष्य पर टीकायें लिखकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रत्यक्तत्त्वदीपिका (चित्सुखी) के नाम से लिखा। प्रस्तुत सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधवाचार्य सन्यस्त होकर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपनी स्वतन्त्र कृति **पंचदशी** नाम से दी। शांकर-दर्शन के अन्य ग्रन्थों में आनन्दबोध का **न्यायमकरंद**, मधुसूदन सरस्वती की **अद्वैतसिद्धि** तथा **सिद्धान्तबिन्दु**, अप्पय दीक्षित का **सिद्धान्तलेशसंग्रह**, धर्मराजाध्वरीन्द्र की **वेदान्तपरिभाषा** एवं सदानन्द का **वेदान्तसार** प्रसिद्ध हैं।

(३. ब्रह्म की जिज्ञासा—प्रथम अधिकरण)

तत्र प्रथममधिकरणमथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र. सू. १।१।१) इति ब्रह्ममीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवं प्रसिद्धम्। ते च विषयादयः पञ्चावयवा निरूप्यन्ते। 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इत्येतद्वाक्यं विषयः। ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न वेति संदेहः। जिज्ञास्यत्वव्यापकयोः संदेहप्रयोजनयोः संभवासंभवाभ्याम्।

उस (ब्रह्मसूत्र) में पहला अधिकरण (topic) है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (अब इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा होती है—ब्र० सू० १।१।१) जिसमें ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तशास्त्र) के आरंभ का प्रतिपादन किया गया है। अधिकरण में पाँच खण्ड होते हैं, यह प्रसिद्ध ही है [= विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा संगति (या निर्णय)। देखिये—जैमिनिदर्शन।] अब विषय आदि उन पाँच अवयवों (organs) का निरूपण किया जाता है।

'आत्मा का दर्शन करना चाहिए' (बृहदारण्यक० २।४।५)--यह वाक्य **विषय** है। ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए या नहीं--यह **संदेह** है। जिज्ञासा के लिए सन्देह और प्रयोजन दोनों ही आवश्यक हैं। [किसी पक्ष में इन दोनों के रहने से जिज्ञासा] संभव है, कभी [अकेले के रहने से] असम्भव भी हो सकती है। [सन्देह वहीं होता है जहां किसी की सम्भावना और असंभावना दोनों हो। जिज्ञासा के साथ भी यही बात है, कहीं तो जिज्ञासा संभव है कहीं असंभव भी। कारण यह है कि किसी की जिज्ञासा तभी हो सकती है जब उसके विषय में सन्देह भी हो और जिज्ञासा का प्रयोजन (फल) भी मिले। जिस अर्थ के विषय में सन्देह

नहीं है, वस्तु पूर्ण निश्चित है, उसमें प्रयोजन रहने पर भी उसकी जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि वह वस्तु तो ज्ञात ही है। उसी तरह जहां जिज्ञासा का फल कुछ नहीं हो वह वस्तु सन्दिग्ध होने पर भी जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि वह ज्ञान निरर्थक हो जायगा। इसलिए जहां दोनों नहीं होंगे वहां जिज्ञासा नहीं होगी। जहां दोनों होंगे वहाँ जिज्ञासा हो सकेगी। दो पक्षों के होने से ही सन्देह हो गया।]

(४. आत्मा की ज़िज्ञासा असंभव—सन्देह की असंभावना)

तत्र कस्येदं जिज्ञास्यत्वमवगम्यते? अहमनुभवगम्यस्य श्रुतिगम्यस्य वा? नाद्यः। सर्वजनीनेनाहमनुभवेन इदमास्पद-देहादिभ्यो विवेकेनात्मनः स्पष्टं प्रतिभासमानत्वात्। ननु स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्यानुभवात् अध्य-स्तात्मभावदेहालम्बनोऽयमहंकार इति चेन्न। बाल्याद्यवस्थासु भिन्नपरिमाणतया बदरामलकादिवत्परस्परभेदेन शरीरस्य प्रत्य-भिज्ञानानुपपत्तेः।

आप किसे जिज्ञास्य समझते हैं—'अहम्' (मैं) इस अनुभव से ज्ञेय (आत्मा) को या श्रुति के द्वारा ज्ञेय (आत्मा) को? पहला विकल्प तो ठीक नहीं ही है। 'अहम्' का अनुभव सर्वजनीन रूप से प्रसिद्ध है, देह आदि का अनुभव 'इदम्' (यह—Third person) शब्द से होता है। तो, देहादि से आत्मा स्पष्टतः अलग प्रतीत होती है। [संदेह ही नहीं है तो जिज्ञासा क्यों होगी? अनिश्चित वस्तु की ही जिज्ञासा होती है।]

[आत्मा की जिज्ञासा असंभव मानने वाले पूर्वपक्षी कहते हैं कि] यहाँ पर कुछ लोग **शंका** कर सकते हैं कि आपका यह 'अहम्' कहना तो शरीर पर आत्मा का आरोपण करने से ही संभव है क्योंकि जब कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ', तो आत्मा को भी शरीर के धर्मों का आधार बना देते हैं। [मोटा, पतला होना शरीर के धर्म हैं। शरीर जड़ है, किन्तु उक्त वाक्यों में आत्मा पर जड़ के धर्मों का आरोपण किया गया है—अहम् (आत्मा के लिए सर्वनाम) और स्थूलः (देह के लिए विशेषण) दोनों को समानाधिकरण बनाकर चेतन पर जड़ के धर्मों का आरोपण हुआ है। इसलिए देह से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु अनुभव-पथ में नहीं आती। यही कारण है कि आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए जिससे आत्मा और देह का भेद स्पष्ट हो। इस शंका के उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं कि] उक्त शंका ठीक नहीं। [यदि

शरीर और आत्मा में भेद नहीं होता] तो, बाल्य, युवा आदि अवस्थाओं में शरीर का परिमाण भिन्न-भिन्न रहता है इसलिए जैसे बेर और आँवले में परस्पर भेद होता है उसी तरह शरीर की [विभिन्न अवस्थाओं में परस्पर भेद होने के कारण 'मैंने युवावस्था में सुख भोगा', 'बचपन में मैं खेलता था' आदि की] प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। [इन अवस्थाओं में शरीर एक ही नहीं रहता— यह तो स्पष्ट है। साथ-साथ यह भी स्पष्ट हैं कि सभी अवस्थाओं में अनुभवकर्ता एक ही रहता है। अतः देह (बदलने वाली) और आत्मा (न बदलने वाली) दोनों में भेद तो है ही। चूँकि भेद स्पष्ट है अतः आत्मा की जिज्ञासा व्यर्थ है।]

अथोच्येत—यथा पीलुपाकपक्षे पिठरपाकपक्षे वा कालभेदेनैकस्मिन् वस्तुनि पाकजभेदो युज्यते तथैकस्मिञ्शरीराभिधे वस्तुनि कालभेदेन परिमाणभेदः। अत एव लौकिकाः शरीरमात्मनः सकाशादभिन्नं प्रतिपद्यमानाः प्रत्यभिजानते चेति। न तद्भद्रम्। मणिमन्त्रौषधाद्युपायभेदेन भूमिकाधानवत् नानाविधान्देहान् प्रतिपद्यमानस्याहमालम्बनस्य भिन्नस्यात्मनः शरीराद्भेदेन भासमानत्वात्।

[पूर्वपक्षियों को अभी भी खटका लगा ही है। वे सोचते हैं कि उक्त शंका की सफाई भी दे दी जा सकती है।] अब वे (पूर्वपक्षियों पर शंका करने वाले लोग) कह सकते हैं कि जैसे पीलुपाक-पक्ष (परमाणु की उत्पत्ति या नाश— वैशेषिकदर्शन में स्वीकृत) में या पिठरपाकपक्ष (पूरे पिण्ड की उत्पत्ति या नाश—न्यायदर्शन में स्वीकृत) में काल का भेद होने से एक ही वस्तु में पाकज (तेज या अग्नि से उत्पन्न) भेद हो सकता है (देखिये, औलूक्य-दर्शन), उसी प्रकार शरीर नामक वस्तु में, जो एक ही है, समय के भेद के कारण परिमाण का भेद हो सकता है। [परिमाणगत भेद का स्पष्टीकरण इसलिए किया गया कि परिमाण में भेद होने पर भी देह को एक ही समझा जाय—इसलिए देह ही 'अहम्' प्रतीति का विषय है। जड़ और चेतन में समानाधिकरणता है ही अतः आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए कि भेद स्पष्ट हो।] इसलिए तो लोकायत-मत (चार्वाक) के लोग शरीर को आत्मा से पृथक् नहीं समझते और [विभिन्न अवस्थाओं में पृथक् परिमाण से युक्त होने पर भी शरीर को] प्रत्यभिज्ञा से एक ही जानते हैं।

हमारा (पूर्वपक्षियों का) कहना है कि यह ठीक नहीं। मणि, मंत्र, औषधि आदि उपायों का प्रयोग करके [जैसे कोई व्यक्ति कभी हाथी, कभी बाघ, कभी

राक्षस और कभी मनुष्य बनकर] विभिन्न भूमिकाओं (Role) का ग्रहण करता है, वैसे ही नाना प्रकार के शरीरों में जा-जा कर 'अहम्' शब्द पर अवलंबित (Dependent, attached to) आत्मा जो भिन्न (शरीर से) है, वह शरीर से भिन्न रूप में प्रतीत होती है। [चूँकि आत्मा शरीर से भिन्न लगती है अतः ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए।]

विशेष—आत्मा की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, यह पूर्वपक्ष बहुत दूर तक जा रहा है। इसके दो खंड हैं। एक में तो **संदेह** की असंभावना दिखाकर अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करते हैं, दूसरे में **प्रयोजन** की असंभावना दिखायेंगे। संदेह की असंभावना दिखाने में पूर्वपक्षी भी विरोधी दल से भिड़ा हुआ है। पूर्वपक्षी शरीर और आत्मा को स्पष्ट रूप से पृथक् मानकर संदेह का अवसर ही नहीं रहने देता जब कि इसके विरोधी दोनों में अभेद के प्रदर्शन में लगे हैं कि स्पष्टीकरण के लिए आत्मा की जिज्ञासा होनी ही चाहिए, नहीं तो जड़ और चेतन की पारस्परिक संसृष्टि (Mixture) से संदेह बना ही रहेगा।

अब पूर्वपक्षी अपने पक्ष की पुष्टि में आत्मा और शरीर का भेद और अधिक स्पष्ट करता है।

अतएव चक्षुरादीनामप्यहमालम्बनत्वमशक्यशङ्कम्। 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' (न्या० कुसु० १।१५) इति न्यायेन चक्षुरादौ नष्टेऽपि रूपादिप्रतिसंधानानुपपत्तेः। नाप्यन्तःकरणस्याहमालम्बनत्वमास्थेयम्। अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति न्यायेन कर्तृकरणभूतयोरात्मान्तःकरणयोस्तक्षवासिवत्संभेदासंभवात्।

इसीलिए (अर्थात् जैसे शरीर से आत्मा भिन्न है उसी तरह इन्द्रियों से आत्मा के भिन्न होने के कारण) चक्षु आदि इन्द्रियों में 'अहम्' की प्रतीति होती है—ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती। यह नियम है कि एक आदमी के देखे पदार्थ का स्मरण दूसरा आदमी नहीं कर सकता (न्या० कु० १।१५), इस लिए चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी रूपादि विषयों का अनुचिन्तन (नष्ट द्रव्य को प्राप्त करने के लिए व्यापार = प्रतिसंधान) करना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त, अन्तःकरण (मन) को भी 'अहम्' का आधार नहीं मानना चाहिए। जो विरुद्ध धर्मों का अध्यास (आरोपण) है वही भेद है और जो कारणों का भेद है वही भेद-हेतु होता है—इस नियम से कर्ता और करण

के रूप में जो क्रमशः आत्मा और अन्तःकरण है उन दोनों में तादात्म्य (Identity संभेद) होना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार बढ़ई (तक्ष) और उसके बसूले (वासि) में। [जिस प्रकार बढ़ई और बसूले में तादात्म्य नहीं हो सकता क्योंकि बढ़ई कर्ता है और बसूला करण, कर्ता और करण में तादात्म्य नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा और मन में भी तादात्म्य नहीं होगा क्योंकि दोनों में भेद है—दोनों में एक पर कर्तृधर्म का आरोपण है (आत्मा = कर्ता है), दूसरे पर (मन पर) करण-धर्म का आरोपण है। विरुद्ध धर्मों का आरोपण होने से दोनों में भेद है—जब भेद ही स्पष्ट है तब जिज्ञासा क्यों करेंगे ?]

यद्यभेद एव नाद्रियते तर्हि 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि संख्यानमुत्सन्नसंकथं स्यात्। न स्यात्। एवं लोके शास्त्रे चोभयथा शब्दप्रयोगदर्शने मुख्यार्थत्वानुपपत्तौ 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिवदौपचारिकत्वेनोपपत्तेः।

[पूर्वपक्षियों की उक्त अभेद-स्थापना पर शंका होती है—] यदि आप अभेद मानते ही नहीं हैं तो 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ', 'मैं काला हूँ' इत्यादि का जो सम्यक् ज्ञान है उसकी जड़ तो मिट जायगी। [कोई नहीं कहेगा कि ये अनुभव हमें नहीं होते। सबों को मानना पड़ेगा कि मोटा, पतला, काला, गोरा का अनुभव सबों को होता है। यदि आत्मा और शरीर में भेद ही है, अभेद कभी नहीं तो ये वाक्य आते कैसे हैं ?] उत्तर में कहेंगे कि ऐसी बात नहीं। इस प्रकार लौकिक या शास्त्रीय वाक्यों में, कहीं भी जब शब्द-प्रयोग हो और मुख्य अर्थ संगत नहीं हो रहा हो तो 'मंच चिल्लाते हैं' इत्यादि वाक्यों की तरह लाक्षणिक मानकर तो उन वाक्यों की सिद्धि हो सकती है। कारण यह है कि शब्दों का प्रयोग दोनों प्रकार से (मुख्य वृत्ति और गौण वृत्ति से भी) होते देखा जाता है। [जिस प्रकार 'मंच चिल्लाते हैं' इस वाक्य में अचेतन मंचों पर चेतन के धर्म 'चिल्लाने' का आरोप करते हैं तब मुख्य वृत्ति से अर्थ नहीं लगता और निदान लक्षणावृत्ति (गौण वृत्ति) की सहायता लेनी पड़ती है। उसी प्रकार 'मैं' आत्मा पर शरीर के धर्म मोटा, पतला आदि का आरोप गौण वृत्ति से होता है। ऐसे व्यवहार (वाक्य-प्रयोग) असंभव नहीं हैं, उपपत्ति (Explanation) से युक्त हैं।]

न द्वितीयः। अहमनुभवगम्यस्यैव श्रुतिगम्यत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिश्रुतिभ्यो हि ब्रह्माव-

गम्यते । ब्रह्मभावश्च 'अहमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिष्वहंप्रत्ययगम्यस्यैव बोध्यते । तथा चेदमनुमानं समसूचि—विमतमजिज्ञास्यम्, असंदिग्धत्वात्, करतलामलकवत् ।

दूसरा विकल्प [कि श्रुति से ज्ञेय आत्मा की जिज्ञासा होती है] भी ठीक नहीं । जो आत्मा 'अहम्' के अनुभव से ज्ञेय है वही श्रुति से ज्ञेय हो सकती है । 'ब्रह्म सत्य है, ज्ञान और अनन्त है' (तै० २।१।१) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञान होता है और 'मैं आत्मा हूँ, 'ब्रह्म हूँ' (बृ० २।५।१९), 'वह तुम्हीं हो' (छां० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियों में 'अहम्' की प्रतीति (अनुभव) से ज्ञेय को ही ब्रह्म माना गया है । इस तरह निम्नोक्त अनुमान की सूचना मिलती है--

(१) विवादास्पद (आत्मा) अजिज्ञास्य है (प्रतिज्ञा)।

(२) क्योंकि इसके विषय में कोई सन्देह नहीं है (हेतु)।

(३) जिस प्रकार हाथ में विद्यमान आमलक-फल (उदाहरण)।

विशेष—यदि 'अहम्' के अनुभव से गम्य (Knowable) तथा सांसारिक सुख-दुःख का भोग करनेवाला जीव ही ब्रह्म होता तो भी इन श्रुतियों में विरोध की आशा नहीं हो सकती—'निष्फलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० ६।१९), 'अप्राणो ह्यमनाः' (मुं० २।१।२,), 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) आदि । इन सबों में सांसारिक सुख-दुःख, क्रियाओं आदि से आत्मा को पृथक् दिखाने की चेष्टा की गई है । ब्रह्म के लक्षण इनमें नहीं हैं । वास्तव में ये श्रुतियाँ जीव की प्रशंसा करने के लिए अर्थवाद के रूप में प्रस्तुत हैं । इस प्रकार संदेहाभाव में आत्मा की जिज्ञासा नहीं होगी—यह कहा गया । अब प्रयोजन की असंभावना दिखा कर वही बात सिद्ध करेंगे । इस प्रकार यह लम्बा पूर्वपक्ष कुछ दूर तक चलेगा ।

(४ क. आत्मा की जिज्ञासा असंभव—प्रयोजन का अभाव)

तथा फलं न फलभावमीक्षते । पुरुषैरर्थ्यत इति व्युत्पत्त्या निःशेषदुःखोपशमलक्षितं परमानन्दैकरसं च पुरुषार्थशब्दस्यार्थः सकलपुरुषधौरेयैः प्रेप्स्यते नैतत्सांसारिकं सुखजातम् । तस्यैहिकस्य पारलौकिकस्य च सातिशयतया च सक्षयतया च प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वानुपपत्तेः । यत्तत्परिपन्थि दुःखजातं तज्जिहास्यते । तच्चाविद्यापरपर्यायसंसार एव । कर्तृत्वादिसकलानर्थकरत्वादविद्यायाः ।

उसी प्रकार [आत्मा की जिज्ञासा का कोई प्रयोजन या फल भी नहीं हैं] जिसे फल आप लोग समझते हैं वास्तव में वह फल (प्रयोजन) हो ही नहीं सकता।

[अब जिसे आप लोग फल समझते हैं उसका हम उल्लेख करते हैं—] 'पुरुषों के द्वारा जिसकी कामना (√अर्थ्–धातु) की जाय'—यही व्युत्पत्ति है, इससे सभी अच्छे-अच्छे लोग पुरुषार्थ शब्द का अर्थ वह फल लेते हैं जिसमें सभी दुःखों का शमन हो जाय तथा परमानन्द का ही एकमात्र रस मिलता रहे। इस सांसारिक सुख-समूह का अर्थ वे लोग [पुरुषार्थ से कभी] नहीं लेते। सुख चाहे ऐहिक हो या पारलौकिक—उसमें अतिशयता (एक से बढ़कर दूसरा सुख होना, तारतम्य, Gradation) तथा सादृश्य (उसकी तरह का दूसरा सुख होना, Similarity) होने के कारण बुद्धिमान् लोग उसकी कामना कभी नहीं कर सकते। [सभी सुखों में तारतम्य लगा हुआ है। नौकरी पाने का सुख राज्य पाने के सुख से छोटा है। राज्यसुख स्वर्गसुख के सामने कुछ भी नहीं। इससे लगता है कि स्वर्ग का सुख भी किसी की अपेक्षा छोटा ही है। सुख के समान दूसरा सुख भी मिलता है। इसीलिए विद्वान् लोग निरतिशय तथा निरुपम आनंद की कामना करते हैं जिसमें तनिक भी दुःख की संभावना नहीं रहे।]

जो कुछ भी [उस परमानंद का] विरोधी दुःखसमूह है उसे छोड़ने की कामना की जाती है। वह दुःखसमूह और कुछ नहीं, यह संसार ही है जिसका दूसरा नाम अविद्या भी है। कारण यह है कि अविद्या ही कर्तृत्व आदि सभी अनर्थों को उत्पन्न करती है। [अविद्या के कारण ही प्राणी अर्थ में अनर्थ और अनर्थ में अर्थ की कल्पना करता है। वह वास्तव में किसी वस्तु का उत्पादक नहीं है, अविद्या के चलते ही वस्तुओं की उत्पत्ति केवल प्रतीत होती है परन्तु पुरुष अपने को ही कर्ता समझने लगता है। यह सब अविद्या के कारण होता है।]

समित्येकीकरणे वर्तते। सम्भेदादौ तथा चोपलम्भात्। तथा चात्मानं देहेनैकीकृत्य स्वर्गनरकमार्गयोः सरति येन पुरुषः स संसारोऽविद्याशब्दार्थः। तन्निवृत्तिः फलं फलवतामभिमतम्। तथा कथितम्—

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः। इति।

[संसार-शब्द में] 'सम्' उपसर्ग एकीकरण (Unification) के अर्थ में है जैसे संभेद, [संगम] आदि शब्दों में पाया जाता है। इस प्रकार आत्मा को

देह से एक मानकर स्वर्ग और नरक के मार्गों पर पुरुष जिसके द्वारा चलता है (सरति) वही संसार है जो अविद्या शब्द का अर्थ है। इस संसार की निवृत्ति ही [आत्मजिज्ञासा का] फल है, ऐसा फलवादी (वेदान्ती) लोग मानते हैं। जैसा कहा भी है--अविद्या का अस्तंगत होना मोक्ष है और अविद्या ही बन्धन मानी गयी है।'

विशेष—इन दो परिच्छेदों में पूर्वपक्षियों ने ब्रह्मजिज्ञासा का सम्भावित (Possible) प्रयोजन उद्धृत किया है जो वेदान्तियों की ही मान्यता है। अब वे पूर्वपक्षी यह दिखलायेंगे कि वास्तव में यह प्रयोजन है ही नहीं। उसके प्रदर्शन के बाद कहीं इस लम्बे पूर्वपक्ष का अन्त होगा।

तच्च काशकुशावलम्बनकल्पम्। आत्मयाथात्म्यानुभवेन सह वर्तमानस्य संसारस्य रूपरसवद्विरोधाभावेन निवर्त्यनिवर्तकभावात्। ननु सहानुवर्तमानो बोधः संसारं मा बाधिष्ट। सहावर्तमानस्तु बोधः प्रकाशस्तमोवद्बाधिष्यत इति चेत्—तदेतद्रिक्तं वचः। अहमनुभवादन्यस्यात्मज्ञानस्य मूषिकविषाणायमानत्वात्।

[आत्मजिज्ञासा के लिए 'संसार की निवृत्ति' को प्रयोजन के रूप में रखना] ठीक वैसा ही है जैसे डूबने वाला आदमी काश या कुश के पौधे को पकड़ कर बचना चाहे। आत्मा के यथार्थ अनुभव के साथ यह संसार चलता है। [प्राणी को आत्मा का ज्ञान संसार में रहकर ही होता है जैसे उसे आन्तर सुख आदि का ज्ञान होता है।] जैसे रूप-रस आदि का बोध [इसी संसार में रहकर होता है वैसे ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान भी यहीं से होगा। दोनों के बीच] कोई विरोध नहीं है। इसलिए [संसार और आत्मज्ञान के बीच] निवर्त्य (संसार) और निवर्तक (आत्मज्ञान) का संबंध नहीं हो सकता। [यदि रूप-रसादि के ज्ञान से संसार की निवृत्ति नहीं होती तो आत्मज्ञान से भी नहीं होगी—दोनों की ज्ञान-विधि में कोई अन्तर नहीं है।]

शंका—मान लिया कि संसार के साथ अनुवर्तित होने वाला [= 'अहम्' के रूप में] आत्मज्ञान संसार की निवृत्ति भले ही न करे किन्तु साथ-साथ आवर्तित होने वाला (= शुद्ध अद्वितीय आत्मा के स्वरूप का) ज्ञान तो संसार की निवृत्ति कर सकेगा जैसे प्रकाश अन्धकार को हटा देता है? **उत्तर**—यह तर्क बिल्कुल खोखला है। 'अहम्' के अनुभव के अतिरिक्त किसी आत्मा का ज्ञान होना चूहे की सींग की तरह ही असंभव है।

नन्वन्योऽयमनुभवः पामराणां मा स्म भवन्नाम। वेदान्तवचननिचयपर्यालोचनक्षमाणां परीक्षकाणां संभवत्येवेत्यपि न वक्तव्यम्। अबाधितानुभवविरोधेन वेदान्तवाक्यानां ग्रावप्लवनादिवाक्यकल्पत्वात्। न ह्यागमाः परःशतं घटं पटयितुमुत्सहन्ते।

इस पर आप लोग (वेदान्ती) कह सकते हैं कि ['अहम्' के सामान्य अनुभव से] यह अनुभव भिन्न है [तथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से शुद्ध अद्वितीय आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है।] यह अनुभव मूर्खों को भले ही न हो किन्तु जो परीक्षक (बुद्धिमान् पुरुष) वेदान्त के वाक्यों की पर्यालोचना में समर्थ हैं उन्हें तो हो सकता है? किन्तु हम कहेंगे कि ऐसा भी कहना नहीं चाहिए। हमारा अनुभव [कि अहम् और इदम् में पार्थक्य है यह] अबाधित है (प्रमाण है), उसका विरोध करने के कारण वेदान्त के वाक्य भी 'पत्थर तैरते हैं' इस वाक्य की तरह [अप्रामाणिक हैं। हमारा अनुभव कहता है कि आत्मा और जड़ दो पदार्थ हैं। दूसरी ओर इस अनुभव का विरोध 'सदेव सौम्य०' आदि से होता है जिसमें एक तत्त्व—अद्वितीय आत्मा का ही प्रतिपादन है। जो वाक्य हमारे अनुभव के विरुद्ध है वह प्रमाण नहीं है। आप लोग आगमों की अचिन्त्य शक्ति में विश्वास रखते हैं किंतु] सौ से ऊपर आगम मिलकर भी किसी साधारण घट को पट के रूप में परिणत नहीं कर सकते।

न चाध्ययनविधिव्याकोपः। गुरुमतानुसारेण हुंफडादिवाक्यवत् जपमात्रोपयोगित्वेनाचार्यमतानुसारेण वा 'यजमानः प्रस्तरः' (तै० ब्रा० ३।३।९) इत्यादिवाक्यवत् स्तावकत्वेन वेदान्तसिद्धान्तस्याध्येतव्यत्वसम्भवात्। तथा च प्रयोगः—विवादास्पदं ब्रह्म विचार्यपदं न भवत्यफलत्वात्काकदन्तवदिति।

[हमारे पक्ष को मानने पर भी] अध्ययन-विधि ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' तै० आ० २।१५—यह विधि) की प्रवृत्ति में रुकावट उत्पन्न नहीं होगी। [शंकाकार के कहने का तात्पर्य यह है कि अध्ययन का उपयोग इसी में है कि अर्थज्ञान प्राप्त करके कर्म में उसका उपयोग करें। जो वाक्य असम्भव अर्थ का निर्देश करते हैं उनका तो उपयोग ही नहीं हो सकेगा। जैसी कि आप पूर्वपक्षियों की मान्यता है ये वाक्य असम्भव अर्थों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए उनका अध्ययन तो

निरर्थक हो जायगा। ऐसी अवस्था में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की विधि व्यर्थ हो जायगी। पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी समस्या नहीं होगी।] गुरुमत के अनुसार 'हुं फट्' आदि वाक्यों की तरह [उक्त श्रुति-वाक्यों का] उपयोग केवल जप के लिए ही है। दूसरी ओर आचार्य (कुमारिल) के मत के अनुसार 'यजमान पत्थर है' (तै० ब्रा० ३।३।९) इत्यादि वाक्यों की तरह [उक्त श्रुतिवाक्यों का] उपयोग विधि-वाक्यों की केवल स्तुति करने भर के लिए है—अतः वेदान्त (उपनिषद्) के वाक्यों को तो हम भी अध्येतव्य मानते ही हैं। इसीलिए तो हम अपना अनुमान देते हैं—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत) ब्रह्म विचार का विषय नहीं हो सकता। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि इसके विचार का कोई फल नहीं है। (हेतु)

(३) जैसे कौए के दाँतों का। (उदाहरण)

विशेष—हम जानते हैं कि मीमांसा-दर्शन की दो शाखायें हैं—गुरुमत और भाट्टमत। गुरुमत के अनुसार अध्ययन-विधि अपूर्व विधि नहीं है। प्रत्युत अध्यापन-विधि का ही अनुवाद है। अध्यापन-विधि में केवल पाठ की ही प्राप्ति होती है, अर्थबोध की नहीं। इसलिए विधि की आवश्यकता के अनुसार सर्वत्र अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है। यदि अर्थ सम्भव है तो उसका ग्रहण करें। यदि सम्भव नहीं तो उसे त्याग दें। इनका उपयोग 'हुं फट्' आदि अर्थहीन मन्त्रों की तरह केवल जप के लिए है।

भाट्ट-मत के अनुसार अध्ययन-विधि की प्रवृत्ति अर्थज्ञानरूपी दृष्टफल के लिए होती है। अर्थ सर्वत्र है। जहाँ वेदों में वाच्यार्थ संभव नहीं वहाँ पर 'यजमानः प्रस्तरः' की तरह अर्थवाद मानकर लक्षणा से अर्थबोध करते हुए उन वाक्यों में स्तुति मानते हैं। इसलिए किसी भी दशा में—जप के लिए या स्तुति के लिए श्रुतिवाक्यों का उपयोग रहेगा ही। ब्रह्म के प्रतिपादक वेदवाक्य का या तो जप (Recitation) के लिए उपयोग है या जीव की प्रशस्ति के बोध के लिए। जीव यज्ञादि का कर्ता या उपास्य देवता हो सकता है। स्पष्टतः यह मीमांसकों की ओर से वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य-निरूपण (Interpretation) है।

काक-दन्त पर एक लोकोक्ति दी गई है—

काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याण्डं कियत्पलम्।
का वार्ता सिन्धुसौवीरेष्वेषा मूर्खविचारणा॥

इसमें असंभव तथा अनर्गल बातों का संकलन किया गया है।

तदाहुराचार्याः—

२. अहंधियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः।
तज्ज्ञानान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नावकल्पते ॥ इति।

न च भेदेनाध्यस्तदेहादिनिवृत्तिः फलमित्यफलत्वहेतुरसिद्ध इति वेदितव्यम्। भेदग्रहो हि व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरिति न्यायेन भेदाग्रहपरिपन्थिनं भेदसंस्कारमपेक्षते। अनाकलितकलधौतस्य शुक्तिशकले तत्समारोपानुपलम्भात्।

आचार्यों ने इसे कहा भी है—(१) चूँकि 'अहम्' की प्रतीति से आत्मा की सिद्धि हो जाती है, (२) वही आत्मा ब्रह्म के रूप में सिद्ध है, (३) उस आत्मा को जानने से मुक्ति होने को नहीं है—इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा प्रश्न नहीं दिखलाई पड़ता। [इस श्लोक में पूर्वपक्ष का उपसंहार-सा लगता है यद्यपि अभी इसके कुछ खण्ड बाकी ही हैं।]

[वेदान्ती लोग कह सकते हैं कि अद्वितीय ब्रह्म में] भिन्न रूप में जो देहादि पदार्थों का आरोपण होता है (प्रतीति होती है), उसकी निवृत्ति ही [ब्रह्मजिज्ञासा का] फल है, अतः उपर्युक्त अनुमान में दिया गया हेतु—'क्योंकि इसके विचार का कोई फल नहीं है'—असिद्ध है। किन्तु [पूर्वपक्षी कहते हैं कि] ऐसा नहीं समझना चाहिए।

व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होती है—इस नियम से भेद का ग्रहण (Apprehension of difference) भेद के अग्रहण (अज्ञान) के विरोधी भेदसंस्कार की अपेक्षा रखता है। [उपर्युक्त न्याय से ही धूम अग्नि की अपेक्षा रखता है। अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। यदि अग्नि न हो तो धूम की प्राप्ति ही नहीं होगी। उसी तरह भेदग्रह या भेदाध्यास भेद के संस्कार की अपेक्षा करता है। यदि भेदसंस्कार (व्यापक) न हो तो भेदाध्यास होगा ही नहीं। भेदसंस्कार भेद के अग्रह का नाश करके भेदाध्यास उत्पन्न करता है।] रजत का संस्कार बिना रहे हुए शुक्ति (सीपी) के टुकड़े पर उसके आरोपण की संभावना नहीं है। [जिस समय कहते हैं कि यह रजत है तो रजत का संस्कार उत्पन्न होकर रजत के अज्ञान का नाश करके सीपी पर, अयथार्थ रूप में ही सही, पर रजत की प्रतीति करा देता है। रजत का संस्कार यदि उत्पन्न नहीं होगा तो रजत की प्रतीति भी नहीं होगी। इसे आगे बढ़ाते हैं।]

संस्कारश्च प्रमितिमाकाङ्क्षति। अननुभूते संस्कारानुदयात्। न

च भ्रान्तिरूपोऽनुभवस्तत्करणमिति भणितव्यम्। भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वकत्वेन क्वचित्प्रमितेरवश्याभ्युपगमयितव्यत्वात्। प्रयोगश्च—विमतावात्मानात्मानौ भेदेन प्रमितावभेदायोग्यत्वात्। तमःप्रकाशवत्।

उपर्युक्त संस्कार यथार्थ अनुभव (प्रमिति Actual experience) की अपेक्षा रखता है क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव ही नहीं किया गया है उसका संस्कार भी नहीं जागृत हो सकता। [यद्यपि कहीं-कहीं अयथार्थ अनुभव से भी संस्कार की उत्पत्ति देखते हैं तथापि वह अनुभव भी किसी संस्कार के ही बाद होगा—अतः कहीं न कहीं यथार्थ अनुभव की आवश्यकता पड़ी ही होगी। इसलिये यहाँ भी भेदसंस्कार को उत्पन्न करने वाला पहला भेदानुभव यथार्थ ही मानना पड़ेगा। चूँकि यह भेदानुभव यथार्थ है इसलिए ब्रह्म का विचार या जिज्ञासा करने से भी उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। ब्रह्मविचार करना निष्फल हो गया अतः हमारे अनुमान में जो 'निष्फल' हेतु दिया गया था वह असिद्ध नहीं है। इसे आगे स्पष्ट कर रहे हैं—]

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भ्रान्ति के रूप में होनेवाला (= अयथार्थ) अनुभव ही संस्कार की उत्पत्ति का साधन है (संस्कार की उत्पत्ति कहीं-कहीं अयथार्थ अनुभव से होती है, यह कहना ठीक नहीं = इसका भी उत्तर दे सकते हैं)। भ्रान्ति के पूर्व में भी अभ्रान्ति (यथार्थ अनुभव) रहेगी ही—अतः कहीं न कहीं प्रमिति (यथार्थ अनुभव) को आवश्यक रूप से स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसके लिए अनुमान भी है—

(१) विवादास्पद ये दोनों आत्मा और अनात्मा भिन्न रूप में ज्ञात होती हैं। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि ये अभेद के योग्य नहीं है। (हेतु)

(३) जैसे अन्धकार और प्रकाश [अभेद के योग्य नहीं हैं]। (उदाहरण)

न चात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वलक्षणो हेतुरसिद्ध इति शङ्कनीयम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—अनात्मात्मपरिशेषः स्यादात्मानात्मपरिशेषो वा? आद्ये मुक्तिदशायामिव परिदृश्यमानं जगदस्तमियात्। द्वितीये जगदान्ध्यं प्रसज्येत।

ऊपर जो 'आत्मा और अनात्मा में अभेद (एकरूपता) की अयोग्यता' के रूप में हेतु दिया गया है वह असिद्ध है, ऐसी शंका नहीं करें। कारण यही

है कि नीचे दिये गये विकल्पों में किसी को सहना इसके लिए (शंका के लिए) कठिन है। वे विकल्प हैं--क्या अनात्मा आत्मा का परिशेष (अंग) है या आत्मा ही अनात्मा का परिशेष (अंग) है ? [जो लोग शंका करते हैं कि आत्मा और अनात्मा में जो अभेद की अयोग्यता है वह असिद्ध है—उनसे यह पूछें कि यदि उन दोनों में अभेद की योग्यता है तो वे अभिन्न होंगे—एक का लय दूसरे में होगा, जैसे जल में नमक का लय होता है। अब कहें कि किसमें किसका लय होता है ? आत्मा में अनात्मा का या अनात्मा में आत्मा का ? दूसरे शब्दों में, केवल आत्मा ही अवशिष्ट रहती है या अनात्मा ?] यदि आत्मा ही अवशिष्ट रहती है तो जैसी बात मुक्ति की दशा में होती है उसी तरह यह दृश्यमान जगत् समाप्त हो जायगा। [मुक्ति की दशा में केवल आत्मा ही बचती है, संसार की निवृत्ति हो जाती है। यही दशा सदा रहती।] यदि अनात्मा ही अवशिष्ट रहती है तो समूचा संसार [जड़ हो जाने के कारण] अंधा हो जायगा।

तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वाच्च दृग्दृश्ययोरात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वमवधेयम्। ततश्चार्थाध्यासानुपपत्तौ तत्पूर्वकस्य ज्ञानाध्यासस्यासंभवेन ब्रह्मणो विचार्यत्वासंभवाद्विचारात्मिका चतुर्लक्षणशारीरकमीमांसा नारम्भणीयेति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तोऽभिधीयते—।

[उपर्युक्त विकल्पों को न सहने के अतिरिक्त) अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण भी, दृक् और दृश्य में अर्थात् आत्मा और अनात्मा में अभेद (तद्रूपता) होने की अयोग्यता है, यह मानना ही पड़ेगा।

इसलिए [आत्मा पर] वस्तुओं के अध्यास (Super-imposition) की सिद्धि नहीं होती। [आत्मा और जड़ में तादूप्य की योग्यता ही नहीं कि एक पर दूसरे का अध्यास हो।] यही नहीं, उसके आधार पर [आत्मा में जो प्रपंच-विषयक लौकिक] ज्ञान है उसका अध्यास भी संभव नहीं। अतः ब्रह्म विचार के योग्य है ही नहीं। फलतः विचार के रूप में जो चार अध्यायों वाली शारीरक-मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) बनायी गई है, उसका आरम्भ नहीं करना चाहिए।

इस पूर्वपक्ष के आने पर अब हम सिद्धान्त का वर्णन करते हैं।

विशेष—अधिकरण में तीसरा अंग पूर्वपक्ष होता है। ब्रह्मजिज्ञासा-अधिकरण (प्रथम सूत्र) का पूर्वपक्ष बहुत दूर तक निरूपित हुआ। इसमें दो मुख्य बातें थीं—ब्रह्मजिज्ञासा के लिए संदेह का अभाव और उसके लिए प्रयोजन का अभाव। दोनों पक्षों पर वादी-प्रतिवादी के तर्कों का उत्थापन करते हुए

विचार किया गया है। इस प्रसंग में वेदान्त के दृष्टिकोण पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। अब उत्तरपक्ष का विचार करते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासा का आरंभ करना चाहिए।

(५. ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ संभव—उत्तरपक्ष)

अहंपदाधिगम्यादन्यदात्मतत्त्वं नास्तीति न वक्तव्यम्। निरस्तसमस्तोपाधिकस्यात्मतत्त्वस्य श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात्। न च तेषामुपचरितार्थता। उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया तत्त्वं बोधयतामुपचरितार्थत्वानुपपत्तेः। लिङ्गषट्कं च पूर्वाचार्यैर्दर्शितम्—

३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'अहम्' शब्द के द्वारा जिसका ज्ञान होता है उसके अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं। वास्तव में आत्मा उससे भिन्न है जो श्रुति में प्रसिद्ध है।]

जिसकी सारी उपाधियाँ नष्ट हो गई हैं वह आत्मतत्त्व श्रुति आदि में प्रसिद्ध है। ['अहम्' की प्रतीति से ज्ञेय जो जीवात्मा है वह सोपाधिक है, इसीलिए तो 'अहम्' के रूप में प्रतीत होती है। अहंभाव आदि सभी धर्म औपाधिक हैं। 'सदेव सौम्य०' आदि श्रुतिवाक्यों में जो प्रसिद्ध है वह निरुपाधिक आत्मतत्त्व है तथा ब्रह्म के रूप में है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', निरुपाधि जीव या आत्मा ब्रह्म ही है। इसीलिए उसका निश्चय करने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी आवश्यक है।] उन श्रुतिवाक्यों को उपचार (लाक्षणिक, गौण, अर्थवाद) के अर्थ में लेना (= जीवात्मा की प्रशंसा के रूप में मानना) उचित नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि छह प्रकार के लिंग (साधन) हैं जो तात्पर्य का निर्णय करते हैं, इसलिए उनसे जब तत्त्व (निरुपाधि, अद्वितीय तथा शुद्ध ब्रह्म) का बोध करेंगे तो उन श्रुतिवाक्यों में उपचार-अर्थ असिद्ध हो जायगा।

पहले के आचार्यों ने इन छह प्रकार के लिंगों का निर्देश किया है— 'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये तात्पर्य का निर्णय करने के लिए लिंग (साधन) हैं।' [यद्यपि इन्हें आगे समझाया गया है, पर संक्षेप में इनका अर्थ देख लें। किसी प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसका उल्लेख प्रकरण के आदि में करना **उपक्रम** (Introduction) है, प्रकरण के अन्त में करना **उपसंहार** (Conclusion)

है। ये दोनों मिल कर के तात्पर्य-निर्णय के साधन बनते हैं। उपक्रम और उपसंहार में किसी विषय का प्रतिपादन देखकर पूरे प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय समझ में आता है तथा उस प्रकरण के किसी वाक्य का तात्पर्य भी उस संदर्भ में लग जाता है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन यदि प्रकरण में ही बीच में बार-बार करें तो वह **अभ्यास** (Repetition) कहलाता है। तात्पर्य के निरूपण में इससे भी काफी सहायता मिलती है। जब प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय किसी भी दूसरे प्रमाण से ज्ञात न हो तो उसे **अपूर्वता** (Exclusiveness) कहते हैं। प्रकरण में जहाँ-तहाँ सुनाई पड़ने वाला प्रयोजन **फल** (Purpose) है। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की प्रशंसा करना **अर्थवाद** (Eulogy) है। जिससे प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो तथा जो जहाँ-तहाँ सुनाई पड़े वह युक्ति **उपपत्ति** (Proof) है। प्रकरण का तात्पर्य इन्हीं छह लिंगों से निर्णीत होता है।]

विशेष—इन छह लिंगों के बल पर शंकराचार्य छान्दोग्योपनिषद् के निर्दिष्ट अंश के प्रकरण को ब्रह्मपरक मानते हैं। यह उदाहरण मात्र है। विशेष विवरण के लिए उक्त उपनिषद् का छठा प्रपाठक देखना अनिवार्य है।

(५ क. उपक्रम आदि लिंगों के उदाहरण—आत्मा की सिद्धि)

तत्र 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्युपक्रमः। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८-१६) इत्युपसंहारः। तयोर्ब्रह्मविषयत्वेन ऐकरूप्यमेकलिङ्गम्। असकृत् 'तत्त्वमसि' (६।८-१६) इत्युक्तिरभ्यासः। मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्।

उनमें 'हे सौम्य ! सबसे पहले यह सत् ही था' (छां० ६।२।१) यह **उपक्रम** है [चूँकि छांदोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में प्रकरण के आदि में ही है तथा निरूपाधिक केवल सत् के रूप में विद्यमान, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है।] 'यह सब कुछ उसके रूप में ही हैं, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह तुम ही हो' (छां ६।८-१६ तक प्रत्येक खंड के अन्त में नौ बार)—यह उपसंहार है। ये दोनों लिङ्ग ब्रह्म के विषय में होने के कारण एक रूप—एक ही प्रकार के लिङ्ग हैं। 'वह तुम ही हो' ऐसा अनेक बार कहना **अभ्यास** है। [छठे अध्याय या प्रपाठक में इसे नौ बार कहा गया है। प्रत्येक खंड का उपसंहार करते हुए 'तत्त्वमसि' कहा गया है।]

दूसरे प्रमाण से अज्ञेय होना **अपूर्वता** है। [अद्वितीय आत्मा को दूसरे प्रमाणों से भी जान सकते हैं। परन्तु उसका प्रदर्शन नहीं हुआ है। 'मैं उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूँ' (बृ० ३।९।२६) इत्यादि वाक्य इसकी पुष्टि करते हैं कि उस पुरुष का ज्ञान उपनिषद् के अतिरिक्त किसी भी दूसरे साधन से नहीं हो सकता।] उसी प्रसंग में, एक के जानने से सबों का ज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है [जैसे, येनाश्रुतं श्रुतं भवति (छां० ६।१।३) तथा आगे भी।] यही **फल** है।

सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः। तस्मादेतैर्लिङ्गैर्वेदान्तानां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वं निश्चेतव्यम्। तदित्थमौपनिषदस्यात्मतत्त्वस्याहमनुभवेऽनवभासमानत्वात्तस्यानुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वं सिद्धम्।

सृष्टि (Creation), स्थिति (Sustention), प्रलय (Dissolution), प्रवेश (Entrance) तथा नियमन (Control)—ये [ब्रह्म के विषय में दिये गये] पाँच **अर्थवाद** हैं। [यद्यपि ब्रह्म सत्, निष्कल आदि है किन्तु सगुण का आरोप करके उसकी कतिपय शक्तियों की प्रशंसा उपनिषदों में हुई है। वह अर्थवाद है। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।३) में अद्वितीय ब्रह्म से **सृष्टि** का वर्णन किया गया है। 'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छां० ६।८।४)—यहाँ **स्थिति** और **नियमन** दोनों का वर्णन है। 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छां० ६।८।६) में **प्रलय** का निरूपण है। 'इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२)—इसमें **प्रवेश** का वर्णन है। इस प्रकार श्रुति में निरूपित सृष्टि आदि क्रियाओं के द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा हुई है।]

मृत्तिका आदि के दृष्टान्त **उपपत्ति** हैं। [अद्वितीय वस्तु की सिद्धि के लिए उक्त प्रसंग में मिट्टी का उदाहरण दिया गया है कि केवल मिट्टी का पिंड जान लेने से मिट्टी के बने सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। वे विकृत रूप—खिलौना, घड़ा, सुराही आदि—केवल वाणी के खेल हैं। विभिन्न नामों से पुकारे जाने के कारण ये विभिन्न पदार्थ नहीं हैं—सत्य तो केवल मिट्टी है। ठीक उसी प्रकार सारे पदार्थों के नाम और रूप भ्रम हैं, वाणी के विकार हैं—सत्य केवल ब्रह्म है। उसी के अध्यस्त रूप ये पदार्थ हैं। यह युक्ति ही उपपत्ति है। देखिये—'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' (छां० ६।१।४) । इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में भी छह लिङ्गों का निरूपण हुआ है । इसके स्पष्ट विवरण के लिए वेदान्तसार देखें ।]

इस प्रकार इन लिंगों से यह निश्चय कर लेना चाहिए कि सभी उपनिषदों (वेदान्तों) का तात्पर्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को आत्मरूप में दिखाना है । तो, इस तरह उपनिषदों में प्रतिपादित जो आत्मतत्त्व है वह 'अहम्' के अनुभव में प्रतीत नहीं होता । [हमारा 'अहम्' का अनुभव आत्मा नहीं है । आत्मा शुद्ध वही है जो उपनिषदों में प्रतिपादित है ।] इसलिए यह सामान्य अनुभव अध्यस्त (आरोपित) आत्मा के विषय में है, यह सिद्ध हुआ । [आत्मत्व का आरोपण देहादि पर होता है । उसी से संबद्ध प्रतीति हमें 'अहम्' के रूप में होती है, शुद्ध आत्मा की नहीं । यह आरोपण भ्रममूलक है । जैसे चाँदी के रूप में सीपी प्रतीत (अवभासित) होती है, उसी तरह आत्मा के रूप में देह प्रतीत होती है । कुछ लोग कह सकते हैं कि 'अहम्' के अनुभव में निर्विशेष ब्रह्म का अवभास भले ही न हो किन्तु जीवात्मा की प्रतीति तो होती होगी । वैशेषिक-दर्शन में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा स्वीकृत भी है जो प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है और विशेषणयुक्त है । इसलिए 'अहम्' का अनुभव आरोपित आत्मत्व से युक्त देहादि के विषय में होता है । परन्तु यह कहना युक्ति-युक्त इसलिए नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा के लिए कोई प्रमाण ही नहीं ।]

(६. आत्मा का अध्यास—वैशेषिक-मत की परीक्षा)

कणभक्षाक्षचरणादिकक्षीकृतस्यात्मनो भानाभावादहमनुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वमेषितव्यम् । न तावदहमनुभवः सर्वगतत्वमात्मनोऽवगमयितुमिष्टे । अहमिहास्मि सदने जानान इति प्रादेशिकत्वग्रहणात् । न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वं प्रतिभासत इति वेदितव्यम् । अहमित्युल्लेखायोगात् ।

कणाद या गौतम आदि के द्वारा स्वीकृत जो आत्मा है उसकी भी प्रतीति ['अहम्' के अनुभव से] नहीं होती है अतः 'अहम्' के अनुभव को अध्यस्त आत्मा का ही विषय समझना चाहिए । [अब यह दिखलाते हैं कि न्याय-वैशेषिक में स्वीकृत आत्मा का प्रतिभास क्यों नहीं होता—] यह 'अहम्' का अनुभव आत्मा के विभुत्व का बोध नहीं करा सकता । [स्मरणीय है कि वैशेषिक-दर्शन में आत्मा को विभु मानते हैं । 'अहम्' के अनुभव में विभुत्व

का कहीं लेश भी नहीं है। अतः वैशेषिकों के द्वारा संमत आत्मा भी 'अहम्' के रूप में प्रतिभासित नहीं होती।] कारण यह है कि 'मैं यहाँ पर घर में जाननेवाला हूँ' इस वाक्य में ['अहम्' अनुभव वाली आत्मा की] प्रादेशिकता का बोध होता है [उसकी विभुता का नहीं]। यहाँ पर शरीर की प्रादेशिकता का बोध नहीं होता है क्योंकि 'अहम्' के रूप में शरीर का उल्लेख नहीं किया जाता है।

विशेष—'मैं यहाँ पर घर में जाननेवाला हूँ' इस वाक्य में तीन खण्ड हैं। 'मैं' शब्द से आत्मा की प्रतीति होती है, 'घर' से प्रादेशिकता की जो विभुता की उलटी है, 'जाननेवाला' से ज्ञाता की। ये तीनों धर्म एक के ही प्रतीत होते हैं। किन्तु इस वाक्य में वर्णन किसका है? क्या शरीर का? नहीं, क्योंकि शरीर न तो आत्मा ही है और न ज्ञाता ही। तो क्या आत्मा का वर्णन है? वह नहीं, क्योंकि आत्मा वैशेषिकों के अनुसार प्रादेशिक नहीं, विभु है। फल यह होगा कि ऐसे वाक्यों की सिद्धि व्यवहार में आने पर भी नहीं हो सकेगी।

यदि यह उत्तर दिया जाय कि घर में यद्यपि विभु आत्मा की संभावना नहीं हो सकती किन्तु आत्मा का एक भाग तो घर में रह सकता है इसलिए उस रूप में यह प्रतीति हो सकती है—तो इसका भी प्रत्युत्तर होगा कि जब आत्मा के भाग इस तरह होने लगेंगे तो घर में रहनेवाले व्यक्ति को भी 'वन में हूँ' ऐसी प्रतीति हो सकेगी। इसलिए अध्यास से ही उक्त प्रतीति की सिद्धि करनी चाहिए।

कुछ लोग फिर कहते हैं कि उक्त प्रतीति तो आहार्य आरोप से भी सिद्ध हो सकती है। बाधज्ञान होने पर भी जो आरोप किया जाता है वह आहार्य **आरोप** कहलाता है जैसे—यह आदमी सिंह है। यहाँ पर आरोप के समय बाधज्ञान है ही कि यह आदमी वास्तव में सिंह नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में आरोप दो प्रकार का संभव है—(१) आत्मा के धर्मों का शरीर पर आरोप और (२) शरीर के धर्मों का आत्मा पर आरोप। अब इन पक्षों का क्रमशः विचार करते हैं।

ननु यथा राज्ञः सर्वप्रयोजनविधातरि भृत्ये 'ममात्मा भद्रसेनः' इत्युपचारः, तद्वदात्मवचनस्याहंशब्दस्य देह उपचार इति चेत्—मैवं वोचः। अचरितात्मभावस्य देहादेः स्वसमानाकृतिशिलापुत्रकादिवज्ज्ञातृत्वायोगात्। न च ज्ञातृत्वमप्युपचरितम्। प्रयोक्तुः स्वप्रतिपत्तिप्रकाशके प्रयोगे प्रतिपत्तृत्वोपचारानुपपत्तेः।

[आत्मा के धर्मों का शरीर पर आरोप—इस पक्ष को लेकर शंका हो रही है। यदि ऐसा कहें कि] जैसे किसी राजा के सभी काम करनेवाले नौकर को वह राजा औपचारिक (लाक्षणिक) रूप से कहता है कि यह भद्रसेन मेरी आत्मा है, उसी प्रकार आत्मा के वाचक 'अहम्' शब्द का देह पर उपचार (आरोप) होता है। [राजा का आरोप नौकर पर=आत्मा का आरोप देह पर।] इसके उत्तर में हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। आत्मा के धर्मों का आरोप (उपचार) हो जाने पर भी शरीर उसी तरह ज्ञाता नहीं बन सकता जिस प्रकार शरीर के समान आकार वाली पाषाण-प्रतिमा [अचेतन होने के कारण ज्ञाता नहीं बन सकती। इसलिए 'अहमिह अस्मि सदने जानानः' इस वाक्य में 'जानानः' (जाननेवाला) शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती।]

ऐसा भी नहीं कह सकते कि [जैसे शरीर पर आत्मा की कल्पना हुई है वैसे ही] उसका ज्ञाता होना भी कल्पित (उपचरित) है। ज्ञाता के अपने ज्ञान के प्रकाशक प्रयोग में ज्ञातृत्व का उपचार (कल्पना) नहीं हो सकता। [ज्ञाता अपने ज्ञान के प्रकाशन के लिए अपने ज्ञान के अनुसार वाक्यों का प्रयोग करता है—वह चाहे मुख्य वृत्ति से करे या गौण वृत्ति से, लेकिन ज्ञाता ही इसे कर सकता है दूसरा नहीं। जब वह ज्ञाता गौणवृत्ति से प्रयोग करना चाहता है तब वह ऐसे धर्म की कल्पना करता है जो कहीं पर अविद्यमान भी हो सकता है। फलतः ज्ञाता, कल्पना करनेवाला और प्रयोग करनेवाला—ये तीनों एक ही हैं। 'अहं' से उसीका बोध होता है। यदि 'अहं' से देह का ही बोध करें जिस पर ज्ञातृत्व की कल्पना की गई हो तो वह देह अपने ही अन्तर्गत रहने वाले ज्ञातृत्व की कल्पना करने वाली भी कैसे हो जायगी ? दूसरे, जिस देह पर ज्ञातृत्व कल्पित हो वह वास्तव में तो ज्ञाता है नहीं—क्योंकि ज्ञातृत्व कल्पित है—इसलिए वह प्रयोक्ता भी नहीं बन सकती। कल्पित वस्तु से वास्तव में कोई सचमुच का काम नहीं ले सकते। कल्पित अग्नि से कोई जल नहीं सकता और न कल्पित सिंह किसी को खा सकता है। देह पर आत्मा के धर्मों का आरोप होने से देह आत्मा की तरह ज्ञाता, प्रयोक्ता और कल्पक नहीं बन सकती। आरोप कुछ और है, वास्तविकता कुछ और।]

अथ देहधर्मः प्रादेशिकत्वमात्मन्युपचर्येत तदा देहात्मनोर्भेदेन भवितव्यम्। प्रसिद्धभेदे माणवके सिंहशब्दवत्सांप्रतिकगौणत्वे तिरोहितभेदेन सार्षपादौ रसे तैलशब्दवन्निरूढगौणत्वे वा गौणमुख्ययोर्भेदाध्यवसायस्य नियतत्वात्।

[शरीर का आरोप आत्मा पर, इस पक्ष पर विचार करने के लिए शंका

करते हैं। वे कहते हैं कि] अब यदि शरीर के धर्म अर्थात् प्रादेशिकत्व (किसी एक स्थान में होना—जैसे घर में) का आरोप आत्मा पर औपचारिक रूप में करें तो शरीर और आत्मा में भेद होगा ही। जहाँ भेद स्पष्ट हो वहाँ पर माणवक पर सिंह शब्द के आरोप की तरह सांप्रतिक (कभी-कभी प्रयुक्त) गौणता होने पर अथवा जहाँ भेद अस्पष्ट हो वहाँ पर सरसों आदि के रस पर शब्द के आरोप की तरह निरूढ़ (परंपरा से प्रयुक्त) गौणता होने पर गौण और मुख्य अर्थों में भेदज्ञान निश्चित होता है। [कहने का अर्थ यह है—जहाँ बुद्धिपूर्वक एक के धर्म का दूसरे पर आरोप करते हैं वहाँ पर पहले दोनों का भिन्न रूप में ज्ञान होना आवश्यक है। 'सिंहो माणवकः' वाक्य में सिंह से माणवक का भेद प्रसिद्ध है। क्रूरता आदि गुणों को देखकर माणवक पर सिंह का आरोप हुआ है। यहाँ पर गौणता सांप्रतिक (Occasional) है, निरूढ़ (Constant) नहीं। माणवक पर सिंह का आरोप तो कभी-कभी ही होता है। जब गौण होने पर भी शब्द प्रयोग या प्रसिद्धि के कारण रूढ़ शब्द के समान सदा प्रयुक्त होता है तो उसे निरूढ़ गौणता कहते हैं। तैल का अर्थ है तिल का रस जो मुख्य अर्थ है। अब गौणरूप से तैल का प्रयोग दूसरे बीजों के रसों पर भी होता है जैसे—सार्षपः तैलः (सरसों का तैल)। ऐसा प्रयोग रूढ़ हो गया है इसलिए इसे निरूढ़ गौणता कहते हैं। स्मरणीय है कि सरसों और तिल के तेलों में भेद विद्यमान रहने पर भी तिरोहित हो गया है। 'तैल' शब्द की गौणता की प्रतीति भी भेदज्ञान वालों को ही हो सकती है क्योंकि इस तरह का प्रयोग बिल्कुल रूढ़ हो गया है। किसी भी दशा में, आहार्य आरोप की स्थिति में, आरोप्यमाण और आरोप के विषय का भेदज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ भी गौणता है वहाँ भेदज्ञान भी होगा। आत्मा देह से भिन्न रूप में प्रतीत नहीं होती इसलिए यहाँ आहार्य आरोप से गौणी वृत्ति का सहारा नहीं लिया जा सकता है।]

अथ मम शरीरमिति भेदभानसंभवाद्गौणत्वं मन्येथाः, तदयुक्तम्। अहंशब्दार्थस्य देहादिभ्यो निष्कृष्यासाधारणधर्मवत्त्वेन प्रतिभासमानत्वाभावात्। अपरथा लोकायतिकमतं नोदयमासादयेत्। मम शरीरमित्युक्तिस्तु 'राहोः शिरः' इतिवदौपचारिकी।

[वेदान्ती लोग पूर्वपक्षी का उत्तर दे रहे हैं।] यदि आप लोग (=पूर्वपक्षी) 'मम शरीरम्' (मेरा शरीर) इस वाक्य में भेदज्ञान की संभावना रखते हुए

(आहार्य आरोप से ही) गौणता मानते हैं तो यह भी ठीक नहीं। देहादि से बिल्कुल अलग हटकर असाधारण धर्म से युक्त पदार्थ के रूप में 'अहम्' शब्द का अर्थ प्रतीत नहीं होता। ['मम शरीरम्' में देहादि को ही आत्मा के रूप में समझते हैं। यदि आत्मा को देहादि से पृथक् करके असाधारण धर्म से युक्त पदार्थ के रूप में उसका अनुभव ही करते तो ऐसे अनुभव के विरुद्ध] लोकायतिक-मत [कि देह ही आत्मा है] उत्पन्न नहीं हो सकता था।

[जब देह में आत्मा की प्रतीति होती है तो 'मम शरीरम्' वाक्य में स्पष्ट प्रतीत होने वाला भेद कहाँ रहेगा ? इसी पर उत्तर देते हैं कि] 'मेरा शरीर' इस तरह की युक्ति (Expression) औपचारिक (लाक्षणिक) है। (यद्यपि आत्मा और देह में अभेद की प्रतीति होती है फिर भी किसी तरह भेद की कल्पना करके इसका निर्वाह कर लें] जैसे 'राहोः शिरः' (राहु का सिर) इस वाक्य में करते हैं। [राहु ही सिर है और सिर ही राहु, फिर भी अन्य प्राणियों की तरह राहु के शरीर की कल्पना करके उसके शरीर के इस विशेष भाग सिर का बोध करते हैं। वैसे ही 'मम शरीरम्' में करें]

विशेष—आत्मा और शरीर को एक मानने वाले वेदान्ती हैं जो यह इसलिए स्वीकार करते हैं कि इस भ्रमज्ञान को हटाने के लिए ब्रह्मजिज्ञासा की आवश्यकता सिद्ध करें। आत्मा और शरीर में भेद मानने वाले पूर्वपक्षी हैं जो इसलिए मानते हैं कि दोनों में स्पष्ट प्रतीत होने वाला भेद रहने के कारण ब्रह्मजिज्ञासा की निरर्थकता सिद्ध करें। यद्यपि अभी शंकर की ओर से उत्तरपक्ष चल रहा है परंतु जहाँ-तहाँ समस्याओं के रूप में पूर्वपक्ष के दर्शन भी हमें हो रहे हैं। अब शंकराचार्य की तरफ से आत्मा और शरीर की अभेद-प्रतीति का साधक प्रमाण दिया जा रहा है। स्मरणीय है कि यह केवल प्रतीति है, वास्तविकता या परमार्थ नहीं।

मम शरीरमिति ब्रुवाणेनापि कस्त्वमिति पृष्टेन वक्षस्थलन्यस्तहस्तेन शृङ्गग्राहिकयाऽयमहमिति प्रतिवचनस्य दीयमानत्वेन देहात्मप्रत्ययस्य सकलानुभवसिद्धत्वात्। तदुक्तम्—

४. देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥ इति।

तथा च व्यापकस्य भेदभानस्य निवृत्तेर्व्याप्यस्य गौणत्वस्य निवृत्तिरिति निरवद्यम्।

'मेरा शरीर' ऐसा कहने वाले पुरुष से भी जब यह पूछा जाता है कि तुम

कौन हो [यह तो तुम्हारा शरीर हुआ], तो वह अपने वक्षस्थल पर हाथ रख कर, शृङ्ग-ग्राहिका न्याय से (= पशुओं की सींग पकड़-पकड़ कर उनका निर्देश करना कि यह ऐसा है), यही उत्तर देता है कि मैं यह हूँ। इत तरह सबों के अनुभव से यही बात सिद्ध होती है कि देह आत्मा है, यह प्रतीति होती ही है। इसे कहा भी है—'जिस प्रकार आत्मा के रूप में देह की प्रतीति (Apprehension) प्रामाणिक मानी जाती है उसी प्रकार लौकिक प्रमाण तभी तक है जब तक आत्मा का निश्चय (साक्षात्कार) नहीं हो जाता।' [आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर, लौकिक या व्यावहारिक जगत् में प्रमाण के रूप में प्रतीत होने वाले पदार्थ, मिथ्या हो जाते हैं—केवल ब्रह्म या आत्मा की ही सत्ता रह जाती है।]

इसलिए इस व्यापक भेदज्ञान के मिट जाने से उस [भेदज्ञान] के द्वारा व्याप्य गौणता की भी निवृत्ति हो जाती है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। [ऊपर दिखा चुके हैं कि गौणता (व्याप्य) और भेदज्ञान (व्यापक) में व्याप्ति संबंध है। जहाँ-जहाँ गौणता है वहाँ-वहाँ भेदज्ञान रहता है। व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति भी हो जायगी।]

विशेष—भेद (पूर्वपक्षी) और अभेद (वेदान्ती) का झगड़ा अभी कहाँ समाप्त हुआ है ? पूर्वपक्षियों का अखाड़ा अभी यथापूर्व लगा हुआ है। शंकराचार्य भी उन्हें अच्छी तरह पीस देने की चिंता में लगे हैं। पूर्वपक्षी भेदसिद्धि के लिए दूसरा तर्क देते हैं।

(६ क. आत्मा के अध्यास की पुनः सिद्धि—भेद का खण्डन)

नन्वभिज्ञया भेदसिद्धिर्मा संभून्नाम। प्रत्यभिज्ञया तु सोऽहमित्येवंरूपया तत्सिद्धिः सम्भविष्यतीति चेत्—न। विकल्पासहत्वात्। किमियं प्रत्यभिज्ञा पामराणां स्यात् परीक्षकाणां वा ? नाद्यः। देहव्यतिरिक्तात्मैक्यमवगाहमानायाः प्रत्यभिज्ञाया अनुदयात्। प्रत्युत श्यामस्य लौहित्यवत्कारणविशेषादल्पस्यापि महापरिमाणत्वमविरुद्धमनुभवतां तद्देह एव तस्याः सम्भवाच्च।

एक शंका की जाती है कि मान लिया कि ['मैं स्थूल हूँ' इस प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण 'मेरा शरीर'—इस] अभिज्ञा या ज्ञान से [जीव और शरीर के बीच] भेद की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु 'वह मैं हूँ' (सोऽहम्)

इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) से तो उस भेद की सिद्धि संभव है ? [सः = परमात्मा, अहम् = जीवात्मा । उन दोनों की एकता तभी सम्भव है जब आत्मा को देह से भिन्न मानें । यदि देह ही आत्मा होती तो वह कभी भी परमात्मा नहीं बन सकती थी । तो, देह और आत्मा में भेद है, अतः 'अहम्' की प्रतीति को गौण कहा जा सकता है ।]

[पूर्वपक्षियों की इस शंका पर शंकर कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं है । नीचे दिये गये विकल्पों में किसी को सहने की क्षमता उक्त तर्क में नहीं है । अच्छा, यह प्रत्याभिज्ञा क्या मूर्खों को होती है या परीक्षकों (विद्वानों) को ?

मूर्खों को तो वह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती जिसमें देह से भिन्न आत्मा की [परमात्मा से] एकता प्रतिभासित हो । [मूर्ख लोग देह से भिन्न जीवात्मा की प्रतीति नहीं कर सकते । किन्तु प्रत्यभिज्ञा में देहभिन्न जीवात्मा की परमात्मा से एकता प्रतीत होती है अतः मूर्ख उस ज्ञान से वंचित हैं । अब शंकराचार्य अपने ढंग से 'सोऽहम्' की व्याख्या करते दिखलाई पड़ते हैं ।] बल्कि किसी विशेष कारण से जैसे काला पदार्थ लाल हो जाता है उसी तरह छोटी वस्तु भी बहुत बड़ा परिमाण (आकार) धारण कर लेती है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता । इस तरह का अनुभव करनेवाले लोगों को तो देह (देहरूपी जीवात्मा) में प्रत्यभिज्ञा हो सकती है । [अभिप्राय यह है कि अग्नि-संयोग से काला घड़ा लाल हो जाता है, मिट्टी-जल आदि के संयोग से छोटा बीज बड़ा वृक्ष बन जाता है । वैसे ही देहरूपी जीवात्मा भी कारण विशेष से परमात्मा बन जाती है । ऐसी संभावना के द्वारा 'सोऽहम्' प्रत्यभिज्ञा हो ही सकती है । अतः 'सोऽहम्' की सिद्धि के लिए देह और आत्मा में भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है । जीवात्मा (देहरूपी भी) स्वाभाविक गति से परमात्मा बन जाती है यदि कारण वर्तमान हों—भेद ज्ञान की कहीं अपेक्षा नहीं है ।]

न द्वितीयः । व्यवहारसमये पामरसाम्यानतिरेकात् । अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षज्ञानविनाश्यत्वानुपपत्तेश्च । यदुक्तं भगवता भाष्यकारेण—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' (ब्र० सू० १।१।१ भा०) इति । भामतीकारैरप्युक्तं—शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति, न प्रतिपत्तार इति । तथा चात्मगोचरस्याध्यासात्मरूपत्वं सुस्थम् ।

विद्वानों को भी वह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि व्यवहार के समय विद्वान् भी मूर्खों की तरह ही [सामान्य धर्म से युक्त रहते हैं । जो विद्वान् श्रवण और मनन में कुशल हैं, किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया है

वे आगम और उपपत्ति के द्वारा जीवात्मा को देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न समझ लेते हैं। किन्तु जहाँ तक प्रमाण और प्रमेय के प्रयोग का प्रश्न है वे सामान्य जीवों की तरह हैं। जैसे देह को आत्मा के रूप में समझकर अहंभाव से युक्त होकर दूसरे प्राणी व्यवहार करते हैं वैसे ही ये भी करते हैं। यदि प्रत्यभिज्ञा की सत्ता मानें तो दूसरे लोगों की तरह उनका व्यवहार नहीं रह पायेगा। दूसरी ओर जिन परीक्षकों ने तत्त्व का साक्षात्कार भी कर लिया है उनमें तो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी ही नहीं है—उस पर आधारित भेदसिद्धि तो दूर की बात है।]

दूसरी बात यह है कि अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) में होने वाला भ्रम परोक्ष-ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता। [रस्सी में किसी को साँप का भ्रम प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। यदि उसे कहें कि इस स्थान पर साँपों का होना संभव नहीं है, तो परोक्षज्ञान से संबद्ध इस वाक्य से भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। आप्तवाक्य से भ्रम का ज्ञान हो जा सकता है, पर निवृत्ति नहीं। निवृत्ति तो 'यह साँप है' इस प्रत्यक्ष अनुभव से ही संभव है। उसी तरह हमें भ्रम देह आत्मा को लेकर है, उसकी निवृत्ति के लिए 'सोऽहम्' की प्रत्यभिज्ञा दे रहे हैं जो परोक्षज्ञान है। तो भ्रम की निवृत्ति कैसे हो सकती है।]

इसीलिए भगवान् भाष्यकार (शंकराचार्य) ने कहा है—'[शास्त्रचिंतक होने पर भी ब्रह्म का साक्षात्कार बिना हुए विद्वान् व्यवहार-दशा में] पशुओं से भिन्न नहीं हैं।' [शंकराचार्य ने भाष्य के आरंभ में ही अध्यास का निरूपण करते समय इसका निरूपण किया है। व्यावहारिक दशा में पशु और शास्त्रज्ञ के व्यवहार में कोई अंतर नहीं। उन्होंने लिखा है कि हाथ में डंडा उठाये हुए किसी व्यक्ति को देखकर पशु हट जाता है, वही पशु जब किसी के हाथ में हरी घास देखता है तो उसकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। वैसे ही शास्त्रज्ञ पुरुष भी अपने शरीर के नाशक, हाथ में शस्त्र लिए बलवान् पुरुष को देखकर भाग खड़े होते हैं, अन्य पुरुषों के प्रति प्रवृत्त होते हैं अतः इनका प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार पशुओं के समान ही है। जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता उनका मोह दूर नहीं होता।]

भामतीकार (वाचस्पति मिश्र) ने भी कहा है—'शास्त्रचिंतक (ब्रह्म साक्षात्कार-हीन किन्तु श्रवण और मनन से युक्त) लोग ही इस तरह का विचार (पशुवत् व्यवहार) करते हैं, आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले (प्रतिपत्तारः) लोग नहीं।' इस प्रकार यह सुस्थिर (सिद्ध) हो गया कि हमें जो आत्मा के रूप में प्रतीत होता है, वह वस्तुतः आत्मा के अध्यास (शरीर पर आत्मा का अध्यास) के रूप में है।

विशेष—अभी तक न्याय-वैशेषिक के मत में स्वीकृत आत्मा का खण्डन करके आत्मा की अध्यासरूपता सिद्ध कर रहे थे। अब जैन-मत की आत्मा पर विचार करते हैं। जैन लोग आत्मा (जीव) को विभु नहीं मानते किन्तु उसका परिमाण शरीर के तुल्य है, यही मानते हैं। ऐसी दशा में 'अहमिहास्मि सदने जानानः' इस तरह की प्रतीति न्याय-वैशेषिक में भले ही गौणरूप से मानी जाय कि आत्मा के विभु होने के कारण प्रादेशिकता का आरोप उस पर कैसे हो, परन्तु यहाँ तो कोई वैसी बात नहीं—जितना बड़ा जीव उतना बड़ा शरीर; जहाँ शरीर वहाँ जीव। अतः प्रादेशिकता का प्रश्न सहल हो जाता है। अब इस पक्ष का विश्लेषण और खंडन करने के लिए शंकर सन्नद्ध हो गये हैं।

(६ ख. जैनमत में स्वीकृत जीव पर विचार)

न चार्हतमतानुसारेणाहंप्रत्ययप्रामाण्यायात्मनो देहपरिमाणत्वमङ्गीकरणीयमिति सांप्रतम्। मध्यमपरिमाणस्य सावयवत्वेन देहादिवदनित्यत्वे कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया 'अवयवसमुदायः आत्मा' इत्यभ्युपगम्येत तदा वक्तव्यम्। किं प्रत्येकमवयवानां चैतन्यं संघातस्य वा?

नाद्यः। बहूनां चेतनानामहमहमिकया प्रधानभावमनुभवतामैकमत्याभावेन समसमयं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरस्यापि विशरणनिष्क्रियत्वयोरन्यतरापातात्।

आप लोग (पूर्वपक्षी) [अपनी युक्ति की रक्षा के लिए] 'अहम्' की प्रतीति की प्रामाणिकता के लिए जैन-मत के अनुसार 'आत्मा शरीर के परिमाण की है' ऐसा नहीं स्वीकार कर सकते हैं। मध्यम परिमाणवाली वस्तु (जो न सर्वाधिक परिमाण रखे और न न्यूनतम ही) अवयवों से युक्त होती है फलतः [आत्मा को] शरीर आदि की तरह ही अनित्य मानना पड़ेगा। उसका परिणाम यह होगा कि किये गये कर्म का नाश और न किये गये फल की प्राप्ति होने लगेगी। [यदि आत्मा अनित्य है तो उत्पत्ति-विनाश-शील है। जिस आत्मा ने किसी शरीर से संबद्ध होकर कोई काम किया वह उसे न मिलकर दूसरी आत्मा को मिल जायगा क्योंकि फल पाने तक तो वह आत्मा बदल ही जायगी। दूसरी आत्मा को जिसने वैसा काम नहीं किया था, वह फल मिल जायगा।]

अब यदि इस दोष से बचने की इच्छा से आप यह सिद्ध कर दें कि

अवयवों का समुदाय आत्मा है, तब हमारे इन विकल्पों का उत्तर दें—[आत्मा में चैतन्य होता है।] तो चैतन्य प्रत्येक अवयव में है या अवयवों के समूह में ?

पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी दशा में बहुत से चेतन हो जायँगे, वे तू-तू मैं-मैं करते हुए प्रधानता प्राप्त करने के लिए लड़ने लगेंगे—उनमें एक मति तो रहेगी ही नहीं, इसलिए एक ही समय में वे विरुद्ध दिशाओं की क्रिया करने लगेंगे। साथ-साथ शरीर पर भी विपत्ति पड़ेगी कि] या तो वह विदीर्ण (टुकड़े-टुकड़े) हो जायगा या निष्क्रिय ही हो जायगा—दोनों में से एक दशा तो उसकी हो ही जायगी। [यदि आत्मा चेतन अवयवों का समूह है तो सभी अवयवों की सामर्थ्य समान होगी भले ही उनका स्वभाव भिन्न-भिन्न होगा। आपस में विमति होना अनिवार्य है। एक पूर्व की ओर जायगा दूसरा पश्चिम की ओर। ये गतियाँ एक ही शरीर में होंगी। एक ही शरीर दो विरुद्ध दिशाओं में नहीं जा सकेगा—दोनों ओर की खींचतान से देह फट जायगी। यदि दोनों दिशाओं में समान गति हुई तो दोनों में से किसी तरफ देह नहीं जा सकेगी। निदान उसे क्रियारहित होना पड़ेगा।]

द्वितीयेऽपि संघातापत्तिः किं शरीरोपाधिकी स्वाभाविकी यादृच्छिकी वा ? नाद्यः। एकस्मिन्नवयवे छिन्ने चिदात्मनोऽप्यवयवश्छिन्न इत्यचेतनत्वापातात्। न द्वितीयः। अनेकेषामवयवानामन्योन्यसाहित्यनियमादर्शनात्। न तृतीयः। संश्लेषवद्विश्लेषस्यापि यादृच्छिकत्वेन सुखेन वसतामकस्मादचेतनत्वप्रसङ्गात्।

यदि दूसरी ओर यह कहते हैं कि समूह में ही चेतनता है तो प्रश्न है कि अवयवों का यह संघात कैसे होता है ? क्या [सिद्ध] शरीर को ध्यान में रख कर यह संघात होता है या स्वभावतः ही होता है या मनमाने ढङ्ग से होता है ? [पहले विकल्प का अर्थ है कि शरीर के जितने अवयव हैं उतने आत्मा के भी हैं। शरीर चूँकि एक है इसलिए आत्मा भी शरीर के अनुसार ही संहत रूप में है। दूसरा विकल्प बतलाता है कि सभी अवयव प्रकृति से ही आपस में मिले हुए हैं। इसमें नियम है। तीसरा विकल्प बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से अवयवों का संघात बतलाता है। जब इच्छा हुई मिले, न हुई न मिले।]

इनमें **पहला विकल्प** इसलिए ठीक नहीं है कि यदि शरीर का एक अवयव कट जाता है तो आत्मा का भी वह अवयव कट जायगा। इसलिए जीव पर अचेतनता का आरोप हो जायगा। [जीव चेतन है, अवयवों का समूह है।

एक अवयव के नष्ट होने पर समूह का ही उच्छेद होगा—जीव का विनाश होगा, उसे शरीर की तरह ही अचेतन मानना पड़ेगा। यदि संघात को स्वाभाविक या यादृच्छिक मानेंगे तो यह दोष नहीं आ सकेगा क्योंकि शरीर के अवयवों से आत्मा के अवयवों का कोई उच्छेदात्मक संबंध नहीं रहेगा।]

दूसरा विकल्प इसलिए ठीक नहीं है कि अनेक अवयव एक दूसरे से सदा एक तरह से ही मिले रहेंगे, ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता। [यदि अवयवों में संश्लेष होना स्वाभाविक होता तो चूँकि वस्तु अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होती इसलिए छोटा अवयव भी कभी पृथक् नहीं होता। सभी अवयव एक रूप में ही परस्पर मिले हुए रहते। परन्तु वे जैन ही यह नहीं मानेंगे। बचपन आदि अवस्थाओं के भेद के या दूसरे जन्म में शरीर के भेद से जीव उतना ही बड़ा हो जाता है इसे वे स्वीकार करते है—अतः अवयवों का संश्लेष बदलता रहता है। जीव बढ़ता-घटता है।]

तीसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यदि मनमाने ढंग से संश्लेष (Conjunction) होता है तो इसी तरह विश्लेष (Disjunction) भी तो होगा। इसलिए सुख से (निश्चित) पड़े हुए जीव अकस्मात् अचेतन हो जायँगे [जब कि उनका विश्लेष होगा। जब सब कुछ मनमाना ही है तो क्या पता कि कब विश्लेष हो जाय—अवयवों का संघात टूट जाय, इसलिए जीव पर अचेतनता की आपत्ति कभी भी आ सकती है। परन्तु वास्तव में जीव को चेतन सदा मानना चाहिए।]

न चाणुपरिमाणत्वमात्मनः शङ्कनीयम्। 'स्थूलोऽहम्' 'दीर्घोऽहम्' इति प्रत्ययानुपपत्तेः।

[अब पूर्वपक्षी सोचते हैं कि आत्मा को अणु के परिमाण में मानकर हम प्रादेशिकता की सिद्धि कर सकते हैं। पर शंकर इस सिद्धान्त को ही काट देते हैं। वे कहते हैं कि] आत्मा अणु के परिमाण में (Atomic) है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। [उसे स्वीकार करने से आपको लाभ भले ही हो कि इसकी प्रादेशिकता की सिद्धि कर लें] परन्तु 'मैं मोटा हूँ', 'मैं लंबा हूँ' ऐसी प्रतीतियों की सिद्धि (Explanation) नहीं की जा सकती।

(७. विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन—विज्ञान आत्मा)

न च विज्ञानात्मभाषिणां नैष दोषः। विशुद्धसावयवत्वाभावादिति गणनीयम्। यः सुषुप्तः सोऽहं जागर्मीति स्थिरगोच-

रस्याहमुल्लेखस्य क्षणभङ्गिविज्ञानगोचरत्वे अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूप-मिथ्याध्यासस्य तदवस्थानात् ।

ऐसा नहीं समझें कि विज्ञान को आत्मा माननेवाले [बौद्धों के] मत में यह दोष नहीं लगता। (विज्ञानवादी लोग विज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। उसकी प्रतीति भी 'अहम्' के रूप में ही होती है। किन्तु यहाँ 'अहम्' देहादि के आकार में रहता है क्योंकि ज्ञान साकार है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा का प्रादेशिक होना या स्थूल होना—सब कुछ सिद्ध हो जायगा। कोई बात असिद्ध नहीं रहेगी। शरीर के अवयवों के कट जाने से इसके कटने का प्रसंग भी नहीं उठेगा। कारण यह है विज्ञान प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है। जब जैसा शरीर मिला—तब तैसा विज्ञान हो गया।] वह जानना चाहिए कि विज्ञान में विशुद्ध अवयव नहीं रहते। [शरीर मूर्त परमाणुओं का संघात है जब कि विज्ञान (आन्तरिक पदार्थ) स्कन्धों का संघात है। यह काल्पनिक है इसलिए इसके अवयव अलग से सिद्ध नहीं हैं। विशुद्ध का अभिप्राय है दूसरे अवयवों से पृथक् रहकर उत्पन्न होना। अब बतलायेंगे कि विज्ञानवादियों के मत में भी 'अहम्' की प्रतीति मुख्य नहीं है।]

'जो सोया था, वही मैं जाग रहा हूँ' इस वाक्य में 'अहम्' का उल्लेख स्थिर भाव (Entity) के रूप में हो रहा है। दूसरी ओर विज्ञान क्षण भर में ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिए मिथ्या अध्यास तो उसमें अवस्थित मानना पड़ेगा ही। यह अध्यास एक वस्तु में दूसरी वस्तु के बोध के रूप में है। [अस्थिर विज्ञान में स्थिर आत्मा की प्राप्ति के कारण अध्यास अनिवार्य है।]

तदनेन कृशोऽहं कृष्णोऽहमित्यादीनां प्रख्यानानां बुद्ध्या सरूपताख्यानेनौपचारिकत्वं प्रत्याख्यातम् । तद्व्यापकभेदभानासंभवस्य प्रागेव प्रपञ्चितत्वात् । तथा च प्रयोगः—विमतं शास्त्रं विषयप्रयोजनसहितम्, आविद्यकबन्धनिवर्तकत्वात्सुप्तोत्थितबोधवत् ।

तो, इसी के द्वारा, 'मैं पतला हूँ' 'मैं काला हूँ' आदि प्रतीतियों को जो बुद्धि के सरूप कहने से औपचारिक मानते हैं—वह भी खंडित हो गया। [स्मरणीय है कि विज्ञानवादी विज्ञान के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं मानते। बुद्धि ही ग्राह्य और ग्राहक के आकार में होकर अपने सरूप आकार वाले घट आदि बाह्य पदार्थों की कल्पना अपने से भिन्नरूप में करती है।

इससे 'मैं स्थूल हूँ' आदि प्रतीतियों में 'अहम्' की प्रतीति औपचारिक है। परन्तु इस तर्क से उसका भी खंडन हो गया। क्योंकि] हम पहले ही इसे स्पष्ट कर आये हैं कि उस (औपचारिकता) का व्यापक भेदज्ञान होना संभव नहीं है। इसी दर्शन में इसी प्रसंग में अभी-अभी कहा गया है कि औपचारिक होने के लिए भेदज्ञान अनिवार्य है। परन्तु ये विज्ञानवादी बौद्ध यहाँ पर भेदज्ञान स्वीकार करेंगे ही नहीं क्योंकि वे विज्ञान के अतिरिक्त किसी भी वास्तविक पदार्थ की सत्ता नहीं मानते।]

[अभी तक यह सिद्ध कर रहे थे कि 'अहम्' की प्रतीति आत्मा के अध्यास का विषय है। अब यह बतलाते हैं कि उक्त अध्यास की निवृत्ति करने वाले तथा आत्मा जैसा संदिग्ध विषय होने के कारण वेदान्तशास्त्र का आरंभ करें। उसीके लिए अनुमान दे रहे हैं।] अनुमान ऐसा है—

(१) प्रस्तुत शास्त्र विषय और प्रयोजन से युक्त है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि यह अविद्यामूलक बन्धन की निवृत्ति करता है। (हेतु)

(३) जिस प्रकार सो कर उठने पर बोध होता है। (उदाहरण)

[अब दृष्टान्त का स्पष्टीकरण होगा।]

यथा स्वप्नावस्थायां मायापरिकल्पितयोषादिकृतबन्धनिवर्तकस्य सुप्तोत्थितबोधस्य मन्दिरमध्ये सुखेन शय्यायामवतिष्ठमानो देहो विषयः। तस्य सुप्तबोधेनानिश्चयात्। स्वप्नमायाविजृम्भितानर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्। एवं मननादिजन्यपरोक्षज्ञानद्वारेण आध्यासिककर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थनिषेधकस्य शास्त्रस्य सच्चिदानन्दैकरसं प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्म विषयः। तस्याहमनुभवेनानिश्चयात्। अध्यासनिवृत्तिः प्रयोजनम्।

जैसे स्वप्न की अवस्था में किसी स्त्री के द्वारा माया से कल्पित बंधन हो जाय तो उसकी निवृत्ति सोकर उठने पर जो बोध होता है उसी से संभव है। [इस अवस्था में बोध का] **विषय** है वह शरीर जो किसी कोठरी में सुख से बिछावन पर लेटा हुआ है। उसी देह के विषय में सोये हुए व्यक्ति का ज्ञान निर्णय नहीं कर पा रहा है [और जागने पर उसीका बोध निश्चित हो जाता है।] स्वप्न की माया से उत्पन्न (विजृम्भित = व्याप्त) अनर्थ का निवारण करना ही इस [बोध] का **प्रयोजन** है।

ठीक इसी तरह मननादि से उत्पन्न परोक्ष-ज्ञान के द्वारा, अध्यास से

उत्पन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थों का निवारण शास्त्र (वेदान्त-शास्त्र) से होता है। उस शास्त्र का विषय ब्रह्म है जो [और कोई नहीं,] यह प्रत्यगात्मा या जीव ही है तथा जिसका एकमात्र रस (आस्वादन, अनुभूति) सत्, चित् और आनन्द है। इसी आत्मा के विषय में 'अहम्' के अनुभव के द्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता। अध्यास (Superimposition) की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है।

तथा चाफलत्वादिति हेतुरसिद्ध इति सिद्धम्। तदुक्तम्—

५. श्रुतिगम्यात्मतत्त्वं तु नाहंबुद्ध्यावगम्यते।
अपि खे कामतो मोहा नात्मन्यस्तविपर्यये ॥ इति।

इतोऽयमसंदिग्धत्वादिति हेतुरप्यसिद्ध इति सिद्धम्।

इस प्रकार, [पूर्वपक्षी ने जो 'ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए' इसकी सिद्धि के लिए] 'क्योंकि उसका कोई फल नहीं' आदि हेतु दिया था वह असिद्ध है [क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का फल (प्रयोजन) हम दिखला चुके हैं।] इसे कहा है—'जो आत्मतत्त्व एकमात्र श्रुति के द्वारा जाना जा सकता है वह 'अहम्' की बुद्धि (ज्ञान, प्रतीति) से ज्ञात नहीं हो सकता। [अहम् की प्रतीति अध्यास पर आधारित है जिसमें अहंकार (Ego) और आत्मा (Soul) का तादात्म्य कर दिया गया है। आत्मा यद्यपि अप्रत्यक्ष है फिर भी आकाश की तरह उसमें मोह की संभावना होती ही है। आत्मा मिथ्याज्ञान से रहित होने पर मोह से ग्रस्त नहीं होती। इसे ही कहते हैं।] जिस प्रकार यदृच्छा से आकाश पर [रूपादि का अध्यास करते हैं परन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं।] विपर्यय के नष्ट हो जाने पर आत्मा में मोह नहीं होता।'

इसके बाद [पूर्वपक्षी ने जो आत्मा की अजिज्ञास्यता सिद्ध करने के लिए] 'क्योंकि वह संदिग्ध नहीं है' यह हेतु दिया था वह भी असिद्ध है, यह सिद्ध हुआ।

(८. आत्मा के विषय में सन्देह)

यद्यपि सर्वः प्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहमस्मीति। न हि कश्चिदपि नाहमस्मीति विप्रतिपद्यते। प्रत्यगात्मैव ब्रह्म 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति सामानाधिकरण्यात्। तस्मादात्मतत्त्वमसंदिग्धं सिद्धम्। तथापि धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविधा इति न्यायेन विशेषप्रतिपत्तिरुपपद्यत एव।

यद्यपि सभी प्राणी जीवात्मा के अस्तित्व की प्रतीति करते हैं कि मैं हूँ।

किसी को भी इस तरह की विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि मैं नहीं हूँ। जीवात्मा ही ब्रह्म है क्योंकि 'वह तुम हो' (छा० ६।८।७) इस वाक्य में दोनों को समानाधिकरण दिखाया गया है। इसलिए आत्मतत्त्व बिल्कुल असंदिग्ध है—यह सिद्ध हुआ।

फिर भी यह नियम है कि किसी वस्तु के धर्म को लेकर बहुत तरह के विवाद चलते रहते हैं। इस नियम से तो विशेष की प्रतिपत्ति (प्रतिपादन) हमें करनी ही है।

विशेष—आत्मा धर्मी है जिसके धर्म के विषय में नाना प्रकार के विवाद हैं। अब यहाँ पर आत्मा के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का संग्रह किया जा रहा है।

तथा हि—चैतन्यविशिष्टं देहमात्मेति लोकायता मन्यन्ते। इन्द्रियाण्यात्मेत्यन्ये। अन्तःकरणमात्मेत्यपरे। क्षणभङ्गुरं संतन्यमानं विज्ञानमात्मेति बौद्धा बुध्यन्ते। देहपरिमाण आत्मेति जैना जिनाः प्रतिजानते। कर्तृत्वादिविशिष्टः परमेश्वराद्भिन्नो जीवात्मेति नैयायिकादयो वर्णयन्ति। द्रव्यबोधस्वभावमात्मेत्याचार्याः परिचक्षते।

वे [विवाद] इस प्रकार हैं—लोकायत (चार्वाक) मत वाले मानते हैं कि चैतन्य से युक्त देह ही आत्मा है। इनमें ही कुछ लोग इन्द्रियों को और कुछ लोग मन (अन्तःकरण) को आत्मा मानते हैं। संतान (Series) से युक्त और क्षणभंगुर विज्ञान ही आत्मा है, बौद्धों का बोध इस तरह का है। जिन (विजयी) जैनों की प्रतिज्ञा (Proposition) है कि देह का परिमाण (Dimension) ही आत्मा है। नैयायिक आदि वर्णन करते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर से भिन्न है तथा कर्तृत्व आदि से युक्त है।

आचार्य (कुमारिलभट्ट) कहते हैं कि द्रव्य का स्वभाव (अज्ञान स्वरूप) और बोध का स्वभाव (ज्ञान स्वरूप) आत्मा है [उनका कहना यह है कि 'आत्मानन्दमयः' (तै० २।५।१) में 'आनन्दमय' शब्द से आनन्द की प्रचुरता का बोध होता है, साथ-साथ उसके विरोधी अंश (=द्रव्यांश) का भी, थोड़ा ही सही, अस्तित्व मालूम पड़ता है। सोकर उठने पर कितने आदमी कहते हैं कि मैं सुख से सोया रहा, कुछ स्वप्न में जान नहीं सका। यह दशा सुषुप्ति की थी। यदि इस दशा में प्रकाश नहीं होता तो ऐसा कहना कभी संभव नहीं था कि सुषुप्ति में कुछ बोध नहीं रहता है। इसलिए आत्मा में प्रकाश का अंश

सिद्ध होता है। साथ-साथ बोध का अभाव रहता है इसलिए अप्रकाशांश अर्थात् द्रव्यांश भी उस (सुषुप्ति की) दशा में है। इसीलिए ये लोग आत्मा को द्रव्य-स्वभाव और ज्ञानस्वभाव मानते हैं।]

भोक्तैव केवलं न कर्त्तेति सांख्याः संगिरन्ते। चिद्रूपः कर्तृत्वादिरहितः परस्मादभिन्नः प्रत्यगात्मेत्यौपनिषदा भाषन्ते। एवं प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतो विप्रतिपत्तौ तद्विशेषसंशयो युज्यते। तथा च संदेहसंभवाज्जिज्ञास्यत्वं ब्रह्मणः सिद्धम्।

तदित्थं ब्रह्मणो विचार्यत्वसंभवेन तद्विचारात्मकं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमारम्भणीयमिति युक्तम्। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादि सर्वस्य शास्त्रस्यैतद्विचारापेक्षत्वात् शास्त्रप्रथमाध्यायसंगतमिदमधिकरणम्।

सांख्य लोग कहते हैं कि आत्मा (पुरुष) केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं। उपनिषदों के अध्येताओं का कथन है कि जीवात्मा चित् के रूप में, कर्तृत्वादि विशेषणों से रहित तथा परमात्मा से अभिन्न है। इस प्रकार धर्मी (आत्मा) प्रसिद्ध है परन्तु उसके विशेषणों (गुणों) को लेकर विवाद है। इसलिए आत्मा के विशेष (धर्म, गुण) के विषय में संशय होना युक्तिसंगत ही है। और जब संदेह होना संभव है तो ब्रह्म का जिज्ञासा का विषय होना भी सिद्ध है।

अब चूँकि ब्रह्म विचारणीय हो सकता है इसलिए उसका विचार करने वाले ब्रह्म-मीमांसा शास्त्र का आरंभ करना चाहिए, यह उचित है। [इस प्रकार यह **उत्तर-पक्ष** हुआ।] 'जिससे इस संसार के जन्म आदि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) यहाँ से आरंभ करके यह समूचा शास्त्र इसी ब्रह्म के विचार में लगा हुआ है इसलिए शास्त्र के प्रथमाध्याय (समन्वय से संबद्ध अध्याय) के साथ यह अधिकरण संगत है। [यह **संगति** हुई।]

विशेष—इस प्रकार उदाहरण के लिए प्रथम सूत्र से संबद्ध ब्रह्मजिज्ञासा-अधिकरण का विस्तृत विश्लेषण किया गया। वास्तव में इसमें अधिक स्थान तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष ने ही घेर लिया जिसमें अवान्तर पक्षों और विषयों का भी यथास्थान समावेश कर दिया गया है। इससे लाभ यह हुआ कि दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचय हो गया। वे विषय हैं—आत्मा (ब्रह्म) तथा अध्यास।

(९. ब्रह्म की सिद्धि के लिए आगम प्रमाण)

नन्वित्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा ?

न कदाचित्तत्र प्रत्यक्षं क्रमते। अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। व्याप्तस्य लिङ्गस्याभावात्। नाप्यागमः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै० २।४।१) इति श्रुत्यैवागमगम्यत्वनिषेधात्। उपमानादिकमशक्यशङ्कम्। नियतविषयत्वात् तस्माद् ब्रह्मणि प्रमाणं न संभवतीति चेत्—।

शंका—यह पूछा जा सकता है कि उपर्युक्त ब्रह्म के लिए प्रमाण क्या है—प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम? कभी भी प्रत्यक्ष को तो प्रमाण नहीं ही मान सकते। क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियातीत है [और प्रत्यक्ष की प्राप्ति इन्द्रियों की पहुँच वाले पदार्थों में ही होती है]। अनुमान भी नहीं लग सकता क्योंकि [ब्रह्म से] व्याप्त किसी भी लिंग (साधन) की संभावना नहीं है। आगम प्रमाण भी नहीं लगेगा क्योंकि 'जहाँ से वाणी लौट आती है' (तै० २।४।१) आदि श्रुति के द्वारा ही, ब्रह्म आगम से ज्ञेय है, इसका निषेध किया गया है।

उपमान आदि की शंका तक नहीं की जा सकती क्योंकि इनका विषय (प्रयोगक्षेत्र, Jurisdiction) बिल्कुल सीमित है। इसलिए ब्रह्म के लिए कोई भी प्रमाण संभव नहीं है।

मैवं वोचः। प्रत्यक्षाद्यसंभवेऽपि आगमस्य सत्त्वात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति वाग्गोचरत्वनिषेधात्कथमेतदिति चेत्—श्रुतिरेव निषेधति वेदान्तवेद्यत्वं ब्रह्मणः श्रुतिरेव विधत्ते। न हि वेदप्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते। अपि तु तदुपपादनमार्गमेव विचारयति। तस्मादुभयमपि प्रतिपादनीयम्।

समाधान—ऐसा न कहें। यद्यपि [ब्रह्म की सिद्धि के लिए] प्रत्यक्षादि प्रमाण संभव नहीं हैं किन्तु आगम की तो सत्ता है। यदि आप कहें कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते (जहाँ से वाणी लौट आती है)' इसमें ब्रह्म के वाणी के गोचर (वाणी से ज्ञेय, प्रकाश्य) होने का निषेध किया गया है, तो हम उत्तर देंगे कि श्रुति ही ब्रह्म के वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ज्ञेय होने का निषेध भी करती है और श्रुति ही विधान भी करती है। [परन्तु इससे घबराना नहीं है।]

वेद में प्रतिपादित अर्थ जब असिद्ध होता है तब उससे वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती, बल्कि उस अर्थ की सिद्धि का रास्ता खोजती है। इसलिए दोनों प्रकार की श्रुतियों का प्रतिपादन (साधन) करना चाहिए।

विषयत्वनिषेधकानि वाक्यानि वाक्यजन्यवृत्तिव्यक्तस्फुरण-

लक्षणफलासंभवविवक्षया प्रवृत्तानि। विषयत्वबोधकानि तु वृत्ति-जन्यावरणभङ्गलक्षणफलसंभवविवक्षया। तदुक्तं भगवद्भिः—

६. अनाधेयफलत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकारसमर्पणात् ॥ इति।

७. न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम्।
तज्जन्यावृतिभङ्गत्वात्प्रमेयमिति गीयते ॥ इति च।

[अब सभी प्रकार के श्रुति-वाक्यों में एकवाक्यता का प्रदर्शन करने का प्रयास करते हैं—] श्रुतियों में जो वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय नहीं मानते वे इस विचार से प्रवृत्त हुए हैं कि उन वाक्यों से उत्पन्न वृत्ति (ज्ञान) से व्यक्त होनेवाला **स्फुरण** (ज्ञान में अपने आकार का समर्पण) रूपी फल प्राप्त होना असम्भव है। दूसरी ओर जो वाक्य ब्रह्म को ज्ञान का विषय मानते हैं वे इस विचार से प्रवृत्त होते हैं कि उक्त वृत्ति (वाक्यजन्य ज्ञान) से उत्पन्न आवरण-भंग (अज्ञान-नाश) रूपी फल प्राप्त होना संभव है। [जब किसी प्रकार का ज्ञान होता है तो उसके दो फल हैं—आवरणभंग और स्फुरण। प्रक्रिया यह है कि अन्तःकरण बुद्धि के रूप में आकर, अपने अन्तर्गत चिदाभास को लेकर किसी विषय को व्याप्त करता है। बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश (आवरणभंग) होता है तथा चिदाभास की व्याप्ति से विषय (घटादि) का स्फुरण (प्रकाशन) होता है। बुद्धि अचेतन होने के कारण स्वयं घटादि का प्रकाशन नहीं कर सकती। घटादि ज्ञान की यही विधि है।* अब ऊपर कहा गया है कि श्रुतियाँ ब्रह्म की ज्ञानगोचरता का विधान भी करती हैं, निषेध भी, निषेध इसलिए करती हैं कि स्फुरण अर्थात् ज्ञान में ब्रह्म के आकार का समर्पण सम्भव नहीं है। अज्ञान का नाश होने पर आत्मा अपने आप स्फुरित होती है। यही कारण है, स्फुरण वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का फल नहीं हो सकता। चिदाभास की व्याप्ति से आत्मा का स्फुरण नहीं होता। इसलिए 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि वाक्य हैं। दूसरी ओर, कुछ वाक्यों में ब्रह्म को ज्ञानगोचर माना गया है। वह इसलिए कि ज्ञान का पहला फल जो अज्ञाननाश है, वह तो सम्भव है न ? अज्ञान-नाश बुद्धि की व्याप्ति से ही होता है इसलिए उसकी सम्भावना में कोई आपत्ति नहीं। फलतः दोनों प्रकार की श्रुतियों का समन्वय (Reconciliation) होता है।

* देखिये—पंचदशी, (७।९१)
बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥

इसे बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा है—'ब्रह्म श्रुति का विषय इसलिए नहीं बन सकता क्योंकि [ब्रह्म पर स्फुरण रूपी] फल का आरोपण (उत्पादन) [श्रुति] नहीं कर सकती। [ब्रह्म तो स्वयं स्फुरित होता है। श्रुति उस पर स्फुरणरूपी फल का उत्पादन नहीं कर सकती। ब्रह्म] प्रमेय तभी हो सकता है जब वह ज्ञान पर अपने आकार का समर्पण करे। [जैसे घट का स्फुरण, चिदाभास के द्वारा, अपने आकार का समर्पण ज्ञान पर करने से होता है, उस प्रकार से ब्रह्म का स्फुरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञान-नाश के बाद स्वयं प्रकाशित होता है।]॥ ६ ॥

'ब्रह्म प्रमाण से प्रकाशित नहीं होता क्योंकि उसका प्रकाश अपने आप होता है। [सत्य इतना ही है कि प्रमाण से] आवृति (अज्ञान, आवरण) का नाश होता है [और आवरणभंग से ब्रह्म का स्फुरण होता है] इसलिए ब्रह्म प्रमेय कहलाता है ॥ ७ ॥'

विशेष—जिस स्थान पर ब्रह्म को ज्ञेय कहा गया है वहाँ यह समझें कि अज्ञान-नाश की संभावना की दृष्टि से विचार किया गया है क्योंकि अज्ञान-नाश भी ज्ञान ही है। जहाँ पर ब्रह्म को अज्ञेय कहा गया है वहाँ यह समझें कि स्फुरण की असंभावना का दृष्टिकोण है। स्फुरण ज्ञान का अंतिम फल है। स्फुरण की असंभावना का अर्थ है कि किसी प्रमाण के द्वारा स्फुरण नहीं होना। वस्तुस्थिति के अनुसार ब्रह्म का स्फुरण अपने आप होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने पाण्डित्य का प्रदर्शन तथा अपनी अतुल मेधाशक्ति का परिचय देते हुए श्रुति पर आरोपित ब्रह्मशास्त्रीय विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया है।

(९. सिद्ध अर्थ का बोधक होने से वेद अप्रमाण—पूर्वपक्ष)

ननु स्यादेष मनोरथो यदि सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यं सिध्येत्। संगतिग्रहणायत्तत्वात् प्रामाण्यनिश्चयस्य। संगतिग्रहणस्य च वृद्धव्यवहारायत्तत्वात्। वृद्धव्यवहारस्य च लोके कार्यैकनियतत्वात्। न ह्यस्ति संभवः शब्दानां कार्येऽर्थे संगतिग्रहः सिद्धार्थाभिधायकत्वं तत्र वा प्रामाण्यमिति।

न हि तुरङ्गत्वे गृहीतसंगतिकं तुरङ्गपदं गोत्वमाचष्टे तत्र वा प्रामाण्यं भजते। तस्मात्कार्यगृहीतसंगतिकानां शब्दानां कार्य एव प्रामाण्यम्।

[मीमांसकों की ओर से शंका हो रही है कि आपका] यह मनोरथ

(समन्वय करने वाला) तभी पूर्ण हो सकता है यदि सिद्ध अर्थ (Established truth) का प्रतिपादन करने पर भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय। कारण यह है कि प्रामाणिकता का निश्चय संगति (शब्द और अर्थ का सम्बन्ध) के ग्रहण करने पर निर्भर है। [जब तक शब्दार्थ सम्बन्ध न समझें तब तक किसी वाक्य को प्रमाण नहीं मान सकते।] संगति का ग्रहण भी वृद्ध व्यवहार पर निर्भर करता है। लौकिक दृष्टि से वृद्ध व्यवहार एकमात्र कार्य से ही सम्बद्ध रहता है। [कार्य = जिसे करना चाहिए, कर्तव्य। बालक पहले-पहल **वृद्धव्यवहार** से ही शक्ति-ग्रहण करता है। व्यवहार का अर्थ है 'गामानय' (गाय लाओ) – इस प्रकार के विधि-वाक्यों के सुनने के बाद जो गाय लाने के रूप में प्रतीत होता है। गाय लाना एक कार्य है क्योंकि विधि बतलाने वाला प्रत्यय (लोट्) उसमें लगा है, उसके सुनने से कर्तव्य की भावना होती है। इस प्रकार बालक कार्यरूपी 'आनयन' (Bringing) के साथ नी-धातु की संगति का ग्रहण करता है। 'राम ने रावण को मारा' यह वाक्य सिद्ध है अतः किसी व्यवहार की प्रतीति इसमें नहीं होगी। ऐसे वाक्यों से बालक शक्तिग्रहण नहीं कर सकता। उसी तरह जिस शब्द से कार्य का बोध नहीं होता तथा जो सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक है ऐसे शब्द से शक्तिग्रहण नहीं होता—तो उक्त सिद्ध अर्थ में प्रयुक्त शब्द प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसलिए सिद्ध ब्रह्म के बोधक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादि वाक्यों को प्रमाण नहीं मान सकते।]

कार्य (कर्तव्य) के अर्थ में शब्दों की संगति का ग्रहण करना सम्भव नहीं है इसलिए उन्हें सिद्ध अर्थ का बोधक नहीं मान सकते और न उस अर्थ में उन्हें प्रामाणिक ही मान सकते हैं।

तुरंगत्व के रूप में जिसकी संगति का ग्रहण किया गया है वह तुरंग (घोड़ा) शब्द गोत्व का बोधक नहीं हो सकता और न उस अर्थ में प्रामाणिक ही माना जा सकता। इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि जिन शब्दों की संगति कार्य के अर्थ गृहीत की गई है उनकी प्रामाणिकता कार्य (साध्य, कर्तव्य) के रूप में ही होती है, [सिद्ध अर्थ में नहीं। साध्य अर्थ में संकेतग्रह होने से साध्य अर्थ ही प्रामाणिक होगा। सिद्ध अर्थ में संकेतग्रह होता ही नहीं, अतः उसमें प्रामाणिकता मानना ठीक नहीं। मीमांसक केवल विधिवाक्यों को जिनमें साध्य का निर्देश रहता है, प्रामाणिक मानते हैं।]

ननु मुखविकासादिलिङ्गाद् हर्षहेतुं प्रसिद्धार्थमनुमाय यत्र शब्दस्य संगतिग्रहो यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु, तत्रावश्यं

कार्यमन्तरेणैव शब्दस्य सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यमाश्रीयत इति चेत्—न। पुत्रजन्मवदेव प्रियासुखप्रसवादेरनेकस्य हर्षहेतोरुपस्थीयमानत्वेन परिशेषावधारणानुपपत्तेः। पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थपरेषु प्रयोगेषु द्वारं द्वारमित्यादिवत्कार्याध्याहारेण प्रयोगोपपत्तेश्च।

कहीं-कहीं सिद्ध वाक्य से भी शक्तिग्रह होता है, इस आशय से शंका करते हैं—] अब कोई यह कह सकता है कि जैसे तुम्हें पुत्र हुआ है, इस प्रकार के वाक्यों में मुख-विकास आदि साधनों को देख कर हर्ष के कारण का, जो प्रसिद्ध तथ्य है, अनुमान करके जहाँ शब्द की संगति का ग्रहण करते हैं वहाँ तो कार्य (साध्य, कर्तव्य) न रहने पर भी, सिद्ध अर्थ में शब्द की प्रामाणिकता मानते हैं। [शंका का यह आशय है—राम ने मोहन को लक्ष्य करके एक वाक्य कहा कि तुम्हें पुत्र हुआ है। यह वाक्य किसी कर्तव्य का तो निर्देश करता नहीं है, सिद्ध वाक्य है। इसे सुनकर मोहन का मुख प्रसन्न हो गया। इस लिङ्ग से राम निश्चय करता है कि तुम्हें पुत्र हुआ है, इस वाक्य का अर्थ है,—पुत्र का जन्म होना। शब्दों का अर्थ राम को लग गया—संगति का ग्रहण हो गया। ऐसा नहीं सोचें कि किसी दूसरे कारण से—जैसे परीक्षा में प्रथम होने, नौकरी पाने आदि से—राम का मुख प्रसन्न है, ऐसी दशा में पुत्र के जन्म का ही अर्थ कैसे लेते हैं? ऐसी बात नहीं है क्योंकि राम ने मोहन की भार्या को आसन्न-प्रसवा के रूप में देखा था। इससे उसने 'पुत्रस्ते जातः' वाक्य का अर्थ 'पुत्रजन्म' ही निश्चित किया। निष्कर्ष यह निकला कि सिद्ध वाक्यों में भी शक्तिग्रह होता है अतः वे भी प्रमाण हैं। यह वेदान्तियों की ओर से मीमांसकों को उत्तर दिया गया है।]

[अब मीमांसक इस अवान्तर पक्ष का उत्तर दे रहे हैं।] ऐसी बात नहीं है। कारण यह है कि जिस प्रकार पुत्रजन्म को हर्ष का कारण मानकर ['पुत्रस्ते जातः' वाक्य का अर्थ निश्चय करते हैं, उसी प्रकार पत्नी का सुख से प्रसव होना आदि भी [हर्ष के कारण हो सकते हैं उन्हें हटा कर] परिशेष के नियम से [पुत्र के जन्म का] निश्चय करना संभव नहीं है। [पुत्रजन्म को हर्ष का कारण तभी माना जा सकता है जब हर्ष के दूसरे कारण असम्भव हो जायँ तथा केवल पुत्रजन्म ही कारणों की शृंखला में बचा रहे। ऐसी बात नहीं कि हर्ष के प्रसव सम्बन्धी ही दूसरे कारण न हों। कन्या उत्पन्न होने पर भी सुख से प्रसव हो जाने पर या अच्छे लग्न में प्रसव होने पर भी हर्ष हो सकता है। दूसरी बात यह है कि 'पुत्रस्ते जातः' भी सिद्धवाक्य नहीं है। वक्ता के तात्पर्य से 'तुम जानो' इस विधिबोधक शब्द का अध्याहार किया जा सकता है।]

'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाले प्रयोगों में 'द्वारं द्वारम्' (=द्वारं पिधेहि, दरवाजा लगाओ) इत्यादि वाक्यों की तरह कार्य (विधिबोधक शब्द) का अध्याहार करके प्रयोग की सिद्धि की जा सकती है। [किसी वाक्य में विधि मुख्य है, उसके बोधक पदों का अध्याहार करना सर्वथा उचित है। तात्पर्य रहने पर तो विधि-बोधक पदों का अध्याहार करना आवश्यक ही है। अब वेदान्त-वाक्यों पर आरोपण होगा कि वे शास्त्र ही नहीं हैं। शास्त्र में विधि और निषेध दो ही बातें रहती हैं—ऐसा करो, ऐसा मत करो।]

शास्त्रत्वप्रसिद्ध्या च न वेदान्तानां सिद्धार्थपरत्वम्। प्रवृत्ति-निवृत्तिपराणामेव वाक्यानां शास्त्रत्वप्रसिद्धेः। तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

८. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ इति।

जिस तरह शास्त्र की प्रसिद्धि है उस तरह से तो वेदान्त-वाक्यों को सिद्ध अर्थ से संबद्ध मानना ही नहीं चाहिए। जो वाक्य प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश करते हैं वे शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध होते हैं। इसे कुमारिल भट्ट ने कहा है— 'नित्य (वेद) या कृतक (अनित्य सूत्र आदि) शब्द के द्वारा पुरुषों को प्रवृत्ति या निवृत्ति का जो उपदेश करता है वही शास्त्र कहलाता है।' [शास्त्र के रूप में वेदान्त-वाक्यों की प्रसिद्धि है—इसलिए वे सिद्ध अर्थ अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादक नहीं हो सकते। यदि आप कहें कि सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्य इसके साक्षी हैं, तो फिर ये वाक्य शास्त्र ही नहीं है क्योंकि न तो इन वाक्यों से प्रवृत्ति का ही बोध होता है और न निवृत्ति का ही। इस प्रकार आगम को ब्रह्म के प्रमाण के रूप में रखना भूल है।]

न चैतेषां स्वरूपपरत्वे प्रयोजनमस्ति। श्रुतवेदान्तार्थस्यापि पुंसः सांसारिकधर्माणामनिवृत्तेः। तस्माद्वेदान्तानामप्यात्मा ज्ञातव्य इति समाम्नातेन विधिनैकवाक्यतामाश्रित्य कार्यपरतैवा-श्रयणीयेति सिद्धम्। ततश्च केवलसिद्धरूपे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं न सिध्यतीति चेत्।

[**पूर्वपक्ष का उपसंहार** करते हुए मीमांसक कहते हैं कि] इन वेदान्त-वाक्यों का [विधि से सम्बन्ध न रहने के कारण] अपने रूप के बोध के लिए कोई प्रयोजन (उपयोग) नहीं है। वेदान्त (उपनिषदों) के वाक्यों का अर्थ

सुन लेने के बाद भी पुरुष से सांसारिक धर्मों की निवृत्ति नहीं ही होती है। इसलिए वेदान्त-वाक्यों में भी 'आत्मा ज्ञेय है (जानना चाहिए)' इस प्रकार के समाम्नात (कथित) विधि से एकवाक्यता दिखा कर उन वाक्यों को कार्य (कर्तव्य, विधि) से ही सम्बद्ध माना जाय, [सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं], यह सिद्ध हो गया।

इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि केवल सिद्ध (साध्य नहीं) के रूप में ब्रह्म के विषय में वेदान्त-वाक्य प्रामाणिक नहीं हो सकते।

(९ क. सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति—उत्तरपक्ष)

अत्र प्रतिविधीयते। न तावत्सिद्धे व्युत्पत्त्यसिद्धिः। प्रागुन्नीतया नीत्या 'पुत्रस्ते जातः' इति वाक्यात्सिद्धपरादपि व्युत्पत्तिसिद्धेः। न च परिशेषावधारणानुपपत्तिः। प्रियासुखप्रसवादेरपि संभवादिति भणितव्यम्। पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवादिसूचकाभावात्।

अब हम उसका प्रत्युत्तर देते हैं। पहले (तावत्) यह समझें कि सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती है, यह बात नहीं है। जिस नियम का उन्नयन (प्रकाशन) पहले ही किया गया है, उसीसे 'पुत्रस्ते जातः' इस सिद्ध वाक्य से भी व्युत्पत्ति की सिद्धि होती है। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि ['पुत्रस्ते जातः' का अर्थ करने में] परिशेष के द्वारा [पुत्रजन्म का अर्थ] निर्णय करना संभव नहीं है। आपने इसका (परिशेष का निर्णय न हो सकने का) कारण बतलाया है कि पत्नी को सुख से प्रसव हो जाना आदि भी कारण के रूप में सम्भव हो सकते हैं। परन्तु यह इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि पुत्र शब्द से अंकित वस्त्र का प्रदर्शन करनेवाले [संदेशवाहक] के द्वारा पत्नी को सुख से प्रसव होने आदि की सूचना नहीं मिलती। [यह कारण एकमात्र पुत्रजन्म में ही केन्द्रित है। हर्ष का कारण इसीलिए पुत्रजन्म ही है। इसके फलस्वरूप सिद्ध वाक्य से भी शक्ति (व्युत्पत्ति) का ग्रहण होता है। कहना यह है कि मोहन ने राम के पुत्र की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव किया। वह पुत्रशब्द से युक्त कुंकुम से अंकित पट दिखानेवाले संदेशवाहक को लेकर राम के पास गया। यह किसी अज्ञात प्रथा की ओर निर्देश है। मोहन ने राम से कहा— बड़े भाग्यवान् हो राम, तुम्हें पुत्र हुआ है। राम तो सुनते ही हर्ष से भर गया। उसके दोनों कपोल प्रफुल्ल हो गये, आँखें खिल उठीं। मोहन उसके हर्षातिरेक को देखकर अनुमान करता है कि पुत्र की उत्पत्ति ही इसके हर्ष का कारण है। यद्यपि

सुख से प्रसव भी हुआ है पर वह केवल होने से ही हर्षहेतु नहीं हो सकता। यदि ऐसा नहीं होता तो 'गामानय' वाक्य को सुनकर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति का छत्र, जूता आदि धारण करना आदि विद्यमान होने से उसमें भी शक्तिग्रहण हो जाता। फलतः परिशेष का नियम लगाना संभव है जो कारणों की शृङ्खला से पुत्रजन्म को निकाल कर खड़ा करता है तथा सिद्ध वाक्य में भी शक्तिग्रह की सिद्धि करता है।]

पुत्रजन्मैव तत्सूचकमिति चेत्—प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे कारणाभावात्। पुत्रजननस्यैवाधिकानन्दहेतुत्वाच्च।

पुत्रोत्पत्तिविपत्तिभ्यां नापरं सुखदुःखयोः।

इति विद्यमानत्वात्। तथा चाचकथच्चित्सुखाचार्यः—

९. दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः॥

(चित्सुखी, पृ० ८८) इति।

यदि आप कहें कि [प्रिया को सुख से प्रसव होने आदि का] सूचक पुत्र का जन्म ही है [तथा इस आधार पर दूसरे कारणों की संभावना हो सकती है जो हर्ष के कारण बनकर शक्तिग्रह में बाधा पहुंचा सकते हैं, तो हमारा उत्तर है कि ऐसी अवस्था में यह मान्य है कि पुत्र का जन्म तो पहले प्रतीत हो चुका है जिसे आप कारण मान रहे हैं—इसी के ऊपर दूसरे कारण आधारित हैं। दूसरे कारणों को तभी स्वीकृत किया जा सकता है जब इस प्रथम प्रतीत होने वाले कारण को त्याग दें। किन्तु] इस प्रथम प्रतीत होनेवाले (हर्षकारण) पुत्रजन्म को त्याग कर [दूसरे कारणों को मान्यता देने का] कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता।

[पुत्र का जन्म न केवल सबसे पहले प्रतीत होता है प्रत्युत] वह पुत्रजन्म ही सबसे अधिक आनन्द का कारण होता है। इसकी पुष्टि के लिए यह श्लोकार्ध विद्यमान है—'पुत्र की उत्पत्ति से बढ़कर न कोई सुख है और उसकी विपत्ति से बढ़कर कोई दुःख भी नहीं।'

ऐसा ही चित्सुखाचार्य ने कहा है—'जिसने चैत्र के पुत्र की उत्पत्ति देखी है वह (देवदत्त) पुत्र शब्द से अंकित वस्त्र लिये हुए संवादवाहक के साथ [चैत्र के पास] जाता है इसी से वह [पुत्रजन्म ही चैत्र के हर्ष का कारण है—] इस परिशेष का निश्चय कर लेता है।' (चित्सुखी, पृ० ८८)।

यदुक्तं 'सिद्धार्थपरेषु कार्याध्याहारः' इति तदयुक्तम्। मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगसिद्धावध्याहारानुपपत्तेः। यदुक्तं 'शास्त्रत्वप्रसिद्धया च न स्वरूपपरत्वम्' इति तदप्ययुक्तम्। हितशासनादपि शास्त्रत्वोपपत्तेः। न च प्रयोजनाभावः। श्रुतमतवेदान्तजन्याद्वितीयात्मविज्ञानाभ्यासेन संसारनिदानाविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मात्मतालक्षणपरमपुरुषार्थसिद्धिः।

ऊपर आपने पूर्वपक्ष से यह जो कहा है कि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में कार्य (विधिबोधक) शब्द का अध्याहार करें, तो यह समीचीन नहीं है। कारण यह है कि जो वाक्य सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसमें भी मुख्य अर्थ की वाचकता मानकर प्रयोग की सिद्धि की जा सकती है [=सिद्ध वाक्य भी प्रयोग में मुख्यार्थ का बोध करा सकते हैं], अतः अध्याहार उपपन्न (Justified) नहीं है।

आपने फिर यह कहा है कि शास्त्र की प्रसिद्धि के दृष्टिकोण से [ये वेदान्त वाक्य] अपने स्वरूप या अर्थ का प्रतिपादन तक करने में असमर्थ हैं, यह भी असंगत है क्योंकि [उक्त लक्षण के अतिरिक्त] जो हित (कल्याण) का शासन (प्रतिपादन) करता है वह भी शास्त्र कहलाता है। [इसलिए कल्याण के साधक ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य शास्त्र हैं।]

आप इसकी तनिक चिंता न करें कि [स्वरूप का प्रतिपादन करने में] कोई प्रयोजन नहीं। वेदान्त के वाक्यों का श्रवण और मनन कर लेने पर उससे अद्वितीय (Monistic) आत्मा के विज्ञान का अभ्यास किया जा सकता है। इसके बाद विद्या (ज्ञान) का उदय होने से संसार के निदान (कारण) अविद्या की निवृत्ति होती है तथा इसीके उपलक्षण के रूप में ब्रह्ममय हो जाना परम पुरुषार्थ (Summum bonum) है जिसकी प्राप्ति होती है। [अतः शास्त्र-वाक्यों के मुख्यार्थ-बोध का उपयोग तो है ही।]

न चात्र विधिः संभवति। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं शाब्दज्ञानं विधेयं किं वा भावनात्मकमाहोस्वित्साक्षात्काररूपम् ?

नाद्यः। विदितपदार्थसंगतिकस्याधीतशब्दन्यायतत्त्वस्यान्तरेणापि विधिं शब्दादेवोपपत्तेः। नापि द्वितीयः। भावनाया

ज्ञानप्रकर्षहेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् । अप्राप्तप्रापकस्यैव विधित्वाङ्गीकारात् ।

यहाँ पर (=ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तवाक्यों में) विधि की संभावना ही नहीं है क्योंकि नीचे दिये विकल्पों को सहने की शक्ति ही इसमें नहीं है। वे विकल्प हैं—क्या शाब्दज्ञान (सुने गये शब्दों से उत्पन्न ज्ञान) का विधान किया जाता है या भावना का विधान होता है या साक्षात्कार का विधान करते हैं ?

पहला विकल्प [कि शाब्दज्ञान ही विधेय है] ठीक नहीं है क्योंकि जो व्यक्ति शब्द और उसके अर्थ की संगति (संबंध) जान चुका है तथा जिसने शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा न्यायतत्त्व (मीमांसाशास्त्र) का अध्ययन समाप्त कर लिया है वह तो विधि के बिना भी केवल सुने गये शब्द से ही शाब्दज्ञान पा सकता है, [इसके पृथक् विधान की अपेक्षा नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि भावना विधेय है] भी ठीक नहीं क्योंकि भावना (पुनः पुनः चिंतन करना, निदिध्यासन) कारण है ज्ञान के प्रकर्ष का जिसकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेक से होती है। इसलिए अपने आप प्राप्त होने के कारण भावना विधेय नहीं है। आप भी उसे ही विधि मानते हैं जो अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराये। [अभिप्राय यह है—अग्नि के संनिकर्ष से शीतपीड़ा की निवृत्ति होती है, उसका संनिकर्ष न होने से शीतपीड़ा निवृत्त नहीं होती। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से अग्नि के संनिकर्ष को शीत के विनाश का कारण जान लेते हैं। उसे बताने के लिए ऐसा विधान (Injunction) नहीं देखा जाता कि शीत के विनाश के लिए अग्नि का सेवन करना चाहिए। जो किसी रूप में ज्ञात हो जाय उसे बताने के लिए विधि नहीं होती। वही दशा ज्ञानप्रकर्ष (कार्य) और भावना (कारण) की है। भावना होने से ज्ञानातिशय होता है, नहीं होने से ज्ञानातिशय का अभाव देखते हैं। इस प्रकार भावना को लोग पहले से ही जान लेते हैं। यही कारण है कि इसके लिए विधि की अपेक्षा नहीं है। विधि के बिना भी भावना प्राप्त है।]

तृतीये साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वरूपः किं वान्तःकरणपरिणामभेदः ? नाद्यः। तस्य नित्यत्वेनाविधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। आनन्दसाक्षात्काररूपतया फलत्वेनाविधेयत्वात् ।

तीसरे विकल्प में भी प्रश्न है कि ब्रह्म के स्वरूप में साक्षात्कार विधेय है या मन के परिणाम के एक विशेष भेद के रूप में ? **पहला विकल्प** इसलिए

ठीक नहीं है कि ब्रह्म का स्वरूप नित्य है अतः वह विधान के योग्य नहीं है। [जिसका करना संभव है वही विधेय होता है। जिसकी सत्ता कभी नहीं होती (जैसे खरहे की सींग) या जो नित्य रूप से सत् हो (जैसे ब्रह्म का स्वरूप) तो ये दोनों ही कभी भी करणीय नहीं हो सकते। इसलिए इनका विधान संभव नहीं। असत् तो कारकों के व्यापार के बाद भी सत्ता धारण नहीं कर सकता और सत् पहले से ही सिद्ध रहने के कारण कारकों के व्यापार की अपेक्षा नहीं रखता।] **दूसरा विकल्प** भी ठीक नहीं क्योंकि आनन्द का साक्षात्कार तो इसका फल है अतः वह विधेय नहीं। [स्मरणीय है कि फल को लक्ष्य करके उसके उपाय का विधान किया जाता है जैसे स्वर्ग के उद्देश्य से याग का विधान। स्वयं फल का ही विधान नहीं होता है। आनंद तो अंतःकरण का परिणाम है उसका साक्षात्कार ही तो फल है जिसके विधान की अपेक्षा नहीं है।]

तस्माज्ज्ञातव्य इत्यादीनामविधायकत्वात् 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पाणि० सू० ३।३।१६९) इति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थे विधानादर्हार्थतैव व्याख्येया। तथा च सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामुपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्योपेतत्वात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वमास्थेयम्।

इसलिए 'ज्ञातव्यः' इत्यादि शब्द विधान करनेवाले नहीं है। पाणिनि ने 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा० सू० ३।३।१६९ अर्थात् योग्यता के अर्थ में कृत्य और तृच् प्रत्यय भी होते हैं)—इस सूत्र में अर्ह (योग्यता) के अर्थ में कृत्य प्रत्ययों (तव्यत्, तव्य, अनीयर, ण्यत्, क्यप्) का विधान किया है। अतः इन शब्दों की अर्हता या योग्यता के अर्थ में ही व्याख्या करनी चाहिए। [फलतः ज्ञातव्य का अर्थ है ज्ञान के योग्य, द्रष्टव्य = देखने के योग्य।]

इस प्रकार चूँकि सारे वेदान्तवाक्य उपक्रम, उपसंहार आदि छह प्रकार के तात्पर्य-निर्णायक लिंगों से युक्त हैं, अतः ये सब-के-सब नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म या आत्मा का ही प्रतिपादन करते हैं—ऐसा मानना चाहिए।

विशेष—इस तरह जो प्रश्न चल रहा था कि ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण क्या है, उसका समुचित उत्तर दे दिया गया कि आगम ही ब्रह्म की सिद्धि के लिए प्रमाण है। एक रूप से यहाँ इसकी भी विवेचना हो गई कि शास्त्रों का **विषय** ब्रह्म है। ऊपर कहा था कि शास्त्र का **प्रयोजन** भी है, जो है—अध्यास की निवृत्ति। अब उसकी विवेचना करेंगे।

(१०. अध्यास का निरूपण—प्रपंच का विवर्त रूप होना)

निष्प्रदेशे परमाणौ प्रदेशवृत्तित्वेनाभिमतस्य संयोगस्य दुरुपपादनतया तन्निबन्धनस्य द्व्यणुकस्यासिद्धौ द्व्यणुकादिक्रमेण आरम्भवादासंभवादचेतनायाः प्रकृतेर्महदादिरूपेण परिणामवादासंभवाच्च, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यानिर्वचनीयः प्रपञ्चश्चिद्विवर्त इति सिद्धम् । स्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरापत्तिर्विवर्त इति सत्यमिथ्याख्यावभास इति । अवभासोऽध्यास इति पर्यायः ।

अवयवों में वृत्ति होने पर संयोग उत्पन्न होता है, इसे सभी मानते हैं। यह संयोग अवयवों (प्रदेश) से रहित परमाणु में सिद्ध करना कठिन है, इसलिए उस (संयोग) पर ही आधारित (निबन्धन) द्व्यणुक की भी सिद्धि नहीं हो सकती। फलतः द्व्यणुक आदि के क्रम से उत्पत्ति मानने वाला **आरंभवाद** (न्याय-वैशेषिक से संमत सिद्धान्त) की सिद्धि असंभव है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की परिणति (विकास) महत् आदि तत्त्वों के क्रम से मानने वाला **परिणामवाद** (सांख्यमत) भी असंभव है। [आरंभवाद या परिणामवाद के अयुक्त हो जाने पर यह संसार असत् ही न मान लें क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। ऐसा भी न करें कि प्रपंच प्रतीत होता है अतः किसी तरह इन दोनों सिद्धान्तों का ही निर्वाह करके, प्रपंच सत्य है, यही मान लें। कारण कि ज्ञानियों की दृष्टि से इस प्रतीति में बाध (प्रतिरोध) उत्पन्न होता है। यदि यह संसार सत्य होता तो इसकी प्रतीति में प्रतिरोध नहीं होता।] प्रतीति के बाध की सिद्धि किसी भी दूसरे उपाय से नहीं हो सकने के कारण, विवश होकर इस अनिर्वचनीय (Inexplicable) प्रपंच को चित् या आत्मा का विवर्त मानते हैं—यह सिद्ध हुआ। (अनिर्वचनीय = जिसका बाध ज्ञान से संभव है।]

अपने रूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप का आपादन करना **विवर्त** है। इसे सत्य और मिथ्या नाम का अवभास कहते हैं। [आत्मा सत्य है तथा अहंकार आदि प्रपंच मिथ्या। अहंकारादि अनात्म-पदार्थ पर आत्मा के स्वरूप का अध्यास नहीं होता बल्कि आत्मा के संसर्ग का ही अध्यास होता है। किन्तु आत्मा पर अहंकार आदि अनात्म-पदार्थ जो मिथ्या हैं, उनका स्वरूप भी अध्यस्त होता है। सीपी में रजत का अध्यास भी ऐसा ही है जिसमें सीपी अपने रूप का त्याग किये बिना ही रजत के रूप में बदल जाती है।] अवभास और अध्यास, ये दोनों पर्याय (Synonym) हैं।

(१० क. अध्यास के भेद—दो प्रकार से)

स चाध्यासो द्विविधः—अर्थाध्यासो ज्ञानाध्यासश्चेति । तदुक्तम्—

१०. प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता ।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः ॥ इति ।

यह अध्यास दो प्रकार का है—अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास [सीपी पर मिथ्या रजत का अध्यास होना अर्थाध्यास है। यह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ (वस्तु) का दूसरे पर आरोप होना **अर्थाध्यास** (Superimposition of objects) है। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तब उसे **ज्ञानाध्यास** (Superimposition of knowledge) कहते हैं।] इसे कहा गया है—'प्रमाण (नेत्र आदि), दोष (दूरी आदि) तथा संस्कार (रजत के पूर्वानुभव से आत्मा में उत्पन्न संस्कार), इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली, एक वस्तु की जो दूसरे रूप में प्रतीति है, वह तथा उसका ज्ञान—ये दोनों अध्यास हैं, यह मनीषियों को अभीष्ट है ॥ १० ॥' [प्रस्तुत स्थल में अन्यथा-प्रतीति के तीन कारण दिये गये हैं। प्रमाण, दोष और संस्कार से ही मिथ्याख्याति होती है।]

पुनरपि द्विविधोऽध्यासः । निरुपाधिकसोपाधिकभेदात् । तदप्युक्तम्—

११. दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसंभवः ।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः ॥

१२. उपाधिसंनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम् ।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम् ॥ इति ।

अध्यास पुनः दो प्रकार का है—निरुपाधिक और सोपाधिक। इसे भी कहा है—'दोष से या कर्म से संचालित अविद्या (अज्ञान) से जो उत्पन्न होता है तथा तत्त्वज्ञान का विरोधी होता है वह भ्रम निरुपाधिक (आत्मा पर अहंकार का अध्यास करने वाला) है। ['इदं रजतम्' वाक्य में इदम् का अंश उपहित नहीं हुआ है। उस पर रजत के संस्कार के साथ वर्तमान अविद्या के द्वारा रजत का अध्यास होता है। उसी प्रकार अविद्या के द्वारा ही अनुपहित चित् रूपी आत्मा पर अहंकार का अध्यास होता है।]॥ ११ ॥ उपाधि के सामीप्य

से जब अविद्या में क्षोभ (संचालन, क्रिया) उत्पन्न होता है तब उस अविद्या से ही उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक कहते हैं जो उपाधि के विनाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है। [जब एकात्मक ब्रह्म पर, उसके उपहित हो जाने पर, जीव और ईश्वर के रूप में भेद की प्रतीति हो तो उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं।] ॥१२॥'

तत्र स्वरूपेण कल्पिताहमाद्यध्यासो निरुपाधिकः। तदप्युक्तम्—

१३. नीलिमेव वियत्येषा भ्रान्त्या ब्रह्मणि संसृतिः।
घटव्योमेव भोक्तायं भ्रान्तो भेदेन न स्वतः॥ इति।

अत एव भाष्यकारः 'शुक्तिका रजतवदवभासत एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति' निदर्शनद्वयमुदाजहार। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति विस्तरभियोपरम्यते। एवं च दृग्दृश्यौ द्वावेव पदार्थाविति वेदान्तिनां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम्।

उनमें स्वरूप से कल्पित 'अहम्' आदि का [आत्मा पर] अध्यास होना निरुपाधिक है। उसे भी कहा है—'जिस प्रकार आकाश में नीलापन का भ्रम है उसी तरह भ्रान्ति से यह संसार भी ब्रह्म में प्रतिभासित होता है। [आकाश सत्य है नीलिमा भ्रम, वैसे ही ब्रह्म सत्य है प्रपंच भ्रम। जैसे भ्रम के कारण आकाश से भिन्न] घट के आकाश को समझते हैं वैसे ही यह भोक्ता (जीव) [अपने को ब्रह्म से] भिन्न समझकर भ्रान्त होता है जब कि स्वरूप से ऐसी भिन्नता नहीं है॥ १३॥' [उक्त श्लोक में दोनों प्रकार के अध्यासों का वर्णन है। आत्मा पर अहंकारादि का अध्यास होना निरुपाधिक भ्रम है। निरुपाधिक भ्रम उसे कहते हैं जो अधिष्ठान (आत्मा) के ज्ञान से निवृत्त हो जाय अथवा जिसका निरूपण उपाधि के निरूपण के अधीन न हो। एक ब्रह्म में जीव और ईश्वर के भेद की प्रतीति होना सोपाधिक अध्यास है। सोपाधिक भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से नहीं होती क्योंकि इसमें उपाधि लगी है। इसका निरूपण उपाधि के निरूपण पर आधारित है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरंभ में दोनों के उदाहरण दिये हैं—इसे बतलाते हैं।]

इसी लिए भाष्यकार ने दो दृष्टान्तों का उद्धरण दिया है—'सीपी चाँदी की भाँति प्रतीत होती है (निरुपाधिक) और एक चंद्रमा दो चंद्रमाओं की तरह दिखलाई पड़ता है (सोपाधिक)।' अवशिष्ट बातें तो शास्त्र में ही स्पष्ट की हुई हैं, अतः विस्तार होने के भय से हम उपरत होते हैं। इस प्रकार वेदान्तियों का

सिद्धान्त है कि दृक् (आत्मा) और दृश्य (प्रपंच) ये दो पदार्थ ही हैं, इस तरह सब कुछ स्पष्ट है ।

(११. अध्यास का मीमांसकों के द्वारा खंडन—लंबा पूर्वपक्ष)

अत्र प्रभाकरः—शुक्तिका रजतवदवभासत इति दृष्टान्तो नेष्टः । रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः । तथा हि—इदं रजतमिति प्रतीतौ शुक्तेरालम्बनत्वं पुरोदेशसत्तामात्रेणावलम्ब्यते, कारणत्वेन, भासमानत्वेन वा ? नाद्यः । पुरोवर्तिनां लोष्टादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गात् ।

इस प्रसंग में प्रभाकर का कहना है कि सीपी रजत के रूप में प्रतीत होती है, शंकराचार्य का यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । रजत का ज्ञान सीपी के विषय में हो जाय, ऐसा संभव नहीं है । [पट के विषय में कभी भी घट का ज्ञान नहीं हो सकता है । जो विषय है उसीका ज्ञान होगा, दूसरे का नहीं ।] इसे इस रूप में देखें—'इदं रजतम्' इस प्रतीति में [चाँदी के ज्ञान को] सीपी के विषय में क्यों मानते हैं ? क्या उसकी सत्ता सामने है इसीलिए या वह सीपी कारण के रूप में है इसलिए या केवल प्रतीत होती है इसलिए ?

(१) यदि आप प्रथम विकल्प के अनुसार [चाँदी के ज्ञान को सीपी-विषयक इसलिए मानते हैं, कि सीपी की सत्ता ही सामने है तो यह कल्प] ठीक नहीं है क्योंकि तब तो पत्थर आदि को भी, जो सामने पड़े हैं, विषय (आलंबन) बनाया जा सकता है । [सामने केवल सीपी ही तो नहीं है जिसकी प्रतीति चाँदी के रूप में हो जायगी । पत्थर, मिट्टी आदि सारे पदार्थ सामने पड़े हैं । इन्हें रजतज्ञान का विषय क्यों नहीं बनाते ? इससे पता लगता है कि सीपी विषय हो और प्रतीति रजत की हो, यह कभी भी संभव नहीं । अब दूसरे पक्ष को उठाते हैं ।]

विशेष—यहाँ से अख्यातिवादी मीमांसकों का मत दिया जा रहा है । इसे संक्षेप में समझ लें । सीपी में जो 'इदं रजतम्' का ज्ञान होता है यह भ्रम नहीं, बल्कि यथार्थ ज्ञान है । वस्तुतः इसमें दो ज्ञान हैं । 'इदम्' प्रत्यक्षज्ञान है और 'रजतम्' स्मरणात्मक ज्ञान है जो पहले से देखे गये रजत के संस्कार के उद्बोध के कारण होता है । 'इदम्' (यह) के द्वारा सामने वर्तमान द्रव्यमात्र का बोध होता है । दोष के कारण उसमें अवस्थित सीपी का ग्रहण नहीं होता । तो, द्रव्यमात्र का ग्रहण हो जाने पर, रजत के सादृश्य के कारण, उसके संस्कार का

उद्‌बोध करके, वह द्रव्य रजत की स्मृति को उत्पन्न कर देता है। यह स्मृति ग्रहण का स्वभाव लिये हुए रहती है। दोष के कारण केवल ग्रहण में ही अवस्थित रहती है। इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरणात्मक दोनों ज्ञानों में विषय या स्वरूप की दृष्टि से भेदग्रहण न कर सकने के कारण, ये दोनों ज्ञान, वास्तव में भिन्न रहने पर भी, 'इदं रजतम्' वाक्य में अभेद का व्यवहार चलाते हैं। चाँदी का इच्छुक व्यक्ति वहाँ इसलिए प्रवृत्त होता है कि 'यह चाँदी नहीं है' इस रूप में भेद का ज्ञान उसे नहीं है। यही अख्यातिवाद है।

अथ कलधौतबोधकरणसंस्कारोद्बोधकारणत्वेन तद्‌द्वारा रजतज्ञानकारणत्वादालम्बनत्वं मन्यसे, तदपि न संगच्छते। चक्षुरादीनामपि कारणत्वेन विषयत्वापातात्।

अथ भासमानतया विषयत्वमिष्यते, तदप्यश्लिष्टम्। रजत-निर्भासस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः। यस्मिन्विज्ञाने यदवभासते तत्तदालम्बनम्। अत्र च कलधौतानुभवः शुक्तिकालम्बनत्व-कल्पनायां विरुध्यते।

(२) अब यदि आप यह कहें कि चांदी (कलधौत) का बोध कराने वाले संस्कार के जाग जाने के कारणस्वरूप उसके द्वारा ही रजत के ज्ञान का कारण होने से सीपी को हम विषय मानते हैं तो यह मत भी संगत नहीं है। [रजत के ज्ञान के] कारण तो चक्षु आदि भी हो सकते हैं, तो क्या आप उन्हें भी विषय मानने को तैयार हैं? [रजत का स्मरणात्मक ज्ञान उसके संस्कार के उद्‌बोध से उत्पन्न होता है। सीपी चूँकि उक्त संस्कार को जगाती है इसलिए रजतज्ञान का कारण सीपी है—सीपी विषय है और रजत का ज्ञान होता है। परन्तु यदि कारणों को विषय मानते चलें तो रजतज्ञान के विषयों का पहाड़ खड़ा हो जायगा—नेत्र आदि भी तो कारण हैं।]

(३) अब यदि यह कहें कि प्रतीत होती है इसीलिए उसे विषय मानते हैं तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। चाँदी की प्रतीति सीपी पर निर्भर करे, यह संभव नहीं। जिसके ज्ञान में जो प्रतीत होता है वही उसका विषय (आलंबन) है। यहाँ पर यदि सीपी को विषय मानकर चाँदी का अनुभव करें तो यह नियम के विरुद्ध होगा। [सीपी को विषय मानेंगे तो सीपी का ही अनुभव होगा, चाँदी का नहीं। फलतः सीपी को विषय मानने पर चाँदी की अनुभूति नहीं होगी—यह निश्चित हुआ।]

तथा चाचकथन्न्यायवीथ्यां शालिकनाथः—

१४. अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यत्वलक्षणम् ॥
१५. इदं रजतमित्यत्र रजतं त्ववभासते ।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥
१६. तेनान्यस्यान्यथा भासः प्रतीत्यैव पराहतः ।
अन्यस्मिन्भासमाने हि न परं भासते यतः ॥
(प्रक० प० ४।२३–२५) इति ।

इसे न्यायवीथी (=प्रकरणपंचिका का चतुर्थ प्रकरण—प्रभाकरमत के अनुसार ग्रंथ) में शालिकनाथ (मीमांसक, समय—७९० ई०, कृतियाँ—शाबर-भाष्य-व्याख्या, प्रकरणपंचिका) ने कहा है—'हम यहाँ कहते हैं कि जिस विज्ञान में जो पदार्थ प्रतीत होता है वही उस ज्ञान का विषय (अर्थात् वेद्य) होता है। वेद्य या अवेद्य होने का लक्षण किसी दूसरे में नहीं होता है ॥ १४ ॥ 'यह चाँदी है' इसमें चाँदी की ही प्रतीति होती है। अतः इस प्रतीति का विषय चाँदी ही बन सकती है, सीपी नहीं क्योंकि सीपी की प्रतीति तो नहीं हो रही है ॥ १५ ॥ इस प्रकार एक पदार्थ का दूसरे रूप में प्रतीत होना उस प्रतीति (ज्ञान) के द्वारा ही खंडित हो गया। क्योंकि जब एक पदार्थ भासित (प्रतीत) हो रहा है तब दूसरा पदार्थ भी भासित नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ (प्रकरण पंचिका ४।२३-२५)।

विशेष—इन सभी श्लोकों का मुख्य अर्थ यही है कि जिसकी प्रतीति होती है, वही विषय है। घट की प्रतीति हो रही है तो ज्ञेय घट ही है, पट नहीं। चाँदी की प्रतीति होने पर विषय भी चाँदी ही है, सीपी नहीं। यदि सीपी की प्रतीति हो तो भले ही सीपी को विषय मान सकते हैं।

(११ क. मिथ्याज्ञान के लिए कारण-सामग्री का अभाव)

किं च मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सामग्री न समस्ति। किं केवलानीन्द्रियादीनि दोषदूषितानि वा ? नाद्यः। तेषां समीचीनज्ञानजननसामर्थ्योपलम्भात्। अन्यथा समीचीनं रजतज्ञानं न कदाचिदुदयमासादयेत्। न द्वितीयः। दोषाणामौत्सर्गिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिबन्धमात्रप्रभावत्वात्।

इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री भी नहीं है। प्रश्न है कि क्या एकमात्र इन्द्रियाँ ही कारण हैं या दोषों से दूषित इन्द्रियाँ कारण हैं? पहला विकल्प तो ठीक नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियों में सम्यक् (Correct) ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य देखी जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो चाँदी का ठीक ज्ञान कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता था।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक (औत्सर्गिक) शक्ति का ही प्रतिबन्ध भर कर सकते हैं, [उसमें किसी अपूर्व शक्ति का उत्पादन नहीं कर सकते।]

न हि दुष्टं कुटजबीजं वटाङ्कुरं जनयितुमीष्टे। न वा तैल-कलुषितं शालिबीजमशाल्यङ्कुरजननायालम्। किं तु स्वकार्यं न करोति।

ननु दावदहनदग्धस्य वेत्रबीजस्य कदलीकाण्डजनकत्वं दृष्टमिति चेत्—तन्न स्थाने। दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतकार्यकारित्वं प्रत्यनुदाहरणात्।

[अब अपने कथन की पुष्टि के लिए दृष्टान्त देते हैं—] दोष से दूषित केवड़े का बीज बड़ के पेड़ का अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता। अथवा तेल से कलुषित धान का बीज धान से भिन्न किसी पौधे के अंकुर का उत्पादन करने में समर्थ नहीं है। [दूसरे के अंकुर का उत्पादन तो दूर रहा] वह अपना कार्य भी नहीं करता। [फल यह हुआ कि दोषयुक्त होने से भी इन्द्रियाँ मिथ्याज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकतीं। दोषों के रहने से ज्ञानोत्पादन का कार्य बंद हो सकता है। ऐसा नहीं कि एक ज्ञान को छिपाकर दूसरा मिथ्याज्ञान ये दोष उत्पन्न कर दें।]

अब एक शंका है कि दावाग्नि से जले हुए बेंत के बीज में केले का काण्ड (धड़) उत्पन्न करने की शक्ति देखी जाती है उसका क्या उत्तर देंगे? वास्तव में यह शंका युक्तियुक्त नहीं है। कारण यह है कि जल जाने पर तो वह बेंत का बीज रहा नहीं (बेंत का उत्पादन करने की सामर्थ्य उसमें रही नहीं)। इसलिए 'दोष विपरीत कार्य उत्पन्न कराने की शक्ति रखते हैं'—इसका उदाहरण तो हुआ ही नहीं। [बात यह है कि दोषों के कारण विपरीत कार्य—जैसे सीपी में रजत का ज्ञान उत्पन्न करने के जैसा कार्य—उत्पन्न होने का उदाहरण तभी संभव था जब जले हुए बेंत के बीज में बेंत को उत्पन्न

करने की सामर्थ्य रहती, फिर भी वह बेंत उत्पन्न न करके केले की धड़ उत्पन्न करता ।]

न च भस्मकदोषदूषितस्य कौक्षेयस्याशुशुक्षणेः बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृष्टमित्येष्टव्यम् । अशितपीताद्याहारपरिणतौ जाठरस्य जातवेदसः शक्तत्वात् । तदुक्तम्—

१७. अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणम् ।
दोषाश्चेन्न हि दोषाणां कार्यशक्तिविघातता ॥
१८. भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषता ।
अग्नेर्हि रसनिष्पत्तिः कार्यं जठरवर्तिनः ॥
(प्रक० प० ४।७३-७४) इति ।

[आप अपने कथन की पुष्टि के लिए] यह उदाहरण भी नहीं दे सकते कि भस्मक-दोष (अधिक अन्न पचानेवाला रोग) से दूषित होने पर जठराग्नि (कौक्षेयक = जठर-संबंधी, कुक्षि = पेट, आशुशुक्षणि = अग्नि) में बहुत अधिक अन्न पचाने की शक्ति देखी जाती है (अर्थात् दूषित अग्नि में अन्न पचाने की सामर्थ्य है) । खाये-पीये गये आहार की परिणति (परिपाक, रक्तादि का निर्माण) में जठराग्नि अपने आप ही समर्थ होती है । [आहार अधिक हो जाने से अग्नि में जो मंदता उत्पन्न होती है उसे भस्मक-रोग रोक देता है, मंदता आने नहीं देता । किन्तु साथ-साथ रक्तादि रसों के निर्माण में भी प्रतिबंध लग जाता है ।]

इसे कहा गया है—'अयथार्थ (मिथ्या) ज्ञान (जैसे सीपी में चाँदी का ज्ञान) की उत्पत्ति के लिए कोई कारण ही नहीं मिलता । यदि दोषों को कारण मानें तो यह युक्त नहीं क्योंकि वे दोष कार्योत्पादन की शक्ति में केवल प्रतिबंध कर सकते हैं [अपूर्व शक्ति का उत्पादन नहीं ।] ॥ १७ ॥ भस्मक आदि रोगों को जो आप दोष मानते हैं वह केवल इसलिए कि वे [रुधिरोत्पादन रूपी] कार्य के प्रतिबंधक हैं क्योंकि जठरवर्ती अग्नि का रसनिष्पादन करना तो स्वाभाविक कार्य ही है ॥ १८ ॥' (प्रकरणपंचिका ४।७३-७४) ।

(११ ख. असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता)

अपि चासत्यप्यर्थे ज्ञानप्रादुर्भावाभ्युपगमे समीचीनस्थलेऽपि ज्ञानानां स्वगोचरव्यभिचारशङ्काङ्कुरसंभवेन निरङ्कुशो व्यवहारो लुप्यते । तदाह—

१९. यदि चार्थं परित्यज्य काचिद् बुद्धिः प्रकाशते।
व्यचिचारवति स्वार्थे कथं विश्वासकारणम् ॥
(प्रक० पृ० ४।६६) इति।

इसके अतिरिक्त यह आपत्ति भी होगी कि यदि आप असत् या अविद्यमान वस्तु के विषय में ज्ञान की उत्पत्ति मानेंगे (=चाँदी के न रहने पर भी चाँदी का ज्ञान मानेंगे) तो जहाँ ठीक (Correct) ज्ञान होता है उस स्थल में भी ज्ञान अपने विषय (गोचर) से व्यभिचरित होने लगेगा (अर्थात् विषय न रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी)। ऐसी शंका के अंकुरों के उत्पन्न होने से संसार में निरंकुश (निःशंक) व्यवहार का बिल्कुल अभाव ही हो जायगा। [यह अभिप्राय है कि यदि प्रमाण माने जाने वाले व्यक्ति भी चाँदी दिखाकर कहें कि यह चाँदी है तो शंका हो सकती है कि यह आप्तज्ञान कभी विषयाभाव में भी तो हो सकता है ! फलतः चाँदी का निश्चय न हो सकने से उसकी ओर लोगों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। सारा ज्ञान शंकायुक्त हो जायगा और सभी व्यवहार नष्ट हो जायँगे। परंतु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है। सभी व्यवहार निश्चित ज्ञान के बाद ही होते हैं।]

इसे कहा है—'यदि कोई ज्ञान वस्तु को अपेक्षा रखे बिना ही प्रकाशित हो तो वह ज्ञान जब अपने विषय को लेकर ही व्यभिचारित (Inconsistent) होता है तो कैसे विश्वसनीय हो सकता है ?' [चाँदी न होने पर भी यदि उसका ज्ञान हो जाय तो वह व्यभिचारी है, नियम का पालन नहीं करता—ज्ञान किसी विषय का ही होता है यह नियम है। वह विषय-विहीन ज्ञान अपने विषयरूप पदार्थ की सत्ता का बोध कैसे करायेगा ? निष्कर्ष यह निकला कि अविद्यमान रजत प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, वह वस्तुतः स्मरण ज्ञान है। अतः 'इदं रजतम्' में प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनों ज्ञानों को स्वीकार करें—यह मीमांसकों का सुझाव और मान्यता है।]

(११ ग. ग्रहण और स्मरण का विश्लेषण)

ननु रजतगोचरैकविशिष्टज्ञानानङ्गीकारे विशिष्टव्यवहारो न सिध्येत्। अतस्तत्सिद्ध्येऽपि विपर्ययोऽङ्गीकार्य इति चेन्न। इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणाभिधस्य बोधद्वयस्य व्यवहारकारणत्वाङ्गीकारात्। यद्येवमिदं शुक्तिकाशकलं तद्रजतमित्यतोऽपि विशिष्टव्यवहारः स्यादिति। तन्न।

अब ये वेदान्ती कह सकते हैं कि जब तक आप रजत के विषय में एक विशिष्ट (प्रत्यक्ष) ज्ञान नहीं स्वीकार करते तब तक ['इदं रजतम्' के रूप में आपका] यह विशिष्ट व्यवहार सिद्ध नहीं होने का है। [अभिप्राय यह है कि उक्त वाक्य का प्रयोग तभी सफल होगा जब उसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को किसी न किसी रूप में रजत का प्रत्यक्ष हो रहा है। बिना रजत-प्रत्यक्ष के कौन मूर्ख 'इदं रजतम्' कहेगा ? किन्तु वस्तुतः तो रजत वहाँ है नहीं] इसलिए उसकी सिद्धि के लिए भी विपर्यय (मिथ्याज्ञान, भ्रम) आपको मानना ही पड़ेगा।

हमारा उत्तर है कि ऐसी बात नहीं। उक्त व्यवहार ('इदं रजतम्' वाक्य का व्यवहार) का कारण हम 'इदं रजतम्' में विद्यमान ग्रहण (प्रत्यक्ष—'इदं' शब्द में) तथा स्मरण ('रजतम्' में) इन दो ज्ञानों को मानते हैं।

[अब वेदान्ती एक आपत्ति इस उत्तर पर भी करते हैं—] यदि ऐसी बात होती [कि दो प्रकार के ज्ञानों से 'इदं रजतम्' का व्यवहार चलता है] तो 'यह सीपी का टुकड़ा है, वह चाँदी है' इस तरह के वाक्यों से भी विशिष्ट व्यवहार होने लगता। [स्थिति यह है कि जहाँ वास्तव में दो ज्ञान होते हैं जैसे सीपी का ज्ञान सीपी के रूप में और उसके आधार पर ही चाँदी का स्मरण, वहाँ ज्ञानों के पार्थक्य के कारण 'इदं रजतम्' के रूप में विशिष्ट व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि इस वाक्य से ज्ञान की एकता प्रकट होती है। यदि दो ज्ञानों को उक्त व्यवहार का कारण मानते हैं तो 'इदं रजतम्' तथा 'इदं शुक्तिकाशकलं, तद्रजतम्' इन दोनों व्यवहारों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा ! पर स्वयं विचार करें, कितना अन्तर दोनों में है ?]

मीमांसक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। [इसका कारण आगे के लम्बे वाक्य में दे रहे हैं।]

तत्रेदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य दोषदूषितचक्षुर्जन्यत्वेनानाकलितशुक्तित्वादिविशेषितस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वाद्, रजतमिति ज्ञानस्यासंनिहितविषयस्य संयोगलिङ्गाद्यप्रसूततया सदृशावबोधितसंस्कारमात्रप्रभवत्वेन परिशेषप्राप्तस्मृतिभावस्य दोषहेतुकतया गृहीत-तत्तांशप्रमोषाद् ग्रहणमात्रत्वोपपत्तेः।

उस (वाक्य) में **'इदम्'** शब्द सामने में विद्यमान केवल द्रव्य का ही ग्रहण करता है (कौन द्रव्य है—यह पता नहीं, केवल 'कुछ द्रव्य है' यही ग्रहण हुआ है)। दोषयुक्त आँखों से उसका प्रत्यक्ष होने के कारण उक्त ज्ञान (द्रव्य-ग्रहण) में शुक्तित्व आदि विशेषणों (Particulars) का ग्रहण

नहीं हो सका (=यह नहीं जान सके कि जिस द्रव्य को देखा है वह सीपी है)। अतः ['इदम्' के द्वारा सीपी का] ग्रहण सामान्य रूप से किया गया है।*

'रजतम्' शब्द [का प्रयोग सूचित करता है कि उसके] ज्ञान का विषय (चाँदी) समक्ष में नहीं है। वह (रजतज्ञान) न तो संप्रयोग (विषयेन्द्रियसंनिकर्ष अर्थात् प्रत्यक्ष) से उत्पन्न हो सकता है, न लिंग (साधन अर्थात् अनुमान) से और न किसी दूसरे प्रमाण से ही। सदृश वस्तु को देखने से जो संस्कार जगा है, उसीसे यह (रजतज्ञान) उत्पन्न हुआ है इसलिए परिशेष (अन्त में बचे हुए होने) के कारण उसे हम स्मरणात्मक ज्ञान मानते हैं। [स्मृति का कारण यह है कि रजत के सदृश वस्तु को देखने से रजत का जो संस्कार मानस-पटल पर बैठा है वह जागृत हो जाता है। केवल इसी से रजत का ज्ञान उत्पन्न होता है।] दोष के कारण, उस शब्द में जो रजत का तत्त्वांश लिया गया है उसे त्याग देना (प्रमोष) पड़ता है जिससे उसकी (रजतज्ञान की) सिद्धि केवल ग्रहण (Apprehension) के रूप में ही हो सकती है। [रजतज्ञान से कोई काम नहीं लिया जा सकता क्योंकि यह ज्ञान दोष से युक्त है। अतः उसकी उपयोगिता केवल ग्रहण के अर्थ में ही है। ज्ञान हुआ है पर उपयोग नहीं।]

तदप्युक्तम्—

२०. नन्वत्र रजताभासः कथमेष घटिष्यते।
उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम्॥
२१. शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः।
ते न ज्ञाता अभिभवाज्ज्ञाता सामान्यरूपता॥
२२. अनन्तरं च रजतस्मृतिर्जाता तयापि च।
मनोदोषात्तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम्॥
२३. रजतं विषयीकृत्य नैव शुक्तेर्विवेचितम्।
स्मृत्यातो रजताभास उपपन्नो भविष्यति॥

(प्रक० प० ४।२६-२९)

---

* तुलना करें—निरुक्त—१।१, 'अदः इति सत्त्वानामुपदेशः' ('यह, वह' आदि शब्दों से वस्तुओं का सामान्यरूप में ग्रहण होता है।

इसे भी [शालिकनाथ ने] कहा है:—**प्रश्न**—[यह तो कहिये कि [रजत के अभाव में] यह रजतज्ञान उत्पन्न होना कैसे सम्भव है ? **उत्तर**—बतलाते हैं, सीपी के टुकड़े का ग्रहण भेदों (विशेषों, Particulars) से रहित होकर किया जाता है ॥ २० ॥ सीपी में जो विशेष गुण हैं जिनसे उसका पार्थक्य रजत से स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है, वे अभिभूत (Overruled) होने के कारण ज्ञात नहीं होते। [इन्द्रियों का दोष इतना प्रबल हो जाता है कि वह सीपी के गुणों को प्रकट होने देता ही नहीं—जिससे न तो हम सीपी का सीपी के रूप में ज्ञान कर सकते और न ही सीपी और चाँदी का भेद कर सकते। 'इदं रजतम्' के व्यवहार के समय इतना ही पता रहता है, इदं = कोई द्रव्य जिसके विशेष गुण अज्ञात हैं।] तो, उस समय द्रव्य की सामान्य रूपता ही ज्ञात होती है ॥ २१ ॥

'उसके बाद रजत की स्मृति उत्पन्न होती है। उस स्मृति से भी, मानसिक दोष के कारण तत्त्वांश के ज्ञान (परामर्श) से शून्य तथा सीपी से विवेचित (अलग किये गये), रजत को विषय नहीं बनाया जाता—इस प्रकार रजतज्ञान की सिद्धि की जायगी। [दोनों श्लोकों का अन्वय एक साथ ही है—तयापि स्मृत्या मनो······विवर्जितं शुक्तेर्विवेचितं रजतं नैव विषयीकृत्य (व्यवस्थापितम्)।] ॥ २२–२३ ॥' (प्रकरणपंचिका, ४।२६–२९)।

२४. न ह्यसंनिहितं तावत्प्रत्यक्षं रजतं भवेत्।
लिङ्गाद्यभावाच्चान्यस्य प्रमाणस्य न गोचरः ॥
२५. परिशेषात्स्मृतिरिति निश्चयो जायते पुनः।
(प्रक० प० ४।३१–३२) इति।

'पहले तो यही देखें कि रजत सामने में है नहीं, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। लिंग (Middle term) आदि न होने से वह अन्य प्रमाणों (अनुमान आदि) का विषय भी नहीं बन सकता ॥ २४ ॥ इसलिए परिशेषतः (और कोई साधन नहीं होने के कारण अन्त में) यही निश्चय करना पड़ता है कि रजतज्ञान स्मृति ही है ॥ २५ ॥' (प्रकरणपंचिका, ४।३१–३२)।

विशेष—इस प्रकार ग्रहण और स्मरण से 'इदं रजतम्' की सिद्धि की गई। अब इस पक्ष पर वेदान्ती पुनः प्रहार करने का विचार कर रहे हैं।

(११ घ. ग्रहण और स्मरण में अभेद या सारूप्य)

ननु किमिदमेकैकं व्यवहारकारणमुत संभूय ? न प्रथमः।

देशभेदेन प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न चरमः । 'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्यात्—' (वै० सू० ३।२।३) इत्यादिना ज्ञानयौगपद्यनिषेधात् । अतो ज्ञानद्वयं हेतुरित्ययुक्तं वच इति चेत्—मैवं वोचः । अविनश्यतोः सहावस्थाननिषेधेऽपि विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानस्यानिषिद्धत्वेन निरन्तरोत्पन्नयोस्तदुपपत्तेः ।

[वेदान्ती हमारे पक्ष पर आक्षेप करते हैं—] अच्छा, यह तो बतलाइये कि आपका यह (ग्रहण और स्मरण) दोनों पृथक्-पृथक् ['इदं रजतम्' के] व्यवहार का कारण है या दोनों मिलकर एक ही साथ ? इनमें पहला विकल्प संभव नहीं है क्योंकि उस स्थिति में देश (Place) के भेद से भी प्रवृत्ति होने लगेगी । ['इदम्' का प्रत्यक्ष हुआ है तो उसकी प्रवृत्ति वैसे ही पदार्थ की ओर होगी । स्मरण से उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्ति नियमतः वैसी ही नहीं होती । दूसरे एक-एक प्रकार के ज्ञान से भी प्रवृत्ति होने का प्रसंग हो जायगा । प्रवृत्ति-भेद हो जायगा ।]

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि [कणाद ने यह लिखकर कि] 'प्रयत्न एक ही साथ न हो सकने से तथा ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ न होने के कारण [मन एक ही है]'—(वै० सू० ३।२।३), ज्ञानों के एक साथ होने का निषेध किया है । [कणाद के वैशेषिक-दर्शन में सूत्र इस रूप में है—प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् । इसमें कहा गया है कि एक शरीर में मन एक ही रहता है । यदि एक ही शरीर में कई मन होते तो बहुत से प्रयत्न या ज्ञान साथ-साथ होने लगते । दो विभिन्न अवयव एक दूसरे से विरुद्ध प्रयत्न एक ही साथ उत्पन्न करते । उसी तरह दो इन्द्रियों से दो ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न हो सकते । लेकिन ऐसा होता कहाँ है ? इसलिए शरीर में एक ही मन सिद्ध होता है । हमारा तात्पर्य इस सूत्र से इतना ही है कि दो ज्ञान एक साथ मिलकर कार्य नहीं कर सकते ।]

इसलिए [पूर्वपक्ष के अवान्तर पक्ष का निष्कर्ष निकला कि] दो ज्ञान (ग्रहण + स्मरण) कारण के रूप में होंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है ।

अब हमारा उत्तर है कि ऐसा मत कहो । यद्यपि दो अविनाशी (स्थायी) ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते तथापि एक विनाशी और दूसरे अविनाशी, इन दोनों ज्ञानों के एक साथ होने का तो निषेध नहीं न किया गया है ? इसलिए बिना व्यवधान (Interval) के उत्पन्न होने वाले ज्ञानों का एक साथ रहना (सहावस्थान) सिद्ध हो सकता है । [यदि एक ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरा

द्वितीय क्षण को छोड़कर (व्यवधान देकर) तृतीय क्षण में उत्पन्न हो तब तो दोनों की सहावस्थिति कभी संभव ही नहीं है। हाँ, यदि वे दोनों क्रमशः प्रथम और द्वितीय क्षणों में उत्पन्न हों जिससे कोई व्यवधान न पड़े तो तृतीय क्षण में एक साथ कार्य कर सकते हैं। ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में अवस्थित रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहण प्रथम क्षण में उत्पन्न हुआ और स्मरण द्वितीय क्षण में। तृतीय क्षण में ग्रहण विनाशावस्था में जा रहा है जब कि स्मरण उस समय अविनाशावस्था में है। इसलिए तृतीय क्षण में 'इदं रजतम्' का ज्ञान उत्पन्न होता है।]

ननु रजतज्ञानाद् रजतार्थी रजते प्रवर्ततां नाम। पौरस्त्ये वस्तुनि कथं प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्—न। स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतभेदयोः ग्रहणस्मरणयोः संनिहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण वस्तुतः परस्परं विभिन्नयोरप्यभेदोचितसामानाधिकरण्यव्यपदेशहेतुत्वोपपत्तेः।

[अब पुनः शंका है—] मान लिया कि रजत का ज्ञान हो जाने से रजत की इच्छा करनेवाला व्यक्ति रजत की ओर प्रवृत्त हो जायगा। किन्तु सामने में विद्यमान वस्तु में उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? [प्रश्न है कि यदि रजत के स्मरण से व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है तो स्मरण जिस रजत का हुआ है उसी की ओर प्रवृत्ति होगी। घर में अपनी पेटी में उसने चाँदी देखी हो और उसी का स्मरण हुआ हो तो उसी चाँदी की ओर व्यक्ति प्रवृत्त होगा, न कि सामने में स्थित वस्तु की ओर।]

किन्तु बात ऐसी नहीं है। ग्रहण और स्मरण इन दोनों के भेद का ज्ञान (Apprehension) न तो स्वरूप के आधार पर हुआ है, न विषय के आधार पर ही। इसलिए ये संनिहित (सामने वर्तमान) रजत के विषय में उत्पन्न ज्ञान के समरूप हैं। वास्तव में ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि [किन्हीं दो पदार्थों में] अभेद की सिद्धि के लिए उचित जो समानाधिकरण का नियम (Law of identity) होता है, उसी से उक्त ('इदं रजतम्') व्यवहार का कारण समझा जा सकता है। [सामने से विद्यमान रजत का ज्ञान आँखों के संपर्क में आने वाले रजत का प्रत्यक्ष और यथार्थ ज्ञान है। जैसे 'इदं रजतम्' वाक्य इदंता तथा रजतता इन दोनों में समानाधिकरण का व्यवहार उत्पन्न करके उसी के द्वारा प्रवृत्ति भी उत्पन्न करता है, उसी प्रकार

उस ज्ञान की सरूपता के कारण ये दोनों ज्ञान भी समानाधिकरण का व्यवहार और प्रवृत्ति उत्पन्न करेंगे। अब बतलाते हैं कि संनिहित रजत के ज्ञान से ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञान की सरूपता कैसे है ?]

ग्रहणस्मरणयोः संनिहितरजतज्ञानसारूप्यं कथम् ? यथा चैतत्तथा निशम्यताम्। संनिहितरजतगोचरं हि विज्ञानमिदमंशरजतांशयोरसंसर्गं नावगाहते। तयोः संसृष्टत्वेन असंसर्गस्यैवाभावात्। नापि स्वगतं भेदम्। एकज्ञानत्वात्। एवं ग्रहण-स्मरणे अपि दोषवशाद्विद्यमानमपीदमंशरजतांशयोरसंसर्गं भेदं नावगाहेत इति। भेदाग्रहणमेत्र सारूप्यम्।

सामने में विद्यमान रजत के ज्ञान के साथ ग्रहण और स्मरण की समरूपता कैसे होती है ? जैसे होती है, वह सुनो—सामने में विद्यमान (संनिहित) रजत के विषय में जो विशिष्ट ज्ञान (सामान्य रूप से होने वाले ज्ञानों की अपेक्षा भिन्न ज्ञान, Different from the usual way of knowledge होता है वह 'इदम्' के अंश और रजत के अंश में भेद (असंसर्ग) का ग्रहण नहीं करता। कारण यह है कि ये दोनों अंश एक दूसरे से मिले हुए हैं अतः भेद हो ही नहीं सकता। [दोनों ज्ञानों की सरूपता भेद का ग्रहण न कर सकने के कारण है। जहाँ पर सच्चे रजत का प्रत्यक्ष करते हैं वहाँ पर तो 'इदम्' और रजत के अंशों में कोई भेद ही नहीं है क्योंकि वे एक दूसरे से संसृष्ट अर्थात् मिले हुए हैं। वहाँ का ज्ञान असंसर्ग (भेद) का विषय नहीं है। इसलिए वहाँ भेद का ग्रहण नहीं करते।]

[सच्चे रजत का ज्ञान करने के समय 'इदम्' और 'रजतम्' में] स्वगत भेद का भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि दोनों एक ही ज्ञान हैं। [अवान्तर भेद होने से स्वगत भेद किया जाता है। सच्चे रजत का ज्ञान होने में 'इदम्' और 'रजतम्' दोनों इस तरह मिलते हैं कि अवान्तर-भेद का स्थान ही नहीं।]

उसी प्रकार ग्रहण और स्मरण, ये दोनों ज्ञान भी दोष (मानसिक दोष) के कारण, 'इदम्' के अंश तथा रजत के अंश में असंसर्ग अर्थात् भेद विद्यमान रहने पर भी उसका ग्रहण नहीं करते। और भेद का ग्रहण न करना ही तो समरूपता है। [दोनों ज्ञानों के स्थान में तो एकता ही नहीं है—क्योंकि ज्ञान दो हैं। असंसर्ग और अवान्तरभेद की संभावना है। परंतु दोष के कारण उसका ग्रहण नहीं हो पाता। विरोध का स्फुरण होने से ही असंसर्ग या भेद का ग्रहण होता है। जैसे सीपी और चाँदी में भेद है वैसे ही तत् और इदम् में भी भेद है।

प्रत्यक्ष में यद्यपि इदमंश प्रतीत होता है तथापि उससे विरुद्ध रहने वाला तदंश **स्मरण** में दोष के कारण प्रतीत नहीं होता। वैसे ही **स्मरण** में यद्यपि रजतांश विषय बनता है तथापि दोष के ही कारण उसका विरोधी शुक्तित्व **प्रत्यक्ष** में विषय नहीं बन पाता। इस प्रकार विरोध का स्फुरण नहीं हो सकने के कारण स्वरूप या विषय से विद्यमान रहने पर भी भेद ग्रहण नहीं होता। स्वरूप से विद्यमान रहने पर भी भेद का ग्रहण नहीं करना—'तत्' के रूप में जो परोक्षांश है उसकी प्रतीति दोष के कारण स्मरण के रूप में नहीं होती। विषय से विद्यमान रहने पर भी भेद का ग्रहण नहीं करना—दोष के कारण शुक्तित्व की प्रतीति प्रत्यक्ष के रूप में नहीं होती इसलिए।]

तदुक्तं गुरुमतानुसारिभिः—

२६. ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी।
सम्यग्रजतबोधाच्च भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः॥
२७. तथापि भिन्ने नाभाते भेदाग्रहसमत्वतः।
सम्यग्रजतबोधस्तु समक्षैकार्थगोचरः॥
२८. ततो भिन्ने अबुद्ध्वा च ग्रहणस्मरणे इमे।
समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः॥
२९. अपरोक्षावभासेन समानार्थग्रहेण च।
अवैलक्षण्यसंवित्तिरिति तावत्समर्थिता॥
३०. व्यवहारोऽपि तत्तुल्यस्तत एव प्रवर्तते।
(प्रक० प० ४।३३-३७) इति।

एवमगृहीतविवेकमापन्नसंनिहितरूप्यज्ञानसारूप्यं ग्रहणस्मरणद्वय-मयथाव्यवहारहेतुरिति सिद्धम्।

इसे गुरुमत का अनुसरण करने वालों ने कहा है—'ये दोनों ग्रहण और स्मरण भेद के साथ प्रतीत नहीं होते। सच्चे रजत का जैसा बोध होता है यद्यपि उससे ये वास्तव में भिन्न हैं॥२६॥ तथापि भिन्न-जैसे लगते नहीं हैं क्योंकि दोनों प्रकार के बोधों में भेद का ग्रहण न होने की समता है। सच्चे रजत का बोध तो सामने में विद्यमान एक ही वस्तु के विषय में होता है॥ २७॥ लोग इस ग्रहण और स्मरण को उससे भिन्न रूप में न समझ कर केवल समान रूप में ही समझते हैं। [ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञान भी सम्यक् रजत के ज्ञान की तरह ही समझा

जाता है। यद्यपि यह लोगों का मानसिक दोष है कि दोनों में अन्तर नहीं कर पाते।] ॥ २८ ॥ प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) में प्रतीति होने के कारण तथा एक समान ही वस्तु का ग्रहण करने के कारण दोनों में अभेद-संवित्ति (Knowledge of identity) का समर्थन होता है। उसके समान व्यवहार भी होता है तथा उससे लोगों की प्रवृत्ति भी सिद्ध (Justified) होती है ॥ २९–३० ॥ (प्रकरणपंचिका ४।३३–३७)।

इस प्रकार इस अयथाव्यवहार (असामान्य या विशिष्ट व्यवहार) का कारण ग्रहण और स्मरण इन दोनों को मानते हैं जिनमें परस्पर भेद का ग्रहण नहीं होता तथा जिन्हें समक्ष में विद्यमान रूप्य (चाँदी) के ज्ञान की समरूपता मिल चुकी है—यह सिद्ध हो गया।

(११ ङ. 'पीतःशङ्खः' के व्यवहार का समर्थन)

यद्येवमयथाव्यवहारो ग्रहणस्मरणजन्यस्तर्हि 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ स न सिद्धः, तत्र तयोरभावादिति चेत्—न। अगृहीतविवेकयोः प्राप्तसमीचीनसंसर्गज्ञानसारूप्यत्वे ग्रहणयोरेव व्यवहारसंपादकत्वोपपत्तेः। नयनरश्मिवर्तिनः पित्तद्रव्यस्य पीतिमा दोषवशाद् द्रव्यरहितो गृह्यते। शङ्खोऽप्यकलितशुक्लगुणः स्वरूपतो गृह्यते। तदनयोर्गुणगुणिनोः संसर्गयोग्ययोरसंसर्गाग्रहसारूप्यात्पीततपनीयपिण्डप्रत्ययावैलक्षण्याद् व्यवहार उपपद्यते।

[पुनः एक शंका हो रही है—] यदि हम यह मान भी लें कि यह असामान्य व्यवहार ग्रहण तथा स्मरण से उत्पन्न होता है तथापि 'शंख पीला है' इस [असामान्य प्रयोग] में तो वह सिद्ध नहीं होता ? कारण यह है कि इस प्रयोग में दोनों का अभाव देखते हैं। [ग्रहण की सत्ता होने पर भी स्मरण की सत्ता नहीं रहती। पीतत्व का अंश स्मरण का विषय नहीं हो सकता क्योंकि उसके संस्कार को जगाने वाली कोई चीज नहीं है। इसलिए मीमांसकों के अनुसार 'पीला शंख' का प्रयोग असंभव हो जायगा। हम [वेदान्ती इसे मिथ्या-ज्ञान कह कर आसानी से चला सकते हैं।]

[मीमांसक कहते हैं कि] ऐसी बात नहीं है। [यद्यपि यहाँ पर ग्रहण और स्मरण नहीं हैं तथापि] व्यवहार के प्रयोजक के रूप में दो ग्रहणों की ही सिद्धि होती है। इन दोनों ग्रहणों के बीच भेद का ज्ञान नहीं होता तथा ये समीचीन (ठीक Correct) संसर्ग के ज्ञान की तरह ही हैं। [पीत शंख

में दो प्रत्यक्ष ज्ञान ही हैं जिन्हें हम ग्रहण कहते हैं। एक प्रत्यक्ष है पीत, दूसरा है शंख। इन दोनों ग्रहणात्मक ज्ञानों में वस्तुतः जो परस्पर भेद है, दोष के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती।]

नेत्रकिरणों में अवस्थित पित्तद्रव्य की पीतिमा का ग्रहण होता है परन्तु दोषवश हम पित्त द्रव्य का ग्रहण उसमें नहीं कर पाते। [पीत शंख का ज्ञान पित्त के दोष से होता है। पित्त आँखों की किरणों में रहने वाला पीले रंग का एक सूक्ष्म द्रव्य है। जब आँखों की किरणें शंख से संबद्ध होती हैं तब दोषवश पित्तद्रव्य का ग्रहण न होकर केवल उसमें स्थित पीत गुण का ही ग्रहण होता है। यह हुआ **पीत** का प्रत्यक्ष अर्थात् पित्तद्रव्य के पीलेपन का ग्रहण करते हैं। अब शंख का प्रत्यक्ष देखें।] **शंख** का केवल स्वरूप ही गृहीत होता है उसके शुक्ल गुण का ग्रहण नहीं होता। [पीत के प्रत्यक्ष में केवल गुण का ग्रहण हुआ, शंख के प्रत्यक्ष में केवल गुणी का। ये दोनों प्रत्यक्ष सम्यक् संसर्गज्ञान के समरूप है। समीचीन संसर्गज्ञान का अर्थ है स्वर्ण आदि में वस्तुतः विद्यमान रहने वाले पीत गुण के संबंध का ज्ञान।]

तो, इन दोनों में अर्थात् गुण और गुणी में, जो संसर्ग के सर्वथा योग्य हैं, भेद का ग्रहण न हो सकने की समानता है तथा पीले स्वर्ण (तपनीय) के पिंड की प्रतीति की समरूपता के कारण उक्त व्यवहार चलता है। [(१) **भेद ग्रहण न हो सकने की तुलना**—पीत के प्रत्यक्ष में दोषवश द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है, उधर शंख के प्रत्यक्ष में दोषवश गुण का ग्रहण नहीं हो रहा है। इसे इस सूत्र द्वारा समझें—

पीत + (पित्त)।
(श्वेत) + शंख।
———
= पीत + शंख।

कोष्ठ में दिये गये द्रव्य या गुण का ग्रहण नहीं हो रहा है। (२) **समीचीन संसर्ग-ज्ञान से तुलना**—स्वर्ण वास्तव में पीला है। यहाँ गुण और द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। साथ ही दोनों के शुद्ध सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रत्यक्ष के समान उक्त पीत शंख का प्रत्यक्षद्वयात्मक ज्ञान भी है। इसी से व्यवहार चलता है। असंगति नहीं है।]

यथोक्तम्—

३१. पीतशङ्खावबोधे हि पित्तस्येन्द्रियवर्तिनः।
पीतिमा गृह्यते द्रव्यरहितो दोषतस्तथा ॥

३२. शङ्खस्येन्द्रियदोषेण शुक्लिमा न च गृह्यते ।
केवलं द्रव्यमात्रं तु प्रथते रूपवर्जितम् ॥
३३. गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुणकाङ्क्षिणि ।
भासमाने तयोर्बुद्धिरसम्बन्धं न बुध्यते ॥
३४. सत्यपीतावभासेन समे भाते मती इमे ।
व्यवहारोऽपि तत्तुल्य एवमत्रापि युज्यते ॥
(प्रक० प० ४।४८-५१) इति ।

जैसा कि कहा गया है—'पीत शंख के ज्ञान में [चक्षु] इन्द्रिय में विद्यमान पित्त का द्रव्यांश छोड़कर दोष के कारण केवल पीतत्व का ग्रहण होता है ॥ ३१ ॥ उधर इन्द्रिय के ही दोष के कारण शंख के शुक्लत्व का ग्रहण नहीं होता। रूप के अंश को छोड़कर केवल द्रव्य का अंश ही उसमें प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

गुण को द्रव्य (अपने आश्रयदाता द्रव्य) की अपेक्षा है तो द्रव्य भी गुण (अपने आश्रित गुण) की आकांक्षा रखता है। ये दोनों जब इस रूप में प्रतीत होने लगते हैं [तो दोनों में वस्तुतः सम्बन्ध नहीं रहने पर भी उस] असम्बन्ध को उन दोनों की बुद्धि (ज्ञान) नहीं समझ पाती (=विषय नहीं बना सकती) ॥ ३३ ॥ ये दोनों ज्ञान सचमुच के पीत-गुण की प्रतीति की तरह प्रतिभासित होवे हैं। इसलिए दोनों का व्यवहार (=पीत स्वर्ण और पीत शंख) समान ही रहता है। ऊपर की तरह यह व्यवहार भी युक्तियुक्त है ॥ ३४ ॥' (प्रकरण पंचिका ४।४८–५१)।

(१२. 'नेदं रजतम्' की सिद्धि—मीमांसक-मत)

नन्विदं रजतमिति भ्रान्तिज्ञानानभ्युपगमे रजतप्रसक्तेरसत्त्वान्नेदं रजतमिति निषेधः कथं कलधौताभावं बोधयतीति चेत्—नैष दोषः। भेदाग्रहप्रसञ्जितस्य शुक्तौ रजतव्यवहारस्य निषेधस्वीकारेण कल्पनालाघवसद्भावात्।

[वेदान्ती लोग फिर शंका करते हैं] कि यदि आप 'इदं रजतम्' में भ्रान्तिज्ञान नहीं मानेंगे तो रजत की प्राप्ति का अभाव रहेगा (वास्तव में चाँदी तो वहाँ है नहीं) इसलिए 'यह चाँदी नहीं है' इस प्रकार का निषेध चाँदी के अभाव का बोध कैसे करायेगा ? [निषेध किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर ही काम देता

है । किसी स्थान पर पानी की प्रसक्ति होने पर ही कह सकते हैं कि यहाँ पानी नहीं है । जहाँ चाँदी है ही नहीं, वहाँ पर 'चाँदी नहीं है' वाक्य अव्यावहारिक हो जायगा ।]

[मीमांसक कहते हैं कि] इनमें तनिक भी दोष नहीं है । सीपी में भेद ग्रहण न हो सकने के कारण वहाँ रजत का व्यवहार किया गया है उसी (व्यवहार) का निषेध यहाँ स्वीकार किया गया है, जिसमें कल्पना का लाघव भी होता है । [तात्पर्य यह है कि 'यह चाँदी नहीं' का अर्थ है—'यह चाँदी के व्यवहार के योग्य नहीं है ।' यदि हम रजत का निषेध भी मान लेते तो भी उसका अर्थ रजत के व्यवहार का निषेध ही होता । इस प्रकार दोनों स्थितियों में एक ही बात सिद्ध होती है । इसलिए 'नेदं रजतम्' का अर्थ लाघव से 'रजत के व्यवहार का निषेध' ही रखें । इसके अतिरिक्त रजत के निषेध की कल्पना क्यों करें ?]

तदुक्तं पञ्चिकाप्रकरणे—

३५. मिथ्याभावोऽपि तत्तुल्यव्यवहारप्रवर्तनात् ।
रजतव्यवहारांशे विसंवादयतो नरात् ॥

३६. बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमतो मतम् ।
प्रसज्यमानरजतव्यवहारानिवारणात् ॥

(प्रक० प० ४।३८–३९) इति ।

तदनेन प्राचीनयोर्ज्ञानयोः सत्यत्वे कथं भ्रमत्वसिद्धिरिति शङ्का पराकृता । अयथाव्यवहारप्रवर्तकत्वेन तदुपपत्तेः ।

इसे प्रकरण पंचिका में कहा गया है—'उस (अनुभवजन्य व्यवहार) के तुल्य व्यवहार का प्रवर्तन करने पर भी रजत के व्यवहार के अंश में मिथ्याभाव (Falsity) हो सकता है क्योंकि रजत को लेकर ही ये (वेदान्ती) लोग विवाद करते हैं । [तात्पर्य यह है कि 'इदं रजतम्' में, वेदान्ती लोग रजत को भले ही मिथ्या सिद्ध करें क्योंकि व्यवहार का प्रवर्तक होने पर भी उसमें विवाद खड़ा हो सकता है परंतु 'इदम्' पर तो कोई आपत्ति नहीं है । मिथ्यावादी भी 'इदं' को मिथ्या नहीं कहते । क्योंकि इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है । बाधक प्रतीति की दशा में भी इदमंश की अनुवृत्ति होती ही है । 'नेदं रजतम्' में] जो बाधक की प्रतीति होती है उसकी बाधकता भी इसीलिए मानी जाती है कि प्राप्त (प्रसज्यमान) रजत के व्यवहार का उससे निषेध

हो ॥ ३६ ॥ (प्रकरण पंचिका, ४।३८-३९)। [इन श्लोकों में कहना यही है—'इदम्' सदा प्रमाण है। भ्रान्ति केवल स्मृति के रूप में होने वाले रजत की है जिसमें विवाद है। वेदान्ती लोग बाधक की प्रतीति के अधीन मिथ्याज्ञान को मानते हैं। जिसका बाध (प्रतिरोध) किसी से हो गया वह मिथ्या है। इदम् के अनुभव का बाधक कोई नहीं है। अतः यह मिथ्या नहीं। अब रजतांश को लें। बाधा हो रही है जिसे बाधा न कहकर निषेध कहें। निषेध किसका ? रजतव्यवहार का या रजत का ? हम कहते हैं रजत के व्यवहार का ही। किसी भी दशा में तो हमें व्यवहार ही करना है। मिथ्या को लेकर लड़नेवालेसे कहें कि बाध या निषेध व्यवहार का ही होता है और हमारी बात ही रह जाती है।]

तो, इसके साथ ही साथ उस शंका का निराकरण कर दिया गया कि जब दोनों प्राचीन ज्ञान सत्य हैं तो भ्रम होने की बात कैसे चलती है। उस भ्रम की सिद्धि असामान्य व्यवहार के प्रवर्तक के रूप में होती है। [प्रभाकर के सामने समस्या है कि सभी ज्ञान जब सत्य हैं तब लोग 'भ्रम' शब्द से किस वस्तु का बोध करते हैं ? जिन स्थलों में (जैसे सीपी को चाँदी मानने में) प्रवृत्ति निष्फल हो जाय उन्हें हम भ्रम कहा करते हैं। और बाध ? रजत के व्यवहार का निषेध होने पर उसे बाध कहते हैं (जैसे 'नेदं रजतम्' में)। यह कहने से शंकराचार्य संतुष्ट होनेवाले नहीं हैं।]

(१२ क. प्रभाकर-मत से अभाव का खंडन)

किं च नेदं रजतमिति बाधकावबोधो नाभावमवगाहते। भावव्यतिरेकेणाभावस्य दुर्ग्रहणत्वात्। यद्येवम्, अङ्ग नास्तीति प्रत्ययस्य किमालम्बनम् ? अपरथा माहाभानिकपक्षानुप्रवेश इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः।

अभावस्य धर्मिप्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूप्यत्वेऽवश्याभ्युपगमनीये दृश्ये प्रतियोगिन्यदृश्ये वा स्मर्यमाणेऽधिकरणमात्र-बुद्धेरेव 'नास्तीति' व्यवहारोपपत्तावतिरिक्ताभावकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

इसके अतिरिक्त 'यह रजत नहीं है' यह बाधक का ज्ञान अभाव के रूप में नहीं है। कारण यह है कि भाव के अतिरिक्त अभाव नाम की वस्तु का ग्रहण करना ही कठिन है।*

* देखिए, रामानुजदर्शन, पृ० १९०-९१।

[इस पर वेदान्ती लोग शंका करते हैं—] हे महोदय ! यदि ऐसी बात है तो हमें बतलाइये कि 'नहीं है' इस प्रतीति (Apprehension) का आधार क्या है ? यदि ऐसा नहीं कर सके (=आधार के बिना भी प्रतीति मानते हैं) तो माध्यमिक (शून्यवादी) बौद्धों के पक्ष में आप जा रहे हैं। [ये बौद्ध सारे व्यवहारों को आलम्बनरहित मानते हैं।] इस पर हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। [इसका कारण आगे बतला रहे हैं।]

अभाव का निरूपण धर्मी और प्रतियोगी के निरूपण के ही अधीन रहता है। [धरातल में घट नहीं है—यहाँ घटाभाव का ज्ञान हो रहा है जिसमें धरातल धर्मी है और घट प्रतियोगी। दोनों के ज्ञान के पश्चात् ही घटाभाव का ज्ञान हो सकता है।] जिसकी सिद्धि करना आवश्यक है वह प्रतियोगी (घट) दृश्य हो या अदृश्य हो किन्तु उसका स्मरण किया जा रहा है। ऐसा होने पर मात्र आधार का ज्ञान रहने से ही 'नहीं है' इस व्यवहार की सिद्धि हो जायगी। अतः अलग से अभाव की कल्पना करने के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। [धर्मी की कल्पना से अधिक अच्छी कल्पना धर्म की ही होती है। अतः अभाव किसी अधिकरण का एक धर्म है तथा केवल भूतल के रूप में है। इसी से 'घटो नास्ति' का व्यवहार चलता है। घट नहीं है=भूतल का शुद्ध ज्ञान। केवल भूतल का ज्ञान घटादि प्रतियोगी के न रहने पर ही संभव है। हाँ, प्रतियोगी का स्मरण तो करना ही है। भूतल का ज्ञान रहने से 'घट नहीं है' का ज्ञान हो जायगा।]

तदुक्तममृतयकलायाम्—

३७. अत्रोच्यते द्वयी संविद्वस्तुनो भूतलादिनः।
एका संसृष्टविषया तन्मात्रविषया परा॥
३८. तन्मात्रविषया वापि द्वयी साथ निगद्यते।
प्रतियोगिन्यदृश्ये च दृश्ये च प्रतियोगिनि॥
३९. तत्र तन्मात्रधीर्येयं स्मृते च प्रतियोगिनि।
नास्तित्वं सैव भूभागे घटादिप्रतियोगिनः॥
(प्रक० प० ६।३७-३९) इति।

इसे **अमृतकला** (प्रकरण पंचिका के छठे प्रकरण का नाम) में कहा गया है—'इस दर्शन में भूतल आदि वस्तु में दो प्रकार का ज्ञान माना गया है। एक का तो संसृष्ट विषय होता है (जैसे भूतल घट से युक्त है)। दूसरे

प्रकार के ज्ञान का विषय केवल वह वस्तु ही है (जैसे केवल भूतल का ज्ञान) ॥ ३७ ॥ अब वह तन्मात्र विषयक ज्ञान भी दो प्रकार का कहा जाता है— एक तो प्रतियोगी के अदृश्य हो जाने पर और दूसरा प्रतियोगी के दृश्य ही रहने पर ॥ ३८ ॥ उनमें जो यह तन्मात्र विषयक बुद्धि है जब प्रतियोगी के स्मरण के साथ उत्पन्न होती है तब उसे ही भूतल में घटादि प्रतियोगी का अभाव मानते हैं। (केवल भूतल के स्वरूप का ज्ञान घट के स्मरण के साथ हो तो उसे ही अभाव कहते हैं। स्पष्टतः अभाव भावरूप ही है)। (प्रकरण-पंचिका, ६।३७-३९)।

अत एव प्राभाकरमतानुसारिभिः प्रमाणपारायणे प्रत्यक्षादीनि पञ्चैव प्रमाणानि प्रपञ्चितानि । नन्वेवमभावस्याभावे नकारस्य वैयर्थ्यमापद्येत । अनुशासनविरोधश्चापतेदिति चेत्—तदेतद्वार्तम् । एकोनपञ्चाशद्वर्णानां मध्ये कस्यापि वर्णस्याभावार्थत्वादर्शनेन वर्णस्य सतो नकारस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः ।

इसीलिए प्रभाकर-मत का अनुसरण करनेवाले [शालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपंचिका के पाँचवें प्रकरण अर्थात्] प्रमाण-पारायण में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का ही निरूपण किया है। [ये प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, और अर्थापत्ति। छठा प्रमाण अनुपलब्धि है जिसे भाट्ट-मीमांसक मानते हैं। प्रभाकर इसे नहीं मानते। अनुपलब्धि केवल अभाव का ही ग्रहण करती है किन्तु प्रभाकर-मत में भाव के अतिरिक्त अभाव नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिए उसके ग्रहण के लिए पृथक् प्रमाण की क्या आवश्यकता है ?]

अब समस्या होगी कि जब इस प्रकार अभाव की सत्ता नहीं मानते हैं तो नकार व्यर्थ हो जायगा। [न = नहीं, यह अव्यय है। इसका क्या उत्तर होगा ?] यही नहीं, पाणिनि के अनुशासन का भी विरोध हो जायगा। [पाणिनि ने **'नञ्'** (२।२।६) सूत्र में उत्तर पद के साथ तत्पुरुष समास होने का विधान किया है—इसका विरोध होगा। क्योंकि यदि नञ् निरर्थक है तो उत्तर पद के साथ कैसे मिल सकेगा ? इस प्रकार अभाव न मानने पर 'न' का समर्थन करने का प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है।]

किन्तु ये तर्क व्यर्थ के हैं। उनचास वर्णों के बीच कोई भी वर्ण अभाव के अर्थ में नहीं मिलता (देखा जाता) है। इसलिए वर्ण होने के कारण नकार भी उस (अभाव) के अर्थ में सिद्ध नहीं होता। [यह विवेचन अनुमान के रूप में है जिसका पूर्ण रूप ऐसा हो सकता है—

(१) न-कार अभावार्थक नहीं है । (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि यह वर्ण है । (हेतु)
(३) जैसे अकार आदि दूसरे वर्ण हैं । (उदाहरण)

उनचास वर्णों की संख्या इस तरह पूर्ण होती है—१६ स्वर, २५ स्पर्श वर्ण, ४ अंतःस्थ तथा ४ ऊष्म वर्ण ।]

न चैवमनुशासनविरोधः । तदन्य-तदभाव-तद्विरुद्धेष्वर्थेषु अनुशासनस्यैवमर्थः स्यात् । तथा हि—चेतनानां मध्ये कश्चन कस्यचिन्मित्रं, कश्चन कस्यचिदुदासीनः तथैवाचेतनानामपि । तदन्यपदेन तदुदासीनो नकारार्थः । विरुद्धपदेन शत्रुर्नकारार्थः । तदभावपदेन मित्रं नकारार्थः ।

अभाव न मानने से [पाणिनि के] अनुशासन का भी विरोध नहीं होता । [नञ् से मुख्यतः ये तीन अर्थ प्रतीत होते हैं—] तदन्य (···से भिन्न), तदभाव (···का अभाव) तथा तद्विरुद्ध (···से विरुद्ध) । इन अर्थों में अनुशासन का उपर्युक्त विधि से अर्थ हो सकता है । देखिए—चेतन पदार्थों के बीच कोई किसी का शत्रु है, कोई किसी का मित्र, तो कोई किसी से उदासीन ही है । यही दशा अचेतन पदार्थों की भी है । तदन्य शब्द से नकार का अर्थ समझें—उससे उदासीन । विरुद्ध शब्द से नकार का अर्थ शत्रु है । तदभाव शब्द से नकार का अर्थ मित्र है । [इस प्रकार दूसरे अर्थों में नकार के अर्थों की व्याख्या की जाती है ।]

तथा चाब्राह्मणपद एवैतत्त्रयं प्रतीयते—शूद्र इत्युदासीनो, यवन इति शत्रुः, क्षत्रिय इति मित्रम् । एवं सर्वत्र नञ्प्रयोग-स्थले द्रष्टव्यमिति न कश्चिदभावो भावव्यतिरिक्तः सम्भवति । तस्मादुक्तया रीत्या भ्रमप्रसिद्ध्या विवादाध्यासिताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात् , दण्डीति प्रत्ययवदिति सिद्धम् ।

इस प्रकार 'अब्राह्मण' शब्द में ही उक्त तीनों की प्रतीति होती है—शूद्र के प्रति [नकारार्थ] उदासीन है, यवन के प्रति शत्रु और क्षत्रिय के प्रति मित्र है । [तात्पर्य यह हुआ कि अब्राह्मण शब्द में यदि 'अ' का अर्थ तदन्य लेंगे तो शूद्र अर्थ होगा । यदि विरुद्ध अर्थ में 'अ' मानें तो अब्राह्मण = यवन । अन्त में यदि अभाव अर्थ लें तो अब्राह्मण का अर्थ क्षत्रिय होगा ।] इसी तरह नञ् का

प्रयोग होने वाले सभी स्थानों में देखना चाहिए। अतः भाव के अतिरिक्त अभाव नाम का कोई पदार्थ मिलना संभव नहीं है।

इसलिए उपर्युक्त रीति से भ्रम की सिद्धि कर लें [= 'इदं रजतम्' में ग्रहण और स्मरण के रूप में दो ज्ञान रहने पर भी वास्तविक व्यवहार होने पर प्रवृत्ति के विसंवादित (निष्फल) हो जाने से कुछ लोग भ्रम का व्यवहार करते हैं, वस्तुतः तो वह है नहीं। इसके बाद अनुमान होता है—]

(१) विवादास्पद प्रतीतियाँ यथार्थ (Real) हैं—प्रतिज्ञा।

(२) क्योंकि ये प्रतीतियाँ हैं—हेतु।

(३) जैसे दण्डी (दण्ड धारण करने वाला) की प्रतीति होती है—उदाहरण। यह सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ पर मीमांसकों ने अपने लंबे पूर्वपक्ष का अन्त किया। उनका लक्ष्य यही था कि मिथ्याज्ञान का खंडन करें। मिथ्याज्ञान के रूप में वेदान्त में स्वीकृत सभी प्रतीतियों को वे सत्य और यथार्थ मानते हैं। 'इदं रजतम्' या 'पीतः शङ्खः' कोई भी उदाहरण उन्हें अपनी मान्यता से हटा नहीं सका। अब शंकराचार्य अपने प्रबल तर्कों के चपेटों से प्रभाकर-मत का मस्तक चूर्ण करेंगे।

(१३. मिथ्याज्ञान की सत्ता है—शंकर का उत्तरपक्ष)

तदपरे न क्षमन्ते। इह खलु निखिलप्रेक्षावान् समीहित-तत्साधनयोरन्यतरप्रवेदने प्रवर्तते। न च रजतमर्थयमानस्य शुक्तिकाशकलज्ञानं तद्रूपमनुभावयितुं प्रभवति। शुक्तिकाशकलस्य समीहिततत्साधनयोरन्यतरभावाभावात्। नापि रजतस्मरणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्। तस्यानुभवपारतन्त्र्यतयाऽनुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्।

इस मत को दूसरे लोग सह नहीं पाते। यह निश्चित है कि सभी विवेकशील मनुष्य अभीष्ट वस्तु या उसकी प्राप्ति के साधन इन दोनों में से किसी एक के ज्ञान में ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसा नहीं देखा जाता कि जो व्यक्ति रजत का इच्छुक है उसे सीपी के टुकड़े का ज्ञान उस (रजत के) रूप का अनुभव करा दे। [सीपी के टुकड़े में रजत की सत्ता नहीं है। 'इदम्' के रूप में सीपी का टुकड़ा ज्ञात है किन्तु रजत चाहने वाले व्यक्ति को न तो उससे अपनी अभीष्ट वस्तु का ही स्वरूप मालूम होता न उसके साधन का ही। क्योंकि] सीपी का टुकड़ा उस व्यक्ति का न तो अभीष्ट ही हो सकता न अभीष्ट-प्राप्ति का साधन ही।

इसके अतिरिक्त रजत का स्मरण [जो ये मीमांसक मानते हैं] सामने में विद्यमान पदार्थ में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि स्मरण अनुभव के अधीन रहता है, इसलिए वह (रजतस्मरण) अनुभव के स्थान में (जहाँ पर चाँदी देखी थी और जिसका स्मरण कर रहे हैं वहीं) प्रवृत्ति को उत्पन्न कर सकता है। [स्मरण अनुभव पर ही निर्भर करता है। जिस स्थान का, जिस रूप का और जिस वस्तु का अनुभव होगा—उसके अनुरूप ही स्मरण भी हो सकेगा। जिस स्थान पर चाँदी देखी थी, प्रवृत्ति उसी स्थान की ओर होगी—अन्यत्र नहीं। सामने की सीपी पर प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती।]

नापि भेदाग्रहो व्यवहारकारणम्। ग्रहणनिबन्धनत्वाच्चेतनव्यवहारस्य। ननु न वयमेकैकस्य कारणत्वं ब्रूमहे येनैवमुपालभ्येमहि। किं त्वगृहीतविवेकस्य ज्ञानद्वयस्य प्राप्तसमीचीनपुरःस्थितरजतज्ञानसारूप्यस्येत्यनुक्तोपालम्भोऽयमिति चेत्—तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—समीचीनरजतावभाससारूप्यं भासमानं प्रवर्तकं सत्तामात्रेण वा ?

आप यह भी नहीं कह सकते [जैसा ऊपर कहा है] कि भेद का ग्रहण न करना ही ['इदं रजतम्' आदि विशिष्ट] व्यवहारों का कारण है। चेतन के सारे व्यवहार ग्रहण (ज्ञान, प्रतीति) पर चलते हैं [और आप कहते हैं कि ग्रहण न होने से व्यवहार चलता है ?]

[अपनी रक्षा के लिए कदाचित् आप कहेंगे—] हमलोग एक-एक को लेकर तो (केवल 'इदम्' के ग्रहण को या केवल रजत के स्मरण को) कारण नहीं मान रहे हैं कि आप (वेदान्ती) हमें इस तरह खरी-खोटी सुना रहे हैं। बल्कि हम तो उन दोनों ज्ञानों को जिनमें भेद की प्रतीति नहीं होती तथा जिनमें सच्चे और संनिहित रजत के ज्ञान के साथ समरूपता है, उन्हें ही [कारण मानते हैं], अतः हमारा मत उलाहना (उपालंभ) देने योग्य नहीं है।

हम (वेदान्ती) कहेंगे कि यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि नीचे दिये विकल्पों को सहने की शक्ति इसमें नहीं है। वे विकल्प हैं—[आप कहते हैं कि उक्त दोनों ज्ञानों में (ग्रहण + स्मरण या दो ग्रहण ही) सच्चे रजत के ज्ञान से सादृश्य है उसी सादृश्य से व्यक्ति प्रवृत्त होता है तो] वह सच्चे रजत की प्रतीति से सादृश्य होना क्या केवल ज्ञान रहने से ही प्रवृत्ति का कारण होता है या वस्तुतः विद्यमान रहकर प्रवृत्ति उत्पन्न करता है ? [अब प्रथम विकल्प में दो विकल्प करते हैं।]

आद्ये विकल्पे भेदाग्रहापरपर्यायस्य सारूप्यस्य समीचीनसंनिभे इमे ज्ञाने इति विशेषाकारेण गृह्यमाणस्य प्रवृत्तिकारणत्वं, किं ज्ञानयोरेव स्वरूपतो विषयतश्च मिथो भेदाग्रहो विद्यत इति सामान्याकारेण गृह्यमाणस्य सारूप्यस्य ?

पहले विकल्प में [दो विकल्प हैं—] (१) सारूप्य को दूसरे शब्दों में 'भेद का ग्रहण न करना' भी कहते हैं। 'ये दोनों ज्ञान सच्ची चाँदी के ज्ञान के समान हैं'—इस प्रकार **विशेष आकार** में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। (२) इन दोनों ज्ञानों में ही स्वरूप और विषय को लेकर भेदाग्रह (सारूप्य) है—इस प्रकार **सामान्य आकार** में गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। [चूँकि ज्ञान दो प्रकार का होता है इसलिए ज्ञात सादृश्य वाले विकल्प के दो खण्ड हो रहे हैं। वैशेषिक आदि कहते हैं कि जिस धर्म के कारण सादृश्य होता है—उस धर्म और सादृश्य में तादात्म्य है, वह धर्म ही सादृश्य है। उस धर्म का यह रूप है—मुख (उपमेय) और चन्द्र (उपमान) में सौन्दर्य (धर्म) समान है। यह कभी विशेषाकार में ज्ञात होता है। कभी-कभी सामान्य रूप में ही—जैसे यह धर्म अमुक पदार्थ में है। प्रस्तुत प्रसंग में देखते हैं कि भेदाग्रह समान धर्म है। जैसे सच्ची चाँदी के ज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं होता वैसे ही ज्ञानद्वय से युक्त प्रतीति में भी भेद ग्रहण नहीं हो पाता। इस रूप में भेदाग्रह का ज्ञान प्रवृत्त करता है या इन दोनों ज्ञानों के पारस्परिक भेद का ग्रहण नहीं होने से ही हम प्रवृत्त होते हैं ? संक्षेप में यह कहें कि सच्चे रजत के ज्ञान से तुलना करने पर भेदाग्रह ज्ञान प्रवर्तक होता है या अपने ही दोनों ज्ञानों में भेदाग्रह होने से प्रवृत्ति होती है ?]

नाद्यः। समीचीनज्ञानवत्तत्संनिभज्ञानस्य तदुचितव्यवहारप्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। न खलु गोसंनिभो गवय इत्यवभासो गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति।

न द्वितीयः। व्याहतत्वात्। न खल्वनाकलितभेदस्यानयोरिति, अनयोरिति ग्रहे भेदाग्रह इति च प्रतिपत्तिर्भवति। अतः परिशेषात्सत्तामात्रेण भेदाग्रहरूपस्य सारूप्यस्य व्यवहारकारणत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि जैसे समीचीन ज्ञान (सच्ची चीज

का ज्ञान) [अपने उचित व्यवहार की ओर लोगों को प्रवृत्त करता है उसी तरह से समीचीन ज्ञान] की तुलना करने वाला (Similar) ज्ञान ('इदं रजतम्' का) उस सम्यक् ज्ञान की तरह व्यवहारों में लोगों को प्रवृत्त नहीं कर सकता। 'गौ के समान गवय होता है' यह प्रतीति गौ चाहने वाले व्यक्ति को गवय की ओर प्रवृत्त नहीं करती। [विद्यमान वस्तु के साथ अविद्यमान वस्तु के सादृश्य का ज्ञान होने से भी अविद्यमान वस्तु की ओर प्रवृत्ति नहीं होती।]

दूसरा विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि इसमें व्याघात (प्रतिरोध) होता है। जिसमें भेद का ग्रहण ही नहीं किया गया है (= ग्रहण और स्मरण में), उसमें 'इन दोनों में' इस तरह की प्रतीति नहीं हो सकती और न 'अनयोः' (इन दोनों में)—ऐसा लेने से भेदाग्रह की ही प्रतीति हो सकती। [एक ओर कह रहे हैं कि भेद का ग्रहण नहीं होता अर्थात् ज्ञान एक है, दूसरी ओर द्विवचन शब्द का प्रयोग भी कर रहे हैं। यह व्याघात* नहीं तो क्या है ?]

इसलिए अब अवशिष्ट बचे दूसरे विकल्प को लें अर्थात् विद्यमान होने के कारण (सत्तामात्र से) भेदाग्रह रूपी सादृश्य को व्यवहार का कारण मानें। [जैसे इन्द्रिय स्वयम् अज्ञात होने पर भी ज्ञान उत्पन्न करती है अथवा पास में पड़ी आग अज्ञात होने पर दाहक होती है उसी तरह इन दोनों ग्रहण-स्मरणात्मक ज्ञानों में वस्तुतः विद्यमान भेदाग्रह (सादृश्य) ज्ञात न होने पर भी व्यवहार या प्रवृत्ति की उत्पत्ति कर सकता है। मीमांसकों ने ऐसा ही माना भी है। इसपर भी विचार करते हैं।]

एवमेवास्त्विति चेत्—तर्हि इदमिह संप्रधार्यम्। किमयं भेदाग्रहः समारोपोत्पादनक्रमेण व्यवहारकारणमस्तु, उतानुत्पादितारोप एव स्वयमिति। न च द्वितीयः पक्ष एव श्रेयान्। तावतैव व्यवहारोत्पत्तावारोपस्य गौरव-दोषदुष्टत्वादिति मन्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारस्य विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वनियमेनाज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः।

यदि मीमांसक उपर्युक्त रूप में विकल्प को ही स्वीकार करें तो उन्हें यह स्पष्ट करना चाहिए कि यह भेदाग्रह समारोप की उत्पत्ति के क्रम से व्यवहार का प्रयोजक है या बिना आरोप की उत्पत्ति किये स्वयं ही व्यवहार को चलाता

* Self-Contradiction (व्याघात)।

है ? [सीपी पर रजत के स्वरूप का आरोप भेदाग्रह के ही कारण होता है। यही आरोप व्यवहार या प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, इसलिए आरोप के क्रम से भेदाग्रह व्यवहारादि का कारण है, ऐसा मानते हैं। दूसरा विकल्प है कि भेदाग्रह रजत के स्वरूप को सीपी पर बिना आरोपित किये ही व्यवहार का प्रवर्तन करता है।]

दूसरा पक्ष ही कोई अधिक अच्छा नहीं है क्योंकि यदि उतने से ही व्यवहार की सिद्धि होती है तो आरोप को इस विवाद में ले आना कल्पनागौरव के दोष से दूषित हो जायगा। यह समझें। यह नियम है कि विशिष्ट व्यवहार विशिष्ट ज्ञान के बाद ही हो सकता है, इसलिए अज्ञान (भेदाग्रह) के बाद [विशिष्ट व्यवहार की] सिद्धि नहीं होती। [जैसे पुरुष में दण्ड की विशिष्टता जानकर ही यह व्यवहार होता है कि यह दण्डी है वैसे ही सामने के पदार्थ में रजतत्व की विशिष्टता जानकर ही 'यह चाँदी है' ऐसा व्यवहार करेंगे। अज्ञान से यह व्यवहार कभी संभव नहीं। भेद-ज्ञान न होना ही अज्ञान है। यदि अज्ञान ही व्यवहार का कारण होता तो सामने के पदार्थ के संनिकर्ष के पूर्व भी तो वह सुलभ ही था तो वैसा व्यवहार क्यों नहीं हुआ, अथवा प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ? इसलिए चेतन के व्यवहार का कारण ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं।]

विशेष—सत्तामात्र वाले विकल्पों में दूसरे को तो काट दिया गया किन्तु पहले को शंकर स्वयं स्वीकार करेंगे। तदनुसार आरोपपूर्वक भेदाग्रह के कारण ही रजत की प्रतीति होती है।

(१२ क. रजत का सीपी पर आरोप)

नन्वयं व्यवहारो नाज्ञानपूर्वक इत्यनाकलितपराभिसंधिः स्वसिद्धान्तसिद्धार्थाद् यदि कश्चिच्छङ्केत, स प्रतिवक्तव्यः।

शुक्तिकाविषयस्य ग्रहणस्यासमीहितविषयत्वेन रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुत्वासंभवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां रजतज्ञानस्य समीहितविषयत्वेन प्रवृत्तिहेतुत्वसंभवाच्चेदमर्थाभिसंभिन्नग्रहविविक्तस्यापि रजतस्मरणस्य कारणत्वं वक्तव्यम्।

यदि कोई (मीमांसक) अपने सिद्धान्त के सिद्ध अर्थ के अनुसार शंका करे और 'यह व्यवहार (सीपी में चाँदी का व्यवहार) अज्ञानपूर्वक नहीं है' इस रूप में जो दूसरों (वेदान्तियों) की अभिसंधि (धारणा, hold) है उसका ध्यान न रखे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना होगा। [ये मीमांसक आरोप की

आवश्यकता की सिद्धि करने वाले वेदान्त के गूढ अभिप्राय को नहीं समझते। इसलिए ऐसा कहते हैं।]

सीपी के विषय का जो ग्रहण है वह अभीष्ट विषय नहीं है इसलिए रजत के इच्छुक व्यक्ति में वह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरी ओर अन्वय-व्यतिरेक से, रजत ज्ञान अभीष्ट विषय होने के कारण प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकता है। इन दोनों कारणों से, 'इदम्' अर्थ से संयुक्त उसके प्रत्यक्षानुभव से पृथक् होने पर भी रजत के स्मरण को ही कारण मानना चाहिए। [इष्ट वस्तु का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति होती है उसके अभाव में नहीं— इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा निर्णय होता है कि रजत का ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है। लेकिन स्मरणात्मक रजत-ज्ञान को प्रवृत्ति-कारण कहना सम्भव नहीं है। ज्ञान और इच्छा का विषय समान होने पर भी, इच्छा और प्रवृत्ति का समान विषय नहीं रह पायेगा। इच्छा का विषय (इष्ट) रजत भले ही हो परन्तु वह प्रवृत्ति का विषय नहीं है। कारण यह है कि प्रवृत्ति 'इदम्' के अर्थ की ओर अभिमुख हो रही है। तो यहाँ पर जिसकी ओर प्रवृत्ति है वही वस्तु ज्ञान या इच्छा का विषय बन जाती है—इसे किसी तरह सिद्ध करना ही है। यह 'इदम्' का अर्थ, जो प्रवृत्ति का विषय बना हुआ है, उसकी सिद्धि तब तक नहीं होगी जब तक इच्छा के विषय—रजत—का आरोप नहीं मानेंगे। इसे ही आगे समझा रहे हैं।]

तच्च वक्तुं न शक्यते। जानाति इच्छति ततः प्रवर्तत इति न्यायेन ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्। तथा चेदंकारास्पदाभिमुखप्रवृत्तस्य रजतार्थिनस्तदिच्छानिबन्धनम्। अन्यथा अन्यदिच्छन्नन्यद् व्यवहरतीति व्याहन्येत। तथा च यदीदंकारास्पदं रजतावभासगोचरतां नाचरेत्कथं रजतार्थी तदिच्छेत्। यद्यरजतत्वाग्रहणादिति ब्रूयात् रजतत्वाग्रहात्कस्मादयं नोपेक्षेतेति।

किन्तु यह कहा नहीं जा सकता [कि स्मरणात्मक रजत-ज्ञान प्रवृत्ति उत्पन्न करता है]। एक नियम है कि मनुष्य किसी वस्तु को जानता है, तब उसकी इच्छा करता है और अन्त में उसके लिए प्रवृत्त होता है—इससे स्पष्ट है कि ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक ही वस्तु रहनी चाहिए। उसके अनुसार, जो रजतार्थी 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतीत वस्तु की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी इच्छा भी उसी ('इदम्' शब्द के द्वारा प्रतीत वस्तु) पर आधारित

है। यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरी वस्तु की इच्छा हो और व्यवहार दूसरी वस्तु का करें —ऐसा व्याघात होने की सम्भावना होगी।

ऐसी स्थिति में यदि 'इदम्' शब्द का प्रतीति-विषय रजत-ज्ञान को विषय नहीं बनाता (= 'इदम्' से रजत का ज्ञान नहीं होता) तो रजतार्थी उसकी इच्छा कैसे करेगा ? यदि ये उत्तर दें कि [सामने में विद्यमान वस्तु] रजत से भिन्न है, ऐसा ग्रहण नहीं होता [इसीलिए रजतार्थी उसकी इच्छा करेगा] तो हम कहेंगे कि [उन्हीं मीमांसकों के मत से] चूँकि संनिहित वस्तु का रजत के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए उसकी उपेक्षा वह क्यों नहीं करेगा ? [रजत के रूप में ग्रहण न होने से उधर प्रवृत्ति ही नहीं होगी—यह उत्तर दिया जा सकता है। उपेक्षा = प्रवृत्ति नहीं होना।]

युगपत्तद्भव-भेदाग्रहाभेदाग्रह-निबन्धनाभ्यामुपादानोपेक्षाभ्यां पुरतः पृष्ठतश्चाकृष्यमाणः पुरुषो दोलायमानतया रूप्यारोपमन्तरेणोपादानपक्ष एव न व्यवस्थाप्यत इत्यनिच्छताऽप्यच्छमतिना समारोपः समाश्रयणीयः।

यथाह—भेदाग्रहादिदंकारास्पदे रजतत्वमारोप्य तज्जातीयस्योपकारहेतुभावमनुस्मृत्य तज्जातीयत्वेनास्यापि तदनुमाय तदर्थी प्रवर्तत इति प्रथमः पक्षः प्रशस्यः।

इससे एक ही साथ (Simultaneously) रजत के भेद का अज्ञान और रजत के अभेद का [दोनों उत्पन्न होंगे जिन] पर आधारित उपादान (प्रवृत्ति) और उपेक्षा (अप्रवृत्ति) के द्वारा पुरुष (रजतार्थी) आगे-पीछे की ओर खिंचने लगेगा। [उपर्युक्त दोनों अज्ञान एक ही साथ विद्यमान रहेंगे। अपना-अपना कार्य वे एक ही साथ करेंगे। लेकिन प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों एक ही साथ संभव नहीं होती।] वह मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ (Confused) होने से तब तक प्रवृत्ति के पक्ष में समझा नहीं जा सकता जब तक हम रजत का सीपी पर आरोप नहीं मान लें। [रजत का आरोप मान लेने से व्यक्ति की प्रवृत्ति उस आरोपित रजत की ओर सरलता से सिद्ध हो जायेगी।] इस तरह आप जैसे स्वच्छ बुद्धि के व्यक्ति को, इच्छा न रहते हुए भी समारोप (Imposition) मान ही लेना चाहिए।

जैसा कि कहा है—भेद के अज्ञान के कारण 'इदम्' शब्द के द्वारा प्रतिपादित वस्तु पर रजतत्व का आरोप करके, उस जातिवाले (रजत) पदार्थ को

उपकार का कारण (Beneficial) स्मरण करके, उसी जाति का होने के कारण इस (आरोपित रजत) के उपकार का कारण होने का अनुमान करके उसकी कामना से पुरुष प्रवृत्त होता है। इसलिए पहला पक्ष (अर्थात् आरोप उत्पन्न करके भेदाज्ञान व्यवहार का कारण बनता है) मानना अच्छा है।

विशेष—अनुमान का रूप इस तरह का है—

(१) सामने में विद्यमान पदार्थ उपकारक है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि यह रजत है। (हेतु)

(३) जैसे पहले के अनुभव का रजत। (उदाहरण)

यहाँ स्मरणीय है कि जबतक हम रजत को आरोपित न मानें तबतक पक्ष में हेतु की सत्ता नहीं हो सकती। पक्ष है पुरोवर्ती पदार्थ, हेतु है रजतत्व।

न च तटस्थरजतस्मरणपक्षेऽपि हेतोर्गृहीतत्वेनायं मार्गः समान इति वाच्यम्। रजतत्वस्य हेतोः पक्षधर्मत्वाभावात्। न च पक्षधर्मताया अभावेऽपि व्याप्तिबलाद्गमकत्वं शङ्क्यम्। व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्।

आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि तटस्थ (पहले से अनुभूत तथा अनारोपित) रजत का स्मरण मानने वाले पक्ष में भी तो हेतु का ग्रहण कर लेने से यह मार्ग एक तरह का ही है। [शंका का यही आशय है कि रजत का स्मरण करने से आरोप के बिना भी हेतु का ज्ञान होने के कारण अनुमान करना आसान है। हेतु 'रजतत्व' उसमें दिया जा सकता है। परन्तु शंका इसलिए ठीक नहीं है] क्योंकि 'रजतत्व' को हेतु जो बनायेंगे वह (हेतु) पक्ष (= 'इदम्' का अर्थ) का धर्म नहीं रखता। [पूर्वपक्षी आरोप को तो स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए 'इदम्' के द्वारा अभिहित वस्तु में रजतत्व हेतु की वृत्ति नहीं होगी। 'इदम्' को तो ग्रहण मानते हैं, रजत को स्मरण।]

उत्तर में आप यह नहीं कह सकते कि पक्ष-धर्मता (Minor Premise, हेतु और पक्ष का सम्बन्ध बतलाने वाला वाक्य) के बिना भी केवल व्याप्ति (Major Premise, हेतु और साध्य का सम्बन्ध बतलाने वाला वाक्य) बल से हम हेतु को ज्ञापक मान लेंगे। यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त लिंग (साधन, Middle Term) ही ज्ञापक हो सकता है। [अतः हेतु की पक्ष में वृत्ति होना परम आवश्यक है, नही तो अनुमान होगा ही नहीं।

तदाहुः शबरस्वामिनः—ज्ञातसंबन्धस्यैव पुंसो लिङ्गविशिष्ट-

धर्म्येकदेशदर्शनाल्लिङ्गिविशिष्टधर्म्येकदेशबुद्धिरनुमानमिति । आचार्योऽप्यवोचत्—

४०. स एष चोभयात्मा यो गम्ये गमक इष्यते ।
असिद्धेनैकदेशेन गम्यासिद्धेर्न बोधकः ॥ इति ।

इसे शबर स्वामी कहते हैं—'जो व्यक्ति [साधन और साध्य—जैसे धूम और अग्नि का] सम्बन्ध जानता है वह जब लिंग (साधन—धूम) से विशिष्ट धर्मी (जैसे पर्वत, जंगल आदि जहाँ भी धूम हो) का एक भाग देखकर लिंगी (साध्य—अग्नि) से विशिष्ट धर्मी (पर्वत) के एक भाग का बोध करता है तो वही अनुमान है ।' [साधनयुक्त धर्मी को देख कर उसकी साध्ययुक्तता का ज्ञान करना अनुमान है । कोई नई चीज शबर ने नहीं कही है ।]

हमारे आचार्य ने भी कहा है—'गम्य (साध्य) में जो ज्ञापक (गमक = साधन, हेतु, लिंग) लिया जाता है वह उभयात्मक (अर्थात् व्याप्ति-विशिष्ट और पक्ष में स्थित भी) होता है । यदि उसका एक भाग भी असिद्ध हो गया (जैसे हेतु व्याप्तियुक्त होने पर भी पक्षनिष्ठ न हो या पक्षनिष्ठ होने पर भी व्याप्तिमान् न रहे) तो गम्य (साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिए वैसा हेतु साध्य का बोधक नहीं हो सकता ॥ ४० ॥'

(१४. आरोप के विषय में शंका-समाधान)

ननु भवत्पक्षेऽपि पुरःस्थितस्येदमर्थस्य परमार्थतो रजतत्वं नास्तीति न रजतत्वं धर्म्येकदेश इति चेन्न । पक्षानुरूपो बलिरिति न्यायेनानुमित्याभासानुगुणस्यैकदेशस्य विद्यमानत्वात् । तथा च प्रयोगः—

विवादाध्यासितं रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात् । यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यम् , यथोभयवादिसंमतं सत्यरजतज्ञानम् ।

विवादपदं शुक्तिशकलं रजतज्ञानविषयोऽव्यवधानेन रजतार्थिप्रवृत्तिविषयत्वाद्रजतपदसमानाधिकरणपदान्तरवाच्यत्वाद्वा वस्तुरजतवत् ।

कोई शंका कर सकता है कि आपके पक्ष (सीपी पर रजत का आरोप वाला पक्ष) में भी तो सामने में विद्यमान 'इदम्' का अर्थ (प्रतीत वस्तु)

वास्तव में रजत नहीं है इसलिए 'रजतत्व' [हेतु जो आपने ऊपर दिया है वह] धर्मी (पर्वतादि) का एक भाग नहीं बन सकता।

परंतु ऐसी बात नहीं है। 'यक्ष के अनुसार बलि दी जाती है' इस नियम से अनुमान के द्वारा यह ज्ञात होता है कि धर्मी का एक भाग प्रतीति के अनुरूप ही [अवास्तविक रूप में] विद्यमान है। [धर्मी का एक भाग = रजतत्व। 'इदम्' के द्वारा प्रतीत वस्तु में साध्य अर्थात् उपकारकता वस्तुतः तो नहीं है, कुछ देर तक प्रतीत होती है। साध्य यदि अवास्तविक है तो उसके साधन को क्या पड़ा है कि वह वास्तविक बनने जाय ? अवास्तविक साध्य का साधन—रजतत्व—भी यदि अवास्तविक हो जाय तो क्या हानि है ? उपकारकत्व की जैसी प्रतीति, वैसी ही रजतत्व की। जैसे को तैसा !]

इसके लिये अनुमान-प्रयोग (Form of inference) इस रूप में होगा—

(१) विवादास्पद रजतज्ञान सामने में विद्यमान विषय से युक्त है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि रजतार्थी उसकी ओर नियम से प्रवृत्त होते हैं। (हेतु)

(३) जिसका साधन उस तरह है, उसका साध्य भी वैसा ही होगा जैसे दोनों वादियों के द्वारा स्वीकृत सच्चे रजत का ज्ञान। (व्याप्ति + उदाहरण) [इस अनुमान से यह सिद्ध हुआ कि रजतविषयक ज्ञान पुरोवर्ती पदार्थविषयक है। अतः रजत और पुरोवर्ती पदार्थ में तादात्म्य की सिद्धि हो जाती है। अब दूसरे अनुमान से यह सिद्ध कर रहे हैं कि सीपी का टुकड़ा चाँदी के ज्ञान का विषय है अतएव सीपी और चाँदी में तादात्म्य है। इन दोनों तादात्म्यों की उपपत्ति आरोप से ही होती है। यह दूसरा अनुमान लें—]

(१) विवादास्पद सीपी का टुकड़ा चाँदी के ज्ञान का विषय है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उसी ओर होती है, क्योंकि रजत शब्द के समानाधिकरण दूसरे पद ('इदम्') का वह (सीपी का टुकड़ा) वाच्य है। (हेतु)

(३) जैसे वास्तविक चाँदी होती है। (उदाहरण)

(१४ क. मीमांसकों के तर्कों का उत्तर)

यदुक्तं रजतज्ञानस्य शुक्तिकालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोध उद्भाव्यते इदमंशस्य वा ?

नाद्यः। अनङ्गीकारपराहतत्वात्। न द्वितीयः। इदंतानियतदेशाधिकरणस्य चाकचिक्यविशिष्टस्य वस्तुतो रजतज्ञानालम्बनत्वमनवलम्बमानस्य भवत एवानुभवविरोधात्। इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपूर्वकमुपादानादिव्यवहारदर्शनाच्च।

आप कहते हैं कि रजत का ज्ञान यदि सीपी पर आधारित हो जाय तो अनुभव का विरोध होगा। किन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि किसी भी निम्नोक्त विकल्प को सहने की शक्ति इसमें नहीं है। विकल्प ये हैं:—आप अनुभव का विरोध कहाँ पर मानते हैं? क्या रजत के आकार की प्रतीति सीपी पर आधारित होती है तब, या 'इदम्' अंश पर आधारित होती है तब? [सभी लोगों का यह अनुभव है कि चाँदी की प्रतीति पुरोवर्ती पदार्थ पर निर्भर करती है। फिर भी अनुभव-विरोध माननेवाले कहते हैं कि पुरोवर्ती पदार्थ सीपी के रूप में चाँदी की प्रतीति का आधार है, इसीसे अनुभव का विरोध होता है। अथवा 'इदम्' अंश के रूप में वह आधार होगा। अब दोनों का खंडन करते हैं।]

(१) पुरोवर्ती पदार्थ सीपी के रूप में रजतज्ञान का आधार नहीं हो सकता क्योंकि इसे हम स्वीकार नहीं करते। अतः यह खंडित हो गया [कि इसमें अनुभव का विरोध होगा। हम इस रूप में रजत का आरोप मानते नहीं, जिससे अनुभवविरोध की उक्त प्रक्रिया हमपर लागू नहीं हो सकती। इसमें सफाई देने का स्थान ही नहीं है। हाँ, [यदि अनुभव-विरोध आप 'इदम्' के अंश पर आधारित रजतज्ञान में मानें तो सफाई देंगे—]

(२) यह दूसरा विकल्प ठीक नहीं क्योंकि जिस वस्तु का आधार 'इदम्' अंश से नियत (पुरोवर्ती) स्थान ही है तथा जो (वस्तु) चाकचिक्य (जगमगाहट) से युक्त है उसे रजत के ज्ञान का आधार न मानने से आपकी उक्ति ही अनुभव का विरोध करती है। [आपका कथन गलत है। जिसकी आँखें दूषित हैं वह व्यक्ति सामने में पड़ी चीज को देखकर उसकी जगमगाहट से अपने अंतःकरण में उसकी वृत्ति बैठाता है। द्रव्य का निश्चय तो नहीं हो सकता—सीपी के रूप में अंतःकरण की वृत्ति नहीं जगी है। जगी है तो 'इदम्' के रूप में। अतः 'इदम्' के रूप में पुरोवर्ती पदार्थ पर आधारित रजतज्ञान अनुभवसिद्ध है। यदि कोई नहीं मानता तो वही अनुभव के विरुद्ध जा रहा है।] दूसरे, 'इदं रजतम्' इस प्रकार समानाधिकरण होने के कारण पुरोवर्ती पदार्थ में

अँगुली का निर्देश करके भी प्रवृत्ति आदि व्यवहार देखे जाते हैं। [कोई अँगुली दिखाकर कहता है कि यह चाँदी है, तो उसे लेने के लिए हम चल पड़ते हैं।]

यच्चोक्तम्—दोषाणामौत्सर्गिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिबन्धकतया विपरीतकारित्वं नास्तीति। तदप्ययुक्तम्। दावदग्धवेत्रबीजादौ तथा दर्शनात्। न च दग्धस्य वेत्रबीजत्वं नास्तीति मन्तव्यम्। श्यामस्य घटस्य रक्ततामात्रेण घटत्वनिवृत्तिप्रसङ्गात्।

ननु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुवृत्तयोः प्रत्ययप्रयोगयोः सद्भावाद् घटत्वस्य सद्भाव इति चेत्—न। अत्रापीदं वेत्रबीजमिति तयोः समानत्वात्।

आपने यह भी कहा था कि दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का केवल प्रतिबन्ध कर सकते हैं (देखिये—अनु० ११ क) अतः ये विपरीत कार्य उत्पन्न नहीं कर सकते (अर्थात् दोष केवल आवरण करने में समर्थ हैं विक्षेप में नहीं)। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि दावाग्नि से जले हुए बीज में वह शक्ति (विपरीत-कार्योत्पादन की) देखते हैं। आप यह न सोचें (जैसा कि उक्त स्थल पर हमारी शंका का उत्तर देते हुए किया था) कि जल जाने पर वह बेंत का बीज रहा ही नहीं। ऐसा यदि होता तो काले (कच्चे) घड़े में पकने पर यदि लाली आने लगती तो बस इतने से ही वह घट-संज्ञा से रहित हो जाता। [इससे सिद्ध हुआ कि परिणाम होने के कारण स्वाभाविक धर्म की हानि नहीं होती। बेंत का बीज जलने पर भी बेंत का बीज ही है। अतः वह विपरीत कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है ही।]

अब यह शंका की जा सकती है कि [उपर्युक्त घट के उदाहरण में] यह (कच्चा) भी घट है, वह (पका) भी घट ही है—यहाँ [घटविषयक] प्रतीति और व्यवहार दोनों ही अनुवृत्त अर्थात् पहले की तरह होते हैं। दोनों के विद्यमान रहने से वहाँ घटत्व ही विद्यमान है [जिससे कच्चे और पक्के घड़ों में 'घट' शब्द का ही व्यवहार होता है। वह बात यहाँ पर लागू नहीं है।] परन्तु यह शंका इसलिए ठीक नहीं कि यहाँ पर भी दोनों स्थितियों में वह बेंत का बीज एक समान ही है।

तथा भस्मकदोषदूषितस्य जाठराग्नेर्बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृश्यते। न च बह्वन्नपचनसामर्थ्यं जाठरस्यैव जातवेदसो न भस्मकव्याधेरिति वक्तुं युक्तम्। तस्य मन्दमल्पपचनसामर्थ्येऽपि

सहसा महत्पचनस्य भस्मकव्याधिसाहायकमन्तरेणानुपपत्तेः। अन्यथा सर्वेषां तथापत्तेः।

उसी प्रकार भस्मक-दोष से दूषित जठराग्नि में बहुत-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य देखते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि बहुत-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य केवल जठराग्नि में ही है, भस्मक-रोग में नहीं। उस (जठराग्नि) में धीरे-धीरे थोड़ा-सा अन्न पचाने की सामर्थ्य होने पर भी अकस्मात् अधिक-से अधिक अन्न पचाने की शक्ति तब तक सिद्ध नहीं होती जब तक भस्मक-रोगरूपी दोष की सहायता न ले ली जाय। यदि ऐसा नहीं हो तो सभी (जठराग्नियों) के साथ यह बात होने लगेगी [कि वे अधिक-से-अधिक अन्न पचाने लगेंगी — चाहे भस्मक रोग रहे या न रहे। परन्तु ऐसा नहीं देखते। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोषों का आविर्भाव हो जाने पर क्रिया विपरीत भी होती है।]

किं च ज्ञानानां यथार्थव्यवहारकारणत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारकारणत्वमङ्गीकुर्वाणो भवानेव पर्यनुयोज्यो भवति। तदुक्तं भाष्ये—'यश्चोभयोः समानो दोषो द्योतते तत्र कश्चोद्यो भवतीति'। अत्राप्युक्तम्—

४१. यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ इति।

इसके अतिरिक्त जब आप (मीमांसक) यह स्वीकार करने लगते हैं कि ज्ञान यथार्थ व्यवहार का कारण होने पर भी दोष के कारण अयथार्थ व्यवहार के प्रयोजक हैं तो अपने ही तर्कों से आप स्वयं पकड़े जाते हैं। [यह आशय है—मीमांसकों के अनुसार पुरोवर्ती पदार्थ का प्रत्यक्ष (इदम्) और रजत का स्मरण (रजतम्), ये दोनों ज्ञान सच्चे हैं किन्तु दोष के कारण एक ही ज्ञान से उत्पन्न जैसा व्यवहार जो करते हैं वह असत्य है। इसका अर्थ है कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि दोष यथार्थं व्यवहार के विपरीत अयथार्थ व्यवहार के रूप में कार्य उत्पन्न करते हैं। धन्य हैं मीमांसक जी, स्वयं तो दोषों में विपरीत कार्योत्पादन-शक्ति मानते हैं और हम पर लाञ्छन लगाते हैं कि आप ऐसा मानते हैं। दोनों तो एक ही तरह के दोष से युक्त हैं। कौन किसे दोषी घोषित करे ?]

इसे भाष्य में कहा है—'दोनों में जब समान दोष दिखलाई पड़ रहा है तो उसमें किसे लांछनीय समझें ?' यहाँ भी कहा गया है—'(४१) जब दोनों

पक्षों में एक समान दोष हो और उसका परिहार (निराकरण) भी एक ही समान हो तो वैसे पदार्थ के विवेचन में किसी एक पर लांछन लगाना ठीक नहीं है।'

तथापि मामकस्यानुमानस्य किं दूषणं दत्तमासीत्? यद्यनुमानदूषणं विना न परितुष्यति, हन्त, कालात्ययापदिष्टता। कृष्णवर्त्मानुष्णत्वानुमानवत्। एतावन्तं कालं यदिदं रजतमित्यभादसौ शुक्तिरिति प्रत्यक्षेण प्राचीनप्रत्ययस्यायथार्थत्वं प्रवेदयता यथार्थत्वानुमानस्यापहृतविषयत्वाद् बाध्यत्वसंभवात्।

फिर भी हमारे (मीमांसकों के) द्वारा दिये गये अनुमान में* अपने क्या दोष लगाया? [वेदान्ती कहते हैं कि] अच्छी बात, महोदय, यदि अनुमान में दोष दिखाये बिना आप संतुष्ट नहीं हो रहे हैं तो सुनिये—आपके अनुमान में कालात्ययापदिष्ट या बाधित हेत्वाभास है। वह वैसा ही अनुमान है जैसे अग्नि को अनुष्ण सिद्ध करने के लिए अनुमान दिया जाय। [अग्नि अनुष्ण है क्योंकि यह द्रव्य है जैसे जल। यह अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित होता है।]

इस समय तक जो पदार्थ रजत के रूप में प्रतीत होता रहा है वह सीपी है—इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्राचीन प्रतीति की अयथार्थता सिद्ध करता है। यथार्थता सिद्ध करने वाले अनुमान का विषय अपहृत हो जाता है (चाँदी सीपी बन जाती है)। इसलिए वह बाध्य तो है ही।

यच्चोक्तं स्वगोचरव्यभिचारे सर्वानाश्वासप्रसङ्ग इति। तदसांप्रतम्। संविदां क्वचित्संवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेद इति, तथा तावकेऽपि मते तथा मामकेऽप्यसौ पन्था न वारित इति समानयोगक्षेमत्वात्।

तौतातितमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणैराचार्यवाचस्पतिमिश्रैर्बाधकत्वेन स्वतःप्रामाण्यं न व्यभिचारेणेति न्यायकणिकायां प्रत्यपादि। तस्मादविश्वासशङ्का अनवकाशं लभते।

आपने यह कहा कि यदि [ज्ञान में] अपने विषय का व्यभिचार मानें

---

* विवादस्पद प्रतीतियाँ यथार्थ हैं, क्योंकि वे प्रतीतियाँ हैं जैसे दण्डी की प्रतीति। देखिये—अनु० १२क का अंत।

(विषय के यथार्थ न होने पर भी उसका ज्ञान स्वीकार करें और विषय से व्यभिचरित होनेवाला ज्ञान मानें) तो सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति (आश्वासन, विश्वास) रुक जायगी। पर ऐसी बात नहीं है। ज्ञान से कहीं-कहीं संवादी (व्यभिचरित, यथार्थ के साथ अयथार्थ) व्यवहार की उत्पत्ति होती है फिर भी सब जगह वैसा ही होने की शंका से प्रवृत्ति का बिल्कुल नाश ही नहीं हो जाता। जिस तरह आपके मत में ऐसा होने पर भी प्रवृत्ति नहीं रुकती, उसी तरह हमारे मत में भी [व्यभिचरित होने पर भी मार्ग नहीं बन्द होता] क्योंकि हम दोनों के योगक्षेम (संपाद्य विषय और प्रणाली) समान ही हैं। [वेदान्ती लोग विषय के यथार्थ रूप में न होने पर भी ज्ञान मानते हुए **विषय का व्यभिचार** ग्रहण करते हैं। मीमांसक लोग व्यवहार के यथार्थ न होने पर भी ज्ञान को उस व्यवहार का प्रयोजक मानते हैं और ज्ञान में **व्यवहार का व्यभिचार** मानते हैं। दोनों को अविश्वास तो है ही—यह दोष दोनों में है। कोई गंगा में तैरते समय डूब गया तो कोई भी गंगा में नहीं तैरेगा, ऐसी बात नहीं देखते। अतः कहीं पर व्यभिचार पाकर प्रवृत्ति सर्वत्र रुक ही नहीं जाती—यह हम दोनों वादी मानते हैं।]

तौतातित (कुमारिल भट्ट) के मत का अनुसरण करके विधियों की विवेचना करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने **न्यायकणिका** में प्रतिपादन किया है कि [अपूर्व अर्थ का) बोधक होने के कारण विधि को अपने आप में प्रामाणिक मानते हैं न कि [फल का] व्यभिचार होने के कारण। [जहाँ पर वाचस्पति ने इसका प्रतिपादन किया है उसका विषय कुछ इस प्रकार का है—चार्वाकपक्षी शंका करते हैं कि वेद में विहित पुत्रकाम इष्टि संपन्न कर लेने पर भी कहीं-कहीं पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखते अतः फल का व्यभिचार (Inconsistency) देखकर संबद्ध विधि को अप्रामाणिक मानें। इसी पर वाचस्पति का कहना है कि विधि स्वतः प्रमाण है क्योंकि अपूर्व विधि है—इसके प्रतिपादित अर्थ की प्राप्ति किसी दूसरे साधन से नहीं होती। फल के व्यभिचार से इसके प्रामाण्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।]

इसलिए अविश्वास (अनाश्वास) की शंका का कोई स्थान ही नहीं।

(१५. माध्यमिक बौद्धों का खण्डन—भ्रमविचार)

ननु माध्यमिकमतावलम्बनेन रजतादिविभ्रमालम्बनमसदिति चेत्—तदुक्तम्। असतोऽपरोक्षप्रतिभासायोग्यत्वात्। तदुपादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च।

ननु विज्ञानमेव वासनादिस्वकारणासामर्थ्यासादितदृष्टान्त-सिद्धस्वभावविशेषमसत्प्रकाशनसमर्थनमुपजातम्। असत्प्रकाशन-शक्तिरविद्या संवृतिरिति पर्यायाः। तस्मादविद्यावशादसन्तो भान्तीति चेत्—तदपि वक्तुमशक्यम्।

माध्यमिक-मत का अवलंबन लेने पर यह शंका हो सकती है कि रजत आदि के विभ्रम का आधार (सीपी) ही असत् है। [माध्यमिक बौद्धों (Nihilists) के मत से सभी पदार्थ शून्य हैं अतः सीपी भी तो असत् ही है।] इस का उत्तर तो दे दिया गया है कि एक तो, असत् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) में प्रतीत हो नहीं सकता [जब कि सीपी में रजत का भ्रम प्रतीत होता है]; दूसरे, [उक्त भ्रम के आधार पर जो रजत-ग्रहण की प्रवृत्ति लोगों में देखते हैं] उसके ग्रहण की इच्छा से लोगों में वह प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

[अब ये शून्यवादी माध्यमिक लोग कहेंगे कि वासना असत् के प्रकाशन की शक्ति रखती है—असत् होने पर भी सत् की तरह प्रकाशित होती है। उसका यह प्रकाशन अनादि काल से चला आ रहा है। वह वासना ही असत् विज्ञान को सत् के रूप में प्रकाशित करती है। जिस तरह वह स्वयं प्रकाशित होती है उसी तरह विज्ञान में भी असत्-प्रकाशन की शक्ति दे देती है। स्वप्न के दृष्टान्त से हम जान लेते हैं कि विज्ञान में असत्-प्रकाशन की शक्ति है। जैसे स्वप्नावस्था में असत् पदार्थों का प्रकाशन होता है उसी तरह विज्ञान भी असत्-पदार्थों का प्रकाशन करता है। इसे ही कहते हैं—] यह शंका हो सकती है कि वासना आदि अपने कारणों की शक्ति से प्राप्त तथा [स्वप्न के] दृष्टान्त से सिद्ध एक विशेष स्वभाव **विज्ञान** को मिलता है और वह है—असत् पदार्थों के प्रकाशन की क्षमता। उसे असत् के प्रकाशन की शक्ति कहें, अविद्या कहें या संवृति (Concealment) कहें, [कोई अन्तर नहीं क्योंकि] तीनों पर्याय ही हैं। इसीलिए अविद्या के कारण ही असत् पदार्थ प्रतीत होते हैं। यदि ये (बौद्ध) ऐसा कहें तो हम कहेंगे कि इस प्रकार कहना भी असंभव है। [कारण आगे देंगे।]

शक्यस्य दुर्निरूप्यत्वात्। किमत्र शक्यं कार्यं ज्ञाप्यं वा ? नाद्यः। असतः कारणत्वानुपपत्तेः। न द्वितीयः। शक्यस्य कारणत्वेनाङ्गीकृतत्वात्। ज्ञानादन्यस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेश्च। उपलब्धौ वा तस्यापि ज्ञाप्यत्वेन ज्ञापकान्तरापेक्षायामनवस्था-पत्तेश्च।

शक्य (घटादि) पदार्थ का निरूपण करना ही कठिन है। [असत्-प्रकाशन की शक्ति जिसमें है वह विज्ञान शक्त कहलाता है। वह विज्ञान अपनी शक्ति से जिन-जिन पदार्थों का प्रकाशन करता है वे शक्य हैं जैसे—घट, पट, वृक्ष आदि।] क्या यहाँ पर शक्य पदार्थ कार्य (Product, उत्पन्न पदार्थ) है [दण्डादि का कार्य जैसे घट है वैसा] या ज्ञाप्य [उत्पन्न ज्ञान का विषय—जैसे दीपादि का ज्ञाप्य घट है वैसा] है ?

पहला विकल्प तो होगा ही नहीं क्योंकि असत् वस्तु (विज्ञान भी तो असत् ही है—सर्वं शून्यम् !) घटादि (शक्य कार्य) का कारण नहीं बन सकती।

दूसरा विकल्प [कि शक्य ज्ञाप्य है] भी ठीक नहीं क्योंकि शक्य पदार्थ को कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। [यदि शक्य घटादि पदार्थ ज्ञाप्य हैं तो विज्ञान इनका ज्ञापक है। ज्ञापक और ज्ञाप्य में सीधा संबंध है नहीं। जैसे दीपक (ज्ञापक) घट आदि का ज्ञान उत्पन्न करता है वैसे ही विज्ञान घटादि का ज्ञान उत्पन्न करता है। तो, शक्य (घट) कारण नहीं हो सका।] दूसरे एक ज्ञान (विज्ञान से उत्पन्न विज्ञान) से भिन्न दूसरा (घट के विषय में) ज्ञान पाया नहीं जाता। यदि आप [हठपूर्वक] कहें कि पाया ही जाता है तो ज्ञाप्य होने के कारण [इस दूसरे ज्ञान—घट विषयक ज्ञान को] भी दूसरे ज्ञापक की अपेक्षा होगी और अन्त में अनवस्था-दोष ही हाथ लगेगा। [तात्पर्य यह है कि आप एक विज्ञान से घट ज्ञान (दूसरा ज्ञान) मानते हैं। इस द्वितीय ज्ञान का शक्य (अर्थात् घटादि पदार्थ) कार्य नहीं है, ज्ञाप्य ही है। जब ज्ञाप्य है तब इस द्वितीय ज्ञान का भी कोई ज्ञापक होगा ही। ज्ञापक = ज्ञानोत्पादक। अतः इस द्वितीय ज्ञान से तृतीय ज्ञान की उत्पत्ति मानें—उसका भी कोई ज्ञापक होगा, फिर उसका ज्ञाप्य। यह स्थिति अनन्त काल तक चलेगी।]

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विज्ञानं सद्रूपमेवासतः प्रकाशकमिति कक्षीक्रियत इति चेत्—अत्र देवानांप्रियः प्रष्टव्यः पुनः। असौ सदसतोः सम्बन्धो निरूप्यनिरूपकभावोऽविनाभावो वा ?

नाद्यः। असत उपकाराधारत्वायोगेनानुपकृततया निरूप्यत्वानुपपत्तेः। न चरमः। धूमधूमध्वजयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्य, शिंशपावृक्षयोरिव तादात्म्यलक्षणस्य वा, अविनाभावनिदानस्य सदसतोरसंभवात्। तस्माद्विज्ञानमेवासत्प्रकाशकम्—इत्यसद्वादिनामयमसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत्।

अब यदि उक्त (अनवस्था) दोष का परिहार करने की इच्छा से ये स्वीकार करें कि विज्ञान सत् के रूप में होते हुए भी असत् का प्रकाशक है तो उस मूर्खाधिराज से पूछना चाहिए। [यह प्रत्युत्तर जो दोष के परिहार के रूप में दिया जा रहा है वह न तो पूर्णतः माध्यमिक-मत की ओर से दिया जा रहा है क्योंकि माध्यमिक-मत में विज्ञान को भी असत् मानते हैं जब कि यहाँ विज्ञान को सद्रूप माना गया है। न यह प्रत्युत्तर पूर्णतः विज्ञानवादियों की ओर से दिया गया है क्योंकि वे बाह्य घटादि पदार्थों को ज्ञानस्वरूप मानते हैं और यहाँ वैसा किया नहीं गया है। अतः शंका करने वाले 'आधा तीतर आधा बटेर' या अर्धजरतीय (आधा बूढ़ा आधा जवान) के न्याय से प्रत्युत्तर देते हैं। यही कारण है कि माधवाचार्य उनके लिए 'देवानां प्रियः' (मूर्ख) का प्रयोग करते हैं।] अच्छा कहिये—सत् और असत् के बीच उपर्युक्त संबन्ध किस रूप में है, निरूप्य तथा निरूपक के रूप में या अविनाभाव (Invariable relation) के रूप में ?

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि असत् पदार्थ (घट आदि) उपकार (सामर्थ्य-विशेष, अतिशय) का आधार नहीं हो सकता और जब तक उसमें निरूपक (विज्ञान) के द्वारा अतिशय का आधान (= उसे उपकृत) नहीं किया जाता तब तक यह निरूप्य बन ही नहीं सकता। [चूँकि असत् वस्तु किसी का आश्रय नहीं हो सकती अतः उसमें सामर्थ्य का आधान करना संभव ही नहीं है।]

दूसरा विकल्प [कि व्याप्ति के बल से विज्ञान घटादि का ज्ञापक है] भी ठीक नहीं क्योंकि [बौद्धों के द्वारा स्वीकृत अविनाभाव के दो ही कारण हैं—तदुत्पत्ति और तादात्म्य।] उनमें सत् (विज्ञान) और असत् (घटादि) के बीच, न तो धूम और अग्नि की तरह तदुत्पत्ति (Causal relation) से उत्पन्न व्याप्ति (अविनाभाव) संभव है, न ही शिंशपा और वृक्ष की तरह तादात्म्य (Law of identity) से उत्पन्न व्याप्ति। (देखिये, बौद्ध-दर्शन, अनु० १)।

इसलिए, 'विज्ञान ही असत् पदार्थ का प्रकाशक है' यह असद्वादियों का असत् प्रलाप (Idle talk) है। इस प्रकार आरोप्यमाण वस्तु असत् नहीं होती।

विशेष—शून्यवादी बौद्धों का सिद्धान्त **असत्ख्यातिवाद** कहलाता है जिसमें आरोप्यमाण वस्तु को असत् कहते हैं। शंकराचार्य आरोप को भ्रम या मिथ्या भले ही कहते हैं, असत् नहीं। असत् का अर्थ है तीनों काल में बाधित

पदार्थ जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि। मीमांसकों के सिद्धान्त का नाम **अख्यातिवाद** है जिसमें भ्रमज्ञान नहीं मानते। नैयायिक लोग **अन्यथाख्यातिवाद** मानते हैं जिसके अनुसार एक वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में होती है। वेदान्तियों का सिद्धान्त **अनिर्वचनीयख्यातिवाद** है जिसमें वस्तु को सत्, असत् या उभयात्मक रूप में व्यक्त करना असंभव है। यह स्मरणीय है कि शंकर सत्ता के तीन रूप मानते हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। अनिर्वचनीयता पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से वे सभी प्रतीतियाँ ठीक हैं जिनसे हम दैनिक कार्य करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ये भ्रम हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है। प्रातिभासिक दृष्टि से सीपी पर रजत का आरोप भी सत् है किन्तु व्यावहारिक दशा में वह भ्रम है। ऊपर की सत्ता की दृष्टि से नीचे की सत्तावाली वस्तुएँ भ्रम होती हैं।

सत् का ही किसी पर आरोप होता है, असत् का नहीं। शश पर शृङ्ग का आरोप करते हैं क्योंकि शृङ्ग की अन्यत्र सत्ता संभव है। परन्तु अब शशशृङ्ग का किसी पर आरोप नहीं करेंगे क्योंकि इसकी सत्ता कहीं नहीं है।

(१५ क. विज्ञानवादियों का खण्डन—भ्रमविचार)

ननु विज्ञानवादिनयानुसारेण प्रतीयमानं रजतं ज्ञानात्मकम्। तत्र च युक्तिरभिधीयते—यद्यथानुभूयते तत्तथा। अन्यथात्वं तु बलवद्बाधकोपनिपातादास्थीयत इत्युभयवादिसंमतोऽर्थः। तत्र च नेदं रजतमिति निषिद्धेदंभावं रजतमर्थादान्तरज्ञानरूपमवतिष्ठते। न चेदंतया निषेधे सति अनिदंतया च बहिरपि व्यवस्थोपपत्तेः कुतः संविदाकारतेति वाच्यम्। व्यवहितस्यापरोक्षत्वानुपपत्तावपरोक्षस्य विज्ञानस्य कक्षीकर्त्तव्यत्वात्। तथा च प्रयोगः—विवादपदं विज्ञानाकारः, संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्, विज्ञानवदिति।

[विज्ञानवादी पूर्वपक्षी के रूप में कह रहे हैं—] विज्ञानवदियों के सिद्धान्त के अनुसार, प्रतीत होनेवाला रजत ज्ञानात्मक है। इसके लिए युक्ति (Argument) दी जाती है—जिसका जैसा अनुभव होता है वह पदार्थ वैसा ही है। उसका दूसरे रूप में होना तो किसी बलवान् बाधक के उपादान (Introduction) से ही सिद्ध होता है, यह बात दोनों वादियों को (विज्ञानवादी और वेदान्तीको भी) मान्य है। [किसी को पानी गर्म लगा तो यह उष्णता जलकी

नहीं है, अग्नि की ही है—यह सिद्ध होता है। अन्वय-व्यतिरेक से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता की सिद्धि होती है। जहाँ इस तरह का कोई बाधक न हो वहाँ तो अनुभव के अनुसार ही वस्तु का निर्णय करना चाहिए।]

'नेदं रजतम्' में जो रजत शब्द है उसे 'इदम्' के अर्थ से निषिद्ध कर दिया गया है। [नञ् का अर्थ है निषेध ! उसका संबंध इदं के साथ है, रजत के साथ नहीं अर्थात् रजत का इदंभाव से कोई मतलब नहीं रहा। रजत है ही, परन्तु 'नेदम्' कहने से उसके बाहर दिखाई देने की बात रुक गई। इस तरह] अर्थ से ही सिद्ध हुआ कि वह (रजत) आन्तरिक ज्ञान (या विज्ञान) के रूप में अवस्थित है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'इदम्' के रूप में निषेध हो जाने से 'नेदम्' के रूप में बहिर्जगत् में भी तो रजत के होने की व्यवस्था सिद्ध की जा सकती है, फिर आप इसे केवल संविद् या विज्ञान के आकार में ही कैसे मानते हैं ?*

ऐसा इसलिए नहीं कहें क्योंकि [नेदं कहने से रजत को बाह्य-जगत् में व्यवस्थित करने के समय आपत्ति होगी कि रजत तो] व्यवहित या दूर हो गया, वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के रूप में नहीं माना जा सकता इसलिए उसे प्रत्यक्ष (आन्तर रूप से) विज्ञान ही मानना पड़ेगा। इसके लिए अनुमान का प्रयोग भी है—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत रजत) विज्ञान के आकार में है। (प्रतिज्ञा)
(२) क्योंकि बाह्येन्द्रियों के संनिकर्ष से रहित होकर यह प्रत्यक्ष है। (हेतु)
(३) जैसे विज्ञान होता है। (उदाहरण)

तदनुपपन्नम्। विकल्पासहत्वात्। बाधकोऽवबोधः किं साक्षाज्ज्ञानाकारतां बोधयत्यर्थाद्वा ? नाद्यः। नेदं रजतमिति प्रत्ययस्य रजतविवेकमात्रगोचरस्य ज्ञानाभेदगोचरतायामनुभवविरोधात्।

नेदं रजतमिति रजतस्य पुरोवर्तित्वप्रतिषेधो ज्ञानाकारतां कल्पयतीति चेत्—तदेतद्वार्तम्। प्रसक्तप्रतिषेधात्मनो बाधकावबोधस्य तत्रैव सत्त्वात्प्रतिषेधोपपत्तेः। विज्ञानाकारत्वसाधनम-

---

* जो चाँदी यहाँ पर नहीं है तो कहीं घर में पेटी में रखी तो हो सकती है ? यहाँ नहीं होने से बिल्कुल आन्तर विज्ञान में ही है, इसका क्या प्रमाण ? कहीं भी बाह्य जगत् में हो सकती है।

प्यविज्ञानाकारे बहिष्ठे साक्षिप्रत्यक्षे भावरूपाज्ञाने वर्तत इति सव्यभिचारः ।

[अब वेदान्ती उत्तर देते हैं कि] उक्त कथन असिद्ध है। कारण यह है कि निम्न विकल्पों को यह सह नहीं सकता। यह जो बाधक ज्ञान है वह क्या सीधे ही ज्ञान के आकार का बोध कराता है या तात्पर्य के द्वारा ? पहला विकल्प तो ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि 'यह रजत नहीं है' यह (बाधक) प्रतीति केवल रजत के भेद से ही संबन्ध रखती है। यदि उसे रजत के ज्ञान के अभेद (स्वरूप) के विषय में मानेंगे तो हमारे अनुभव के विरुद्ध होगा।

अब यदि आप यह कहें कि 'यह रजत नहीं है' यह वाक्य जो रजत के पुरोवर्ती (सामने) होने का निषेध करता है, वही ज्ञान के आकार का बोध कराता है (= तात्पर्य से इसका बोध हो), तो हम कहेंगे कि यह व्यर्थ है। बाधक ज्ञान प्राप्त वस्तु का निषेध करता है [अप्रसक्त वस्तु का विधान नहीं।] बाधक ज्ञान की सत्ता वहीं (सामने का स्थान) पर है अतः प्रतिषेध की सिद्धि हो जाती है। [यहाँ पर दोष के कारण कल्पित प्रतीयमान रजत प्राप्त है। उसका प्रतिषेध समक्ष ही है। अतः इस प्रतिषेध के वास्तविक होने के कारण आन्तर (विज्ञानरूप) रजत की सिद्धि तात्पर्य से नहीं होती। संनिहित न होने पर भी नहीं ही होती है।]

[रजत को आप विज्ञानवादियों ने 'बहिरिन्द्रिय के संनिकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष है' ऐसा हेतु देकर विज्ञानाकार सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह सव्यभिचार हेतु है क्योंकि इसकी वृत्ति [व्यभिचारपूर्वक] उस भावात्मक अज्ञान में है जो विज्ञानकार नहीं है, [संसार का मूलकारण होने से] बाहर अवस्थित है तथा [बाह्येन्द्रिय संनिकर्ष के बिना भी] 'मैं अज्ञ हूँ' के रूप जिसका प्रत्यक्ष होता है। [ऊपर के विज्ञानवादियों के अनुमान में साध्य—विज्ञानाकारत्व—था। उसका अभाव भावात्मक अज्ञान में है। उक्त अनुमान के हेतु की वृत्ति इसमें भी है। साध्याभाव में वृत्ति रहने से हेतु सव्यभिचार है।]

(१५ ख. नैयायिकों की अन्यथाख्याति का खण्डन)

नन्वन्यथाख्यातिवादिमतानुसारेण रजतस्य देशान्तरसत्त्वेन भाव्यम्। अन्यथा तस्य प्रतिषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तेः। न हि कश्चित्प्रेक्षावाञ्शशविषाणं प्रतिषेद्धुं प्रभवति। तदुक्तम्—

४२. व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।

अभावाविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥

(न्या० कु० ३।२) इति।

तथा च तस्य देशान्तरसत्त्वमाश्रयणीयमिति चेत्—तदपि न प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। असतः संसर्गस्येव कलधौतस्य निषेधप्रतियोगित्वोपपत्तेः।

[बौद्धों की सहायता के लिए नैयायिक लोग आ धमके। 'वह रजत नहीं है' इसमें प्रतिषेध ही स्पष्ट है। तात्पर्य (अर्थ) से आन्तरिक विज्ञान के आकार में रजत की सिद्धि नहीं हुई, न सही। जो रजत पास में नहीं है. घर की पेटी आदि में है उसकी सिद्धि तो तात्पर्य के द्वारा हो सकती है—प्रतिषेध रहे तो भी क्या आपत्ति है ? उनका पक्ष है—] अन्यथाख्याति का सिद्धान्त मानने वालों के अनुसार रजत की सत्ता दूसरे स्थान में तो माननी ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो वह प्रतिषेध का प्रतियोगी नहीं हो सकेगा। कोई भी ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं होगा जो 'खरहे की सींग' (असम्भव वस्तु) का प्रतिषेध करने में समर्थ हो। [इस प्रकार जो रजत पास में नहीं है उसकी सत्ता दूसरी जगह है। एक वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में हो, यही अन्यथाख्याति है। यह तभी सम्भव है जब दूसरा पदार्थ (रजत) सत् हो, अत्यन्त असत् नहीं क्योंकि उसकी प्रतीति हो नहीं सकती।]

इसे कहा है—'व्यावर्त्य (प्रतियोगी—घटाभाव) का [भूतल में] परमार्थतः (भाविकी) अभाव-युक्त होना ही विशेष्य होना है। उसी प्रकार [घट के] अभाव के अभाव के रूप में जो पारमार्थिक वस्तु हो जाय तो वही उसका विशेषण होना (प्रतियोगिता) है।' (न्यायकुसुमांजलि, ३।२)।

[**व्याख्या**—खरहे की सींग आत्यन्तिक रूप से असत् है, सीपी में रजत की प्रतीति आभासित है। अतः ये अवास्तविक हैं, पारमार्थिक नहीं। इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि अवास्तविक पदार्थ में न तो विशेष्य बनने की शक्ति है न विशेषण (प्रतियोगी)। सम्बन्ध के दो दल होते हैं—प्रतियोगी (विशेषण) और अनुयोगी (विशेष्य)। जब हम कहते हैं कि भूतल घट से युक्त है (घटवत् भूतलम्) तो स्पष्टतः 'घट' विशेषण (प्रतियोगी) है और 'भूतल' विशेष्य (अनुयोगी)। 'घटवत्' कहने पर घटाभाव की व्यावृत्ति (Exclusion) भूतल से होती है अतः घटाभाव व्यावर्त्य हुआ। अब व्यावर्तक की खोज करें। व्यावर्त्य का विरोधी ही व्यावर्तक होता है। तो, घटाभाव का व्यावर्तक होगा—घटाभाव का अभाव (अर्थात् घट)। व्यावर्त्य (घटाभाव) के अभाव से युक्त

होना या **घट से युक्त होना** भूतल में पारमार्थिक रूप से सिद्ध है, अतः भूतल विशेष्य है। दूसरी ओर, अभाव के अभाव के रूप में होना अर्थात् **घट के रूप में होना** दिखलाई पड़ता है जो पारमार्थिक (Real) वस्तु का गुण है। अतः घटरूपता प्रतियोगिता (विशेषणता) है अर्थात् घट विशेषण है। इससे सिद्ध होता है कि 'नेदं रजतम्' में पारमार्थिक रजत ही प्रतिषेध का प्रतियोगी (विशेषण) हो सकता है, आभासिक रजत नहीं।]

इसलिए, नैयायिकों के अनुसार, उस (रजत) की सत्ता दूसरे स्थान पर माननी पड़ेगी। [शंकर-मत वाले कहते हैं कि] यह उक्ति प्रमाण-मार्ग में नहीं आती क्योंकि जैसे अविद्यमान संसर्ग का निषेध (जैसे—रूप और रस के संसर्ग का निषेध, 'रूपं न रससंयुक्तम्' में कल्पित संसर्ग का निषेध) किया जाता है वैसे ही कल्पित रजत को भी निषेध का प्रतियोगी (विशेषण) बनाया जा सकता है। [ऐसी बात नहीं कि केवल सत् वस्तु का ही निषेध होता है। असत् वस्तु की भी यदि कल्पना की गई हो तो उसका निषेध क्यों नहीं हो सकता ?]

(१६. 'इदं रजतम्' में ज्ञान की एकता—शंका और समाधान)

नन्विदं रजतमिति ज्ञानमेकमनेकं वा ? न तावदाद्यः। अपसिद्धान्तापत्तेरसम्भवाच्च। तथा हि—शुक्तीदमंशेन्द्रियसंप्रयोगादिदमाकारान्तःपरिणामरूपमेकं ज्ञानं जायते। न च तत्र कलधौतं विषयभावमाकलपयितुमुत्सहते। असंप्रयुक्तत्वात्तस्य विषयत्वाङ्गीकारे सर्वज्ञत्वापत्तेः।

अब **शंका** हो रही है कि रजत का यह ज्ञान एक है या अनेक ? एकात्मक तो नहीं ही है क्योंकि इसमें अपसिद्धान्त (सिद्धान्त का भंग) होता है [अद्वैत वेदान्ती अज्ञान का द्वैत स्वीकार करते हैं—देखिए आगे]। इसके अतिरिक्त ऐसा करना सम्भव भी नहीं। कारण यह है कि सीपी के रूप में जो इदमंश है यह इन्द्रियों के साथ संबद्ध है अतः 'इदम्' के आकार में अन्तःकरण का परिणाम उत्पन्न होता है जो एक ही ज्ञान है। [इसी परिणाम को वृत्ति या ज्ञान भी कहते हैं।] इस ज्ञान का विषय रजत नहीं बन सकता क्योंकि रजतत्व का संनिकर्ष इन्द्रिय से नहीं हुआ है। फिर यदि [संनिहित न होने पर भी रजत को] ज्ञान का विषय मान लेंगे तो ज्ञाता (प्रत्यक्ष करने वाले) को सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। [सामने न रहने पर भी किसी वस्तु को जान लेना ही तो सर्वज्ञता है !]

न च चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तज्ज्ञानस्य तज्ज-

न्यत्वं वाच्यम् । इदमंशज्ञानोत्पत्तौ तदुपक्षयोपपत्तेः । न चापि संस्काराद्रजतज्ञानस्य जन्म । स्मृतित्वापत्तेः । अथेन्द्रियदोषस्य तत्करणत्वम् । तदप्ययुक्तम् । स्वातन्त्र्येण तस्य ज्ञानहेतुत्वानुपपत्तेः । न हि ग्रहणस्मरणाभ्यामन्यः प्रकारः समस्ति । तस्मादिदमंशरजततादात्म्यविषयकमेकं विज्ञानं न घटते । नाप्यनेकम्, अख्यातिमतापत्तेरिति चेत्— ।

आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि चक्षु के साथ, उस (रजत के) ज्ञान को, अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अनुविधान (अपेक्षा) दिखा कर, चक्षु से ही उत्पन्न मान लें । [चक्षु के साथ संनिकर्ष होने पर रजत-ज्ञान होता है—अन्वय । संनिकर्ष नहीं होने पर रजतज्ञान भी नहीं होता—व्यतिरेक । अतः चक्षु से से ही रजत ज्ञान हुआ है, पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ऐसी बात नहीं] क्योंकि 'इदम्' अंश के ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षु की अनुपयोगिता की सिद्धि हो जायगी । [चक्षु का उपयोग वास्तव में इदमंश के ज्ञान में है क्योंकि उसी के साथ चक्षु का संनिकर्ष हो रहा है । रजत के ज्ञान के साथ संबंध मानने से तो इदमंश का त्याग करना पड़ेगा । इसका दूसरा पाठ है—**तदपेक्षायाः उपपत्तेः** अर्थात् इदमंश के ज्ञान में ही चक्षु की आवश्यकता सिद्ध होती है, रजत के ज्ञान में नहीं ।]

ऐसा भी नहीं कह सकते कि संस्कार (Impression) से रजत-ज्ञान की उत्पत्ति होती है क्योंकि वैसी दशा में उसे स्मृति के रूप में मानना पड़ेगा । अब यदि कहें कि इन्द्रिय-दोष की सहायता से ऐसा होता है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि यह (इन्द्रियदोष) स्वतंत्रता से ज्ञान का कारण नहीं बन सकता । [किसी व्यक्ति में जो दोष है वह उस व्यक्ति के साथ रहकर ही दूसरे को दूषित कर सकता है, बिना व्यक्ति के नहीं । वैसे ही इन्द्रियों का दोष भी इन्द्रियों के द्वारा ही किसी कार्य का कारण हो सकेगा—स्वतंत्र रूप से नहीं ।]

ग्रहण (इन्द्रियजन्य) और स्मरण (संस्कारजन्य) के अतिरिक्त ज्ञान का कोई प्रकार (जैसे दोषजन्य आदि) होना संभव ही नहीं । इसलिए किसी भी तरह इदमंश और रजत के तादात्म्य के विषय में **एकात्मक** (Singular) ज्ञान होना संभव ही नहीं है । **अनेकात्मक** ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अख्यातिवाद (दे० ऊपर) के दोषों को ले आवेगा ।

उच्यते—प्रथमं दोषकलुषितेन चक्षुषेदंतामात्रविषयान्तःकरणवृत्तिरुत्पद्यते । अनन्तरं तया वृत्त्या चैतन्यावरणाभिभवे

सति तच्चैतन्यमभिव्यज्यते। पश्चादिदमंशचैतन्यनिष्ठा अविद्या रागादिदोषकलुषिता कलधौताकारेण परिणमते। इदमाकारान्तःकरणपरिणामावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठा कलधौतगोचरपरिणामसंस्कारसचिवा कलधौतज्ञानाभासाकारेण परिणमते।

इसका **उत्तर** दिया जाता है। पहले दोष से दूषित नेत्र के द्वारा केवल 'इदंभाव' के विषय में ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है [क्योंकि उस समय दोषवश सामने की चीज को सीपी के रूप में समझ नहीं पाते]। उसके बाद वह वृत्ति चैतन्य के आवरण (इदंभाव से युक्त चैतन्य के प्रकाशन को रोकनेवाला आवरण) को हटा देती है तथा वह चैतन्य अभिव्यक्त हो जाता है। [इदम् के रूप में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। शुक्ति-अंश के रूप में चैतन्य व्यक्त नहीं होता क्योंकि दोषवश उस चैतन्य के आवरण का निस्सारण नहीं हुआ है। जिस चैतन्य का आवरण नष्ट होता है उसी चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। स्मरणीय है कि 'इदम्' अंश से युक्त चैतन्य का सीपी रूप में प्रतीत न होना तथा इसीलिए सीपी के आकार की वृत्ति (ज्ञान) पर अवभासित (Reflected) न होना ही **अविद्या** है।]

इसके बाद इदमंश के चैतन्य में अवस्थित अविद्या जो रागादि दोषों के कारण दूषित हो गई है, वह रजत के आकार में परिणत हो जाती है। 'इदम्' के आकार में स्थित अन्तःकरण (बुद्धि) के परिणाम से अवच्छिन्न (बँधे हुए) चैतन्य में रहने वाली [अविद्या] रजतविषयक परिणाम (वृत्ति) के संस्कार के साथ मिलकर रजतज्ञान के आभास (वृत्ति) के रूप में परिणत होती है। [दो प्रकार की अविद्या है—(१) 'इदम्' अंश से युक्त चैतन्य में रहनेवाली अविद्या रजत के उद्बोधित संस्कार की सहायता से रजत के आकार में परिणत होती है। (२) वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली अविद्या रजत का ग्रहण करनेवाली वृत्ति के संस्कार के साथ रहकर वृत्तिरूप में परिणत होती है। अब इन दोनों परिणामों की अगली विधियों पर प्रकाश डालते हैं। स्मरणीय है कि ये दोनों परिणाम ही क्रमशः अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास कहलाते हैं।]

तौ च रजतवृत्तिपरिणामौ स्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनाव्यवधानेन भास्येते। तथा च सवृत्तिकाया अविद्यायाः साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमे वृत्त्यन्तरवेद्यत्वाभावान्नानवस्था।

यद्यप्यन्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति द्वे इमे ज्ञाने, तथापि

विषयाधीनं फलम्। ज्ञातो घट इति विषयावच्छितज्ञतया फलप्रतीतेः। तद्विषयश्च सत्यमिथ्याभूतयोरिदमंशरजतांशयोरन्योन्यात्मकतया एकत्वमापन्नः। तस्माद्विषयावच्छिन्नफलस्याप्येकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते।

ये दोनों—रजतपरिणाम और वृत्तिपरिणाम—अपने-अपने अधिष्ठान (आधार) स्वरूप साक्षिचैतन्य (प्रमाण के चैतन्य) के द्वारा, बिना किसी तरह की रुकावट के प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वृत्ति से युक्त अविद्या को साक्षी (द्रष्टा, प्रमाता) के द्वारा प्रतीत होने वाली सिद्ध कर देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दूसरी वृत्ति के द्वारा ज्ञेय नहीं है, अतः अनवस्था-दोष नहीं लगता। [अनवस्था की संभावना इसलिए थी कि जैसे विषय के आकार से युक्त अंतःकरण की वृत्ति से विषय की प्रतीति होती है वैसे ही उक्त वृत्ति का अवभास (प्रतीति) भी तो उसी वृत्ति का आकारवाली अन्तःकरण की दूसरी वृत्ति से ही होगा—इस तरह हम बढ़ते चले जायँगे। किन्तु अविद्या अकेले नहीं, वृत्ति के साथ साक्षी के द्वारा प्रतीत होती है। इसलिए दूसरी वृत्ति से ज्ञेय होने का प्रश्न उठता ही नहीं।]

यद्यपि अन्तःकरण की वृत्ति ('इदम्' के आकार में) तथा अविद्या की वृत्ति (रजत के आकार में) के रूप में ये दो ज्ञान हैं फिर भी फल तो विषय के अधीन ही रहता है? जब हम कहते हैं कि 'घट का ज्ञान हो गया' तो विषय (घट) से सम्बद्ध होकर ही फल की प्रतीति हो रही है। [यदि वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं तो दो वृत्तियों से ज्ञानों का द्वैविध्य प्रकट होता ही है। किन्तु 'इदं रजतम्' में 'एक ज्ञान' का व्यवहार, फल की एकता के कारण औपचारिक रूप से होता है। ज्ञान वृत्ति के रूप में है। उसका फल है विषय का अवभास (प्रतीति)। यह फल विषय के अनुसार ही प्राप्त होता है—जैसा विषय होगा वैसी ही प्रतीति होगी। तो यहाँ पर विषय क्या है? उसका विषय वास्तविक (Real) इदमंश तथा मिथ्या रजतांश, इन दोनों अंशों के अन्योन्यात्मक होने के कारण एकाकार (Singular) हो गया है। यदि विषय एक है तो विषय से ही व्याप्त फल भी एक ही होगा; अतः ज्ञान (फल) की एकता का उपचार (व्यवहार) होता है। [∴ ज्ञान एक है—यह सिद्ध हुआ।]

तदुक्तम्—

४३. शुक्तीदमंशचैतन्यस्थिताविद्या विजृम्भते।
रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना॥

४४. इदमाकारवृत्त्यक्तचैतन्यस्था तथाविधा ।
विवर्तते तद्रजतज्ञानाभासात्मनाप्यसौ ॥
४५. सत्यमिथ्यात्मनोरैक्यादेकस्तद्विषयो मतः ।
तदायत्तफलैकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते ॥ इति ।

पञ्चपादिकायामपि 'फलैक्याज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते'—इत्यभिप्रायेण 'सा चैकमेव ज्ञानमेकफलं जनयति', इत्युक्तम् ।

उसे कहा गया है—'सीपी में स्थित 'इदम्' अंश के चैतन्य में रहनेवाली अविद्या राग आदि दोषों के संस्कार के साथ-साथ रजत के रूप में परिणत होती है॥ ४३ ॥ उसी प्रकार 'इदम्' के आकार की वृत्ति से अवच्छिन्न (अक्त = अञ्ज् + क्त) चैतन्य में रहने वाली अविद्या भी उस रजत-ज्ञान की प्रतीति (आभास, वृत्ति) के रूप में विवर्तित होती है ॥ ४४ ॥ सत्य और मिथ्या के रूप में दोनों के एकात्मक रहने से उसका विषय भी एक ही माना गया है। उस (विषय) के अधीन रहनेवाला फल भी एक है, अतः ज्ञान की एकता कही जाती है ॥ ४५ ॥'

पंचपादिका (शारीरक-भाष्य के चतुःसूत्री-भाग की पद्मपादाचार्य-विरचित व्याख्या) में भी 'फल की एकता के कारण ज्ञान की एकता भी मानी जाती है' इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह अविद्या एक फल वाले एक ही ज्ञान को उत्पन्न करती है।

(१७. त्रिविध सत्ता तथा अनिर्वचनीयख्याति)

ननु शुक्तिकामस्तके भाव्यमानस्य कलधौतस्य तत्रैव सत्यत्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति निषेधः कथं प्रभवेदिति चेन्न । प्रातिभासिकसत्यत्वेऽपि व्यावहारिकसत्यत्वाभावेन प्रतिपन्नोपाधौ प्रतियोगित्वसंभवात् । तदुक्तं पञ्चपादिकाविवरणे (पृ० ३१)—त्रिविधं सत्त्वम् । परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः । अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेरिति ।

अब प्रश्न हो सकता है कि सीपी के सिर पर (स्थान में) विभावित (Apprehended) रजत को तो हम केवल उसी स्थान पर ही सत्य मानेंगे (= जहाँ आरोप होगा, चाँदी केवल वहीं पर वास्तविक होगी, अन्यत्र

तो नहीं) फिर 'यह रजत नहीं है' इसमें निषेध का क्या उत्तर होगा ? (कौन-चाँदी सच्ची है—आरोपित या निषिद्ध ?)

ऐसी बात नहीं है। प्रातिभासिक दृष्टि से सत्यता (Apparent Reality) होने पर भी उसमें व्यावहारिक सत्यता (Practical Reality) का अभाव है इसीलिए सोपाधिक स्थानों में प्रतियोगी होने की संभावना रहती है। [सीपी के स्थान पर ही 'नेदं रजतम्' में निषेध की प्रतीति होती है यद्यपि रजत वहाँ पर रजत-निषेध का प्रतियोगी नहीं है। वहाँ पर वास्तव में चाँदी रहे तब तो रजत प्रतियोगी होगा—रजत की अवस्थिति तो अविद्या के परिणाम के कारण कुछ देर के लिए है। निषेध उसे कहते हैं जिसमें यह प्रतीति हो कि यह कभी ऐसा नहीं होता—काल का प्रभाव भी निषेध पर नहीं पड़ता। हाँ, जब रजत को व्यावहारिक दृष्टि से (उपाधि के साथ—व्यावहारिक रजत के रूप में) देखेंगे तो उस विशेष सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) के विचार से रजत निषेध का प्रतियोगी हो सकता है अर्थात् रजत का निषेध संभव है किन्तु व्यवहार-दशा में ही। प्रातिभासिक-दशा में वह संभव नहीं।]

इसे पंचपादिका के विवरण [रच०—श्रीप्रकाशात्मयति) में कहा गया है—'सत्ता तीन प्रकार की है। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता (Transcendental Reality) रहती है। माया की उपाधि से युक्त आकाशादि पदार्थों की सत्ता सार्थक क्रियाओं के संपादन (व्यवहार) में ही है। [इसे ही व्यावहारिक सत्ता कहते हैं।] अविद्या की उपाधि से युक्त (प्रातिभासिक) सत्ता [सीपी में प्रतीत] रजत आदि की है।

अन्यत्राप्युक्तम्—

४६. कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।
बाधाभावात्पदार्थानां सत्त्वत्रैविध्यमिष्यते ॥
४७. तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
रूप्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते ॥ इति।

दूसरी जगह भी कहा गया है—'तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) में, व्यवहार-दशा में तथा प्रतीति के समय भी पदार्थों के ज्ञान का प्रतिरोध (Rejection) न हो इसलिए उनकी तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी जाती हैं ॥ ४६ ॥ ब्रह्म की सत्ता तात्त्विक (पारमार्थिक) है, आकाशादि की व्यावहारिक तथा रजत आदि पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है ॥ ४७ ॥'

४८. लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेऽवधौ ।
तत्प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि ॥
४९. वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेऽवधौ ।
तद्व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सहैव तत् ॥ इति च ।

लौकिक अवधि (व्यवहार-दशा) में जो वस्तु लौकिक प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) से बाधित (Rejected) हो जाय उसे **प्रातिभासिक** सत्त्व (पदार्थ, सत्ता) कहते हैं—इस सत्त्व के बाधित होने पर भी ज्ञाता (अनुभव करने वाला) रहता ही है ॥ ४८ ॥ वैदिक अवधि (परमार्थ-दशा) में जो वस्तु वैदिक प्रमाण (आगम) से बाधित हो जाय, उसे (आकाश, पशु, पक्षी आदि को) **व्यवहारिक** सत्त्व कहते हैं—इस सत्त्व के बाधित होने के समय ज्ञाता का भी साथ-साथ ही बाध (Rejection) हो जाता है ॥ ४९ ॥' [आकाशादि पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है क्योंकि व्यवहार-दशा में तो इनका बाध नहीं होता किन्तु 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियों से जब आत्मा की एकता का साक्षात्कार करते हैं उस समय उसका बाध हो जाता है—उस दशा में तो द्वैत (Duality) का तनिक भी आभास नहीं मिलता । यहाँ तक कि ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी उस समय प्रतीत नहीं होता, उसका भी बाध हो जाता है । बाध=प्रतीति का अभाव, न कि निषेध्य के रूप में प्रतीति ।]

ततः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य रजतादेः सदसद्विलक्षणत्वलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम् । तदवोचच्चित्सुखाचार्यः—

५०. प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः ॥
(चित्सुखी, पृ० ७९) इति ।

इसलिए ख्याति (प्रतीति) के बाध की सिद्धि किसी भी दूसरे उपाय से न हो सकने के कारण, भ्रान्ति का विषय जो यह मायामय (Illusory) रजत आदि है इसे सत् तथा असत् से विलक्षण (भिन्न) रूप में अनिर्वचनीय ही सिद्ध किया जा सकता है । [सीपी में प्रतीत रजत इसलिए सत् नहीं है कि 'नेदं रजतम्' (निषेध) की सिद्धि नहीं होगी । व्यावहारिक दशा में तो उसका बाध सम्भव है न ? असत् भी नहीं है क्योंकि वैसा होने से इस प्रतीति (प्रातिभासिक ही सही) का क्या उत्तर होगा ? इसे ख्याति का विषय और बाध का विषय

दोनों तभी मान सकते हैं जब अनिर्वचनीय (Indescernible) मानें—अनिर्वचनीय सत् और असत् से विलक्षण होता है। इसीलिए इसे माया का परिणाम या मायामय माना है।]

इसे चित्सुखाचार्य ने कहा है—'सत् या असत्, इनमें प्रत्येक के द्वारा [या समूह के द्वारा भी] जो विचार के योग्य न हो सके उसे वेदान्ती लोग अनिर्वचनीय कहते हैं ॥ ५० ॥' (चि० पृ० ७९)।

(१८. माया और अविद्या की समानता)

ननु मायाविद्ययोः स्वाश्रयाव्यामोहहेतुत्व-तदभावाभ्यां भेदस्य जागरूकत्वेनाविद्यामयत्वे वक्तव्ये मायामयत्वोक्तिरारोप्यस्यायुक्तेति चेत्—तदयुक्तम्। अनिर्वचनीयत्वतत्त्वाभासप्रतिबन्धकत्वादिलक्षणजातस्य मायाविद्ययोः समानत्वात्।

प्रश्न है कि माया और अविद्या में भेद जागृत है क्योंकि उनमें माया तो तो अपने आश्रय (कर्त्ता, द्रष्टा) को व्यामोह (भ्रम) में नहीं डालती, [कर्त्ता की इच्छा का अनुसरण करती है, उल्लंघन नहीं।] दूसरी ओर अविद्या उससे भिन्न है। [सीपी-चाँदी में चाँदी का उपादान-कारण अविद्या ही है क्योंकि चाँदी देखने वाले को भ्रान्ति के कारण व्यामोह तो है ही। द्रष्टा की इच्छा से वह नहीं चलती क्योंकि द्रष्टा की इच्छा रहे या नहीं—अविद्या से चाँदी की प्रतीति हो ही जायगी।] इसलिए आरोप्य वस्तु (चाँदी) को आप अविद्यामय कहें, मायामय कहना असंगत है।

[इसका उत्तर है कि] यह प्रश्न ही असंगत है। माया और अविद्या दोनों समानरूप से अनिर्वचनीय हैं तथा तत्त्व की प्रतीति के प्रतिबन्धक आदि हैं।

किं चाश्रयशब्देन द्रष्टोच्यते कर्ता वा ? नाद्यः। मन्त्रौषधादिनिमित्तमायादर्शिनस्तस्य व्यामोहदर्शनात्। न द्वितीयः। विष्णोः स्वाश्रितमाययैव रामावतारे मोहितत्वेन तत्र मायावित्वस्याप्रयोजकत्वात्। बाधनिश्चयमन्त्रादिप्रतीकारबोधयोरेव प्रयोजकत्वात्। अपरथा पङ्ग्वन्धवत्कर्तापि व्यामुह्येत।

[वेदान्ती आगे पूछते हैं कि आपने जो ऊपर माया को अपने आश्रय के व्यामोह का अहेतु माना है, उसमें] आश्रय शब्द से क्या अर्थ लेते हैं—

[माया के परिणामरूप वृक्ष, पशु आदि को] जो देखता है वह मायाश्रय है या जो माया का निर्माण करता है वह मायाश्रय है ?

द्रष्टा तो माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि [तांत्रिक लोगों के द्वारा प्रयुक्त] मन्त्रों या औषधियों के योग से बनी माया (घोड़ा, हाथी, रुपयों की वर्षा आदि इन्द्रजाल) को देखनेवाला व्यक्ति व्यामोह में पड़ जाता ही है। [तब तो आपने जो पूर्वपक्ष के आसन से घोषणा की है कि माया व्यामोह उत्पन्न नहीं करती, उस उक्ति का क्या होगा ?]

कर्ता भी माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि विष्णु भगवान् (जो माया के कर्ता हैं) अपने ही आश्रय में रहनेवाली माया के द्वारा मोहित हुए थे (व्यामोह में पड़े थे) इसलिए [अपने ऊपर आश्रित व्यामोह के अभाव में ही कोई] मायावी (माया का रचयिता) होगा, ऐसी बात नहीं है (= माया का निर्माता होने पर भी व्यामोह में कोई पड़ सकता है)। [तात्पर्य यह है कि माया के कर्ता और द्रष्टा दोनों को व्यामोह होता है इसलिए जिस प्रकार अविद्या व्यामोह उत्पन्न करती है, माया भी व्यामोह उत्पन्न करती ही है। दोनों में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं। तो, व्यामोह के निवारण के प्रयोजक अर्थात् कारण कौन-से हैं ?]

[व्यामोह के अभाव के] प्रयोजक दो हैं—[माया या अविद्या का द्रष्टा या प्रयोक्ता जो भी हो] वह **बाध का निश्चय** कर सके तथा **मंत्र आदि का प्रतीकार** (Reversal) जानता हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो अंधे या लँगड़े की तरह माया के निर्माता को भी व्यामोह हो जायगा। [अंधा या लँगड़ा अपने अंग से रहित होने के कारण अपना काम नहीं कर सकता—अंधा देख नहीं सकता, लँगड़ा चल नहीं सकता। वैसे ही मायाकार भी बाध-निश्चय करने में असमर्थ होने से तथा मंत्र-प्रतीकार से अनभिज्ञ होने से अपना कार्य—व्यामोह-निवारण—नहीं कर सकता। जैसे द्रष्टा मोहित होता है वैसे ही कर्ता भी मोहित हो जायगा। हाँ, उन दोनों में इतना अंतर अवश्य है कि द्रष्टा को (माया का प्रपंच देखकर मोहित होने वाले को) व्यामोह-नाश का अवसर कभी-कभी मिलता है, कर्ता को प्रायः मिला करता है। रामावतार में व्यामोह का कारण था, प्रतिकार का ज्ञान न होना—किसी प्रकार सिद्ध कर लें। माया-प्रयोक्ता या इन्द्रजाल दिखानेवाला (Magician) प्रतीकार भी जानता है अतः मोहित नहीं होता। ब्रह्म भी माया का रचयिता है—प्रतीकार-ज्ञान होने से स्वयं प्रभावित नहीं होता। फल यह हुआ कि माया और अविद्या दोनों में व्यामोह होता है। प्रतिकार जाननेवाले न तो अविद्या से मोहित होते

हैं, न माया से। अतः व्यामोह के दृष्टि-कोण से माया और अविद्या में भेद नहीं है, साम्य ही है।]

न चेच्छानुविधानाननुविधानाभ्यां तयोर्भेद इति भणितव्यम्। मायास्थले मणिमन्त्रौषधादिप्रयोगवदविद्यास्थलेऽपि द्विचन्द्रकेशोण्डुकादिविभ्रमनिमित्ताङ्गुल्यवष्टम्भादावपि स्वातन्त्र्योपलम्भात्। अत एव तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिभाष्यादिषु मायाविद्ययोरभेदेन व्यवहारः संगच्छते। क्वचिद्विक्षेपप्राधान्येनावरणप्राधान्येन च मायाविद्ययोर्भेदे तद्व्यवहारो न विरुध्यते। तदुक्तम्—

५१. माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छावशवर्ति वा।
अविद्याच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायि वा॥ इति।

आप (पूर्वपक्षी) ऐसा भी नहीं कह सकते कि माया और अविद्या में भेद* इसलिए है कि माया कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है और अविद्या उसका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार माया के स्थानों में मणि (Magic lantern समझें), मंत्र, औषध आदि का प्रयोग [स्वतंत्र रूप में] होता है, वैसे ही अविद्या (Ignorance) के स्थानों में भी दो चंद्रमा के भ्रम या केश के भ्रम या मकड़जाल होने के भ्रम के कारण रूप में, अँगुली से आँखों को स्तब्ध करना आदि हम पाते हैं जिसे कर्ता अपनी इच्छा पूर्वक करता है। [अंगुली यदि आँखों के नीचे के भाग में घुसा दी जाय तो हमें एक ही जगह दो चीजें दिखलाई देने लगेंगी—यहाँ देखते हैं कि कर्ता अपनी इच्छा से ही तो अविद्या उत्पन्न कर रहा है। फिर यह कैसे कहते हैं कि माया ही इच्छा से उत्पन्न की जाती है; अविद्या नहीं ?]

इसीलिए श्रुति, स्मृति तथा भाष्यग्रन्थों में जहाँ-तहाँ माया और अविद्या को अभिन्न (एकरूप) मानते हुए व्यवहार किया गया है।* कहीं-कहीं, माया में

---

* माया और अविद्या के भेद को पूर्वपक्षी इसलिए ले रहा है कि माया से वह ऐन्द्रिजालिकों का इन्द्रजाल (Magic) समझता है और अविद्या से सीपी-चाँदी आदि का भ्रम। शंकर दोनों को एकरूप ही मानते हैं।

* **श्रुति** में जैसे—भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः (सम्यक् ज्ञान से माया अर्थात् अविद्या की निवृत्ति)। **स्मृति** में, जैसे—

तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

भाष्य में—अविद्या माया अविद्यात्मिका मायाशक्तिः, इत्यादि।

विक्षेप की प्रधानता के कारण या अविद्या में आवरण की प्रमुखता देखकर, माया और अविद्या में जो भेद करते हैं उससे इस व्यवहार का विरोध नहीं होता। [बात यह है कि अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं – **आवरण** (ढँक देना Concealment) तथा **विक्षेप** (रूप-परिवर्तन Distortion)। सीपी-चाँदी के दृष्टान्त में आवरण-शक्ति सीपी के स्वरूप को ढँक देती है, विक्षेप-शक्ति उसे चाँदी के रूप में विकृत कर देती है। यह तो साधारण अज्ञान की बात है। अनादि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का, सत् होने पर भी, आवरण कर दिया जाता है और जगत् का प्रदर्शन, असत् (परमार्थतः, नहीं तो मिथ्या) होने पर भी, किया जाता है। अविद्या = आवरण-प्रधान। माया = विक्षेप-प्रधान। यह केवल लोक-प्रसिद्धि की बात है। वास्तव में दोनों एक हैं।]

इसे कहा गया है—'विक्षेप-शक्ति से युक्त अज्ञान जो ईश्वर की इच्छा के अधीन है वह **माया** है। जो अज्ञान तत्त्व को ढँक दे (आवरण-शक्ति से युक्त हो) अथवा स्वतन्त्रता की अपेक्षा करे वह **अविद्या** है।'

(१८ क. अविद्या की सत्ता के लिए प्रमाण)

नन्वविद्यासद्भावे किं प्रमाणम् ? 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति' प्रत्यक्षप्रतिभास एव। ननु ज्ञानाभावविषयोऽयं नाभिप्रेतमर्थं गमयतीति चेत्—न तावदनुपलब्धिवादिनश्चोद्यमेतत्। परोक्षप्रतिभासहेतुत्वात्तस्याः। अयमपि परोक्षप्रतिभास एवेति चेत्—न तावल्लिङ्गशब्दानुपपद्यमानार्थजन्यः। ज्ञातकरणत्वात्तेषाम्। न चैतत्सामग्रीकाले ज्ञातमस्ति। अनुभूयते वा।

अब कोई पूछ सकता है कि इस अविद्या की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण क्या है ? हम उत्तर देंगे कि इसमें तो प्रतीति ही प्रमाण है—'मैं अज्ञ हूँ, अपने को या दूसरे को नहीं जानता'। [इस वाक्य में आत्मा पर आश्रित उस अविद्या-शक्ति की अनुभूति होती है जो बाहरी-भीतरी पदार्थों में व्याप्त है और जड़ात्मक है। यह अज्ञान ज्ञानाभाव के रूप में नहीं है। भावात्मक (Positive) कार्यों का उपादान-कारण होने से यह भावात्मक है।]

कोई शंका कर सकता है कि यह तो ज्ञानाभाव का विषय है, आपके (वेदान्तियों के) अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकेगा। [आशय यह है कि इस अविद्या या अज्ञान से आप संसार की सिद्धि नहीं कर सकते। संसार तो प्रकृति, परमाणु आदि से बना है] परन्तु ऐसी बात नहीं है, अनुपलब्धि

(Non-existence) को प्रमाण मानने वाले (भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती) लोग ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि अनुपलब्धि तो परोक्ष की प्रतीति करानेवाली होती है, [प्रत्यक्ष की नहीं। 'भूतल में घट नहीं है'—इस तरह घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाण से होता है। यह परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं। जो लोग अनुपलब्धि नहीं मानते, वे अनुमानादि के द्वारा अभाव की प्रतीति करते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। किसी भी दशा में अभाव की प्रतीति प्रत्यक्ष से नहीं होती। चूँकि 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष अनुभव है अतः इसे अभाव के शब्दों में (in terms of non-existence) व्यक्त नहीं किया जा सकता।]

अब यदि आप कहें कि यह भी परोक्ष अनुभव ही क्यों न माना जाय ? तो हम कहेंगे कि लिंग (अनुमान का कारण), शब्द (आगम का कारण) या अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्ति का कारण) से इस अनुभव की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि इन सबों में [अर्थ] ज्ञात होने पर ही दूसरों का बोध होता है। [यह आशय है—यदि आप लोग 'अहमज्ञः' इस ज्ञान को परोक्ष मानते हैं तो यह अनुमान आदि किसी प्रमाण से उत्पन्न होगा। इस अनुभव की सिद्धि न तो अनुमान से होती है, न शब्द से और न अर्थापत्ति से—अनुपलब्धि का अधिकार भी पीछे समाप्त हो जायगा। इनमें क्रमशः लिंग, शब्द तथा अनुपपन्न होने वाला अर्थ स्वयं ज्ञात होने पर ही दूसरे अर्थ का बोधक हो सकता है। धूम (लिंग) यदि रहे भी किन्तु ज्ञात न हो तो अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता। शब्द भी जब तक ज्ञात न हो तब तक उससे शाब्दबोध नहीं होता बहरे को शाब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति में भी, दिन में न खाने वाले देवदत्त की स्थूलता ज्ञात रहने पर ही उसके रात्रिभोजन का ज्ञान कराती है। 'अहमज्ञः' तो यह सब कुछ नहीं है।] इसके अनुभव के समय वैसा (लिंगादि) कुछ ज्ञात नहीं है और न वर्तमानकाल में ही उसका अनुभव हो रहा है। [अतः इन प्रमाणों के अधीन तो 'अहमज्ञः' नहीं ही है। अब अनुपलब्धि की खबर लेते हैं।]

अनुपलब्ध्या जन्यत इति चेत्—न तावदियमज्ञाता कारणम्। प्रत्यक्षेतरस्य ज्ञातकरणत्वनियमात्। नापि ज्ञातैव कारणम्। अनुपलब्ध्यनवस्थानात्। न च यथा परेषामभावग्रहणे योग्यानुपलब्धिः सहकारिणी तथा नः करणमिति शङ्क्यम्। ज्ञानकरण इव सहकारिणि ज्ञातत्वनियमाभावात्। अस्तु वा तथा ज्ञेयाभावग्रहणे करणम्। ज्ञानाभावग्रहणे करणं न भवत्येवेति वक्ष्यते।

यह कहा जा सकता है कि ['अहमज्ञः' में विद्यमान ज्ञानाभाव] अनुपलब्धि से उत्पन्न होगा [जैसे 'भूतले घटो नास्ति' में घटाभाव का ज्ञान होता है]। तो हम उत्तर देंगे कि यह (अनुपलब्धि) भी बिना ज्ञात हुए प्रमाण (करण) नहीं बन सकती। [जब तक घट की अनुपलब्धि ज्ञात न हो तब तक घटाभाव जान लेना सम्भव नहीं है। स्मरणीय है कि अनुपलब्धि को जानने के लिए ही यह प्रमाण स्वीकार किया गया है।]

यह नियम है कि प्रत्यक्ष से भिन्न किसी भी प्रमाण का कारण (साधन) ज्ञात ही रहना चाहिए। दूसरी ओर यह भी जान लें कि केवल ज्ञात होने से ही यह प्रमाण के रूप में नहीं आ सकती क्योंकि तब अनुपलब्धि की अनवस्था हो जायगी। [यदि घटानुपलब्धि ज्ञात होने पर ही घटाभाव का कारण बनती है तो कहिए कि घटानुपलब्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ ? घट की उपलब्धि का अभाव ही घटानुपलब्धि है। उस घटोपलब्धि के अभाव का ज्ञान भी अनुपलब्धि से ही होगा अर्थात् 'उपलब्धि की अनुपलब्धि' से उपलब्धि का अभाव ज्ञात होता है। इस क्रम से बढ़ते जाने में कहीं अन्त नहीं।]

आप ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जैसे दूसरे (नैयायिकादि) लोग [अनुपलब्धि प्रमाण नहीं मानकर] अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं तथा योग्य (competent) अनुपलब्धि को सहकारी मानते हैं उसी प्रकार हम भी अनुपलब्धि को ज्ञान का कारण (प्रमाण) मानें। [नैयायिक लोग अनुपलब्धि मानते हैं, पर पृथक् प्रमाण रूप में नहीं; केवल प्रत्यक्ष के सहायक के रूप में। घटाभाव प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञात होता है। योग्यानुपलब्धि सहायता करती है। योग्य अनुपलब्धि = यदि घट होता तो अवश्य दिखलाई पड़ता। तो, इनके मत से अनुपलब्धि ज्ञात रहे या अज्ञात—सहायक ही होती है, इस तरह अनवस्था से बच जाते हैं। वैसे ये भी कहते हैं कि हम अनुपलब्धि को प्रमाण (पृथक्) मानते हुए भी अनवस्था से बचा लें।] ऐसा इसलिए नहीं होगा कि सहकारी होने पर ज्ञात होने का नियम नहीं है, परन्तु पृथक् ज्ञान-साधन (प्रमाण, source of valid knowledge) होने पर तो उसे [ज्ञात रहना ही पड़ेगा।]

यदि वैसा हो भी (अनुपलब्धि छठा प्रमाण रहे—अज्ञात या ज्ञात किसी भी दशा में प्रमाण हो) तो भी वह ज्ञेय के अभाव का बोध कराने के लिए प्रमाण है, ज्ञान के अभाव का बोध कराने के लिए वह प्रमाण नहीं है—इसे हम आगे कहेंगे। [इस स्थान तक यह सिद्ध किया जा रहा था कि अनुपलब्धि से भी 'अहमज्ञः' का बोध नहीं होता। फलतः 'अहमज्ञः' प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है।]

(१८ ख. 'अहमज्ञः' का प्रत्यक्ष अनुभव और नैयायिक—खण्डन)

प्रत्यक्षाभाववादे तु प्रत्यक्षेण तावद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः सतोरात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं न ब्रूयात्। घटवति भूतले घटाभावस्येव ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तयोरसतोस्तु सुतराम्। कारणाभावात्। अतोऽपि योग्यानुपलब्ध्या वा फल-लिङ्गाद्यभावेन वात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं दुर्लभमिति परमतेऽप्ययं न्यायः समानः। तदेवमात्मनि प्रत्यक्षेण वान्येन वा ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहणमशक्यमिति स्थितम्।

[नैयायिक आदि अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार अभाव प्रत्यक्ष है। परन्तु 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष को वे हमारी तरह ही (देखिये—१८ क० का आरम्भ) नहीं मानते, प्रत्युत ज्ञानाभाव के रूप में मानते हैं। उनकी परीक्षा करें—]

प्रत्यक्ष को अभाव मानने वाले सिद्धान्त में [दो पक्ष हैं—'अहमज्ञः' में क्या ज्ञान-सामान्य का अभाव प्रत्यक्षीकृत हो रहा है या ज्ञान-विशेष का अभाव ? पहला विकल्प लेते हैं कि] प्रत्यक्ष के द्वारा तो धर्मी (= ज्ञानाभाव का धर्मी आत्मा) और प्रतियोगी (= ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान) का ज्ञान यदि सत् के रूप में सिद्ध है, तो आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव गृहीत होता है, ऐसा न कहें। कारण यह है कि जैसे घटयुक्त भूतल में घटाभाव का ग्रहण करते (= 'भूतले घटो नास्ति' वाक्य में), उस तरह [आत्मा में] ज्ञान-सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असंभव है। ['भूतले घटो नास्ति' में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ भूतल घटाभाव का **धर्मी** है क्योंकि घटाभाव-धर्म उसी का है। घटाभाव का **प्रतियोगी** घट है क्योंकि इसी का अभाव है। प्रत्यक्ष के द्वारा दोनों की सत्ता जानते हैं। तब घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अब इसी उदाहरण का विनियोग (Application) प्रस्तुत 'अहमज्ञः' पर करें। दूसरे शब्दों में 'मयि ज्ञानं नास्ति' कहें। तो, ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है जिसका **धर्मी** है 'अहम्' (आत्मा) और **प्रतियोगी** है 'ज्ञान'। स्मरणीय है कि यहाँ ज्ञान से ज्ञानसामान्य का अर्थ ले रहे हैं। यदि धर्मी और प्रतियोगी दोनों का ज्ञान विद्यमान हो (दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका हो—आत्मा का और ज्ञान का) तो भी यह ग्रहण करना असंभव है कि आत्मा में ज्ञानसामान्य का अभाव है। ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाने पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष कैसे ?]

दूसरी ओर, यदि ये दोनों (धर्मी का ज्ञान और प्रतियोगी का ज्ञान) विद्यमान नहीं रहे तब तो ['अहमज्ञः' में ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष मानना] और भी असंभव है क्योंकि कारण का ही अभाव हो जायगा। [अभाव के ज्ञान के लिए धर्मी (आधार) और प्रतियोगी का ज्ञान कारणरूप है। किन्तु आप पूर्वपक्षी लोग इन्हें मान नहीं रहे हैं। अतः कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न होगा ही नहीं।] इसलिए भी योग्य अनुपलब्धि के कारण या फल के रूप में लिंग आदि का अभाव होने से आत्मा में ज्ञान-सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असंभव है। इसलिए दूसरों (अनुपलब्धि को प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसकों) के मत से भी हमारा नियम मिलता-जुलता है। [ऊपर दिखा चुके हैं कि धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान रहे या नहीं रहे—दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञानसामान्य का अभाव ग्रहण करना असंभव है। इसलिए भी न तो अनुपलब्धि से ज्ञानसामान्य के अभाव का ग्रहण होता है और न ही अनुमान से। अनुमान की संभावना थी—ज्ञान का सर्वत्र व्यवहार फल के रूप में होता है, यही लिंग है। वह लिंग यहाँ नहीं मिलता, इसलिए 'अदर्शन' हेतु के द्वारा ज्ञानाभाव का अनुमान संभव था।]

तो, इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष से या किसी दूसरे प्रमाण से आत्मामें ज्ञानमात्र का अभाव ग्रहण करना असंभव है। अब 'अहमज्ञः' में ज्ञानविशेष का अभाव वाला विकल्प लेते हैं।]

ननु ज्ञानविशेषाभावः प्रत्यक्षेण गृह्यताम्। न तावत्स्मरणाभावः। अभावग्रहणे प्रतियोगिस्मरणस्य कारणत्वात्। नाप्यनुभवाभावः। तस्यावर्जनीयत्वात्। नन्वात्मनि घटानुभवाभावः प्रत्यक्षविषयस्तर्हि 'अहमज्ञः' इति ज्ञानसामान्यवचनो जानातिर्ज्ञानविशेषेऽनुभवे लक्षणया वर्तनीयः। लक्षणा च सम्बन्धेऽनुपपत्तौ च सत्यां वर्तते।

[पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि 'अहमज्ञः' में प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञानसामान्य का अभाव सिद्ध नहीं हुआ तो] प्रत्यक्ष से ज्ञान विशेष का अभाव लीजिये। [अच्छा तो ज्ञानविशेष अर्थ क्या है? स्मरण नया अनुभव?] उक्त प्रत्यक्ष को **स्मरण का अभाव** (अहमज्ञः=मैं स्मरण-रूपी ज्ञान के अभाव से युक्त हूँ; इस रूप में) तो नहीं मान सकते क्योंकि अभाव के ज्ञान में [प्रतियोगी का ज्ञान] कारण होता है और यहाँ प्रतियोगी है स्मरण। [इसलिए स्मरण का ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान स्मरणात्मक ही है तो उसमें स्मरणाभाव कैसे संभव है?]

उक्त प्रत्यक्ष अनुभव का अभाव भी नहीं क्योंकि [ज्ञानाभाव से संबद्ध ज्ञान अनुभव के रूप में है अतः] अनुभव तो अनिवार्य ही है (उसका अभाव कैसे मानेंगे ?)

अब पुनः शंका होती है कि आत्मा में घट के अनुभव का अभाव यदि प्रत्यक्ष का विषय (Perceptible) है तो 'अहमज्ञः' ज्ञानसामान्य के वाचक ज्ञा-धातु (जानना) को लक्षणा (Indication) शक्ति के द्वारा ज्ञान (आत्म-स्वरूप)–विशेष से संबद्ध अनुभव के अर्थ में समझना चाहिए। लक्षणा वृत्ति का तब ग्रहण करते हैं जब सम्बन्ध की उपपत्ति (justification) नहीं हो रही हो।

संबन्धस्तावदनुभवत्वज्ञानत्वयोरेकव्यक्तिसमावेशो व्याप्य-व्यापकभावो वा विद्यत एव। अनुपपत्तिं तु न पश्यामः। नन्व-नुभवाभावे प्रत्यक्षस्य प्रमेयलाभस्तेनैव तस्यार्थवत्ता सिध्यति। सत्यम्। प्रयोजनमेतन्नानुपपत्तिः। अन्योन्याश्रयात्।

यहाँ पर सम्बन्ध यही है कि अनुभव होना और ज्ञान होना, दोनों का समावेश एक ही [घट-प्रत्यक्ष रूपी] व्यक्ति में होता है तथा दोनों के बीच व्याप्य (अनुभव होना) और व्यापक (ज्ञान होना) का सम्बन्ध भी है ही। इसमें असिद्धि की आशंका हम नहीं देखते। [अर्थ यह है कि 'गंगा में घोष' कहने से गंगा-शब्द का शक्यार्थ (वाच्यार्थ) जो गंगा है उसका सम्बन्ध लक्ष्यार्थ (तट) के साथ आश्रय के माध्यम से है। गंगा और तीर में संयोग विद्यमान है। यह विवरण तभी होगा जब पदार्थ को जाति मानें। यदि व्यक्ति मानेंगे तो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में (= प्रवाह और तट में) सीधे ही संयोग-सम्बन्ध मानना पड़ेगा। उसी प्रकार यहाँ ज्ञा-धातु के वाच्यार्थ (ज्ञान) और लक्ष्यार्थ (विशेष अनुभव) में सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है। घट-प्रत्यक्ष की एक ही व्यक्ति (Individual form) में वे दोनों हैं। व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध तो है ही। किन्तु जिस तरह गंगा-शब्द के शक्यार्थ (प्रवाह) में घोष की स्थिति असम्भव है वैसी बात यहाँ नहीं है—ज्ञान और अनुभव दोनों सहयोगी हैं।]

अब शंका होती है कि अनुभव (लक्ष्यार्थ) के अभाव में [प्रत्यक्ष के द्वारा कुछ भी बोधित न हो सकने के कारण] प्रत्यक्ष की सफलता के लिए प्रमेय का प्रदर्शन अवश्य करें क्योंकि इसी (प्रमेय) से उस प्रत्यक्ष की सार्थकता सिद्ध होती है। [प्रमेय अनुभवविशेष के अभाव के रूप में कहा जा सकता है यदि लक्षणा स्वीकार कर लें। अतः लक्षणा तो आप को माननी ही पड़ेगी।]

वेदान्ती उत्तर देते हैं कि तुम सच कहते हो। पर यह प्रयोजन लक्षणा को

अनुपपन्न होने से नहीं बचा सकता क्योंकि अन्योन्याश्रय-दोष हो जायगा। [प्रत्यक्ष की सफलता से लक्षणा की और लक्षणा से प्रत्यक्ष की सफलता की सिद्धि होती है। अब लक्षणा के मूल में जो असिद्धि है उसे दूसरे रूप में प्रकट करते हैं।]

नन्वहमज्ञ इत्यत्र नञ् आत्मनि ज्ञानमात्राभावं न ब्रूते। ज्ञानवति तस्मिन् तदभावात्। नाप्यनुभवाभावम्। ज्ञानोक्ते-स्तदनभिधायकत्वात्। नैरर्थक्यं च न युक्तमित्यनयैवानुपपत्त्या लक्षणेति चेत्—उक्तक्षणणैवाविद्या तदर्थोऽस्तु।

संदेह इति चेन्न। असमत्वात्कोटिद्वयस्य। अन्यत्र हि प्रतियोगिनिवृत्तिर्नञर्थः। अत्र तु प्रतियोगिव्याप्यनिवृत्तिरिति।

अब फिर **शंका** होती है कि 'अहमज्ञः' इस अनुभव में नञ् (Negation, अभाव) आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव प्रकट नहीं करता क्योंकि आत्मा ज्ञानयुक्त है, उसमें [ज्ञानमात्र का अभाव] नहीं हो सकता। न वह नञ् ज्ञान-विशेष अर्थात् अनुभव के अभाव को ही प्रकट करता है क्योंकि जब 'ज्ञान' (√ज्ञा) कहते हैं तो ज्ञान-विशेष का अर्थ प्रकट होता ही नहीं। [किसी गाँव में कोई व्याकरणाचार्य न हो तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह गाँव अविद्वान् है, जब कि उस गाँव में बड़े-बड़े पंडित हों। उसी प्रकार, यदि ज्ञान-विशेष न हो तो ज्ञान ही नहीं, ऐसा नहीं कहेंगे।] उक्त वाक्य को निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता [क्योंकि उन्मत्त व्यक्ति का वाक्य है नहीं।] इसीलिए अनुपपत्ति होने के कारण ('अहमज्ञः' यह ज्ञान किस प्रकार का है, यह निर्णय न हो सकने के कारण) लक्षणावृत्ति से इसकी सिद्धि मानें।

हमारा **उत्तर** है कि आप नञ् का अर्थ उपर्युक्त लक्षण से युक्त अविद्या ही क्यों नहीं मान लेते? [लक्षणा को स्वीकार करने के लिए आप चारों ओर से जो अनुपपत्ति का स्तूप खड़ा कर रहे हैं और कहते हैं कि इस ज्ञान का निरूपण करना असंभव है—इसी अनिर्वचनीयता को तो अविद्या कहते हैं। इसे ही हम अभाव का अर्थ क्यों न मान लें? अनुपपत्ति दिखाने के बाद लक्षणा मानने का कष्ट क्यों कर रहे हैं?]

[नैयायिकादि फिर **शंका** करते हैं कि मान लिया, अनुपपत्ति ही अविद्या है जो अनिर्वचनीय है, भावरूप है आदि। पर नञ् का अर्थ भी वही है, यह कैसे संभव है? अभाव भी तो नञ् का अर्थ हो सकता है? इस प्रकार] संदेह बना ही रहता है। हमारा **उत्तर** है कि संदेह इसलिए नहीं होगा क्योंकि दोनों कोटियाँ (पक्ष) बराबर नहीं हैं। [न्याय-दर्शन में हम देख चुके हैं कि

संदेह दोनों पक्षों के समान होने पर ही होता है—कोई प्रबल और कोई दुर्बल हो गया तो संदेह मिट जायगा। अब दिखायेंगे कि दोनों कोटियाँ कैसे असमान हैं।]

दूसरे स्थानों पर नञ् प्रतियोगी की निवृत्ति के अर्थ में होता है [जैसे 'अघटं भूतलम्' में अघट के नञ् से प्रतियोगी (घट) की निवृत्ति समझी जाती है।] किन्तु यहाँ पर ('अहमज्ञः' में) इसका अर्थ है, प्रतियोगी (ज्ञान) के द्वारा व्याप्य (अनुभव) की निवृत्ति (Negation)। [इस तरह आप लोगों को लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है तो अभाव का पक्ष तो दुर्बल हो ही गया। नञ् का अर्थ यदि अविद्या—अनिर्वचनीयता—मानेंगे तो यह कोटि प्रबल ही रहेगी। ऊपर हम लक्षणा-पक्ष और अविद्या-पक्ष की समता दिखा चुके हैं। अभी और भी कहेंगे।]

जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः क्वचिदुक्तलक्षणाविद्याविषयत्वसिद्धिमन्तरेण न संदेह इत्यवश्यंभावेन सैव जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः सर्वत्र तद्विषयत्वमवगमयति। विलुम्पति ज्ञानाभावकोट्यन्तरमिति क्व संदेहावकाशः ? तदेवं लक्षणाहेत्वभावेऽनुभवाभावोऽप्यात्मनि न प्रत्यक्षेण गृह्यत इति परिशेषादुक्तलक्षणा अविद्यैव 'अज्ञः' इति प्रतिभासस्य विषय इति स्थितम्।

जब तक √ज्ञा (जानना) धातु के साथ उच्चरित नञ् को कहीं पर भी उक्त (अनिर्वचनीय) लक्षण (mark) वाली अविद्या का विषय सिद्ध नहीं कर देते, तब तक संदेह की स्थापना नहीं कर सकते। [जो लोग उक्त संदेह को प्रस्तुत करते हैं उन्हें अविद्या माननी पड़ती है तथा नञ् को अविद्या के अर्थ में लेना पड़ता है। यह तथ्य है।] चूँकि यह मानना बहुत आवश्यक है—इसलिए वही अविद्या ज्ञा-धातु के साथ उच्चरित नञ् को अविद्या-विषयक ही बोधित करती है। [अविद्या का अर्थ शीघ्र ही बुद्धिग्राह्य हो जाता है।] ज्ञानाभाव के रूप में उक्त प्रत्यक्ष को माननेवाली कोटि लुप्त हो जाती है। तो, अब संदेह का अवकाश ही कहाँ पर है ?

तो, इस प्रकार लक्षणा मानने का कारण (अनुपपत्ति की संभावना) न रहने से, अनुभव का अभाव [जिसे आप लक्षणा से सिद्ध करने जा रहे थे], वह भी प्रत्यक्ष-रूप में आत्मा में गृहीत नहीं हो रहा है। अब शेष बची है अविद्या, जिसका लक्षण ऊपर [अनिर्वचनीय के रूप में] दिया गया है। वह अविद्या ही 'अज्ञः' इस शब्द में प्रतीति का विषय है। यह सिद्ध हुआ।

(१९. दूसरी विधि से 'अहमज्ञः' के द्वारा अविद्या की सिद्धि)

अस्तु वा ज्ञानाभावप्रतिभासः। अयमभावश्च प्रतियोगी यत्र निषिध्यते न ततः तत्त्वान्तरमन्यदधिकरणभावात्। मा भूदन्यभावत्वमन्याभावत्वं तु स्यात्। ननु तदपि विरुद्धम्। सत्यं, सति भेदे। स च प्रमाणात्। तच्च सति प्रतियोग्यभावाधिकरणतस्तत्त्वान्तरे। ननु घटवति भूतले घटाभावमितिव्यवहृती स्यातामिति चेत्—मा भूतामेते प्रतियोगिना सहानुभूयमानेऽधिकरणे।

अच्छा, मान लिया कि ['अहमज्ञः' में] ज्ञानाभाव का ही प्रत्यक्ष हो रहा है। लेकिन यह अभाव तो उस तत्त्व से भिन्न तत्त्व नहीं जिसमें प्रतियोगी का निषेध किया जाता है अर्थात् वह तत्त्व आधार (अधिकरण) के स्वरूप से भिन्न नहीं है। [इस प्रकार अभाव को आधारात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।]

[नैयायिक लोग फिर शंका करते हैं कि भूतल की अपेक्षा घटाभाव] एक भाव (positive entity) के रूप में भिन्न भले ही न रहे किन्तु अभाव के रूप में तो भिन्न अवश्य ही है। [इस प्रकार अभाव की सत्ता अधिकरण से पृथक् रूप में है, अतः 'अहमज्ञः' में नञ् का अर्थ अभाव ही है।] वे आगे कहते हैं कि यह भी तो आपके (वेदान्तियों के) सिद्धान्त से विरुद्ध हो गया [क्योंकि आप 'अहमज्ञः' में भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष मानते हैं और इधर अधिकरण से अभाव को पृथक् सिद्ध कर दिया गया है।]

वेदान्ती उत्तर देते हैं कि ठीक कहते हो किन्तु [अधिकरण और अभाव में] भेद सिद्ध हो जाय तब तो ? और भेद की सिद्धि होगी प्रमाण से ही (= अभाव-विषयक प्रत्यक्षादि से)। वह प्रमाण भी तभी काम दे सकता है जब प्रतियोगी (घट) के अभाव के आधार (भूतल) से उसे भिन्न तत्त्व मानें। [परन्तु यह होता नहीं। भेदसिद्धि के बाद प्रमाण भिन्नासिद्धि-विषयक होता है और वैसा होने पर ही प्रमाण भेद की सिद्धि करता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष से तो वह ग्रस्त है। अतः अभाव भिन्न तत्त्व के रूप में सिद्ध नहीं होता।]

अब पुनः शंका होगी कि घट से युक्त भूतल में भी घटाभाव का ज्ञान और घटाभाव का व्यवहार होने लगेगा। [यदि आप अभाव को भावात्मक मानते हैं तो ये दशायें होंगी ही।] हमारा उत्तर है कि प्रतियोगी के साथ जिस अधिकरण (आधार) का अनुभव हो रहा है उसमें तो ये ज्ञान और व्यवहार

नहीं हो सकते। [जहाँ प्रतियोगी (विरोधी) साक्षात् रहे वहाँ ये भले ही नहीं रहें किन्तु जब प्रतियोगी का स्मरण होने पर अधिकरण का अनुभव हो रहा हो तब तो इनका ग्रहण होगा ही (= ज्ञान और व्यवहार दोनों होगा) इसे ही आगे बतला रहे हैं—]

प्रतियोगिस्मरणे सत्यनुभूयमानेऽधिकरणे तु स्याताम्। एवमप्युपपत्तौ न तत्त्वान्तरविषयत्वं कल्प्यम्। काऽनुपपत्तिरिति चेद्बाधकाभावस्तावदुक्त एव। बाधकं तु कल्पनागौरवमेव। तथा हि—तत्त्वान्तरत्वं तावदेकं कल्प्यम्। तस्यापरोक्षत्वायेन्द्रियसंनिकर्षः कल्प्यः।

किन्तु प्रतियोगी का स्मरण करने पर जिस अधिकरण का अनुभव किया जाता है उसमें तो वे दोनों (ज्ञान + व्यवहार) हो ही सकते हैं। इस प्रकार भी [अभाव का ज्ञान होने पर जो 'नहीं है' का व्यवहार होता है उसकी] सिद्धि हो जाने पर अभाव को किसी दूसरे तत्त्व में नहीं लेना चाहिए। अब यदि पूछें कि इसमें अनुपपत्ति क्या है [जो आप ऐसा कह रहे हैं ?] अरे, हमने तो पहले ही कह दिया है कि बाधक न होने के कारण ही ऐसा हुआ है। कल्पना का गौरव (एक के बदले कई बातों को मानना) ही यहाँ पर बाधक है। [बाधक से बचने के लिए ही हम अविद्या के द्वारा उक्त प्रत्यक्ष की सिद्धि करते हैं। यदि ऐसा न करें तो एक के बदले कई चीजों को मानना पड़ेगा।]

देखिये—पहले तो एक भिन्न तत्त्व (अभाव) की कल्पना करनी पड़ेगी। उसके अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष मानने) के लिए इन्द्रियसंनिकर्ष की कल्पना करनी पड़ेगी।

स च संयोगादिर्न भवतीति संयुक्तविशेषणत्वादिः कल्प्य इत्यतो वरमुक्तलक्षणस्याधिकरणस्य व्यवहारविषयेऽङ्गीकारः। सति चैवं ज्ञानाभावेनापि प्रतियोगिस्मृतौ सत्यामनुभूयमानमधिकरणं ज्ञातैव। स च न केवलमन्तःकरणम्। जडत्वात्। नापि केवल आत्मैव। अपरिणामित्वाद्गुणत्वाच्च। अत उभयोरभेदाध्यासः। आत्माध्यासश्चोक्तलक्षणाविद्यात्मेति—आयातमविद्यायामेवाहमज्ञ इति प्रतिभासः प्रमाणमिति।

उसके बाद, चूँकि वह इन्द्रिय-संनिकर्ष संयोगादि के रूप में नहीं हो सकता (= चक्षु के संयोग से घटाभाव को देखा नहीं जा सकता), इसलिए संयुक्त वस्तु (भूतल) के साथ विशेषण-विशेष्य की भी कल्पना करनी पड़ेगी। [घटाभाव से युक्त भूतल है—इसमें भूतल चक्षु से संयुक्त है और घटाभाव विशेषण के रूप में है। भूतल में घटाभाव है—यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेष्य के रूप में है। इसी तरह की कल्पनायें करनी पड़ेंगी।]

इस [बार-बार की कल्पना] से तो कहीं अच्छा है उपर्युक्त लक्षण (प्रतियोगी का स्मरण होने पर जिसकी अनुभूति होती है) से युक्त अधिकरण को व्यवहार के रूप में मानें। [तो, अभाव का अनुभव = प्रतियोगी के स्मरण के साथ अधिकरण का अनुभव। अभाव = अधिकरण।] ऐसा होने पर ज्ञानभाव के द्वारा भी जब प्रतियोगी का स्मरण होता है तो जिस अधिकरण का अनुभव किया जा रहा है वह ज्ञाता ही है। ['अहमज्ञः' में ज्ञान के अभाव की अनुभूति जिस अधिकरण में हो रही है वह अधिकरण ही ज्ञाता (अध्यस्त आत्मा) है।] वह ज्ञाता न तो केवल अन्तःकरण (मन) है क्योंकि मन जड़ होता है [और ज्ञाता को चेतन होना आवश्यक है।] वह केवल आत्मा भी नहीं है क्योंकि आत्मा में न तो परिणाम (परिवर्तन) होता है और न उसमें कोई गुण ही रहते हैं।

इसलिए [उस ज्ञाता पर आत्मा और अन्तःकरण] दोनों के अभेद (सादृश्य) का अध्यास (Superimposition) होता है। अब, आत्मा का अध्यास चूँकि उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अविद्या के रूप में ही होता है, अतः अविद्या में ही 'अहमज्ञः' इस के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण पर पहुँचते हैं।

(२०. अनुमान से अविद्या की सिद्धि)

अनुमानं च—विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्। अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति।

वस्तुपूर्वकमित्युक्त आत्मवस्तुपूर्वकत्वेनार्थान्तरता। तदर्थं वस्त्वन्तरेति। तथापि विषयभूते वस्त्वन्तरेऽर्थान्तरता। तदर्थं स्वदेशगतेति। अदृष्टादिकं प्रत्यादेष्टुं स्वनिवर्त्येति।

[अविद्या की सिद्धि के लिए] अनुमान भी होता है—

(१) विवादास्पद (प्रस्तुत) प्रमाणज्ञान ऐसे वस्त्वन्तर (दूसरी वस्तु

अर्थात् अविद्या) के बाद होता है जो (वस्त्वन्तर) अपने प्रागभाव से व्यतिरिक्त (Different) हो, अपने विषय का आवरणरूप हो, अपने ही द्वारा निवृत्त हो सकता हो तथा अपने ही स्थान से संबद्ध (स्वदेशगत) हो । (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वह अप्रकाशित पदार्थ का प्रकाशक है । (हेतु)

(३) जैसे अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न दीपक की प्रभा होती है । (उदाहरण)

[प्रतिज्ञा के वाक्य में वस्त्वन्तर के चार विशेषण दिये गये हैं। सबों में 'स्व' शब्द लगा है जिससे प्रमाणज्ञान का बोध होता है । वह वस्त्वन्तर वास्तव में अविद्या ही है । उसके बिना कोई भी वैसा नहीं बन सकता । इस अनुमान से अविद्या की सिद्धि होती है क्योंकि 'अयं घटः' इस प्रमाणज्ञान के स्थान में प्रमाणज्ञान के पहले अविद्या रहती है । किन्तु, चूँकि वह भी प्रमाणज्ञान की अपेक्षा रखती है इसलिए **वस्त्वन्तर** कहलाती है। प्रमाणज्ञान के आश्रय अर्थात् आत्मा में रहने से **स्वदेशगत** कहलाती है । प्रमाणज्ञान से ही उसका विनाश होता है इसीलिए वह **स्वनिवर्त्य** है । प्रमाणज्ञान का विषय अर्थात् घट का आवरण करती है इसीलिए **स्वविषयावरण** है । अविद्या प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न रूप में स्वीकृत की जाती है इसलिए **स्वप्रागभाव-व्यतिरिक्त** है । इन विशेषणों से विभूषित वस्त्वन्तर यदि अविद्या के अलावे कोई दूसरी हो तो बतलावें ! इस साध्यांश के किसी टुकड़े को छोड़ देने पर अविद्या की सिद्धि में बाधा पहुँचेगी । उसका निरूपण अब करते हैं ।]

(१) यदि केवल 'वस्तु के पश्चात्' (वस्तुपूर्वकम्) इतना ही कहते तो [प्रमाणज्ञान का आश्रय स्वरूप] आत्मा रूपी वस्तु के बाद होने के कारण [वह आत्मा अविद्या से] पृथक् पदार्थ हो जायगी। इसीलिए **वस्त्वन्तर** शब्द का प्रयोग किया गया है । ['वस्त्वन्तर' का प्रयोग करने से आत्मा प्रमाणज्ञान से पृथक् वस्तु सिद्ध नहीं होती क्योंकि वस्त्वन्तर = अपने से या स्वाश्रय से भिन्न ।]

(२) अब यदि इसी प्रकार केवल वस्त्वन्तर को विषय (साध्य) के रूप में रखें तो [प्रमाणज्ञान के विषय जो घट आदि वस्तुएँ हैं वे अविद्या की अपेक्षा] भिन्न पदार्थ हो जायँगी । इसीलिए **स्वदेशगत** शब्द लगाया गया है । [अपने प्रमाणज्ञान का आधार आत्मा है, उसमें स्थित घटादि नहीं ।]

(३) अदृष्ट (धर्म और अधर्म) आदि (= सुखादि आत्मगत) पदार्थों की व्यावृत्ति (Exclusion) के लिए **स्वनिवर्त्य** शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

[स्वदेशगत कहने से तो आत्मा के अन्दर के सारे पदार्थ—धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, इच्छा आदि—भी चले आयँगे। इसीलिए स्वनिवर्त्य लगाया गया है कि अविद्या से केवल प्रमाणज्ञान के द्वारा निवर्त्य वस्तु का ही बोध हो।]

उत्तरज्ञाननिवर्त्यं प्रथमज्ञानं निवर्तयितुं स्वविषयावरणेति। प्रागभावं प्रतिक्षेप्तुं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेति। स्वप्रागभावव्यतिरिक्तपूर्वकमित्युक्ते विषयेणार्थान्तरता। तदर्थं विषयावरणेति। तादृशमन्धकारं व्यासेद्धुं स्वनिवर्त्येति। विषयगतामज्ञानतां निराकर्तुं स्वदेशगतेति। मिथ्याज्ञानमपोहितुं वस्त्वन्तरेति। धारावाहिकविज्ञाने व्यभिचारं व्यासेद्धुमप्रकाशितेति।

(४) उत्तर क्षण के ज्ञान से पूर्वक्षण के ज्ञान की निवृत्ति होती है इस [प्रकार के स्वनिवर्त्य ज्ञान] की व्यावृत्ति के लिए **स्वविषयावरण** शब्द लगाया है [जिससे अविद्या का लक्षण प्रकट होता है कि वह अपने विषय घट का आवरण स्वयं करती है—उसमें पूर्वापर ज्ञान का प्रश्न नहीं है।]

(५) [उक्त प्रकार के प्रमाणज्ञान में प्रागभाव है ही—] इसीलिए प्रागभाव को दूर करने के लिए **स्वप्रागभावव्यतिरिक्त** शब्द का प्रयोग हुआ है।

[इस प्रकार अभी तक अंतिम विशेषण से प्रथम विशेषण की ओर जाते हुए उन सबों की सार्थकता दिखा रहे थे। अब प्रथम विशेषण से आरम्भ करके अंतिम विशेषण की ओर आ रहे हैं। इस प्रकार विशेषणों की सार्थकता पर भली-भाँति विचार करके ही अनुमान के द्वारा अविद्या की सिद्धि की जा रही है।]

(१) यदि केवल इतना कहते कि 'प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न वस्त्वन्तर के बाद उत्पन्न होता है तो वह प्रमाणज्ञान अपने विषय (घट-पटादि) से ही पृथक् पदार्थ हो जाता। इस प्रसंग को रोकने के लिए **विषयावरण** शब्द का प्रयोग किया गया है [जिससे प्रमाणज्ञान और विषयों का ऐक्य सिद्ध होता है। विषय का आवरण है अर्थात् स्वयं विषयों के रूप में है।]

(२) [अब प्रश्न है कि अन्धकार भी तो विषय का आवरण करता है तो क्या इसे ही प्रमाणज्ञान कहेंगे ? नहीं,] ऐसे ही स्वविषयावरण करनेवाले अन्धकार का निषेध करने के लिए **स्वनिवर्त्य** शब्द लगाया है। [अंधकार स्वनिवर्त्य नहीं है, प्रमाणज्ञान है।] अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है, प्रमाणज्ञान से नहीं।]

(३) विषय-निष्ठ अज्ञातता को दूर करने के लिए **स्वदेशगत** विशेषण

लगा है। [घटादि विषयों में अज्ञातता है, उसका निराकरण भी प्रमाणज्ञान से ही होता है परन्तु वह अज्ञातता प्रमाणज्ञान में अवस्थित तो नहीं है।]

(४) मिथ्याज्ञान का निराकरण करने के लिए **वस्त्वन्तर** शब्द का प्रयोग किया गया है। [सीपी में जो चाँदी के रूप में ज्ञान होता है वह (सीपी के ज्ञान रूपी) प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से भिन्न होता है; इस प्रमाणज्ञान (शुक्तित्व-प्रकारक) से अपने विषय (सीपी) का आवरण भी निवृत्त हो जाता है तथा यह ज्ञान आत्मनिष्ठ (सीपी के ज्ञान के आश्रय आत्मा में स्थित) भी है फिर भी वह प्रमाणज्ञान वस्त्वन्तर नहीं है क्योंकि ज्ञान है—और यहाँ ज्ञान को वस्त्वन्तर मानते हैं।]

(५) धारावाहिक विज्ञान (ज्ञान-संतान Series of knowledge) में व्यभिचार रोकने के लिए **अप्रकाशित** का प्रयोग हुआ है। [धारावाहिक विज्ञान में प्रथम ज्ञान अज्ञानपूर्वक होता है। उस प्रथम ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है और विषय का प्रकाशन होता है। अब तो प्रकाशित वस्तु का ही प्रकाशन आरम्भ होने लगता है, अप्रकाशित का नहीं। केवल इसी गुण का अभाव धारावाहिक विज्ञान में है, अन्यथा और सब समान हैं।]

[अब दृष्टान्त की सार्थकता पर प्रकाश डालते हैं।]

मध्यवर्तिप्रदीपप्रभायां साध्यसाधनवैधुर्यप्रतिरोधाय प्रथमोत्पन्नविशेषणम्। सौरालोकव्याप्तदेशस्थप्रदीपप्रभाप्रतिक्षेपायान्धकारेति। न च ज्ञानसाधके प्रमाणे व्यभिचारः शङ्कनीयः। विप्रतिपन्नं प्रत्यसत्त्वनिवृत्तिमात्रस्य प्रमाणकृत्यत्वात्। तदुक्तं देवताधिकरणे कल्पतरुकारैः—अनुमानादिभिरसत्त्वनिवृत्तिः क्रियत इति।

मध्यवर्ती (प्रथमक्षण और अन्तिमक्षण के बीच की) प्रदीप-प्रभा में साध्य-साधन का अभाव रोकने के लिए **'प्रथम उत्पन्न'** यह विशेषण लगाया गया है। [दीप की प्रभा क्षण-क्षण में बदलती रहती है। उपर्युक्त अनुमान में प्रथम उत्पन्न दीप-प्रभा का दृष्टान्त दिया गया है अर्थात् अन्धकार से भरे स्थान में प्रथम क्षण की दीप-प्रभा। यहाँ पर उपर्युक्त लक्षणों से युक्त वस्त्वन्तर अन्धकार है, तो 'अन्धकार के बाद होना' साध्य हुआ। 'अप्रकाशित का प्रकाशन' हेतु है। यह स्पष्ट है कि मध्यवर्ती प्रभा उक्त वस्त्वन्तर के बाद नहीं होती क्योंकि अन्धकार की निवृत्ति प्रथम क्षण की प्रभा से ही हो जाती है। मध्यवर्ती प्रभा अप्रकाशित वस्तु का प्रकाशन भी नहीं करती क्योंकि यह काम

भी तो प्रथम क्षण वाली प्रभा ही करती है। इसलिए मध्यवर्ती प्रभा में साध्य-साधन का अभाव है और वह दृष्टान्त के रूप में नहीं दी जा सकती। दृष्टान्त की सार्थकता के लिए 'प्रथम उत्पन्न' विशेषण लगाया गया है।]

उसी तरह सूर्य के आलोक से व्याप्त स्थानों में स्थित प्रदीप की प्रभा की व्यावृत्ति (Exclusion) करने के लिए 'अन्धकार' शब्द का प्रयोग हुआ है। [दिन में सूर्य का प्रकाश फैला हो और यदि दीप की प्रभा प्रथम क्षण में उत्पन्न हुई भी हो, फिर भी वह (प्रभा न तो हेतु ही हो सकती है और न साध्य ही। इसलिए वैसी दीप-प्रभा दृष्टान्त के रूप में नहीं आ सकती। अन्धकार को हटाने वाली प्रभा ही दृष्टान्त हो सकती है।]

उक्त प्रदीप-प्रभा का व्यभिचार ज्ञानसाधक प्रमाण में होगा, ऐसी शंका न करें क्योंकि प्रमाण का काम केवल इतना ही है कि किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में विवाद करने वाले व्यक्ति को उसके असत्ता-विषयक सन्देह को मिटा दें। [व्यभिचार (असहचार) की संभावना इसलिए थी कि सभी प्रमाण तो ज्ञान के साधक हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की साधक इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमिति का साधक लिंग-परामर्श अनुमान है। शाब्द ज्ञान का साधक शब्द भी प्रमाण है। सो, ये प्रमाण हेतु से तो युक्त हैं क्योंकि अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशन करते हैं किन्तु साध्य यहाँ नहीं है क्योंकि उक्त वस्त्वन्तर के बाद ये नहीं होते। व्यभिचार की शंका का निवारण करते हैं कि प्रमाण उक्त वस्तु के प्रकाशक नहीं हैं। प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान ही वस्तुओं का प्रकाशन कर सकता है।]

इसे देवताधिकरण में कल्पतरु के रचयिता (अमलानन्द) ने कहा है—'अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा असत्ता की निवृत्ति करते हैं (अर्थात् प्रमाण वस्तु की सत्ता को लेकर विवाद करनेवाले व्यक्ति में सन्देह मिटा देते हैं कि यह असत् है। सत्ता की सिद्धि फिर ज्ञान से होती है।)

ननु साधनविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। प्रकाशशब्देन तमोविरोध्याकारस्य विवक्षितत्वात्। तदुक्तं विवरणविवरणे सहजसर्वज्ञविष्णुभट्टोपाध्यायैः—'न चात्र पक्षदृष्टान्तयोरेकप्रकाशरूपानन्वयः शङ्कनीयः। तमोविरोध्याकारो हि प्रकाशशब्दवाच्यः। तेनाकारेणैक्यमुभयत्रास्ति' इति।

नरेन्द्रगिरिश्रीचरणैस्त्वित्थमुक्तम्—'अप्रकाशितप्रकाशव्यवहारहेतुत्वं हेत्वर्थः। तस्य चोभयत्रानुगतत्वान्नासिद्ध्यादिरिति।'

अब यदि कोई कहे कि आपका दृष्टान्त (प्रभा) साधन से रहित है [क्योंकि प्रभा स्वयं तो अर्थ का प्रकाशन नहीं करती। अर्थ-प्रकाशन ज्ञान ही करता है। अर्थ-प्रकाशन = अर्थ का स्फुरित होना। प्रभा केवल अन्धकार हटाकर इन्द्रियों की सहायता करती है। तो, अर्थ-प्रकाशक न होनेके कारण प्रभा साधन-रहित है—वह दृष्टान्त नहीं बन सकती। यदि आप ज्ञानस्फुरण के सहायकों को भी प्रकाशकों की श्रेणी में लेते हैं, तो इन्द्रियों का क्या अपराध है ? उन्हें भी प्रकाशक मानें।] तो हम कहेंगे कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'प्रकाश' शब्द का अर्थ [हम अर्थस्फुरण न लेकर] केवल अन्धकार के विरोधी के रूप में लेते हैं। [अन्तःकरण की वृत्ति आन्तरिक अन्धकार दूर करती है, प्रभा बाहरी अन्धकार दूर करती है। विषय का स्फुरण तो दूसरे रूप में होता है जो हम देख ही चुके हैं—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥
(पञ्चदशी ७।९१)

इन्द्रियों की बात आपने उठाई है। वे अन्तःकरण को मार्ग दिखाकर सहायता करती हैं, अन्धकार को दूर नहीं करतीं। इसलिए वे प्रकाशक नहीं हैं।]

इसे विवरण का विवरण (टीका) करते हुए जन्मजात-सर्वज्ञ श्री विष्णु-भट्ट उपाध्याय ने कहा है—'यहाँ (उक्त अनुमान में), पक्ष और दृष्टान्त दोनों एक प्रकार-से प्रकाशक नहीं हैं अतः उन दोनों में सम्बन्ध नहीं होगा, ऐसी शंका न करें। प्रकाश का अर्थ अन्धकार का नाशक ही यहाँ पर लिया गया है। इस रूप में दोनों (पक्ष-प्रमाणज्ञान, दृष्टान्त-प्रभा) में एकता तो है ही।'

नरेन्द्रगिरि श्रीचरण ने तो ऐसे कहा है—'अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाश में लाने का व्यवहार हेतु का अर्थ है जो प्रकाश और ज्ञान दोनों में अनुगत (Common) है। इसलिए असिद्धि आदि की कल्पना न करें।

(२१. शब्द-प्रमाण से अविद्या की सिद्धि)

श्रुतेश्च। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० १।१०) इत्यादिका श्रुतिः।

५२. तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ इति च।

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं भास्करेण क्षपणकचरणं प्रमाणश-

रणे, 'भेदाभेदवादिनां भावरूपमज्ञानं नास्ति किं तु ज्ञानाभाव' इति ।

[अविद्या की सिद्धि के लिए] श्रुति-प्रमाण भी है । 'पुनः अन्त में संसार रूपी माया (या सारी माया) की निवृत्ति हो जाती है' (श्वे० १।१०)—इस तरह की श्रुति है । यह भी [स्मृति-वाक्य के रूप में] है—'हृदय में जिस (ब्रह्म) के निविष्ट कर दिये जाने पर योगी फैली हुई अविद्या या माया को पार कर जाते हैं वैसे अमेय (अज्ञेय) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है ।'

इन तर्कों से ही भास्कराचार्य की उस उक्ति का खण्डन हो गया जिसे उन्होंने बौद्ध-संमत प्रमाणों का विवेचन करते हुए (?) स्पष्ट किया है कि भेदाभेदवादियों के यहाँ अज्ञान भावरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है ।

तथा च भास्करप्रणीतशारीरकमीमांसाभाष्यग्रन्थः । यदेव पररूपादर्शनं सैवाविद्येति । भावरूपाज्ञानानभ्युपगमे जीवेश्वरादिविभागानुपपत्तेः । न च भाविकः परमात्मनोंऽशो जीव इति वाच्यम् । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिविरोधात् ।

भास्कराचार्य के द्वारा रचित शारीरक-मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के भाष्य का यही कथन है । पररूप का जो दिखलाई न पड़ना है, वही अविद्या है ।

पर अब हमारा (अद्वैतवेदान्तियों का) यह कहना है कि भावरूप अज्ञान यदि स्वीकार नहीं करें तो जीव और ईश्वर के विभाग की सिद्धि नहीं होगी । लेकिन आप ऐसा न समझ लें कि सचमुच (भाविक = real, सत्य) जीव परमात्मा का अंश ही है क्योंकि वैसा मानने से इस श्रुति-वाक्य का विरोध होगा—'[वह ब्रह्म] कलाओं या अंशों से रहित है, क्रिया रहित है, शान्त (परिणामरहित) है,* [रागादि] दोषों से शून्य है तथा अंजन (धर्म-अधर्म आदि) से भी भिन्न है ।' (श्वे० ६।१९) ।

(२२. शाक्त-सम्प्रदाय में माया—शक्ति)

केचन शाक्ताः शक्तिं मायाशब्दार्थभूतां जगत्कारणत्वेनाङ्गीकृतां सत्यामभ्युपेत्य मातुलिङ्गगदाखेटविधारिणी महालक्ष्मीस्तस्याः प्रथमावतार इति वर्णयन्ति । सा च कालरात्रिः सर-

* शान्त = बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु—इन छह ऊर्मियों से रहित ।

स्वतीति द्वे शक्ती उत्पाद्य ब्रह्माणं पुरुषं श्रियं च स्त्रियमुत्पाद-दयामास। स्वयं मिथुनं जनयित्वा स्वसुते अप्याह—अहमिव युवामपि मिथुनमुत्पादयतमिति।

ततः कालरात्रिर्महादेवं पुरुषं स्वरां स्त्रियं च जनयामास। सरस्वती च विष्णुं पुरुषं गौरीं च स्त्रियमुदपादयत्।

कुछ लोग अर्थात् शाक्त संप्रदाय वाले 'माया' शब्द का अर्थ शक्ति (Eternal and mysterious power) समझते हैं जिसे जगत् के कारण के रूप स्वीकृत किया गया है तथा जो सत्स्वरूपा है। उसे मान करके ये लोग मातुलिंग (एक फल), गदा और चर्म धारण करने वाली महालक्ष्मी का उसके प्रथम अवतार के रूप में वर्णन करते हैं।

उस (महालक्ष्मी) ने कालरात्रि और सरस्वती नामक दो शक्तियों को उत्पन्न करके पुरुष के रूप में (as for man) ब्रह्मा को और स्त्री के रूप में श्री (लक्ष्मी) को उत्पन्न किया। [महालक्ष्मी ने] स्वयम् एक जोड़े (ब्रह्मा + श्री) को उत्पन्न करके अपनी पुत्रियों से कहा—मेरे ही समान तुम दोनों भी जोड़ा उत्पन्न करती जाओ। तब कालरात्रि ने एक पुरुष अर्थात् महादेव को और एक स्त्री अर्थात् स्वरा को उत्पन्न किया। उधर सरस्वती ने भी एक पुरुष—विष्णु को और एक स्त्री—गौरी को उत्पन्न किया।

ततश्चादिर्विवाहमकरोदकारयच्च। एवं ब्रह्मणे स्वरां, विष्णवे श्रियं, शिवाय गौरीं दत्त्वा शक्तियुक्तानां तेषां सृष्टिस्थितिसंहाराख्यानि कर्माणि प्रत्यपादयदिति। तदेतन्मतं श्रुत्यादिमूलप्रमाणविधुरतया स्वोत्प्रेक्षामात्रपरिकल्पितमिति स्वरूपव्याक्रियैव निराक्रियेत्युपेक्षणीयम्। ततश्चानिर्वचनीयानाद्यविद्यालसितः प्रत्यगात्मनि प्रतीयमानः प्रमातृत्वादिप्रपञ्च इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

तब पहली (महालक्ष्मी) ने विवाह किया और कराया भी। तदनुसार ब्रह्मा को स्वरा, विष्णु को श्री तथा शिव को गौरी समर्पित करके उन्हें शक्तियुक्त कर दिया तथा उन्हें क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार नामक कर्म बतला दिया।

[अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि] यह मत तो श्रुति आदि प्रमाणों पर आधारित नहीं है। अपनी उत्प्रेक्षा से ही यह कल्पित हुआ है अतः इसका सबसे

बड़ा खंडन यही है कि यह अपने आप ही अपने रूप का विश्लेषण करता है [प्रमाणों के आधार पर नहीं ।] अतएव यह त्याज्य मत है ।

तो इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय आदि का यह प्रपंच, जो प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) में प्रतीत होता है, अनादि अविद्या से युक्त है । अब अधिक क्या बढ़ायें ?

विशेष—यह आश्चर्य है कि सायण-माधव ने एक अवैदिक संप्रदाय—शैवों का वर्णन तो अपने दर्शन संग्रह में किया है, पर उस संप्रदाय से अन्यूनतर महत्त्व वाले शाक्तसंप्रदाय का केवल उल्लेख करके ही छोड़ दिया । वास्तव में शाक्त-संप्रदाय और तांत्रिक मत एक दिन अपने यौवन के आकाश में थे । दोनों के अपने-अपने सिद्धान्त थे । नाना प्रकार की क्रियाओं और विधियों से ये मत अत्यन्त चमत्कारपूर्ण थे । प्रत्येक प्रतीक का एक अर्थ था जिन्हें हम आज भ्रमवश भूल बैठे हैं । यहाँ उनका विवेचन समीचीन नहीं है । शैवों की तरह शाक्तों के भी आगम हैं जिन्होंने कुछ विदेशी पंडितों को भी आकृष्ट किया है । दुःख है कि आज आगम के ज्ञाता तो दूर, उन पर विश्वास करने वालों का भी अभाव हो गया है ।

(२३. संसार अविद्या-कल्पित है—शंका-समाधान)

ननु किमर्थं प्रमातृत्वादीनामाविद्यकत्वं निगद्यते । ब्रह्म-ज्ञानेन निवर्तनाय जीवस्य ब्रह्मभावाय वा ? न प्रथमः । शास्त्र-प्रामाण्यादेव सत्यस्यापि ज्ञानेन निवृत्तेरुपपत्तेः । उपलम्भाच्च । तथा हि—

सेतुं दृष्ट्वा विमुच्येत ब्रह्महा ब्रह्महत्यया ।

इत्यादिना पापं सनीस्रस्यते । विषयदोषदर्शनेन रागो दन्दह्यते । तार्क्ष्यध्यानेन विषं शम्यते । एवं कर्तृत्वादिबन्धः परमार्थिकोऽपि तत्त्वज्ञानेन निवर्त्येत ।

शंका—ज्ञाता होना आदि भावों को आप अविद्याकल्पित (मिथ्या) क्यों मानते हैं ? क्या इसलिए कि ब्रह्मज्ञान से उसकी निवृत्ति हो सके ? [स्मरणीय है कि मिथ्या वस्तु की ही निवृत्ति ज्ञान से होती है, सच्ची वस्तु की नहीं । इसलिए प्रपंच को संभवतः सत्य नहीं मानते होंगे ।] या इसलिए मानते हैं कि जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो ? [यदि जीव में ज्ञातृत्व आदि धर्म सत्य होते तो जीव को विशेषसहित मानना पड़ता और वैसी स्थिति में निर्विशेष ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता । यों शुद्ध जीव और ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है ।]

इनमें पहला विकल्प तो ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रों के प्रमाण से ही यह सिद्ध है कि ज्ञान से [न केवल मिथ्या वस्तु की, प्रत्युत] सत्य पदार्थ की भी निवृत्ति होती है। [मुंडकोपनिषद् (३।२।९) के इस वाक्य में बतलाया है कि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। अब यह ब्रह्मत्व तभी होता है जब जीव की उपाधियों (External qualifications) का नाश हो जाय।* तो, जीव की मन-बुद्धि आदि उपाधियों के वास्तविक होने पर भी तो प्रमारूप ब्रह्मज्ञान से उनकी (सत्य उपाधियों की) निवृत्ति हो सकती। उपाधिनाश के पहले जीव ब्रह्मत्व पा नहीं सकता।] दूसरी बात यह है कि ऐसी बातों की प्राप्ति भी होती है जैसे—'ब्राह्मण का हत्यारा व्यक्ति [रामचन्द्र के रामेश्वर] पुल को देखकर ब्रह्महत्या से विमुक्त हो जाता है।' इन पापों के ध्वस्त होने का वर्णन है। विषयों में दोष देख लेने से राग (अनुरक्ति, आसक्ति, attachment) का दहन (नाश) होता है और गरुड़ जी (तार्क्ष्य) के ध्यान से विष उतर जाता है। [ये सारे कार्य सत्य (Real) हैं, मिथ्या नहीं। इनकी निवृत्ति तो ज्ञान से ही होती है।]

तो, इसी प्रकार कर्तृत्व, ज्ञातृत्वादि बन्धन [जो जीवों में लगे हैं यदि वे] सत्य भी हों (माने जायँ) तो क्या आपत्ति है? तत्त्वज्ञान से उनकी निवृत्ति हो जायगी। [इसलिए ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति होने के लिए बन्धों (bondage) को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं। सत्य मानने पर भी कार्य में अन्तर नहीं पड़ेगा।]

न चरमः। औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्या निवृत्तौ ब्रह्मभावसंभवात्। तस्माद्बन्धस्याविद्यकत्ववाचोयुक्तिः सावद्येति चेत्—नैतदनवद्यम्। सत्यस्यात्मवज्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेः। बन्धस्य मिथ्यात्वमन्तरेण शास्त्रप्रामाण्यादपि तदसिद्धेश्च। शास्त्रमपि—

लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः।

इति न्यायेन लोकावलोकितां पदशक्तिं पदार्थयोग्यतां चोररीकृत्य प्रचरतीति।

---

* तुल०—आत्मोपनिषद् (१।१६)—

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्॥

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं क्योंकि उपाधियों की निवृत्ति के बाद औपाधिक जीवत्व की निवृत्ति होने पर तो ब्रह्मत्व की प्राप्ति सम्भव ही है। इसलिए बन्ध (कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि सम्बन्ध-भाव) को अविद्या-कल्पित कहने की बात दोषों से भरी हुई है।

समाधान—आपका दोषारोपण भी दोषरहित नहीं है (= आपका कहना गलत है। जिस प्रकार [सत्य] आत्मा की निवृत्ति ज्ञान से होती है उस तरह [मन आदि पदार्थों को] सत्य मानने से उनकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती। [उपाधियों को मिथ्या सिद्ध करने के ही अभिप्राय से शास्त्र उपाधि की निवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। यही कहते हैं।] बन्धों (Qualifications) को बिना मिथ्या माने, शास्त्रों के प्रमाण से भी उसकी असिद्धि ही होती है। [जहाँ पर शास्त्रों में युक्ति से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो वहाँ युक्तिसंगत अर्थ को ही शास्त्र का तात्पर्य मानना चाहिए।]

'जिस शब्द की सामर्थ्य (शब्दार्थ-बोध की शक्ति) लोक व्यवहार से अवगत हो चुकी है वह (शब्द) वेद में भी बोधक होता है'—इस नियम से शास्त्र भी लोक व्यवहार से सिद्ध पद की शक्ति और पदार्थबोध की योग्यता को स्वीकार करके ही अर्थबोध कराता है। [शास्त्र के वाक्यों का तात्पर्य लौकिक युक्तियों से ही ग्रहण करें।]

अपरथा 'आदित्यो यूपः' (तै० ब्रा० २।१।५) 'यजमानः प्रस्तरः' (तै० सं० १।७।४) इत्यादिवाक्यस्तोमस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यापत्तेः वैदिक्याः क्रियायाः समक्षक्षयितया पारत्रिकफलकरणत्वान्यथानुपपत्त्या अपूर्वाङ्गीकरणानुपपत्तिश्च।

यदि ऐसा न हो तो 'आदित्य यज्ञस्तम्भ है' (तै० ब्रा० २।१।५) 'यजमान पत्थर है' (तै० सं० १।७।४) इस तरह के वाक्य-समूहों की प्रामाणिकता हमें उन्हीं अर्थों में माननी पड़ेगी जिनका बोध इनके अन्दर के शब्द कराते हैं। [संभाव्य अर्थ में ही श्रुति भी प्रामाणिक होती है। प्रथम वाक्य का यथाश्रुत अर्थ है—आदित्य और खूँटे का तादात्म्य! किन्तु इस अर्थ में तो श्रुति प्रामाणिक नहीं हो सकती—लौकिक व्यवहार इसका विरोध करेगा। आदित्य के साथ सादृश्य भले ही है क्योंकि यूप में आदित्य के गुण—तेज, चमक आदि—हैं। इसी अर्थ में ये श्रुतिवाक्य प्रमाण हो सकते हैं। यजमान भी पत्थर के समान कष्टसहिष्णु है।]

[ज्योतिष्टोम-याग आदि] वैदिक क्रियायें देखते-ही-देखते नष्ट हो जानेवाली

हैं इसलिए पारलौकिक फल (स्वर्ग की प्राप्ति) उत्पन्न करने की असिद्धि दूसरे प्रकार से (कार्य-कारण-भाव के दृष्टिकोण से) भी हो जाती है। [आशय यह है कि ज्योतिष्टोम-याग एक क्रिया है जिसका नाश अत्यन्त शीघ्रता से हो जाता है। किन्तु वेदों में इसका फल दिया गया है—स्वर्गप्राप्ति। क्या स्वर्ग-प्राप्ति तक वह याग अपना फल देने के लिए बैठा रहेगा ? किसी भी दशा में दूर रहने के कारण कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थिति नहीं हो पाती। यदि आप कहें कि अपूर्व या अदृष्ट के कारण क्रिया का फल सुरक्षित रहेगा तो हमारा उत्तर है कि] अपूर्व को स्वीकार करने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं।

लोके च शुक्तिव्यक्तितत्त्वाभिव्यक्तावपनीयमानस्यारोपितस्य मिथ्यात्वदृष्टौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्मतत्त्वसाक्षात्कारविद्यापनोद्यस्याविद्यकस्य बन्धस्य मिथ्यात्वानुमानसंभवात्। विमतं मिथ्या, अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वात्, शुक्तिकारूप्यवदिति।

तो, लौकिक व्यवहार में जब सीपी का व्यक्तिगत (Individual) तत्त्व प्रकाशित होता है तब उसके द्वारा, दूर हटाने के योग्य आरोपित पदार्थ (चाँदी) के मिथ्या होने की दृष्टि मिलती है, उसी दृष्टान्त पर आधारित होने के कारण, आत्मतत्त्व के साक्षात्कार रूपी ज्ञान के द्वारा दूर हटाने योग्य जो यह अविद्या-कल्पित बन्ध है उसके मिथ्या होने का अनुमान किया जा सकता है। [सीपी के तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर आरोपित रजत की मिथ्यादृष्टि नष्ट होती है। वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से इस कर्तृत्वादि बन्ध का नाश होता है। यदि सीपी में रजत की प्रतीति मिथ्या है तो आत्मतत्त्व में प्रपंच की प्रतीति भी मिथ्या हो है। अब उक्त अनुमान का स्वरूप दिखलाते हैं—]

(१) प्रस्तुत (बन्ध) मिथ्या है। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि आधारभूत (आत्मा) के तत्त्वज्ञान से इसकी निवृत्ति होती है। (हेतु)

(३) जैसे सीपी और चाँदी की भ्रान्ति होती है। (उदाहरण)

न च 'विमतं सत्यं भासमानत्वात्' इति प्रतिप्रयोगे समानबलतया बाधप्रतिरोधः। प्रतिरोधभियाऽन्यतरदोषत्वसंभवादिति वदितव्यम्। मरुमरीचिकोदकादौ सव्यभिचारात्। अबाधितत्वेन विशेषणान्न दोष इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः। विशेषणासिद्धेः।

ऐसा न समझें कि प्रस्तुत विषय (प्रपंच) सत्य है क्योंकि प्रतीत होता

है—इस तरह के विरोधी अनुमान (Counter-argument) में समान बल होने के कारण बाध (संसार को मिथ्या मानकर आत्मतत्त्व के द्वारा उसकी निवृत्ति मानना) के सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा। क्योंकि प्रतिरोध (Oppositon) के भय से [बचने के लिए] किसी एक में दोष की संभावना दिखानी होगी। [पूर्वपक्षी कहता है कि हमने एक विरोधी अनुमान दिया जिसमें प्रपंच का साध्य है सत्यता और दूसरी ओर आपका साध्य है मिथ्यात्व। दोनों के साध्य विरोधी हैं, दोनों दो हेतु भी दे रहे हैं। मान लिया कि एक हेतु सत् है, दूसरा असत्। किन्तु जब तक आप किसी एक हेतु में दोष दिखाकर दूसरे को प्रबल सिद्ध नहीं करते तब तक कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा। बतलाइये, हमारे हेतु में क्या दोष है ? सुनिये—]

मरुभूमि में मरीचि (सूर्य किरणों) से उत्पन्न (Mirage) जल आदि में व्यभिचार होगा [अर्थात् मृगमरीचिका में जल नो प्रतीत होता है पर वह सत्य नहीं है। अतः 'प्रतीत होने के कारण' कोई वस्तु सत्य हो, ऐसी बात नहीं। वह हेतु व्यभिचरित होता है।]

[पूर्वपक्षी फिर कहता है—] हम उक्त हेतु में 'अबाधित होने पर' ऐसा विशेषण लगा देते हैं (अर्थात्—'क्योंकि अबाधित होने पर प्रतीति होती है'—पूरा हेतु) तो दोष नहीं होगा [क्योंकि मृगमरीचिका प्रतीत तो होती है, पर इसकी निवृत्ति भी तो होती है ? दूसरी ओर प्रपंच की प्रतीति इस तरह की होती है कि उसकी निवृत्ति (बाध) न हो सके।] किन्तु ऐसा मत कहिये। आपके दिये गये विशेषण की ही सिद्धि नहीं हो सकेगी। [प्रपंच भासित होता है और बाधित नहीं होता हो, ऐसी बात नहीं। अब कैसे बाधित होता है, इसे दिखाते हैं।]

तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। कतिपयपुरुषकतिपयकालाबाधितत्वं हेतुविशेषणं क्रियते सर्वथा बालवैधुर्यम् वा ? न प्रथमः।

५३. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(वाक्यपदीय० १।३४)

इति न्यायेन त्रिचतुरप्रतिपत्तृप्रतिपादितस्यापि प्रतिपत्त्रन्तरेण प्रकारान्तरमुररीकृत्य प्रतिपादनात्।

इस विषय में हम आपसे जो पूछते हैं, उसका उत्तर दीजिये। उक्त हेतु (भासमानत्व) का विशेषण (अबाधित) जो आपने दिया है, उसका क्या अर्थ है ? कुछ व्यक्तियों के लिए या कुछ निश्चित समय में बाध न होना ? या सब प्रकार से बाध-रहित होना ?

पहला विकल्प तो नहीं होगा क्योंकि यह नियम है—'जिस वस्तु का अनुमान प्रयत्नपूर्वक भी किया गया हो किन्तु दूसरे लोगों के द्वारा, जो अनुमान करने में कुशल हैं एवं अधिक योग्य प्रतिवादी (अभियुक्त = Discutient) हैं, वह वस्तु दूसरे ही रूप में सिद्ध की जाती है।' (वाक्यपदीय, १।३४)—इस नियम से जिस वस्तु का प्रतिपादन तीन-चार (कतिपय) प्रतिपादकों ने भले ही किया हो किन्तु दूसरे प्रतिपादकों के द्वारा दूसरे प्रकार से उसकी सिद्धि हो सकती है। [तात्पर्य यह हुआ कि कुछ समय में और कुछ व्यक्तियों के लिए अबाधित न होने से काम नहीं बनता। दूसरे समय में और दूसरे व्यक्तियों के लिए तो उसका बाध संभव है। ज्ञानियों की दृष्टि से आत्मा पर अध्यस्त प्रपंच का बाध हो सकता है। इसे आगम-प्रमाण से ही जानते हैं।]

नापि चरमः। सर्वथा बाधवैधुर्यस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञेयत्वात्। यद्येवं, हन्त, तर्हि ज्ञानात्मनोऽपि सत्यत्वं नावगम्यत इति चेत्—मैवं मंस्थाः। 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा० ६।८।७) इत्यागमसंवादगतेः। न च प्रपञ्चेऽप्ययं न्याय इति मन्तव्यम्। तादृशस्यागमस्यानुपलम्भात्। प्रत्युताद्वितीयत्वं श्रावयन्त्याः श्रुतेः प्रपञ्चमिथ्यात्व एव पक्षपातात्।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिए किसी का सब तरह से बाधरहित होना हमलोग जान नहीं सकते।

[अब पूर्वपक्षी अपना खण्डन देख कर घबरा जाते हैं और वेदान्तियों से पूछते हैं कि] यदि ऐसी बात है तब तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की सत्यता भी नहीं ही जानी जा सकती है ? [ज्ञानस्वरूप आत्मा किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होगी, इसका पता हम असर्वज्ञों को कैसे हो सकता है ?] हम कहेंगे कि ऐसा मत समझो। आगम के संवाद (समन्वय) से उसकी प्रामाणिकता मालूम होती है—'वह सत्य है, वह आत्मा है' (छां० ६।८।७)।

[हमारे प्रमाण को देखकर संभवतः आप कह उठेंगे कि] प्रपंच (संसार) की सत्यता के लिए भी यही न्याय (Analogy) क्यों न लगाया जाय ?

पर ऐसा समझना भूल है। उसकी सत्यता के लिए कोई आगम (श्रुति-वाक्य) है ही नहीं। उलटे, जिस समय श्रुति अद्वितीय तत्त्व (जैसे—सदेव सौम्येदमग्र आसीत् , एकमेवाद्वितीयम्—छां० ६।२।१) का प्रतिपादन करती है तो प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने की ओर ही उसका पक्षपात रहता है।

विशेष—प्रपंच का मिथ्या होना या आत्मा की सत्यता के लिए अनुमानादि लौकिक प्रमाण सहायक भले हों निर्णायक नहीं हो सकते। निर्णय करने का काम श्रुति से ही संभव है। श्रुतियाँ सर्वज्ञ ईश्वर के निःश्वास के रूप में हैं। उनकी प्रामाणिकता हमें माननी ही होगी।

ननु कल्पनामात्रशरीरस्य पक्ष-सपक्ष-विपक्षादेः सर्वसुलभत्वेन जयपराजयव्यवस्थया कथं कथा प्रथेत ? कात्र कथंता ? 'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः।' (श्लो० वा० १।१।२ सूत्रे) इति न्यायेन त्रिचतुरकक्ष्याविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्य दूषणभूषणादेस्तत्र कथाङ्गत्वाङ्गीकारात् ।

अब शंका हो सकती है कि पक्ष, विपक्ष, सपक्ष आदि करना सबों के लिए संभव हो गया क्योंकि केवल कल्पना के सहारे तो यह सब करना है; तो, जय या पराजय की व्यवस्था (निर्णय) करने के लिए कथा (Discussion) की क्या आवश्यकता रह गयी ? [कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्यपदीय की उपर्युक्त कारिका से तो तर्क की अप्रतिष्ठा हो जाती है—वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपनी-अपनी इच्छा से अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए अनुमान देंगे। तो, न किसी की पराजय होगी और न विजय ! तो तत्त्व का निर्णय कैसे होगा कि तथ्य क्या है ?]

[उत्तर देते हैं—] इसमें 'कैसे' की स्थिति ही नहीं आवेगी। [कुमारिल का कहना है कि] इस रूप में (तत्त्व का निर्णय करने के समय) बुद्धि तीन-चार ज्ञानों को जन्म देने के बाद आगे नहीं बढ़ सकती। इस नियम से, जो बाधक (दूषण) या साधक (भूषण) ज्ञान होगा वह तीन-चार कोटियों में ही विश्रान्त (समाप्त) हो जायगा तथा वह आभास (हेत्वाभासादि) के लक्षणों से पृथक् रहेगा। ऐसे ज्ञान को हम कथा का अंग स्वीकार कर लेंगे। [तत्त्व का निर्णय करने वाला ज्ञान तीन चार कोटियों तक चलता है, उसके बाद नहीं। ऐसा ज्ञान ही **कथा** है। जो जल्प और वितण्डा के रूप में ज्ञान होता है, आभासयुक्त है उसे तो तर्क से कुछ लेना-देना है ही नहीं अतः विश्रान्त होता ही नहीं। उसे हम कथांग नहीं कह सकते।]

अत एवोक्तं खण्डनकारेण—'व्यावहारिकीं प्रमाणसत्तामादाय विचारारम्भः' (ख० ख० खा०, पृ० ४४) इति। न च भेदग्राहिभिः प्रमाणैरद्वैतश्रुतेर्जघन्यतेति शङ्क्यम्। ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्यत्वेन तदावेदिकायास्तत्त्वावेदनलक्षणप्रामाण्यायाः श्रुतेर्व्यावहारिकप्रमाणभावानां प्रत्यक्षादीनां च विभिन्नविषयतया परस्परं बाध्यबाधकभावासंभवात्।

इसीलिए तो **खण्डनखण्डखाद्य** के रचयिता [श्रीहर्ष] ने कहा है—'विचार (ब्रह्मविषयक, प्रमाणविषयक आदि) का आरम्भ व्यावहारिक प्रमाण सत्ता को आधार मानकर होता है।' (पृ० ४४)।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि भेद (Difference) का बोध कराने वाले प्रमाणों के द्वारा अद्वैत की प्रतिपादक श्रुतियों की गौणता (जघन्यता) सिद्ध हो जायगी। [भेद = जीव और ईश्वर में, जीवों में परस्पर भेद या जड़ पदार्थ का भेद। इनका अनुभव व्यवहार-दशा में होता है। तो, श्रीहर्ष की उक्ति के अनुसार, इन्हें प्रामाणिक मानकर कहीं अद्वैत-श्रुति (एकमेवाद्वितीयम्) कहीं गौण न हो जाय।] बात ऐसी है कि ब्रह्म में पारमार्थिक सत्यता होने से, उसका आवेदन (Exposition) करने वाली श्रुति, जिसका लक्षण और प्रामाण्य आवेदन करना ही है, उसके कारण [उक्त ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता में और] व्यावहारिक सत्ता (प्रमाण-भाव) या प्रत्यक्षादि में, परस्पर बाध्य-बाधक का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि [उन दोनों सत्ताओं के] विषय भिन्न-भिन्न हैं। [पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म के लिए है और व्यावहारिक सत्ता प्रत्यक्षादि के लिए। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में सत्य हैं। जैसे व्यावहारिक सीपी की सत्यता और प्रातिभासिक रजत की सत्यता में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार श्रुत्युक्त ब्रह्म के अद्वैत की **पारमार्थिक सत्यता** में और द्वैत-प्रतीति की **व्यावहारिक सत्यता** में कोई विरोध नहीं।]

तदप्युक्तं तेनैव—

५४. तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः।
नानुमानादि तं कर्तुं तत्रापि क्षमते मते॥

(ख० १।२०)

५५. धीधना बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।

क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥

(ख. १।२४) इति ।

तस्मात्तत्त्वज्ञानेन निवर्तनायास्य बन्धस्याज्ञानकल्पितत्वमङ्गीकर्तव्यम् । यत उक्तं—यतो ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकमिति ।

यह बात भी उसी (श्रीहर्ष, खण्डनकार) ने कही है—'इसलिए अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध (Opposition) होने की बात समाप्त हो गयी । अनुमान आदि प्रमाण तो उसे (श्रुतिबाध) करने में तुम्हारे (मीमांसकों के) मत में भी असमर्थ ही हैं । [श्रुति की अपेक्षा लिंग (अनुमान) दुर्बल होता है—दे० पृ० ५१४ ।] ॥ ५४ ॥ हे बुद्धिमान् पुरुषो ! [अद्वैत-प्रतिपादक] इस श्रुति के बाध के लिए अपनी बुद्धि तुम उसी समय खर्च कर सकते हो जब हाथ में आयी हुई चिन्तामणि को तुम समुद्र में फेंकने की इच्छा करो । अभिप्राय यह है कि अद्वैत-जैसा सुन्दर सिद्धान्त हाथ में है और उसे काटने के लिए नाना प्रकार के प्रयास कर रहे हो, यह ठीक नहीं ।] ॥ ५५ ॥

इसलिए तत्त्वज्ञान के द्वारा इसकी निवृत्ति करने के लिए बन्ध को अज्ञान-कल्पित मानना ही चाहिए । क्योंकि कहा भी है—चूँकि ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है ।

विशेष—नैषधीयचरित के प्रसिद्ध रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के खण्डन-खण्डखाद्य से लिये गये इन श्लोकों में अनुप्रास की छटा देखने ही योग्य है । सब कुछ होने पर भी वे मूलतः कवि थे । देखें—'क्षतः क्षतः', 'मते मते' (पादान्त-यमक) । 'धीधना बाधना', 'मणि पाणि', 'लब्धमब्धौ' । एक तो अनुष्टुप्-छन्द, दूसरे दर्शन का ग्रंथ—उसमें इतने चमत्कारी शब्दों की योजना !

(२४. प्रपंच की सत्यता का खण्डन—सत्य की निवृत्ति नहीं)

यदुक्तं—'सत्यस्यापि दुरितस्य सेतुदर्शनेन निवृत्तिरुपलभ्यत इति'—तदयुक्तम् । विहितक्रियानुष्ठानेन जनितस्य धर्मस्याधर्मनिवर्तकत्वध्रौव्यात् । 'धर्मेण पापमपनुदन्ति' (म० ना० २२।१) इति श्रुतेः । प्रमाणवस्तुपरतन्त्रशालिन्या दर्शनक्रियायाश्चोदितपुरुषप्रयत्नतन्त्रत्वाभावेन विधानासंभवात् ।

पूर्वपक्षियों ने जो कहा है कि सचमुच के (Real) पाप का नाश सेतु (रामेश्वर-पुल) के देखने से हो जाता है, वह संगत नहीं है । विहित क्रियाओं

के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाला धर्म अधर्म की निवृत्ति करता है—यह बिल्कुल निश्चित (ध्रुव) है। इसकी पुष्टि के लिए श्रुति-प्रमाण भी है—'धर्म से पाप का नाश करते हैं' (महानारायण० २२।१)। [इससे यह निष्कर्ष निकला कि पाप का नाशक धर्म है, ज्ञान नहीं। अब दिखाते हैं कि दर्शन-क्रिया विहित है या नहीं ?] दर्शन-क्रिया प्रमाण और विषय के अधीन रहती है, प्रेरित पुरुष के प्रयत्नों के अधीन वह नहीं रहती; इसलिए उसका विधान किया जाना असंभव है।

विशेष—यज्ञादि कर्म मुख्यतः मनुष्यों के प्रयत्नों पर निर्भर करते हैं, इसीलिए उनका विधान करना संभव है। ज्ञान प्रमाणों और विषयों पर निर्भर करता है, अतः उसे विहित नहीं किया जा सकता। इसीलिए उक्त श्लोकार्ध (सेतुं दृष्ट्वा प्रमुच्येत०) सेतु-दर्शन की विधि नहीं है प्रत्युत उसमें सेतुस्नान की प्रशंसा की गई है—उसके लिखने का यही अभिप्राय है।

ब्रह्महत्यां प्रमुच्येत तस्मिन्स्नात्वा महोदधौ।

इत्यादिस्मृतिविहित ब्रह्मचर्याङ्गसहित-दूरतरदेशगमनसाध्य-ब्रह्महननिवृत्तिफलक-सेतुस्नानप्रशंसार्थत्वात्। यस्य हि दर्शन-मात्रेणैव दुरितोपशमः किमुत स्नानेन ? अन्यथा दूरगमनानर्थक्यं प्रसजेत्। तत्र खरादीनामप्यनर्थनिवृत्तिरापतेत्। अन्धस्य न स्याच्च।

'उस स्थान पर समुद्र में स्नान करने से व्यक्ति ब्रह्महत्या से छूट जाता है'—इस प्रकार स्मृतियों में विहित, ब्रह्मचर्य रूपी अंग के साथ अधिक दूरस्थ देश में जाने से संपन्न होनेवाले सेतु स्नान की प्रशंसा की गई है जिस (सेतु स्नान) से ब्रह्महत्या की निवृत्ति के रूप में फल मिलता है। जिसे केवल देखने से ही पापों का शमन होता है, स्नान की तो बात ही क्या ? यदि ऐसा नहीं होता तो दूर जाने का परिश्रम व्यर्थ हो जाता। दूसरे [सेतु के पास रहनेवाले] गधे आदि जानवरों के अनर्थों की भी निवृत्ति हो जाती। [वे तो आसानी से सेतु देख सकते हैं, स्नान भी कर सकते हैं। फल तो उसे ही मिलता है जो दूर से श्रद्धापूर्वक, कष्ट सहते हुए तीर्थयात्रा करके वहाँ पहुँचता है।] अन्त में यह भी आपत्ति होगी कि अन्धों को तो उक्त फल नहीं मिलेगा [क्योंकि उन्हें आँख ही नहीं कि दर्शन कर सकें।]

ननु—

५६. अग्निचित्कपिला राजा सती भिक्षुर्महोदधिः।

दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः ॥

इति क्वचिद्दर्शनक्रियाया अपि विधानं दरीदृश्यत इति चेत्-मैवं वोचः। तत्राप्यनयैवानुपपत्त्या अग्निचिदाद्यर्घपरिचर्यादावेव तात्पर्यावधारणात्।

शंका—निम्नलिखित वाक्य में तो दर्शन-क्रिया का भी विधान देखते हैं—'अग्नि का चयन करने वाला यजमान, कपिला गौ, राजा, सती स्त्री, भिक्षुक (परमहंस) और महासागर, ये दिखलाई पड़ते ही पवित्र कर देते हैं। अतः इन्हें प्रतिदिन देखना चाहिए ॥ ५६ ॥' [इसका अभिप्राय है कि कहीं-कहीं दर्शन-क्रिया का भी विधान होता है।]

समाधान—ऐसा मत कहो। वहाँ पर भी इसी तरह की असिद्धि दिखाकर अग्निचेता (यजमान) आदि योग्य पदार्थों की परिचर्या करने का ही तात्पर्य निरूपित किया जाता है।

यच्चोक्तं विषयदोषदर्शनात् रागो दन्दह्यत इति। तत्र विषयदोषदर्शनेन विरोधभूतानभिरतिसंज्ञकवैराग्यैकप्रादुर्भावाद्रागनिवृत्तौ तददर्शनमात्रमिति न व्यभिचारः।

यदपि तार्क्ष्यध्यानादिना विषादि सत्यं विनश्यतीति। तन्न श्लिष्यते। तत्रापि मन्त्रप्रयोगादिक्रियाया एव विषाद्यपनोदकत्वात्। ध्यानस्य प्रमात्वाभावाच्च।

ऊपर पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि विषयों में दोष देख लेने पर राग नष्ट हो जाते हैं, वहाँ तात्पर्य यह है कि विषयों में दोष देख लेने से उनके (विषयों के) विरोधी एक ऐसे वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिसका नाम अनभिरति (Detachment) है। उसके बाद राग की निवृत्ति हो जाती है, अतः व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं उठना क्योंकि वास्तव में राग केवल दृष्टिगोचर नहीं होता है, [और कोई बात नहीं है।]

उन लोगों ने फिर कहा है कि तार्क्ष्य (गरुड़) के ध्यान आदि से सचमुच का विष उतर जाता है। यह बात ठीक नहीं जँचती। यहाँ भी मंत्र-प्रयोग आदि क्रियायें ही विष का हरण करती हैं। दूसरी बात यह है कि ध्यान यथार्थ अनुभव का रूप ले नहीं सकता। [पूर्वपक्षियों का कहना है कि ज्ञान-विशेष जो यथार्थ अनुभव के रूप में है वही सत्य वस्तु का विनाशक है। अब उसमें गरुड़

के ध्यान से विषनाश का उदाहरण देना युक्तिसंगत नहीं है। ध्यान का अर्थ है अविच्छिन्न स्मृति का प्रवाह। उसमें अनुभव तो है नहीं, यथार्थ अनुभव तो दूर की बात है।]

यद्वादि—औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावोपपत्तेर्न तदर्थमर्थवैतथ्यकथनमिति। तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। किमुपाधेः सत्यत्वमभिप्रेत्य मिथ्यात्वं वा? न प्रथमः। प्रमाणाभावात्। नापरः। इष्टापत्तेः। तस्मादाविद्यको भेद इति श्रुतावद्वितीयत्वोपपत्तयेऽभिधीयते, न तु व्यसनितया।

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि जीवत्व उपाधि-युक्त है, जब उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है तो उस निवृत्ति के बाद ब्रह्मत्व की सिद्धि हो ही जायगी। उसके लिए (ब्रह्मत्व-सिद्धि के लिए) अर्थों (ज्ञातृत्वादि प्रपंच, Objects) को मिथ्या बनाने की क्या आवश्यकता है?

यह शंका भी [डूबते हुए व्यक्ति की] काश या कुश-घास के सहारे पार हो जाने की आशा मात्र ही है। कारण यह है कि निम्नलिखित विकल्पों को यह सह नहीं सकता। क्या उपाधियों को सत्य मानते हुए आप युक्ति दे रहे हैं या मिथ्या मानते हुए? उपाधियों को सत्य मानकर युक्ति नहीं दे सकते क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। उन्हें मिथ्या मानकर भी नहीं चल सकते क्योंकि उसमें तो हमारे पक्ष की पुष्टि होगी।

इसलिए हमलोग जो भेद को अविद्या-कल्पित मान रहे हैं वह इसलिए कि श्रुति (सदेव……एकमेवाद्वितीयम्, छां० ६।२।१) में प्रतिपादित अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि हो। यह न समझिये कि हमलोगों को [अद्वैत-वाद का] व्यसन (धुन, Prejudice) लगा हुआ है।

(२५. आत्मज्ञान से अविद्या-नाश—राजपुत्र का दृष्टान्त)

यदि वस्तुतः सर्वोपद्रवरहितमात्मतत्त्वं तर्हि कथंकारं देहादिरूपं कारागारं कारंकारं पुनः पुनस्तत्र प्रविशति। तदतिफल्गु। अविद्याया अनादित्वेन दत्तोत्तरत्वात्। अतो निवृत्त्युपाय एवान्वेषणीयः प्रेक्षावता। न तु विस्मयः कर्तव्यः। ततश्च तत्त्वमस्यादिविद्यया तदविद्यानिवृत्तौ निरतिशयानन्दात्मलाभरूपपरम-

पुरुषार्थः सेत्स्यति । तथा चापस्तम्बस्मृतिः—आत्मलाभान्न परं विद्यत इति ।

शङ्का—यदि आत्म-तत्त्व वास्तव में सभी उपद्रवों से रहित है तो वह किसलिए शरीरादि के रूप में कारागार की उत्पत्ति बार-बार करके उसमें प्रवेश करता रहता है ?

उत्तर—यह पूछना बिल्कुल व्यर्थ है। जिस समय हमने अविद्या को अनादि मान लिया उसी क्षण इसका उत्तर दे दिया गया। अब आपको [शङ्काओं के फेरे में न पड़ कर] उस अविद्या की निवृत्ति का मार्ग खोजना चाहिए, आप बुद्धिमान् न हैं ? विस्मय (व्यर्थ की शंका, आश्चर्य) नहीं करना चाहिए ।*

तो 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) आदि के ज्ञान (विद्या) से उक्त अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर निरतिशय (Most exalted) आनन्द (Bliss) से युक्त आत्म-साक्षात्कार (Self-realisation) के रूप में परम पुरुषार्थ (Summum bonum) की सिद्धि हो जायगी। इसे आपस्तम्ब-स्मृति में कहा गया है—आत्म-लाभ (साक्षात्कार, आत्मा और ब्रह्म की एकता) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं।

नन्वसौ नित्यलब्धः। न हि स्वयमेव स्वस्यालब्धो भवति । सत्यम् । किं त्वनादिमायासंबन्धात्क्षीरोदकवत्समुदाचारवृत्तितां न लभते । तथा च यथा शबरादिभिर्बाल्यात्स्वसुतैः सह वर्धितो राजपुत्रस्तज्जातीयमात्मानमवगच्छन्बन्धुभिर्य एवंभूतो राजा स त्वमसीति बोधिते स्वरूपे लब्धस्वरूप इव भवति तथा वेश्यास्थानीययाऽनाद्यविद्यया स्वभावान्तरं नीत आत्मा मातृस्थानीयया तत्त्वमसीत्यादिकया श्रुत्या स्वभावं नीयते ।

शंका—वह आत्मा तो नित्यरूप से (Eternally) लब्ध ही है। [आप 'आत्मलाभ होने पर' क्यों कहते हैं ?] कोई चीज अपने-आप अपने ही लिए अलभ्य नहीं होती (=आत्मा के लिए ही आत्मा क्या दुर्लभ है ? वह तो आत्मा ही है)। **समाधान**—सच कहते हो लेकिन वह (आत्मा) अनादि माया के संबंध से दूध और पानी के समान इस तरह घुली-मिली है कि दोनों

* तुलनीय—बौद्ध-दर्शन, पृ० ८९ ।

की स्पष्ट वृत्तियों (रूपों) की प्रतीति होती ही नहीं। [बुद्धि-आदि माया के कार्य हैं किन्तु आत्मा उन्हें अपना समझती है, उनसे पृथक् होकर अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं करती। उधर माया की प्रतीति भी माया के रूप में नहीं होती।]

उसी प्रकार, जैसे शबर-आदि [जंगली जातियों] ने जिस राजकुमार को अपने बच्चों के साथ बचपन से ही पाला-पोसा है, वह राजकुमार अपने को भी उसी जाति का समझने लगता है। किन्तु जब उसके साथ उसे बोध कराते हैं कि जो इस तरह के [लक्षण] राजा में हैं वह तुम ही हो (= राजा के लक्षणों से युक्त तुम राजकुमार हो), तो अपने रूप (Status) का बोध हो जाने से वह वस्तुस्थिति समझ जाता है (अपने रूप को पा लेता है)। उसी तरह वेश्या-स्वरूप अनादि अविद्या के द्वारा जो आत्मा दूसरे स्वभाव में ले जाई गई है वह (आत्मा) माता के तुल्य 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति के द्वारा फिर से अपने स्वभाव में पहुँचा दी जाती है।

एतदाहुस्त्रैविद्यवृद्धाः—

५७. नीचानां वसतौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित—
स्तज्जातीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा।
संवादे महादादिभिः सह वसँस्तद्वद्भवेत्पूरुषः
स्वात्मानं सुखदुःखजालकलितं मिथ्यैव धिङ्मन्यते ॥

इसे तीनों वेदों के ज्ञान में पारंगत लोगों ने कहा है—नीचों के निवास-स्थान में, उन्हीं के पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक पाला-पोसा गया राजकुमार (Prince) अपने को भी बहुत शीघ्रता से उन्हीं की जाति वाला व्यक्ति समझता है। उसी तरह लोगों की बोल-चाल में (in common parlance), महत्-आदि तत्त्वों के साथ रहने वाला पुरुष (जीवात्मा) अपने को सुख-दुःख के समूह से घिरा हुआ मानता है, ऐसा कहते हैं। धिक्कार! वह तो मिथ्या है ॥ ५७ ॥ [इसमें अविद्या का निरूपण किया गया है।]

५८. दाता भोगकरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां।
राजा स त्वमसीति रक्षितृमुखाच्छ्रुत्वा यथावत्स तु।
राजीभूय जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान्बोधितः
श्रुत्या तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव संपद्यते ॥

आत्मसाक्षात्कार—'जो राजा दानी, भोग करनेवाला, सभी संपत्तियों से युक्त तथा दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देनेवाला होता है वह तुम ही हो' इस प्रकार अपने रक्षक के मुख से यथार्थ बातें सुनकर वह (राजकुमार) राजा बनकर विजय के लिए प्रयत्न करता है; ठीक इसी तरह वह पुरुष (जीवात्मा) भी 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) आदि श्रुति के द्वारा अपने मिथ्याभाव (दुरित) को त्याग का ब्रह्म ही बन जाता है ॥ ५८ ॥

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं परैः—'किं द्वयोस्तादात्म्यमेकस्य वा ? नाद्यः । अद्वैतभङ्गप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । असंभवात्' इति । तत्र । अविद्यापरिकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वेन तत्त्वमस्यादि-तादात्म्यवादप्रामाण्योपपत्तेः । तौ च पर्यनुयोगपरिहारावग्रा-हिषातां मनीषिभिः ।

५९. न द्वयोरस्ति तादात्म्यं न चैकस्याद्वयत्वतः ।
अप्रामाण्यं श्रुतेरेवं नारोपध्वंसमात्रतः ॥ इति ।

इसी तर्क के द्वारा इसका उत्तर भी हो गया, जो विरोधियों ने ऐसी शंका की है—'[आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य कहने से आप क्या समझते हैं ?] दो पदार्थों का तादात्म्य (Identity) या एक ही पदार्थ का ? दो पदार्थों का तादात्म्य नहीं मान सकते क्योंकि ['दो' कहने से—भले ही वह एकाकार ही क्यों न हो जाय] अद्वैत-सिद्धान्त का ही खंडन हो जायगा । दूसरी ओर एक वस्तु का तादात्म्य हो ही नहीं सकता ।'

समाधान—ऐसी बात नहीं है । अविद्या के द्वारा कल्पित भेद की निवृत्ति हो जाने का सिद्धान्त मानने से, 'तत्त्वमसि' आदि के द्वारा तादात्म्य-शब्द की सिद्धि हो सकती है ।

विद्वानों ने उक्त पर्यनुयोग (प्रश्न, Query) तथा परिहार (Excuse), दोनों का वर्णन किया है—'अद्वय-तत्त्व होने के कारण न तो दो में ही तादात्म्य हो सकता और न एक में ही । केवल आरोप और उसके ध्वंस से श्रुति को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ॥ ५९ ॥'

(२६. प्रथम सूत्र का उपसंहार और अनुबन्ध)

ततश्च तत्त्वमसीति तत्त्वंपदार्थश्रवणमननभावनाबलभुवा

साक्षात्कारेणानाद्यविद्यानिवृत्तौ सच्चिदानन्दैकरसब्रह्माविर्भावः संपत्स्यत इति ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं प्रथमसूत्रोक्तं युक्तम् ।

६०. अज्ञातं विषयो ब्रह्म ज्ञातं तच्च प्रयोजनम् ।
मुमुक्षुरधिकारी स्यात्संबन्धः शक्तितः श्रुतेः ॥ इति ।

उसके बाद, 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् (ब्रह्म) और त्वम् (जीवात्मा) पदों से अर्थ का श्रवण, मनन और भावना (Meditaton) के कारण सुप्रतिष्ठित साक्षात्कार से, अनादि काल से चली आनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। तब एकमात्र सत् (Truth), चित् (Consciousness) और आनन्द (Bliss) के द्वारा आस्वादित ब्रह्म का आविर्भाव (साक्षात्कार) संपन्न हो जायगा—इस प्रथम सूत्र में जो ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय माना गया है, वह युक्तियुक्त है।

अनुबन्ध—'जिज्ञासा का **विषय** ब्रह्म अज्ञात है उसे ज्ञात करना है, यही **प्रयोजन** है! मोक्ष की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति **अधिकारी** है और श्रुति की [पदार्थबोधिका] शक्ति से **संबन्ध** है ॥ ६० ॥'

(२६ क. चतुस्सूत्री के अन्य सूत्र—स्वरूप और तटस्थ लक्षण)

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति द्वितीयसूत्रे ब्रह्म स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणाभ्यां न्यरूपि । तत्र स्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिवेदान्तैः प्रतिपादितम् । तस्य सत्यज्ञानाद्यात्मकस्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकत्वात् । तटस्थलक्षणं 'यतो वा इमानि (तै० २।१) इत्यादीनि वाक्यानि निरूपयन्ति जगज्जन्मादिकारणत्वेन । तदुक्तं विवरणे—

६१. जगज्जन्मस्थितिध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात् ।
तत्स्वरूपतटस्थाभ्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥ इति ।

'जिससे इस (संसार) के जन्मादि होते हैं' (ब्र० सू० १।१।२) इस दूसरे सूत्र में स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण के द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया गया है।

स्वरूप के अन्तर्गत रह कर जो [लक्षण किसी वस्तु को दूसरी वस्तुओं से] अलग करता है वह स्वरूपलक्षण (Actual Definition) है

जिसका प्रतिपादन निम्नलिखित उपनिषद्-वाक्यों में हुआ है—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' (तै० २।१।१)। यह लक्षण ब्रह्म को सत्य, ज्ञान आदि के रूप में स्वरूप के अन्दर ही रखता है तथा दूसरों से पृथक् करता है। **तटस्थ-लक्षण** (External Definition) का निरूपण 'यतो वा इमानि' (जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न हुए) आदि वाक्य करते हैं कि यह ब्रह्म संसार का कारण है। इसे विवरण में [द्वितीय सूत्र के आरंभ में ही] कहा गया है—'जिस कारणस्वरूप ब्रह्म से जगत् का जन्म, स्थिति और ध्वंस, ये सिद्ध होते हैं उसका प्रदर्शन स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण के द्वारा किया जाता है।'

विशेष—स्वरूपलक्षण से वस्तु के स्वरूप का पता लगता है जब कि तटस्थलक्षण लक्ष्य वस्तु से बाहर रहता है। दोनों लक्षण व्यावृत्ति करते हैं, पदार्थ के व्यवहार के प्रवर्तक होते हैं। चन्द्रमा में प्रकाश होना स्वरूपलक्षण है, उसे उससे पृथक् नहीं कर सकते। राम का तिलक लगाना, मुकुट पहरना आदि तटस्थलक्षण है क्योंकि यद्यपि यह दृश्य कभी-कभी ही होता है किन्तु इसके द्वारा राम को दूसरे व्यक्तियों से पृथक् तो किया जा सकता है ? नाटक में नट जो भीम की भूमिका (role) में उतरता है तो भीम बनना उसका तटस्थलक्षण है क्योंकि यद्यपि इसके द्वारा उसे दूसरे पात्रों से पृथक् किया जाता है, परन्तु यह उसका स्वरूप तो है नहीं। नट के रूप में उसे पहचानना स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म में इन लक्षणों के निरूपण में यह ध्यान रखना है कि किस प्रकार के ब्रह्म का लक्षण कर रहे हैं। शुद्ध ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है—सत्य, ज्ञान और आनंद। जगत् के जन्मादि का कारण होना शुद्ध ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है क्योंकि ब्रह्म माया से विशिष्ट होने पर ही यह काम करता है। माया-विशिष्ट ब्रह्म के लिए यह तटस्थलक्षण नहीं, स्वरूपलक्षण हो जाता है।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति तृतीयसूत्रे प्रथमवर्णकेन षष्ठीसमासमाश्रित्य सर्वज्ञत्वं प्रत्यपादि। द्वितीयव-र्णकेन बहुव्रीहिसमासमभ्युपगम्य ब्रह्मणो वेदान्तप्रमाणत्वं प्रत्यज्ञायि।

'शास्त्र का मूल या शास्त्रमूलक होने के कारण [ब्रह्म सर्वज्ञ है]'—इस तृतीय सूत्र में पहली रीति से तो [शंकराचार्य ने] षष्ठी तत्पुरुष समास लेकर (= शास्त्र का मूल, वेदों का उत्पादक) ब्रह्म के सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन किया है। दूसरी रीति से बहुव्रीहि समास लेकर (=शास्त्र या वेद ही जिसका प्रमाण या योनि है) ब्रह्म को उपनिषद् के प्रमाणों से ही ज्ञेय माना है।

'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति चतुर्थे सूत्रे प्रथमवर्णकेन वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यं प्रत्यपादि । द्वितीयवर्णकेन वेदान्तानां प्रतिपत्तिविधिशेषतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वं प्रत्यक्षेऽपि । दिङ्मात्रमत्र प्रदर्शितम् । शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति सकलं समञ्जसम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सकलदर्शन-
शिरोऽलंकाररत्नं श्रीमच्छांकरदर्शनं समाप्तम् ॥

'उस (शास्त्र) का तो तात्पर्य समन्वय (Reconciliation) से लगता है'—इस चौथे सूत्र में प्रथम रीति से उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में है, यह प्रतिपादित हुआ है । दूसरी रीति से यह दिखाया गया है कि उपनिषद्-वाक्य ज्ञान-विधि के अवशिष्ट भाग के रूप में (= उपासना आदि विधियों के विषय के रूप में नहीं, मुख्य रूप से) प्रत्यक्ष में भी ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं । यहाँ तो हमने केवल दिशा-निर्देश किया है । अवशिष्ट भाग शास्त्र में ही स्पष्ट हो चुका है, तो सब कुछ ठीक है ।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सभी दर्शनों के
सिर पर विराजमान अलंकार-रत्न श्रीशांकर-दर्शन समाप्त हुआ ।

यह सर्वदर्शनसंग्रह भी समाप्त हो गया ।

॥ इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां
व्याख्यायां शांकरदर्शनमवसितम् ॥

रम्ये चन्द्रकराभ्रपक्षसुमिते श्रीवैक्रमे वत्सरे
वैशाखे धवले दले निशि मयाष्टम्यां दिने मङ्गले ।
काश्यां दर्शनसंग्रहस्य विहिता व्याख्या समाप्तिं श्रिता
प्रीत्यै सास्तु शिवस्य दिव्यवपुषो दीनात्मनीना कृतिः ॥

॥ श्रीरस्तु ॥

समाप्तोऽयं सर्वदर्शनसंग्रहः ।

परिशिष्ट—१

प्रमुख दर्शन-ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अकाण्डताण्डव (परिभाषेन्दुशेखर की वृत्ति)	हरिनाथ द्विवेदी	व्याकरण	१७८० ई०
अकुतोभया (माध्यमिककारिका की वृत्ति)	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
अजडप्रमातृसिद्धि	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
अद्वैतचन्द्रिका (भेदधिक्कार की टीका	नृसिंह दीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१६००
अद्वैतचिन्तामणि	रङ्गोजीभट्ट	,,	१६२५
अद्वैतदीपिका	नृसिंहाश्रम	,,	१५५०
अद्वैतदीपिकाविवरण	नारायणाश्रम	,,	१५६०
,,	सदानन्द	,,	,,
अद्वैतनिर्णयसंग्रह	रामचन्द्र	,,	१५६५
अद्वैतप्रकाश	,,	,,	,,
अद्वैतब्रह्मसिद्धि	सदानन्द	,,	१५६०
अद्वैतमकरन्द	लक्ष्मीधर	,,	१३२०
अद्वैतमकरन्द की टीका	पूर्णानन्दतीर्थ	,,	—
अद्वैतरत्न	लक्ष्मणाराध्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
अद्वैतरत्नदीपिका (अद्वैतरत्न की टीका)	अग्निहोत्रभट्ट	,,	—
अद्वैतरत्नरक्षण	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
अद्वैतरहस्य	रामचन्द्र	,,	१५६५
अद्वैतसिद्धि	मधुसूदनसरस्वती	,,	१५६०
अद्वैतसिद्धिटीका	विट्ठलेश उपाध्याय	,,	१८००
अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार (अद्वैतसिद्धितात्पर्य)	सदानन्द व्यास	,,	—
अद्वैतानुभूति	गोविन्दपाद	,,	७५०
अद्वैतामृतवर्षिणी	सदाशिवानन्दसरस्वती	,,	—
अद्वैतामोद	वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	,,	१९२०
अध्यात्मकल्पद्रुम	मुनिसुन्दर	मीमांसा	१४२५
अध्यात्मवचन	—	द्वैतवेदान्त	—
अनुभवदीपिका (अपरोक्षानुभव की टीका)	चण्डेश्वर	अद्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अनुभूतिप्रकाश	माधवाचार्य	अद्वैतवेदान्त	१३५०
अन्वयार्थप्रकाशिका (संक्षेप-शारीरक की टीका)	रामतीर्थ	,,	१६२५
अपरोक्षानुभव	शंकराचार्य	,,	८००
अपरोक्षानुभव की टीका	नित्यानन्दानुचर	,,	—
अपरोक्षानुभूति	माधवाचार्य	,,	१३५४
अभिधर्मपिटक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
अभिधर्मकोश की टीका	वसुमित्र	,,	—
,,	गुणमित्र (गुणमति)	,,	—
अभिधर्मकोशव्याख्या	यशोमित्र	,,	—
अभिधर्ममहाविभाषाशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान की टीका)	अश्वघोष	,,	१२०
अभिनवचन्द्रिका (तत्त्वप्रकाशिका की टीका)	सत्यनाथयति	द्वैतवेदान्त	१८००
अभिनवतर्कताण्डव	,,	,,	,,
अभिनवामृत (प्रमाणपद्धति की टीका)	,,	,,	,,
अभेदाखण्ड चन्द्रमा	आत्मदेवपञ्चानन	अद्वैतवेदान्त	१७२०
अमृतसृति (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	वारणावतेश	व्याकरण	—
अम्बाकर्त्री (परिभाषेन्दुशेखर की टीका	—	,,	१८००
,, ,, (वाक्यपदीय की टीका)	रघुनाथशास्त्री	,,	१९६०
अर्थदीपिका (वेदान्तपरिभाषा की टीका)	शिवदत्त	अद्वैतवाद	१८१०
अर्थशालिनी (धर्मसंग्रहणी की टीका)	बुद्धघोष	बौद्ध-दर्शन	४००
अर्थसंग्रह	लौगाक्षिभास्कर	मीमांसा	१६४०
अर्थसंग्रह की टीका	अर्जुनमिश्र	,,	१६७०
,,	शिवयोगी	,,	१६७५
अवदानकल्पलता	क्षेमेन्द्र	बौद्ध-दर्शन	१०८०
अवदानशतक	नन्दीश्वर	,,	१७०
अष्टशती (आप्तमीमांसा की टीका)	अकलङ्कदेव	जैन-दर्शन	७५०
अष्टसाहस्री (प्रज्ञापारमिता की टीका)	—	बौद्ध-दर्शन	—
अष्टसाहस्री (आप्तमीमांसालंकार)	विद्यानन्द	जैन-दर्शन	८००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
अहिर्बुध्न्यसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
आगमप्रामाण्य	यामुनाचार्य	”	१०४०
आग्नेय	महावीर	द्वैतवेदान्त	
			ई० पू० ५००
आचाराङ्गसूत्र	—	जैन-दर्शन	—
आचाराङ्गसूत्र की टीका	शीलाङ्क	”	९६०
आत्मतत्त्वविवेक	उदयन	न्याय-दर्शन	९८४
आत्मतत्त्वविवेक की टीका	मथुरानाथ	”	१५८०
”	वर्धमान	”	१२२५
”	हरिदासमिश्र	”	१५९०
आत्मबोध	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
आत्मानुशासन	गुणभद्र	जैन-दर्शन	९००
आत्मानुशासन की टीका	प्रभाचन्द्र	”	१३००
आदर्श	आदर्शकार	पाशुपत-दर्शन	—
आदर्श (महाभाष्य की टीका)	लक्ष्मणसूरि	व्याकरण	—
आप्तपरीक्षा (आप्तमीमांसा की टीका)	विद्यानन्दि	जैन-दर्शन	८००
आप्तमीमांसा	समन्तभद्र	”	६००
आप्तमीमांसालंकार	विद्यानन्दि	”	८००
आप्तमीमांसावृत्ति	वसुनन्दी	”	—
आरम्भसिद्धि	उदयप्रभदेव	”	—
आलम्बनपरीक्षा (सटीक)	दिङ्नाग	बौद्ध-दर्शन	४८४
आलोक (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	कमलाकर	मीमांसा	१५९०
आवश्यकसूत्र	महावीरस्वामी	जैन-दर्शन	ई० पू० ५००
आवश्यकसूत्र की टीका	तिलकाचार्य	”	१२४०
इन्द्रद्युम्नश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
ईशावास्यदीपिका	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
ईशावास्यभाष्य	उव्वट, आनन्दभट्ट	”	—
”	अनन्ताचार्य, नारायण	”	—
ईशावास्यरहस्य	ब्रह्मानन्दसरस्वती	”	—
”	रामचन्द्र	”	—
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाहृदय	क्षेमराज	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०२५
ईश्वरसिद्धि	उत्पलाचार्य	”	९१०
उज्ज्वला (तर्कभाष्य की टीका)	गोपीनाथमुनि	न्याय-दर्शन	—
उत्तरतन्त्र	असङ्ग	बौद्ध-दर्शन	३२०
उत्तराध्ययनसूत्र	—	जैन-दर्शन	—
उद्दालकश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
उद्द्योत (महाभाष्य-प्रदीप की टीका)	नागेश	व्याकरण	१७१४
उद्द्योत (कौस्तुभ की व्याख्या)	बालम्भट्ट	”	१७५०
उपक्रमपराक्रम (भेदधिक्कार की टीका)	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१६६०
उपदेशचिन्तामणि	जयशेखर	जैन-दर्शन	१५००
उपदेशसाहस्री	शङ्कराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
उपदेशसाहस्री की टीका	आनन्दराम	”	—
”	रामतीर्थ	”	—
उपनिषद्भाष्य	शङ्कराचार्य	”	८१०
उपनिषद्भाष्य की टीका	आनन्दगिरि	”	८२५
उपनिषद्भाष्य	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
उपनिषद्भाष्यविवरण	व्यासतीर्थ	”	१२६०
उपनिषद्भाष्य	रङ्गरामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
उपनिषद्वृत्ति	कूरनारायण	”	१३८०
उपनिषद्व्याख्या	राघवेन्द्रयति	द्वैतवेदान्त	—
उपन्यास (श्रीभाष्य की टीका)	चण्डमारुतमहाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१०
उपस्कार (कणादसूत्र की वृत्ति)	शंकरमिश्र	वैशेषिक	१४२५
उपाधिखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
उपासनाध्ययन	समन्तभद्र	जैन-दर्शन	६००
उपासनाध्ययन की टीका	प्रभाचन्द्र	जैन-दर्शन	८२५
ऋग्भाष्य	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
ऋजुविमला (बृहती की व्याख्या	शालिकनाथ	मीमांसा	७९०
कणादरहस्य (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	शंकरमिश्र	वैशेषिक	१४२५
कणादसूत्र	कणाद	”	—
कणादसूत्रभाष्य	प्रशस्तपाद	वैशेषिक	४५०
कणादसूत्र की वृत्ति	नागेश	”	१७१४
”	चन्द्रकान्त	”	१८८०
”	जयनारायण	”	—
”	भरद्वाज	”	—
कथालक्षण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कमठश्रुति	—	”	—
करणागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
कर्पूरवार्तिक (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	सोमेश्वर	मीमांसा	१५००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
कर्मनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कला (लघुमञ्जूषा की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
कल्पतरु (भामती की टीका)	अमलानन्द	अद्वैतवेदान्त	१२५०
कल्पलता (प्रौढमनोरमाव्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	—
कल्पसूत्र	भद्रबाहु	जैन-दर्शन	२०० ई० पू०
कल्पसूत्र की टीका (सुबोधिनी)	—	"	—
" (कल्पावलोकिनी)	—	"	—
कामधेनु	बोपदेव	व्याकरण	११९०
कामिकागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
कालाग्निरुद्रोपनिषद्	—	"	—
कालोत्तरोपनिषद्	—	"	—
काशिका (श्लोकवार्तिक की व्याख्या)	सुचरित मिश्र	मीमांसा	१६७०
काशिका (पाणिनिसूत्र की वृत्ति)	जयादित्य और वामन	व्याकरण	८७०
काशिकावृत्तिसार	वासुदेव	"	—
काषायणश्रुति	वासुदेव	द्वैतवेदान्त	—
किरणप्रकाश (वाक्यपदीय की व्याख्या)	हेलाराज	व्याकरण	—
किरणागम	मृगेन्द्र	शैव-दर्शन	—
किरणावली (कणादसूत्र भाष्य टीका)	उदयन	वैशेषिक	९८४
किरणावलीप्रकाश	वर्धमान	"	११५०
किरणावलीभास्कर	पद्मनाभ	"	—
कुङ्कुमविकाश (न्यास की व्याख्या)	शिवभट्ट	व्याकरण	—
कुञ्चिका (लघुमञ्जूषा की टीका)	कृष्णमिश्र	"	१७५०
कुसुमाञ्जलि (सूत्र की वृत्ति)	गागाभट्ट	मीमांसा	१५५०
कूर्मपुराण (पूर्वार्ध ५३)	—	पाशुपत-दर्शन	—
कृष्णामृतमहार्णव	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
कृष्णामृतमहार्णव की टीका	व्यासतीर्थ	"	१२६०
कृष्णालङ्कार (सिद्धान्तलेश की टीका)	अच्युतकृष्णानंदतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६९०
कैयटप्रकाश (भाष्यप्रदीप की टीका)	नीलकण्ठ	व्याकरण	१६४०
कैवल्यदीपिका (मुक्ताफल की टीका)	हेमाद्रि	अद्वैतवेदान्त	१२७०
कैवल्योपनिषद्दीपिका	शंकरानन्द	"	१३२५
कौठरव्यश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
कौमुदी (तर्कभाषा की टीका)	दिनकर	न्याय-दर्शन	—
कौर्म	—	द्वैतवेदान्त	—
कौशिकश्रुति	—	"	—
कौषीरवश्रुति	—	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
क्रियासार (ब्रह्मसूत्रभाष्यतात्पर्य)	नीलकण्ठ	शैवदर्शन	१६५०
खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष	अद्वैतवेदान्त	११९०
खण्डनखण्डखाद्य की टीका	चित्सुख	"	१२२५
"	रघुनाथ	"	—
"	शंकर मिश्र	"	—
गणकारिका	हरदत्त	पाशुपत	—
गणपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
गणरत्नमहोदधि (गणपाठ टीका)	वर्धमान	"	११४०
गण्डव्यूह	—	बौद्धदर्शन	—
गदा (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
गदाधरी (तत्त्वदीधिति की टीका)	गदाधर	न्याय-दर्शन	१५६०
गन्धहस्तिमहाभाष्य (तत्त्वार्थसूत्र की टीका)	समन्तभद्र	जैन-दर्शन	६००
गाथाषष्टिसहस्र	पञ्चशिखाचार्य	सांख्य-दर्शन	—
गारुड	—	द्वैतवेदान्त	—
गीता टीका	अभिनवगुप्त	अद्वैतवेदान्त	१०००
"	रामकण्ठ	प्रत्यभिज्ञा	९५०
"	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
गीतातात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
गीताभाष्य	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
गीताभाष्य की टीका	आनन्दगिरि	"	८२५
गीताभाष्य	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१०५०
"	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
"	विष्णुस्वामी	"	—
गीतार्थसंग्रह	यामुनाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०४०
गूढ़भाववृत्ति (कौमुदी की व्याख्या)	रामचन्द्रशेष	व्याकरण	१५६०
गूढार्थतत्त्वालोक (गूढार्थदीपिका की टीका)	वच्चा शर्मा	अद्वैत-वेदान्त	—
गूढार्थदीपिका (गीता की टीका)	मधुसूदन	"	१५६०
गूढार्थदीपिका (योगसूत्र की वृत्ति)	नारायणभिक्षु	योग-दर्शन	१६००
गूढार्थदीपिनी (सूत्र की वृत्ति)	सदाशिव मिश्र	व्याकरण	१६७०
गूढार्थप्रकाश (शेखर की टीका)	वासुदेव शास्त्री	व्याकरण	१८९०
गौडब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्द	"	—
गौतमसूत्र की वृत्ति	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
गौपवनश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
चण्डमारुत (शतदूषणी की टीका)	चण्डमारुतमहाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
चतुरश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
चतुर्ग्रन्थी (अद्वैतसिद्धि की टीका)	अनन्तशास्त्री	अद्वैत-वेदान्त	—
चतुर्वेदशिखा	—	द्वैत-वेदान्त	—
चन्द्रकला (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	भैरवमिश्र	व्याकरण	१७८०
चन्द्रिका	जयतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
„	व्यासतीर्थ	„	१२६०
„ (तर्कसंग्रह की टीका)	मुकुन्दभट्ट	वैशेषिक	१७१५
„ (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)	ज्ञानोत्तममिश्र	अद्वैत-वेदान्त	—
„ (सांख्यकारिकाभाष्य की टीका)	नारायणतीर्थ	सांख्य	१६००
चिच्चन्द्रिका (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	विष्णुभट्ट	व्याकरण	१८४०
चित्तविशुद्धिप्रकरण	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
चिदस्थिमाला (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
चिन्नभट्टी (तर्कभाषा टीका)	चिन्नंभट्ट	न्याय-दर्शन	१३५०
चिन्नंभट्टी की टीका	वेङ्कटाचार्य	„	—
छाया (भाष्यप्रदीपोद्द्योत की टीका)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७६०
छाया (योगसूत्र की वृत्ति)	नागेश	योग-दर्शन	१७२५
जयतीर्थग्रन्थ की टीका	व्यासतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	१२६०
जयधवला	—	जैन-दर्शन	९००
जयसंहिता	—	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	—
जागदीशी (तत्त्वदीधिति की टिप्पणी)	जगदीश	न्याय-दर्शन	१५९०
जागदीशी की टीका	शंकरमिश्र	न्याय-दर्शन	१६२५
जीवन्मुक्तिप्रक्रिया	सदानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१५६०
जीवन्मुक्तिविवेक	माधवाचार्य	„	१३५०
जैमिनिसूत्र	जैमिनि	मीमांसा	५०० ई० पू०
जैमिनिसूत्र की वृत्ति	उपवर्ष	„	४०० „
„	हरि	„	१०० „
„	भर्तृमित्र	„	—
„	भवदास	„	—
„	प्रभाकर	„	७७५
„	वाचस्पतिमिश्र	„	८५०
„	वेङ्कटाचार्य	„	१३६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
जैमिनिसूत्र की वृत्ति	वल्लभाचार्य	मीमांसा	१५२५
”	श्रीनिवासाध्वरि	”	—
”	करविन्दस्वामी	”	—
”	लौगाक्षिभास्कर	”	१६६०
”	नागेश	”	१७१४
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर	माधवाचार्य	”	१३५०
ज्ञानदीपिका	श्रीपति	व्याकरण	१२५०
ज्ञानप्रस्थान	कात्यायनीपुत्र	बौद्ध-दर्शन	—
ज्ञानप्रस्थान की टीका	अश्वघोष	”	१२०
ज्ञानरत्नावली	—	शैव-दर्शन	—
ज्ञानसागरी (आवश्यकसूत्र की टीका)	ज्ञानसागर	जैन-दर्शन	१३८०
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र	”	—
ज्ञानार्णव की टीका	नयविलास	”	—
ज्ञानोदयसारसंग्रह	महेन्द्रमुनि	”	—
ज्योतिष्प्रदीपिका (सूत्र की वृत्ति)	लक्ष्मणसूरि	मीमांसा	—
ज्योत्स्ना (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	उदयंकर	व्याकरण	१७२०
ज्योत्स्ना (परमलघुमंजूषा की व्याख्या)	कालिकाप्रसाद शुक्ल	”	१९६१
टुपूटीका (शाबरभाष्यवार्तिक)	कुमारिलभट्ट	मीमांसा	७६०
तत्त्वचन्द्र (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	जयन्त (मधुसूदन-पुत्र)	व्याकरण	१५८०
तत्त्वचिन्तामणि	गंगेश उपाध्याय	न्यायदर्शन	११७५
तत्त्वचिन्तामणि की टीका	पक्षेश्वर	”	—
”	वर्धमान	”	१२२५
”	वासुदेवसार्वभौम	”	१२७५
तत्त्वत्रय	लोकाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२८०
तत्त्वत्रयचुलुक	नैनाराचार्य	”	१४१५
”	श्रीनिवासाचार्य	”	१४८०
तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह	कुमारवेदान्ताचार्य	”	१४२०
तत्त्वत्रयनिरूपण	वरदाचार्य	”	११२०
”	वरदनायक	”	१६१०
तत्त्वत्रयभाष्य	वरवर	”	—
तत्त्वत्रयविवरण	कृष्णपाद	”	—
तत्त्वदीधिति (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	रघुनाथ	न्यायदर्शन	१३००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तत्त्वदीपन (पञ्चपादिकाविवरण)	अखंडानंदसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५८०
तत्त्वदीपन	स्वप्रकाशयति	"	१३२०
तत्त्वनिरूपण	रम्यजामातृमुनि	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१४१०
तत्त्वप्रकाश	भोजराज	शैव	१०६०
तत्त्वप्रकाश की टीका	अघोरशिवाचार्य	"	११५०
तत्त्वप्रकाशिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	सत्यनाथयति	पूर्णप्रज्ञ	१८००
तत्त्वप्रबोधिनी (तर्कभाषा की टीका)	गणेशदीक्षित	न्यायदर्शन	—
तत्त्वबोधिनी (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	ज्ञानेन्द्रसरस्वती	व्याकरण	१६४०
तत्त्वबोधिनी (संक्षेपशारीरक की टीका)	नृसिंहाश्रम	अद्वैतवेदान्त	१५५०
तत्त्वमञ्जरी	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
तत्त्वमुक्ताकलाप	वेङ्कटनाथ (१२६७–१३६८)	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१३२०
तत्त्वमुक्ताकलापकान्ति	नैनाराचार्य	"	१४१५
तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका	वेङ्कटनाथ	"	१३२०
तत्त्वविवेक (सिद्धांतबिन्दु की टीका)	पूर्णानन्दतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	—
तत्त्वविवेक	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तत्त्वविवेक की टीका	यदुपति	"	१८००
तत्त्ववैशारदी (योगसूत्रभाष्य की टीका)	वाचस्पति मिश्र	योग	८४१
तत्त्वशेखर	लोकाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२८०
तत्त्वसंख्यान	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	१३७०
तत्त्वसंख्यान की टीका	यदुपति	"	१८००
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	बौद्ध-दर्शन	७२०
"	नारायणमुनि	विशिष्ट द्वैतवेदांत	१४१५
"	—	शैवदर्शन	—
तत्त्वसमाससूत्र	कपिल	सांख्यदर्शन	—
तत्त्वसमाससूत्र की वृत्ति	भिक्षुभानन्द	"	—
तत्त्वसार	—	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
तत्त्वसार की टीका	वीरराघव	"	१४००
तत्त्वादर्श (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	वासुदेवशास्त्री	व्याकरण	१८९०
तत्त्वानुसंधान	महादेवसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१७००
तत्त्वानुसंधान की टीका	शुकाचार्य	"	१७६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तत्त्वार्थचिन्तामणि (शिवसूत्र की वृत्ति)	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
तत्त्वार्थ की टीका न्याख्यालङ्कार (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	अकलङ्कदेव	जैन	७५०
तत्त्वार्थदीपिका (तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र की टीका)	श्रुतसागर	"	१५००
तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्र	"	९०५
तत्त्वार्थसारदीपिका	सकलकीर्ति	"	१४६५
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	उमास्वाति	"	५०
तत्त्वार्थाधिगम की टीका	विबुधसेन	"	—
"	सिद्धसेनगणि	"	५२५
तत्त्वालोक (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	जयदेवमिश्र	न्यायदर्शन	१२७८
तत्त्वालोक की टीका	हरिदास मिश्र	"	१५९०
तत्त्वालोकरहस्य (तत्त्वचिन्तमणि की टीका)	मथुरानाथ	"	१५८०
तत्त्वोपप्लवसिंह	अजितकेशकम्बलि	चार्वाक	—
तत्त्वोद्योत	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तथागतगुह्यक	—	बौद्धदर्शन	—
तन्त्ररत्न	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	"	७६०
तन्त्रवार्तिक की टीका	मण्डनमिश्र	"	८२५
"	कवीन्द्र	"	"
तन्त्रवार्तिक की टीका	पालभट्ट	"	८२५
"	कमलाकर	"	१५९०
तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
तन्त्रसार-संग्रह	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	"	१०००
तन्त्रालोक की टीका	जयरथ	"	११७०
तरङ्गिणी (तर्कसंग्रह की टीका)	विन्ध्येश्वरीप्रसाद	वैशेषिक	१७६०
तर्ककारिका	जीवराज	न्यायदर्शन	१४५०
तर्ककौमुदी	लौगाक्षिभास्कर	वैशेषिक	१६२५
तर्ककौमुदी की टीका	मोहनभट्ट	"	१७८०
तर्कज्वाला	भावविवेक	बौद्धदर्शन	६००
तर्कताण्डव	व्यासतीर्थ	द्वैतवेदान्त	१२६०
तर्कताण्डव की टीका	राघवेन्द्रतीर्थ	"	—
तर्कदीपिका (तर्कसंग्रह की टीका)	अन्नंभट्ट	वैशेषिक	१६९०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
तर्कदीपिकाप्रकाश	नीलकण्ठ	वैशेषिक	१८३०
तर्कप्रकाश (न्यायसिद्धान्त-मञ्जरी की टीका)	श्रीकण्ठ	न्यायदर्शन	१५३५
तर्कभाषा	केशवमिश्र	"	१२५०
तर्कभाषा की टीका	गंगाधरभट्ट	"	—
"	गुड्डभट्ट	"	—
"	नारायणभट्ट	"	—
"	रामलिङ्ग	"	१४६०
"	माधवदेव	"	१६५५
"	मुरारि	"	१७१०
"	सिद्धचन्द्र	"	१७४०
"	माधवभट्ट	"	१७७०
तर्कभाषाप्रकाश	गोवर्धन	"	१५७०
तर्कभाषाविवरण	शुभविजय	"	१६१०
तर्कमञ्जरी	जीवराज	"	१४५०
तर्करहस्यदीपिका	गुणरत्न	चार्वाक	—
तर्कवार्तिक	—	जैनदर्शन	—
तर्कवार्तिक की टीका	शान्त्याचार्य	"	—
तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट	वैशेषिक	१६९०
तर्कसंग्रह की टीका	मुरारि	"	१७१०
तर्कामृत	जगदीश	न्यायदर्शन	१५९०
तात्पर्यदीपिका (वेदार्थसंग्रह की टीका)	सुदर्शन	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१२२०
तात्पर्यदीपिका (रहस्यमय की टीका)	वीरराघव	"	१४००
तात्पर्यदीपिका की टीका	वीरराघवदास	"	१४४०
"	अग्निस्वामी	"	—
तात्पर्यसंग्रह (शारीरभाष्य की टीका)	रामचन्द्रतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१५५०
तार्किकरत्ता	वरदाचार्य	न्यायदर्शन	१०५०
तार्किकरत्ता की टीका	ज्ञानपूर्ण	"	—
तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
"	माधवाचार्य	"	१३५०
त्रिपथगा (परिभाषेन्दुशेखरकीटीका)	राघवाचार्य	व्याकरण	१८१०
त्रिपिटक	शाक्यमुनि	बौद्धदर्शन	४०० ई० पू०
त्रिलोचनी (मुक्तावली की टीका)	त्रिलोचन	वैशेषिक	—
त्रिशिखा (परिभाषेन्दुशेखरकीटीका)	लक्ष्मीनृसिंह	व्याकरण	१७६५
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	जैनदर्शन	११२५
दर्पणा (कौस्तुभ की व्याख्या)	हरिवल्लभ	व्याकरण	१७००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
दर्पणा (तर्कभाषा की टीका)	भास्कर	न्यायदर्शन	—
दर्शनसमुच्चयरूपतर्कज्वाला	भावविवेक	बौद्धदर्शन	६००
दशपदार्थी	ज्ञानचन्द्र	वैशेषिक	६००
दशभूमीश्वर	—	बौद्धदर्शन	—
दशश्लोकी	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८००
दिनकरी (मुक्तावली की टीका)	महादेव और दिनकर	वैशेषिक	१६९०
दिनकरी की टीका	रामरुद्र	"	१७००
दिव्यावदान	—	बौद्धदर्शन	—
दीधिति (सूत्र की वृत्ति)	राघवानन्द	मीमांसा	१६००
दीपप्रभा (वाररुच-संग्रह की टीका)	नारायण	व्याकरण	—
दीपिका (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	शंकरानन्द	अद्वैतवेदान्त	१३२५
दुर्गपद (नन्दिसूत्र की व्याख्या)	चन्द्रसूरि	जैनदर्शन	११६०
दुर्घटवृत्ति	शरणदेव	व्याकरण	११७०
दुर्घटार्थप्रकाश (महाभारत-तात्पर्य-निर्णय की टीका)	सभ्याभिनवयति	द्वैतवेदान्त	—
दृग्दृश्यविवेक	विश्वेश्वर	अद्वैतवेदान्त	१३२०
देवागमस्तोत्र	समन्तभद्र	जैनदर्शन	६००
दोषोद्धरण (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
द्रव्यप्रकाशिका	भगीरथमेघ	न्यायदर्शन	१५७०
द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्द	जैनदर्शन	२५
धर्मरत्नवृत्ति	शान्तिसूरि	"	१२२०
धर्मरत्नाकर	जयसेन	"	—
धर्मस्कन्ध	शारिपुत्र	बौद्धदर्शन	—
धर्मामृत	आशाधर	जैनदर्शन	११७५
धातुकाय	पूर्ण	बौद्धदर्शन	—
धातुपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
धातुप्रकाश (धातुपाठ की टीका)	बलराम	"	—
धातुप्रदीप (धातुपाठ की टीका)	रक्षित	"	—
धातुरत्नमाला	देवदत्त	रसेश्वर	१७५०
धातुवृत्ति (धातुपाठ की टीका)	माधव	व्याकरण	१३५०
नन्दिसूत्र	देवर्धि	जैन-दर्शन	—
नयनप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	मेघनादारि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
नयनप्रसादिनी (प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका की टीका)	प्रत्यक्स्वरूप	अद्वैत-वेदान्त	१५००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
नयप्रदीप	यशोविजय	जैन-दर्शन	१५००
नयोद्योत (भाट्टदीपिका की टीका)	नारायणभट्ट	मीमांसा	—
नयोपदेशप्रकरण	जयविजय	जैन-दर्शन	१४५०
नवतत्त्व	—	”	—
नवतत्त्व की टीका	सोमसुन्दर	”	१४००
नारायणतन्त्र	—	द्वैत-वेदान्त	—
नियमसार	कुन्दकुन्द	जैनदर्शन	२५
निष्कण्टक (सप्तपदार्थी की टीका)	मल्लिनाथ	वैशेषिक	१३५०
” (तार्किकरक्षा की टीका)	”	न्याय-दर्शन	”
नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८२५
न्यायकणिका (विधिविवेक की टीका)	वाचस्पतिमिश्र	मीमांसा	८४१
न्यायकन्दली (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	श्रीधर	वशेषिक	९९१
न्यायकलिका	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
न्यायकल्पलता	जयतीर्थ (११९३–१२६८)	द्वैतवेदान्त	—
न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयनाचार्य	न्यायदर्शन	९८४
न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका	चन्द्रनारायण	”	—
”	वरदराज	”	१४००
”	वामध्वज	”	—
न्यायकौमुदी (तार्किकरक्षा की टीका)	विनायकभट्ट	”	—
न्यायचन्द्रिका (भाषापरिच्छेद की टीका)	नारायणतीर्थ	वैशेषिक	१६५०
न्यायतात्पर्यदीपिका (न्यायसार की टीका)	जयसिंह	न्याय-दर्शन	—
न्यायतात्पर्यमण्डन	शंकरमिश्र	”	१४२५
न्यायदीप (न्यायसूत्रभाष्य की टीका)	मित्रमिश्र	”	१५८०
न्यायद्वारशास्त्र	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१२५
न्यायनिबन्धप्रकाश (न्यायवार्तिक-तात्पर्यपरिशुद्धि की टीका)	वर्धमान	”	१२२५
न्यायनिर्णय (शरीर भाष्य की टीका)	आनन्दगिरि	अद्वैत-वेदान्त	८२५
न्यायनिर्णय (तर्कसंग्रह की टीका)	—	वैशेषिक	—
न्यायपरिशुद्धि	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायप्रदीप (तर्कभाषा की टीका)	—	न्यायदर्शन	—
न्यायप्रवेश	दिङ्नाग	बौद्ध-दर्शन	४८०
न्यायबिन्दु (सूत्रवृत्ति)	बालंभट्ट	मीमांसा	१७५०
न्यायबिन्दु	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
न्यायबिन्दु की टीका	धर्मोत्तर	"	८५०
"	मल्लवाक्याचार्य	"	११६०
"	विनीतदेव	"	—
"	शान्तभद्र	"	—
न्यायबोधिनी (तर्कसंग्रह की टीका)	गोवर्धन	वैशेषिक	—
न्यायभूषण	भासर्वज्ञ	न्याय-दर्शन	९२५
"	वासुदेवकाश्मीरिक	"	—
न्यायमकरन्द	आनन्दबोध	अद्वैतवेदान्त	—
न्यायमकरन्द की टीका	चित्सुख	"	१२२५
न्यायमञ्जरी (गौतमसूत्र की वृत्ति)	जयन्त	न्याय-दर्शन	८८०
न्यायमञ्जरी	"	चार्वाक	६६०
न्यायमालाविस्तर	माधवाचार्य	मीमांसा	१३५०
न्यायमालाविस्तर (सूत्र की वृत्ति)	सोमेश्वर	"	१५००
न्यायमुक्तावली (लक्षणावली की टीका)	शार्ङ्गधर	वैशेषिक	१६७०
न्यायमुक्तावली	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१५८०
न्यायरत्न	रघुनाथशास्त्री पर्वते	न्याय-दर्शन	१८६०
न्यायरत्नमाला (तन्त्रवार्तिक की व्याख्या)	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिक की व्याख्या)	पार्थसारथिमिश्र	"	९००
न्यायरत्नावली	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०
न्यायरत्नावली (न्यायसिद्धान्त मञ्जरी की टीका)	वासुदेव	न्याय-दर्शन	—
न्यायरत्नावली (सिद्धान्तबिन्दु की टीका)	ब्रह्मानन्दसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	—
न्यायलीलावती	वल्लभन्यायाचार्य	वैशेषिक	११५०
न्यायवार्तिकतात्पर्य	—	न्याय-दर्शन	—
न्यायवार्तिकतात्पर्य की टीका	वाचस्पतिमिश्र	"	८४१
न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि	उदयनाचार्य	"	९८४
न्यायविलास (तर्कभाषा की टीका)	विश्वनाथ	"	१६३४
न्यायविवरण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
न्यायविवरण (कृष्णामृतमहार्णव की टीका)	तम्मणाचार्य	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायवृत्ति	अभयतिलक	न्याय-दर्शन	१०५०
न्यायसार	भासर्वज्ञ	"	९२५
"	माधवदेव	"	१६५५
न्यायसार (न्यायपरिशुद्धि की टीका)	श्रीनिवासाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
न्यायसिद्धाञ्जन	वेङ्कटनाथ (१२६७-१३६८)	"	१३२०
न्यायसिद्धाञ्जन की टीका	रङ्गरामानुज	"	१३००
"	कृष्णतातार्य	"	१४५०
न्यायसिद्धान्तदीप	शशधर	न्याय-दर्शन	—
न्यायसिद्धान्तमञ्जरी	चूडामणि	"	—
"	जानकीनाथभट्टाचार्य	"	१३००
"	श्रीनिवास	"	—
न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका	कृष्णवागीश	"	—
"	त्रिलोचनदेव	"	—
"	लौगाक्षिभास्कर	"	१६२५
न्यायसिद्धान्तमञ्जरीसार	यादव	"	—
न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	"	—
न्यायसिद्धान्ताञ्जन	वागीश	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
न्यायसुधा (राणक, तन्त्रवार्तिक की व्याख्या)	सोमेश्वर	मीमांसा	१५००
न्यायसुधा	जयतीर्थ (११९३-१२६८)	द्वैतवेदान्त	१२२५
न्यायसुधा की टीका	कुण्डलगिरि	"	—
"	यदुपति	"	१८००
न्यायसूचीनिबन्ध	वाचस्पति मिश्र	न्याय-दर्शन	८४१
न्यायसूत्र	अक्षपाद	"	—
न्यायसूत्रभाष्य	वात्स्यायन	"	३००
न्यायसूत्रभाष्य की टीका	विश्वनाथ	"	१६३४
न्यायसूत्रभाष्यवार्तिक	उद्द्योतकर	"	६३५
न्यायसूत्रविवरण	राधामोहन	"	—
न्यायसूत्र की वृत्ति	चन्द्रनारायण	"	—
"	विश्वनाथ	"	१६३४
"	नागेश	"	१७१४
"	मुकुन्ददास	"	—
न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पतिमिश्र	"	८४१
न्यायानुसार	असङ्गभद्र	बौद्ध-दर्शन	३२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	न्याय-दर्शन	१०००
न्यायालोकसिद्धि	चन्द्रगोमि	बौद्ध-दर्शन	६३५
न्यायावतार	सिद्धसेनदिवाकर	जैन-दर्शन	४५०
न्यायावतार की टीका	चन्द्रप्रभ	जैन-दर्शन	—
न्यास (काशिका की व्याख्या)	जिनेन्द्रबुद्धि (न्यासकार)	व्याकरण	८७५
न्यासतिलक	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१३२०
न्यासतिलक की टीका	कुमारवेदान्ताचार्य	"	१४२०
पञ्चदशी	माधवाचार्य	अद्वैत-वेदान्त	१३५०
पञ्चदशी की टीका	रामकृष्ण	"	१३७५
"	सदानन्द	"	१५६०
"	अच्युतराय	"	१८००
पञ्चपादिका (शारीरभाष्य की टीका)	पद्मपादाचार्य	"	८५५
पञ्चपादिका की टीका	आनन्दपूर्ण	"	१६००
" "	विद्यासागर	"	—
पञ्चपादिका-दर्पण	अमलानन्द	"	१२५०
पञ्चपादिका-विवरण	प्रकाशात्ममुनि	"	१२००
पञ्चरात्र (नारद)	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
पञ्चरात्ररक्षा	वेङ्कटनाथ	"	१३२०
पञ्चार्थविद्या	पशुपति	पाशुपत	—
पञ्चार्थसूत्र	नकुलीश	"	—
पञ्चार्थसूत्र भाष्य	राशीकर भट्ट	"	—
पञ्चार्थसूत्र भाष्य दीपिका	—	"	—
पञ्चास्तिकाय	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५
पञ्चास्तिकाय की टीका	अमृतचन्द्र	"	९०५
पदकृत्य (तर्कसंग्रह की टीका)	चन्द्रसिंह	वैशेषिक	—
पदचन्द्रिका	कृष्णशेष	व्याकरण	१५२०
पददीपिका (पञ्चपादिका की टीका)	धर्मराजाध्वरीन्द्र	अद्वैतवेदान्त	१६००
पदपञ्चिका (न्यायसार की टीका)	वासुदेव काश्मीरिक	न्यायदर्शन	—
पदमञ्जरी	अनन्त	"	—
पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या)	हरदत्त	व्याकरण	८७५
पदव्यवस्थासूत्रकारिका	विमलकीर्ति	जैन-दर्शन	१६५०
पदार्थकौमुदी	वेदेशतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
पदार्थखण्डन (पदार्थतत्त्वनिरूपण)	रघुनाथभट्ट	न्यायदर्शन	१३००
पदार्थचन्द्रिका	मित्रमिश्र	"	१५८०
पदार्थचन्द्रिका (सप्तपदार्थी की टीका)	शार्ङ्गधर	वैशेषिक	१६७०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
पदार्थतत्त्वनिरूपण	रघुनाथशिरोमणि	वैशेषिक	—
पदार्थधर्मसंग्रह (भाष्य)	प्रशस्तपाद	,,	—
पदार्थमाला	लौगाक्षिभास्कर	न्यायदर्शन	१६२५
पदार्थसंग्रह	पद्मनाभ	द्वैतवेदान्त	—
पदार्थसंग्रह की टीका	अनन्त	,,	—
परमलघुमञ्जूषा	नागेश	व्याकरण	१७१४
परमात्मप्रकाश	श्री योगीन्द्र	जैनदर्शन	—
परमात्मप्रकाश की टीका	लघुपद्मनन्दी	,,	१३५०
परमार्थसप्तति	वसुबन्धु	बौद्ध-दर्शन	३२०
परमार्थसार (सटीक)	आदिशेष	अद्वैतवेदान्त	—
परमार्थसार	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०००
परमार्थसार की टीका	योगराज	,,	१०५०
परमाश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
परात्रिंशिकाविवरण	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	१०००
परिभाषाप्रकाश	विष्णुराम	व्याकरण	—
परिभाषाप्रदीपार्चि	उदयशंकर	,,	१७२०
परिभाषाभास्कर	कुप्पुशास्त्री	,,	१७५०
परिभाषावृत्ति	व्याडि	,,	३०० ई० पू०
,,	सीरदेव	,,	१२००
,,	नीलकण्ठदीक्षित	,,	—
परिभाषावृत्ति की टीका	शेषाद्रिशुद्धि	,,	—
परिभाषेन्दुशेखर	नागेश	,,	१७१४
परिमल (कल्पतरु की टीका)	अप्पयदीक्षित	अद्वैतवेदान्त	१५५०
परिशिष्टपर्व	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
परीक्षा (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	इन्दिरापति	व्याकरण	१७६०
परीक्षा (वैयाकरणभूषण-सार की टीका)	भैरव	,,	१७८०
परीक्षामुख	माणिक्यनन्दी	जैन-दर्शन	८००
,,	वीरानन्द	,,	८००
परीक्षामुखलघु की वृत्ति	अनन्तवीर्य	,,	१४३९
पाठकी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	पाठक	व्याकरण	१७९५
पाठकी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	,,	,,	,,
पाणिनीयदीपिका	नीलकण्ठ	व्याकरण	१६६०
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्र	जैन-दर्शन	९०५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
पौत्रायणश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
पौष्करसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
पौष्करागम	पुष्कर	शैव-दर्शन	—
पौष्यायणश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
प्रकरणपञ्चिका	शालिकनाथ	मीमांसा	७९०
प्रकरणपाद	वसुमित्र	बौद्ध-दर्शन	—
प्रकरणविवरणपञ्चक	प्रत्यभिज्ञा	—	—
प्रकाश (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	शंकरभट्ट	मीमांसा	१७००
प्रकाश (चन्द्रिका की टीका)	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैतवेदान्त	—
प्रकाश (यतीन्द्रमतदीपिका की टीका)	वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१९११
प्रकाश (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	वर्धमान	न्यायदर्शन	१२२५
प्रकाश (तर्कभाषा की टीका)	चैतन्यभट्ट	"	—
प्रकाश (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	तर्कचूडामणि	न्यायदर्शन	—
प्रकाश (मुक्तावली की टीका)	बालकृष्ण भट्ट	वैशेषिक	—
प्रकाशिका (सूत्र की वृत्ति)	रामकृष्ण	मीमांसा	१५००
प्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	लक्ष्मणसूरि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
प्रकाशिका (तार्किकरक्षा की टीका)	नृसिंहठक्कुर	न्याय-दर्शन	—
प्रकाशिका (तर्कभाषा की टीका)	कौण्डिण्यदीक्षित	"	—
" "	बलभद्र	"	—
प्रकाशिका (वाक्यावृत्ति की टीका)	विश्वेश्वर	अद्वैतवेदान्त	१३२०
प्रक्रियाकौमुदी (सूत्र की वृत्ति)	रामचन्द्र	व्याकरण	१४२०
प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या	रामभट्ट	"	१४६०
" "	शेषकृष्ण	"	१५४०
प्रज्ञप्तिशास्त्र	मौद्गलायन	बौद्ध	—
प्रज्ञापारमिता की टीका	वसुबन्धु	"	३००
प्रज्ञापारमितासूत्र	शाक्यमुनि	"	—
प्रज्ञापारमिता (शतसाहस्रिका)	—	"	—
प्रज्ञाप्रदीप	भावविवेक	"	६००
प्रत्यक्तत्त्वदीपिका	चित्सुख	अद्वैतवेदान्त	१२२५
प्रत्यभिज्ञाकारिका (प्रत्यभिज्ञासूत्र, शिवदृष्टिसंक्षेप)	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (लघुवृत्ति प्रत्यभिज्ञावृत्ति की टीका)	अभिनवगुप्त	"	१०००
प्रत्यभिज्ञाविवृति (प्रत्यभिज्ञासूत्र की टीका)	उत्पलाचार्य	"	९१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी (बृहती की वृत्ति)	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
प्रत्यभिज्ञा की वृत्ति (प्रत्यभिज्ञान सूत्र की टीका)	उत्पलाचार्य	"	९१०
प्रदीप (महाभाष्य की टीका)	कैयट	व्याकरण	११००
दीपिका (आचाराङ्गसूत्र की टीका)	जिनहंस	जैन-दर्शन	१५५०
प्रपञ्चमिथ्यात्वखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
प्रपन्नामृत (रामानुजाचार्य चरित)	अनन्त	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	११५०
प्रबन्धचिन्तामणि	मेरुतुङ्ग	जैन-दर्शन	१३००
प्रभा (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	बालंभट्ट	मीमांसा	१७५०
प्रभा (कौस्तुभ की व्याख्या)	राघवाचार्य	व्याकरण	१८२०
प्रभा (न्यायसिद्धान्तदीप की टीका)	शेषानन्त	न्याय-दर्शन	—
प्रभा (तर्कसंग्रह की टीका)	हनुमान्	वैशेषिक	—
प्रभावती (भाट्ट-दीपिका की टीका)	शंभुभट्ट	मीमांसा	१६९०
प्रमाणचिन्तामणि	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	देवसूरि	"	११४०
प्रमाणपद्धति	जयतीर्थ (११९३-१२६८)	द्वैतवेदान्त	१२२५
प्रमाणपद्धति-टीका	सत्यनाथ यति	"	१८००
प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द	जैन-दर्शन	८००
प्रमाणलक्षण	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
प्रमाणवार्तिक (प्रमाणसमुच्चय की टीका)	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
प्रमाणशास्त्रप्रवेश	दिङ्नागाचार्य	"	४८०
प्रमाणसमुच्चय (सटीक)	"	"	४८०
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	जैन-दर्शन	८२५
प्रमेयरत्नमाला	माणिक्यनन्दी	"	८००
प्रयोगरत्नमाला	पुरुषोत्तम	व्याकरण	१३००
प्रवचनपरीक्षा	धर्मसागर	जैन	१५७३
प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	"	२५
प्रवचनसार की टीका	अमृतचन्द्र	"	९०५
प्रश्नोत्तरमाला	अमोघवर्ष	"	८५०
प्रसन्नपदा (माध्यमिक कारिका की वृत्ति)	चन्द्रकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	५५०
प्रसाद (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	विट्ठल	व्याकरण	१५००
प्रसादिनी (तर्कभाषा की टीका)	वागीश	न्याय-दर्शन	—
प्रस्थानभेद	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
प्रौढमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	भट्टोजीदीक्षित	व्याकरण	१५७८
प्रौढमनोरमाखण्डन	चक्रपाणि	—	—
फक्किका (तर्कसंग्रह की टीका)	क्षमाकल्याण	वैशेषिक	—
बालचयबोधिका	चतुर्भुज	रसेश्वर	—
बालबोधिनी (आत्मबोध की टीका)	नारायणतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६००
बालमनोरमा (कौमुदी की व्याख्या)	अनन्त	व्याकरण	१६६०
बिन्दुशीकर (सिद्धान्तलेश की टीका)	गंगाधर सरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१६७५
बिन्दुसंदीपन (सिद्धान्त बिन्दु की टीका	पुरुषोत्तम सरस्वती	”	१६२५
बुद्धचरित	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०
बृहच्चन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्द सरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१५६५
बृहच्छब्देन्दुशेखर (कौमुदी की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
बृहती (शाबरभाष्य की व्याख्या)	प्रभाकर	मीमांसा	७७५
बृहत्तन्त्र	—	द्वैत-वेदान्त	—
बृहत्संहिता	—	”	—
बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८२५
बृहदारण्यकभाष्य की व्याख्या	रघूत्तमयति	द्वैत-वेदान्त	—
बृहद्दर्पणा (वैयाकरणभूषणसार की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
बृहन्मञ्जूषा	नागेश	”	१७१४
बृहस्पतिसूत्र	बृहस्पति	चार्वाक	—
बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव	बौद्ध-दर्शन	६५०
बोधिसत्त्वयोगाचारचतुःशतक	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
बोधिसत्त्वावदानकल्पलता	क्षेमेन्द्र	”	१०८०
ब्रह्मतर्क	—	द्वैत-वेदान्त	—
ब्रह्मविद्याभरण (शारीरभाष्य की टीका)	अद्वैतानन्द सरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१२२५
ब्रह्मसूत्र	व्यास (बादरायण)	वेदान्त	—
ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण	भैरवतिलक	अद्वैत-वेदान्त	१७६०
ब्रह्मसूत्रभाष्य	द्रमिडाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
”	रामानुजाचार्य	” (१०१९-११३९)	—
ब्रह्मसूत्रभाष्य (जयतीर्थ व्यासतीर्थ राघवेन्द्रतीर्थ कृत टीका सहित)	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
ब्रह्मसूत्रभाष्य	विष्णुस्वामी	अद्वैत-वेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीकण्ठशिवाचार्य	शैव	१३५०
,,	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
ब्रह्मसूत्रवृत्ति	बौधायन	विशिष्टाद्वैत-वेदान्त	—
,,	वाक्यकार	,,	—
ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान	विद्याधीश	द्वैत-वेदान्त	—
ब्रह्मामृतवर्षिणी (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानन्दसरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	—
भगवद्गीता	व्यास	वेदान्त	—
भगवद्गीता की टीका	रामकण्ठ	प्रत्यभिज्ञा	९५०
,,	शंकरानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१३२५
,,	अभिनवगुप्त	,,	१०००
भगवद्गीताभाष्य	रामानुज	वि० वे०	१०८०
,,	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८००
भवानन्दी (तत्त्वदीधिति की टीका)	भवानन्द	न्याय-दर्शन	१६००
भागवततात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
भागवततात्पर्यनिर्णय की टीका	जनार्दनभट्ट	,,	१३२०
,,	वेङ्कटकृष्ण	,,	—
भाट्टचिन्तामणि	गागाभट्ट	मीमांसा	१५५०
भाट्टदिनकर (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	भट्टदिनकर	,,	१६००
भाट्टदीपिका (सूत्र की वृत्ति)	खण्डदेव	,,	१६७०
भाट्टभाषाप्रकाश	—	,,	—
भाट्टभाषाप्रकाशिका	नारायणभट्ट	,,	—
भाट्टसंग्रह	राघवानन्द	,,	१६००
भामती (शारीरभाष्य की टीका)	वाचस्पतिमिश्र	अद्वैत-वेदान्त	८४१
भारतभावदीप (गीता की टीका)	नीलकण्ठ	,,	—
भाल्लवेयश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
भावचूडामणि	विद्याकण्ठ	शैव-दर्शन	८७०
भावदीप (कौस्तुभ की व्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	१७६०
,, ,,	राघवेन्द्रतीर्थ	द्वैत वेदान्त	—
भावदीपिका (गीताभाष्य की टीका)	श्रीनिवासतीर्थ	,,	१३००
भावदीपिका (न्यायसिद्धान्तमंजरी की टीका)	श्रीकृष्ण	न्याय-दर्शन	१७८०
भावप्रकाश (ब्रह्मसूत्रभाष्यकी टीका)	नरहरि	द्वैत-वेदान्त	—
भावप्रकाश (शब्दरत्न की व्याख्या)	बालंभट्ट	व्याकरण	१७५०
भावप्रकाशिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	भगवत्तीर्थ	द्वैत वेदान्त	—
भावप्रकाशिका (तर्कभाषा की टीका)	गोपीनाथठाकुर	न्याय-दर्शन	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
भावप्रकाशिका (आत्मबोध की टीका)	बोधेन्द्र	अद्वैतवेदान्त	—
भावविलासिनी	सुरोत्तमतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	—
भावार्थदीपिका (तर्कभाषा की टीका)	गौरीकान्त	न्याय-दर्शन	१६५०
भाषापरिच्छेद	विश्वनाथपञ्चानन	वैशेषिक	१६३४
भाष्यवार्तिक (शांकरभाष्यतात्पर्य)	नारायणसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१६००
भाष्यवृत्ति (आवश्यकसूत्र की टीका)	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
भाष्यसूक्ति (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	जगदीश	वैशेषिक	१५९०
भाष्योत्कर्षदीपिका	धनपति	अद्वैत-वेदान्त	१८००
भास्करोदया (तर्कदीपिका-प्रकाश की टीका)	लक्ष्मीनृसिंह	वैशेषिक	१८५०
भूषण (भगवद्गीताभाष्य की टीका)	भगवान्दास	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
भेदधिक्कार	नृसिंहाश्रम	अद्वैतवेदान्त	१५५०
भेदोज्जीवन	वादिराज	द्वैत-वेदान्त	—
”	व्यासतीर्थ	”	१२६०
भैमी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	भीमभट्ट	व्याकरण	१७६०
भैरवी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	भैरव	”	१७८०
भैषज्यसार	उपेन्द्र	रसेश्वर	—
मकरन्द (पदमञ्जरी की व्याख्या)	रङ्गनाथ	व्याकरण	—
मकरन्द (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	रुचिदत्त	न्याय-दर्शन	१२९५
मञ्जरी (कल्पसूत्र की टीका)	सहजकीर्ति	जैन-दर्शन	१६३०
मणिप्रभा (योगसूत्र की वृत्ति)	रामानन्दसरस्वती	योग-दर्शन	१६००
मणिप्रभा (ईशाद्यष्टोपनिषद् की टीका)	अमरदास	अद्वैतवेदान्त	—
मणिप्रभा (वेदान्तपरिभाषा की टीका)	अमरदास	अद्वैत-वेदान्त	—
मतोन्मज्जा (वैयाकरणभूषण की टीका)	वनमाली	व्याकरण	१६७०
मथुरानाथी (तत्त्वदीधिति की टीका)	मथुरानाथ	न्याय-दर्शन	१५८०
मधुवाहिनी (शिवसूत्र की वृत्ति)	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
मध्यकौमुदी (पाणिनिसूत्र की व्याख्या)	वरदराज	व्याकरण	१६२०
मध्यकौमुदी की व्याख्या	जयकृष्णमौनि	”	१७००
मध्यमकावतार	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
मध्वविजय	—	द्वैत-वेदान्त	—
मध्वविजय की टीका	वेदाङ्गतीर्थ	”	—
मध्वसिद्धान्तसार (पदार्थसंग्रह की टीका)	अनन्त	”	—
मनोरमाकुचमर्दिनी	जगन्नाथ	व्याकरण	१६५०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
मनोरमाखण्डन	चक्रपाणिशेष	व्याकरण	१६४०
मन्दसुबोधिनी (महाभारततात्पर्य-निर्णय की टीका)	वरदराज	द्वैत-वेदान्त	—
मयूख (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	शंकरमिश्र	न्याय-दर्शन	१४२५
मयूखमालिका (शास्त्रदीपिका की टीका)	सोमनाथ	मीमांसा	१५४०
महाभारततात्पर्यनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैत-वेदान्त	११७०
महाभारततात्पर्यनिर्णय की टीका	जनार्दनभट्ट	"	१३२०
" "	वादिराज	"	—
" "	विट्ठलसूनु	"	—
महाभारतपाञ्चरात्र	—	विशिष्टाद्वैतवेदांत	—
महाभाष्य	पतञ्जलि	व्याकरण	ई० पू० १५०
महाभाष्य टीका	हरि (भर्तृहरि)	"	७००
महाभाष्य की टीका	रामकृष्णानन्द	व्याकरण	—
" "	शिवरामेन्द्र	व्याकरण	—
महाभाष्यप्रदीप	कैयट	"	११००
महायानप्रवेश	स्थिरमति	बौद्ध-दर्शन	२५०
महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र	अश्वघोष	"	१२०
महायानसंपरिग्रहशास्त्र	असङ्ग	"	३२०
महायानसूत्रालंकार	"	"	"
महावराहपुराण	—	द्वैतवेदान्त	—
महावस्तु	—	बौद्ध-दर्शन	—
महाविभाषा (ज्ञानप्रस्थानशास्त्र)	कात्यायनीपुत्र	"	—
महावीरचरित	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
महोपनिषद्	—	द्वैत-वेदान्त	—
माठरवृत्ति	माठराचार्य	सांख्य	५००
माठरश्रुति	—	द्वैत-वेदान्त	—
माण्डव्यश्रुति	—	"	—
माण्डूक्यकारिका	गौडपाद	अद्वैत-वेदान्त	७५०
माण्डूक्यकारिकाभाष्य	शंकराचार्य	"	८१०
माध्यमकालंकार	शान्तरक्षित	बौद्ध-दर्शन	७२०
माध्यमकावतार	चन्द्रकीर्ति	"	५५०
माध्यमिककारिका (चन्द्रकीर्तिकृत-प्रसन्नपदाटीकासहिता)	नागार्जुन	"	१५०
माध्यमिककारिकाभाष्य	आर्यदेव	"	३५०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
माध्यमिककारिकावृत्ति (आकुतोभया)	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	१५०
” ” ”	कुमारजीव	”	३८०
” ” ”	बुद्धपालित	”	५००
मायावादखण्डन	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
मार्गपरिशुद्धि	यशोविजय	जैन-दर्शन	१५००
मितप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	परकाल	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१३९०
मितभाषिणी (न्यायसूत्र की वृत्ति)	महादेवभट्ट	न्याय-दर्शन	१५३०
मितभाषिणी (सप्तपदार्थी की टीका)	माधवसरस्वती	वैशेषिक	१३५०
मितवृत्त्यर्थसंग्रह (सूत्र की वृत्ति)	उदयन	व्याकरण	९८४
मिताक्षरा (छान्दोग्यबृहदारण्यक की वृत्ति)	नित्यानन्द	अद्वैत वेदान्त	—
मिताक्षरा (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	अन्नंभट्ट	”	१५००
मीमांसानयविवेक(सूत्र की वृत्ति)	भवनाथ	मीमांसा	१२६०
मीमांसानुक्रमणी	मण्डनमिश्र	”	८२५
मीमांसान्यायप्रकाश	आपदेव	”	१६३०
मीमांसान्यायप्रकाश की टीका	अनन्तदेव	”	१६७०
मीमांसापरिभाषा	कृष्णयज्वा	”	—
मीमांसाबालप्रकाश	शंकरभट्ट	”	१७००
मुक्ताफल	बोपदेव	अद्वैत वेदान्त	११८०
मुक्तावली (भाषापरिच्छेद की टीका)	विश्वनाथपञ्चानन	वैशेषिक	१६३४
मुक्तावली की टीका	कल्याण	”	—
” ”	विन्ध्येश्वरीप्रसाद	”	—
मूलमध्यमकारिका	नागार्जुन	बौद्ध-दर्शन	१५०
मूलमध्यमवृत्ति	बुद्धपालित	”	४००
यतिधर्मसमुच्चय	यादवप्रकाश	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१०६०
यतीन्द्रमतदीपिका	श्रीनिवासदास	”	—
यत्याचार	लघुपद्मनन्दी	जैन-दर्शन	१३५०
युक्तिमल्लिका	वादिराज	द्वैत-वेदान्त	—
युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	”	६००
योगचन्द्रिका (योगसूत्र की वृत्ति)	अनन्तभट्ट	योग-दर्शन	—
योगशास्त्र (अध्यात्मोपनिषद्)	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
योगसूत्र	पतञ्जलि	योग-दर्शन	—
योगसूत्रभाष्य	व्यास	”	—
योगसूत्रलघुवृत्ति	नागेश	”	१७१४
योगसूत्र की वृत्ति	ज्ञानानन्द	”	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
योगसूत्र की वृत्ति	वृद्धभोज	योग-दर्शन	६००
,,	विज्ञानभिक्षु	,,	१५५०
,,	भावागणेश	,,	१५७५
,,	भवदेव	,,	१६३०
,,	महादेवभट्ट	,,	—
,,	वृन्दावनाचार्य	,,	—
,,	सदाशिवभट्ट	,,	—
,,	अरुणाचल	,,	—
योगसूत्रवृत्तिसंग्रह	उदयंकर	,,	१७२५
योगाचारभूमिशास्त्र	असङ्ग	बौद्ध-दर्शन	३२०
योगावली (तर्कभाषा की टीका)	नागेश	न्याय-शास्त्र	१७१४
रत्नत्रय	वसुबन्धु	बौद्ध-दर्शन	३३०
रत्नप्रभा (शांकरभाष्य की टीका)	गोविन्दानन्द	अद्वैत-वेदान्त	१५७०
रत्नप्रभाटिप्पणी	केशवानन्दस्वामी	,,	—
रत्नार्णव (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)	कृष्णमिश्र	व्याकरण	१७५०
रयणसार	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५
रसकौतुक	मल्लारि	रसेश्वर-दर्शन	१६०४
रसचिन्तामणि	मदनान्तदेवसूरि	,,	—
रसनक्षत्रमालिका	मथनसिंह	,,	१७०८
रसपद्धति	महादेव	,,	—
रसप्रकाशसुधाकर	यशोधर	,,	१२६०
रसमञ्जरी	शालिनाथ	,,	१६५७
रसमुक्तावली	वैद्यनृपसूनु	,,	—
रसरत्नप्रदीप	—	,,	—
रसरत्नसमुच्चय	वाग्भटाचार्य	,,	१२७५
रसरत्नाकर	नागार्जुन	,,	४००
रसराजलक्ष्मी	विष्णुदेव	,,	—
रससार	गोविन्दाचार्य	,,	१४००
रसहृदय	गोविन्दभगवत्पादाचार्य	,,	७८०
रसार्णव	—	,,	—
रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्र	,,	१७३५
रसेन्द्रचूडामणि	सोमदेव	,,	—
रसेश्वरसिद्धान्त	,,	,,	—
रहस्यत्रय	रामानुज (१०१९-११३९)	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
,,	अग्रगोस्वामी	,,	१४१५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
रहस्यत्रयचुलुक (रहस्यत्रय की टीका)	वेङ्कटनाथ	वि० वे०	१३२०
रहस्यत्रय की टीका	अग्निस्वामी	”	—
रहस्यत्रयसार	वेदान्ताचार्य	”	११००
राजमार्तण्ड (योगसूत्र की वृत्ति)	भोजराज	योग-दर्शन	१०२१
राजवार्तिक (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	—	जैन-दर्शन	—
राणक	सोमेश्वर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१५००
रामानुजसिद्धान्तसार	वरदाचार्य	”	११२०
रावणभाष्य (कणादसूत्र भाष्य)	—	वैशेषिक	५५०
रुद्रयामल	—	रसेश्वरदर्शन	—
रौद्री (मुक्तावली की टीका)	रुद्र	वैशेषिक	१६५०
लक्षणमाला	शिवादित्य	”	१०५०
लक्षणसंग्रह	रत्नेश	व्याकरण	—
लक्षणावली	उदयन	वैशेषिक	९८४
लघुकौमुदी (सूत्र की व्याख्या)	वरदराज	व्याकरण	१६२०
लघुकौमुदी की व्याख्या	जयकृष्णमौनी	”	१७००
लघुचन्द्रिका (अद्वैतसिद्धि की टीका)	ब्रह्मानन्दसरस्वती	अद्वैत-वेदान्त	१५६५
लघुदर्पणा (वैयाकरणभूषणसार की टीका)	मन्तुदेव	व्याकरण	१७६०
लघुन्यास (शब्दानुशासन की टीका)	देवेन्द्र	जैन-दर्शन	१२७१
लघुभूषणकान्ति (वैयाकरणभूषणसार की टीका)	हरिवल्लभ	व्याकरण	१७००
लघुमञ्जूषा	नागेश	”	१७१४
लघुमञ्जूषा की टीका	राजारामदीक्षित	”	१७६०
लघुविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	१०००
लघुशब्देन्दुशेखर (कौमुदी की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या	राजाराम	”	१७६०
लङ्कावतार	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
ललितविस्तर	वसुबन्धु	”	३००
लासकी (भगवद्गीता की टीका)	राजानकलासक	प्रत्यभिज्ञा	—
लीलावती (कणादसूत्रभाष्य की टीका)	श्रीवत्साचार्य	वैशेषिक	१०२५
लोकप्रकाश	विनयविजय	जैन-दर्शन	१६५२
वंशी (परमलघुमञ्जूषा की टीका)	वंशीधरमिश्र	व्याकरण	१९५०
वज्रसूची	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
वर्धमानेन्दु (न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका)	पद्मनाभ	न्याय-शास्त्र	—
वाक्यपदीय (महाभाष्य की दार्शनिक व्याख्या)	हरि (भर्तृहरि)	व्याकरण	६६६
वाक्यपदीय व्याख्या	हेलराजऔरपुण्यराज	व्याकरण	—
वाक्यवृत्ति (तर्कसंग्रह की टीका)	मेरुशास्त्री	वैशेषिक	१८०८
वाक्यवृत्ति	शंकराचार्य	अद्वैत-वेदान्त	८१०
वाक्यश्रुति (अपरोक्षानुभव कीटीका)	विश्वेश्वर	"	१३२०
वाक्यार्थचन्द्रिका (न्यायसुधा की टीका)	विद्याधीश	द्वैतवेदान्त	—
वादावली	जयतीर्थ	"	११९३–१२६८
वादित्रयखण्डन	वेङ्कटनाथ	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१३२०
वायवीय संहिता	—	पाशुपत शैव-दर्शन	—
वाररुचसंग्रह (सूत्र की वृत्ति)	वररुचि	व्याकरण	—
वार्तिकपाठ	कात्यायन	"	३०० ई० पू०
वासवी (भगवद्गीता की टीका)	वसुगुप्त	प्रत्यभिज्ञादर्शन	८२०
विंशकारिकाप्रकरण	वसुवन्धु	बौद्ध-दर्शन	३००
विकाश (न्यायकुसुमाञ्जलि कीटीका)	गोपीनाथ मौनी	न्याय-दर्शन	—
विचाररत्नसंग्रह	जयसोम	जैन-दर्शन	१६००
विज्ञानकाय	देवक्षेम	बौद्ध-दर्शन	—
विद्वन्मनोरञ्जनी (वेदान्तसार की टीका)	रामतीर्थ	अद्वैतवेदान्त	१६२५
विद्वन्मनोहरा (सूत्र की वृत्ति)	महादेवतीर्थ	मीमांसा	—
विधिरसायन	अप्पयदीक्षित	"	१५३०
विधिविवेक	मण्डनमिश्र	"	८२५
विमर्शिनी (शिवज्ञानबोध-सूत्रवृत्ति की व्याख्या)	क्षेमराज	शैव-दर्शन	१०२०
विवरण (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	जयराम	न्यायदर्शन	—
विवरण (भाष्यप्रदीप की टीका)	नारायण	व्याकरण	—
" "	रामचन्द्रसरस्वती	व्याकरण	—
विवरण (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	भास्कर शास्त्री अभ्यंकर	व्याकरण	१८१०
विवरण की टीका	कृष्णभट्ट	अद्वैतवेदान्त	—
विवरणपञ्जिका या न्यास (काशिका की व्याख्या)	जिनेन्द्रबुद्धि	व्याकरण	९४०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
विववरणभावप्रकाशिका	नृसिंहमुनि	अद्वैतवेदान्त	१५००
विवरणप्रमेयसंग्रह	माधवाचार्य	,,	१३५०
विवृति (श्रीभाष्य की टीका)	वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१९१६
विवेक (न्यायकुसुमाञ्जलि की टीका)	गुणानंद	न्यायदर्शन	—
विवेक-चूडामणि	शंकराचार्य	अद्वैतवेदान्त	८१०
विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	जैन-दर्शन	१२२०
विशिष्टाद्वैतसंग्रह	रामकृष्ण	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
विशुद्धिमार्ग	बुद्धघोष	बौद्धदर्शन	४००
विशेषावश्यकभाष्य (आवश्यक सूत्र की टीका)	जिनभद्रक्षमाश्रमण	जैन-दर्शन	—
विश्वरूपनिबन्ध	विश्वरूप	व्याकरण	१५२०
विषमपदतात्पर्य	लघुसमन्तभद्र	जैन-दर्शन	१७४०
विषमी (कौस्तुभ की व्याख्या)	नागेश	व्याकरण	१७१४
विषमी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	राघवाचार्य	,,	१८२०
विषयवाक्यदीपिका	रङ्गराज	विशिष्टाद्वैत वेदान्त	१३५०
विष्णुतत्त्वनिर्णय	आनन्दतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
विष्णुपुराण की टीका	नाथमुनि	वि० वे०	—
वीतरागस्तुति	हेमचन्द्र	जैनदर्शन	११२५
वीतरागस्तुति की टीका	प्रभानन्द	जैनदर्शन	१३२०
वेदान्तकल्पलतिका	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तकौमुदी	अद्वयारण्यमुनि	,,	१५८०
वेदान्तचिन्तामणि	शुद्धानन्दसरस्वती	,,	१३२०
वेदान्ततत्त्वसार	विद्येन्द्र सरस्वती	,,	१७००
वेदान्तदीप (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तपरिभाषा की टीका	रामकृष्णाध्वरीन्द्र	,,	१६००
,, ,,	धनपति	,,	१८००
वेदान्तमुक्तावली	प्रकाशानन्द	,,	१५६५
,,	ब्रह्मानन्दसरस्वती	,,	१५६५
वेदान्तमुक्तावली की टीका	रामसुब्रह्मण्य	,,	—
वेदान्तरक्षा	नारायणमुनि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१४१५
वेदान्तवचनभूषण (शांकर-भाष्य की टीका)	स्वयंप्रकाशानन्द-सरस्वती	अद्वैतवेदान्त	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
वेदान्तसार (ब्रह्मसूत्र की वृत्ति)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वेदान्तसार	सदानन्द	अद्वैतवेदान्त	१५६०
वेदान्तसार की टीका	नृसिंहसरस्वती	"	१८७०
वेदार्थसंग्रह	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०८०
वैयाकरणभूषण	कोण्डभट्ट	व्याकरण	१६४०
वैयाकरणभूषणसार	कोण्डभट्ट	व्याकरण	१६४०
वैयाकरणभूषणसार-टीका	महानन्द	"	१८२०
वैयाकरणसर्वस्व (सूत्र की वृत्ति)	धरणीधर	"	—
वैयाकरसिद्धान्तरत्नाकर	रामकृष्ण	"	१६७०
वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य (कौमुदी की व्याख्या)	नीलकण्ठ	"	१६६०
" "	वासुदेव	"	—
वैयासिकन्यायमाला	माधवाचार्य	अद्वैतवेदान्त	१३५०
व्याकरणप्रकाश (न्यासव्याख्या)	महामिश्र	व्याकरण	—
व्याकरणसुधामहानिधि (सूत्र की वृत्ति)	विश्वेश्वर	"	१६५०
व्योमवती (कणादसूत्र भाष्य की टीका)	व्योमशिवाचार्य	वैशेषिक	९८०
शंकरपादभूषण	रघुनाथशास्त्री पर्वते	अद्वैतवेदान्त	१८५०
शंभुपद्धति	शंभुदेव	शैव दर्शन	१५५०
शतदूषणी	मुद्गलसूरि	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
शतशास्त्र	नागार्जुन	बौद्धदर्शन	१५०
शब्दकौस्तुभ (सूत्र की व्याख्या)	भट्टोजिदीक्षित	व्याकरण	१५७८
शब्दभूषण (सूत्र की वृत्ति)	नारायण	"	—
शब्दरत्न (मनोरमा की व्याख्या)	हरिदीक्षित	"	१६५०
शब्दरत्नदीप (शब्दरत्न की व्याख्या)	कल्याणदीप	"	—
शब्दसुधा	अनन्तभट्ट	"	—
शब्दानुशासन	हेमचन्द्र	जैन-दर्शन	११२५
शब्दामृत (सूत्रविवरण)	विप्रराजेन्द्र	व्याकरण	—
शांकरी (परिभाषेन्दुशेखर की टीका)	शंकरभट्ट	व्याकरण	१७६०
शाकल्यसंहितापरिशिष्ट	—	द्वैत वेदान्त	—
शाबरभाष्य	शबरस्वामी	मीमांसा	१०० ई० पू०
शाबरभाष्यवार्तिक	वार्तिककार	"	—
शाब्दनिर्णय	प्रकाशात्ममुनि	अद्वैतवेदान्त	१२००
शारीरभाष्य	शंकराचार्य	"	८१०

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
शारीरभाष्यटीका	गोपालानंद	अद्वैतवेदान्त	—
" "	विश्ववेद	"	—
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथिमिश्र	मीमांसा	९००
शास्त्रदीपिका की व्याख्या	नारायण	"	१५८०
शिक्षा-समुच्चय	शान्तिदेव	बौद्ध-दर्शन	६५०
शिवज्ञानबोधसूत्र की वृत्ति	निगमज्ञानदेशिक	शैव-दर्शन	—
शिवदृष्टि	सोमानंद	प्रत्यभिज्ञा-दर्शन	८८०
शिवदृष्टि की वृत्ति	"	"	"
शिवदृष्टिसूत्र की वृत्ति	उदयाकरसूनु	"	"
शिवदृष्ट्यालोचन (शिवदृष्टि की वृत्ति)	अभिनवगुप्त	"	१०००
शिवपुराण	"	पाशुपत शैव	—
शिवसूत्र	वसुगुप्त	प्रत्यभिज्ञा	८१०
शिवसूत्र टीका	नरेश्वर	"	—
शिवसूत्रवार्तिक	भास्कर	"	१०२०
शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज	"	१०२५
शिवार्कमणिदीपिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)	अप्पयदीक्षित	शैव-दर्शन	१५३०
शिशुबोधिनी (सप्तपदार्थी की टीका)	भैरवेन्द्र	वैशेषिक-दर्शन	—
शिष्यहिता (आवश्यकसूत्रकी टीका)	हरिभद्र	जैन-दर्शन	९००
शैवसर्वस्वसार	विद्यापति ठक्कुर	शैव-दर्शन	१३२१
शैवसिद्धान्तदीपिका	शम्भुदेव	"	१५५०
श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्रभाष्य)	रामानुज	विशिष्टाद्वैतवेदांत	१०६०
श्रीभाष्य की टीका	रामानन्द	"	—
"	सुन्दरराज दीक्षित	"	—
श्रुतप्रकाशिका (श्रीभाष्य की टीका)	सुदर्शन	"	१२२०
श्रुतप्रकाशिका की टीका	रङ्गरामानुज	"	—
"	वरदविष्णु	"	—
"	श्रीनिवासभास्कर	"	—
श्रुतप्रदीपिका (श्रीभाष्य की टीका)	सुदर्शन	"	१२२०
श्रुत्यन्तसुरद्रुम	पुरुषोत्तमप्रसाद	"	—
श्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका)	विद्यानंद	जैन-दर्शन	८००
श्लोकवार्तिक (शाबरभाष्य वार्तिक)	कुमारिलभट्ट	मीमांसा	७६०
षट्प्रश्नोपनिषद्भाष्य की टीका विवरण	मङ्गालधर्माचार्य	द्वैतवेदान्त	—
षड्दर्शनविचार	मेरुतुङ्ग	जैन-दर्शन	१३००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
षड्दर्शनसमुच्चय	राजशेखर	जैन-दर्शन	—
"	मलधारिराजशेखर	"	१३४८
षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्र	"	९००
षडदर्शनसमुच्चय की टीका	गुणरत्न	"	१४००
षष्टितन्त्र	वार्षगण्य (?)	सांख्य-दर्शन	१००
षोडशपदार्थी	गणेशदास	नैयायिक	१५७०
संक्षेपभाष्य	आनंदतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११६०
संक्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	अद्वैतवेदान्त	९००
संक्षेपशारीरक की टीका	पुरुषोत्तम सोमयाजी	"	—
संगीतपर्याय	शारिपुत्र	बौद्ध-दर्शन	—
संग्रह	व्याडि	व्याकरण	३०० ई० पू०
संतानान्तरसिद्धि	धर्मकीर्ति	बौद्ध-दर्शन	६३५
संदेहदोहावली	जयसागर	जैन-दर्शन	१४००
संमतितर्कसूत्र	सिद्धसेनदिवाकर	"	४५०
संयुक्ताभिधर्मशास्त्र	—	बौद्ध-दर्शन	—
सत्क्रिया (भेदधिक्कार की टीका)	नारायणाश्रम	अद्वैत वेदान्त	१५६०
सत्प्रक्रियाव्याकृति (प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या)	विश्वकर्मा	व्याकरण	—
सदाचारस्मृति	आनंदतीर्थ	द्वैतवेदान्त	११७०
सदाशिवभट्टी (लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या)	सदाशिवभट्ट घुले	व्याकरण	१७९०
सद्धर्मपुण्डरीक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
सद्धर्मपुण्डरीक की टीका	वसुबन्धु	बौद्धदर्शन	३००
सप्तदशभूमिसूत्र	असङ्ग	"	३२०
सप्तपदार्थी	शिवादित्य	वैशेषिक-दर्शन	१०५०
सप्तपदार्थी की टीका	जिनवर्धन सूरि	वैशेषिक-दर्शन	१४१५
"	बलभद्र	"	१५५०
"	अनन्त	"	१५७०
"	भावविद्येश्वर	"	—
"	शेषानन्त	"	१६०८
"	हरि	"	—
"	सिद्धचन्द्र	"	—
सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	विमलदास	जैन-दर्शन	—
समयप्रदीप	असङ्गभद्र	बौद्ध-दर्शन	३२०
समयप्रदीपिका	"	"	"
समयसार	कुन्दकुन्द	जैन-दर्शन	२५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
समयसार की टीका	अमृतचन्द्र	जैनदर्शन	९०५
”	बालचन्द्र	”	११२०
”	प्रभाचन्द्रदेव	”	१२७५
”	ज्ञानचन्द्र	”	१७२०
समयसारप्राभृत	कुन्दकुन्द	”	२५
समाधिराज	—	बौद्ध-दर्शन	—
सरला (कौमुदी की व्याख्या)	तारानाथ	व्याकरण	—
सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थाधिगम की टीका)	पूज्यपाद	जैन-दर्शन	७००
सर्वोपकारिणी (समाससूत्र की व्याख्या)	विभानन्द	सांख्य-दर्शन	—
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	”	१५०
सांख्यकारिका की टीका	कुलमुनि	”	—
”	कृष्णमिश्र	”	—
”	भवदेव	”	—
”	योगानंद	सांख्य-दर्शन	—
सांख्यकारिका-भाष्य	गौडपादाचार्य	”	७००
सांख्यकारिका की वृत्ति (माठर की वृत्ति)	माठराचार्य	”	५००
सांख्यकौमुदी	रामकृष्ण	”	—
सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	”	८५०
सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका	ज्ञानानंद	”	—
”	श्रीकृष्ण	”	—
”	भारतीयति	”	१४४०
”	नारायणतीर्थ	”	१६००
”	वंशीधर	”	१८००
”	स्वप्नेश्वर	”	—
सांख्यतत्त्वप्रदीप	कविपति	”	—
सांख्यतत्त्वप्रदीपिका	भावागणेश	”	१५७५
सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन (सांख्य-समाससूत्र की टीका)	”	”	”
सांख्यतत्त्व विलास	रघुनाथ	”	१८००
सांख्यतत्त्व विवेचन	सीमानन्द	”	—
सांख्यपरिभाषा	भावागणेश	”	१५७५
सांख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमाससूत्र)	कपिल (?)	”	—
सांख्यसार	भावागणेश	”	१५४५

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सांख्यसारविवेक	विज्ञानभिक्षु	सांख्य-दर्शन	१५५०
सांख्यसूत्र	कपिल (?)	"	—
सांख्यसूत्रभाष्य	विज्ञानभिक्षु	"	१५५०
"	सांख्याचार्य	"	—
सांख्यसूत्रविवरण	योगानंद	"	—
सांख्यसूत्रविवरण	कृष्णमिश्र	"	—
सांख्यसूत्र की वृत्ति	अनिरुद्ध	"	१५००
" "	ज्ञानामृत	"	—
" "	नागेश	"	१७१४
" "	रामचन्द्र	"	—
सांख्यसूत्रवृत्ति की टीका	महादेवानंद सरस्वती	"	१७००
साकारसिद्धि	—	रसेश्वर-दर्शन	—
सात्वतसंहिता	—	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
सारप्रकाशिका (रहस्यत्रयसार की की टीका)	परकाल	"	१३९०
सारसंग्रहदीपिका	मधुसूदनसरस्वती	अद्वैतवेदान्त	१५६०
सारास्वादिनी (रहस्यत्रयसार की टीका)	गोपालदेशिक	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
सार्वभौमनिरुक्ति	वासुदेव सार्वभौम	नैयायिक-दर्शन	१४७५
सिद्धान्तकौमुदी (सूत्र की व्याख्या)	भट्टोजिदीक्षित	व्याकरण	१५७८
सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या	इन्द्रदत्त	"	—
" "	लक्ष्मीनृसिंह	"	१७६५
" "	विश्वेश्वरतीर्थ	"	—
" "	वासुदेव	"	—
सिद्धान्तचन्द्रिका	रामचन्द्राश्रम	जैन-दर्शन	—
"	रामभद्राश्रम	व्याकरण	—
सिद्धान्तचन्द्रिका (शास्त्रदीपिका की व्याख्या)	रामकृष्ण	मीमांसा	१५००
सिद्धान्तचन्द्रोदय (तर्कसंग्रह की टीका)	कृष्णधूर्जटि	वैशेषिक	—
सिद्धान्तदीप (संक्षेप-शारीरक की टीका)	विश्ववेद	अद्वैत-वेदान्त	—
सिद्धान्तबिन्दु (दशश्लोकी की टीका)	मधुसूदनसरस्वती	"	१५६०
सिद्धान्तबिन्दु टीका	सच्चिदानन्द	"	—
सिद्धान्तलेश	अप्पयदीक्षित	"	१५८०
सिद्धान्तलेश की टीका	धर्मय्यदीक्षित	"	१६००

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सिद्धान्तलेश-टीका	रामचन्द्र	अद्वैत-वेदान्त	१७३०
"	विश्वनाथतीर्थ	"	—
सिद्धित्रय	यामुनाचार्य	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	१०४०
सुखावतीव्यूह	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	—
सुबोधिनी (सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका)	सदानन्द	जैन-दर्शन	—
" "	शंकरभट्ट	मीमांसा	१७००
सुबोधिनी (सूत्र की वृत्ति)	नीलकण्ठदैवज्ञ	"	१७५०
"	दामोदरभट्ट	"	—
" (कौमुदी की व्याख्या)	कृष्णमौनी	व्याकरण	१७००
" (वेदांतसार की टीका)	दयाशंकर	अद्वैत-वेदान्त	१७६०
" "	नृसिंहसरस्वती	"	१८७०
" (गीता की टीका)	श्रीधर	"	—
सुरकल्पतरु (तर्कदीपिका की टीका)	श्रीनिवास	वैशेषिक	—
सुवर्णप्रभास	—	बौद्ध-दर्शन	—
सुहृल्लेख	नागार्जुन	"	१५०
सूत्र	बृहस्पति	चार्वाक	—
"	जैमिनि	मीमांसा	—
सूत्रपाठ	पाणिनि	व्याकरण	५०० ई० पू०
सूत्रपिटक	शाक्यमुनि	बौद्ध-दर्शन	४०० "
सूत्रवार्तिक	व्याघ्रभूति	व्याकरण	—
सूत्रवार्तिकपाठ	वररुचि	"	३००
सूत्र की वृत्ति	उपवर्ष	मीमांसा	४००
"	हरि	"	१००
"	करविन्द स्वामी	"	—
"	प्रभाकर	"	७७५
"	भर्तृमित्र	"	—
"	भवदास	"	—
"	वाचस्पति मिश्र	"	८४१
"	वेङ्कटाचार्य	"	१३६०
"	श्रीनिवासाध्वरि	"	—
"	वल्लभाचार्य	"	१५२५
"	लौगाक्षिभास्कर	"	१६४०
"	नागेश	"	१७१४
सूत्रवृत्ति	कुणि	व्याकरण	—
"	विट्ठल	"	७४०
"	शिवरामेन्द्र	"	—

ग्रन्थ	रचयिता	विषय	समय
सूत्रवृत्ति	सीरदेव	व्याकरण	१२००
,,	अन्नंभट्ट	,,	१६९०
,,	रामचन्द्रभट्टतारे	,,	१७५०
सूत्रवृत्ति की टीका	जयन्त	,,	—
सूत्रालंकार	अश्वघोष	बौद्ध-दर्शन	१२०
सेश्वरमीमांसा (सूत्र की वृत्ति)	वेदान्तदेशिक	मीमांसा	१३५०
सौपर्णश्रुति	—	द्वैतवेदान्त	—
सौरभेयागम	—	शैव-दर्शन	—
स्तोत्रावली	उत्पलाचार्य	प्रत्यभिज्ञा	९१०
स्नेहपूर्ति (वेदार्थसंग्रह की टीका)	राममिश्र	विशिष्टाद्वैतवेदान्त	—
स्पन्दकारिका	कल्लट	प्रत्यभिज्ञा	८५४
स्पन्दनिर्णय	क्षेमराज	,,	१०२५
स्पन्दप्रदीपिका (स्पन्दकारिका की टीका)	उत्पलवैष्णव	,,	—
स्पन्दविवृति	रामकण्ठ	,,	९५०
स्पन्दवृत्ति (स्पन्दसर्वस्व, स्पन्दकारिका की टीका)	कल्लट	,,	८५४
स्पन्दसंदोह (स्पन्दकारिका की टीका)	क्षेमराज	,,	१०२५
स्पन्दसूत्रवार्तिक (स्पन्दकारिका की टीका)	भास्कर	,,	१०२०
स्पन्दामृत	वसुगुप्त	,,	८२०
स्फोटसिद्धिन्यायविचार	—	व्याकरण	—
स्याद्वादमञ्जरी (वीतरागस्तुति की टीका)	मल्लिषेण	जैन-दर्शन	१२९२
स्याद्वादरत्नाकर (वीतरागस्तुति की टीका)	देवसूरि	,,	११४०
स्वाधिष्ठानप्रभेद	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००
हनुमदीया (तत्त्वचिन्तामणि की टीका)	हनुमान्	न्याय-दर्शन	—
हस्तबल	आर्यदेव	बौद्ध-दर्शन	३००

परिशिष्ट—२

प्रमुख दार्शनिक और उनकी कृतियाँ

१ **अकलङ्कदेव**—७५० । जैन—१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका (तत्त्वार्थवार्तिकालंकार), २. आप्तमीमांसा की टीका (अष्टशती) ।

२ **अक्षपाद**—(गौतम) ३०० ई० पू० । न्याय—सूत्र ।

३ **अखण्डानन्दसरस्वती**—१५८० । अद्वैतवेदान्त—१. विवरण की टीका (तत्त्वदीपन), २. ब्रह्मसूत्रवृत्ति (ऋजुप्रकाशिका), ३. मुक्तिसोपान, ४. अद्वैतरत्नकोश ।

४ **अघोरशिवाचार्य**—११५० । शैव—तत्त्वप्रकाश की टीका ।

५ **अच्युतकृष्णानन्दतीर्थ**—? । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका (कृष्णालंकार) ।

६ **अच्युतराय मोडक**—१८०० । अ० वे०—पञ्चदशी की टीका ।

७ **अद्वयारण्यमुनि**—१५८० । अ० वे०—वेदान्तकौमुदी ।

८ **अद्वैतानन्दसरस्वती**—१२२५ । अ० वे०—१. शारीरभाष्य की टीका (ब्रह्मविद्याभरण), २. आत्मबोध की टीका (आध्यात्मचन्द्रिका) ।

९ **अनन्त**—११५० । वि० वे०—१. प्रपन्नामृत (रामानुजचरित), २. ब्रह्मलक्षणनिरूपण ।

१० **अनन्त**—(पद्मनाभपुत्र) ? । द्वै०—पदार्थसंग्रह की टीका (मध्वसिद्धान्तसार) ।

११ **अनन्त**—१५७० । न्याय—पदमञ्जरी । वै०—सप्तपदार्थी की टीका ।

१२ **अनन्त**—१६६० । न्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या ।

१३ **अनन्तकृष्णशास्त्री**—१९४० । अ० वे०—शतभूषणी तथा अन्य ग्रंथ ।

१४ **अनन्तदेव**—१६७० । मी०—मीमांसान्यायप्रकाश की वृत्ति ।

१५ **अनन्तभट्ट**—? । न्या०—शब्दसुधा । योग—योगचन्द्रिका ।

१६ **अनन्तवीर्य**—१४३९ । जैन—परीक्षामुख की टीका (लघुवृत्ति) ।

१७ **अनिरुद्ध**—१५०० । सांख्य—सूत्रवृत्ति ।

१८ **अन्नंभट्ट**—१६९० । वै०—तर्कसंग्रह और उसकी टीका (प्रायः २० टीकायें) * । न्या०—अष्टाध्यायीसूत्रवृत्ति ।

१९ **अन्नंभट्ट**—१५०० । अ० वे०—सूत्रवृत्ति (मिताक्षरा) ।

२० **अप्पयदीक्षित**—१५३०-८० । शैव—शिवार्कमणिदीपिका । मीमांसा—विधिरसायन । अ० वे०—२. कल्पतरु की टीका (परिमल), २. सिद्धान्तलेश, ३. न्यायमुक्तावली ।

२१ **अभयतिलक**—१०५० । न्या०—न्यायवृत्ति ।

---

* तर्कसंग्रह के टीकाकार—अन्नंभट्ट (दीपिका), नीलकण्ठ (१८३० दीपिकाप्रकाश), लक्ष्मीनृसिंह (१८५० दीपिकाप्रकाश की टीका), श्रीनिवास (तर्कदीपिका की टीका), गोवर्धन (न्यायबोधिनी), कृष्णधूर्जटि, चन्द्रसिंह, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, क्षमाकल्याण, हनुमान् , मुरारि (१७१०), मुकुन्दभट्ट (१७१५), मेरुशास्त्री (१८३०) आदि ।

२२ **अभिनवगुप्त**—१०००। प्रत्य०—१. प्रत्यभिज्ञावृत्ति की टीका (विमर्शिनी)—लघु और बृहत्। २. शिवदृष्टि की वृत्ति (आलोचन), ३. परात्रिंशिकाविवरण, ४. तन्त्रालोक, ५. तन्त्रसार, ६. तन्त्रवटधानिका, ७. परमार्थसार, ८. बोधपञ्चदशिका।

२३ **अमरदास**—?। अ० वे०—१. ईशादि आठ उपनिषदों की वृत्तियाँ (मणिप्रभा), २. वेदान्तपरिभाषा की शिखामणि-टीका पर वृत्ति (मणिप्रभा)।

२४ **अमलानन्द**—१२५०। अ० वे०—भामती की टीका (कल्पतरु)।

२५ **अमृतचन्द्र**—९०५। जैन—१. प्रवचनसार की टीका (अध्यात्मतरंगिणी), २. पञ्चास्तिकाय की टीका, ३. समयसार की टीका (आत्मख्याति)। ४. तत्त्वार्थसार, ५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

२६ **अमोघवर्ष**—८५०। जैन—प्रश्नोत्तरमाला।

२७ **अरुणाचल**—?। योगसूत्रवृत्ति (योग)।

२८ **अर्जुनमिश्र**—१६७०। अर्थसंग्रह की टीका (मीमांसा)।

२९ **अश्वघोष**—१२०। बौद्ध—१. ज्ञानप्रस्थानटीका (=महाविभाषा की टीका), २. सूत्रालंकार, ३. वज्रसूची, ४. महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, ५. बुद्धचरित।

३० **असङ्ग**—३२०। बौ०—१. योगाचारभूमिशास्त्र, २. सप्तदशभूमिसूत्र, ३. महायानसूत्रालंकार, ४. महायानसंपरिग्रहशास्त्र, ५. उत्तरतन्त्र।

३१ **असंगभद्र**—३२०। बौ०—१. समयप्रदीप, २. न्यायानुसार।

३२ **आत्मदेवपञ्चानन**—१७२०। अ० वे०—अभेदाखण्डचन्द्रमा।

३३ **आनन्दगिरि**—८२५। अ० वे०—१. शांकरभाष्यव्याख्या, २. गीताभाष्यटीका।

३४ **आनन्दतीर्थ**—(मध्व, पूर्णप्रज्ञ)—११२०-११९९। द्वैत०—१. उपनिषद्भाष्य, २. संक्षेपभाष्य, ३. ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४. गीताभाष्य. ५. प्रमाणलक्षण, ६. कथालक्षण, ७. उपाधिखण्डन, ८. मायावादखण्डन, ९. प्रपंचमिथ्यात्वखण्डन, १०. तत्त्वसंख्यान, ११. तत्त्वविवेक, १२. तत्वोद्योत, १३. कर्मनिर्णय, १४. विष्णुतत्त्वनिर्णय, १५. ऋग्भाष्य, १६. न्यायविवरण, १७. कृष्णामृतमहार्णव, १८. तन्त्रसारसंग्रह, १९. सदाचारस्मृति, २०. महाभारततात्पर्यनिर्णय, २१. भागवततात्पर्यनिर्णय, २२. गीतातात्पर्यनिर्णय।

३५ **आनन्दपूर्ण**—१६००। अ० वे०—पंचपादिका की टीका।

३६ **आनन्दबोध**—१२०० ?। अ० वे०—न्यायमकरन्द।

३७ **आपदेव**—१६३०। मीमांसा—मीमांसान्यायप्रकाश।

३८ **आर्यदेव**—३५०। बौद्ध—१. मूलमाध्यमिककारिकाभाष्य, २. बोधिसत्त्वयोगाचारचतुःशतक, ३. स्वाधिष्ठानप्रभेद, ४. चित्तशुद्धिप्रकरण, ५. हस्तवल।

३९ **ईश्वरकृष्ण**—१००-२००। सांख्य—सांख्यकारिका।

४० **उत्पलवैष्णव**—९७०। प्रत्यभिज्ञा—स्पन्दकारिका की टीका (स्पन्दप्रदीपिका)।

४१ **उत्पलाचार्य**—९१०। प्रत्य०—१. शिवदृष्टि की वृत्ति, २. प्रत्यभिज्ञा टीका, ३. प्रत्यभिज्ञाविवरण, ४. सिद्धित्रयी, ५. शिवस्तोत्रावलि।

४२ **उदयंकर**—१७२०। व्याकरण—१. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या (ज्योत्स्ना), २. परिभाषाप्रदीपार्चि। योग—योगसूत्रवृत्ति।

४३ **उदयन**—९८४। न्याय—१. न्यायवार्तिकतात्पर्य की टीका (परिशुद्धि)। २. आत्मतत्त्वविवेक (बौद्धधिक्कार)। ३. न्यायकुसुमाञ्जलि[1]। वैशे०—१. प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (किरणावली)।

४४ **उदयप्रभदेव**—?। जैन—आरंभसिद्धि।

४५ **उदयाकरसूनु**—?। प्रत्य०—शिवदृष्टिसूत्रवृत्ति।

४६ **उद्योतकर**—६३५। न्या०—न्यायवार्तिक (वात्स्यायनभाष्य पर)।

४७ **उपमन्यु**—१८३०। व्या०—काशिकाटीका (तत्त्वविमर्शिनी)।

४८ **उपवर्ष**—२०० ई० पू०। मीमांसा—मीमांसासूत्रवृत्ति।

४९ **उमास्वाति (मी)**—५०। जैन—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र।

५० **कणाद**—१०० ई० पू०। वै०—सूत्र।

५१ **कपिल**—?। सांख्य—१. सूत्र (अप्राप्त), २. तत्त्वसमास (?)।

५२ **कमलाकर**—१५९०। मी०—तन्त्रवार्तिकव्याख्या।

५३ **कल्याणमल्ल**—?। व्याकरण—शब्दरत्नव्याख्या।

५४ **कल्याणरक्षित**—?। बौद्ध—ईश्वरभङ्गकारिका!

५५ **कल्लट**—८५४। प्रत्य०—शिवसूत्रवृत्ति (तत्त्वार्थचिन्तामणि या मधुवाहिनी)।

५६ **कविपति**—?। सांख्य—सांख्यतत्त्वप्रदीप।

५७ **कात्यायन**—(वररुचि)—३०० ई० पू०। व्याकरण—सूत्रवार्तिक।

५८ **कात्यायनीपुत्र**—?। बौद्ध—अभिधर्मज्ञानप्रस्थानसूत्र (महाविभाषा)।

५९ **कुन्दकुन्द**—(पद्मनन्दि, एलाचार्य, वक्रग्रीव)—२५। जैन—१. प्रवचनसार, २. पंचास्तिकायसमयसार, ३. द्वादशानुप्रेक्षा, ४. रयणसार, ५. समयप्राभृत।

६० **कुप्पुशास्त्री**—१७५०। व्याकरण—परिभाषाभास्कर।

६१ **कुमारजीव**—३८०। बौद्ध—मूलमाध्यमिककारिका-वृत्ति।

६२ **कुमारवेदान्ताचार्य**—१४२०। वि० वे०—१. न्यायतिलक की टीका, २. तत्त्वत्रयचुलुक की टीका।

६३ **कुमारिलभट्ट**—७६०। मी०—शबरभाष्य की टीका (श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका)।

६४ **कूरनारायण**—१३८०। वि० वे०—उपनिषद् वृत्ति।

६५ **कृष्णंभट्ट**—?। अ० वे०—विवरण की टीका।

६६ **कृष्णताताचार्य**—१४५०। वि० वे०—न्यायसिद्धाञ्जन की टीका।

६७ **कृष्णदेव**—६२०। बौद्ध—मध्यमप्रतीत्यसमुत्पाद।

६८ **कृष्णधूर्जटि**—?। वै०—तर्कसंग्रह की टीका (सिद्धान्तचन्द्रोदय)।

६९ **कृष्णमिश्र**—१७००। व्या०—१. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (भावदीप), २. मनोरमा-टीका (कल्पलता), ३. लघुमंजूषा की टीका (कुञ्चिका)। सां०—१. सांख्यकारिका व्याख्या, २. सांख्यसूत्रविवरण।

---

१. (४३) न्यायकुसुमांजलि के टीकाकार—वर्धमान (१२२५), रुचिदत्त (१२९५), वरदराज (१४००), वामध्वज, गुणानन्द, गोपीनाथमौनि, जयराम, चन्द्रनारायण।

आत्मतत्त्वविवेक के टीकाकार—वर्धमान, मथुरानाथ (१५८०), हरिदासमिश्र (१५९०)।

७० **कृष्णमौनि**—१७०० । व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (सुबोधिनी) ।

७१ **कृष्णयज्वा**— ? । मीमांसा—मीमांसापरिभाषा ।

७२ **कृष्णशेष**—१५२० । व्याकरण—पदचन्द्रिका ।

७३ **केशवमिश्र**—१२५० । न्याय—तर्कभाषा (प्रायः २५ टीकाओं से सम्मानित) ।[1]

७४ **कैयट**—११०० । व्या०—महाभाष्य की व्याख्या (प्रदीप) ।

७५ **कोण्डभट्ट**—१६४० । व्या०—१. वैयाकरणभूषण, २. भूषणसार (प्रायः ८ टीकायें) ।

७६ **क्षेमेन्द्र**—१०८० । बौ०—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता ।

७७ **खण्डदेव**—१६७० । मी०—सूत्रवृत्ति (भाट्टदीपिका) ।

७८ **गङ्गाधरसरस्वती**—१६७५ । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका (बिन्दुशीकर) ।

७९ **गङ्गेशोपाध्याय**—११७५ । न्याय—तत्त्वचिन्तामणि (नव्यन्याय का प्रवर्तक) ।

८० **गणेशदास**—१५७० । न्याय—षोडशपदार्थी ।

८१ **गदाधर**—१६५० । न्याय—तत्त्वदीधिति की टीका (गदाधरी) । व्याकरण—१. कारकनिर्णय, २. उपसर्गविचार ।

८२ **गुणभद्र**—९०० । जैन—आत्मानुशासन ।

८३ **गुणमति**—३७० । बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका ।

८४ **गुणरत्न**—१४०० । तर्करहस्यदीपिका (= षड्दर्शनसमुच्चय की टीका) ।

८५ **गोपालदेशिक**— ? । वि० वे०—रहस्यत्रयसार की टीका ।

८६ **गोविंदभगवत्पाद**—७८० । रसेश्वर—रसहृदय । अ० वे०—अद्वैतानुभूति ।

८७ **गोविंदाचार्य**—१४०० । रसे०—रससार ।

८८ **गोविंदानन्द**—१५७० । अ० वे०—शारीरभाष्य की रत्नप्रभा-टीका ।

८९ **गौडपादाचार्य**—७५० । शैव—१. शक्तिसूत्र, २. सुभगोदय । सांख्य—कारिकभाष्य । अ० वे०—माण्डूक्यकारिका ।

९० **गौतम**—दे० अक्षपाद ।

९१ **चक्रपाणिशेष**—१६४० । व्या०—मनोरमाखण्डन ।

९२ **चण्डमारुतमहाचार्य**—१४१० । वि० वे०—१. श्रीभाष्य-टीका, २.शतदूषणी-टीका ।

९३ **चण्डेश्वर**— ? । अ० वे०—अपरोक्षानुभव की टीका ।

९४ **चतुर्भुज**— ? । रसे०—रसहृदय की टीका ।

९५ **चन्द्रकान्त**—१८८० । वै०—कणादसूत्रवृत्ति ।

९६ **चन्द्रकीर्ति**—५५० । बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका वृत्ति (प्रसन्नपदा), २. माध्यमकावतार ।

९७ **चन्द्रगोमि**—६२५ । बौद्ध—न्यायालोकसिद्धि ।

---

१. (७३) तर्कभाषा की टीका लिखने वाले—चिन्नभट्ट (१३५०), वेंकटाचार्य, रामलिंग (१४६०), गोवर्धन (१५७०), मुरारि (१६१०), शुभविजय (१६१०), विश्वनाथ (१६३४), गौरीकान्त (१६५०), माधवदेव (१६५५), सिद्धचन्द्र (१७४०), माधवभट्ट (१७७०), गणेशदीक्षित (१७८०), वागीश, कौण्डिन्यदीक्षित, बलभद्र, गुडुभट्ट, गोपीनाथमौनि, भास्कर, गोपीनाथठक्कुर, चैतन्यभट्ट, नागेश (१७१४), दिनकर, गंगाधरभट्ट, नारायण आदि ।

९८ **चन्द्रप्रभ**—११०० । जैन—न्यायावतार की टीका ।

९९ **चन्द्रसूरि**—११६० । जैन—नन्दिसूत्र की व्याख्या (दुर्गपद) ।

१०० **चित्सुखाचार्य**—१२२५ । अ० वे०—१. खण्डनखण्डखाद्य की टीका, २. प्रत्यक्तत्त्व-प्रदीपिका (चित्सुखी), ३. नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका, ४. शारीरकभाष्य टीका, ५. ब्रह्म-सिद्धि की टीका ।

१०१ **चूडामणि**— ? । न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी ।

१०२ **जगदीश**—१५९० । न्याय—तत्त्वदीधिति पर टिप्पणी (जागदीशी) ।

१०३ **जगन्नाथ**—१६५० । व्या०—मनोरमाकुचमर्दिनी ।

१०४ **जनार्दनभट्ट**—१३२० । द्वैत—भागवततात्पर्यनिर्णय की टीका ।

१०५ **जयकृष्णमौनि** (कृष्णमौनि)—१७०० । व्या०—१. लघुकौमुदी व्याख्या, २. मध्यकौमुदी व्याख्या, ३. सिद्धान्तकौमुदी व्याख्या (सुबोधिनी) ।

१०६ **जयतीर्थ**—११९३-१२६८ । द्वैत—१. आनन्दतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें, २. चन्द्रिका, ३. प्रमाणपद्धति, ४. वादावली ।

१०७ **जयदेवमिश्र**—१२७८ । न्याय—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (तत्त्वालोक) ।

१०८ **जयनारायण**—? । वै०—कणादसूत्रवृत्ति ।

१०९ **जयन्त**—८८० । न्याय—१. न्यायमंजरी (न्यायसूत्र की वृत्ति); २. न्यायकलिका ।

११० **जयन्त**—१५८० । व्याकरण—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या (तत्त्वचन्द्र) ।

१११ **जयरथ**—११७० । प्रत्य०—तंत्रालोक की टीका ।

११२ **जयराम**—? । न्याय—१. कुसुमांजलि की टीका, २. न्यायसिद्धान्तमाला ।

११३ **जयविजय**—१४५० । जैन—नयोपदेशप्रकरण ।

११४ **जयशेखर**—१५०८ । जैन—उपदेशचिन्तामणि ।

११५ **जयसागर**—१४०० । जैन—संदेहदोहावलि ।

११६ **जयसिंह**—? । न्याय—न्यायसारटीका (तात्पर्यदीपिका) ।

११७ **जयसेन**—? । जैन—धर्मरत्नाकर ।

११८ **जयसोम**—१६०० । जैन—विचाररत्नसंग्रह ।

११९ **जयादित्य और वामन**—८७० । व्याकरण—अष्टाध्यायी टीका (काशिका) ।

१२० **जानकीनाथ भट्टाचार्य**—१३०० । न्याय—न्यायसिद्धान्तमंजरी (प्रायः ८ टीकायें) ।

१२१ **जिनदत्तसूरि**—१२२० । जैन—विवेकविलास ।

१२२ **जिनभद्र**—६०० । जैन—आवश्यकसूत्र-निर्युक्तिभाष्य ।

१२३ **जिनवर्धनसूरि**—१४१५ । वै०—सप्तपदार्थी (शिवादित्यलिखित) की टीका ।

१२४ **जिनहंस**—१५५० । जैन—आचाराङ्गसूत्र की टीका (प्रदीपिका) ।

१२५ **जिनेन्द्रबुद्धि**—९४० । व्याकरण—काशिका की व्याख्या (विवरणपंचिका या न्यास) ।

१२६ **जीवराज**—१४५० । न्याय—१. तर्ककारिका, २. तर्कमंजरी ।

१२७ **जैमिनि**—६०० ई० पू० । मीमांसा—मीमांसासूत्र (दशलक्षणी) ।

१२८ **ज्ञानचंद्र**—१७२० । जैन—समयसार की टीका ।

१२९ **ज्ञानचंद्र**—१३५० । जैन—रत्नाकरावतारिका की टीका (पंजिका) ।

१३० **ज्ञानचंद्र**—६०० । वै०—दशपदार्थी ।

१३१ **ज्ञानपूर्ण**—? । न्याय—तार्किकरक्षा की टीका ।

१३२ **ज्ञानसागर**—१३८० । जैन—आवश्यकसूत्र की टीका (ज्ञानसागरी) ।

१३३ **ज्ञानानन्द**—? । सांख्य—सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका । योग—योगसूत्र की वृत्ति ।

१३४ **ज्ञानामृत**—? । सांख्य—सांख्यसूत्रवृत्ति ।

१३५ **ज्ञानेन्द्रसरस्वती**—१६४० । व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (तत्त्वबोधिनी)

१३६ **ज्ञानोत्तममिश्र**—? । अ० वे०—१. इष्टसिद्धि की टीका, २. नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका (चन्द्रिका) ।

१३७ **टंकाचार्य**—? । वि० वे०—ब्रह्मसूत्र की वृत्ति ।

१३८ **तम्मणाचार्य**—? । द्वैत—कृष्णामृत-महार्णव की टीका (न्यायविवरण) ।

१३९ **तर्कचूडामणि**—? । न्याय—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (प्रकाश) ।

१४० **तारानाथ**—? । व्या०—सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (सरला) ।

१४१ **तिलकाचार्य**—१२४० । जै०—आवश्यकसूत्र की टीका ।

१४२ **त्रिलोचन**—? । वै०—मुक्तावली टीका (त्रिलोचनी) ।

१४३ **दयाशंकर**—१७६० । अ० वे०—वेदान्तसार की टीका (सुबोधिनी) ।

१४४ **दामोदरभट्ट**—? । मी०—सूत्रवृत्ति (सुबोधिनी) ।

१४५ **दिङ्नाग**—४०० । बौद्ध—१. प्रमाणसमुच्चय, २. आलम्बनपरीक्षा, ३. न्यायप्रवेश, ४. प्रमाणशास्त्रप्रवेश, ५. नयोद्धार, ६. नयमुख ।

१४६ **दिनकर**—१६९० । न्या०—तर्कभाषा की टीका (कौमुदी) । महादेव के साथ मिलकर—मुक्तावली की टीका (दिनकरी) ।

१४७ **देवक्षेम**—? । बौद्ध—विज्ञानकाय ।

१४८ **देवदत्त**—१७५० । रसे०—धातुरत्नमाला ।

१४९ **देवनन्दी** (जिनेन्द्रबुद्धि, पूज्यपाद)-७०० । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका(सर्वार्थसिद्धि)।

१५० **देवर्द्धिगणि**—४३० । जैन—नन्दिसूत्र ।

१५१ **देवसूरि**—११४० । जैन—१. प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार २. उसकी टीका (स्याद्वादरत्नाकर) ।

१५२ **देवेन्द्र**—१२७१ । जैन—शब्दानुशासन टीका (लघुन्यास) ।

१५३ **देवेन्द्रगणि**—१०६० । जैन—उत्तराध्ययनसूत्रटीका ।

१५४ **देवेश्वर**—८२५ । दे०—मण्डनमिश्र ।

१५५ **द्रमिडाचार्य**—? । वि० वे०—ब्रह्मसूत्रभाष्य ।

१५६ **धनपति**—१८०० । अ० वे०—१. गीता की टीका, ३. वेदान्तपरिभाषा की टीका (अर्थदीपिका) ।

१५७ **धरणीधर**—? । व्याकरण—पाणिनिसूत्रवृत्ति (वैयाकरणसर्वस्व) ।

१५८ **धर्मकीर्ति**—६३५ । बौद्ध—१. प्रमाणसमुचय की टीका (प्रमाणवार्तिक), २. संतानान्तरसिद्धि, ३. न्यायबिन्दु, ४. प्रमाणविनिश्चय, ५. हेतुबिन्दु, ६. संबन्धपरीक्षा, ७. चोदनाकरण ।

१५९ **धर्मय्यदीक्षित**—१६०० । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका ।

१६० **धर्मराजाध्वरीन्द्र**—१५७०। अ० वे०—१. पञ्चपादिका टीका (पददीपिका), २. वेदान्तपरिभाषा।

१६१ **धर्मसागर**—१५७३। जै०—प्रवचनपरीक्षा।

१६२ **धर्मोत्तर**—८५०। बौ०—न्यायविन्दु की टीका।

१६३ **नकुलीश**—(लकुशीश)—?। पाशु०—पञ्चार्थसूत्र (पञ्चाध्यायी)।

१६४ **नन्दिकेश्वर**—?। शैव—नन्दिकेश्वरकारिका।

१६५ **नरहरि**—?। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (भावप्रकाश)।

१६६ **नरेश्वर**—?। शैव—शिवसूत्र की टीका।

१६७ **नागार्जुन**—१५०। बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका, २. सुहृल्लेख, ३. शतशास्त्र, ४. माध्यमकावतार, ५. धर्मसंग्रह।

१६८ **नागार्जुन**—४००। रसे०—रसरत्नाकर।

१६९ **नागेश**—१७१४। न्याय—१. न्यायसूत्रवृत्ति, २. तर्कभाषा की टीका। वै०—कणादसूत्र की वृत्ति। मी०—जैमिनिसूत्रवृत्ति। व्याकरण—१. प्रदीप की टीका (उद्योत), २. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (विषमी), ३. शब्देन्दुशेखर के दो संस्करण (बृहत् और लघु), ४. परिभाषेन्दुशेखर, ५. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा के तीन संस्करण बृहत्, लघु और परम लघु)।[1] यो०—सूत्रवृत्ति (लघुवृत्ति) और छाया।

१७० **नाथमुनि**—?। वि० वे०—विष्णुपुराण की टीका।

१७१ **नारायण**—१५८०। मी०—शास्त्रदीपिका की व्याख्या।

१७२ **नारायण**—?। व्या०—१. प्रदीप की टीका (विवरण), २. सूत्रवृत्ति (शब्दभूषण)।

१७३ **नारायणकण्ठ**—१०००। शैव—ग्रंथ अज्ञात।

१७४ **नारायणतीर्थ**—१६५०। वैशेषिक—भाषापरिच्छेद की टीका (न्यायचन्द्रिका)। सांख्य—१. सांख्यकारिका पर गौडपाद-भाष्य की टीका (चन्द्रिका), २. सांख्यतत्वकौमुदी की टीका। अ० वे०—आत्मबोध की टीका (बालबोधिनी)।

१७५ **नारायणभट्ट**—?। मी०—सूत्र की वृत्ति (नयोद्योत), २. भाट्टभाषाप्रकाशिका।

१७६ **नारायणभिक्षु**—१६००। यो०—योगसूत्र की वृत्ति (गूढार्थदीपिका)।

१७७ **नारायणमुनि**—१४१५। वि० वे०—१. वेदान्तरक्षा, २. तत्त्वसंग्रह।

१७८ **नारायणसरस्वती**—१६००। अ० वे०—शारीरभाष्य की टीका (भाष्यवार्तिक)।

---

१. (१६९) लघुशब्देन्दुशेखर के टीकाकार—उदयंकर (१७२० ज्योत्स्ना), बालंभट्ट (१७५० चिदस्थिमाला), राजाराम (१७६०), भैरवमिश्र (१७८० चन्द्रकला), सदाशिवभट्ट (१७९०), पाठक (१७९५), भास्करशास्त्री (१८१० विवरण), राघवाचार्य (१८२० विषमी), वासुदेवशास्त्री (१८९० गूढार्थप्रकाश)।

परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार—बालंभट्ट (गदा), इन्दिरापति (१७६० परीक्षा), मन्तुदेव (१७६० दोषोद्धरण), भीमभट्ट (१७६० भैमी), शंकरभट्ट (१७६० शांकरी), लक्ष्मीनृसिंह (१७६५ त्रिशिखा), हरिनाथद्विवेदी (१७८० अकाण्डताण्डव), भैरव (भैरवी), पाठक, एक अज्ञात लेखक (अम्बाकर्त्री, १८००), राघवाचार्य (१८१० त्रिपथगा), विष्णुभट्ट (१८४०, चिच्चन्द्रिका), वासुदेवशास्त्री (१८९०, तत्त्वादर्श), तात्याशास्त्री (१८९७, भूति), जयदेवमिश्र (१९२० ? विजया)।

१७९ **नारायणाश्रम**—१५६०। अ० वे०—१. भेदधिक्कार की टीका (सत्क्रिया), २. अद्वैतदीपिकाविवरण।

१८० **निगमज्ञानदेशिक**—?। शैव—शिवज्ञानबोध सूत्र की वृत्ति।

१८१ **नित्यनाथ**—१३००। रसेश्वर—रसरत्नाकर।

१८२ **नित्यानन्द**—?। अ० वे०—छान्दोग्य और बृहदारण्यक की वृत्तियाँ (मिताक्षरा)।

१८३ **नीलकण्ठ**—१६५०। शैव—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका का तात्पर्य (क्रियासार)।

१८४ **नीलकण्ठ**—१८३०। वै०—तर्कदीपिका-प्रकाश।

१८५ **नीलकण्ठ**—१६४०। व्याकरण—१. प्रदीप की टीका (कैयटप्रकाश), २. सिद्धान्त-कौमुदी की व्याख्या (वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य), ३. पाणिनीयदीपिका।

१८६ **नीलकण्ठदैवज्ञ**—१७५०। मो०—सूत्रवृत्ति (सुबोधिनी)।

१८७ **नृसिंहदीक्षित**—१६००। अ० वे०—भेदधिक्कार की टीका।

१८८ **नृसिंहमुनि**—१५००। अ० वे०—विवरणभावप्रकाशिका।

१८९ **नृसिंहसरस्वती**—१८७०। अ० वे०—वेदान्तसार की टीका।

१९९ **नृसिंहाश्रम**—१५५०। अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (तत्त्वबोधिनी), २. भेदधिक्कार, ३. अद्वैतदीपिका।

१९१ **नेमिचन्द्र**—१०००। जैन—१. द्रव्यसंग्रह, २. गोम्मटसार, ३. क्षपणकसार।

१९२ **नैनाराचार्य**—१४१५। वि० वे०—१. तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका (कान्ति), २. तत्त्वत्रयचुलुक, ३. रहस्यत्रयचुलुक।

१९३ **पक्षधरमिश्र**—(पक्षेश्वर)— ?। न्या०—तत्त्वचिन्तामणि की टीका।

१९४ **पतञ्जलि**—१५० ई० पूर्व। व्या०—महाभाष्य। यो०—योगसूत्र।[१]

१९५ **पद्मनन्दि**—२४।। दे० कुन्दकुन्द।

१९६ **पद्मनाभ**— ?। न्याय—वर्धमान के न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका। [न्यायसूत्र—भाष्य (वात्स्यायन)—वार्त्तिक (उद्योतकर)—तात्पर्यटीका (वाचस्पति)—परिशुद्धि (उदयन)—न्यायनिबन्धप्रकाश (वर्धमान)—वर्धमानेन्दु (पद्मनाभ)।] वै०—किरणावली की टीका (भास्कर)। द्वैत—पदार्थसंग्रह।

१९७ **पद्मपाद**—८५५। शैव—प्रपञ्चसार-टीका। अ० वे०—शारीरभाष्य की टीका।

१९८ **परकाल**—१३९०। वि० वे०—१. श्रीभाष्यटीका (मितप्रकाशिका), २. रहस्यत्रयसार की टीका (सारप्रकाशिका)।

१९८ **परशुराम**— ?। शैव—विद्याकल्पसूत्र।

२०० **पशुपति**— ?। पाशुपत—पञ्चार्थविद्या।

२०१ **पाठक**—१७९५। व्याकरण—१. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या, २. परिभाषेन्दुशेखर की व्याख्या।

---

१. (१९४) योगसूत्र के टीकाकार—व्यास (१००), वृद्धभोज (६००), भोजराज (१०२१), विज्ञानभिक्षु (१५५०), भावागणेश (१५७५), रामानन्द सरस्वती (१६००), नारायणभिक्षु (१६००), भवदेव (१६३०), उदयंकर (१७२५), नागेश (१७२५), अनन्तभट्ट, अरुणाचल, ज्ञानानन्द, सदाशिवभट्ट, महादेवभट्ट, वृन्दावन।

२०२ **पाणिनि**—५०० ई० पू०। व्याकरण—अष्टाध्यायीसूत्रपाठ।

२०३ **पार्थसारथिमिश्र**—९००। मी०—१. श्लोकवार्तिक की व्याख्या (न्यायरत्नाकर), तन्त्रवार्तिक की व्याख्या (न्यायरत्नमाला), ३. मीमांसासूत्र की वृत्ति, ४. शास्त्रदीपिका,[1] ५. तन्त्ररत्न।

२०४ **पुञ्जराज**—(पुण्यराज)— ? व्या०—वाक्यपदीय की व्याख्या (किरणप्रकाश)।

२०५ **पुरुषोत्तम**—१३००। व्या०—प्रयोगरत्नमाला।

२०६ **पुरुषोत्तमप्रसाद**— ?। वि० वे०—श्रुत्यन्तसुरद्रुम।

२०७ **पुरुषोत्तमसरस्वती**—१६२५। अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दुटीका।

२०८ **पुरुषोत्तमसोमयाजी**— ? अ० वे०—संक्षेपशारीरक की टीका।

२०९ **पुष्कर** (मृगेन्द्र)— ?। शैव—१. कामिकागम, २. करणागम, ३. सौरभेयागम, ४. पौष्करागम, ५, किरणागम।

२१० **पूज्यपाद** (देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि)—७००। जै०—त० सू० की टीका (सर्वार्थसिद्धि)।

२११ **पूर्ण**—?। बौद्ध—धातुकाय।

२१२ **पूर्णप्रज्ञ**—दे० आनन्दतीर्थ।

२१३ **पूर्णानन्दतीर्थ**—?। अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दु की टीका (तत्त्वविवेक)।

२१४ **प्रकाशात्ममुनि**—१२००। अ० वे०—१. पंचपादिकाविवरण, २. शाब्दनिर्णय।

२१५ **प्रकाशानन्द**—१५६५। अ० वे०—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली।

२१६ **प्रत्यक्स्वरूप**—१५००। अ० वे०—चित्सुखी की टीका।

२१७ **प्रभाकर**—७७५। मीमांसा—सूत्र की व्याख्या।

२१८ **प्रभाचन्द्र**—८८५। जैन—१. उपासनाध्ययन की टीका, २. परीक्षामुख की टीका (प्रमेयकमलमार्तण्ड)।

२१९ **प्रभाचन्द्र**—१३००। जैन—१. आत्मानुशासन की टीका, २. समयसार की टीका।

२२० **प्रभानन्द**—१३२०। जैन—वीतरागस्तुति की टीका।

२२१ **प्रशस्तपाद**—४५०। वै०—कणादसूत्रभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह)।[2]

२२२ **बच्चाशर्मा**—?। अ० वे०—गीता की गूढार्थदीपिका (लेखक-मधुसूदन) की टीका।

२२३ **बलभद्र**—१५५०। वै०—सप्तपदार्थी की टीका।

२२४ **बादरायण**—(व्यास)—१०० ई० पू० ?। वेदान्त—ब्रह्मसूत्र।

---

१. (२०३) शास्त्रदीपिका की टीकायें—सिद्धान्तचन्द्रिका (रामकृष्ण १५००), कर्पूरवार्तिक (सोमेश्वर १५००), मयूखमालिका (सोमनाथ १५४०), नारायण की व्याख्या (१५८०), आलोक (कमलाकर १५९०), भाट्टदिनकर (१६००), प्रकाश (शंकरभट्ट १७००), प्रभा (बालंभट्ट १७५०)।

२. (२२१) पदार्थधर्मसंग्रह के टीकाकार—व्योमशिवाचार्य (९८० व्योमवती), उदयन (९८४ किरणावली), श्रीधर (९९१ न्यायकन्दली), श्रीवत्साचार्य (१०२५ लीलावती), शंकरमिश्र (१४२५ कणादरहस्य), जगदीश (१५९० भाष्यसूक्ति)।

२२५ **बालंभट्ट** (वैद्यनाथ पायगुण्डे)—१७५०। मी०—सूत्रवृत्ति (न्यायबिन्दु)। व्याकरण—१. उद्योत की टीका (छाया), २. शब्दकौस्तुभ की व्याख्या (उद्योत), ३. शब्दरत्न की व्याख्या (भावप्रकाश), ४. लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या (चिद्‌स्थिमाला), ५. परि० की टीका (गदा), ६. लघुमञ्जूषा की टीका (कला)।

२२६ **बालकृष्णभट्ट**—?। वै०—मुक्तावली टीका (प्रकाश)।

२२७ **बालचन्द्र**—११२०। जैन—समयसार की टीका।

२२८ **बुद्धघोष**—४००। बौद्ध—विशुद्धिमार्ग।

२२९ **बुद्धपालित**—४००। बौ०—मूलमध्यमकारिका की वृत्ति।

२३० **बृहस्पति**—?। चार्वाक—सूत्र।

२३१ **बोधेन्द्र**—?। अ० वे०—आत्मबोध की टीका (भावप्रकाशिका)।

२३२ **बोपदेव**—११८०। अ० वे०—मुक्ताफल। व्याकरण—कामधेनु।

२३३ **बौधायन**—३०० ई० पू०। वेदान्त—ब्रह्मसूत्रवृत्ति। मी०—सूत्रवृत्ति।

२३४ **ब्रह्मानन्दसरस्वती**—१५६५। अ० वे०—१. ईशावास्यरहस्य, २. सिद्धान्तबिन्दु की टीका (न्यायरत्नावली), ३. अद्वैतसिद्धि की व्याख्या; ४. वेदान्तमुक्तावली।

२३५ **भगवत्तीर्थ**—?। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (भावप्रकाशिका)।

२३६ **भगीरथमेघ**—१५७०। न्याय—द्रव्यप्रकाशिका।

२३७ **भट्टदिनकर**—१६००। मीमांसा—शास्त्रदीपिका की व्याख्या (भाट्टदिनकर)।

२३८ **भट्टोजिदीक्षित**—१५७८। व्याकरण—१. शब्दकौस्तुभ (सूत्र की टीका), २. सिद्धान्तकौमुदी, ३. प्रौढमनोरमा (सि० कौ० की व्याख्या)।[1] अ० वे०—१. तत्त्वकौस्तुभ, २. अद्वैतकौस्तुभ।

२३९ **भदन्त**—?। बौद्ध—१. प्रज्ञापारमितासूत्र, २. तथागतगुह्यसूत्र, ३. महायानसूत्र, ४. लङ्कावतारसूत्र, ५. ललितविस्तरसूत्र, ६. वज्रच्छेदिका, ७. सुखावतीव्यूह, ८. सद्धर्मपुण्डरीक महाविभाषा, ९. संयुक्ताभिशास्त्र।

२४० **भद्रबाहु**—२०० ई० पू०। जैन—१. कल्पसूत्र, २. दस निर्युक्ति-ग्रन्थ।

२४१ **भरद्वाज**—?। वै०—कणादसूत्रवृत्ति।

२४२ **भर्तृमित्र**—?। मी०—सूत्रवृत्ति की व्याख्या।

२४३ **भवदास**—?। मी०— ,, ।

२४४ **भवदेव**—१६३०। मी०—तंत्रवार्तिकव्याख्या (तौताततिलक)। सां०—सांख्यकारिकावृत्ति। यो०—योगसूत्र की वृत्ति।

२४५ **भवनाथ**—१३६०। मी०—मीमांसानयविवेक (सूत्रवृत्ति)।

२४६ **भवानन्द**—१६००। न्याय—तत्त्वदीधिति की टीका।

---

१. (२३८) सिद्धान्तकौमुदी की अन्य टीकायें और टीकाकार—तत्त्वबोधिनी (ज्ञानेन्द्रसरस्वती १६४०), सुबोधिनी (कृष्णमौनि १७००), वासुदेवदीक्षित की बालमनोरमा (१६६०), नीलकण्ठ का वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य (१६६०), रामकृष्ण का वैयाकरणसिद्धान्तरत्नाकर (१६७०), नागेश (१७१४) के शब्देन्दुशेखर (लघु और बृहत्), कृष्णमिश्र का रत्नार्णव (१७५०), लक्ष्मीनृसिंह (१७६५), इन्द्रदत्त, विश्वेश्वरतीर्थ, तारानाथ (सरला)।

२४७ **भारतीयति**—१४०० । सांख्य—सांख्यतत्त्वकौमुदी की व्याख्या ।

२४८ **भावविवेक**—६०० । बौद्ध—१. मूलमध्यमकारिका की वृत्ति (प्रज्ञाप्रदीप), २. तर्कज्वाला (दर्शनसंग्रह), ३. मध्यमहृदयकारिका ।

२४९ **भावागणेश**—१५७५ । सांख्य—१. सांख्य-समाससूत्र की टीका, २. सांख्यसार, ३. सांख्यपरिभाषा, ४. सांख्यतत्त्वप्रदीपिका ।

२५० **भासर्वज्ञ**—९७५ । पाशुपत—नकुलीशयोगपारायण । न्याय—न्यायसार ।

२५१ **भास्कर**—१०२० । प्रत्य०—शिवसूत्रवार्तिक ।

२५२ **भास्करराय**—१५९० । शैव—१. नित्याषोडशिकार्णव-सेतु, २. भावनोपनिषद्-भाष्य, ३. श्रीसूक्तभाष्य, ४. कौलोपनिषद् भाष्य, ५. वरिवस्यारहस्य, ६. ललितासहस्रभाष्य, ७. गुप्तवती (सप्तशती की टीका) ।

२५३ **भास्करशास्त्री**—१८१० । व्याकरण—लघुश० की व्याख्या ।

२५४ **भोजराज**—१०६० । शैव—तत्त्वप्रकाश । यो०—योगसूत्रवृत्ति (राजमार्तण्ड) ।

२५५ **भैरवतिलक**—१७६० । अ० वे०—ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण ।

२५६ **भैरवमिश्र**—१७८० । व्याकरण—१. लघुश० की व्याख्या (चन्द्रकला), २. परिभाषेन्दुशेखर की टीका (भैरवी), ३. वैयाकरणभूषणसार की टीका (परीक्षा) ।

२५७ **मङ्गलधर्माचार्य**— ? द्वैत—षट्प्रश्नोपनिषद्-भाष्यटीका विवरण ।

२५८ **मण्डनमिश्र**—(विश्वरूप, देवेश्वर, सुरेश्वराचार्य)—८२५ । मीमांसा—१. तन्त्रवार्तिक व्याख्या, २. मीमांसानुक्रमणी, ३. विधिविवेक (वाचस्पतिकृत न्यायकणिका से सम्मानित) । अ० वे०—१. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, २. तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य, वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि ।

२५९ **मथनसिंह**—१७०८ । रसे०—रसनक्षत्रमालिका ।

२६० **मथुरानाथ**—१५८० । न्याय—१. आत्मतत्त्वविवेक की टीका, २. तत्त्वदीधिति की टीकायें (तत्त्वालोकरहस्य, मथुरानाथी) ।

२६१ **मदनान्तदेवसूरि**— ? । रसे०—रसचिन्तामणि ।

२६२ **मधुसूदनसरस्वती**—१५६० । अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (सारसंग्रहदीपिका), २. दशश्लोकी-टीका (सिद्धान्तबिन्दु),[1] ३. प्रस्थानभेद, ४. अद्वैतरत्नरक्षण, ५. वेदान्तकल्पलतिका, ६. अद्वैतसिद्धि, ७. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश, ८. भक्तिरसायन ।

२६३ **मध्यमन्दिर**—दे० आनन्दतीर्थ ।

२६४ **मन्तुदेव**—१७६० । व्या०—वैयाकरणभूषणसार की टीका (लघु और बृहत् दर्पणा) ।

२६५ **मलधारिराजशेखर**—१३४८ । जैन—१. द्रव्यसंग्रह, २. षड्दर्शनसमुच्चय (की टीका?) ।

२६६ **मलयगिरि**—१२५० । जैन—उपाङ्गग्रन्थों की टीका ।

२६७ **मल्लवाक्याचार्य**—११६० । बौद्ध—न्यायबिन्दु की टीका ।

२६८ **मल्लारि**—१६०४ । रसे०—रसकौतुक ।

---

१. सिद्धान्तबिन्दु के टीकाकार—पुरुषोत्तम सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, पूर्णानन्दतीर्थ (तत्वविवेक), सच्चिदानन्द, वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर (१९२१) ।

२६९ **मल्लिनाथ**—१३५०। न्याय—तार्किकरक्षा की टीका (निष्कण्टक)। वै०—सप्तपदार्थी की टीका (निष्कण्टक)।

२७० **मल्लिषेण**—१२९२। जैन—स्याद्वादमञ्जरी (वीतरागस्तुति की टीका)।

२७१ **महादेव**—१६९०। दे० दिनकर।

२७२ **महादेवभट्ट**—१५३०। न्या०—न्यायसूत्रवृत्ति (मितभाषिणी)। यो०—योगसूत्रवृत्ति।

२७३ **महादेवसरस्वती**—१७००। सांख्य—सूत्रवृत्तिटीका। अ० वे०—तत्त्वानुसंधान।

२७४ **महानन्द**—१८२०। व्या०—वैयाकरणभूषणसार की टीका।

२७५ **महामिश्र**— ?। व्या०—काशिकान्यास की व्याख्या (व्याकरणप्रकाश)।

२७६ **महेन्द्रमुनि**— ?। जैन—ज्ञानोदयसारसंग्रह।

२७७ **माठराचार्य**—१००। सां०—सांख्यकारिका की वृत्ति।

२७८ **माणिक्यनन्दी**—८००। जैन—१. आप्तपरीक्षाटीका (परीक्षामुख), २. प्रमेयरत्नमाला।

२७९ **माधवदेव**—१६५५। न्याय—१. न्यायसार, २. तर्कभाषा की टीका।

२८० **माधवाचार्य** (विद्यारण्य)—१३५०। मीमांसा—जैमिनीयन्यायमालाविस्तर। व्याक०—धातुवृत्ति। अ० वे०—१. बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार, २. तैत्तिरीयोपनिषद् दीपिका, ३. विवरणप्रमेयसंग्रह, ४. वैयासिकन्यायमाला, ५. जीवन्मुक्तिविवेक, ६. पञ्चदशी। दर्शन—सर्वदर्शनसंग्रह।

२८१ **मानतुंग**—६००। जैन—भक्तामरस्तोत्र।

२८२ **मित्रमिश्र**—१५८०। न्याय—१. सूत्रभाष्यटीका (न्यायदीप), २. पदार्थचन्द्रिका।

२८३ **मुद्गलसूरि**— ?। वि० वे०—शतदूषणी (वेदान्तदेशिक ?)।

२८४ **मुनिसुन्दर**—१४२५। जैन—अध्यात्मकल्पद्रुम।

२८५ **मृगेन्द्र**—दे० पुष्कर।

२८६ **मेरुतुंग**—१३००। जैन—१. षड्दर्शनविचार, २. प्रबन्धचिन्तामणि।

२८७ **मोहनभट्ट**— ?। वै०—तर्ककौमुदी की टीका।

२८८ **मौद्गलायन**— ?। बौ०—प्रज्ञप्तिशास्त्र।

२८९ **यदुपति**—१८००। द्वैत—१. न्यायसुधाटीका, २. तत्त्वविवेकटीका, ३. तत्त्वसंख्यानटीका।

२९० **यशोधर**—१२६०। रसे०—रसप्रकाशसुधाकर।

२९१ **यशोमित्र**—३४०। बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका (स्फुटार्था)।

२९२ **यशोविजय**—१५००। जैन—१. मार्गपरिशुद्धि, २. नयप्रदीप।

२९३ **यशोविजय**—१६८०। जैन—१. अध्यात्मपरीक्षा, २. ज्ञानबिन्दु, ३. नयप्रदीप, ४. ज्ञानसार, ५. अध्यात्मसार।

२९४ **याज्ञवल्क्य**—?। योग—१. योगयाज्ञवल्क्य, २. याज्ञवल्क्योपनिषद्, ३. हठप्रदीपिका, ४. योगानुशासन, ५. राजयोग।

२९५ **यादवप्रकाश**—१२६०। वि० वे०—यतिधर्मसमुच्चय।

२९६ **यामुनाचार्य**—१०४०। वि० वे०—१. आगमप्रामाण्य, २. सिद्धित्रय, ३. गीतार्थसंग्रह, ४. स्तोत्ररत्न।

२९७ **योगराज**—१०५०। प्रत्य०—परमार्थसार-टीका।

२९८ **योगानन्द**— ? । सां०—सांख्यकारिकाटीका ।

२९९ **रक्षित**— ? । व्या०—धातुपाठ की टीका (धातुप्रदीप) ।

३०० **रघुनाथ**—१३०० । न्याय—१. तत्त्वचिन्तामणि की टीका (तत्त्वदीधिति), २. पदार्थखण्डन ।

३०१ **रघुनाथ**—१८०० । सांख्य—सांख्यतत्त्वविलास ।

३०२ **रघुनाथशास्त्री**—१८६० । न्याय—गदाधरी-टीका (न्यायरत्न) ।

३०३ **रघुनाथशास्त्री**—१९६० । व्या०—वाक्यपदीय-टीका (अम्बाकर्त्री) ।

३०४ **रघूत्तमयति**—? । द्वैत—१. जयतीर्थ की टीकाओं की व्याख्यायें, २. आनन्दतीर्थ के बृहदारण्यकभाष्य की व्याख्या ।

३०५ **रङ्गनाथ**—? । व्याकरण—पदमञ्जरी (हरदत्त) की व्याख्या (मकरन्द) ।

३०६ **रङ्गराज**—१३५० । वि० वे०—विषयवाक्यदीपिका ।

३०७ **रङ्गरामानुज**—१३०० । वि० वे०—१. श्रुतप्रकाशिका की टीका, २. न्यायसिद्धाञ्जन की टीका, ३. उपनिषद्भाष्य ।

३०८ **रङ्गोजिभट्ट**—१६२५ । अ० वे०—अद्वैतचिन्तामणि ।

३०९ **रत्नप्रभ**—११८१ । जैन—स्याद्वादरत्नाकर की वृत्ति (अवतारिका) ।

३१० **रत्नेश**—? । व्या०—लक्षणसंग्रह ।

३११ **रम्यजामातृमुनि**—१४१० । वि० वे०—तत्त्वनिरूपण ।

३१२ **रम्यदेव**—? । अ० वे०—इष्टसिद्धिटीका ।

३१३ **राघवाचार्य**—१८२० । व्या०—१. शब्दकौस्तुभव्याख्या (प्रभा), २. लघुश० की व्याख्या (विषमी), ३. परिभा० की व्याख्या (त्रिपथगा) ।

३१४ **राघवानन्द**—१६०० । मी०—भाट्टसंग्रह ।

३१५ **राघवेन्द्रतीर्थ**—? । द्वैत—१. तर्कताण्डवटीका, २. न्यायकल्पलताटीका (भावदीप), ३. वादावलीटीका (भावदीपिका), ४. चन्द्रिकाटीका (प्रकाश), ५. उपनिषद्-व्याख्या, ६. संक्षेपभाष्यविवृति (तत्त्वमञ्जरी) ।

३१६ **राजानकलासक**—? । प्रत्यभिज्ञा—गीता-टीका (लासकी) ।

३१७ **राजारामदीक्षित**—१७६० । व्या०—लघुमञ्जूषा-टीका ।

३१८ **राधामोहन**—? । न्याय—न्यायसूत्रविवरण ।

३१९ **रामकण्ठ**—९५० । प्रत्य०—१. स्पन्दकारिका टीका (विवृति), २. भगवद्गीता-टीका ।

३२० **रामकृष्ण**—? । वि० वे०—विशिष्टाद्वैतसंग्रह ।

३२१ **रामकृष्ण**—१५०० । मीमांसा—१. शास्त्रदीपिका व्याख्या, २. मीमांसासूत्रवृत्ति (प्रकाशिका) ।

३२२ **रामकृष्ण**—१३७५ । अ० वे०—पञ्चदशी की टीका ।

३२३ **रामकृष्णाध्वरीन्द्र**—१६०० । अ० वे०—वेदान्तपरिभाषा की टीका (शिखामणि) ।

३२४ **रामकृष्णानन्द**—? । व्याकरण—महाभाष्य की टीका ।

३२५ **रामचन्द्र**—१७३५ । रसे०—रसेन्द्रचिन्तामणि ।

३२६ **रामचन्द्र**—१४२० । व्या०—प्रक्रियाकौमुदी ।

३२७ **रामचन्द्र**—? । सां०—सांख्यसूत्रवृत्ति ।

३२८ **रामचन्द्र**—१७३० । अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका ।

३२९ **रामचन्द्र**—१५६५। अ० वे०—१. अद्वैतप्रकाश, २. अद्वैतरहस्य, ३. अद्वैत-निर्णयसंग्रह

३३० **रामचन्द्रशेष**—१५६०। व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की टीका (गूढभाववृत्ति)।

३३१ **रामचन्द्राश्रम**—?। जैन—सिद्धान्तचन्द्रिका।

३३२ **रामतीर्थ**—१६२५। अ० वे०—१. संक्षेपशारीरक की टीका (अन्वयार्थप्रकाशिका), २. उपदेशसाहस्रीटीका, ३. वेदान्तसारटीका (विद्वन्मनोरञ्जनी)।

३३३ **रामरुद्र**—१७००। वै०—दिनकरी की टीका।

३३४ **रामसुब्रह्मण्य**—१५८०। अ० वे०—वेदान्तमुक्तावली की टीका।

३३५ **रामानन्दसरस्वती**—१६००। योग—सूत्रवृत्ति (मणिप्रभा)। अ० वे०—सूत्रवृत्ति (ब्रह्मामृतवर्षिणी)।

३३६ **रामानुजाचार्य**—(१०१९-११३९)। वि० वे०—१. श्रीभाष्य (ब्रह्मसूत्र पर)[1], २. वेदान्तदीप, ३. वेदान्तसार, ४. वेदार्थसंग्रह, ५. गीताभाष्य, ६. रहस्यत्रय।

३३७ **रामेश्वर**—?। शैव—विद्याकल्पसूत्र-वृत्ति (सौभाग्योदय)।

३३८ **राशीकरभट्ट**—३५०। पाशु०—रुद्रार्थसूत्रभाष्य।

३३९ **रुद्र**—१६५०। वै०—मुक्तावलीटीका (रौद्री)।

३४० **लक्ष्मणसूरि**—?। मी०—सूत्रवृत्ति। व्या०—महाभाष्यटीका (आदर्श)।

३४१ **लक्ष्मणाराध्य**—?। वि० वे०—अद्वैतरत्न।

३४२ **लक्ष्मीधर**—१३२०। शैव—सौन्दर्यलहरी की टीका। अ० वे०—अद्वैतमकरन्द।

३४३ **लघुपद्मनन्दी**—१३५०। जैन—१. परमात्मप्रकाश की टीका, २. यत्याचार।

३४४ **लघुसमन्तभद्र**—११४०। जैन—अष्टसहस्री की टीका (विषमपदतात्पर्य)।

३४५ **लोकाचार्य**—१२८०। वि० वे०—तत्त्वत्रय, २. तत्त्वशेखर।

३४६ **लौगाक्षिभास्कर**—१६२५। न्याय—१. न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीका, २. पदार्थमाला। वै०—तर्ककौमुदी। मीमांसा—१. जैमिनिसूत्रवृत्ति, २. अर्थसंग्रह।

३४७ **वंशीधर**—?। सांख्य—तत्वकौमुदी टीका।

३४८ **वंशीधरमिश्र**—१९५०। व्याकरण—परमलघुमंजूषा की टीका (वंशी)।

३४९ **वनमाली**—१६७०। व्या०—वैयाकरणभूषणटीका (मतोन्मज्जा)।

३५० **वरदनायक**—१६१०। वि० वे०—तत्त्वत्रयनिरूपण।

३५१ **वरदराज**—?। द्वैत—महाभारततात्पर्यनिर्णयटीका।

३५२ **वरदराज**—१६२०। व्याक०—१. लघुकौमुदी, २. मध्यकौमुदी।

३५३ **वरदाचार्य**—११२०। वि० वे०—१. रामानुजसिद्धान्तसार, २. तत्त्वत्रयनिरूपण।

३५४ **वर्धमान**—१२२५। न्याय—१. परिशुद्धिटीका (न्यायनिबन्धप्रकाश), २. न्यायकुसुमांजलिटीका (प्रकाश), ३. आत्मतत्त्वविवेक की टीका।

३५५ **वर्धमान**—११५०। वै०—किरणावलीप्रकाश। व्या०—गणपाठटीका (गणरत्नमहोदधि)।

---

१. (३३६) टीकाकार—सुदर्शन (श्रुतिप्रकाशिका १२२०), रामानन्द, परकाल (मितप्रकाशिका १३९०), चण्डमारुतमहाचार्य (उपन्यास १४१०), लक्ष्मणसूरि (प्रकाशिका), मेघनादारि, सुन्दरराजदीक्षित, वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर।

३५६ **वल्लभन्यायाचार्य**—११५०। वै०—न्यायलीलावती।

३५७ **वल्लभाचार्य**—१५२५। मी०—सूत्रवृत्तिव्याख्या।

३५८ **वसुगुप्त**—८२०। प्रत्य० शै०—शिवसूत्र।

३५९ **वसुनन्दि**—१२००। जैन—अष्टसहस्री टीका (आप्तमीमांसावृत्ति)।

३६० **वसुबन्धु** (असंग के भाई)—३३०। बौद्ध—१. विंशकारिकाप्रकरण, २. परमार्थसप्तति, ३. अभिधर्मकोष, ४. सद्धर्मपुण्डरीक, ५. प्रज्ञापारमिता, ६. रत्नत्रय, ७. मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य।

३६१ **वसुमित्र**—३५०। बौ०—१. अभिधर्मकोष की टीका, २. प्रकरणपद।

३६२ **वागीश**—?। वि० वे०—न्यायसिद्धाञ्जन।

३६३ **वाग्भटाचार्य**—१२७५। रसे०—रसरत्नसमुच्चय।

३६४ **वाचस्पतिमिश्र**—८४१। न्याय—१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २. न्यायसूचीनिबंध, ३. न्यायसूत्रोद्धार। मीमांसा—१. मीमांसासूत्रवृत्ति, २. विधिविवेकटीका (न्यायकणिका)। सांख्य—सांख्यतत्वकौमुदी (सांख्यकारिका की टीका) योग—व्यासभाष्य की टीका (तत्त्ववैशारदी)। अ० वे०—१. भामती (शारीरभाष्य की टीका), २. ब्रह्म सिद्धि की टीका।

३६५ **वात्स्यायन**—३००। न्याय—सूत्रभाष्य।

३६६ **वादिराज**— ?। द्वैत—१. महाभारततात्पर्यनिर्णयटीका, २. भेदोज्जीवन, ३. युक्तिमल्लिका।

३६७ **वार्षगण्य**—१००। सांख्य—षष्टितन्त्र।

३६८ **वासुदेव**—१६६०। व्याकरण—१. काशिकावृत्तिसार (टीका), २. सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या (बालमनोरमा)।

३६९ **वासुदेव काश्मीरिक**— ?। न्या०—न्यायभूषण।

३७० **वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर**—(१८६२-१९४२)। दर्शन—सर्वदर्शनसंग्रह की व्याख्या (दर्शनांकुर)। वि० वे०—१. श्रीभाष्यटीका (विवृति), २. यतीन्द्रमतदीपिका की टीका (प्रकाश)। व्याक०—१. लघुशब्देन्दु० की व्याख्या (गूढार्थप्रकाश), २. परिभा० की टीका (तत्त्वादर्श)। अ० वे०—१. अद्वैतामोद, २. कायपरिशुद्धि।

३७१ **वासुदेवसार्वभौम**—१२७५। न्या०—१. तत्त्वचिन्तामणि की टीका, २. सार्वभौमनिरुक्ति (?)।

३७२ **विजयसिंह**—११२०। जैन—कल्पसूत्र की टीका (कल्पावलोकिनी)।

३७३ **विज्ञानभिक्षु**—१५५०। सांख्य—१. सांख्यसूत्रभाष्य, २. सांख्यसारविवेक। योग—योगसूत्रवृत्ति।

३७४ **विट्ठल**—१५००। व्याकरण—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या (प्रसाद)।

३७५ **विट्ठलेशोपाध्याय**—?। अ० वे०—अद्वैतसिद्धि की व्याख्या।

३७६ **विद्याकण्ठ**—८७०। पाशु०—भावचूडामणि।

३७७ **विद्याधीश**—?। द्वैत—१. ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान, २. न्यायसुधा की टीका।

३७८ **विद्यानन्दि**—८००। जै०—१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका, २. आप्तमीमांसा टीका, ३. आप्तपरीक्षा, ४. प्रमाणपरीक्षा, ५. तत्त्वार्थालंकार।

३७९ **विद्यापतिठक्कुर**—१३२१। शै०—शैवसर्वस्वसार।

३८० **विद्यारण्य**—दे० माधवाचार्य।

३८१ **विद्येन्द्रसरस्वती**—१७००। अ० वे०—वेदान्ततत्त्वसार।

३८२ **विनयविजय**—१६५२। जैन—लोकप्रकाश।

३८३ **विनायकभट्ट**—?। न्या०—तार्किकरक्षा की टीका (न्यायकौमुदी)।

३८४ **विनीतदेव**—७००। बौ०—न्यायविन्दुटीका।

३८५ **विन्ध्येश्वरीप्रसाद**—?। वैशे०—१. मुक्तावलीटीका, २. तर्कसंग्रहटीका।

३८६ **विप्रराजेन्द्र**—?। व्याकरण—सूत्रविवरण (शब्दामृत)।

३८७ **विभानन्द**—?। सां०—१. तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, २. समाससूत्रव्याख्या (सर्वोपकारिणी)।

३८८ **विमलकीर्ति**—१६५०। जै०—पदव्यवस्थासूत्रकारिका।

३८९ **विमलदास**— ?। जै०—सप्तभङ्गितरङ्गिणी।

३९० **विमुक्तात्मा** (मण्डनमिश्र)—८२०। अ० वे०—१. ब्रह्मसिद्धि, २. इष्टसिद्धि।

३९१ **विश्वकर्मा**—?। व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या।

३९२ **विश्वनाथ**—१६३४। न्या०—१. न्यायसूत्रभाष्यटीका, २. न्यायसूत्रवृत्ति, ३. तर्कभाषा की टीका (न्यायविलास)। वैशे०—१. भाषापरिच्छेद और २. मुक्तावली।

३९३ **विश्वनाथतीर्थ**—?। अ० वे०—सिद्धान्तलेश की टीका।

३९४ **विश्वरूप**—?५००। व्याक०—विश्वरूपनिवन्ध।

३९५ **विश्ववेद**—?। अ० वे०—१. शारीरभाष्यटीका, २. संक्षेपशारीरकटीका (सिद्धांतदीप)।

३९६ **विश्वेश्वर**—१६५०। व्या०—सूत्रवृत्ति (व्याकरणसुधामहानिधि)।

३९७ **विश्वेश्वर**—१३२०। अ० वे०—वाक्यवृत्तिटीका (प्रकाशिका)।

३९८ **विष्णुदेव**—?। रसेश्वर—रसराजलक्ष्मी।

३९९ **विष्णुराम**—?। व्याकरण—परिभाषाप्रकाश।

४४० **विष्णुस्वामी**—?। द्वै०—१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २. गीताभाष्य।

४०१ **वीरराघव**—१४००। वि० वे०—रहस्यत्रयटीका (तात्पर्यदीपिका)।

४०२ **वीरराघवदास**—१४४०। वि० वे०—तात्पर्यदीपिका टीका।

४०३ **वेंकटकृष्ण**—?। द्वै०—भागवततात्पर्यनिर्णयटीका।

४०४ **वेंकटनाथ** (वेदान्तदेशिक)—१२६७-१३६८। वि० वे०—१. रहस्यत्रयटीका (चुलुक), २. न्यायसिद्धाञ्जन, ३. पञ्चरात्ररक्षा, ४. तत्त्वमुक्ताकलाप, ५. न्यायतिलक, ६. न्यायरत्नावली, ७. न्यायपरिशुद्धि, ८. वादित्रयखण्डन, ९. तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका। मी०—सूत्रवृत्ति।

४०५ **वेदाङ्गतीर्थ**—? द्वैत—मध्वविजय की टीका।

४०६ **वेदान्ताचार्य**—११००। वि० वे०—रहस्यत्रय की टीका।

४०७ **वेदेशतीर्थ**—?। द्वैत—पदार्थकौमुदी (तत्वोद्योतटीका की टीका)।

४०८ **वेदेशभिक्षु**—?। द्वैत—छान्दोग्योपनिषद् भाष्य की टीका (पदार्थकौमुदी)।

४०९ **वैद्यनृपसूनु**—?। रसे०—रसमुक्तावली।

४१० **व्याघ्रभूति**—?। व्या०—सूत्रवृत्ति।

४११ **व्याडि**—३०० ई० पू० । व्या०—१. संग्रह, २. परिभाषावृत्ति ।

४१२ **व्यास**—१०० । यो०—सूत्रभाष्य । अ० वे०—१. भगवद्गीता, २. ब्रह्मसूत्र ।

४१३ **व्यासतीर्थ**—१२६० । द्वैत—१. जयतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें (तर्कताण्डव आदि), २. चन्द्रिका, ३. कृष्णामृतमहार्णव की टीका, ४. उपनिषद्-भाष्यों का विवरण, ५. भेदोज्जीवन ।

४१४ **व्योमशिवाचार्य**—९८० । वै०—प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (व्योमवती) ।

४१५ **शंकरभट्ट**—१७०० । मी०—१. शास्त्रदीपिका की व्याख्या (प्रकाश), २. मीमांसा-बालप्रकाश, ३. सुबोधिनी ।

४१६ **शंकरमिश्र**—१४२५ । न्याय—१. न्यायतात्पर्यमण्डन (न्यायनिबन्धप्रकाश की टीका), २. जागदीशी की टीका, ३. तत्त्वदीधिति की टीका । वै०—१. पदार्थधर्म-संग्रह की टीका, २. उपस्कार (सूत्रवृत्ति) । अ० वे०—खण्डनखण्डखाद्य की टीका ।

४१७ **शंकराचार्य**—८०० । शैव—१. सौन्दर्यलहरी, २. प्रपञ्चसार, ३. ललितात्रिशती-भाष्य । अ० वे०—१. दस उपनिषदों के भाष्य, २. शारीरकमीमांसाभाष्य, ३. गीताभाष्य, ४. आतमबोध, ५. अपरोक्षानुभव, ६. वाक्यवृत्ति, ७. दशश्लोकी, ८. उपदेशसाहस्री, ९. विवेकचूडामणि ।

४१८ **शंकरानन्द**—१३२५ । अ० वे०—१. कैवल्योपनिषद्-वृत्ति (दीपिका), २. ईशा-वास्यदीपिका, ३. तै० उ० दीपिका, ४. गीता की टीका ।

४१९ **शंभुदेव**—१५५० । शैव—१. शैवसिद्धान्तदीपिका, २. शंभुपद्धति ।

४२० **शंभुभट्ट**—१६९० । मी०—खण्डदेवकृत भाट्टदीपिका की टीका (प्रभावती) ।

४२१ **शबरस्वामी**—१०० ई० पू० । मी०—मीमांसासूत्रभाष्य ।

४२२ **शरणदेव**—११७० । व्या०—दुर्घटवृत्ति ।

४२३ **शशधर**—? । न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (न्यायसिद्धान्तदीप) ।

४२४ **शाक्यमुनि**—५५० ई० पू० । बौद्ध—(वचनों का संग्रह) १. सुत्तपिटक, २. अभि-धम्मपिट, ३. विनयपिटक (त्रिपिटक) ।

४२५ **शान्तभद्र**—८०० । बौ०—न्यायबिन्दुटीका ।

४२६ **शान्तरक्षित**—७२० । बौ०—१. माध्यमकालंकार, २. तत्वसंग्रह ।

४२७ **शान्तिदेव**—६५० । बौ०—१. शिक्षासमुच्चय, २. बोधिचर्यावतार ।

४२८ **शान्तिसूरि**—१२२० । जै०—धर्मरत्नवृत्ति ।

४२९ **शान्त्याचार्य**—१०५० । जै०—उत्तराध्ययनसूत्रटीका ।

४३० **शारिपुत्र**—? । बौद्ध—१. धर्मस्कन्ध, २. संगीतपर्याय ।

४३१ **शार्ङ्गधर**—१६७० । वै०—१. उदयनकृत लक्षणावली की टीका (न्यायमुक्तावली), २. सप्तपदार्थी की टीका (पदार्थचन्द्रिका) ।

४३२ **शालिकनाथ**—७९० । मी०—१. प्रभाकरकृत बृहती की व्याख्या (ऋजुविमला), २. प्रकरणपञ्चिका ।

४३३ **शालिनाथ**—१६५७ । रसे०—रसमञ्जरी ।

४३४ **शिवदत्त**—१८१० । अ० वे०—वेदान्तपरिभाषा की टीका (अर्थदीपिका) ।

४३५ **शिवभट्ट**—? । व्याकरण—न्यास (काशिका की टीका) की व्याख्या (कुंकुमविकास) ।

४३६ **शिवयोगी**—१६७५। मी०—अर्थसंग्रह की टीका।

४३७ **शिवरामेन्द्र**—?। व्या०—१. महाभाष्य की टीका, २. सूत्रवृत्ति।

४३८ **शिवादित्य**—१०५०। वै०—१. सप्तपदार्थी, २. लक्षणमाला।

४३९ **शीलाङ्क**—९६०। जै०—१. आचाराङ्गसूत्रटीका, २. सूत्रकृताङ्गटीका।

४४० **शुकाचार्य**—?। अ० वे०—तत्त्वानुसंधानव्याख्या।

४४१ **शुद्धानन्दसरस्वती**—१३२०। अ० वे०—वेदान्तचिन्तामणि।

४४२ **शेषकृष्ण**—१५४० (भट्टोजिदीक्षित के गुरु)। व्या०—प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या।

४४३ **शेषाद्रिशुद्धि**—?। व्या०—सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति की टीका।

४४४ **शेषानन्त**—१६०८। न्याय—न्यायसिद्धान्तदीप की टीका (प्रभा)। वै०—सप्तपदार्थी की टीका।

४४५ **श्रीकण्ठ**—१०००। न्याय—न्यायालंकार।

४४६ **श्रीकण्ठ**—१५३५। न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (तर्कप्रकाश)।

४४७ **श्रीकण्ठशिवाचार्य**—१३५०। द्वैत—ब्रह्मसूत्रभाष्य।

४४८ **श्रीकृष्ण**—१७८०। न्याय—न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका (भावदीपिका)।

४४९ **श्रीधर**—९९१। वै०—पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (न्यायकन्दली)।

४५० **श्रीधर**—?। अ० वे०—भगवद्गीता की टीका (सुबोधिनी)।

४५१ **श्रीनिवास**—?। न्याय—१. न्यायसिद्धान्तमञ्जरी, २. तर्कदीपिका की टीका (सुरकल्पतरु)।

४५२ **श्रीनिवासतीर्थ**—१३००। द्वैत—१. गीताभाष्य की टीका (भावदीपिका), २. आनन्दतीर्थ, जयतीर्थ और व्यासतीर्थ के ग्रंथों की टीकायें।

४५३ **श्रीनिवासदास**— ?। वि० वे०—यतीन्द्रमतदीपिका।

४५४ **श्रीनिवासभास्कर**— ?। वि० वे०—श्रीभाष्य की टीका।

४५५ **श्रीनिवासाचार्य**—१४८०। वि० वे०—१. न्यायपरिशुद्धि की टीका, २. रहस्यत्रयसार।

४५६ **श्रीनिवासाध्वरि**— ?। मी०—सूत्रवृत्ति।

४५७ **श्रीपति**—१२५०। व्या०—ज्ञानदीपिका।

४५८ **श्रीयोगीन्द्र**— ?। जै०—परमात्मप्रकाश।

४५९ **श्रीवत्साचार्य**—१०२५। वै०—पदार्थधर्मसंग्रह की टीका (लीलावती)।

४६० **श्रीहर्ष**—११५०। अ० वे०—खण्डनखण्डखाद्य (इस पर चित्सुख, शंकरमिश्र और रघुनाथ ने टीकायें लिखी हैं।)

४६१ **श्रुतसागर**—१५००। जै०—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की टीका।

४६२ **संघभद्र**—३८०। बौद्ध—अभिधर्मकोष की टीका (न्यायानुसार)।

४६३ **सकलकीर्ति**—१४६४। जैन—तत्त्वार्थसार-दीपिका।

४६४ **सच्चिदानन्द**— ?। अ० वे०—सिद्धान्तबिन्दु की टीका।

४६५ **सत्यनाथयति**—१८००। द्वैत—१. ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (तत्त्वप्रकाशिका), २. अभिनवतर्कताण्डव, ३. तत्त्वप्रकाशटीका (अभिनवचन्द्रिका), ४. प्रमाणपद्धति की टीका (अभिनवामृत)।

४६६ **सदानन्द**—१५६०। अ० वे०—१. पञ्चदशी-टीका, २. अद्वैतदीपिका-टीका, ३. अद्वैतब्रह्मसिद्धि, ४. जीवन्मुक्तिप्रक्रिया, ५. वेदान्तसार, ६. अद्वैतदीपिका (स्वग्रंथ)।

४६७ **सदानन्द**—?। जैन—सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका (सुबोधिनी)।

४६८ **सदानन्दव्यास**—?। अ० वे०—अद्वैतसिद्धिसंक्षेप।

४६९ **सदाशिवमिश्र**—१६७०। व्या०—सूत्रवृत्ति (गूढार्थदीपिनी)।

४७० **सदाशिवानन्दसरस्वती**—?। अ० वे०—सूत्रवृत्ति (अद्वैतामृतवर्षिणी)।

४७१ **सभ्याभिनवयति**—?। द्वैत—महाभारततात्पर्यनिर्णय-टीका (दुर्घटार्थप्रकाश)।

४७२ **समन्तभद्र**—६००। जैन—१. आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), २. युक्त्यनुशासन, ३. उपासनाध्ययन, ४. त० सू० की टीका (गन्धहस्तिमहाभाष्य)।

४७३ **सर्वज्ञात्ममुनि**—९००। अ० वे०—संक्षेपशारीरक (शारीरकभाष्य का सारांश)।

४७४ **सहजकीर्ति**—१६३०। जै०—कल्पसूत्रमञ्जरी।

४७५ **सांख्याचार्य**—?। सां०—सांख्यसूत्रभाष्य।

४७६ **सिद्धचन्द्र**—१७४०। न्या०—१. तर्कभाषाटीका, २. सप्तपदार्थी की टीका।

४७७ **सिद्धसेनगणि**—५२५। जै०—तत्त्वार्था० की टीका।

४७८ **सिद्धसेनदिवाकर**—४५०। जै०—१. न्यायावतार, २. संमतितर्कसूत्र, ३. कल्याणमन्दिरस्तोत्र।

४७९ **सीमानन्द**—?। सां०—सांख्यतत्त्वविवेचन।

४८० **सीरदेव**—१२००। व्या०—१. सूत्रवृत्ति, २. परिभाषावृत्ति।

४८१ **सुचरितमिश्र**—१६७०। मी०—श्लोकवार्तिक की व्याख्या (काशिका)।

४८२ **सुदर्शन**—१२२०। वि० वे०—१. वेदार्थसंग्रह की टीका (तात्पर्यदीपिका), २. श्रीभाष्यटीका (श्रुतप्रकाशिका), ३. श्रीभाष्य की टीका (श्रुतप्रदीपिका)।

४८३ **सुन्दरराजदीक्षित**—?। वि० वे०—श्रीभाष्य की टीका।

४८४ **सुरेश्वराचार्य**—दे० मण्डनमिश्र।

४८५ **सुरोत्तमतीर्थ**—?। द्वैत—युक्तिमल्लिका-टीका (भावविलासिनी)।

४८६ **सोमनाथ**—१५४०। मी०—शास्त्रदीपिका की व्याख्या (मयूखमालिका)।

४८७ **सोमशंभु**—१०७०। शैव—ग्रन्थ अज्ञात।

४८८ **सोमसुन्दर**—१४००। जै०—नवतत्त्व की टीका।

४८९ **सोमानन्द**—८८०। प्रत्य०—१. शिवदृष्टि, २. शिवदृष्टि की वृत्ति।

४९० **सोमेश्वर**—१५००। मी०—१. शास्त्रदीपिका की व्याख्या (कर्पूरवार्तिक), २. सूत्रवृत्ति (न्यायमालाविस्तर)।

४९१ **सोमेश्वरसूरि**—११०३। पाशु०—ग्रन्थ अज्ञात।

४९२ **स्थिरमति**—३७०। बौ०—अभिधर्मकोष की व्याख्या।

४९३ **स्वप्नेश्वर**—?। सां०—सांख्यतत्त्वकौमुदी की टीका।

४९४ **स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वती**—?। अ० वे०—शारीरभाष्य टीका (वेदान्तवन्दनभूषण)।

४९५ **हनुमान्**—?। न्या०—तत्त्वचिन्तामणि की टीका (हनुमदीया), २. तर्कसंग्रह की टीका (प्रभा)।

४९६ **हरदत्त**—?। पाशु०—गणकारिका।

४९७ **हरदत्त**—८७५। व्या०—काशिका की व्याख्या (पदमञ्जरी)।

४९८ **हरि (भर्तृहरि)**—६६०। व्या०—१. महाभाष्य टीका (सेतु) २. वाक्यपदीय।

४९९ **हरि**—१०० ई० पू०। मी०—सूत्रवृत्ति।

५०० **हरिदासमिश्र**—१५९०। न्या०—१. आत्मतत्त्वविवेक की टीका, २. तत्त्वालोक की टीका।

५०१ **हरिदीक्षित**—१६५०। व्या०—प्रौढमनोरमा की व्याख्या (शब्दरत्न)।

५०२ **हरिनाथद्विवेदी**—१७८०। व्या०—परिभाषेन्दुशेखर की टीका (अकाण्डताण्डव)।

५०३ **हरिभद्र**—९००। जैन—१. आवश्यकसूत्र की टीका (शिष्यहिता), २. नन्दिसूत्र की व्याख्या, ३. अनेकान्तजयपताका, ४. षड्दर्शनसमुच्चय (दर्शनसंग्रह)।

५०४ **हरिवल्लभ**—१७००। व्या०—१. शब्दकौस्तुभव्याख्या, वैयाकरणभूषणसार की टीका।

५०५ **हेमचन्द्र**--११२५। जै०--१. आवश्यकसूत्रभाष्यवृत्ति, २. अध्यात्मोपनिषद् (योगशास्त्र), ३. प्रमाणमीमांसा, ४. प्रमाणचिन्तामणि, ५. वीतरागस्तुति, ६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ७. शब्दानुशासन, ८. महावीरचरित, ९. परिशिष्टपर्व।

५०६ **हेलाराज**--?। व्या०--वाक्यपदीय की टीका।

५०७ **हेमाद्रि**--१२७०। अ० वे०--मुक्ताफलटीका (कैवल्यदीपिका)।

परिशिष्ट—३

सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(कोष्ठांकित कृतियों का माधव ने प्रत्यक्षतः नाम नहीं लिया है।)

परिशिष्ट—४

सर्वदर्शनसंग्रह की उद्धरण-सूची

परिशिष्ट—५

शब्दानुक्रमणी

शुद्धिपत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२७	तदेन्मनो	तदेतन्मनो
११	१६	पक्ष	साध्य
१०७	१३	२	३
१०४	४	त्वपरा	स्वपरा
१७८	२२	सरोज	सरजो
१८७	१६	इत्मादि	इत्यादि
२०१	२०	आपादान	आपादन
२३४	२८	आत्म०	आत्मे०
३१८	१९	१०	९
३६१	७	रूषिता	रूपिता
३८७	३	श्रुति	श्रुतिः
	४	वालक	बालक
४६३	२९	व्याप्ति	दृष्टान्त
५०७	२५	प्राणत्वे	प्रमाणत्वे
५२८	२०	स्वध्याय	स्वाध्याय
५५४	९	उक्चरित	उच्चरित
६०२	२०	भंर्तृहरि	भंर्तृहरि
६७७	२६	धर्मी	धर्मो
८०८	२	व्यचिचार	व्यभिचार
८३२	१९	पक्षा–	यक्षा–
८६२	७	लणणै–	लक्षणै